

### श्रीविश्वनाथकविराजकृतः

# -साहित्यदर्गाः

विद्यावाचरपति, श्रीशालग्रामशास्त्रि, साहित्याचार्यविरचितया

## विमलाख्यया हिन्दीव्याख्यया विभूषितः

(दितीयावृत्तिः)

वागत मलाक विन्द्र है

प्रकाशक<del>्त</del>े ३८-

### श्रीकान्तशास्त्री श्रीमृत्युञ्जयश्रोषधालय,

ं ऐबट रोड,

लखनऊ

सं० १६६१ विक्रमीय

→**X**:0:<del>X</del>+

धुदक--केसरादास सेठ सुपारिटेंबेंट, नवलंकिशोर प्रेस, लखनक.

मुन्यः ६ रुव

→्रें सर्वाधिकार सुरान्तित र्रंडें

### दितीयावृत्ति

'विमला' का यह दूसरा संस्करण आपके सामने है । टीका की जनम-कथा और उसके प्रकाशन की विष्न-वाधाओं का वर्णन हम प्रथम संस्करण की स्मिका में कर चुके हैं। उन दिनों यह कौन जानता था कि इतनी जल्दी इसके पुनःसंस्करण की नौबत आयेगी । हम तो आरम्भिक विष्नों से परेशान होकर इसके प्रकाशन का इरादा ही छोड़ बैठे थे। परन्तु 'मेरे मन कछ और है, कर्ता के कछ और'। टीका छपी, और थोड़े ही समय में, भारतवर्ष के समस्त पान्तों में महास और रंगून तक में उसकी पहुँच हो गई। साथ ही मर्म तथा धुरन्धर विद्वानों ने मुक्तकएठ होकर उसकी प्रशंसा की।

श्रीरामचरणतर्कवागीशजी बंगाली थे। उनकी बनाई टीका का इसमें पद-पद पर खण्डन है। बंगालियों में प्रान्तीयता का भाव (बल्कि दुर्भाव) वे-तरह घुसा है, अतः हमें सन्देह था, परन्तु अनेक बंगाली धुरन्धर विद्वानों ने भी इसकी जी खोलकर सराहना की।

हम सममते थे कि हिन्दी के नाम से ही संस्कृतज्ञ विद्वान् इसे तुच्छ्र सममोंगे, पर यह बात न हुई । हमारे आराध्यदेव श्री ६ गुरुजी महाराज (सर्वतन्त्रस्वतन्त्र महोपाध्याय श्री पं० काशीनाथजी शास्त्री) का आशीर्वाद सफल हुआ।

श्राप ही की श्राज्ञा से हमने यह टीका हिन्दी में लिखी थी। जब हमने श्रापसे कहा कि संस्कृत के विद्वान् हिन्दी-टीका न देखेंगे, तब श्रापने गम्भीरता-पूर्वक उत्तर दिया था कि—'जे सुजन बा, से प्रत्यच्च देखी, श्रीर जे दुर्जन बा, श्रोहू के एकान्त माँ देखे का परी'—श्रापका यह कथन हमारे लिये श्राशीर्वाद हो गया। विद्यार्थियों ने जब टीका के श्रनुसार प्रश्न करने श्रारम्भ किये तो श्रनेक श्रध्यापक भी चक्कर खाने लगे श्रीर विवश होकर टीका देखनी पड़ी।

काशी के विद्वानों में भी इसने समुचित आदर प्राप्त किया। सबसे पहले बनारस हिन्दू यूनीवर्सिटी की एम्० ए० परीचा के पाठ्यक्रम में यह (टीका) नियत हुई। अनन्तर इलाहाबाद, आगरा आदि अन्य कई यूनीवर्सिटियों में भी इसकी पहुँच हुई। अन्य ऊँची-ऊँची परीचाओं में भी इसे स्थान मिला। पंजाब में भी खूब प्रचार हुआ।

इधर यह सब हुआ और उधर हिन्दी के कई ठेकेदारम्मन्य ईर्ष्यालु महानुभावों के पेट में पानी बढ़ने लगा । कुछ दिनों बाद समय पाकर वह फूट निकला। बात कुछ नहीं, पर गन्दी गालियों के बड़े बड़े पतनाले बह चले। 'पर्—फूँ—फ़ुश' की वह गुर्रोहट शुरू हुई, मानों किसी पिंजड़े में बन-बिलाव फँस गया हो।

चुन-चुनकर हमारे जपर ऐसी ऐसी गालियों की बौछार उई कि लोगों को 'लोमड़ीदास मटियारा' और 'घोड़ीदास कुँजड़ा' यांद आ गया। साहित्यिक

जनता में खलबली मच गई। हिमारी मित्रमण्डली में भी तहलका मचा। किसी ने कहा लेना है, कोई बोला पकड़ो, जाने न पाये, एक बोला में इसे ठीक किये देता हूँ । कुछ विद्यार्थियों ने कहा कि आप ठहरिये, हम ही इसका कचूमर निकाल देते हैं। 'जितने मुँह उतनी बातें'। आखिर हमारे नी तक भी इस चिल्ल-पों की गुहार पहुँची । कई मित्रों ने हमारी मौन-मुद्रा की लानत-मलामत भी की, पर यहाँ 'मिटिया ठस', टस से मस न हुए। औरों को भी कुछ लिखने-कोलने से यह कहकर मनाकर दिया कि—

'श्रतु हुकुरते घनध्वनि न तु गोमायुरतानि केसरी।'

श्रीर लोग तो मान पर्य, परन्तु सम्पादकजी (पं० पद्मसिंहजी शर्मा) पर हमारी बातों का कुछ असर ने हुआ । वह न माने । उनका स्वभाव बड़ा हठीला था । जिस बात की जिद्र पकड़ लेते, फिर वह कराके ही छोड़ते । आखिर मजबूर होकर हमें एक नोट लिखना पड़ा । इसिलिये नहीं कि प्रत्येक आचीप का उत्तर दिया जाय, बल्कि इसिलिये कि आविपकर्ता की योग्यता का नमूना लोगों को दिखा दिया जाय। इसके लिये प्रथम आविप की विवेचन ही प्रयोग समक्षा गरा। कांगज के शेर का काम तमाम करने के लिये एक दियासलाई ही काफी हुई।

श्रीर लोगों की सन्तोष ही गया, पर सम्पादकजी बोले कि 'श्रभी कुष्ट श्रीर'। हमने कहा, इसका जवाब श्राने दीजिये, फिर श्रागे देखा जायगा। पर वहाँ जवाब दिने का दम ही किसमें था है कालीन का शेर भी कहीं शिकार किया। करता है है इस कमहीन का जन्म तो चारों श्रीर की लाते

खाने के लिये ही होता है।

किराया देकर मातम करने के लिये बुलाई हुई नीच स्त्रियाँ चीखती तो बड़े जोर से हैं, पर आँसू किसी के नहीं निकलते। और किराये पर गालियां देने के लिये उभारा हुआ गुंडा उबलता तो बड़े जोरों पर है, परन्तु उसके गर नहीं जमा करते हैं। दूसरी ओर से करारी फटकार पड़ते ही खिसकने (लगतो है क्यार यारों का हुलकारा हुआ खुली उसी समय तक मूकता है जब तक दूसरी ओर से सिर पर डंडा नहीं पड़ता। और जो कहीं हुलकारने वालों के सिर पर भी करारी चंपत बैठ जाय, तब तो फिर बुली दुम दबाका भागता ही नजर आता है। साहित्यदर्पण की टीका पर धूल उछालने के लिये की गई संघटित गुंडई का भी ऐसा ही हाल हुआ।

हां, तो सम्पादकजी की 'कुछ और' की जिद न छूटी । हमने भी सोच कि एक कात पर करीब करीब एक हजार वर्षों से साहित्य के आचार्यों में

अम फैल रहा है। चलो इस पर कुछ लिख ही डालें।

#### 'न्यकारो ह्ययमेव मे यदरयः'

तयां प्रशंसा भी की है। 'ध्वन्यालोक' में भी यह उद्भृत है और उसके टीका

कार श्री अभिनतगुप्तपादाचार्य ने इसमें क्रोध को व्यक्त या माना है । इसके बाद महाराज मोज के चचा महाराज मुद्ध के दरबारी किव ब्याचार्य धनिक तथा धनक्षय ने इसमें निर्वेद की ध्विन बताई । तब से वरावर लोग इसमें निर्वेद ही तिर्वेद की बातें बताते रहे । श्रीतर्कवागीशजी ने भी इसमें वहीं बात कही है । हमारा मत इन सबसे भिन्न है । हम श्रीअभिनवगुप्तपादाचार्य के मत के समर्थक हैं । हमने इस पर विस्तार से प्रकाश डालना उचित समक्ता और दो लेख लिखे, जो एक मासिक पत्रिका में प्रकाशित हुए । सम्पादकजी भी सन्तुष्ट हो गये और अन्य मित्रमण्डली के मन की मुराद भी पूरी हो गई।

जिज्ञासु जनों के लिये अत्युपयोगी समक्त ये दोनों लेख इस संस्करण के परिशिष्ट में छुपा दिये हैं। प्रथम नोट का आवश्यक अंश भी प्रथम परि-च्छेद की प्रथम कारिका की टीका में ही समाविष्ट कर दिया है। और भी

श्रनेक स्थानों पर बहुत पाठ बढ़े हैं।

कागज, छपाई आदि भी पहले से उत्तम है और जिल्द भी बिदया तथा बहुमूल्य है। इसके अतिरिक्त इस बार कमीशन देने का भी विशेष प्रबन्ध किया गया है। इन सब विशेषताओं के होते हुए भी साधारण प्राहकों को केवल ५ रु० में पुस्तक मिलेगी और तीन से अधिक प्रतियाँ एक साथ लेनेवालों को चतुर्थांश कमीशन दिया जायगा।

### द्वितीयावृत्ति में परिवर्धित विषय

		- 10	-			রম্ভ -
पथमावृत्ति की भु	मिका		W. S.A.		••••	१३
			0-2-			
		प्रथम प	परिच्छेद			
प्रथमकारिका की	STITE	TT II				u
प्रयमकारिका का	<u>ज्या</u> क्ट		0			٠ ٧
à ····		द्वितीय	परिच्छेद			
		1-2:11				
पञ्चमकारिका	••••	••••	••••			80
षष्ठकारिका	••••		••••	••••	9000	८४
धर्मगत फल लच्च	णा का	. जटाहरगा	***			५५.
वमगत भाषा वादा	था आ		0			
		ततीय	परिच्छेद			
0)						
'उपचरितेन कार्य	त्वन व	<b>तायत्वमुपच</b>	यत'	••••		=X
'पल्लवोपमिति०'				•••		१२०
		2	-0-1			
		चतुथ	परिच्छेद	10000		
(111221-1211-1)		7			0	0 - 0
'गाढ्कान्तदशन'		•••	****			१=६
'मत्रेहि संरहिए	म्यो'				Constant of the last of the la	9-8

. 0 . 0					
'धम्मिल्ले नवमिल		••••	••••	••••	8=0
'सुभगे पञ्चसंख्यत्व	म्'	••••	••••		१८क
'मल्लिकामुकुले'	••••	••••	••••	••••	039
'अलं स्थित्वा' .	•••	••••	****	••••	33.8
'श्रनयोः स्वतः सं	भविनोः'		••••	·	२००
५१ घ्वनिमेदाः			••••	<i></i> 4	२०४
'श्रयं स रसनोत्का	र्वी'	••••	*****	7 :	200
'जनस्थाने भ्रान्तम्			1	••••	२०१
'प्रधानगुराभावाभ्य	ाम्'		****	••••	२१६
	பனப	परिच्छेद			
		भार व्यक			
रस और राग का		••••	1121	••••	२१=
मागसत्वाद्रसादेः .		•3••		****	२२४
गृहे श्वनिवृत्त्या वि		••••	••••	••••	२३२
	सप्तम	परिच्छेद			
<b>हतवृत्त</b> त्व	••••	••••	****	••••	२०
पतत्प्रकर्ष	••••		••••	••••	२०
वाच्यानभिधान	1000	***	••••	•••	॰ २३
भग्नप्रक्रम	••••	••••	••••	••••	२५
'श्रापातसुरसे भोगे'	•••	7 700	••••	••••	38
कथितपदत्व का गुर	णत्वनिरूपगा	••••	••••	••••	8=
	अष्टम	परिच्छेद			
षोडशकारिका					0
पाडराजा।(जा	••••	0 5	. ••••	••••	७१
	दशम	परिच्छेद			
रूपक	es séco	••••	••••	••••	१३३
परिगाम	•••				१३६
अतिशयोक्ति	••			0.001	१६३
दृष्टान्त	•••	••••		••••	200.
समासोिक	••	****	••••		१=६
		THE PERSON NAMED IN			

इत्यादि



# साहित्यद्र्पेणस्य प्रथमखण्डोद्राहृतंश्लोकानामकाराचनुकमणिका।

			•				The second section is	No. of the last	
	~ ==	ā.	ų.		y.	<b>q</b> .	_ >>	y.	ġ.
	श्र श्रकस्मादेव तन्वङ्गी	१२४		<u> </u>			कृष्टा केरोषु भार्या	२७२	the Contract of
	यङ्गानि खेदयसि	The state of the state of	10000	इति गदितवती रुवा	888	११	के द्वमास्ते क वा प्रामे		2 400
	श्रता एत्थ थिमज्जइ	२१६		इति यावरकुरङ्गाचीम्		The same of the last	कूरप्रदः सकेतुः-	२४७	१२
	अता दुत्य । प्रमुख इ			इदं किलाव्याज	२१२	38	कचित्ताम्बुबासः	१०४	Ę
		808		इन्द्रजिच्च एडवीयों ऽसि	[३००	१०	काकार्य शश्लद्मणः	१७६	X
	श्रत्युन्नतस्तनयुगा- श्रत्रान्तरे किमपि	२०५		इयं स्वर्गाधिनाथस्य	२६१	१६	चात्रधर्मोचितैर्धर्मैः	२६२	१४
		११=	१=	उ			चेमं ते नतु पदमलीं वि	-१५८	. ₹
	अत्रासीस्प्रियाश—	३०१	२१	उत्र णिचलियफन्दा	[ E ]	ca	ग्		
	अथ तत्र पाग्डतनये		११	उत्कृत्योत्कृत्यकृत्तिम्	१६४	20	गमनमलसंश्रद्धादृष्टिः	रदर	१०
	अध प्रचराडमुजदराड		१०	उत्विप्तं करकङ्कणद्वय-	११०	38	गाढकान्तदशनचत् 💰	१८६	Ę-
	अधापि देहि वैदेहीं	३०२	२	उत्तिष्ठ दृति यामो	११२	9	गुरुतरकलनूपुरानुनादं	१२२	9
	श्रथरः किसलयरागः	२१२	8	उत्फुलकमलकेसर-	३०४	१०	ग्रुषपरतन्त्रतया बत	६३	3
	श्रध्यासितुं तव चिरात	र्दश्य	१६	उत्साहातिशयं वत्स	२६३	१३	ग्ररोगिरः पश्चदिनानि	३४६	Ę
	अनलंकतो अपि सुन्दर		8	उदोति पूर्वे कुसुमं ततः		88	गुद्धतामर्जितामेदं	२६=	१३
	श्रनन्यसाधारणधीः	488	8	उद्दामोत्किलिका	242	22	च		1
	<b>अनुयान्त्याजना</b>	२६१	8	<b>उनमितैकभूलत</b>	२६१	3	चश्रद्रभुजश्रमित-	२६२	3
	अनेन लोकगुरुणा	२१२	8	उपकृतं बहु तत्र-	४६	3	चरणपतनप्रत्या-		
	श्रन्तिकगतमपि	१२७	×	उपदिशाति कामिनीनां		8	ख्यानात्	१७४	१३
	अन्यासु तावदुपमर्द-	१४२	१३	Ų			चलापाङ्गी दृष्टि	२०१	8
	श्रियाणि करोत्येष	२७६	3	एक स्मिन्शयने	01.0		चारुणा स्फुरितेनायं	288	X
	श्रम्युनता पुरस्ता-	रह्र	2		१४२	X	चिन्तयन्तीजगत्सूतिम्	१६७	3
	अमितः ससितः प्राप्ते	१८४	9	एकस्यैव विवाकोऽयम्		१३	चिन्तासिः स्तिमितं	१५४	
	त्रमुं कनकवर्णीभम्	200	8	एकत्रासनसंस्थितिः	१०६	१२	चिररतिपरिखेदप्राप्त	१३४	28.
	श्रयं स रशनोत्कर्षा	२०७	Ę	एवं वादिनि देवर्षी	१३८	5	चूर्णिताशेषकौरव्यः	२७२	4
1100	श्रर्घं मर्घं मिति	१३२	१४	एसा कुडिलघयोष	१४१	१७	ज जारा विश्वास्त्र	101	
	अलमलम तिमात्रं	248	2	क				२ ह ३	910
	अलं स्थित्वा श्मशाने	335	¥	कथमीचे कुरङ्गाची	१४=	3		१७४	१७
	विकुलमञ्जुलकेशी	३१३	28	कदली कदली करभः	१७=	8	The second secon	<b>२०</b> ६	2
•	<b>ब्रतित्रप</b> ष्टुत्तत्र	१४१	8	कदा वाराणस्यामिह	१६=	22	2 2 20 -	२७३	2
	अशक्तुवन्सोद्धमधीर-	१७४	88		.१४३	१२		<b>२७२</b> २३०	3
	अश्वत्थामा इत इति		9	कर्ता द्यूतच्छलानां	3 2 2	22			8
	यसावन्तश्रव्याद्विकच-		२१	करमुदयमहीश्वर	१२६	Ę		११=	8
•	षसंभृतं मण्डन-	११६	११	कस्स व ण होइ रोसो				२=४	8
•	बसंशयं चत्रपरित्रह	280	9	कान्तास्त एव अवन-		2		२७२	१२
	प्रस्माकं सखि वाससी		Transfer and the	कान्ते तथा कथमपि		20	ग्रहित हं स्वरूप	0.5	
		२६६	The state of the s	कामं त्रिया न सुल्भा			णवरित्र तं जुत्रजुत्रलं	र२४	5
	प्रस्य वत्तः च्रागेनैव		2000		<b>308</b>	38	<u>त</u>		
	प्रहमेव मतो महीपतेः			TO MAKE THE PARTY OF THE PARTY		9	तत्पश्येयमनंगमङ्गल	388	२०
	्राः आ	-	A STATE OF THE PARTY OF THE PAR		२७१	5	तद्वितथमवादीर्यन्मम		
-	त्राचिपन्त्यरविन्दानि	200	20	कालो मधुः कुपित	६२		STATE OF THE PARTY	१६७	1
	प्रादित्योऽयं स्थितो		१६	किं करोषि करोपान्ते		१७		१३१	3
		<b>२</b> ८३			२११		तव कितव किमाहितैः		9
			2	कि रुद्धः त्रियया कया		88			2
	प्रापतन्तममुं दूरात्—	126			रहप्र				१०
-	मारिल्हभूमि प्राप्तित्या <del>का किल</del>	१३६		किसल्यमिव मुग्धं.				११६	×
	प्रासादितप्रकटनिर्मेल		१२	कुर्वन्त्वासा इतानां				११२	१२
		२०२		कतमञ्जमतं 💮 🐪	१६१	१४-		११६	२१
5	गह्तस्या भिषेकाय	33	१०।	कत्वा दीनानिपीडनां	१४२	X	तीयें भीष्ममहोटधी	२७४	2
-	CC	-0. Mur	nukshi	u Bhawan Varanasi Co	nection	. Digiti	zed by cGangetri	Page Trans	

## १ साहित्यद्रीणस्य प्रथमलएडोदाहृतश्लोकानामकाराचनुकमणिका

र साहत्यद्रप	गुस्थ	<b>भ</b> यर	मखएडाद्।हुताः	(क्षा मा)	114411(1431141411411
	y.	Ÿ.		પૂ. <b>વં.</b>	
तीत्राभिषंगप्रमवेश	१३५	- X	निर्वीर्ये गुरुशाप माषित-		मत्वा लोकमदातारं २१४ २
तृष्णापहारी विमलो	२६४	X	निःशेषच्युतचन्दनं	६२ =	(B) [10] [10] [10] [10] [10] [10] [10] [10]
त्यागःसप्तसमुद्र-	१६२	22	निश्वासान्य इवादर्शः	808 8	मधु द्विरेषाः ३० १
त्वद्वाजिराजि	१७१			२६४ ६	
त्वया तपस्विचाएडाल	100	3	नेत्रे खञ्जनगञ्जने	१०३ ४	
त्वामिसम बिन्म विदुष	रिहर		नो चाटु श्रवणं कृतं	१११ १५	
त्रस्यन्ती चत्रशक्तरी	१२४		न्यकारो ह्ययमेव मे	१७ इ	
त्रिभागशेषास निशास	The second second	26	प		मिल्लिकामुकुले चिरिड् १६० ४
द			पणअकुविद्याण दोएणं	१४१ १३	
दत्ते सालसमन्थरं भुवि	8.08		पन्थित्र ग एत्थ	१८३ ४	
दत्त्वामयं सोडितरथो	रहर्	ACCOUNT OF THE PARTY OF THE PAR	पन्धित्र वित्रासित्रो	१२= ५	
रभटिराज्ञेखां मैव	२७५	9	परिषदियमृषीयां	२६७ ६	
दलति हृदयं गाढोद्देगो	२७४	Ę	परिस्फुरन्मीन	१४० १४	
दशाननिकरीटेम्यः	१=७	७	पत्तवोपमितिसाम्य	१२० १४	
दिवि वा भुवि वा	१७१	Ę	पश्यन्त्यसंख्य	१६६ ३	93.0
दिशि मन्दायते	१८४	१३	पश्यामि शोक-	रहद १व	
दीपयन्रोदसीरन्त्र-	२११	. 9	पाणिरोधमिवरोधित	१२० २	
दीघींचं शरदिन्दुकानि	त ५०	9	पाएडुनामं वदनं हृदयं	\$8€ \$	6 4 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1
दुंगीलिक्कतिवमहो	ξo		पूर्यन्तां सिललेन	२७५ =	
दुल्लहजणाणुराश्रो	२६४	5	प्रणियसंखीसंबील-	१३४ १४	
दरागतेन कुशल	१२३	२	प्रवृद्धं यद्वेरं मम खलु	रहर रव	
दृश्येते तनित्र यावैतौ	२६७	१०	प्रसाध्य पुरी लङ्कां-	२६४ ह	I di contraga de de de de de
दृष्टा दृष्टिमयो ददाति	१०१	. १२.	प्रसाधिकालिक्वत-		े यत्रोत्सदानी प्रसदा- २१५ ३
दृष्टि हे प्रतिवेशिनि	१८४	9	प्रस्थानं वलयेः कृतं		ग्रह्मस्यवतभंग- २६३ ५
इष्टिस्तृणीकत-	33	3	प्रांणप्रयाणदुः खाते	The state of the s	गहाह्याच्या प्रथमोहित १६६ ११
ह्येकासनसंस्थित-	१०७	१३	प्राणेशेन प्रहितनखरे	१३६ १	गृहि संगरमपास्य ३०२ १६
दृष्ट्या केशवगोप	२१३	१२	प्रातिमं त्रिशरकेष-		यहीर्थे कर्पराजस्य २०४ १३
देशः सोऽयमराति-	३०२	१६	प्राप्तावे करथाक् ही-		गरेदानमित २०३ ७
दोदंगडाचित-	१६६	3	प्रायश्चित्तं चरिष्यामि		े गगातिरित मधिषा २०८ 3
द्वीपादन्यसमादिप	२४५	9	प्रायेणीय हि दश्यनते		यस्यालीयत शलक- २६ ३
শ ঘ		34	त्रियजीवितता कौर्ये	3 48	यामः सन्दरियाहि १५४ १६
वंत्यः स एव तरुणो	- १६२	88.	त्रेमार्जाः प्रणयस्पृशः	\$8₹.	व यानां सत्यपि ११६ ११
श्रेत्यापि या कथया	म् १०३	18	व	144.5	र्था संस्थिप ११६ ११ युक्तान्ह्रपयति- २६२ १६
भारिक्वे नवम्रिका-	- 350	र	बाले नाथ विमुञ्च		गोगः ग्रम विभान २६६ २
धिमझमर्थप्रक्तं कलय	ति१२३	. २१	त्राह्मणातक मत्यागा	. २१२	
Ca-married	226	7			
धृतायुघी यावदह	१३६	१२	मरनं सीमेन भवती	र्भर	५ रक्तोत्प्रस्वविशाज्ञलोल १७४ ६
०। ।। न			ा माम छात्मस्य वालस्य	1 6 20	र रक्तप्रसाधितभुवः २५१ १०
र्न खनु वयममुष्य	११४	X	मितियी अलस्य प्राप	1 388	४ रजनीषु विमलमानीः १=७ व १ रतिकेलिकलः किंचित् २१७ ६
न चं मेऽवंगच्छतिय	था११०	१७	मिही मांशनिषेवणं-	इरर १	ह रातकालकलः काचत् रह७ ६
नचह जीवितः	338	9	भाक्रमाह्मकदकान्त-	168	४। रथ्यान्तश्चरतस्तथा अदर्घ
च्या वर्षा प्रवयत्येशम	१३७	9 9	भूमी विसं शरीर	. २७७:	प्र राजानः सुतिनिविशेष २७५ २०
च चने तक्षां गारं	226	१ १७	भूयः परिभवकान्ति	२६४	र राज्यं च वसु देहरूच १६२ १६
	. 208	2	। मा लङ्ग्रंबर दायता	4.63	र शिममन्मधरारण रहण
	, 883	2 2 2	। भाताद्वरफ भवता-	326	र   राम। माञ्चानयाय - ८०४.
र्क्स वर्षवरेमेन्द्य-	. 8 6	. १२	.। भ्रमेग राचतं अप	384.3	७ राल+बाः पारबूरयन्तु ८ ४० ०
र्ने न्हीं न प्रती	2 107	1 2X	T T		
निवी सबैरदहनाः	285	9		े २७३ १	क् लड्डेश्वरस्य सवने . २४५ १

## ंसाहित्यद्रपेणस्य प्रथमखरडोदाहृतरलोकानामकारायनुक्रमणिका। ३

		_				
	ā.	ų.	ў. ў ў. ў·		y.	Ÿ.
लञ्जापञ्जत्तपसाहणाई	800	१३	शुश्रवस्य गुरून्कुर २६३ ११	The second secon	१०२	×
त्वागृहानक्विवान	२६१	१२	श्रूच्यं वासगृहं २७ ६	सायं स्नानमुपासितं	484	. 19
लावएयं तदसी	१६३	80	शेफालिकां विदलितां १४६ ११	सार्थकानर्थकपदं	१३८	. 3
लीलागतैरपि तरङ्गयतो	२६६	१६	शोषं वीद्य मुखं ६३ ६	सार्थ मनोरथशतैः	१०६	8
ं े व	- 16		श्रवणैः पेयमनेकैः २४२ १	000	१७५	5
वत्सस्य मे प्रकृति-	₹00	१४	श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः २६६ १४		१२०	5
वाणीरकुडगुडीय-	२१३	10	श्रीहर्षो निपुषाः कविः २४६ १४	- 1 10 .	१ द द	×
विदूरे केयूरे कुरु	११३	8		C. S.	२१६	20
विनयति सुदृशी-	१४२	१३	श्रुत्वाऽऽयान्तं बहिः १२२ ३	संकेतकालमनसं	48	.३
विपिने क जटा	१६०	१३	श्वासान्मुखिति भूतले १२३ ७	संघी सर्वस्वहरणं	२१२	×
विलोकनेनेव तत्रामुना	१७१	3	ALEMENT HOUSE	स्नाता तिष्ठाति	83	१७
विवृत्यती शैलस्तानि	११५	38	B 35 A SECTION	स्निग्धश्यामलकान्ति-	48	9
बिस्ज सुन्दरि	रदर	,,	स एव सुराभिः कालः ११५ १३	स्वच्छाम्मः स्नपन	388	8
वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुष	100	१३	सर्ज्ञाहि सुरहिमासो १८६ १०	स्वामिन्संग्ररयालकं	१०५	2
वृद्धोऽन्धः पतिरेष-	१३३	×	सतामाप ज्ञातकुलक- २०१ १	स्वामी निःश्वसित	१०५	¥
व्यपोहितं लोचनतो	१२५	8	सद्यः पुरीपरिसरेऽपि १३३ १२	स्त्रामी मुग्धतरो वनं	१७३	×
			सद्दंशसंभवः शुद्धः २६१ ४			
श	and I		समाश्लिष्टाः समाश्लेषैः ११७ १२	E		
शठान्यस्याः	88	Ę			२६७	3
शिखरिथि कनु नाम		8		इरस्तु किंचित्	१७१	१६
शिरास	२४३	8	सर्विचितिस्तां नाथ ३११ ५	इसति परितोषरहितं ः	283	3
शिरामुखेः स्यन्दत एव	१६४	2	सद्भृत्यगणं सबान्धवं २६४ १७		२७४	100
शीतांशुर्भुलुमुत्पले	२७०	×	सान्द्रानन्दमनन्तमव्यय३२२ १२ ।		१३१	

# \* दितीयखएडे \*

The state	g.	q.	g. q.	y.	पं.
श्र			अव्यूढा इसरूढ	88	5
श्रकतङ्कं मुखं तस्याः	१७६	१४	अनेन च्छिन्दता २२ १ अधुच्छलेन सुदृशी	१५७	3
अचला अवला वा स्युः	३२	१०	अनेन पर्यायसता— १६६ ११ असमाप्ताजिगावस्य	१=१	१२
श्रजस्य गृह्णतो जन्म	२०६	3	श्रन्तः पुरीयसिरंखेषु ११५ ५ श्रस्य राह्रो गृहे सान्ति		5
श्रजायत रतिस्तस्याः	३७	१४	श्चन्तरिछदाणिभूयांसि १६४ ११ अस्याः सर्गविधी	१६२	×
श्रतिगाढगुषायाश्र	१७७	¥	अन्यदेवाङ्गलाव एयम् १६२ १ अहमेव गुरुः	२२३	. 8
अत्रास्मार्षमुपाध्याय	×2	8	अन्यास्ता गुण्रलरोहण- १६ १० अहिणअपश्रोश्रर	२३६	१३
श्रद्यापि स्तनशैल-	२८	१३	श्रमुक्ता भवता नाथ ७ ६		1
श्रवः कृताम्भोघर	२२६	2	श्रिय मिय मानिनि १६ ४		
अधरे करज्ञतं	33	१०	श्रयमुद्याति मुद्राभञ्जनः ७६ ७ श्राकृष्टिवेगविगलद्	२३३	28
श्रनीत्रमङ्गलभुवः	ξ¥	8	श्रयं मार्तएडः किम् १३= १ श्राचरति दुर्जनो यत्	४३	Ę
<b>अन्युरयन्मियमेखलं</b>	४३	१०	श्रयंरताकरोऽम्मोधि - २० ६ श्रात्मा जानाति यत	रेर	. 8
श्रनायामकृशं मध्यं	२०४	8	अयं सर्वाणि शास्त्राणि १४ ६ आदाय बकुलगन्धान्		9
श्रतुयान्त्या जनातीतं	१६०	११	श्ररविन्दामिदं वीस्य १२७ ११ श्रानन्दममन्दमिसम्	२०इ	. 3
श्रनुरागवती संध्या	२३४	9	अरातिविकमालोक- १२० १० आनन्दयति ते नेत्रे	१०	8
श्रतुरागवन्तमपि	88	8	अरुपे च तरुपि २२१ १ आनन्दितस्वपत्तोऽसौ		8
श्रमुलेपनानि कुसुमानि	१६७	2	श्रविदितगुणापि १७२ १ बापातसुरसे मोगे	38	-5.0
श्रनातपत्रोऽप्ययमत्र -		9	अविरत्नकरवालं २.३० ं७ आमीलितालसनिवाते		<b>१₹</b>

	(all place the					
- y. v.			Į t	t.	· 4.	Ÿ.
आवर्त एव नाभिस्ते ३४ व		क		;	गच्छामीति भयोक्तया १६२	20
श्राशीः परम्परां ५ १	क	टाचे यापीषत्	२३६			
ब्रासमुद्रवितीशानाम् ७ २	क	टिस्ते इरते मनः			गर्दभर्ति श्रुतिपरुषं ११६	Ę
आसीदञ्जनमत्रेति २२७ १६	<b>a</b>		१६१	8	गांगमम्बु सितमम्बु २२५	
ब्राह्वे जगदुद्दग्ड १२६ ३	व्य	पोलफलकावस्याः			गाढालिंगनवामनी प्रेर	
त्राह्तेषु विहत्रमेषु ४४ ७	一表	पोले जानक्याः	ξο.	3	गाएडीवी कनकशिला- १४	
श्राज्ञाशकशिखामाण ३४ १		मलालिङ्गितस्तारहार-			गाम्भीर्येण समुद्रोऽसि १४३	
1	75	मले चरणाघातं	¥		गीतेषु कर्णमादत्ते ५	१०
इत्थमाराध्यमानोऽपि १६= १६	2	मलेव मितर्मितिरिव	१२७	Ę	प्रथनामि काव्यशशिनं ४०	
इदं किलाव्याजम्नोहरं १७४	75	पूरखगड इव राजति	80 8	2	गृहीतं येनासीः ३२	
इदमामाति गगने २३४ १०	व	रमुदयमही घरस्तना श्रे	१३३	3	गृहिणी सचिवः २१०	
इदं वक्त्रं साचात् १३५	' a	रिहस्तेन संबाधे	४६	5	घ	
इन्दुर्विमाति कर्पूरगैरिः २० १	a	ज्यति कुवलयमाला	१७३	0	घटितमिवाञ्जनपुञ्जै: १५६	ą
इन्दुर्विभाति यस्तेन १२५	-	ज्लुषं च तबाहितेष्व-		¥	घोरी वारिमुचां रवः २०	
इन्दुर्लिप्त इवाञ्चनेन १६२	,   =	गनने सरिदुद्देशे		१२		
इइ पुरोऽनिलकास्पत- १४५	٠   -	हाप्याभिख्या तयोरासी	त् ४२	5	্ ভ	
• इहैव त्वं तिष्ठ दुतम् २११		हाती ध्ये यातु तन्वंगी		१४	चकोर्य एव चतुराः १६।	£ 8 x
क्	1	गले कोकिलवाचाले	83	8	चकाथिष्ठिततां चकी ४	x ?
ईन्नसे यत्कटान्रेण २१ १		हाले वारिधराणाम्	१४४	१५	चरडाल इव राजासी ४	The state of
<b>3</b> :	5	का विसमा देव्यगई	२१७	2	चरडीशचूडाभर्ण- ३	The second
0/3/4/1/8/1	4 1	के तावत्सरिस सरोज	१३८	3	चन्द्रमण्डलमालोक्य ३	
उदन्विष्ठना भूः २७	1	के तारु एयतरोरियं	१३८	8	चन्द्रं मुख कुरंगाचि २	
04111 111 111 1111	11	केमूषणं सुद्द	२१५	१४	चन्द्रायते शुक्तरचाप्रि ४२	४ १३
उद्यत्कमल जोहित्यैः १०	3 1	किमधिकमस्य ब्रुमा	208	१३		4 1
ं उन्मज्ञज्ञलकुष्रोनद्र— ६७	4	किमाराध्यं सदा पुरयं	२१४	38		0 5
बन्मीलन्मधुगन्धलुब्ध दरे	Ę	किरणा हरिणाङ्कस्य	83	१०		<b>E</b> 5
उन्मीलन्ति नखेर्तुनीहि २१३	8	कुञ्जं इन्ति कशोदरी	88	9	चिरं जीवतु ते सूनुः ४	१३ १
Oaklidd a time		कुपितासि यदा तन्वि		१६	ਗ	-
उवाच मधुरां वाचं १ व	9	कुर्यो इरस्यापि	१५	8		2= 24
उवाच मधुरं घीमान् १८ र		कुमारस्ते नराधीश	३२	, E		१४ १
<b>5</b>		कुजन्ति कोकिलाः	308	8	जनमान्तरी ग्रमणस्यांग-२	
करः कुरंगकदश्रश्रवत १४८	Ę	कृतप्रवृत्ति	3	१०	जन्मेदं वन्ध्यतां नीतं १५	98 8
· · · · · · · · · · · · · · · · · · ·		के यूयं स्थल एव	83	8		⊊₹
	8	केशः काशस्तवक	εž	8		- ` ₹
एकं ध्यानिमीलनात् १व	१३	कोऽत्र भूमिवलये	१७३	8		08
Zan hallowing	K	कोकिलोऽहं मवान्	४३४	2		ج <b>ا</b>
एतद्विमाति चरमाचल १४४	8	क सूर्यप्रमवो वंशः	१७५	*	ज्ञाने मौनं चमा शक्तो १	
एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यैः २४	8	क वनं तरुवलक	२०६			४२
एव दुश्च्यवनं नौमि ६२ एक मती यथा धर्मः ४१	0	चिपसि शुकं	१७५			22
210 X111	8	विप्तो इस्तावलग्नः	४८		ज्योत्स्नाचयः पयःपूरः	
	0.	चीयाः चीयोऽपि	१७७		् त	
पे		चीरोदजावसतिजन्म	<b>–</b> Ę		ह ततश्चचार समरे	३३
कुन्द्रं घनुः पाण्ड १०६	२				तद्रच्छ सिख्ये कुर	१३
ऐशस्य घतुषो संगम् ३३	१२	ख			तदङ्गमार्दवं द्रष्टुः १	६७
भ्रो		खड्गः दमासौविदञ्ज	: १३२	1 8	४ तद्वक्त्रं यदि मुद्रिता न	१२२
श्रोवहर उत्तहर १७	8	ग			तद्विच्छेदकुशस्य	४४
ऋौ		गंगाम्ससि. सुरत्राय	T- 8x		२ तिद्वेशोऽसद्दशोऽन्याभिः	४३
	v	गच्छ गच्छिस चेत्			<b>१ तिन्व्यंगाः स्तनयुग्मेन</b>	१४२
• ब्रोत्सुक्येन कृतत्वरा. ५६	4	न क गर्कात निष्	200			

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

				A COLUMN	3 11 11 1		
3. A.	Ÿ.		g.	ų̈́.		y.	q.
तव विरहे मलयमस्त् २०५	80	नवजलधरः	<b>~</b>	×	भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग	32	. 8
तव विरहे हरियाची २०२	१३	नवपलाशपलाशवनं	60	×	<b>अजङ्गकु</b> एडली	50	8
तस्य च प्रवयसो २१५	×	नामित्रमिन्नाम्बु	२२१	8	भूतयेऽस्तु मवानीशः		E.
तस्या मुखेन सदशं ११=	₹	नाशयन्तो घनध्वान्तं	28	2	H		
तामिन्दुसन्दरमुखीं १२	Ę	निजनयनप्रतिविम्बै:-		×	मञ्जुलमणिमञ्जीरे	६२	5
तामुद्रीच्य कुरङ्गाची ३७	११	निर्माणकौशलं धातुः	१३२	8	मधुपानप्रवृत्तास्ते	230	१२
तिष्ठेतकोपवशात्त्रमाव ४२	१४	निरर्थकं जन्म गतं	१६०	१३	मधुरया मधुबोाषित	७४	28
तीर्थे तदीये गजसेतु - २=	२	निसर्गसौरभोद्भान्त	१=४	×	मधुरः सुधावदघरः	११३	8
ते हिमालयमामन्च्य २७	*	नीतानामाकुलीमावं	83	3	मध्यं तव सरोजािच	938	5
त्वद्वाजिराजिनिर्धृत- १६६	१०	नेदं नभोमएडल-	१४१	1000	मध्येन तनुमध्या मे	222	8
त्वया सा शोमते तन्वी २१०	8	नेत्रेरिवोत्पत्तैः	१२४	9	मनोजराजस्य	१३०	9
त्वाय दृष्टे कुरङ्गाद्याः १७२	₹	q			मन्थायस्तार्णवास्भः-		9
त्विय संगरसंप्राप्ते २१२	१	पद्मोदयदिनाधीशः	१२8	9	मन्दं इसन्तः पुलकं	<b>5</b> ¥	8
त्वासामनन्ति प्रकृति ४७	8	परापकारनिरतै	200	<u>ح</u>	मक्षिकाचित	228	8
द		परिहराति रति मति	₹≒	१०	महदे सुरसंधं मे	88	. 8
The state of the s		पर्वतमेदि पवित्रं जैत्रं		१४	मानमस्या निराकर्तुम्		१४
	2 .	पहावाऋतिरक्तोष्ठी	१७	3	मानं मा कुरु तन्वि		8
	, ?	पश्यन्त्यसंख्यपथगां	335	१३	मारमासुषमाचारुरुचा		×
	8	पश्येत्काश्चिचल	238	8	मुग्धा दुग्धिया	१३६	१३
	2	पाणिःपञ्चवपेलवः	१३	.88	मुखिमन्दुर्यथा पाणिः	888	9
दासे कृतागिस भवेत् १३२	9	पाएडवानां समामध्ये	308	4	पुखं तव कुरङ्गावि	१३४	9
दिङ्मातङ्गघटाविमक्त ४५	9		१६१	9	मुखं चन्द्र इवामाति	83	×
दिनं मे त्विय संप्राप्ते ६	3	पादाइतं यदुत्थाय पादाघातादशोकस्ते	161		मुखमेचीहशों भाति	१५१	2
दिवाकराद्वचित यो ३१	. 8	The second secon		७	मुख मानं हि मानिनि		×
दिवमप्युपयातानां २१०	१०	पान्तु वो जलदश्यामा पारेजलं नीरनिधेरपश्य			मुक्तोत्करः संकटशुक्ति		E
दीधीवेबीट्समः ४६	×			2	मुनिर्जयति योगीन्द्रो		१३
दीयतामार्जितं २१६	2	पुंस्तवादिपप्रविचलेदादि		Ę	A STATE OF THE PARTY OF THE PAR	84	१३
दूर समागतवति त्वाय १६ =	१४	पूरिते रोदसी	५१	१२	मूर्थव्याधूयमान—	0.4	1.4
इप्तारिविजये राजन् ३	₹	पृथुकार्तस्वरपात्रं	85	१४	यः सते नयना	११	₹
दशा दग्धं मनसिजं =४	Ę	पृथ्वि स्थिरा सव	=35	E .	यं सर्वशैलाः	27	११
देवः पायादपायानः २३३	8	प्रज्वलाखालाथारावत्	80	१०	यत्र ते पतित सुभू	11	8
देहि मे वाजिनं राजन् ३०	8	प्रयमस्यु निति हेतोः	२०६	8	यत्र पतत्यबलानां	२०१	0
द्वयं गतं संप्रति २३	Ę	प्रातकू बता प्रपगते-	83	9	यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति	The state of the s	
ে ঘ		प्रयाणे तव राजेन्द्र	१७४	8	यदि मय्यपिता दृष्टिः	१८०	११
धनिनोऽपि निसन्मादा२०४	8	प्रवर्तयन्त्रियाः साध्वाः		११	यदि स्यान्मग्डले	१६२	
धन्यासि वैदर्भि गुणैः १६६	Ę	प्रससार शनैर्वायुः	३	8			१०
धन्याः खलु वनेवाताः १६४	3	प्रागव हरियाचीयां	१६३	2	यदेतचन्द्रान्तर्जलदः	348	2
धाम्मिल्लस्य न कस्य प्रदय १०	₹	त्रिय इति गोपवधूिमः	१४०	११	यचद्विरहदु:खं	१३	8
घवलयति शिशिर ३ =	9	प्रोडंडवद्धड्डवत्तन	२०	१	यम्रनाशम्बरमम्बरं	X	~
धातुमत्तां गिरिर्धते १३	9	व			ययोरारोपितस्तारो	२१४	9
धीरो वरो नरी याति १७	=	बलमार्तभयोपशान्तये	288	8	यशोऽघिगन्तुं	२७	9
न	383	बलावलेपादधुनापि	१६=	5	यशसि प्रसरति	१२१	5
न तज्जलं यत्र सुचार २१२			202	१६	यस्य न सविधे दियत		*
न मे शमयिता कोडापे १२	3	बृहत्सहायः कार्यान्तं	\$8=	2	या जयश्रीर्मनोजस्य	28	×
	१२		164	7	यान्ति नील्निचोलिन		
नयनज्योतिषा भाति ४१	१३	<b>स</b>			यात्रदर्शपदावाचम्	582	E
नयनयुगासेचनकम् २०६	9		२१६	२	युक्तः कलःसिस्तमसां		75
नयने तस्येव नयने च ४८	80		१२३	3.	युगान्तकालप्रति	308	१६
- 17	1	माति पद्मः सरोवरे	₹	8	येन ध्वस्तमनोसवेन	89	3

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

	1	. у. <del>ў</del> .
पू. पं.	पू. पं.	
	विकसित सहकारमार १६ ६	
योऽनुभूतः कुरङ्गाच्याः १७५ ५	विचरन्ति विलासिन्ये २१४ १	सहमामिजनैः स्निग्धेः ४१ न्य
योगेन दलिताशयः ४ ६	विद्धे मधुपश्रेणी १३३ ६	महसा वि : धांत न ३३ १
यो यः शस्त्रं विमर्ति ६८ व	विधवति मुखाब्द- ११६ ५	सहाधरदलेन।स्या १६१ म
THE RESIDENCE OF THE PARTY OF T	विना जलदकालेन १८० ८	,, १७६ १०
•	विपुलेन सागरशयस्य २० = १३	सा बाला वयमप्रगल्म २०७ ६
रज्ञांस्यपि पुरः ६ १४	विभाति मृगशावाची १२ ६	सुचरणांवीनविष्टेः ६८ ४
रिश्वता नु विविधा १५= ११	विमल एवरविविशदः १६६ १०	सुधेव । श्रमलश्चन्द्रः ४२ ६
रतिलीलाश्रमं भिन्त १ = १३	बिरहं तव तन्वक्षी २०३ २	सुनयने नयने ४८ द
The state of the s	विल्लाप स वाष्प २१८ १	सूचीपुखेन सक्तदेव ६६ ११
		सेवा स्थली यत्र १५३ १४
" floring S		सौजन्य।म्बुमरुस्थला १३४ ११
राजनारायगं २३५ ६	IABELIALAND	सीरभमग्भोहह- ११३ १
राजन्राजवता १६७ १	111.0	संकेतकालमनसं २२६ ४
राजीवमिव राजीवं १२६ २	व्यतिक्रम्लवं २३ १३	
राज्ये सारं वसुधा २१३ १	व्याजस्तुतिस्तव १६५ ११	संगमविरहविकल्पे १४० ६
राममन्मथशरेण २३ १०	व्याधूय यद्वसन १०१ ६	संप्रामे निहताः शरा १३ १३
रावणस्यापि रामास्तो १४३ १२	CONTRACTOR OF THE PROPERTY OF	संततमुसलासङ्गात् २०६ १
रावणा । प्रह्रकान्त १३१ ५	য	संप्रति संध्यासमयः ५० ६
Arrive Louis and	शशिनप्रगतेयं २०१ ३	स्तनयुगमुक्ता १६४ द
त	11.11.19.1	स्तनावद्रिसमानी त ४० १४
लक्ष्मयोन समं रामः १८० १	शशी दिवसधूसरी २२० ४	स्तोकेनान्नतिमायाति १०० र
सद्मीवचीजकस्तूरी २२३ १२	शिरीषमृद्धीगिरिषु १२ व ४	स्थिताः चर्ण पदमसु २१३ १२
त्तरनं रागावृताङ्ग्यां ३६ ६	श्रद्धा अमरता याान्त र ५	स्पृष्टास्तानन्दनेशच्याः १६१ ४
त्ताकुरुनं गुरुजन्मद ६५ ७	शैलेन्द्रपतिपाद्यमान २२६ ११	म्मरशरशतविधरायाः२०२ १०
411.6.	श्रुतं कृतिथियां सङ्गात् २११ १४	स्मरात्यन्धः कदा ६ ६
All A Lister Miss		स्मितेनोपायनं दूरात् १३६ ४
111 4 111 111 141 1	स	स्मेरं विधाय नयनं १२४ ी
2000	स एकस्रीणि जयति २०४ १४	
लिम्पतीव तमोऽङ्गानि १५६ ७	सकलकलं पुरमेतत् १०२ ७	0:0000000000000000000000000000000000000
a	9	41.44.74.44.44.44
		(41410 (1441)
वक्त्रस्पान्द स्वेद २२६		
बदनिमदं न सरोजं १४६		
वदनाम्बुजमेणाच्या २३५ १		
74. 6 11. 11.	सदैव शांधीपल- २२३ १४	
वनेचराणां वनिता- १३७		Sell allingical 26
वनेऽखिलकलामकाः २३०		
वर्ण्यते कि महासेना १३	सममेव नराधिपेन १७६ १	
वर्षत्येतदहर्पतिर्नेतु घनो ३१	सममेव समाकान्तं १६३	
वज्ञभोत्सङ्गसङ्गेन २०६		१ इरान्ति हृदयं यूनां ३०१
वसन्तलेखेकनिवद्ध १७२		इरवज्ञीलकगरों ४० १
ं वाचमुवाच कोत्सः १६		
		C
	। सबस्य इर सबस्य ६२ ५	
वासवाशामुखे माति २० ५		
विकष्ठनेत्रनीलाञ्जे १४		
विकसितमुखीं- १८२	सिह कुमुद्ददम्बैः १७६	हंही धीरसमीर २१६

# \* साहित्यद्रपेणस्य पूर्वस्वरंडे विषयानुक्रमणी \* प्रथमपरिच्छेदादाषष्ठान्तम्॥

The second secon	. 0				The state of the s	The same		
पूष्ठ	स्य पंक्ती		. पृष्ठस्य	पंसौ			पृष्टस्य	पंक्ती
प्रथमपरि च्छेदे —		विभावः	60	¥	<b>बुल</b> टा		80€	3
मङ्गरूम्	2 8	विमावमेदौ	83	२	कन्या		308	8
काव्यक्तलानि १		नायकः		<b>E</b> ,	वेश्या		"	Ę
काव्यलच्यादूषणानि १		तत्र, धीरोदात्तः	"	१६	भेदा ख्यानम्	***		
		धीरोद्धतः	"				११०	₹
काव्यस्वरूपम् २	1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1	धीरललितः	१२	. २	स्वाधीन मर्तृ	का	>>	=
दोषस्वरूपम् ३		धीरशान्तः	"	Ę	खिरहता	•••	"	5.5
गुणस्वरूपम् ३	8 8		91	3	अभिसारिका	•••	72	18
द्धतीयपरिच्छेदे—		नायकानां षोडशरे	ादाः,,	१२	श्रीभसारिका		१११	1
वाक्यस्वरूपम् ३१	4 3	दिचियानायकः	12	१४	श्रीमसारस्था	नानि	"	28
THE TAXABLE TO SEE		धृष्टनायकः	६३	3	कलहान्तारत	II	22	. \$ 7
		अनुकूलनायकः	22	१०	विप्रलब्धा		११२	8
पदलच्यम् ३।	4	शठनायकः	88	8	<b>ब्रोबितमर्तृका</b>		93	3
श्रर्थंत्रेविध्यम् ,,	=	नायकानाम् एचरवा	रिंश-	-	वासकसञ्जा		११३	2
ग्रमिघा ३०		द्भेदाख्यानम्		१०	विरहोत्क। चिट	ता		<u> </u>
संकेतः ३०	₹ ₹	पीठमर्दः	M	१४	भेदाख्यानम्		2)	१५
तत्त्रणा ४०	, 3	श्रनारसहायाः	8 X	ेर	नायिकालंका	71.	9.934	१५
तत्त्वामेदाः ४१	8 8	विट:	64	Ę			888	The second second
व्यञ्जना ५६	1	विदूषकः	23	100	तत्र, भावः	•••	११५	१०
तात्पर्यनिर्णायकाः ४७	<b>5</b>	सन्त्री	22	3	हाव:	•••	33	१६
तात्पर्यवृत्तिः *** ६ ४		The state of the s	"	१३	हेला	•••	११६	2
	STO	अन्तःपुरसद्दायाः	38	(9	शोभा	•••	99	<b>E</b>
तृतीयपरिच्छेदे	in the contract of	दग्डसहायाः	80	₹		•••	"	१५
रसस्वरूपम् ६६	3	धर्मसहायाः	"	¥	दीिसः		22	38
रसास्वादनप्रकारः ६०	. 8	दूतभेदाः	"	१४	माधुर्यम्		११७	3
करुणादीनां रसत्व-		तत्र, निसृष्टार्थः	= 3	२	Unaver	•••	22	१०
स्थापनम् ७३	¥	मितार्थः	,,	¥	खोटार्गम	•••	22	१५
रसास्वादे वासनायाः		संदेशहारकः	27	Ę	និវ័ាប	•••	११८	२
कारणस्वम् ७४	१०	सात्त्विकनायकग्रुणा		E.	alar			3
विभावादिव्यागरः ७६	magazine C	तत्र. शोमा		22	तिलाम •	***	"	94
विभावादीनां साधा-		विवास.	"	१८।	विच्छित्तिः	•	99 0	२
		HEATT	72	Ę	विञ्वोकः	•••	888	
र स्यम् ७०	. २	गाम्मर्थिम्	33	The state of		•••	>>	3
विमावादीनामलौकि-		गान्सायम्	99	4	किल किंचितम		22 2	१६
कत्दम् ,,	¥	वैर्यम्	17	१२	मोङ्यायितम्	•••	१२०	X
रसोद्बोधे विभावादी-		तेजः	१००	8	कुट्टामतम्	•••	23	88
नां कारणत्वम् ७६	1	ल्लितम्	33	३	विश्रमः	•••	१२१	२५
विभावादीना रसरूपेण-		भौदार्यम्		8	ललितम्		१२२	×
पारिषामः ,,	Ę	नायिकामेदाः	10	Ę	मदः	•••	<b>3</b> 3	१०
विभावाद्यन्यतमा-		स्वस्री	<b>33</b> **	११	विहतम्		93	१७
• ह्रेपेपि रसोद्बेधः ५०	Ę	मुग्धा	99	१७	तपनम्	•••	१२३	¥
रसस्यानुकार्यगत-		मध्या	१०२	१३	मीग्ध्यम्		22	१२
त्वखरडनम् = १	¥	प्रगल्मा	१०३	22	विश्वपः		1)	१८
रसस्यानुकर्तृगतत्व-		मध्याधीरा			<b>क</b> त्रहत्तम्		१२४	3
	22	सध्या धीराधीरा	१०५	१०	इसितम्	•••		=
रसस्य ज्ञाप्यत्वादि-		मध्याऽधारा			चिकतम्		33	१३
	¥		9 - 6				950	3
खरडनम् ६२		प्रगल्भा घोरा	१०६	-	केलिः	***	१२५	
रसस्य ज्ञानान्तरंत्राद्यत्व-		प्रगल्मा धीराधीरा	१०७	8	मुग्धाकन्ययो			
खरडनम् हो		प्रगल्माडघीरा	2)	ę	न्नितानि		· n	
रसस्य स्वप्रकाशात्वम् व	₹	मेदाख्यानम्	30	8	सर्वासामनुरा		।नं "	38
CC-0. IV	umukane	Diawaii Varanasi C	OHECHOIT.	Digitiz	ed by eGang	Jul	and the second	

	पृष्ठस्य	<b>एंको</b>	पृष्ठस्य -	पंकौ ।	पृष्ठस्य पंक्ती
दूत्यः	१२७	22	मावपदिन रिक्तः १४६	2	श्रीमधामलध्यतिः )
दूतीग्रणाः	१२=	3	रसमेदाः "	9	तत्त्रणामूतध्वानिः र् १७७ -
प्रतिनायकः		28	तत्र, शृङ्गारः "	१०	तत्त्रणामूतध्वनेभेदौ १७८ ३
उद्दीपनाविभावाः	1)	१७	शृङ्गारभेदौ १४७	8	स्रामिधामूलध्वनेभेदी १८१ क
अनुभावः	१२६	१०	AURINIAKOU	Ę	रसादेरैकविध्यम् १८२ २
सात्त्विकाः	१३०	. 2	ਜ਼ਿਹਜ਼ਸ਼ਮੀਤਾ।	5	संलद्दग्रमव्यङ्ग्य-
तत्र, स्तम्भादयः		9	वच पर्वमागः	20	ध्वनेह्नेविध्यम् " ह
स्तम्मादीनां लच्या	, ਜਿ	१०	काप्रहशाः	28	शब्दशक्त्युद्भव-
व्यमिचारियाः	१३१	१४	तूत्र, मर्थे विशेषः १४६	9	व्यङ्ग्यस्य द्वैविध्यम् १८३ ५
तत्र, निर्वेद:	१३२	`२	कामदशास मतान्तरम् १५०	<b>E</b>	श्रर्थशक्त्युद्भवव्यङ्ग्यस्य
अविगः %.		<u>ـ</u>	पर्वगाभेटाः	१५	द्वादशभेदाः १=५ १
2-111	१३३	3	मानः ., १५१	8	शब्दार्थशक्त्युद्भव-
grn •		१०	отпита.	¥	व्यङ्ग्यसेयकविष्यम् १६१ ७
TIF.	"	20	ईव्यामानः १५२	8	ध्वनरष्टादशिवधत्त्रम् १६२ ५
ज़डता	१३४	×	मानसङ्गोपायाः १५३	ù	सप्तदशभेदानां पदवा-
स्माना		११	ਰਗਬ:	18	क्यगतत्वम् १६२ ६
मोत.	१३५	र	THIST RITER.	१न	अर्थशक्त्युद्भवध्वनेः
तिनोधः		4	प्रवासमेदाः १५४	१३	प्रवन्चेऽतिदेशः १६६ २
स्वप्नः	"	१६	करुणविप्रलम्भः १५६	٠ ٦	पदांशादिष्वसंलद्य-
अपस्मारः	१३६	8	संमोगः १५७	8	क्रमःयङ्ग्यस्या-
गर्ने •		3	संमोगभेदाः ",,	१५	ख्यानम् २०१ १
пин	23	१५	हास्यः १५८	3	ध्वतिसेदाख्यानम् २०४ ३
SUBLET	१३७	¥	हास्यभेदाः १५ =	१५	गुणीभूतव्यङ्ग्यम् ,२०६ ६
त्राजस्यम्		१०	हासाश्रयप्रतीतिः १५६	१०	गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यमेदाः २०७ १
निद्रा	"	१६	करुणः १६०	3	गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यापि-
बाज जिल्ला	१३८	¥	कर्णवित्रतम्मात्-		ध्वानित्वम्२१४ ६
<u>ब्रोट्स स्थाप</u>		११	कहणस्य भेदः १६१	2	चित्रकाव्यखरडनम् २१५ ह
उत्मादः	33	१७	गैद:	×	
राङ्गा	838	5	युद्धवीरात्करुणस्यभेदः,,	20	पज्ञमपरिच्छेदे—
स्मृतिः		१६	वीरः १६२	ેર	व्यञ्जनास्वरूपम् २१७ ३
मतिः	180	8	बीरभेटा•		त्रामवाता व्यवनायाः
व्याधिः		१०	सयानकः १६४	Ę	पायक्य हतनः ररर
त्रासः	97	१३	बीमत्सः १६४	2	। श्रामबालप्रपाया-
त्रीडा	. 35	१न		१५	रसादिशातपादन-
हर्ष:	१४१	्रे	श्रद्भुतः ,, शान्तः १६६	. 4	उक्षमानामानामान्य ।
अस्या		-	दयावीराच्छान्तस्य	ef a	-46,4414453414
विषादः	"	28	भेदः १६७	u	स्याचमत्वम् २२६ ४
ष्टतिः	१४२	, 2	शान्तस्यरसत्वस्थापनम् १६		120074INHRIGE 440
चपलता		120	वत्सत्तः १६६	3	
ग्लानिः	<b>283</b>	2	रसानां मिथो विरो-	THE REAL PROPERTY.	काव्यस्य दृश्यश्रव्य-
चिन्ता		१०	STIENCE OF	88	
वितर्कः	"	१५		१२	
स्थायिनोपिसंचा-	50		रसामासमावामासौ १७२	-	20
		9.	बाजीनिकारकीयम	2 8	
रिमावत्त्रम् स्थायिभावः	<b>%</b>	<b>१</b>	the second secon		6114.141.
स्थायमानः		23			११
	• >>		्रवावयमदो १७७		गाटकरायय अ
स्थायिभावानां	9 2 2		्रमिक् <b>र</b> भूगा		प्रमानिकतत्त्वणम् २४१ १४
त्रयानि	१४५		( । व्यानकाव्यम् ,		र निवासकार प्रति ।

	A CONTRACTOR OF THE PARTY								Control of the Control	
	पृष्ठस्य	पंस्तौ	Ser Tree		पृष्ठस्य	पंसौ			पृष्ठस्य	पंस्तौ
नाटकरचनापरिपाटी	२४२	8	गर्भः	***	२६०	2	द्रवः		२७२	90
पूर्वरङ्गः	,,	9	विमर्शः	•••	92	११	द्युतिः		२७३	3
नान्या यावश्यकत्वम्		3	निर्वहणम्			१८	शिक्तः		17.00	,
नान्दीस्वरूपम्	"	१२	मुख सन्धेरङ्गानि	***	2		प्रसङ्गः	•••	33	
नान्धनन्तरेतिकर्तव्यत		5	तत्र, उपन्नेपः			20	बेद:	•••	33	18
भारतीवृत्तिः	२४६	3	परिकरः	•••	>7	3.5		•••	२७४	8
भारतीवृत्तेरङ्गानि	170	2019.00		•••	97		प्रतिषेधः	•••	23	११
	"	११	परिन्यासः	•••	२६२	2	विरोधनम्	•••	23	38
यामुखम् (प्रस्तावना)		38	विलोसनम्	•••	20	35	प्ररोचना	•••	२७५	X
प्रस्तावनाभेदाः	२४७	Ę	युक्तिः	•••	22	१६	त्रादानम्	•••	22	१२
उद्घात्यक:	21	3	प्राप्तिः	•••	99	२१	<b>छादनम्</b>	•••	99	38
कथोद्घातः	२४८	3	समाधानम्	•••	२६३	3	निर्वह्ण सन्धे	रङ्गानि	२७६	Ę
प्रयोगातिशयः	,,	88	विधानम्		. ,,	११	तत्र, संधिः	•••		22
व्रवर्तकम्	388	Ę	परिभावना		22	१६	विवाध:		2)	28
अवलगितम्	,,	3	उद्भेद:		33	38	प्रथनम्		33	
नखकुटमतनिरूपणम्		24	करणम्		२६४	8	निर्णयः	•••	"	38
बस्तुनो द्वैविध्याख्यान		ર	भेदः	•••		.0	परिभाषयाम्	***	२७७	8
अ।धिकारिकवस्तु तच		8	प्रतिमुखसं घरङ्ग	 	27	११	पारमाप्यम्	•••	27	3
		1	नातमुखस वर्ष	illa.	22	H. W. SHOW	कृतिः	•••	23	१३
प्रासिक्ष कवस्तु लच्च गम्	"	9	तत्र विन्तासः	•••	23	१६	प्रसाद:	•••	93	१६
पताकास्थानम्	"	92	परिसर्पः	•••	"	२१	श्रानन्दः	•••	93	१५
प्रथमं पताकास्थानम्	,,	१.४	विधुतम्	•••	२६४	3	समयः	•••	२७६	2
द्वितीयं पताकास्थानम	( २४१	७	तापनम्	•••	22	Ę	उपग्रहनम्		22	8
तृतीयं पताकास्थानम्	,,	88	नर्भ	•••	22	१०	भाषसम्	-	20.	22
चतुर्थे पताकास्थानम्	२४२	5	नर्मद्युतिः		22	88	पूर्ववाक्यम्			१३
कविशिचा	२४३	ą	प्रगमनम्		२६६	8	काव्यसंहारः		3)	१६
अर्थोपचेपकाः	2 48	8	विरोध:			×	प्रशस्तिः	•••	23	
विष्कम्सकः		Ę	पर्युपासनम्	***	"	9	चतुःषष्ट्यङ्गो	miarr.	33	१न
मनेगर.	"	23			"	११	पधु-पष्टयन	पसहार:	२७१	9
	"		पुष्पम्	•••	22	१६	फलनिरूपय	4	99	१२
चूिका	22	१७	वज्रम्	•••	23		अङ्गानां फ	लम्	<b>33</b>	१४
ग्रङ्गावतारः	२५५	8	उपन्यासः	•••	"	38	रसञ्यक्त्यनुर	ार्थना <b>ङ्</b> ग	गानां	
अङ्गपुलम्	"	5	वर्णसंहारः	•••	२६७	8	संनिवेश	निरूपण	म् २८०	*
श्रङ्गपुखे मतमेदः	19	१२	गर्भसंघरङ्गानि	•••	२६म	२	वृत्तयः	E grands	20	१३
कविशिचा	२४६	8	तत्र, अभूताहर	षम्	22	×	त्त्र, केशिक	ì	रदश	
वर्धप्रकृतयः	,,	१३	मार्गः		"	११	कैशिक्या अ	ङगानि		×
बीजम्	,,	१७	रूपम्	141	20	१५	तत्र, नर्भ		33	
विन्दुः	२५७	8	उदाहरणम्		"	38	नर्मस्फूर्जः		33	
पताका		×	क्रमः		२६६	Ę	नर्मस्फोटः	•••	2 - 2	१=
प्रकरी	3)	१३	संप्रहः			22	नर्भगर्भः	•••	रदर	5
कार्यम्	"	१६	The state of the s	***				•••	29	१५
	>>		<b>अनुमानम्</b>	•••	22	88	सात्वती	•••	90	१=
कार्यावस्था	२४५	त	प्रार्थना	•••	२७०	₹	सात्वत्या अ		23	२०
श्रारम्भः	99	×	विप्तिः .	•••	<b>32</b>	११	तत्र, उत्थाप	कि:	33	२२
प्रयतः	27	5	त्रोटकम्	•••	>>	१५	सांघात्य:	•••	रदइ	
प्राप्त्याशा	"	१२	अधिबलम्	•••	99	१८	संलाप:	000	1	
ानियताप्तिः	33	१५	उद्वेग:		२७१	1	परिवर्तक:		23	3 2
फलयोगः(फलागमः)		8	विद्रवः			9	त्रारभटी		93	१३
संधिः		Ę	विमशेसंधरङ्गा	नि	27	११	चारभट्या ।	DENT-S	. 33	20
संधिभेदाः	23	8			33			CONTRACTOR OF THE PARTY OF THE		38
	22 .		तत्र, अपवाद		23	58	तत्र, वस्तुत	थापनम्	२=४	र २
ंतत्र, मुखम्	>>	१२	संफेटः	***	"	१५	संफेट:	•••	"	. =
प्रतिमुखम्	99	. १५	व्यवसायः	•••	२७२	Ę	संचिप्तिः	•••	3)	? .
	To the same	1000	THE OWNER OF STREET	1	Park San	MAN TO SERVICE	41 22	TO CHARLES	The same	

	A		9			9				
OF LAND	पृष्ठस्य पं	कौ	10 12		पृष्ठस्य प	<b>ां</b> संग			पृष्ठस्य प	ांसो
अवपातनम्	२८४	१४	कपरम्		285	v	डिम:			११
नाट्योक्तयः	2=4	3	त्रवमा	•••	,,,	28	ईहामृगः	···		-8
नामकरणम्	"	१२	गर्व:		>2	88	ग्रङ्घ:		240	2
आजागीवितशब्द-			उद्यमः	•••	22	१६	वीथी	•••		१०
निर्देग:	२८६	8	ऋश्वयः		"	38	वीध्यङ्गानि		The second second	१५
माषाविभागः	२८८	=	उत्प्रासनम्	•••	33	२१	तत्र, प्रपञ्चः		₹११	2
षट्त्रिशल्चवणादीना	AT-		स्पृहा	141	335	3	त्रिगतम्		,,	3
• ख्यानम्	र≅६	१७	चोभः		,,	9	छलम्		>>	8
लच्यानामुद्देशः	२६०	8	प्श्रातायः		"	११	वाकेलि:	•••	33	10
तत्र, मूषणम्	12	१४	उपपात्तः		>>	88	अधिवलम्	•••	<b>३१२</b>	¥
अव्रसंवातः	>>	१=	त्राशंसा		"	१ड	गएडम्	•••	,,	१४
शोमा	288	8	ऋध्यवसायः		"	२१	अवस्यान्दतम्		"	20
उदाहरणम्	>>	Ę	विसर्पः		"	२५	नानिका		३१३	- 4
हेतुः	"	११	उह्येख:		300	₹	असत्प्रलापः	•••	"	१०
संशयः	22	88	<b>उत्तेजनम्</b>		"	v	व्याहारः	•••	"	१७
दृष्टान्तः		१=	परीवाद:		22	१२	मृदवम्		३१४	Ę
तुल्यतर्कः	२६२	3	नीतिः		"	१६	<b>प्रहसनम्</b>		"	१६
पदोच्चयः	22	9	अर्थविशेषणम्		,,	१न	प्रहसनभेदाः		३१५	3
निदर्शनम्	"	१२	<b>प्रोत्साहनम्</b>		३०१	¥	नाटिका		22	१७
श्रमित्रायः	7)	१७	साहाय्यम्		27	3	त्रोटकम्		३१६	9
प्राप्तिः	"	२१	श्रमिमानः		"	१२	गोष्ठी		,,	१२
विचारः	₹8.	2	अनुवर्तनम्	1110	22	24	सट्टकम्		"	१व
दिष्टम्	<b>33</b>	×	उस्कीर्तनम्	•••	"	38	नाट्यरासकम्		३१७	3
उपदिष्टम्	"	3	याच्ञा		"	२३	प्रस्थानकम्		,,,	20
गुणातिपातः	13	१५	परिहारः	•••	३०२	8	उल्लाप्यम्		2)	98
गुणातिशयः	,,,	38	निवेदनम्		>>	5	काव्यम्		₹ ₹ =	2
विशेषयम्	258	3	प्रवर्तनम्			११	प्रेङ्खणकम्		,,	=
निरुक्तिः	93	9	श्राख्यानम्	•••	99	88	रासकम्		"	१४
सिंद्धः	"	११	युक्तिः			१७	संजापकम्		388	२
diam's to 5	, ,,	१५	प्रहर्षः		₹0₹	2	श्रीगदितम्	•••	99	5
विपर्ययः	"	38	उपदेशनम्			3	शिल्पकम्		"	१७
दाहिएयम् •••	284	8	मुनिनिरूपितं	 सहस	••• वरूपम	n. de	विलासिका		320	5
त्रावस्य		8	तास्याङ्गानि		₹08	ेर	दुर्मल्लिका		<b>))</b>	१४
	**	१२	तत्र, गयपदम	Γ		9	प्रकरियका		३८१	३
माला	10	१८	स्थितपाठ्यम्	( •••	2)	१२	इह्यीशः			9
	11	23	श्रासीनम्	•••	"	१६	भाषिका		"	१२
गहेणम्	२१६	¥	पुष्पगरिङका	•••	1)	१=	श्रव्यकाव्यम्		322	Ę
्पृच्छा		5	प्रच्छेदकः	•••	"	20	पद्यलच्यम्			5
प्रसिद्धिः	>>	१२	त्रिगृहकम् विगृहकम्	•••	***  \$ 0 \( \chi \)	2	मुक्तकादिलच	वाम	>>	5
सारूप्यम् ···		१५	सैन्धवम्	•••		3	महाकाव्यम्	• • • • • • • • • • • • • • • • • • • •	<b>323</b>	2
संचेपः	99	38		•••	"	Ę	खरडकाव्यम्		128	१७
गुणकीर्तनम्	27	22	द्विगृद्धकम्	•••	>>		कोषः	***		38
लेशः	200	8	उत्तमोत्तमकम्	and the same of	>>	9		•••	**************************************	8
मनोरथः	२६७	5	उक्तप्रत्युक्त कम्		33	• • •	गथलच्यम्	•••		१६
अनुक्तसिद्धिः	"	१२	महानाटकम्	•••	>>	१३	कथा आख्यायिका	•••	3)	20
त्रियोक्तिः •••	33	20	प्रकरणम्	•••	200	20	THE RESERVE THE PARTY OF THE PA	000	<b>३</b> २६	१२
नाव्यालंकाराः	20-	3	भाषः	•••	₹0 <b>६</b> ₹00	8	चम्पू:	•••		१४
तत्र, बाशीः	# 15 (2 to 2)		व्यायागः	•••	400	100	विरुदम्	•••	1)	१६
त्राकृत्दः	33	X	समवकारः व	•••	33	१०	करम्भकम्	•••	37	No. of Street, or other party of the last

## ॥ साहित्यदर्पणस्य विषयानुक्रमणी॥

### सप्तमपरिच्छेदादायन्थान्तम्।

	पृष्ठस्य	पंक्तौ		ष्टस्य	पंक्तौ	There	पंक्ता
सप्तप्रपरिच्छेदे			प्रसिद्धित्यागः	२७	28	पृष्ठस्य अप्रतीतत्वस्य ग्रुणत्वा-	पक्षा
11119 11 1 - 34			श्रस्थानस्थपदता	र्इ	. 5	च्यानम् ४७	
दोषस्वरूपम्	8	¥	<b>अस्थानस्थसमासता</b>	२८	१२	कथितपदत्वस्य ग्रणत्वा-	3
दोषाणां विमागः	3	3	संकीर्णत्वम्	28	8	ख्यानम् ४८	
दुः अवस्वादिदोषपरि	The same of the sa	CONTRACTOR OF THE PARTY OF THE	गभितता	28	5	संदिग्धत्वस्य ग्रणत्वा-	
. गणनम्		Ę	श्रर्थदोषाः	२१	१२	ख्यानम् ४८	
दुः श्रवत्वम्	"	१२	तत्र, अपुष्टत्वम्	₹०	8	कष्टत्वदुःश्रवत्वयोर्गुग्य-	१२
अश्लीलत्वम्	3	2	दुष्क्रमत्वम्	93	5	त्वाख्यानम् ४१	` 2
श्रतुचितार्थत्वम्	,,	9	<b>प्राम्यत्वम्</b>	,,	१२	प्राम्यत्वस्य ग्रेणत्वा-	
चप्रयुक्तत्वम्	"	5	व्याहतत्वम्	12	१३	रूयानम् ५०	ą
<b>प्राम्यत्वम्</b>	8	2	<b>अश्लीलत्वम्</b>	38	₹	निर्हेतुताया दोषामावत्व-	
अप्रतीतत्वम्	,,	×	कष्टार्थत्वम्	71	१०	<b>निरूप</b> शाम	4
संदिग्धत्वम्	×	२	अनवीकृतत्वम्	३१	१३	ख्यातविरुद्धताया ग्रुण-	
नेयार्थंत्वम् ॰	"	3	निर्हेतुत्वम्	३२	9	त्वानेरूपणम	23
निइतार्थत्वम्	,,	9	प्रकाशितविरुद्धत्वम्	31	8	कविसमयाख्यातानि ,	१३
<b>अवाचकत्वम्</b>	Ę	8	संदिग्धत्वम्	,,	28	पुनरुक्तस्य ग्रणत्वा-	, ,
क्षिष्टत्वम्	59	X	पुनरुक्तता	३३	3	ख्यानम् ५१	
विरुद्ध मातिकारित्वम्	99	3	प्रसिद्धिविरुद्धता	,,	8	न्यूनपदताया ग्रयात्वा-	
अविमृष्ट विधेयांशत्वम	ξ "	"	विद्याविरुद्धता	,,	28	ख्यानम् ५२	8
वाक्ये दुःश्रवत्वादीन	i		साकांचता	- 33	18	न्यूनपदताया गुणदोषत्वा-	
कीर्तनम्	8	=	सहचरामिन्नत्वम्	"	१७	भावानिरूपणम् ५२	१३
वाक्यदोषाः	१६	×	<b>अस्थानयुक्तता</b>	३४	×	अधिकपदत्वस्य ग्रणत्वा-	
तत्र, प्रतिकृत्त्वम्	"	१३	अविशेषे विशेषः	"	७	ख्यानम् ५३	8
नुप्तविसर्भत्वम् ।	१७	•	श्रनियमे नियमः	"	१०	कचित्समाप्तपुनरात्तत्व-	•
श्राहतविसर्गत्वम् }	, 0	Ę	विशेषेऽविशेषः	"	१२	स्य गुणदोषाभाव-	
श्रधिकपदत्वम्	,,	3	नियमेऽनियमः	,,	.58	निरूपणम् ५४	2
न्यूनपदत्वम्	15	१२	विष्ययुक्तता	३६	×	गर्भितत्वस्य ग्रणत्वा-	
पुनरुक्तत्वम्	"	88	<b>अनुवादायुक्तता</b>	13	5	ख्यानम् ,,	¥.
<b>इतवृत्तत्वम्</b>	38	3	निर्मु <b>सपुनरु</b> सत्वम्	३७	8	पतस्त्रकषताया गुणत्व-	Basi
पतत्प्रकर्ष्थवम्	२०	₹	रसदेशाः	17	3	निरूपग्रम्	. १२
संधिविश्लेषत्वम्	,,,	X	काव्यदावेभ्यः पृथगत्तंव	नार-		व्यभिचारिणः स्वशब्दे-	
संध्यश्लीलत्वम्	19	8	दोषायामसंमवत्वप्र	ति-		नोक्तौ दोषत्वाभाव-	
संधिक ष्टत्वम्	33	88	पादनम्	80	4	कीर्तनम् ५६	2
श्रर्धान्तरेकपदत्वम्	13		दुःश्रवत्वस्य गुगत्वप्रति	i de la companya de l		विरुद्धरसविमावादि-	
समाप्तपुनरात्त्वम्	२१	3	पादनम्	84	8	संप्रहस्य गुण्यत्वनिरूप-	
श्रमवन्मतसंबन्धतम्	"	8	अश्ली खत्वस्य गुणत्त्रप्रा	ति-	1	यम् ५७	
श्रकमत्वम् ू	२३	1	पादनम्	४६	Ę	विरुद्धरसयोः समावेश-	
अमतपरार्थत्वम्	-23	8	श्लेषादौ निहतार्थाप्रयु-			विचार:	**
वाच्यस्यानसिधानम्	"	१२	कतयोरदोषत्वप्रति		CONT.	श्रवुकरण दोषाणामदो-	117.34
<b>मग्नप्रकमत्वम्</b>		lumuks	hu <b>Hawet</b> Varanasi (		or Dia		3,
			The state of the s		100000	Contract to the Contract of th	12 15 16 16 16

### साहित्यदर्पणस्य विषयानुक्रमणी ।

	-				. 2.1			
	पृष्ठस्य	पंसौ		ष्टस्य	पंस्ती		.पृष्ठस्य	पंक्तौ
श्रष्टमपरिच्छेदे-			वक्रोक्षिः	\$ 8	१	श्रर्थान्तरन्यासः	989	8
ग्रणाः	६३	8	भाषासमः	82	¥	काव्यतिङ्गम्	338	8
गुणानां त्रैविष्यम्	६४	. 8	र्लेषः	६३	.3	अनुमानम्	२०१	~ 1
तत्र, माधुर्यम्	,,	₹	समङ्गरलेषः )			हेतु:	"	88
-माधुर्यन्यञ्जकवर्णादि	. ,,	११	श्रभङ्गश्लेषः	33	9	<b>अ</b> नुकूलम्	>>	18
श्रोजः	Ę¥	११	समङ्गामङ्गरलेषः			<b>आद्येपः</b>	२०२	8
<b>ब्रोजोव्यञ्जकवणीदिः</b>	ĘĘ	2	चित्रम्	१०६	१०	,,	२०३	9
प्रसादः	1,	Ę	प्रहेलिकाया अलंकार			विभावना	73	13
प्रसादव्यक्षकशब्दाः	"	8	त्त्रखग्डनम्	१०५	3	विशेषोक्तिः	.20%	
<b>इलेषादीनामोजस्यन्त</b>			THE RESIDENCE OF THE PARTY OF T	308	१२	विरोधः	२०५	Ę
भीवाख्यानम्	६७	9		११०	२	असंगातिः	२०७	¥
असमासंस्य माधुर्य-			श्रीती उपमा		9	विषमम्	,,	. १२
	६=	-3	त्रार्थी उपमा	"	5	समम्	305	1
व्यञ्जकत्वम्	A TOTAL		तद्धिते समासे वाक	) ·		विचित्रम्	.,,	. 0
अर्थव्यक्तेः प्रसादगुण		१२	च श्रीत्यार्थुपमा		-3.5	अधिकम् -	3,	22
<b>उन्तर्भावः</b>	"	,,		११२	. 8	श्रन्योन्यम्	220	.3
म्राम्यदुः श्रवत्यागेन	pl-		्रवानम् स्यानम्	188	. ٤	विशेषः	1	2
न्तिसुकुमारतयोः			जुसोपमा		8	व्याघातः	. 13	8-8
संप्रहः	33	1	एकदेशविवर्तिन्युपम	1440		991911(10:	288	3
समताया गुणदोषयो			रसनोपमा 🌉	33	80			. 22
रन्तःपातः	17	X	मालोपमा	१२५	१	कारणमाला	,,	. १६
श्रोजश्रादीनां दोषा-			श्रनन्वयः	, ,,	१३	मालादीपकम्	797	- 10 W WA
मावत्वेनाङ्गीकारः	90	३	उपमेयोपमा	१२७	3	एकावली	212	
अर्थव्यक्तिकान्त्योः			स्मरणम्	"	8	सारः	71	94
स्वमाबोक्तयादिन	T		रूपकम्	१२५	. ६	यथासंख्यम्	२१३	3
संग्रहः	, ,,	3	रूपकभेदाख्यानम्	. ;;	8	पर्यायः .	21	8
श्लेषसमतयोवैचित्रया	je i		परिणामः	१३५	१२	परिवृत्तिः :	२१४	१३
दोषतयोरन्तःपातः	७१	3	संदेह:	१३८	. ?	परिसंख्या	.२१५	१०
समाधेर्गुणत्वामावः	७२	8	भ्रान्तिमान्	358	33	उत्तरम् .	. २१६	COLUMN TO THE REAL PROPERTY.
खएडनोपसंहारः	७३	. *	उल्लेखः	180	5	अर्थोपत्तिः	२१७	
नवमपरिच्छेदे-			<b>अपद्</b> जुतिः	१४३	8	विकल्पः	२१८	¥
सींतिः	४७	8	निश्चयः	१४६	\$	समुचयः.	388	1
रीतीनां चातुर्विध्यम्	"	9	उत्त्रेचा	१४७	Ę	समाधिः	२२१	
त्त्र, वैदर्भा	"	१०	उत्प्रेज्ञामेदाख्यानम्		8	प्रत्यनीकम्	२२२	8
गौडी	७५	8	श्रतिशयोक्तः	१६०	3	A CONTRACTOR OF THE PARTY OF TH	२२२	. 6
पाञ्चाली	,,	१०	तुल्ययोगिता	१६६		प्रतीपम्	२२३	
ं लाटी	७६	_ 4	दीपकम्	१६=		100-	49	10
वक्त्राद्यौचित्येन रच			प्रतिवस्तूपमा	१६६	3	सामान्यम्	२२४	3
	99	8	दृष्टान्तः .	100	. 8	The state of the s	117	
वस्थानम्			निदर्शना	. १७३		The state of the s	,,	27
दशमपरिच्छेदे	30	8	व्यतिरेकः	१७६		The second second	२२४	
अलंकाराः		E	प्रचेत्रिः	१७इ		A STATE OF THE PARTY OF THE PAR	. १३६	
पुनरुक्तवदासासः	50		सहोाक्तिः				. २२७	The same of the sa
<b>अनुप्रासः</b>	53	2	विनोक्तिः	१६०	3			2
छेकानुपास:	<b>91</b>	8		१८१			ונ	
वृत्त्यनुत्रासः	दर	2		280			225	
श्रुत्यनुप्रासः	58	₹		280			: 228	
अन्त्यानुप्रासः	EX	1 5	श्रप्रस्तुतप्रशंसा	188	Section 19 10 10 10 10 10 10 10 10 10 10 10 10 10		ताः २३०	S-Maria
लाटानुत्रासः	54	¥	व्याजस्तुतिः	887		संस्ष्टि संक्रालंब	गरी २३३	
यमकम CC-	o. Mus	ukshu	अस्त्रीयोज्ञाम् awandanasi Col	lection.	Digitize	। सन्धातरत्वाको	२३७	

## (प्रथमाबृति की मुमिका)

### \* पूर्वपीठिका \*

''साहित्यसंगीतंकलाविहीनः

साचात् पशुः पुच्छविषांग्रहीनः भर्तृहरिः

त्राज लगभग दो हज़ार वर्ष हुए तब महात्मा मर्ग हिर के मुँह से ये शब्द निकले और दिग्दिगन्तों को प्रतिध्वनित करते हुए आकाश-सागर में विलीन हो गये। तब से अनेक बार इनका आविर्भाव, तिरोभाव हुआ। हज़ारों लाखों बार विजली की तरंगों के समान उदय होकर इन्होंने अपनी भावच्छटा दिखाई। और अब भी समय समय पर भावुक जनों के निर्मल हत्पटलों में अपने चमकीले भावचित्र को अङ्कित करके समाहित हो जाया करते हैं। आज हमारे सामने भी इनकी एक तरंग उपस्थित है और उस पर हमें विवेचनाहिए से कुछ विचार भी करना है।

सवसे पहले हम यह जानना चाहते हैं कि महातमा मर्लु हिर ने ये शब्द क्यों कहे ? जिन्होंने अपनी वैराग्यसंपत्ति के कारण चक्रवर्ती राज्य पर लात मार कर गिरिगुहा का रास्ता लिया, जिनके श्रङ्कारशतक में भी पद पद पर वैराग्य की छटा छिटक रही है, उन्हीं राग-द्वेषविद्दीन तपस्वी, प्रशान्तहृद्य मनस्वी महात्मा मर्लु हिर के मुँह से ऐसे कठोर शब्द कैसे निकले ? साहित्य और संगीतकला से रहित बड़े २ धुरन्धर विद्वानों को, माननीय महापुरुषों को, उन्होंने ऐसे कड़े शब्द—शिव! शिव!! 'पशु'—कहकर क्यों याद किया?

यह बात भी समक्त में नहीं श्राती कि काव्य साहित्य से श्रत्यधिक प्रेम होने के कारण उन्होंने अन्य विषय के श्रिमकों को दुरदुराया है और साहित्य की मर्यादा बढ़ाने के लिये ऐसा कह डाला है। पहले तो एक विरक्त तपस्वी का किसी एक विषय (साहित्य) से श्रदुचित प्रेमाधिक्य ही कैसा ? श्रीर फिर यदि यह ठीक भी हो तो दूसरे लोगों के लिये ऐसे श्रमद्र शब्द कह डालना मद्रजनोचित कार्य नहीं है। फिर एक साहित्यमर्मन्न के मुँह से फूहड़ एन की बात निकलना तो श्रीर भी श्राश्चर्यजनक है।

यह ठीक है कि भर्ण हिरशतक की लोकोत्तर कविताकी धाक संस्कृतसाहित्य पर अनुगण है। यह भी ठीक है कि भर्ण हिर ने साहित्य के कई प्रन्थ बनाये थे—जिनका प्रमाण 'तदुक्तं भर्ण हिरिणा' कहकर साहित्यदर्पणकार तथा अन्य आचार्यों ने दिया है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उन्हें दूसरे शास्त्रों का ज्ञान नहीं था, या साहित्य की अपेचा शास्त्रान्तरों का ज्ञान कम था, अथवा यह कि दूसरे शास्त्रों के धुरन्धर लेखक और प्रामाणिक आचार्य भर्ण हिर की प्रतिष्ठा साहित्य की अपेचा कुछ कम करते थे।

पाणिनीय न्याकरण में कैयट की प्रतिष्ठा बहुत अधिक है। स्वतन्त्र प्रश्न-लक्ष्येक चक्षुष्क तीन महर्षियों (पाणिनि, कात्यायन, पत्रश्नलि) को छोड़ कर अर्वाचीन आचार्यों में इनका आसन सबसे जींचा है। इन्होंने इस न्याकरण का जो उपकार और उद्धार किया वह किसी से न बन पड़ा ने लोगों का तो यहां तक खयाल है श्रीर ठीक है-- कि यदि कैयट ने 'प्रदीप' न बनाया होता तो श्राज पातक्षल महा-भाष्य का समक्षना श्रसंभव होता। इसी प्रदीप के श्रारम्भ में श्रपनी शीलसम्प-भता श्रीर निरिभमानता सूचन करने के लिये महामना कैयटने एक पद्य लिखा है-

> 'माष्याब्धिः क्वातिगरभीरः क्वाडहं मन्दमतिस्ततः। छात्राणामुपहास्यस्वं यास्यामि पिशुनात्मनाम्॥'

इसके आगे जो आपने अपनी आशा का सहारा दिखाया है, वह विशेष ध्यान से पढ़ने योग्य है। आप लिखते हैं--

> 'तथापि हरिबद्धेन सारेण प्रन्थसेतुना। क्रममाणः शनैः पारं तस्य प्राप्तास्मि पङ्गुवत्॥'

कितनी श्रद्धा श्रीर मिक्त से भरे वचन हैं!! कितने निर्मल हृद्य का पवित्र-भाव है!!! श्राप कहते हैं कि "यद्यपि महाभाष्य जैसे श्रित गम्भीर सागर का पार पाना मेरे जैसे मन्दमित को श्रशक्य श्रीर उपहास्य है, तथापि हिर ( भर्तु-हरि ) के बनाये 'सार' नामक श्रन्थक्ष सेतु के सहारे में भीरे भीरे पीरे पंगु की तरह उसका पार पा सकूँगा। जैसे 'हरि' (श्रीरामचन्द्र ) के बनाये सेतुवन्ध के द्वारा श्राज पंगुल (जिसके दोनों पैर निकम्मे हों) भी भीरे भीरे लक्षुद्र पार कर जाता है उसी प्रकार में भी भर्तु हिर के बनाये 'सारसेतु' के सहारे भाष्यसागर का पार पा सकूँगा"। यहें भर्तु हिर के सम्बन्धमें, व्याकरण के पारंगत एक धुर-न्धर श्राचार्य के भिक्त भरे वचन! क्या श्रव कुछ श्रीर भी सुनने की इच्छा है!

उक्क 'सार' नामक प्रन्थ 'हरिकारिका' श्रौर 'मतृ हरिकारिका' के नाम से भी प्रसिद्ध है। क्या इस 'सार' के लेखक केवल वैयाकरण थे ? कदाणि नहीं। प्रथम तो कोरा वैयाकरण, महाभाष्य जैसे सर्वपथीन श्राकर प्रन्थपर टीका लिखे, यही श्रसंमव है। फिर यदि कोई श्रनात्मक ऐसा साहस कर भी बैठे तो उस पर साधारण लोगों की भी श्रद्धा होना कठिन होगा। कैयट जैसे महापुरुषों की तो बातही क्या ! इसके श्रतिरिक्ष श्रापके बनाये कई साहित्यप्रन्थों का भी पता चलता है। बृहदारण्यक उपनिषद् पर भर्त प्रपञ्च नामक श्रापका एक उद्भट वेदान्तप्रन्थ भी विद्यमान है। भर्त हरिशतक तो श्रत्यन्त प्रसिद्ध है। श्रापका 'वाक्यपदीय' नामक व्याकरण्यन्थ प्रकृत 'सार' से भिन्न है। इससे निःसन्देह सिद्ध होता है कि भर्त हिरि श्रनेक शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित थे। क्या साहित्य, क्याव्याकरण, क्या न्याय श्रौर क्या वेदान्त, इन्हें सब करामलकवत् भासित थे। वस्तुतः हमारी संमित में तो भर्त हरिजी योगिराज थे। उनकी श्रप्रतिहत प्रका लौकिक श्रौर श्रलौकिक सभी विषयों में निर्वाध प्रसार पारी थी। कोई बात उनसे खिपी नहीं थी। उन्हीं जैसे महानुभावों के सम्बन्ध में यह कहाजाता है:—

'श्राविर्भूनप्रकाशानामनुष्यत्त्वत्तत्ताम् । श्रतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षाकातिविष्यते ॥ श्रतीत्रियानसंवेद्यान् प्रयन्त्यापेंद्य चक्षुषा । ये भावान्, वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ॥'

अब प्रश्न यह है कि यदि ये सब बातें ठीक हैं, तो फिर ऐसे उच्चकोटि के महापुरुष ने ऐसी अनुचित बात क्यों कही कि:--

#### 'साहित्यसंगीतकलाविहीन:

#### साचात् पशुः पुच्छविषाणहीनः' ?

ृक्यासचमुच वैयाकरण् और नैयायिक, मीमांसक और ऐतिहासिक (इति-हासवेत्ता) निरे पशु ही होते हैं ? और फिर पशु भी कैसे ? 'सावात् पशुः' !! तिस पर तुर्रा यह कि 'पृच्कविषाणशीनः'—वे-सींग-पूँ छु के पशु !! आखिर बात क्या है ? क्या इसमें कुछ रहस्य है ? यदि नहीं तो एक प्रशान्त तपस्वी के मुख से ये कठोरं उद्गार क्यों निकले ? कैलास पर्वत के बरफीले शिखर से ज्वालामुखी की विक-राल ज्वाला का यह कडुवा घुँ आं क्यों प्रकट हुआ ? न तो यही जी चाहता है कि एक साधारण् आदमी की वोखलाहर की वड़वड़ाहर में निकले आएडवएड शब्दों के समान महात्मा भर्त् हिर के इन वचनों की भी उपेत्ता कर दी जाय, और न यही साहस होता है कि अन्य शास्त्रों के विद्वानोंके सम्बन्ध में ऐसी नाकिस राय कायम की जाय। समस्या कुछ जटिल अवश्य है। इसकी विवेचना होनी चाहिये।

हमारी संमित में इस उलक्षन को सुलक्षाने के लिये सबसे पहले यह जानने की आवश्यकता है कि 'पग्न' किसे कहते हैं ? और साहित क्या वस्तु है ? इन दोनों की ठीक २ मीमांसा हो जाने से बात कुछ सरल अवश्य हो जायगी। एवं अनी-चित्र, फूहड़ पन और कठोरता का भयानकभूत भी काग्रज़ का शेर हो जायगा।

'पशु' शब्द रूढि शब्दों में से हैं। इसका प्रवृत्तिनिमित्त एक जातिविशेष हैं श्रीर व्युत्पत्तिनिमित्त हैं 'श्रविशेषदर्शित्व'। सर्वम् भिविशेषप पश्यनीति पशुः—हरोः कः। जो सबको अविशेषरूप से देखे—जिसे वस्तुओं में विशेषता का ज्ञान न हो अर्थात् अधिकांश जिसका ज्ञान सामान्यरूप ही हुआ करे वहीं 'पशु'—कहाता है। वेल को स्त्री और पुरुष व्यक्तियों का ज्ञान है। वह यह समभता है कि यह गौ है, यह वेल। परन्तु गौओं में उसे मनुष्यों की मांति, गम्य अगम्य का ज्ञान नहीं है। माता और बहिन की विशेषता का बोध उसे नहीं है। गौ यह जानती है कि घास मेरा भक्ष्य है। जहां कहीं वह उसे पायेगी खा जायगी। यदि उसी के नन्हें से बच्चे के लिये दो एक मुट्टी कोमल घास किसी ने रक्खी है तो वह उसे भी न छोड़ेगी। वह यह कभी न सोचेगी कि इसें बच्चे के विनोद के लिये छोड़ देना चाहिये। इस प्रकार पश्चिमों अविशेषदर्शिता के हज़ारों उदाहरण दिन रात सामने आया करते हैं।

नवीन नैयायिकों के मतानुसार पश्चत्व जाति नहीं, विलक्त धर्म है। वे लोग लोमवत् लांगूल (वालोंदार पूँछ) को ही पश्चत्व मानते हैं। सिर्फ लांगूल कहने से नाके और गोह प्रमृति भी पश्चओं में घुस पड़ते इसलिये 'लोमवत्' विशेषण दिया गया है। दुम पर वाल भी होने चाहिये। जलचर जीवों की

दुम सपाट होती है। उस पर बाल नहीं होते।

हम इस अप्रकृत बात पर यहां व्यर्थ विस्तृत शास्त्रार्थ खड़ा करना नहीं चाहते, परन्तु इतना अवश्य कहेंगे कि जिन शौक़ीनों ने अपने कुत्तों की दुमें जड़ से उड़ा दी हैं या जिन शिकारी हाथियों की पूँ छ शेर उड़ा ले गया है अथवा जिन घोड़े गौ आदि की पूँ छ किसी कारण गिर गई है उन्हें या तो पशुत्व से ही बाहर करना पड़ेगा, या फिरे नैयाथिकों को अपनी 'लोमवस् लांगूल' में ही कुछ निवेश करना पड़ेगा । विना लोमवत् लांगूल के उनमें पशुत्व की प्रतीति कौन करायेगा?

इसके सिवा दिरयाई घोड़ा, समुद्री हाथी, दिरयाई गौ श्रादिक जिन जीवों की शकल स्रत पश्चिमों से मिलती है, जिनके फेफड़े ईश्वर ने ऐसे बनाये हैं कि वे स्थल में भी पश्चिमों के समान ही श्वास प्रश्वास ले सके श्रीर एक दो दिन नहीं, महीने दो महीने नहीं, बरसों केवल स्थल में रहकर श्राराम से जीवन व्यतीत कर सके, जिनका भोजन श्रीर रुधिर बहुत श्रंशों में पश्चिमों से मिलता जुलता है, उन सबकी नैयायिकों की इस 'बालोदारपूँ छु' के भरोसे पश्चत्व कोटिसे निकाल बाहर करना साहसमात्र है। केवल जलचर कह देने से यहां काम नहीं चल सकता।

बहुत से प्राणिशास्त्रवेत्ता तो भैंस को भी जलजनतु मानते हैं। बहुत दिनों से केवल स्थल में रहने के कारण उसकी दुम पर दो चार बाल जम आये हैं। देह अब भी दिरयाई घोड़े के समान सफ़ाचट रहा करती है। और भी बहुत सी बातें इसकी जलजनतुओं से मिलती हैं। रहा दूध देना, सो हे ल मछली भी मनों दूध देती है। दूध देने से कोई पंश नहीं हो सकता। फिर लच्चण तो केवल 'लोमवत् लांगूल' ही है। दूध, दही से आपको क्यामतलव शयदि इसे उपलच्चण माने तब तो

### 'गडुत्रा गढ़त है गई भेर'।

कर्ने को 'लोमवल्लांगूल' को उपलक्षण मानते हैं, पर हमारी संमित में इसे विशेषण मानना ही अधिक युक्तिसंगत है। इस अनावश्यक भगड़े को इस यहीं छोड़ते हैं।

विद्याप किंदि और योगकि शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त और व्युत्पित्तिनिमित्त साथ ही साथ रहा करते हैं। एक के विना दूसरे के अभिप्राय से किसी शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता। परन्तु यह नियम केवल अभिधाशिक के लिये हैं। लक्षणा से अन्यतर अर्थ की उपस्थिति में कोई वाधक नहीं होता। प्रकृत पद्य में 'पशु' शब्द लक्षणा से ही आया है। मुख्य और लक्ष्य अर्थों में अविवेचकत्वकप सम्बन्ध है। अज्ञानातिशय बोधन करना लक्षणा का प्रयोजन है। इस प्रकार प्रकृत पद्य में 'पशु' शब्द का अर्थ है अविशेषदर्शी अर्थात् किसी बात या बस्तु की विशेषता (बारीकी) को न समस्रतेवाला स्थूलदर्शी।

## श्रीर साहित्य क्या है !

मासित्य वह शास्त्र है, जिसमें भावना और भावकता की पद पद पर आवश्यकता है। जिसमें प्रकृति देवी के प्रसन्न गम्भीर कौंशलों को परखने की प्रतिमा नहीं है, जिसकी भावना की अप्रतिहतधारा, न केवल मनुष्यों के बल्कि पशु पित्तयों तक के हदयतल में निलीन गहरे से गहरे भावों को स्पष्ट सामने नहीं रख देती, उसे साहित्यशास्त्र में प्रवेश करने का अधिकार नहीं है। जिसे दूसरों का भाव सममने के लिये शब्दों की आवश्यकता नहीं है। जो आणियों की प्रत्येक चेष्टा का तात्पर्य समम सकता है, हाथ, पर और आंख नाक का ही नहीं, अपित किसी की अस्वामाविक रीति से ली हुई सांस का अभिना की समझ सामाविक रीति से ली हुई सांस का अभिना की समझ सामाविक रीति से ली हुई सांस का अभिना की समझ सामाविक रीति से ली हुई सांस का स्वामाविक रीति से ली हुई सांस ही है।

इसके सिवा एक बात की और आवश्यकता है, और बहुत बड़ी आवश्य-कता है। वह क्या १ वही भावुकता। किसी की दुःखभरी 'हाय' को सुनकर जिसके दिल में दर्द नहीं पैदा होता, जिसका हृदय जङ्गल पर्वत और पवित्र मन्दाकिनीकी धाराको देखकर एकदम शान्तिनिमग्न नहीं होता,नासमभ बचों की तोतली वाणी और भोली भाली चेष्टाओं को देख, तन्मय होकर जो बचा नहीं बन जाया करता, जिसका हृदय स्वच्छ जल में खिले कमलों पर विहार करते राजहंसों की लीला और वासन्तिक को किल की कलकाकली को सुनकर मस्त नहीं हो जाता एवं वियोग श्रुद्धार की दर्दभरी चुभती हुई कथाये सुनकर जिसका हृदय 'मुगेंबिस्मल' की तरह तड़फने नहीं लगता उसे इस शास्त्र का दरवाज़ा खटखटाने की ज़करत नहीं।

मतलव यह कि जिसका हृदय निर्मल द्र्पण के समान स्वच्छ और मक्खत के समान कोमल है, जिस पर प्रत्येक भाव का प्रभाव अविकलक्ष्प से प्रतिबिध्वित होता है और जो तुरन्त तन्मय होजाता है, वही साहित्यशास्त्र का उत्तम अधिकारी कहा जा सकता है। (साहित्य के स्वरूपलक्षण पर 'अर्वाचीनसाहित्य-विवेचना' में हमने विस्तृत विचार किया है) केवल रहने के वल पर सरस्वती के घर में हांग अड़ानेवाले लोगों की दाल यहां नहीं गलती। रह, आदमी साहित्य का परिडत कहलाये, यह असंभव है। क्यों ? उत्तर स्पष्ट है।

साहित्य का तात्पर्य समभने के लिये चक्का के शब्दों का ख्रौर उनके खर्थों का जान लेना काफ़ी नहीं है। यहां तो बोलनेवाले के हृदय में घुसना पड़ता है। वक्का के शब्दों का नहीं, बलिक उसके हृदय का तात्पर्य निकालना पड़ता है। दूसरे शास्त्रों में अभिधावृत्ति का वड़ा आदरहै। साफ साफ कही हुई बात सबसे उत्तम सवसे मज़बूत सबसे प्रामाणिक समभी जाती है। पर्न्तु यहां उस वृत्ति की बुरीतरह छीछालेदर की गई है। असली वात को--प्रधान तात्पर्य को--अभिधा से कहना दोष है, गँवारपन है। श्रङ्गाररस में यदि श्रङ्गार का नाम ले लिया कि बस, लोगों की नज़र से गिरगये। फिर तात्पर्य का भी कुछ ठिकाना है। शब्द तो कहते हैं कि 'भ्रमधार्मिक' ( भगतजी आप मज़े में घूमिये ) पर इसका असली तात्पर्य है कि 'ब्रच्चू ख़वरदार! इधर आये कि मारे गये!' शब्द कहता है कि 'न गता' ( तू नहीं गई ) पर, तात्पर्य है कि 'अवश्यं गता' ( अवश्य गई ) शब्द कहता है कि 'उपकृतं बहु' ( ग्रापने बड़ा उपकार किया ) लेकिन तात्पर्य है कि "तुम से बढ़कर नीच कोई नहीं"। श्रव भला वताइये कि सिर्फ़ शब्दों का सीधा सीधा मतलब समभानेवाला ऋजुबुद्धि पुरुष यहां क्या भाष मारेगा ? उस वेचारे के पल्ले तात्पर्य क्या पड़ेगा ? यहां तो शब्दों के सीधे अथौं पर श्रास्था ही नहीं। श्रभिधाशिक्ष की कुछ इज्ज़त ही नहीं। सीधे शब्दों का उल्टा श्रौर उल्टे शब्दों का सीधा मतलब निकाला जाता है श्रौर निकाला जाता है बोलनेवाले के हृदयं की गहरी से गहरी तह को परख कर। यह नहीं कि जहां जो जी में श्राया कह बैठे। कही सुनी बात के लिये उपपत्ति चाहिये, युक्ति चाहिये, तर्क चाहिये, अौर चाहिये कहने में तासीर, जो सुननेवालों वें दिलों में पर कर जाया। १७०० एक हैं कि कि कि कि कि कि कि कि कि देखना तक्ररीर की जज़्ज़त कि जो उसने कहा। मैंने यह जाना कि गोया यह भी मेरे दिल में है।

इसीलिये अलंकारशास्त्र के प्रधानतम आचार्य श्रीयुत आनन्दवर्धनाचार्य (ध्वनिकार) ने कहा है--

'शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेखें व न वेद्यते । वेद्यते स हि कान्यार्थतस्वज्ञैरेव केवलम्॥'

श्रव बताइये कि जिसमें भानना नहीं, जिसमें भावुकता नहीं, जिसमें प्रकृति की परल श्रीर प्राणियों के हृद्दत भावों को जानने की द्यप्रतिहत प्रतिभा नहीं, वह इस शास्त्र में घुसकर भी क्या पायेगा ? केवल रहू श्रादमी यहां से क्या निकालेगा ?

इसके अतिरिक्त जिसे सब शास्त्रों का कान नहीं और अच्छे प्रकार प्रमेयों का विश्व परिचय नहीं, उसकी भी यहाँ गुज़र नहीं। किव लोगों की प्रतिभा सर्व-प्यीन होती है। जिधर नज़र उठी उसीको वांध दिया। उसके समक्षने और समकाने के लिये उन सब बातों को जानने की आवश्यकता है। किसी की हिष्ट न्याय पर पड़ी तो उसने—

साध्ये निश्चितमन्वयेन घटितं विअत्सपन्ने स्थिति

स्यावृत्तं च विपचतो भवति यत्तत्साधनं सिद्धये॥ (मुद्राराचस) इत्यादि लिखमारा। किसी ने योग की तरफ़ देखा तो--

> 'म्रात्मारामा विहितरतयो निर्विक्त्पे समाधौ सत्त्वोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः संस्वनिष्ठाः।

यं वीजन्ते कमि तमसां उपोतिषां वा परस्तात् ( वेशीसंहार ) कह दिया। कहीं सांख्य और वेदान्त की याद आई तो--

स्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुपार्थप्रवर्तिनीम्।

स्वद्दशिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः॥ (कु॰ सं॰) बन गया।
विदान्त की बहार के श्लोक देखने हों तो नैषध के अनेक स्थल देख जाइये।
देखिये, कितनी चोजभरी बात है--

नास्य द्विजेन्द्रस्य बभूव पश्य दारान् गुरोर्थातवतोषि पातः ।

प्रवृत्तयोप्यात्ममयप्रकाशान् नद्धन्ति नद्धन्तिमदेहमाप्तान् (नैषध २२ सर्ग) कहने को तो श्रीहर्ष ने यह न्याय श्रीर वैशेषिक की हँसी उड़ाई है कि

मुक्तये यः शिकात्वाय शास्त्रम् चे सचेतसाम् । गोतमं तमवेक्ष्येत्र यथा वित्थ तथैव सः ॥ ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां वैशेषिकं चारुमतं मतं मे । ॰ स्रोत्कृतमाहुः खलु दर्शनं तत्क्षमं तमस्तरविक्षण्णाय ॥

परन्तु जिसे नैयायिकों की मुक्तिका स्वरूप श्रीर उसपर किये गये वेदान्तियों के मार्मिक श्राह्मेपों का पता नहीं, वह इस उपहास को समक्षाते समय क्या स्वयं ही उपहसनीय नहीं बन जायगा ? जिसने वैशेषिक की जन्म कहानी नहीं जानी है श्रीर जिसने यह नहीं समक्षा है कि वैशेषिक के प्रायः सभी ग्रन्थों में श्रन्थकार पर विचार किया है, वह इस उपहास को क्या समक्षेगा ? फिर 'उल्क' 'गोतम' श्रीर 'दर्शन' को तो' देखिये। क्या इसके लिये कुछ कम मर्मः

इता की त्रावश्यकता है ? निदान, साहित्य के समभने के लिये हर एक शास्त्र के अच्छे ज्ञान को त्रावश्यकता है।

साहित्य क्या शिचा देता है ?

श्रव लगे हाथों इस श्रोर भी दृष्टि डाल जाइये कि साहित्य सिखाता क्या है ? सबसे पहले साहित्य की शिद्धा का फल साहित्य के श्रिष्ठकारों को सुसम्पन्न बनाना है। साहित्य के श्रिष्ठकारियों का विवेचन करते हुए पिछे जिन श्रिष्ठकारों की चर्चा श्राई है उन्हें यथावत् सम्पादित करना साहित्य-शिद्धा का प्रथम उद्देश्य है। संतेप में यो समिभिये कि भावना को निर्मल करना और भावकता को परिष्कृत करना साहित्यशिद्धा का प्रथम सोपान है। जिन लोगों को भावना श्रीर भावकता के संस्कार ईश्वर ने दिये हैं उन्हें निर्मल श्रीर स्वच्छ बनाना साहित्य का काम है। जिस प्रकार कान (खिन) से निकला हीरा जब तक शान पर न चढ़ाया जाय तबतक उसमें राज्ञ कुछ पर चढ़ने की योग्यता नहीं श्राती श्रीर न उसकी श्रसित्यत ही खुलती है इसी प्रकार साहित्य की रगड़ के विना भावना श्रीर भावकता का परिमार्जन श्रीर परिष्कार नहीं होता।

यह त्रौर वात है कि प्रतिभासम्पन्न पुरुष साहित्यज्ञान के विना भी कविता ज्ञादि करें त्रौर कोई अञ्जी कल्पना भी कर लें, परन्तु उसका परिमार्जन परिकार एवं विवेचना शिक्ष इसके विना नहीं त्रा सकृती। उनकी प्रतिभा के जौहर इसके विना नहीं खुल सकते।

वाणीं श्रादि के द्वारा प्रकाशित किये भावों में प्रभावुकता उत्पन्न करना साहित्यशिक्ता का दूसरा श्रङ्ग है। यदि भावना ने किसी दुःखी के दुःख दर्द को हमारे हदय में श्रविकलक्ष से पहुँ चाया है श्रौर भावुकता ने उसका यथावत् श्रवुमव कराके हमारे हदय को तन्मय (दुःखमय) बना दिया है तो साहित्यशिक्ता के सहारे हम उस हद्गतभाव में इतनी प्रभावुकता पैदा कर सकते हैं, जिससे हमारे शब्दों श्रौर श्रथों को सुनने समभनेवाले भी हमारी ही तरह उस भाव के प्रभाव से प्रभावित हो सकें। यदि सुननेवालों में वासना नामक संस्कार की एक ब्रंदभी विद्यमान है, यदि उनके हदय से प्रेम, शोक, हँसा, को ध श्रौर उत्साह श्रादि के बीज बिलकुल निर्मुल नहीं हो गये हैं, यदि उनमें बात सुनने श्रौर भाव समभने की शिक्त का एकदम विलोप नहीं हो गया है तो निःसन्देह साहित्यशिक्ता से सुसम्पादित वचनावलीं प्रभावसे उनका हदय श्रक्तार, करण, हास्य, रौद्र श्रौर वीर श्रादि रसों में तन्मय हुए विना न रहेगा। रहा प्रभाव का तारतम्य, सो वक्ता श्रौर श्रोता की योग्यताके तारतम्य पर निर्मर है।

पूर्वोक्त सम्पूर्ण अधिकार और फलों की विवेचना करना साहित्यशिक्ता का अन्तिम अक्त है। भावना, भावुकता और प्रभावुकताको परखना, इनके गुणों को जानना और दोषोंको पहिचानना, इनमें औचित्य-सम्पादन करने और अनौचित्य का परिहार करने की योग्यता उत्पन्न कर देना साहित्यशिक्ता की चरम सीमाहै। इस प्रकार इस पूर्व सन्दर्भ से यह स्पष्ट हो जाता है कि भावना को निर्मल और अप्रतिहत बनाना, भावुकता को परिष्कृत और परिमार्जित करना पर्व प्रभावुकता को सुसम्पादित करना साहित्यशिक्ता का फल है।

्यद्यपि श्रप्रकृतं होने के कारण संगीत पर यहां हमें विशेष विचार नहीं करना है, परन्तु जिस कारण महात्मा भतृ हरि ने इन दोनों को प्रकृत पद्य में एक साथ मिलाया है उसे प्रकट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। साहित्य-शिचा का दूसरा फल (प्रभावुकता) संगीत के फल से बहुत कुछ मिलता जुलताहै। जिस प्रकार साहित्यसे सहदय पुरुषोंके हृद्य करुण, शान्त और वीर श्रादि रसों में निमग्न होते हैं इसी प्रकार संगीतसे भी होतेहैं। सच प्रश्चिय तो संगीतमें प्रभा-बुकता साहित्य से भी कहीं बढ़ कर है। साहित्य का प्रभाव पढ़े लिखे अथवा सहदय मनुष्यों तक ही परिमित है, परन्तु संगीत तो पशुत्रों पर भी अपना प्रभाव दिखाता है। वैजू बावरे स्रादि की स्रनेक दन्तकथायें प्रसिद्ध हैं। किसीने जंगली हिरनों को अपने गाने से मोहित करके उनके गले में मालायें पहनाई। किसी ने मस्त हाथी को वश में किया। किसीने कुछ किया, किसीने कुछ। राग-रताकर नामक संस्कृत के संगीतग्रन्थमें लिखाहै कि एकसाल का वचा श्रोर एक साल का वैल जिसके गाने से यथावत् प्रभावित नहीं होता वह गवैया ही नहीं। प्रमावुकता में साहित्य श्रीर संगीत का वड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। एकके विना दूसरा एक प्रकार व्यर्थ ही रहा करता है। ये एक गाड़ी के दोनों पहिये हैं। भरतनाट्य में स्वर श्रोर छन्दों का भी नियम बताया है। वहां इस वात पर अच्छा विचार किया है कि किस रस के लिये कौन २ छुन्द और कौन २ स्वर उपयुक्त होते हैं।

इस बात को सभी आलंकारिक लोग मानते हैं कि रागों से रस निष्पन्न होते हैं। रसगङ्गाधर में परिखतेन्द्र जगन्नाथ ने लिखा है - 'रागस्यापि रसन्यन्जकताया स्वनिकारादिसक जालंकारिकसंमतत्वेन इत्यादि। यदि करुण्रस के काव्यको उसी रागिनी के स्वरों में पढ़ा या गाया जाय जो करु एस को अभिव्यक्त करती है तो सोने में सुगन्ध हो जाय। एक ही रस के अभिव्यक्षक काव्य और राग के मिलने से उनमें कितनी प्रभावुकता आसकती है, यह बात सहज ही समभी जा सकती है। ्र प्रकृत पद्य (साहित्यसंगीतकलाविहीनः ) का कई प्रकार से अर्थ किया जाता है। १ साहित्य त्रौर संगीतकला (गानविद्या) से विहीन-२ साहित्य, संगीत श्रौर कलाश्रों (वादा, नृत्य श्रादि ) से विहीत-३ साहित्य श्रौर संगीत की 'कला' त्रर्थात् संस्कार (वासना) से विद्दीन। पूर्व दो मतों में लच्चणा से 'साहित्य' त्रौर 'संगीत' पद इन संस्कारों के बोधक होते हैं। तात्पर्य यह है कि जिन संस्कारों से मनुष्य साहित्य और संगीत का पात्र बनता है उन (मार्जना श्रीर भावुकता ) का होना श्रावश्यक है। यह श्रावश्यक नहीं कि साहित्य के प्रंथों की तोतारटन्त भी की जाय। परन्तु यदि साहित्य की संहायता से वे संस्कार निर्मल भी हो गये हों तो फिर कहना ही क्या है। ्र ब्रबं साहित्य श्रीर संगीत के संस्कारों—भावना, भावकता श्रीर प्रभाव कता को ध्यान में रखते हुए संसार के बड़े २ महापुरुषों के जीवन पर हिं ड़ांलिये और यह सोचिये कि वे इतने बड़े क्यों हुए ? संसार ने उन्हें इतना क्यों ऋपनाया ? उनमें वह कौन सी बात थी जिसने उन्हें सर्वसाधारण की कोटि से उठाकर संसार के शिखर पर बिठा दिया ? संसार में ऐसे कितने बचे हैं जो प्रतिदिन अपनी विमाताओं की भिड़ किया सुना करते हैं। पर भ्रव में वह कौन सी बात थी जिससे वे विमाता की एक कड़वी वात सुनते ही सब राजपाट छोड़कर बचपन में ही अति कठोर तपस्या करने को उद्यत हो गये ? यदि उनमें भावना और भावकता न होती ती उन्हें राज्य छुड़ाकर तपस्या के कछों की छोर कौन घसीटता ? और आज आप उनके पवित्र नाम को इतनी श्रद्धा और भिक्त के साथ कैसे लेते ?

महात्मा बुद्ध के जीवन से साहित्य के इन संस्कारों को अलग कर के ज़रा देखिये कि फिर उनमें क्या वचता है। यदि वह दीन दुः खियों के दुः ख की भावता न करते और उनके दुः ख से दुः खी न होते तो अपने राज्य को लात मार कर नवजात प्रथम शिशु और तहली रमणी को ईश्वर के भरोसे छोड़ कर क्या जंगल और पर्वतों में भटकते ? यदि उनकी वाणी में प्रभावकता (तासीर ) न होती तो क्या यह संभव था कि इतनी अधिक संख्या में लोग उनके अनुयायी बनते ?

पुरानी वार्ते जाने दीजिये—हम पूँ छते हैं कि भारतीय वर्तमान राजनीति ज्ञेत्र के भारकर, प्रातःस्मरणीय भगवान् तिलक को इतना बड़ा स्वार्यत्याम करने के लिये किसने विवश किया ? यदि दरिद्र भारतीय भुक्खड़ जनसमुदाय के दुःख ददों से उनका भावकतामय कोमल हदय बिध न गया होता, यदि यहां के दीन दुःखियों की दर्द भी 'हाय' ने उन्हें चण चण में वेचैन न किया होता त्रें छत्याचारियों के ऊपर उन्हें नृसिहरूप कौन धारण कराता ? यदि भावना और भावकता उनमें न होती तो सब सांसारिक सुखों को छुड़ाकर उत्हें क्एटकाकी एथ पर चलने को कौन विवश करता ? जो 'लीडरममन्य' होम कौमी गम में हुकामों के साथ चाट उड़ाया करते हैं, जिन्हें महामना अकड़मने यह फबती सुनायी है किः—

क्या जगत्पूज्य तिलक इन सबसे कुछ कम धनीपार्जन कर सकते थे है यहिं नहीं, तो फिर वह कौन सी सचाई थी जिसके कारण इन सब सुबी की नर्क समान समक्कर उन्होंने मण्डाले की प्रतिकृत जिलवायु में रहना पसन्द किया और जेललाने की जली भुनी रोटियों को प्रेमपूर्वक अपनाया? त्याग की मूर्ति और मानुकता के अवतार महात्मा गान्धीको ही देखिया किसके बल पर इन्होंने आज संसार को डांवाडोल कर रक्ला है? क्या मार्चिता और भावुकता के सिवा कुछ और भी है जिसने इन्हें अतिकष्टसाहिष्ण और तपोमूर्ति बना दिया है? क्या आप बता सकते हैं कि भावना, मानुकता के सिवा और किसने इन सब महापुरुषों को संसार के हृदयमिन्दर में उन्ने से उन्ना आसन दिलाया है? के पर हमारी धारणात्तो यहां तक है कि वित्ताओं का देवत्व और ईश्वर का ईश्वरत्व मी इन्हीं पूर्वोक्त संस्कारों के आधार पर कायम है। ईश्वर को असी ते दित्ताक आप मकतत्व की पर कायम है। ईश्वर को असी ते दित्ताक आप मकतत्व की पर कायम है। ईश्वर को असी ते दित्ताक आप मकतत्व की पर कायम है। ईश्वर को असी ते दित्ताक आप मकतत्व की पर कायम है। ईश्वर को असी ते दित्ताक आप मकतत्व की पर कायम है। ईश्वर को असी ते दित्ताक आप मकतत्व की स्वाहर का स्थान की स्वाहर की कि स्वाहर की स्वाहर की

'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन । स्रातों जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्थम'।।

इन चार प्रकार के भक्तों में 'श्रार्त' को सबसे पहला स्थान दिया है। भगवान् जिज्ञासु श्रीर ज्ञानी भक्तों की पुकार सुनकर स्थिर रह सकते हैं। श्रथीं थीं की प्रार्थना को थोड़ी देर के लिये टाल सकते हैं। परन्तु श्रार्तवन्धु भगवान् श्रार्तभक्त की दुःखभरी पुकार सुनकर श्रधीर हो उठते हैं। उस समय एक एक च्ल उन्हें भारी होता है। भरी सभा में श्रपनी लाज जाती देख श्रनन्यशरणा द्रौपदी का श्रार्तनाद, श्रशरणशरण भगवान् के हद्य में भर्मवेधी बाण से भी श्रधिक वेदना पैदा करता है। उस समय उनके मुँह से सिवा इसके श्रीर कुछ नहीं निकलता कि

'कैसे धरें बीर मोकी होपदी पुकारी हैं'। प्राह से पीड़ित गजेन्द्र की दुःखमरी 'हाय' को सुनकर वे गठड़ की प्रतीचा न कर नंगे ही पैरों दोड़ पड़ते हैं। यदि अगवान में दीनों के दुःखों की भावना न होती, यदि वे भावुकतावश उनके उद्धार के लिये प्रातुर न होते तो उन्हें 'दीनवन्धु' कौन कहता? वे भक्तवत्सल कैसे कहाते? श्रोर यदि यह कुछ नहोता तो वे हमारे किस काम के थे? जिसे हमारे दुःख दर्द से कुछ सरोकार नहीं, उस ईश्वर को लेके हम क्या करते? वह हमारे किस अतलव का?

यह मत समिमये कि पूर्वोक्त संस्कार सबको दुःखों की छोर ही घसीटते हैं। वस्तृतः सुख का परिणाम दुःखमय छोर दुःख का सुखमय हुआ करता है। महापुरुषत्व का सुवर्ण, विपत्ति की अग्नि में पड़कर ही कुन्दन वनता है। संसार में कोई भी ऐसा महापुरुष नहीं जिसने विपत्तियों का सामना विना किये अपना पद प्राप्त किया हो। विपत्तियां ही पुरुष को महापुरुष बनाती हैं। अपने उत्पर विपत्तियों का स्वागत करके दूसरों को विपत्ति से छुड़ाना ही महापुरुषत्व का परिचायक है। इस प्रकार की विपत्तियों से डरना कायरता है।

श्रव उक्त संस्कारों से शून्य—विशेषज्ञानरहित—(स्थूलदर्शी) पश्रश्रों की श्रोर श्राह्ये। घोड़े के सामने यदि उसका मालिक पहुँचेगा तो वह दुम हिलाकर श्रीर हिनहिनाकर उसका स्वागत करेगा। 'यह मेरा स्वामी हैं'—श्रववा 'यह मेरा हितचिन्तक हैं' या 'यह मेरा खिलाने पिलानेवाला हैं' कुछ इसी प्रकार का ज्ञान घोड़े के मन में उदित होगा। इससे श्रधिक कुछ नहीं। उसका स्वामी चाहे जुए में १० हज़ार हारकर घोड़े के सामने जाय, चाहे मुक्कहमा जीतकर इसके श्रागे पहुँचे, चाहे स्त्री के वियोग से दुःखी हो, चाहे नवीन विवाह की खशी में हो, घोड़े पर इन विशेषताश्रों का कुछ प्रभाव नहीं पड़ेगा। उसका हिनहिनाना श्रीर दुम हिलाना सब दशाश्रों में समान होगा। स्वामी की दशा—विशेष के श्रवसार उसमें कोई श्रन्तर न दीख पड़ेगा।

श्रव एक ऐसे पुरुष की कल्पना कीजिये, जिसमें नभावना है, न भावकता। उसे किसी के सुख दुःख से कुछ मतलब नहीं। उनका उस पर कोई असर नहीं। उसे अपने मतलब से मतलब है। यदि किसी पर उसके १० रु० चाहिये ती वह यह न सोचे कि मेरा ऋणी इस समय मुदें को उठा रहा है, या चिता इन रहा है, वह अपना तकाज़ा ठोंक दे, तो आपही बताइये कि आप उसे क्या कहेंगे ? नर या 'नरपश्च' ? पूर्वोंक पश्च में और इसमें क्या भेद है ?

जिसमें भावना श्रौर भावुकता नहीं, वह चाहे सम्पूर्ण व्याकरण का भन्नण कर गया हो, चाहे श्राद्यन्त न्यायशास्त्र को चवा गया हो, या कुछ श्रौर कर वैठा हो, पर उसे मनुष्य कहना कठिन है। जिसमें 'मननशीलता' नहीं, उसे मनुष्य कहलाने का कोई श्रधिकार नहीं।

मान लीजिये कि एक श्रादमी मनों गिलत चारकर "गोबरगणेश" बन गया— पर मजुष्योचित व्यवहार से एकदम शन्य रहा । श्रपने सुख दुःख के सिवा दूसरों के दुःख दर्द का उस पर कोई श्रसर नहीं। क्र खेपन की मूर्ति श्रोर उजडुता का श्रवतार है। भावना श्रोर भावकता से बिल्कुल कोराहै, तो श्राप उसे नर कहेंगे या नरपशु ?

पश्च तो वेचारामजुष्यों को कुछ हानि नहीं पहुँचाता। तिनके खाकर जीता है जीर मरकर मजुष्यों के पैर की जूती तक बनता है। पर यह नरपश्च तो इसकाम काभी नहीं। "बारह आने" या, 'छः आने रोज़ 'का अब खाकर मजुष्यों का भक्ष्य कम करता है। और फिर अपने दुर्व्यवहार से मजुष्यजाति को कलक्कित करता है।

चाहे भावना और भावुकता के नाम से पुकारिये, चाहे वासनाविशेष कहिये, चाहे साहित्यसंगीतकला कहिये, चाहे कोई और नाम रख लीजिये, पर वह वात एक ही है, जो मनुष्य में मनुष्यता का सम्पादन करती है। वही विशिष्ट- मात्रा और समुज्जवलक्ष्य में होने से पुरुष को महापुरुष बनाती है। एवं निरित्रयकोटि में पहुँच कर देवत्व या ईश्वरत्व की प्रकाशक होती है।

जो इस तत्त्व से विहर्मुख है उसे पशु कहना, पशुत्रों का अपमान करना है। पशुत्रों के सैकड़ों ऐसे उदाहरण हैं जिनसे उनमें सहाजुभूति और समवेदना के संस्कारों का पता चलता है। पूर्वोक्त प्रकार का नरपशु तो उन पशुत्रों से कहीं वदतर है। इसीलिये तो महात्मा भर्ण हिर ने उसे 'पुच्छ विषाणहीन' कहा है। शुक्र और पुच्छ पशु के शोभाधायक हैं। उसकी रक्ता के साधन हैं। पूँछ से वह मक्खी मच्छड़ों को फरकार सकता है और सींगों से 'नरपशु' की खबर ले सकता है। महात्मा भर्ण हिर नरपशु को शोभा और रक्ता के साधन देना उचित नहीं समकते—अतपव पहले 'साक्तात्पशु:' का रूपक खड़ा करके उसमें उन्होंने कम से हीनता दिखानी प्रारम्भ की है। प्रकृतपद्य के उत्तरार्ध में यह बात और भीस्पष्ट कर दी है—

'तृणं न खादन्नपि जीवमान-

स्तद् भागधेयं परमं पश्नाम्'।

पशु, सींग पूँ छ से सुसम्पन्न है, और केवल तृण्चर्वण से सन्तुष्ट रहता है। परन्तु नरपशु शोभा से विश्वत और मनुष्यों के भक्ष्य का घातक है।

इस प्रकार विचार करके देखने पर महात्मा भर्नु हिर की उक्ति में न कहीं अनौचित्य दीखता है, न कठोरता। वह एक सीधी, सच्ची बात है। और बड़ी कोमलता के साथ प्रकट की गई है। क्रिमक न्यूनता का प्रकाश करना ही इस का पूरा प्रमाण है। महात्मा भर्नु हिर के अतिरिक्त और कोई इसी भाव से यिह इस बात को कहता तो इससे कहीं कठोर भाषा का प्रयोग करता।

'साहित्यसंगीतकला' से जिन संस्कारों की आर आपका इशारा है वे

मनुष्यताका सम्पादक हैं - उनके बिना मनुष्यशरीर पाने पर भी कोई मनुष्य कहलान का अधिकारी नहीं हो सकता। अतः नइसमें अनौचित्य है, न कठो-रता। पूहड्पन की लो बात चलाना ही पूहड्पन होगा। उन्होंने जो कुछ कहा, ठीक कहा--महात्मजनोचित कहा और प्रत्यक्तर सत्य कहा कि--

-- ११ वर्ष कर्षाहित्यसंगीतंकलात्रिहीनः

सान्तात्पशुः पुच्छविषाण्हीनः ।

प्रदेश हैं है । कि प्रति स्थादनिय जीवमान-प्रदेश के तुमां न् खादनिय जीवमान-

स्तद् भागधेयं परमं पश्नाम्॥"

संस्कृत में, अन्य शास्त्रों के समान, साहित्य पर भी अनेक गम्भीरविचारपूर्ण प्रनथ बने हैं। ऋषियों ने मुनियों ने स्रौर प्राचीन तथा स्रवीचीन सनेक साचायौ ने बड़ी गहरी छानवीन के साथ इसके हर एक अङ्ग की विवेचना की है। (हमने "श्रुलंकारनिर्णय' नामक संस्कृतनिवन्ध में इन सब वातों पर विचार किया है)। ं संस्कृतसाहित्य में 'साहित्यदर्पण' अपने गुणों के कारण वहुत प्रसिद्ध है। प्राचीन कई प्रन्थों को पढ़ने से जो बात मिलती थी, वह इस अकेले में ही मिल जाती है, श्रीर साङ्गोपाङ्ग मिल जाती है। दृश्य श्रीर श्रव्य काव्यों की सभी क्वातव्य वार्ते इस अकेले ही से जानीजा सकती हैं। विषय के निरूपण की शैली इसकी पांजल और विशद है। भाषा सरल एवं मनोहर है। इन्हीं कारणों से पठन-पाठन में इसका बहुत प्रचार है। प्रायः सभी प्रान्तों की परीनांश्रों में यह नियत है। बङ्गाल की 'तीर्थ', काशी की आचार्य, पञ्जाब की विशारद तथा ग्रन्य परीचात्रों में भी यह नियत है। ग्रंग्रेज़ी में संस्कृत लेनेवाले छात्रों को भी एम् एः परीना में इसका कुछ ग्रंश पढ़ना पड़ता है। ि इसके रचयिता विश्वनाथ कविराज विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में हुए थे। यह उत्कल ब्राह्मण्ये। इनके पिता का नाम चन्द्रशेखर था। इनका कुटुम्ब विद्या श्रीर विभव दोनों से सम्बन्न था। इनके श्रानेक कुरुम्बी बड़े २ विद्वान् श्रीर ऊंचेर राज्याधिकारोंमें लंड्धप्रतिष्ठ थे। विश्वनाथजी भी सान्धिविप्रहिक (राजमन्त्री)

यह उरकल ब्राह्मण्ये। इनके पिता का नाम चन्द्रशेखर था। इनका कुटुम्ब विद्या ख्रीर विभव दोनों से सम्बन्न था। इनके अनेक कुटुम्बी बड़े र विद्वान और ऊंचे र स्तुष्ट्याधिकारों में लब्धप्रतिष्ठ थे। विश्वनाथजी भी सान्धिविग्रहिक (राजमन्त्री) थे इन सब बातों का पता साहित्यद्र्पण से ही लग जाता है। यह विश्वनाथ किवराज न्यायमुक्तावली के कर्त्ता विश्वनाथपञ्चानन से भिन्न हैं। उनके पिता का नाम विद्यानाथ था और वह पञ्चानन थे। यह कविराज हैं। संभवतः वह विद्यानाथ वही हैं जिनके मत का खण्डन अप्पर्य दीन्तित ने चित्रमीमांसा में किया है। प्रकृत विश्वनाथ कविराज के इतिहास के सम्बन्ध में बहुत कुछ छान वीन हो। चुकी है। अतः हम उन सब बातों का पिष्टपेषण करना नहीं चाहते। अकृत प्रमुख (साहित्यद्र्पण) विक्रमीय चौदहवीं शताब्दी में लिखागया और

श्चिपने गुणों के श्रनुसार इसने पर्याप्त प्रतिष्ठा तथा प्रचार प्राप्त किया।

१६२२ शक संवत् (१७४६ विक्रम सं०) में श्रीरामचरणतर्कवागीशजी ने इसकी एक विस्तृत, गम्भीर संस्कृतरीका लिखी। संभव है, इसके पहले भी कोई रीका रही हो, पर श्राज इससे प्राचीन कोई रीका उपलब्ध नहीं होती।

इसके बाद श्रीरंभी कई रीकार्य बनीं। उनमें से कई तो इसी की चोरी

फूइड़पन के साथ चोरी—कही जा सकती हैं, और कुछ इसीके रूपान्तर हैं। स्वतन्त्रविचारपूर्ण टीका इसके अतिरिक्त कोई नहीं वनी।

जीवानन्द्विद्यासागर की टीका में तो इसकी बहुत सी तद्रूप पंक्रियां श्रौर

बहुत सी विकृत पंक्तियां मिलती हैं। श्रौर वातें भी प्रायः एक हैं।

हिन्दीया और किसी प्रचलित भाषा में इसका अनुवाद हुआ या नहीं, इस का हमें पता नहीं, पर संस्कृत में 'रुचिरा' नाम की एक तुन्दिल टीका हमारे एक मित्र ने हमें दिखाई थी और बड़े आग्रह से उसकी समालोचना करने को भी विवश किया था। यह आलोचना 'रुचिरालोचन' के नाम से, लेख-माला के रूप में, मुरादाबाद की 'प्रतिभा' में निकल चुकी है।

हमारी दृष्टि में श्रीरामचरणजी की टीका के श्रतिरिक्त श्रौर कोई ऐसी प्रामा-िण्क श्रथवा विचारपूर्ण टीका नहीं, जिसको गम्भीर श्रौर विस्तृत विचारों का लक्ष्यवनाया जा सके। इसी कारण हमने 'विमला' में स्थान २ पर श्रीतर्कवागीश जी के विचारों पर ही श्रपना मत प्रकट किया है। श्रन्य टीकाकारों का स्पर्श नहीं किया। 'प्रधानमञ्जनिर्वहण' न्याय से इन्हीं की श्रालोचना में इनके सब

पिछलगुत्रों की समालोचना एक प्रकार से हो गई।

निर्ण्यसागर में छुपे साहित्यद्र्पण में जयपुरीय श्री पं॰ दुर्गाप्रसादजी की एक टिप्पणी है। उसमें बहुत सी ऐसी वातें हैं जिन पर विचार किया जा सकता था, परन्तु कई कारणों से हमने श्रमी उस श्रोर दृष्टि नहीं दी है। एक कारण यह भी है कि उसमें श्रधिकांश बातें किसी न किसी श्रन्थ से ही उद्धृत की हैं। ऐसी वातें बहुत ही कम हैं जिन्हें हम टिप्पणीकार का स्वतन्त्र मत कह सकें। यह श्रोर बात है कि वे उस प्रकरण में कहीं २ श्रसम्बद्ध श्रोर श्रनुपयुक्त पड़गई हों, परन्तु हैं सब किताबी बातें। 'तहरीरी सबूत' सबका मौजूद है।

टिप्पणीकार ने जहां अपनी श्रोर से कुछ कहा है वहां— साहित्य की सूच्म बातों की तो बात ही क्या—मामूली व्याकरण की भी मोटी २ भूजें की हैं, श्रीर वह भी व्याकरण की प्रक्रिया दिखाते हुए ही। दशम परिच्छेद में 'झन्तःपुरीयसि' इत्यादि पद्य की टिप्पणी में 'श्रमृतद्युतिदर्शम्' का विप्रद्व किया है 'श्रमृतद्युतिमिव दर्शनम् श्रमृतद्युतिदर्शनम्'। मूल के 'दर्शम्' का श्रापने 'दर्शनम्' वना डाला। उस पर तुर्श यह कि 'कुन्मेजन्तः' लगा-कर इसकी श्रव्यय संज्ञा की। न तो श्रापको यह दीला कि इस 'दर्शनम्' के साथ में 'श्रमृतद्युतिम्' में द्वितीया कैसे हो गई श्रीर न श्राप यही समक्त सके कि नित्य समास के श्रन्तर्गत 'श्रमृतद्युतिदर्शम्' का स्वपद विप्रद्द नहीं हो सकता। साथ ही श्रापको यह भी नहीं सूक्षा कि 'दष्टः प्रियाभिरमृतद्युतिदर्शम्' में कमें उक्क है, उसमें द्वितीया नहीं हो सकती, 'श्रमृतद्युतिदिव दष्टः' कहना चाहिये। इसी प्रकरण में 'इन्द्रसञ्चारम्' का श्रर्थ किया है —'इन्द्रइवसञ्चरणम्।' यह भी श्रनर्गल प्रलाप है। इस इन तुद्ध बातों में श्रपना समय नष्ट करना नहीं चाहते।

सबसे पहले, संवत् १६६४ के लगभग, जब हम कांगड़ी गुरुकुल में अध्यापक थे, साहित्यदर्पणकार के कई सिद्धातों पर सन्देह हुआ। उनकी निवृत्तिके लिये जब कई टीकायें देखीं तो औरों पर तो अश्रद्धा होगई, परन्तु श्रीतक्वागीशजीकी टीकाको देखनेसे बराबर उलभन बढ़तीही गई। 'मरज़ बढ़तागया ज्यों दवाकी'। यह दशा बहुत दिनों तक रही। इस अन्तर में साहित्यदर्पण और श्रीतर्कवा-गीशजी की विवृति को पढ़ाने और विचारने के अनेक अवसर आये। काव्य-प्रकाश और रसगङ्गाधर आदिकों को भी कई बार आदान्त पढ़ाया। इन्हें परीक्षा के लिये तयार भी किया परन्तु पिछले सन्देहों पर इन सबका कुछ असर नहीं हुआ। वे ज्यों के त्यों रहे। इसके अतिरिक्ष यह धारणा दढ होती गई कि श्रीतर्कवागीशजी ने साहित्यदर्पण का तात्पर्य समकाने की अपेक्षा उसे अंधकार की और अधिक घसीटा है।

खात्रों के आगे, मित्रमण्डली में और गुरुजतों के सामने भी अने के अवसरों पर अपना मत प्रकट किया। इसके अनन्तर कई ऐसे संस्कृत निवन्धों में भी उनका साङ्गोणङ्ग वर्णन किया, जो विद्वानों की सभाओं में पढ़े गये थे ( उनमें से एक नोट इसी पुस्तक के २२ वें पृष्ठ से आरंभ हुआहें) इन अवसरों पर प्रायः सभी विद्वान् निवन्धों के मत से वरावर सहमत होते रहे। अन्ततः कई सज्जनों ने साहित्यद्र्पण की एक टीका लिखने का अनुरोध किया। यह अनुरोध—विक आग्रह—दिन प्रतिदिन वढ़ता ही गया, अतः संवत् १६७२ वि० में इसकी टीका लिखने का संकल्प किया, और अपने वेदान्तगुरु पूज्यपाद श्री ६ पं० काशीनाथजी शास्त्री से इसके लिये आज्ञा मांगी। अमोघ होने के कारण हम आपकी संमित को सबसे अधिक आदरणीय और गौरवास्पद समभते हैं। आपने प्रसन्नतापूर्वक अनुमति दी, परन्तु हिन्दी भाषा में लिखने का आदेश किया। थोड़े से वादिवाद के अनन्तर संस्कृत में टीका लिखने का अपना विचार त्याग दिया और उनकी आज्ञा शिरोधार्य की।

इसके अनन्तर चाहे 'ज्ञातपारोपि खल्नेकः सन्दिग्धे कार्यं क्तुनि' के अनुसार समित्रे या 'बल्वदिप शिवितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः' के अनुसार समित्रये, हमारे मन में अपते विचारों की और भी प्रामाणिकता जानने की इच्छा उत्पन्न हुई। उस समय हमारे साहित्यगुरु महामहोपाध्याय श्री पं व्याङ्गाधर शास्त्री सी. आई. ई. कादेहावसान हो चुकाथा, अतः अपने शास्त्रान्तर-गुरु सर्वतन्त्रस्वतन्त्र आराध्यपाद महामहो पाध्याय श्री दे शिवकुमारशास्त्रीजी को तथा अन्य कई धुरन्धर विद्वानों को अपते कुछ नोट सुनाये। उन्होंने इसे संस्कृतमें ही लिखनेकी सम्मति दी, परन्तु हम हिन्दी में प्रन्थ लिखने को वचनबद्ध हो चुके थे, अतः दूसरी टीका संस्कृत में भी लिखने की बात कहकर उनसे चुमा मांगी और टीका के आरम्भ में—संस्कृत मार्गपृत्त विद्वान के अपते का किया मार्गपृत्त के स्वाह्म के अपते के स्वाह्म के अपते स्वाह्म के स्वाह्म के अपते स्वाह्म के स्वाह्म समित्र स्वाह्म के स्वाह्म के स्वाह्म के स्वाह्म समित्र स्वाह्म स्वाह

इस बीच में अनेक जटिल स्थलों पर आराध्यपाद श्री पं० काशीनाथजी शास्त्री से परामर्श करने और अपने विचारों की तात्त्विकता के निर्णय करने का अवसर पड़ा। वस्तुतः उन्हीं की कृप(और आशीर्वाद से यह टीका पूर्ण हो सकी।

सं० १६७३ की विजयादशमी को ऋशिकुल हरिद्वार में नियमपूर्वक इस टीकी का आरम्भ हुआ और चैत्र शु०६ सं० १६७४ में, छः मास के अनन्तर वहीं इसकी समाप्ति हुई। उस समय वहां की परिस्थिति की प्रतिकूलता के कारण, हम और हमारे मित्र व्याकरणाचार्य, न्यायशास्त्री पं० गिरिधर शर्मा विद्यानिधि ऋषिकुल छोंड़ने को आतुर हो रहे थे। इधर यह भी विचार था कि जैते भी हो सके, यह टीका हरिद्वार की पवित्र जलवायु में ही पूर्ण हो जानी चाहिये। इसलिये वड़ी शीवता में इसे पूरा किया गया। सब परिच्छेद कम से नहीं लिखे गये। विशेष शास्त्रार्थपूर्ण स्थलों को पहले लिख लिया। षष्ठ परिच्छेद सबसे अन्त्य में और सबसे अधिक शीवता में लिखा गया। इसी कारण उस पर विशेष विचार प्रकट करने का बहुत कम अवसर मिला। हम चाहतेथे कि हश्य काव्य (नाटकादि) के विषय को भी सुचार रूप में पाठकों के सामने रक्खें, परन्तु इस समय तक ऐसा न हो सका। संभव है अगले संस्करण में, यदि ईश्वर ने छूपा की तो इसके कई अंश, जो हमारी दृष्टि में अभी अपूर्ण हैं पूर्ण होजायँ।

यदि यह टीका संस्कृत में होती तो संमवतः इसकी प्रतिष्ठा वहुत अधिक होती। यह ठीक है कि केवल हिन्दी जाननेवाले लोग इस टीका को देखकर भी प्रमेयों का पूरा पता नहीं पा सकेंगे। साथ ही यह भी ठीक है कि हिन्दी का नाम खुनते ही संस्कृतज्ञ लोग--जो इन विचारों के उपयुक्त पात्र हैं--एकद्म नाक मुँह सिकोड़ने लांगे, इसे उपेचणीय समर्केंगे और हेच नज़र से देखेंगे। परन्तु हमें यहां इस विषय में कोई उपपत्ति देना नहीं है कि यह टीका हिन्दी में क्यों लिखी। यद्यपि प्रन्थ के आर्श्भिक श्लोकों में इस अरि भी कुछ प्रकाश डाला है, परन्तु यहां उस बात को उठाना नहीं है। कपूर-मञ्जरी (सदक) के रचियता महाकिव राजशेखर के शब्दों में यही कहना है कि यदि विचारों में उपादेयता और उपयोगिता है तो--'माना जा होह सा हो हु'--भाषा चाहे कोई हो, लोग उसे देखेंगे । त्राज न सही कल, कल न सही परसों, देखेंगे अवश्य । उन्हें देखना पड़ेगा । 'देर है अन्धेर नहीं' की कहावत प्रसिद्ध है। यदि वात में कोई गुण है, तो गुण्इ पैदा हो ही जायँगे। 'कालो झयं निरविधिवेषुज्ञा च पृथ्वी' -यदि वस्तु में कोई गुण नहीं तो चाहे कोई भाषा क्यों न हो, ग्रसारता का प्रकट होना ग्रनिवार्य है। बाँस गौ के गले में घंटे लटकाने से उसकी क्रीमत नहीं बढ़ सकती।

इस पुस्तक के लिखते समय प्राचीन लिखीं तथा छुपी असंलग्न, असम्बद्ध और खिएडत पुस्तकों को ठीक करने में जो परिश्रम हुआ उसे हमारे वेदा-न्तगुरु श्री पं॰ काशीनाथजी शास्त्री ने देखा है। उन्होंने अपनी संमित में इसकी चर्चा भी की है। निर्णयसागर में छुपी पुस्तक भी अशुद्ध और अनेक स्थानों में खिएडत है। कई जगह कई कई पंक्तियां गायब हैं। विराम चिह्नों के उलट फेर ने तो अर्थ का अनर्थ करने में वेतरह धमाचौकड़ी मचाई है। हम समभते हैं इन बातों की यहां चर्चा व्यर्थ है। जिन्हें ईश्वर ने समभ दी है, जिनके आंखें हैं, वे स्वयं ही सब बातें प्रत्युत्त कर लेंगे। हम तो केवल यही कहेंगे कि—

''तं सन्तः श्रोतुमहंन्ति सद्सद्ब्यक्तिहेतवः । हेम्नः संबद्धयते ह्यानी विशुद्धिः श्यामिकापि वा" ॥

इस पुस्तक में भी बहुत सी अशुद्धियां रह गई हैं। उनमें से बहुत सी तो उन प्रेस के भैरवों के तागड़व का फल है जो 'ईश्वर की रचना' के स्थान में ६ तेर की चना कम्पोज़ कर दिया करते हैं। बहुत सी संशोधकों के दृष्टिदोष और हमारे भ्रम, प्रमाद का भी फल हो सकती हैं। मजुष्य की कृति में इन सबका न होना ही आश्चर्य है, अतः विमला का यह अन्तिम गरा—

हुर्मीषो दोषसङ्घः क्षणमि न हडा शेमुषी मातुषीयम् , गम्मीराम्मोधितुल्यं दुरिधगममहो शास्त्रतःचं च किंचित् । श्रद्धा बद्धाञ्जलिस्तद् गुणागणिकषान्त्रःथये प्रार्थनीयान् , जोषं जोषं विदोषं कलियतुमिखलं जोषमेशानतोऽहम् ॥

कहते हुए इस बात को यहीं समाप्त करते हैं।
यद्यपि यह टीका सं० १६७४ के आरम्भ में ही समाप्त हो गई थी, परन्तु कई विद्यान वाधाओं के कारण अब तक प्रकाशित न हो सकी। छपाई के लिये कई जगह बातचीत की, परन्तु कहीं ठीक ढंग न बैठा। अन्त्य में, विश्वास के कारण, मुरादाबाद के एक प्रसिद्ध प्रेस में छपाने का प्रबंध किया। सं० १६७४ कारण, मुरादाबाद के एक प्रसिद्ध प्रेस में छपाने का प्रबंध किया। सं० १६७४ आषाढ़ छ० ४ को छपाई के ४००) ह० इसलिये अगाऊ दे दिये कि निर्णयसागर अपाढ़ छ० ४ को छपाई के ४००) ह० इसलिये अगाऊ दे दिये कि निर्णयसागर से नया टाइप मँगाया जा सके। ३० रिम काग्रज़ भी जमा कर दिया। परन्तु सं० १६७० तक तीन वर्ष में केवल १७ फार्म छप सके। वे भी पुराने घिसे टाइप में बहुत बुरे। नये टाइप में और लोगों की पुस्तक छपती रहीं। १० फार्म छपने के बाद सबका सब काग्रज़ ही गायव हो गया। छपे फार्म इस लापरवाही से कहीं पड़े रहे कि सैकड़ों फ़ार्मों को दीमक ने चाटके चलनी बना दिया। परन्तु मेजते समय इतनी बुद्धिमानी की गई कि उन सबको इकड़ा नहीं रहने दिया। इस इस बीस बीस अञ्छे फ़ार्मों के बाद एक दो चिनए फार्म दवा दिया। यस इस वास बीस बीस अञ्छे फ़ार्मों के बाद एक दो चिनए फार्म दवा दिया। यस इसका पता तब चला जब द्वितीय खएड का शेष भाग नवलिकशोर गया। इसका पता तब चला जब द्वितीय खएड का शेष भाग नवलिकशोर प्रेस में छप चुका और जिल्द बांधने के लिये सब फार्म खोले गये।

यद्यपि इस तीन वर्ष के अन्तर में वहुत कुछ लिखा पढ़ी हुई, तीव पत्रव्य-वहार हुआ, पर किसी का कुछ फल न निकला। हम यही ग्रनीमत समभतें हैं कि उस प्रेस से छुपे फ़ार्म, बिना छुपा काग्रज़ और बाक़ी का रुपया, चाहे

किसी तरह सही, मिल तो गया।

एक तो इस भन्भर से चित्त इतना खिल हो चुका था कि पुस्तक छुपाने की इच्छा ही न रह गई थी। दूसरे काग्रज़ आदि की अति महर्घता के कारण हिम्मत नहीं पड़ती थी। परन्तु माननीय मित्रों के प्रवल अनुरोध से विवश होकर यह सब करना पड़ा। किन्हीं २ महानुभावों ने तो पुस्तक छुपाने के प्रोत्साहन में संसार की अनित्यता और शरीर की नश्वरता का भी उपदेश दें डाला था। वस्तुतः उन्हीं की सत्कामना का फल है, जो हम इस समय यह अन्थ पाठकों की भेंट कर सके। सुभिन्न के समय जो काग्रज़ दस पैसे पौंड मिलता था और दुर्भिन्न में छः आने मिलता था वही इस महातुर्भिन्न में ग्यारह बारह आने पौंड लेना पड़ा। छुपाई भी करीब २ तिगुनी देनी पड़ी। यह जो कुछ भी हुआ, पर पुस्तक निकल गई।

त्र्यं — यश्रदेत वस्तु किमपीह तथाऽनवद्यं द्योतेत तस्त्वयमुद्देष्यति चानुरागः। नोचेत्कृतं कृतकवाग्भिरतं प्रपञ्चे-निद्रो हचेनुमहिमा नहि किंकिणीभिः॥ दृति॥

ः ग्रालग्रामस्य

the court of the same



विद्या वाचस्पति, श्रीशालग्राम शास्त्री, साहित्याचार्य, विद्याभूषण, वैद्यमूषण, कविराज।
श्रीमृत्युद्धय श्रीषधालय,
ऐबट रोड, लखनऊ.

### श्रीमद्भिश्वनाथक्विराजप्रग्रीतः

# साहित्यदर्पगाः।

विमलाविभूषितः

---

प्रथमः परिच्छेदः।

प्रन्थारम्भे निर्विघ्नेन प्रारिप्सितपरिसमाप्तिकामो वाङ्मयाधिकृततया वाग्देवतायाः सांमुख्यमाधत्ते—

## विमला

वन्दे वृन्दावनत्राणं प्राणं गोगोपसुश्रुवाम् ।
इन्दिरानयनानन्दं गोविन्दं बुतिमन्दिरम् ॥ १ ॥
श्राशोणा कोणदेशाद्, विकसितकुमुदामोदिनी पार्श्वमागानीलेन्द्राह्मान्तकान्ता कलिकलुषहरा संसरन्ती च मध्यात् ।
व्योमस्थेव त्रिवेणी, त्रिगुणवशकरी देवतेव त्रिरूपा,
त्रीन् संस्कारान् धमन्ती जयति नयनयोः कापि कान्तिर्भवान्याः ॥ २ ॥

साहित्याद्देतसिद्धान्तनिष्कलङ्कसुधाकरम् । वन्दे वाराणसीमेष्ठं रसगङ्काधरं गुरुम् ॥ ३ ॥ ध्यायंध्यायं शिवं धाम दिव्यं साहित्यदर्पणे । यथामित कृता व्याख्या 'विमला'ऽर्थमकाशिनी ॥ ४ ॥ सुलभाः संस्कृतविदुषां सन्दर्भाः प्रायशोऽनेके । हिन्दीज्ञानां न तथा तस्माद् हिन्दीं समालम्बे ॥ ५ ॥ संस्कृतं मार्गमुत्सृज्य विद्वांसः केऽिप कोिपताः । यत्कृते सा ममेदानीं मातृभाषा प्रसीदतु ॥ ६ ॥

यद्यस्ति वस्तु किमपीह तथाऽनवद्यं, द्योतेत तत्स्वयुमुदेष्यति चानुरागः । नोचेत्, कृतं कृतकवाग्मिरलं प्रपश्चिर्निदोंहधेनुमहिमा नहि किङ्किग्रीभिः ॥ ७॥

श्रीविश्वनाथ कविराज श्रपनी बनाई साहित्यकारिकाश्रों की ज्याख्या करने के श्रीमिश्राय से मङ्गलाचरण के पद्य का प्रयोजन श्रीर श्रीचित्य बतलाने के लिये श्रवतरण देते हैं—अन्धारमी इति—जिसका श्रारम्भ करना चाँदते हैं जैस

# शरंदिन्दुसुन्द्ररुचिश्चेतसि सा मे गिरां देवी। अपहृत्य तमः सन्ततमर्थानिखलान्प्रकाशयतु॥ १॥

( 'प्रारिप्सित') 'ग्रन्थ का ग्रारम्म करने से पूर्व' ग्रन्थकार, निर्विच्नपूर्वक समाप्ति की इच्छा से, शास्त्रों में ग्रधिकृत होने के कारण, भगवती सरस्वती की ग्रारा-धना करते हैं। तात्पर्य यह है कि निर्विच्न समाप्ति के लिये विच्नध्वंसकारी मङ्गलाचरण प्रयोजनीय है श्रीर सब शास्त्रों की श्रधिष्ठात्री भगवती सरस्वती का श्राराधन ही शास्त्रारम्भ में उचित है।

यहां 'प्रन्थारम्भे' इस पद में ' आरम्भ ' शब्द लच्चा से आरम्भ के पूर्वकाल का बोधक है। मुख्य अर्थ के बाधित होने से प्रयोजनवती लच्चणा हुई है।
'प्रन्थ' शब्द का अर्थ है 'प्रतिपाद्य विषय का बोधक सन्दर्भ'-अर्थात् जिस विषय
का प्रतिपादन करना चाहते हैं उसका बोधन करनेवाले वाक्यों का समृह।
श्रीर 'श्रारम्भ' का अर्थ है पहला अवयव। परन्तु प्रकृत मङ्गलाचरण में केवल
इष्टदेवता की आराधना की गई है, प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में कुछ नहीं
कहा गया, इस कारण यह मङ्गल, प्रतिपाद्य विषय का पूर्वावयव नहीं होसकता,
श्रतः मुख्यार्थ के बाधित होने के कारण लच्चणा से 'आरम्भ' शब्द आरम्भ के
पूर्वकाल का बोधन करता है—इससे पूर्वोक्त अर्थ सिद्ध हुआ। मङ्गलाचरण
श्रीर प्रन्थारम्भ इन दोनों क्रियाओं के बीच में अव्यवधान का स्वन करना इस
लच्चणा का प्रयोजन है। लच्चणाओं का साङ्गोपाङ विवेचन दूसरे परिच्छेद में होगा।

मङ्गलाचरण से प्रतिबन्धक विष्नों का नाश होता है और विष्नों के नाश से निर्विष्न समाप्ति होती है—इस प्रकार मङ्गल, विष्नध्वंस का तो साज्ञात् कारण होता है और समाप्ति का परम्परा से (विष्नध्वंस के द्वारा) कारण होता है।

यद्यपि विश्वनाथ कविराज ने अपनी कारिकाओं की व्याख्या भी स्वयं ही लिखी है, अतः कारिकाकार और वृत्तिकार के एक होने के कारण अवतरण में उत्तम पुरुष के एक वचन (आदधे) का प्रयोग होना चाहिये, प्रथम पुरुष (आधते) का नहीं, क्योंकि यह प्रयोग अन्य के लिये ही बोला जा सकता है, अपने लिये नहीं, तथापि भेद का आरोप करके इस प्रकार का प्रयोग किया है। ऐसे वोलने की रीति संस्कृत तथा अन्य भाषाओं में प्रचलित है—जैसे 'जीवत्यही रावणः'—नागेशः कुरुते'—'पिखतेन्द्रो जगनाथशर्मा निर्माति'—'शुन्दर कहत'—'कह गिरिधर कविराय' हत्यादि। इस प्रकार के प्रयोग से कहीं तो निरिभमानता स्चित होती है, क्योंकि 'अहम्' पद से जो अहंकार का भास होता है वह प्रथम पुरुष के प्रयोग से नहीं होता—और कहीं कहीं प्रसिद्धि के अनुसार लोकोत्तर वीरभाव तथा अपूर्व पाणिडत्यादिक ध्वनित होते हैं—जैसे 'रावणः' और 'जगनाथशर्मा' से होते हैं।

शासिन्द्रसुन्दोति-१-शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान सुन्द्र कान्तिवाली 'वह' (शास्त्र, पुराणादि प्रसिद्ध ) भगवती सरस्वती अज्ञानरूप अन्धकार को दूर करके सब (वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य ) अर्थों को मेरे हृद्य में सद्। प्रकाशित करें। इस श्लोक का और भी दो प्रकार से अर्थ होता है। उसमें पदों का सम्बन्ध कुंब भिन्न करना प्रकृता है—जैसे 'गिर्म् का सम्बन्ध 'देवी' के साथ न करके 'तमः' के साथ किया जाय और ऐसा अन्वय हो—२—'शरिद्वुषुद्वेर्स्विः सा देवी, मे िर्ग सन्ततं तमः अपहत्य अखिलानशीन् (मे) चेतिस प्रकाशयतुं अर्थात् शारद् चन्द्र के तुल्य सुन्दर कान्तिवाली वह 'देवी' (प्रकाशकर्जी=सरस्वती) मेरी वाणी के तमोगुण=अभिलापन के असामर्थ्य अर्थात् जो भाव मन में है उसे वाणी के द्वारा प्रकट न कर सकने की दूर करके सब प्रकार के पूर्वोंक्र अर्थों को (मेरे) हृद्य में प्रकाशित करे।

ग्रन्थकार में अपने भागों को वाणी के द्वारा यथावत् प्रकाशित करने की शिक्त का होना अत्यन्त श्रावश्यक है। यदि उसकी वाणी में कोई भी त्रृटि है तो वह अपने हदय की अच्छी से अच्छी बात को भी श्रोताओं के चित्त में नहीं जमा सकता, इसिलये वाणी के तम=श्रमिलापनाऽसांमर्थ्य को दूर करने की इष्टदेव से प्रार्थना करना उचित ही है। इस अर्थ में यद्यपि 'गिराम्' का सम्बन्ध 'देवी' के साथ न होने के कारण 'वाग्देवी' यह अर्थ स्पष्टतया नहीं निकलता, तथापि 'ग्रदिन्दुसुन्द्रक्चिः' इस विशेषण के बल से और देवी शब्द के योगार्थ (ज्ञानप्रकाशकर्जी) से वह स्पष्ट हो जाता है, अतः कोई ज्ञति नहीं। अथवा 'गिराम्' पद की आवृत्ति करके उसका दोनों ओर सम्बन्ध हो सकता है। इसी प्रकार प्रत्यासित्तन्याय से अथवा आवृत्ति से 'मे' पद का सम्बन्ध 'गिराम्' और 'चेतिसि' इन दोनों के साथ होता है। एवं 'सन्ततं' का 'तमः' और 'प्रकाशयतु' इन दोनों के साथ सम्बन्ध हो सकता है।

रे—तींसरे पच्च में 'तमः अपहत्य' इन पदों का आर्थिक सम्बन्ध 'अर्थान्' के साथ होता है। इस पच्च में, ''वाच्यादि अर्थों का जो तम=अप्रकटकपता— जिसके कारण उन पदार्थों का स्वरूप यथावत् प्रकट नहीं होने पाता—उसे दूर करके भगवती सब पदार्थों को हृदय में प्रकाशित करे,'' ऐसा अर्थ होता है। इन तीनों अर्थों में 'तमः' के सम्बन्धभेद से ही अर्थभेद होता है। पहले अर्थ में 'तमः' का सम्बन्ध 'चेतिस' के साथ है— उसमें तम का अर्थ है— अज्ञान, क्यों कि चित्त में अज्ञान ही विकार पैदा करता है। दूसरे में उसका सम्बन्ध 'गिराम्' के साथ है और वाणी का तमोगुण्=अभितापनाऽसामर्थ्य विविच्चत है। तीसरे अर्थ में पदार्थगत तमोगुण्=अस्पष्टकपता के दूर करने का तात्पर्य है। ये तीनों अर्थ प्रनथकार को अभित्विच्चत हैं, क्योंकि प्रनथ बनाने के लिये हृदय का अज्ञान, मावों को प्रकट करने का असामर्थ्य और पदार्थों की अरमणीयता—ये तीनों दोष दूर करने आवश्यक हैं। इनमें से एक के रहने पर भी प्रनथ ठीक नहीं बन सकता। इसी कारण इस पद्य की पदरचना इस प्रकार की गई है जिससे ये तीनों अर्थ विना कष्टकल्पना के निकत सकें।

यद्यपि अन्धकार दूर करने में सूर्य भी प्रसिद्ध है, परन्तु वह सन्तापदाथक है और भगवती सरस्वती सदा शान्तिदायिनी है एवं उसका स्वरूप भी वन्द्रमा से मिलता है, अतः उसी की उपमा दी है। अन्य ऋतु के चन्द्रमा में उतनी ज्योति और शान्ति नहीं होती, अतः 'शरत्' शब्द का प्रह्य किया है। शरिदन्दु भी बाहर के ही अन्धकार को दूर कर सकता है—हृद्य और वागी के अन्धकार को दूर करने में उसका कुछ सामर्थ्य नहीं—इसी अभिप्राय के

स्चन करने के लिये 'सा' पद दिया गया है। 'सा' वह=पुराणादि प्रसिद्ध—
जिसके तिनक क्रपाकटान्न से ही अत्यन्त मृद पुरुषों का भी विद्वन्मुकुट होना
प्रसिद्ध है—वही सरस्वती देवी। इस अर्थ में व्यतिरेकालङ्कार व्यक्तय है,
क्यों कि हृदय के अन्धकार को दूर करनेवाली भगवती का प्रभाव, केवल
बाह्यान्धकार को दूर करनेवाले उपमानभूत चन्द्रमा से अधिक प्रतीत होता
है (आधिक्यपुपमेयस्योपमानाद...व्यतिरेकः) इस भाव को व्यक्त करने के लिये
'शरिवन्दुसन्दरक्वः' इस पद में यदि 'पञ्चमी' योग-विभाग से अथवा 'सुष्सुपा'
से पञ्चम्यन्त का समास 'कर लिया जाय (शरिवन्दोरिप सन्दरा क्वियेस्याः)—तो
व्यतिरेक स्पष्ट ही हो जायगा।

साहित्यद्रपंश के अतिप्रसिद्ध तथा प्राचीन और सर्वोत्तम संस्कृतटीकाकार श्रीरामचरण तर्कवागीशजी ने इस पद्य को दुर्गापरक भी लगाया है—यथा—देवी दुर्गा में गिरामधाँन् (प्रतिपित्सूनाम्) चेतिस प्रकाशयतु—कीदशी शरिदन्दुसुन्दररुचिः—शरिदन्दुसुन्दरे शिवे रुचिरिमलाषो यस्याः सा। एतत्पचे वाङ्मयाधिकृततयेति कर्तृविशेषणम् — वाङ्मयाधिकृतो प्रन्थ-कृदित्यर्थः। 'अवाग्देवतायाः' इति गोपनीयदेवतायाः। इष्टदेवताया गोपनीयत्वमागमे प्रसिद्धम्।

कदाचित् तर्कवागीशजी की गोपनीय देवता श्रीदुर्गाजी थीं--इसीलिये उन्होंने क्लिष्टकल्पना के द्वारा इस ग्रस्वारसिक ग्रर्थ को भी इस पद्य में से निकालने के लिये खींचातानी की है। उक्त अर्थ में कई दोष भी है। १—सबसे पहले तो 'वाङ्मयाधिकृततया' इसे कर्ता का विशेषण बनाने और 'वाग्देवता' का 'त्रवाग्देवता' पदच्छेद करने में शब्दों की स्वारसिंकता श्रौर रचना की स्वामाविकता इस क्लिष्टकल्पना से नष्ट होती है। २-दूसरे 'मे गिराम्' का 'त्रर्थान्' के साथ सम्बन्ध करने में दूरान्वय दोष होता है। ३ — तीसरे 'चेतिसि' के साथ सम्बन्धी पद् न रहने से वाक्य अधूरा रह जाता है और उसके लिये अप्रसक्त 'प्रतिपित्स्नाम्' का अध्याहार करना पड़ता है। ४—चौथे इस पद्य का सबसे प्रधान पद 'शरिद न्दुसुन्द ररुचिः' एकदम विफल हो जाता है। सरस्वती को शरिद न्दु की उपमा देने से उसका अन्ध कार के नाश करने और शान्ति देने में सामर्थ्य, बड़ी सुन्दरता से प्रकट होता है, किन्तु श्रीतर्कवागीशजी के कथना उसार यदि 'शरिद न्दु सुन्द्र' का अर्थ 'शिव' माने तो-या तो 'शरिदन्दुना सुन्दरः' यह तृतीया-तत्पुरुष माननी पड़ेगा-या 'शरिदन्दुरिव सुन्दरः' इस विग्रह में 'उपमानानि सामान्यवचनैः' इस सूष से उपमानसमास मानना पड़ेगा। इनमें से पहला इसिलये ठीक नहीं कि शिवजी के सिर पर जो चन्द्रमा है वह शरद् ऋतु का नहीं। वह तो सदा एकरस रहता है श्रीर सदा एकसा प्रकाश करता है। उसे किसी विशेष ऋषी का बताना ठीक नहीं। इस पत्त में 'शरत्' पद न केवल व्यर्थ ही है, प्रत्युत दोषाधायक भी है। प्रन्थकार का यदि यह अभिप्राय होता तो वे 'इन्दुसुन्द्र' इतना ही कहते 'शरत्' शब्द न रखते।

४-यदि दूसरा समास मानें तो 'शरिदन्दुसन्दरकिः' यह सबका सब विशेषि अजुपयुक्त हो जाता है। दुर्गा क्रा शङ्कर में अभिलाष सूचन करने से की विशेष उपयोग सिद्ध नहीं होता। यदि 'विधाकामः शिवंयजेत्' इत्यादि वचनीं के श्रवुसार प्रकृत में शिव का प्राधान्य स्वन करना श्रभीष्ट था तो नमस्कार भी उन्हीं को करना उचित था। प्राधान्य तो सूचित करें शिव का श्रीर प्रणाम करें दुर्गा को ! यह कहाँ का न्याय है !!

इसके अतिरिक्त यि यह भाव मान भी लिया जाय तो इसमें 'शरिद न्दु सुन्दर' पद की विशेषता कुछ नहीं सिद्ध होती। चाहें तृतीया समास कीजिये, चाहें उपमा समास मानिये, दोनों में (चन्द्रमा के कारण सुन्दर अथवा चन्द्रमा के सहश सुन्दर इन अथों में) चन्द्रमा का सम्वन्ध शिव के साथ है, दुर्गा से तो उसका कुछ सरोकार है ही नहीं। वह तो 'चन्द्र सुन्दर' शिव में अभिलाषमात्र करती हैं। फिर वह वेचारी अन्धकार के हरण करने में समर्थ कैसे होंगी? यि चन्द्रमा या चन्द्रमा से सुन्दर वस्तु में अभिलाषमात्र करते से यह सामर्थ्य हो जाता हो तो चकोरों में भी होना चाहिये! बहुत से काले-कलूटे, लँगड़े, लूले भक्तों में भी होना चाहिये। वास्तव में तर्कवागीशजी के इस उम्र तर्क के फेर में पड़कर इस 'शरिद न्दु सुन्दर' विशेषण की शोमा नष्ट हो गई।

इसके सिंवा श्रीतर्कवागीश्रजी इप्टदेवता को गोपनीय बताते हैं श्रीर श्रागम की साली भी देते हैं। ''इष्टदेवताया गोपनीयत्वमागमे प्रसिद्धम्''। परन्तु हमारी समभ में नहीं श्राता कि श्रापके इस प्रकार व्याख्यान करने पर भी वह गुप्त कैसे रह सकी। श्रापके इतने 'वाच्यापार' करने पर भी वह 'श्रवादेवता' कैसे बनी रही। यि श्रापका व्याख्यान ग्रन्थकार को भी श्रीममत है तो उन्होंने भी जिसके लिये कई पंक्षियों में व्याख्या सिंहत स्तुति लिखी है, वह 'श्रवादेवता' कैसे हो सकेगी? सरस्वती से हटाकर दुर्गापरक श्रर्थ लगाने के लिये श्रापने 'वादेवता' का 'श्रवादेवता' कर डाला था, परन्तु वही पद श्रापके विरुद्ध हो वैठा। सरस्वती का विरोध फल गया।

वस्तुतः साहित्यद्र्पणकार को यह विचित्र ग्रर्थं ग्रभीष्ट नहीं, ग्रन्यथा वह ऐसे पद-जिनसे उनके गोप्य इष्टदेव का ज्रा भी प्रकाशित होना संभव था— कभी न रखते। तर्कवागीशजी की तरह विष्णु ग्रादि की स्तुति कर लेते।

कई लोग (तर्कवागीशजीं भी) यहाँ 'सा' का अर्थ करते हैं 'एन विष्णुना सह वर्तमाना' 'अ' अर्थात् विष्णु के साथ रहनेवाली। हमारी सम्मित में यह भी ठीक नहीं, क्योंकि तत्शब्द (सर्वनाम) बुद्धिस्थ विषय का परामर्श करता है और सरस्वती देवी के अनेक महत्त्वों को व्यक्तित करके इस पद्य की शोभा को कई गुना बढ़ा देता है। वह वात इस अर्थ में खू तक नहीं गई और न विष्णु का साहचर्य प्रकृत में कुछ उपयुक्त है, अतः यह पद्य सरस्वती की आराधना में ही प्रयुक्त है। स्वभावतः इसके अत्तर उसी ओर प्रवृत्त हैं। अर्थान्तर करने में क्लेश और दोष हैं, अतः पूर्वोक्त ही इसके ठोक अर्थ जानना।

श्राजकल श्रनेक श्रनधिकारी और 'ज्ञानलवदुर्विद्ग्ध' लोग भी साहित्यशास्त्र में टाँग श्रड़ा कर उसे गन्दा करने लगे हैं। इन्हीं में से किसी का कहना है कि प्रकृत पद्य में श्रीतक वागीशजी ने 'श्लेष' के द्वारा दोनों श्रथों की सत्ता मानी है। जिज्ञासु जनों की सुविधा के लिये हम यहाँ 'श्लेष' के विषय को कुछ स्पष्ट कर देना चाहते हैं। 'श्लेष'--शब्द 'श्लिष' घातु से बना है, उसका अर्थ है चिपकना, चिपटना या मिलना। साहित्य में यह शब्द पारिभाषिक है, श्रीर जहाँ एक शब्द से दो श्रथवा श्रधिक श्रथों की प्रतीति होती है, वहाँ इसका प्रयोग होता है। एक शब्द में चिपके हुए-से अनेक अर्थ जहाँ एक ही शक्ति—श्रमिधा—के द्वारा बोधित हों, वहाँ श्लेष माना जाता है। दोनों त्राथों का बोध कराने में उस शब्द का सामर्थ्य होना चाहिए, वह शब्द उन अनेक अर्थों का वाचक होना चाहिए, अभिधा-शक्ति के द्वारा अनेक अर्थों को उपस्थित कराने का लामर्थ्य उस शब्द में होना चाहिए, तभी श्लेष होता है, अन्यथा नहीं। श्लेष में दो (या अधिक) अर्थ समान रूप से बोधित होते हैं। दोनों में शब्द की एक ही शक्ति ( आभधा ) काम करती है। दोनों में से किसी एक अर्थ का दर्जा ऊँचा या नीचा नहीं सम्भा जाता। दोनों अर्थ एक साथ-समान रूप से-कन्धे-से-कन्धा मिलाकर खड़े हुए दिखाई देते हैं। यह नहीं होता कि एक अर्थ तो सामने आकर खड़ा होता हो और दूसरा किसी खिड़की से भाँकता हो या उसकी केवल 'छाया' दीखती हो या सिर्फ्र 'मलक' दिखाई देती हो। जहाँ किसी कारणवश एक ही अर्थ प्रकरण के उप-युक्त सिद्ध हो जाय श्रीर दूसरे की सिर्फ़ छाया या भलक दिखाई पहें, श्रर्थात एक अर्थ अभिधा-वृत्ति के द्वारा उपस्थित होता हो और दूसरा व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा, वहां शब्दशक्ति-मुलक ध्वनि मानी जाती है, श्लेष नहीं। श्लेष वहीं होता है, जहाँ दोनों अर्थ साथ पैदा हुए भाइयों की तरह सामने त्रावें, बरावर के हिस्सेदारों की तरह उपस्थित हों। इलेष वहीं होता है जहाँ कहनेवाले का तात्पर्य दोनों अथौं को बोधित करने से हो, वक्ता अविकत कप से दोनों अर्थों को एक ही शब्द से, अभिधा-वृत्ति के द्वारा, उपस्थित कराना चाहता हो। श्लेष का यही चमत्कार है कि उसमें दोनों अर्थ एक शब्द से इस प्रकार चमकें, जैसे एक गुच्छे में जुड़े दो फल। इस श्लेष के प्रकरण में कहीं तो शब्द एक ही रूप से दोनों अर्थों का ज्ञान कराता है और कहीं उसके किसी श्रंश को थोड़ा तोड़ना-मरोड़ना पड़ता है। पहली दश को अभन्न ग्रौर दूसरी को समन्न कहते हैं। "राजा ग्रौर सूर्य कर के द्वारा जगत् को जीवन-दान करते हैं" यह शिलष्ट वाक्य है। इसमें 'कर' श्रीर 'जीवन' पदों में श्लेष है। 'कर' का अर्थ है किरण और टैक्स, एवं 'जीवन' शब्द का अर्थ है पानी और प्राण अथवा जीवनोपयोगी सामान । राजा टैक्त के द्वारा जगत् की प्राण-रत्ता करता है, श्रर्थात् लोगों को जीवन के उपयोगी विद्या, तथा पालन-पोषण त्रादि के सामान पहुँचाता है, श्रौर सूर्य किरणों के द्वार पृथ्वी के जल को खींचकर फिर उसे बादलों के रूप में पहुँचाता है, एवं उससे भरण-पोषण की सामग्री पैदा करता है। ''श्रच्छा ऋषि श्रीर हुरी राजा कुशासन से प्रेम करता है"—यह भी शिलष्ट वाक्य है। यहाँ 'कुशासन श्बेद में श्लेष है। अञ्छा ऋषि कुश के आसन (कुशासन) से प्रेम करती है, श्रौर बुरा राजा कुत्सित शासन (कु-शासन) से प्रेम करता है । य सभङ्ग श्लेष कहाता है। इसमें एक जगह 'कुश-त्रासन' ऐसा पदच्छेद कियी गया श्रौर दूसरी जगह 'कु-शासन' ऐसा माना गया। इस प्रकार के शब्दों का श्रर्थं करते समय लोग 'पच्च' शब्द से काम लेते हैं, जैसे उक्त वाक्य की टीका करते समय कोई लिख सकता है कि राजा के पच्च में 'कु-कुत्सित शासन' श्रर्थं है श्रौर ऋषि के पच्च में 'कुश का श्रासन'। संस्कृत में भी इसी प्रकार टीकाकार लोग लिखते हैं—''राजपचे कुत्सितं शासनम्, ऋषिपचे कुशस्य श्रासनम् इतिच्छेद:।"

इससे स्पष्ट है कि शिलप्ट पदों का अर्थ करते समय या तो 'और' शब्द से काम लिया जाता है या 'पक्ष' शब्द से। संस्कृत में 'च' और 'पक्षे' का प्रयोग होता है। क्यों ? इसलिये कि श्लेष में अनेक अर्थों का समुख्य होता है। दोनों अर्थ एकसाथ उपस्थित होते हैं। उन दोनों को साहचर्य-बोधन करने के लिये किसी ऐसे शब्द की आवश्यकता होती है, जो समुख्य का वोधक हो। ऐसे शब्द 'च' 'और' इत्यादिक हैं। 'पक्षे' कहने से भी वही बात सिद्ध होती है।

"सूर्य श्रौर सरस्वती जाड्य दूर करते हैं", इस वाक्य में जाड्य का श्रर्थ है शीत श्रौर श्रज्ञान। इसे यों भी कह सकते हैं कि सूर्य के पक्त में जाड्य का श्रर्थ है शीत श्रौर सरस्वती के पक्त में उसका श्रर्थ है श्रज्ञान।

"पीपर तर मित जाइए दुहुँकुल आतित लाज", यहाँ 'पीपर' का अर्थ है पीपल का वृत्त और 'पीपर' पराया प्रिय अर्थात् पर-पुरुष । कोई स्त्री यिद् पीपल के वृत्त के नीचे चली जाय, तो उसके दोनों कुलों में लाज आने का कोई कारण नहीं; अतः यहाँ संकेत-स्थल का पीपल और परपुरुष, दोनों ही शिलए हैं। इन दोनों का अभिधा-वृत्ति के द्वारा ही बोध होता है।

जहाँ श्रिभधा वृत्ति किसी कारण से एक ही अर्थ में रक जाय, श्रीर उसके रुकते पर भी दूसरा अर्थ मलकता रहे, वहाँ शब्द-शिक्त-मूलक ध्विन मानी जाती है। श्रिभधा के रक जाने पर भी जो दूसरी-श्रथं प्रतीत होता है, वह व्यक्षना वृत्ति के द्वारा उपस्थित होता है। इस प्रकार के अर्थ को ध्विनत, व्यक्षित, भासमान, प्रतीयमान या भलकता हुआ कहा जाता है। यह मुख्य अर्थ नहीं होता। मुख्य अर्थ वही होता है, जो श्रिभधा वृत्ति के द्वारा उपस्थित हो। मुख्य अर्थ वही होता है, जो श्रिभधा वृत्ति के द्वारा उपस्थित हो। मुख्य अर्थ को भलकता हुआ नहीं कहा जाता; क्योंकि वह पूरे रूप से सामने आता है। भलकता हुआ उसी को कहा जाता है, जिसकी ज़रा-सी छाया-मात्र दीख पड़े। जैसे—

'कवि सुन्दर कोप नहीं सपने।'

पतिप्राणा नायिका का वर्णन करते हुए उक्त वाक्य कहा है, अतः प्रकरणवश उसका सीधा अर्थ यही है कि स्वप्न में भी क्रोध न होना सती का चिह्न है। परन्तु वहाँ एक दूसरा अर्थ भी मलकता है। 'क्रोप' शब्द के पहले अत्तर को पूर्व शब्द के साथ और दूसरे अत्तर को अगले शब्द के साथ मिलाकर पढ़िए तो एक ऐसा अर्थ प्रतीत होगा, जो किव को हिगिज़ अभीष्ट नहीं। जैसे—

'कवि सुन्दर को पनहीं सपने'

कवि सुन्दर अपने लिये स्वप्न में पनहीं (जूती) पाने का वर्णन करने इस

पद्य में वैठे हैं, यह कोई नहीं मान सकता। उनके वर्शन का प्रकरण इस अर्थ को रोक देता है, अतः अभिधा वृत्ति के द्वारा इस अर्थ की उपस्थिति नहीं हो सकती, व्यक्षना के द्वारा होती है। इसी से यहाँ श्लेष भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यहाँ जो दूसरा अर्थ प्रतीत होता है, वह वक्ता को अभीष्ट नहीं। श्लेष वहीं होता है, जहाँ वक्ता दोनों अर्थों का समान रूप से—अभिधा वृत्ति के द्वारा—बोध कराना चाहता हो। जैसे—

''दुःख तम दूरि मए मित्र के उदय तें।''

'मित्र' का त्रर्थ है स्वि'त्रौर सखा। ये दोनों यहाँ वक्ता को अभीष्ट हैं। स्वैं के उदय से दुःखदायी तम (अन्धकार) दूर हुआ और सखा के उदय (उत्कर्ष) से दुःखरूप तम दूर हुआ। यह श्लेष है।

"रिलप्टै: पदेरनेकार्थामिधाने एलेव इप्यते ।"

अनेकार्थक पदों से जहाँ कई अर्थों का 'अभिधान' अभिधा-वृत्ति के द्वारा ( स्यक्षना के द्वारा नहीं ) बोध हो, वहाँ श्लेष होता है।

"शब्दैः स्वसावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थवाचनम् ।"

अनेक अथों के वाचन=अभिधान अर्थात् अभिधावृत्ति के द्वारा बोधन में श्लेष होता है। ये दोनों लक्षण साहित्यदर्पण के ही हैं। पहला शब्द-श्लेष का है, दूसरा अर्थ-श्लेष का। दूसरे लक्षण की व्याख्या में मूलप्रस्थकार ने लिखा है—''वाचनम् इति ध्वनेः (व्यवच्छेदः)' अर्थात् 'वाचनम्'=अभिधात से ध्वनि का व्यवच्छेद होता है। दोनों अर्थ अभिधा के द्वारा उपस्थित होने चाहिए, तभी श्लेष होता है। यदि दो में से एक ध्वनित हुआ—व्यञ्जना या ध्वनि के द्वारा उपस्थित हुआ—तो श्लेष नहीं होगा।

इन दोनों श्लेषों के उदाहरणों की टीका करते हुए श्रीतर्कवागीशजी ने सब जगह 'पन्ने' या 'च' शब्द कहकर व्याख्या की है। संस्कृत-साहित्य की श्रादि से श्रन्त तक देख जाइए, श्लेष के प्रकरण में समुख्य के बोधक इन्हें शब्दों के द्वारा की हुई व्याख्या मिलेगी। समुख्य ही श्लेष का प्राण है। जहाँ यह न होगा, वहाँ श्लेष भी न होगा। एक ही शब्द से जहाँ दो अर्थ समान कर से उपस्थित होंगे, वहाँ यह होगा, श्रन्यथा नहीं। सिर्फ़ दो अर्थ प्रतीत होने से ही श्लेष नहीं हो जाता। यदि दोनों अभिधा से बोधित नहीं है तो—"कि सुन्दर कोए नहीं सपने" इत्यादि मे—श्लेष न होगा।

दो अर्थ विकल्प और संशय में भी प्रतीत होते हैं, परन्तु वहाँ श्लेष नहीं होता। कहीं अधेरे-छजेले में सामने किसी वस्तु को देखकर आपके मन में सन्देह हुआ कि "यह खम्भा है या आदमी", तो इसे श्लेष का स्थल नहीं कह सकते। "भागनेवाला या तो देवदत्त है या यज्ञदत्त", "कमरे से अही चुरानेवाला या तो विष्णुमित्र है या शिवदत्त" इत्यादिक वाक्यों में भी ही वस्तुएँ उपस्थित होती हैं; लेकिन इसे श्लेष का स्थान नहीं कह सकते। यहाँ वक्ता का तात्पर्य दोनों वस्तुओं को उपस्थित करने में नहीं है। वह एक ही को बताना चाहता है; लेकिन वह यह निश्चय नहीं कर पाता कि उसकी अभीष्ट वस्तु इन दो में से कीन-सी है, इसीलिये वह दो वस्तुओं की

उल्लेख-मात्र करता है। यह संभव नहीं कि जिस वस्तु को आप सामने देखकर खम्मा और पुरुष का सन्देह कर रहे हैं, वह खम्मा भी हो जाय और पुरुष भी हो जाय। है तो वह कोई एक ही। लेकिन आप यह निश्चय नहीं कर पाते कि वह इन दोनों में से क्या है, इसीलिये दो शब्दों का निर्देश करते हैं। यदि आपको यह देख पड़े कि सामने खड़ी हुई उसी चीज़ के ऊपर कौआ आकर वैठ गया, तो आपको निश्चय हो जायगा कि यह पुरुष नहीं, खम्मा है। और यदि वहीं चीज़ हिलने-डुलने लगे, तो आप उसे पुरुष समम लेंगे। संशय और विकल्प में जो दो वस्तुएँ उपस्थित होती हैं वे उसी समय तक स्थिर रहती हैं, जब तक किसी के विरुद्ध कोई प्रमाण निमले। यदि एक के विरुद्ध कोई प्रमाण मिला, तो दो में से एक ही रह जाती है, दूसरी चल देती है। श्लेष में यह बात नहीं होती। वहाँ वक्ता का तात्पर्य ही दो वस्तुओं से होता है, अतएव आदि से अन्त तक दोनों वस्तुएँ स्थिर रहती हैं, कोई हटती नहीं।

यदि किसी ने कहा कि "स्थाणुर एः", तो अब आपको सन्देह होगा कि यहाँ कहनेवाले का तात्पर्य खम्भे से है या शिव से। 'स्थाणु' दोनों को कहते हैं। यदि आपको कोई ऐसा प्रमाण मिल गया, जिससे इन दोनों में से किसी एक का निश्चय हो सके, तब तो आप उसी का नाम लेंगे; परन्तु यदि कोई निर्णायक हेतु न मिला, तो आप इसकी न्याख्या करते हुए तिखेंगे, "शिव अथवा खम्भा"। यदि किसी ने कहा—''सैन्धव लाओ", तो अब सुननेवाला देखेगा कि कहनेवाला मोजन कर रहा है, तो वह नमक लाएगा, और यदि देखेगा कि वक्का जाने को तयार है, तो घोड़ा लाएगा।

आपको यदि यह न मालूम हो कि यह वाक्य किस प्रकरण का है, तो आप इसका अर्थ करेंगे—नमक अथवा घोड़ा। मतलब यह कि जहाँ श्लेष होता है, वहाँ समुचय होने के कारण व्याख्या में 'च' 'पद्ते' या 'और' शब्द लिखे जाते हैं; परन्तु विकल्प तथा संशय के स्थल में 'अथवा' 'यहा' 'किंवा' और 'या' आदि शब्दों से काम लिया जाता है।

सारांश यह कि १-- श्लेष तब तक नहीं होता, जब तक दोनों अर्थ मुख्य न हों। यदि एक अर्थ गौण और एक मुख्य होगा, तो श्लेष नहीं हो सकता। २-- श्लेष की व्याख्या में टीकाकार लोग 'च' 'पचें' आदि शब्दों से काम लेते हैं। २-- यदि कहीं 'यद्वा' 'किंवा' 'अथवा' आदि शब्द हों, तो उसे विकल्प या संशय समक्षना चाहिए, यह श्लेष का स्थल नहीं हो सकता। श्लेष केवल समुच्य में होता है, विकल्प और संशय में नहीं।

श्रीतक वागीशजी ने भी प्रकृतमङ्गलाचरण (शरिदन्दुसुन्दरक्षिः) का अर्थ सरस्वती-परक किया है। 'गिरां देवी' का अर्थ है वाणी की देवता, जो केवल सरस्वती काही बोधक है। यही बात''गिरां देवी इत्यनेन सरस्वत्या उपन्यासः" लिखकर सरस्वतीपरक अर्थ को बिलकुल समाप्त कर देने के बाद श्रीतक वागीशजी ने लिखा है— "अथवा देवी दुर्गा मम गिरामर्थान् व्युत्पित्स्नां हृदये प्रकाशयतु।" जिसने अलङ्कार-शास्त्र का कक हरा भी किसी सद्गुरु से पढ़ा है, वह केवल 'अथवा' शब्द को देखकर ही समभ लेगा कि यहाँ विकल्प किया जा रहा है। श्रीतक वागीशजी दुर्गापरक

## अस्य प्रनथस्य कान्याङ्गतया कान्यफलैरेव फलवत्त्वमिति कान्यफलान्याह— चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखाद्रल्पधियामपि ।

त्रर्थं को विकल्प के रूप में उपस्थित कर रहे हैं, समुच्य के रूप में नहीं। यदि उन्हें समुच्य अभीष्ट होता, तो 'च' शब्द का प्रयोग करते और 'सरस्वती दुर्गा च' ऐसा लिखते, या 'सरस्वतीपचों और 'दुर्गापचों कहकर 'सरस्वती दुर्गा च' ऐसा लिखते, या 'सरस्वतीपचों और 'दुर्गापचों कहकर साहित्य व्याख्या करते। 'अथवां शब्द कभी न लिखते। आप सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य को आदि से अन्त तक देंख जाइए, ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलेगा को आदि से अन्त तक देंख जाइए, ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलेगा जहाँ शिलष्ट अथों में से किसी एक का सम्पूर्ण वर्णन समाप्त कर देने के बाद 'अथवा' कहकर दूसरे अर्थ की व्याख्या आरम्भ की गई हो। यह बात संशय और विकल्प के स्थलों में ही होती है, समुच्चय में नहीं, और समुच्चय के विना कहीं 'श्लेष' हो ही नहीं सकता।

किसी एक अर्थ के साधक या दूसरे के बाधक प्रमाण मिल जाने पर संशय और विकल्प दूर हो जाते हैं। समुचय अन्त तक बना रहता है। प्रकृत पर में भी दुर्गापरक अर्थ के बाधक और सरस्वती पत्त के साधक प्रमाणों का निरूपण किया जा चुका है, अतः 'शरिद न्दु सुन्द रहिचः' इस पद्य में 'श्लेष' बताना अलङ्कारशास्त्र से अनिभन्न साहित्यक-मूर्लों का ही काम है।

''सिद्धार्थ सिद्धसम्बन्ध श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते। शास्त्राद्धों तेन वंसाव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः''— ''प्रयोजनमन्निक्श्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' इत्यादि वचनों से यह स्पष्ट सिद्ध है कि किसी कार्य में प्रवृत्ति के लिये उस कार्य का फल जानना आवश्यक है, निष्फल कार्य में कोई प्रवृत्त नहीं होता, अतः शास्त्र के आरम्भ में उस शास्त्र का फल अवश्य बताना चाहिये। इसी के अनुसार इस अन्ध का फल निर्देश करनेवाली कारिका का अवतरण करते हैं—अस्येति—यह अन्ध काव्यों का अङ्गभूत है अर्थात् काव्यों के फल को सिद्ध करने में यह भी एक कारण है, अतः काव्यों के अध्ययनादि सेजी फल होते हैं, इसके भी वेही प्रधान फल होते हैं, इस कारण काव्यों के फल कहते हैं।

साहित्यद्र्पण, रघुवंशादि काव्यों का श्रङ्ग श्रर्थात् श्रवयव तो हो ही नहीं सकता, श्रतः 'काव्याद्वतया' इस पद में 'श्रङ्ग' शब्द का श्रर्थ है 'श्रप्रधान कारण' कारण कार्य का होता है और कार्य साध्य होता है, किन्तु रघुवंशादि जिनकी इस ग्रन्थ में विवेचना होगी, सिद्ध हैं—साध्य नहीं, श्रतः लक्षण है यहाँ 'काव्य' शब्द का श्रर्थ है काव्यफल श्रर्थात् वह्यमाण चतुर्वगं। इस प्रकाय यहाँ 'काव्याङ्गतया' का श्रर्थ है 'काव्यों के फल को सिद्ध करने में श्रप्रधा कारण होने से'। जैसे प्रयाजादिक यञ्च के श्रङ्ग होते हैं वैसे ही यह ग्रन्थ का श्रङ्ग है। यद्यपि श्रलङ्कारों का ज्ञान, गुण-दोषों का परिचय श्रीर ध्वत्य कि को विवेचना भी इस ग्रन्थ के पढ़ने का फल श्रवश्य है, किन्तु वह गी है श्रीर 'फलवस्व' शब्द में प्रशंसार्थक मतुप् प्रत्यय है, इस कारण काव्यों प्रशस्त या प्रधान फल (चतुर्वर्ग) को ही इसका प्रधान फल कहते हैं।

नतुर्वर्गेत्यादि—श्रन्यबुद्धि वालों को भी सुख से—विना किसी विशेष परिश्र के—चतुर्वर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम श्रीर मोत्तरूप फल (चतुर्वर्ग एवं फल

#### काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥ २ ॥

की प्राप्ति काव्य के ही द्वारा हो सकती है, ग्रातः उसके स्वरूप ( लच्चण ) का

इस कारिका में यह बतलाया गया है कि चतुर्वर्ग, जो काव्याध्ययन का प्रयोजन है, वही इस प्रन्थ के पढ़ने का भी प्रयोजन है। जो चतुर्वर्ग के ग्रिमिन लाषी हैं वे ही इस प्रन्थ के पढ़ने के ग्रिधिकारी हैं। काव्यविवेचना इस प्रन्थ का प्रधान विषय और उसके साथ प्रन्थ का प्रतिपाद-प्रतिपाद कभाव सम्बन्ध है। इन्हीं चारों—प्रयोजन, ग्रिधिकारी, विषय और सम्बन्ध—को ग्रमुबन्ध-चतुष्ट्य भी कहते हैं।

श्रीरामचरण तर्कवागीशजी ने इस कारिका का अर्थ दूसरे प्रकार से किया है। वे 'यतः 'पद को हेत्वथक नहीं मानते, किन्तु इसे 'काव्यात् 'का विशेषण समस्ते हैं। यथा—''यत इति काव्यादित्यस्य विशेषणम्—एवत्र प्राचीनसम्मतं नीत्सकाव्यं चतुर्वगीसाधनत्वात्र निरूपणीयमिति फिलतम्" अर्थात् 'यतः 'यह पद 'काव्यात् 'का विशेषण है। इससे यह तात्पर्य निकला कि प्राचीन सम्मत नीरस काव्य का यहाँ निरूपण नहीं किया जायगा, क्योंकि वह चतुर्वर्ग का साधक नहीं हुआ करता। बस यही तर्कवागीशजी की उक्त पंक्तियों का आशय है। इनके मत में प्रकृतकारिका का यह अर्थ होगा कि "जिस काव्य से चतुर्वर्ग की प्राप्त अरूप चुद्धि पुरुषों को भी सुख से होती है उसके स्वरूप का निरूपण किया जाता है।"

१—हमारी सम्मित में यह अर्थ ठीक नहीं, और इससे जो तात्पर्य निकाला गया है वह तो अत्यन्त असंगत है। वह तात्पर्य विश्वनाथ कविराज का कभी हो ही नहीं सकता, क्योंकि इन्होंने रसात्मक वाक्य को ही काव्य माना है। यह नीरस को काव्य ही नहीं मानते। किन्तु तर्कवागीशजी के इस कथन के अनुसार कि "जिस काव्य (सरस) से चतुर्वर्ग की प्राप्त होती है उसी का निरूपण किया जायगा" यह भाव निकलता है कि सरस और नीरस दोनों ही काव्य तो हैं, किन्तु नीरस काव्य चतुर्वर्ग का साधक नहीं होता। यह साव विश्वनाथ जैसे अव्यक्तार का कभी नहीं हो सकता जो नीरस को काव्य ही नहीं मानते।

े २—दूसरे सरस काव्य से ही चतुर्वर्ग की प्राप्ति होती है,नीरस चाहे चमत्कार-पूर्ण हो तो भी उससे नहीं होती, यह कहना भी कठिन है। तपोवनं-वर्णन और गङ्गा-प्रपात-वर्णनादिक साचात् तथा परम्परासे धर्मादि के साधन होते ही हैं।

३—तीसरे 'यतः' को यदि 'काव्यात्' का विशेषण माना जायगा तो उस के आगे पढ़ा हुआ 'पव' शब्द अनिवत और व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि 'यतः' और 'पव' दोनों ही व्यवच्छेदक हैं और दो भिन्न प्रकारों से विशेषता दिख-लाते हैं। 'यतः' पद तो काव्यत्वसामान्य की व्यावृत्ति करके काव्यविशेष (सरसकाव्यमात्र) का बोधन करता है और 'पव' शब्द वेद, शास्त्रादि की व्यावृत्ति करके काव्यत्वसामान्य का बोधन करता है। इन दोनों भिन्न प्रकार के व्यवच्छेदक पदों का एक साथ एक ही व्यवच्छेद्य 'काव्य' के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकेगा, अतः उस दशा में १नमें से किसी एक का अनिवत और व्यर्थ हो जाना अनिवार्य है।

४-यदि 'यतः' के साथ 'काव्यात्' का सम्वन्ध करेंगे तो यह अर्थ होगा कि "जिस काव्य से चतुर्वर्ग की प्राप्ति होती है उसका निरूपण करेंगे" इससे यह तात्पर्य निकलेगा कि काव्य तो अन्य भी हैं, परनतु उनका निरूपण नहीं करेंगे, क्योंकि वे चतुर्वर्ग के साधक नहीं होते। श्रीर यदि 'एव' के साथ 'काव्यात्' का सम्बन्ध करें तो यह अर्थ होगा कि 'अनायास से चतुर्वर्ग की प्राप्ति काव्य से ही हो सकती है—इस कारण उसका निरूपण करेंगे। इस पन्न में 'काव्य से ही' इस कथन से यह भाव निकलता है कि चतुर्वर्ग के साधन तो अन्य वेद शास्त्रादि भी हैं, किन्तु अनायास से और अल्प बुद्धिवालों को उनसे सिद्धि प्राप्त नहीं होती। वह काव्य से ही होती है, अतः हम उसका लच्च करेंगे। अगला मूल प्रन्थ इस अन्तिम तात्पर्य के ही अनुकूल है। उसमें वेदशास्त्रों की ब्यावृक्ति स्रौर काब्यों में प्रवृक्ति का साधन किया गया है।-यथा ' चतुर्वर्गप्राप्ति हैं वेदशाक्षेम्यो नीरसतया दुःखादेव परिणतवुद्धीनामेव च जायते । परमा-नन्दसन्दोहजनकतया सुखादेव सुकुमारबुद्धीनामपि पुनः कान्यादेव।" इससे स्पष्ट है कि प्रनथकार को 'काव्यात' के साथ 'एव' का सम्बन्ध करना ग्रत्यन्त ग्रभीष्ट है। यदि तर्कवागीशजी के कथनानुसार 'यतः' का सम्बन्ध होता तो जहां वेद-शास्त्रादि की व्यावृत्ति प्रन्थकार ने दिखाई है वहां नीरस काव्य की व्यावृत्ति दिखानी चाहिये थी। वेदशास्त्रादि की व्यावृत्ति तो अनावश्यक अनुपयुक्त श्रौर श्रनुचित थो। क्योंकि जब सब काव्यों का भी निरूपण प्रसक्क नहीं है, उनमें से भी बहुत से छूट गये हैं, केवल वे ही (सरस) लिये गये हैं जो चतुर्वर्ग के साधक हैं तो वेदादि में ऋतिव्याप्ति की कोई सम्भावना ही नहीं थी। फिर उनकी चर्चा ही क्या ! इससे सिद्ध है कि ग्रन्थकार को 'काव्यात्' के साथ 'एव' का ही सम्बन्ध अभीष्ट है 'यतः' का नहीं।

४—यदि तर्कवागीशजी के कथनानुसार 'यस्मात्काव्यात् चतुर्वर्गफ्लप्राप्तिस्तस्य स्वरूपं निरूप्यते' पेसा वाक्यार्थ माना जाय तो हेतुगत प्रधानता—जिस पर सारा ज़ोर है—नष्ट हो जायगी। "यत्रचतुर्वर्गफ्लप्राप्तिः सुखात् काव्यादेव तेन हेतुना तस्य स्वरूपं निरूपते' इस वाक्य में जिस प्रकार यत् श्रीर तत् शब्द प्रधानता से कारण का निर्देश करते हैं, उस प्रकार पूर्व वाक्य में नहीं करते। वहां तो कारणहा उपसर्जनीभूत है श्रीर स्वरूपनिरूपण विधेय प्रवं प्रधान है। श्रातप्त्व इस मत में पूर्व प्रन्थ (इस कारिका के श्रवतरण) से भी विरोध होगा। श्रवतरण में 'काव्यफ्लान्याह' कहा है। इससे स्पष्ट है कि काव्यों का फल बतलाना इस कारिका का प्रधान लक्ष्य है। सो तभी हो सकता है जब चतुर्वर्गरूप फल की कारणता का निर्देश प्रधानता से किया जाय। परन्तु तर्कवागीशजी के श्रर्थ से तो कारण की प्रधानता का उपमद् श्रीर स्वरूप निरूपण की प्रधानता का विधान होता है। इस प्रकार तर्कवागीशजी का श्रर्थ मानने में पूर्व ग्रन्थ का भी विरोध है। स्मृलग्रन्थ में इस कारिका की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "तेन हेतुना

तस्य कान्यस्य स्वरूपं निरूपते'' इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थकार को तत् शब्द से हेर्र का परामर्श करना श्रभीष्ट है। श्रतपत्र उसके पूर्व यत् शब्द (यतः) से भी हेर्र का ही परामर्श होना चाहिये-श्रन्य (काव्य) का नहीं। क्योंकि "यतदोर्नित्यःसम्बन्धः" चतुर्वर्गेफलमाप्तिर्धि काञ्यतो रामादिवत्मवर्तितञ्यं न रावणादिवदित्यादिकृत्या-कृत्यमवृत्तिनिवृत्त्युपदेशद्वारेण सुमतीतैव ।

उहां च--

'धर्मार्थकाममोत्तेषु वैचत्त्र्यं कलासु च।

यह सिद्धान्त है। यत् श्रौर तत् परस्पर साकांक्षरहते हैं। यदि 'यतः' से हेतु का परामर्श न किया तो 'तेन' साकांच रहेगा श्रौर वाक्य पूर्ण न होगा। जब तृतीयान्त यत् शब्द से 'इतराभ्योऽपि दश्यन्ते' इस सूत्र से सार्विवमक्तिक तसि प्रत्यय करके 'यतः' को हेत्वर्थक मानते हैं तो उसका सीधा सम्बन्ध हेत्वर्थक 'तेन' के साथ हो जाता है श्रौर 'तत्स्वक्पं' का तत् शब्द प्रधान श्रथवा पूर्व निर्दिष्ट काव्य का निर्वाध परामर्श करता है, श्रतः इस मतं में कोई चृति नहीं। ७—यदि 'यतः' को 'काव्यात्' के साथ लगायें तो 'तत्स्वक्पं' में तत् शब्द

का समास नहीं होना चाहिये।

प्याप्त प्राप्ति से अन्वयं करने में 'तेन' पद् व्यर्थ भी है, क्योंिक 'यस्मात्काव्या-चतुर्वर्गफ्त प्राप्तिस्तत्स्वरूपं निरूप्यते' इस अर्थ में 'तेन' का कहीं सम्बन्ध नहीं हो सकता। यत्पद्घटित वाक्य में हेतुता को प्रधानतया चर्चा कहीं है ही नहीं, अतः 'तेन' पद असम्बद्ध ही रह जायगा।

इनके अतिरिक्ष इस अर्थ में अन्य भी अनेक दोष हैं जिन्हें हम अन्धविस्तर के भय से नहीं लिखते।

काव्य से चतुर्वर्ग प्राप्ति का उपपादन करते हैं — चतुर्वर्गप्राप्ति हीति — काव्य से चतुर्वर्ग की प्राप्ति, रामादिकों की मांति पिता की आज्ञा के पालनादि धर्मकायों में प्रवृत्त होना चाहिये और रावणादिकों की मांति पराई स्त्री के हरण करने आदि अधर्मकायों में नहीं प्रवृत्त होना चाहिये इत्यादि रीति से कृत्य अर्थात् अनुष्ठेय (शास्त्रविहित) कमों में प्रवृत्ति अकृत्य अर्थात् अनाचरणीय (शास्त्रविषद्ध) कमों से निवृत्ति के उपदेश के द्वारा सुप्रसिद्ध ही है।

ताल्यं यह है कि रामायणादिक काव्यों के पढ़ने से श्रीरामचन्द्रादि का श्रम्युद्य श्रीर रावणादि का सर्वनाश देखकर यह उपदेश मिलता है कि धर्म पर श्राह्म रहने से श्रवश्य श्रम्युद्य होता है श्रीर जंगल के पश्च पत्नी तक मनुष्य की सहायता करते हैं पवं श्रधम करने के लिये कमर कसने से सगा भाई भी छोड़ देता है श्रीर श्रन्त को सर्वनाश हो जाता है। इस उपदेश से, धर्मकार्य ही कर्तव्य है ऐसा ज्ञान होगा—उससे धर्म कार्यों में प्रवृत्ति होगी। इस श्रवृत्ति से धर्म (श्रुम श्रव्ह ) धर्म से श्र्य पवं श्र्य से काम सुख की प्राप्ति होगी। श्रीर यदि इस धर्म फल की इच्छा का परित्याग करदें तो मोल की भी प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि श्रम कर्मों के फल-त्याग श्रीर श्रश्न कर्मों के श्रनावरण से ही मोल की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार कान्य से धर्म, अर्थ, काम और मोच की प्राप्ति स्फुट सिद्ध होती है। इसी बात का प्राचीनोक्ति द्वारा समर्थन करते हैं - धर्मेति-इस पद्य में धर्मादि पद लच्चणा से अपने साधनों को बोधित करते हैं। इससे यह अर्थ

### करोति कीर्ति पीति च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥' इति ।

होता है कि अच्छे काव्यों के निषेवण अर्थात् अध्ययनादि से धर्म, अर्थ, काम और मोज्ञ के साधनों तथा नृत्यगीतादि कलाओं में वैचक्त य प्राप्त होता है,

संसार में कीर्ति होती है श्रीर हृदय में प्रसन्नता होती है।

कुमारिलभट्ट के मतानुसार धर्मशब्द का मुख्य अर्थ यज्ञादि किया है और उससे उत्पन्न हुए 'अपूर्व' (अदृष्ट) में इस पद की निरूढा लक्त्या है। अन्य लोगों के मत से आत्मा श्रथवा अन्तः करण में रहनेवाला शुभकर्म से जन्य संस्कारविशेष इस पद का मुख्य अर्थ है और उसके साधनभूत यज्ञादिकों में लच्या है। वैचच्यय का अर्थ है कुशलता अर्थात् असाधारण व्यापारवत्ता। जो मनुष्य जिस कार्य के करने में श्रौरों से विलत्त्वण व्यापार रखता है उसी को इस काम में विचक्तण या कुशल कहते हैं। इससे वैचक्एय का अर्थ व्यापार विशेष हुआ। 'धर्मार्थकाममोत्रेषु' इस पद में विषय सप्तमी है। अतः यदि यहां यथाश्रुत पदों का अर्थ करें तो यह होगा कि कान्य के सेवन से धर्मादि के विषय में विशिष्ट व्यापार प्राप्त होता है। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि धर्मादिक फल हैं और फलकभी व्यापार के विषय नहीं होते। बड़ा बनानेवाला कुम्हार अपने हाथ आदि का व्यापार चक्र चीवर द्राड आदि साधनों पर ही करता है। घटकप फल के ऊपर कुछ नहीं करता। क्यों कि व्यापार करने के समय घड़ा होता ही नहीं। श्रीर जब घड़ा बन चुकता है तब कोई व्यापार करना शेष नहीं रहता जो घड़े को विषय करे। जिस घटकप फल के लिये कुम्हार सारे व्यापार करता है वह उन सब व्यापारों के समाप्त होने पर ही तैयार होता है, अतः अपनी उत्पत्ति से पहले होनेवाले व्यापारों का वह कैसे विषय ही सकता है ? इसी श्रमिपाय से व्यासभाष्य की टीका में श्रीवाचस्पति मिश्र ने लिखा है कि "साधनगोचरो हि कर्तुर्व्यापारो न फलगोचरः"। इससे स्पष्ट है कि धर्माद-कप फल किसी व्यापार के विषय नहीं हो सकते, अतः धर्मशब्द में निरुहा अथवा धर्मादिक चारों में प्रयोजनवती लक्षणा है। अन्य की अपेका काव्य से उत्पन्न धर्मसाधनों की कुशलता में वैलच्चएय बोधन करना व्यङ्गध प्रयोजन है।

कोई लोग वैचन्एय का अर्थ विशिष्टशान करते हैं। किसी के मत में इस शब्द का अर्थ विलन्ए प्रवचनसामर्थ्य भी है। यह अर्थ व्याकरणा जुसारी है। न्यास कार ने विचन्एण प्रवच में चिन्ह धातु से कर्ता में ल्युट् प्रत्यय माना है। इस मत में लन्एा के विना भी काम चल सकता है। इससे इस एव का यह अर्थ हुआ कि अच्छे काव्यों के अध्ययनादि से धर्म, अर्थ, काम और मोन्न के साधनी में विशेष कुशलता अर्थात् उनके अनुष्ठान में विशिष्ट व्यापार अथवा विशिष्ट का विशेष व्याख्यान का सामर्थ प्राप्त होता है एवं कीर्ति और प्रीति होती है।

पहले कहा गया है कि रामायणादि सत्काव्यों से सत्कार्यों में कर्तव्यता ज्ञान श्रीर श्रसत्कार्यों में हेयताज्ञान होता है। उससे सत्कार्यों में प्रवृत्ति श्रीर प्रवृत्ति से धर्म होता है। इसप्रकार काव्य, कर्तव्यता ज्ञानद्वारा केवल धर्मकार्यों में प्रवृत्ति का कारण हुआ, धर्म का नहीं। धर्म के प्रति वह श्रन्यथासिद्ध ही किंच कान्याद्धर्मपाप्तिर्भगवन्नारायण्चरणारिवन्दस्तवादिना, 'एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति' इत्यादिवेदवाक्येभ्यश्च सुप्रसिद्धैव । अर्थ-प्राप्तिश्च प्रत्यत्तसिद्धा । कामपाप्तिश्चार्थद्वारैव । मोत्तप्राप्तिश्चेतञ्जन्यधर्मफलाननु-सन्धानात् । मोत्तोपयोगिवाक्ये न्युत्पत्त्याधायकत्वाच । चतुर्वर्गपाप्तिर्द्धि वेदशास्त्रेभ्यो

रहा। धमं का कारण प्रवृत्ति हुई श्रौर प्रवृत्ति का कारण काव्य। कारण का कारण श्रन्थथासि कहाता है। जैसे घट के प्रति कुम्हार का पिता। श्रतप्र काव्यों में प्रवोंक चतुर्वर्ग की कारणता न बनी। इस श्रमिप्राय से दूसरे प्रकार उपपादन करने के लिये उपक्रम करते हैं—किश्रेति—काव्य से धमं की प्राप्ति सगवान्नारायण के चरणारिवन्द की स्तुति के द्वारा सुप्रसिद्ध ही है। इस प्रकार काव्य धमं के प्रति साचात् कारण हो गया। 'प्रकः' शब्द इत्यादि वेदवाक्यों से भी काव्य के द्वारा धर्म की प्राप्ति सुप्रसिद्ध है। इस वाक्य में 'शब्दः' के प्रक वचन से भी एकत्वरूप शर्थ की प्रतिति हो सकती थी फिर भी 'प्रकः' कहने से 'प्रकोऽपि' यह शर्थ लित होता है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि प्रक भी शब्द यदि सुप्रयुक्त हो अर्थात् रस का व्यक्षक बना के सुन्दर रीति से निवेशित किया गया हो अथवा सम्यक् रीति से ज्ञात हो शर्थात् काव्यातु-शिलन के समय भावना के द्वारा यथावत् रसका व्यक्षक सममा गया हो तो वह इस लोक में श्रौर परलोक में कामधेनु (मनोरथ पूर्ण करनेवाला) होता है। इससे स्पष्ट है कि काव्यों की रचना श्रौर उनका श्रनुशीलन दोनों ही धर्मोत्पादक हैं, कामधुक् हैं श्रौर वेदानुमोदित हैं।

काव्यों से उनके बनानेवालों को धन की प्राप्ति होती है यह बात तो प्रत्यत्त्व सिद्ध है। राजादिकों से कवियों का धनागम देखा ही जाता है। कामसुख की प्राप्ति धन के द्वारा प्रत्यत्त है। काव्य से उत्पन्न धर्म के फल का परित्याग करने से मोत्त की प्राप्ति भी काव्य के द्वारा हो सकती है। प्रथवा मोद्ध के उपयोगी उपनिषदादि वाक्यों में व्युत्पत्ति पैदा करने के कारण काव्य को मोत्त का हेतु जानना। काव्य के ज्ञान से मोक्षोपयोगी वाक्यों के समभने में सहायता मिलेगी, श्रतः परम्परा से मोत्त के प्रति काव्य की कारणता जानना।

इससे यह सिद्ध हुआ कि चतुर्वर्ग में किसी के प्रति तो काव्य साज्ञात् कारण् होता है और किसी के प्रति परम्परा से। धर्म और अर्थ के प्रति प्रायः इसकी साज्ञात् कारणता होती है और काम तथा मोज्ञ के प्रति अधिकांश यह परम्परा से कारण होता है।

चतुर्वगेरियादि कारिका में 'एव' शब्द का व्यावर्त्य दिखाते हैं—चतुर्वगेति— नीरस होने के कारण वेद, शास्त्रादि से चतुर्वगं की प्राप्ति दुःस्व से हो होती है और वह भी परिपक्तबुद्धि पुरुषों को ही होती है, सबको नहीं। किन्तु परम् श्रानन्द समूह (रसास्वाद) का उत्पादक होने के कारण सुकुमार बुद्धि राज-कुमारादिकों को भी सुखपूर्वक उसकी प्राप्ति यदि किसी से हो सकती है तो वह काव्य से ही। तात्पर्य यह है कि एव शब्द से वेद-शास्त्रादि की व्यावृत्ति नीरसतया दुःखादेव परिणातबुद्धीनामेव जायते । परमानन्दसंदोहजनकतया सुखादेव सुकुमारबुद्धीनामपि पुनः काव्यादेव ।

ननु तर्हि परिण्यतबुद्धिभिः सत्सु वेदशास्त्रेषु किमिति काव्ये यतः करणीय इत्यिष न वक्तव्यम् । कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य सितशर्करोपशमनीयत्वे कस्य वा रोगिणः सितशर्करापवृत्तिः साधीयसी न स्यात् ।

किंच । काव्यस्योपादेयव्यमग्निपुरागोऽप्युक्तम्-

'नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा ।

कवित्वं दुर्लभं तत्र शिक्तस्तत्र सुदुर्लभा ॥' इति ।

'त्रिवर्गसाधनं नाट्यम्' इति च । विष्णुपुराग्णेऽपि—

'काव्यालापारच ये केचिद्गीतकान्यखिलानि च ।

शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः ॥' इति ।

तेन हेतुना तस्य काव्यस्य स्वरूपं निरूप्यते । एतेनाभिधेयं च पदर्शितम्।

करना श्रमीष्ट है, क्योंकि उनसे सुखपूर्वक धर्मादि की प्राप्ति नहीं होती श्री सुकुमार बुद्धिवालों को तो किसी प्रकार होती ही नहीं।

प्रश्न-नतु तहीं ति— अच्छा तो फिर परिपक्ष बुद्धि पुरुष वेद शास्त्रादिकों के प्रश्न-नतु तहीं ति— अच्छा तो फिर परिपक्ष बुद्धि पुरुष वेद शास्त्रादिकों के रहते हुए काव्यों में क्यों परिश्रम करें ? वे सुकुमारमित या मन्दमित तो हैं नहीं जो काव्यों में लगें ? उत्तर—यह ठीक नहीं, क्यों कि कड़वी कसैली श्रोषध है शान्त होने योग्य कोई रोग यदि मीठी २ सुन्दर सफ़ेद खांड से दूर होने ला जाय तो ऐसा कौन श्रमागा रोगी होगा जो खांड खाना पसन्द न करे। इसिंग जाय तो ऐसा कौन श्रमागा रोगी होगा जो खांड खाना पसन्द न करे। इसिंग

यह कोई बात नहीं कि परिपक्षबुद्धि पुरुष काव्य नहीं पढ़ेंगे।

इस प्रकार काव्यों की सर्वोपयोगिता को युक्ति के द्वारा सिद्ध करके अ उसे प्रमाणों से पुष्ट करते हैं—किन्नेति—इसके अतिरिक्त काव्यों की उपारेगत (प्राह्यता) विष्णुपुराण में भी लिखी है—नर्त्वमिति—पहले तो संसार में मड़्ब जन्म (नरत्व) मिलना ही कठिन है, फिर विद्या होना और भी दुर्लभ हैं इस पर भी कवित्व प्राप्त करना अति दुर्लभ और उसमें शक्ति प्राप्त कर्ता अर्थात् कविता करने की स्वभावसिद्ध शक्ति पाना परम दुर्लभ है। त्रिवगेति नाट्य अर्थात् दश्य काव्य त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) के साधक होते हैं। वि वचन भी अग्निपुराण का हो है। विष्णुपुराण में भी लिखा है —कान्येति—से काव्य और सम्पूर्ण गीत,शब्द क्रपधारी मगवान विष्णु के अंश हैं। चतुर्वगेति—से कारिका के पदों की व्याख्या करते हैं—तेनेति—इस कारण चतुर्वर्ग का साध होने से काव्य का स्वक्रप कहेंगे। एतेनेति—इस कारिका से अभिधेय अर्था विषय और 'च 'शब्द से सम्बन्ध तथा प्रयोजन भी दिखाये गये हैं। अमुबन्धचतुष्ट्य पहले कहें जा चुके हैं। तित्कस्वरूपं तावत्काव्यमित्यपेचायां कश्चिदाह—'तददोषौ शव्दार्थौ सगुणावनलं-कृतीपुनः कापि' इति। एतचिन्त्यम्। तथाहि—यदि दोषरहितस्यैव काव्यत्वं तदा— 'न्यकारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः

सोऽप्यत्रैव निहन्ति राव्यसकुलं जीवत्यहो रावणः। धिग्धिक्छक्रजितं प्रवोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा

तिकिमिति—अच्छा तो फिर काव्य का क्या लच्या है ? इस आकांचा में कोई (काव्यप्रकाशकार) क्रहता है— तददोषाविति —दोषरिहत, गुणसहित और अलंकारों से विभूषित शब्द तथा अर्थ को काव्य कहते हैं, किन्तु यदि कहीं आलंकार रुफुट न हो तो भी कोई हानि नहीं। एतिदिति—यह चिन्तनीय (दूष-णीय) है। तथाहीति—दोष दिखाते हैं। यदीति—यदि दोषरिहत को ही काव्य मानोगे तो 'न्यकार' इत्यादि पद्य काव्य नहीं उहरेंगे।

न्यकार इति—यह रावण की गर्व भरी क्रोधोक्ति है। जब श्रीरामचन्द्रजी लङ्का में राज्ञ सो का ध्वंस कर रहे थे उस समय अपने वीरों को मर्त्सन करने के लिये श्रीर सञ्जुकी तुच्छता श्रादि स्चित करने के लिये यह पद्य कहा गया है। श्रर्थ-पहले तो शत्रुश्रों का होना ही मेरा तिरस्कार है। जिसने इन्द्रादि देवों को भी क्रेंद कर रक्खा है, यमराज भी जिससे कांपते हैं, उसके शत्रु हों और वे जीते रहें"! कितना आश्वर्य और अनौचित्य है! यह भाव में पद से व्यक्षित होता है। 'श्रस्मद्' शब्दसे वक्ता के पूर्वकृत लोकोत्तर चरित (इन्द्रविजयादि) श्रौर सम्बन्धवाचक पष्टी विमिक्त से शत्रुश्रों के साथ श्रपने सम्बन्ध का श्रनौ-चित्य द्योतित होता है और इससे रावण के हृद्य का कोध प्रतीत होता है। 'अरयः' का बहुवचन उसी सम्बन्धानौचित्य की अधिकता का स्चक है। एक नहीं, दो नहीं, हज़ारों लाखों चुद्रजन्तु मेरे शत्रु हैं—यह अत्यन्त अनुचित है। तत्रापीति—उस पर भी यह 'तापस' (तपस्वी नहीं) मेरा शत्रु है-यह ऋौर भी अनुचित है। 'तत्रापि' इस निपातसमुदाय से असम्मवनीयता और तापस श्बद के मत्वर्थीय अण् प्रत्यय से पुरुषार्थं का अभाव सुचित होता है। पुरुषार्थ-हीन, चीण-देह 'तापस', लोकरावण रावण का शत्रु हो यह कैसी असम्भव बात इस समय प्रत्यच हो रही है। 'श्रमों' कहने से विशेष हीन दशा द्योतित होती है—यथाः—जिसे घर से पिता ने निकाल दिया, जो वनवन में भटकता फिरता है, जिसके पेट को रोटी है न तन को कपड़ा, स्त्री के वियोग में दिन-रात रोता रहता है, और तपस्याओं से चीए है 'वह' ('असी') मेरा शत्र है— यह और भी अनुचित बात है। सोपीति—वह भी यहीं है। (यदि दूर कहीं छिपा रहता तो भी ख़ैर थी )। निहन्तीति केवल है ही नहीं -राज्ञसों के कुल का ( एक दो का नहीं ) संहार कर रहा है !! जीवतीति—ग्राश्चर्य तो यह है कि रावण जी रहा है। 'रावयतीति रावणः' देवाऽसुरादि समस्त त्रेलोक्य को रुलाने-वाले, राज्ञसराज 'रावण' के जीते जी यह बात ! विग्विगिति—इन्द्रजित्=मेघनाद को धिकार हैं और जगाये हुए कुम्मकर्ण से भी क्या बना ? जिनसे यह जाद

## स्वर्गप्रामटिकाविलुएठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः॥'

अस्य रलोकस्य विधेयाविमर्शदोषदुष्टतया काव्यत्वं न स्यात् । प्रत्युत ध्वनित्वेनोः

शत्रु मीन मारा गया। 'शक् जितवान्' इस अर्थ में भूतकालिक किए प्रत्यय से मेघनाद के इन्द्रविजय में अनास्था सूचित होती है। स्वगैति—और स्वगैक्ष तुच्छ ग्राम को लूट लेने भर से व्यर्थ फूले हुए इन मेरे बाहुओं से भी क्या फल? जिन्होंने इस प्रकार के अपराधी चुद्र शत्रु की अब तक उपेचा की। यहां 'एभिः' इस पद से यह भाव ध्वनित होता है कि जो अज लोकातिशायी महिमा से युक्त हैं, जिनका कुछ २ बल-वीर्य शङ्कर और कैलाल ही जानते हैं उनका स्वगैक्ष तुच्छ ग्राम की लूट से कृत-कृत्य और प्रसन्न हो वैठना ठीक नहीं। इसी माव का पोषक, अनादरस्चक 'उच्छून' (सूजे हुए) शब्द है। इस पद्य के अधिकांश से अनौचित्य और कहीं कहीं से असम्भवनीयता तथा अमर्षादिक ध्वनित होते हैं। इन सबसे रावण के हृद्य का गर्वसचिव कोधक स्थापी माव व्यक्षित होता है—"ग्रुवन्धवधादिपरमापराधजन्मा प्रस्वताख्यः कोधः", किन्तु विमाव, अजुमाव आदि सामग्री के अभाव से रौद्र रक्ष पर्यन्त पुष्ट नहीं होता।

श्रीतर्कवागीशजी ने इस पद्य में से दैन्य, निर्वेद श्रीर श्रनीजस्य की ध्वनि निकाली है!!! ''जीवत्यहो रावणः —हत्यादिना व्यव्यमानेन स्वानीजस्यरूपदेन्येनानुभावेन संबंकि स्वावमाननं निर्वेदारूपमावरूपोऽसंत्रस्यक्रमव्यक्षयो ध्वनिः।'' हमारी सम्मति में यह ठीक नहीं। जो रावण शब्द — 'रावयित रोदयित जनानिति रावणः'—इस योगार्थ सूचनके द्वारा श्रपनी शत्रुसंहारकता के सूचित करने को कहा गया है, जो गर्व का प्राण है ''रूपवियादित्रयुक्तात्मोत्कर्षज्ञानाधीनपरावहेत्वनं गर्वः''—उसी से श्राप 'दीनता' की ध्वि निकालते हैं। श्रीर तो श्रीर, श्राप इस पद्य में 'निर्वेद' का स्वयन देख रहे हैं। जो निर्वेद शान्तरस का स्थायी भाव है, वह यहां कैसे हो सकता है ? जो रावण शत्रुश्चों की सत्ता को भी श्रपनी शान के खिलाफ़ समक्षता है, जो कुम्मक्ष श्रीर मेघनाद जैसे महावीरों के संहारकारी शत्रु को भी 'क्षुद्र तापस' की हिए से देखता है, समस्त देवताश्रों का पराभव करके की हुई स्वर्ग की स्वच्छन्द खुट भी जिसकी हिए में एक तुच्छु गामड़े की लूट से श्रधिक प्रतिश नहीं रखती, उसी गरवीले महावीर की कड़क भरी उक्तियों में से 'दीनता' की दुर्गन्ध निकालना कहां तक उचित है ? रात्तसराज रावण के हृद्य में मुनिजनी वित शान्त रस के स्थायी भाव 'निर्वेद' का स्वयन देखना कहां तक ठीक है।

श्रस्येति—इस पद्य में विधेयाविमर्श दोष है, श्रतः यदि निर्दोष को ही कार्य मानोगे तो यह काव्य न ठहरेगा। विधेय का प्रधानक्षप से निर्देश न कर्त पर विधेयाविमर्श दोष होता है। इस श्लोक के चौथे चरण में वृथात्व विधेष है। उसके वाचक 'वृथा' शब्द को समास के भीतर डाल देने से वृथात्व उपसर्जनता (श्रप्रधानता) प्रतीत होने लगी है। यह पद्गत विधेयाविम्य है। एवं प्रथम चरण में उद्देश्य श्रौर विधेय के वाचक दो पदों की रचना विपरीत हो जाने से वाक्यगत विधेयाविमर्श है। पहले उद्देश्य कहकर पी विधेय कहना चाहिये। यहां 'श्रयम्' उद्देश्य श्रौर 'न्यकारः' विधेय है। इस विधेय कहना चाहिये। यहां 'श्रयम्' उद्देश्य श्रौर 'न्यकारः' विधेय है। इस विधेय कहना चाहिये। यहां 'श्रयम्' उद्देश्य श्रौर 'न्यकारः' विधेय है। इस विधेय कहना चाहिये। यहां 'श्रयम्' उद्देश्य श्रौर 'न्यकारः' विधेय है। इस विधेय कहना चाहिये। यहां 'श्रयम्' उद्देश्य श्रौर 'न्यकारः' विधेय है। इस विधेय कहना चाहिये। यहां 'श्रयम्' उद्देश्य श्रौर 'न्यकारः' विधेय है। इस विधेय है। इस विधेय कहना चाहिये। यहां 'श्रयम्' उद्देश्य श्रौर 'न्यकारः' विधेय है। इस विधेय है। इस विधेय कहना चाहिये। यहां 'श्रयम् उद्देश्य श्रौर 'न्यकारः' विधेय है। इस विधेय है। इस विधेय है। इस विधेय है। इस विधेय के वाचक दो पर्दो की स्वाप्य कि विधेय है। इस विधेय के वाचक दो पर्दो की स्वाप्य कि विधेय है। इस विधेय के वाचक दो पर्दो की स्वाप्य के वाचक दो पर्दो की स्वाप्य कि विधेय है। इस विधेय कि विधेय है। इस विधेय के वाचक दो पर्दो की स्वाप्य के वाचक दो पर्य के वाचक दो प्राप्य के वाचक दो प्य के वाचक दो प्राप्य के वाचक दो प्राप्य के वाचक दो प्राप्य के वाच

त्तमकाव्यतास्याङ्गीकृता । तस्मादव्याप्तिर्लेष्वण्यदोषः । ननु करिचदेवांशोऽत्र दुष्टो न पुनः सर्व एवेति चेत्ति यत्रांशे दोषः सोऽकाव्यत्वप्रयोजकः, यत्र ध्वनिः स उत्तम-काव्यत्वप्रयोजक इत्यंशाभ्यामुभयत ब्याकृष्यमाण्णिदं काव्यमकाव्यं वा किमिप न स्यात्। न च कंचिदेवांशं काव्यस्य दूषयन्तः श्रुतिदुष्टादयो दोषाः, कि तिर्हं, सर्वमेव काव्यम्। तथाहि —काव्यात्मभूतस्य रसस्यानपकर्षकत्वे तेषां दोषत्वमिप नाङ्गीक्रियते। ब्रान्यया नित्यदोषानित्यदोषत्वव्यवस्थापि न स्यात् । यदुक्तं ध्वनिकृता—

इसी क्रम से रखना चाहिये था-क्योंकि ''श्रतुवाद्यमतुक्तवैव न विधेयग्रदीरयेत्। नहालव्धास्पदं किञ्चित् कुत्रचित् प्रतितिष्ठति'' यह नियम है।

प्रत्युतेति—'तद्दोषों' इत्यादि पूर्वोक्त लक्षण के अनुसार तो यह सदोष पद्य काव्य कहा नहीं जा सकता, किन्तु इसके विपरीत उन्होंने ध्वनि होने के कारण इसे उत्तम काव्य माना है, अतः अव्याप्तिनामक लक्षणदोष हुआ। जो लक्षण अपने अभीए उदाहरणों में भी न जा सके उसमें अव्याप्तिनामक दोष आता है। यहां भी उक्क लक्षण इस काव्य के उदाहरण में नहीं जाता। वस्तुतः यहां विधेयाविमर्श दोष नहीं है। इसका विस्तृत विवरण 'परिशिष्ट' में देखिये।

प्रवृत—निविति—इस पद्य में जहां विश्वेयाविमर्श होष है-वही दूषित है, सब तो नहीं ? फिर जिस श्रंश में दोष है वह श्रकाव्यत्व का प्रयोजक रहे—किन्तु जिसमें ध्वित है, वह तो उत्तम काव्यत्व का प्रयोजक होगा ? उत्तर—इस प्रकार इन दो विरुद्ध श्रंशों से इधर उधर खींचा गया यह पद्य न तो काव्य ही रहेगा न श्रकाव्य ही। इस खींचातानी में ही नष्ट होकर उभयतो भ्रष्ट होगा।

यदि कोई 'श्रदोषों' का यह श्रर्थ करे कि 'श्रांशिक दोष के सिवा कोई बड़ा व्यापक दोष जिसमें न हो वह काव्य होता है' तो उक्त पद्य इस श्रांशिक दोष के रहने पर भी काव्य श्रवश्य कहलायेगा। इस मत का खएडन करते हैं— नचेति—इसके श्रतिदिक्त श्रुतिदुष्टत्व, विधेयाविमर्शत्वादिक दोष काव्य के किसी एक श्रंश को ही दूषित करते हों, सो बात भी नहीं है। तो फिर क्या है ? समपूर्ण काव्य को दूषित करते हें, यह सिद्धान्त है। इसी बात को दोषों की रसदूषकता के द्वारा सिद्ध करते हैं—तथाहांति—काव्यों का श्रात्मस्थाना-पन्न जो रस उसमें यदि श्रपकर्ष (हीनता) न पैदा करें तो श्रुतिदुष्टत्वादिकों को दोष नहीं माना जाता। तात्पर्य यह है कि दोषों का सामान्य लच्च है ' रसापकर्षका दोषाः '' श्रर्थात् जो रस के श्रपकर्षक हैं वे ही दोष हैं—श्रोर रस काव्य का श्रात्मभूत है, श्रतप्व शरीर में श्रात्मा की तरह सम्पूर्ण काव्य में व्याप्त रहता है। किसी एक श्रंश में नहीं रहता। इसिलये जो दोष, यावत् काव्य में व्यापक रस को ही दूषित करते हैं वे किसी एक श्रंश के ही दूषक माने जायँ, यह नहीं हो सकता। वे सम्पूर्ण काव्य के ही दूषक माने जाते हैं।

'श्रुतिदुष्टादयो दोषा त्र्यनित्या ये च दर्शिताः । ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः ॥' इति ।

श्रीनत्य दोषों की व्यवस्था नहीं हो सकेगी। जब यह मानते हैं कि जो रस का श्रपकर्ष करे वही दोष, तब तो कोमल रसों में कठोर वणों की रचना के दोषाधायक होने के कारण, शृङ्गारादिक कोमल रसों में श्रुतिक टुत्व दोष माना जाता है। किन्तु वीरादिक दीप्त रसों में वैसी रचना उलटा गुण है, श्रतः वहाँ वह दोष नहीं होता, क्योंकि उन रसों का श्रपकर्ष नहीं करता। इस प्रकार श्रुतिक टुत्वादिक श्रीनत्य दोष सिद्ध होते हैं। श्रीर जो दोष सब रसों को दूषित करते हैं—जैसे 'च्युत-संस्कारत्व' प्रशृति—वे नित्य दोष माने जाते हैं। यदि रसों से दोषों का सम्बन्ध न माना जाय तो नित्य दोष

श्रीर अनित्य दोषों की व्यवस्था नहीं हो सकती।

इस बात को प्रमाण से पुष्ट करते हैं—यदुक्तमिति—जैसा ध्वनिकार ने का है—श्रुतीति—इस कारिका में 'चं 'शब्द भिन्नकम है। उसका सम्बन्ध 'ये' पद के साथ नहीं, किन्तु ' श्रुनित्याः ' के साथ हे। ' दोषा श्रुनित्याक्ष' ऐसा सम्बन्ध है। यहाँ दोषत्व श्रीर श्रुनित्यत्व दोनों विधेय हैं, श्रुतः ऐसा श्रु है कि जिन श्रुतिदुष्टत्वादिकों को दोष कहा है श्रीर श्रुनित्य बतलाया है वे 'ध्वनि ' श्रुथीत् उत्तम काव्य के श्रात्मभूत श्रुथीत् प्रधान व्यक्ष्य शृक्षार में त्याज्य हैं। सर्वत्र शृक्षार में भी नहीं। यहाँ शृक्षार शब्द कोमल रसों इ उपलच्चण है, श्रुतः शान्त तथा करुणादि रसों में भी इन्हें हेय जानना शृक्षार यदि केवल वाच्य हो श्रुथवा किसी का श्रुक्त हो यद्वा शृक्षारातिष्ठ कोई दीप्त रस व्यक्ष्य हो तो श्रुतिदुष्टत्वादि को दोष नहीं माना जाता। उसी दशा में दोष होते हैं जब शृक्षार ध्वनि (उत्तम काव्य) का श्रात्म ( प्रधान व्यक्ष्य) हो। यही यहाँ 'पव' शब्द का व्यावत्य है। यही बात ध्वि कार श्रीमदानन्दवर्धनाचार्य ने श्रुपनी इस कारिका की व्याख्या में कही है। 'श्रीनत्याः दोषाक्ष्य ये श्रुतिदुष्टत्वादयः सूचितास्तेऽपिन वाच्यार्थमाने नच व्यक्षये श्रुतार श्रुनार श्रीत्याः दोषाक्ष्य ये श्रुतिदुष्टत्वादयः सूचितास्तेऽपिन वाच्यार्थमाने नच व्यक्षये श्रुनार श्रीत्यां किणी वा ध्वनेरनात्ममावे। कि तिहैं, ध्वन्यात्मन्येव श्रुनारेऽक्तित्या व्यक्षये।''

श्रीतर्कवागीशजी ने इस कारिका की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "वि व्यव्जकः शब्दो व्यव्यमानो वार्धं श्रातमा शरीरं यस्य तिसन् शृङ्गारे एवं 'इति। यह अर्ध पूर्वी आवार्य प्रन्थ से विरुद्ध है, क्योंकि तर्कवागीशजी ने 'ध्वन्यात्मिन' में बहुत्री समास माना है और इस कारिका के वनानेवाले ने स्वयम् षष्ठी समा लिखा है, अतः यहाँ बहुत्रीहि मानने में एक तो आचार्यग्रन्थ का विरोध ही है, दूसरे बाध्यभूत बहिरङ्ग समास का आश्रयण करने में व्यर्थ का गीर्य तीसरे 'आत्मा,' पद का लाज्ञिक अर्थ शरीरपरक करने में क्लेश होगा

इसके अतिरिक्त ' एव ' पद कारिका में 'ध्वन्यात्मिन ' के साथ ही पह और पूर्वाचार्यों ने इसे इसी के साथ लगाया भी है, एवम् युक्तिसंगत भी ब है। तर्कवागीशजी के अनुसार यदि 'एव' को 'शक्तोर ' के साथ लगायें किंचैवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्, सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसंभवात्। नन्वीषद्रथें नञः प्रयोग इति चेत्तर्हि 'ईषद्दोषौ शब्दार्थों काव्यम् 'इत्युक्ते निद्रोषयोः काव्यत्वं न स्यात् । सित संभवे 'ईषद्दोषौं' इति चेत्, एतदिष काव्य-लच्च एतनादिलच्च ऐ कीटानुवेधादिपरिहारवत् । निह कीटानुवेधादयो रत्नस्य रत्नत्वं व्याहन्तुमौशाः, कित्पादेयतारतम्यमेव कर्तुम्, तद्ददत्र श्रुतिदुष्टा-दयोऽपि काव्यस्य । उक्तं च—

यह अर्थ होगा कि ''शृङ्गार में ही श्रुतिदुष्टत्वादिक हेय हैं''—इससे करण, शान्तादि रसों से इनकी व्यावृत्ति नहीं होगी—परन्तु यह अत्यावश्यक है। अतएव अभिनवगुप्तपादाचार्य ने इसकी व्याख्या में लिखा है कि ''शृङ्गार इस्युचितरसोपलक्षणर्थम्—वीरशान्ताद्भुतादावि तेषां वर्जनात्।'' 'शृङ्गारे एव ' कहने से तो अभिधा ही इस लच्चणा को रोक देगी, फिर उपलच्चण हो ही न सकेगा। जैसे यदि कोई कहे कि 'गङ्गायामेव घोषः' तो वहाँ लच्चणा से तटक्षप अर्थ का भान नहीं होता। तर्कवागीशजी ने यहाँ व्यव्यमान अर्थ को भी शरीर माना है—परन्तु व्यव्यमान अर्थ तो उपस्कार्य और प्रधान होता है। रसादिक भी व्यव्यमान अर्थ ही हैं। क्या वे भी काव्य के शरीर हैं? फिर आत्मा कौन होगा ? इसके अतिरिक्त बहुवीहि समास के इस दोषपूर्ण द्रविडप्राणायाम से भी अर्थ वही निकला जो सीधे-साद षष्टीतत्पुरुष समास से निकलता है, अतः श्रीतर्कवागीशजी का उक्त अर्थ अप्रामाणिक और असंगत है।

यदि कोई कहे कि सदोष वाक्यों को ध्वनि के रहने पर भी हम काव्य नहीं मानते तो उसके प्रति पचान्तर उठाते हैं —िक बैविमिति — सदोष को काव्य नहीं मानने से या तो काव्य के लक्तण का विषय (उदाहरण) अत्यन्त विरल हो जायगा या श्रसम्मव ही हो जायगा, क्योंकि किसी वाक्य का सर्वथा निर्दोष होना एकदम असम्भव है। प्रश्न-निर्वति-यदि सर्वथा निर्दोष वास्य दुर्लभ है तो 'श्रदोषों ' पद में ' नञ् ' को ईषदर्थक मानेंगे। उत्तर यदि ऐसा करोगे तो 'ईषद्दोषौ शब्दार्थौं काव्यम् 'यह लच्चण होगा। इसका ऋर्य है कि थोड़े दोष से युक्त शब्द श्रीर श्रर्थ को काव्य कहते हैं। इसके श्रनुसार काव्यों में थोड़ा दोष रहना भी आवश्यक होगा और यदि किसी अति निपुण किव के निद्रींष, शब्द और अर्थ हुए तो वे काव्य नहीं कहलायेंगे। सतीति—यदि इस लच्या में 'सित सम्भवें इतना और निवेश करके यह अर्थ करो कि दोषों की सम्भावना होने परं थोड़े दोषवाले शब्द और अर्थ काव्य होते हैं—अधिक दोषयुक्त नहीं, सो यह भी ठीक नहीं - क्योंकि काव्य के तत्त्वण में न तो इस विशेषण (आदोषी) की कोई आवश्यकता है और न इस निवेश की। जैसे रत के लक्तण में कीटा-उवेध का परिहार नहीं किया जाता वैसेही काव्य के लज्ज् में दोष का परि-हार अनावश्यक है। जैसे कीड़ा लग जाने से किसी रत्न का रत्नत्व नहीं दूर हो जाता—केवल उसकी उपादेयता में तारतम्य हो जाता है, इसी प्रकार

'कीटानुविद्धरत्नादिसाधारएयेन काव्यता । दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः ॥' इति ।

किंच शब्दार्थयोः सगुणात्विशेषणामनुपपनम्। गुणानां रसैकधर्मत्वस्य 'ये रस-स्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः' इत्यादिना तेनैव प्रतिपादितत्वात्। रसामि-व्यञ्जकत्वेनोपचारत उपपद्यत् इति चेत्, तथाप्ययुक्तम्। तथाहि—तयोः काव्यस्वह्यो-णाभिमतयोः शब्दार्थयो रसोऽस्ति, न वा। नास्ति चेत्, गुणावत्त्वमपि नास्ति। गुणानां तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्। श्रस्ति चेत्, कथं नोक्तं रसवन्ताविति विशेषणाम्। गुणावत्त्वान्यथानुपपत्यैतद्धम्यत इति चेत्, तर्हि सरसावित्येव वक्तं युक्तम्, न सगुणाविति। निह प्राणामन्तो देशा इति वक्तव्ये शौर्यादिमन्तो देशा श्रति वक्तव्ये स्वात् से स्वात्य से काव्यत्व को नहीं हटा सकति—केवल उसके अत्वर्थते में कुञ्च न्यूनता कर सकते हैं। इस बात में प्रमाण देते हैं—उक्लंचिति—कहीति—जहां रसादि का भान स्फुट होता हो वहां कीटानुविद्ध रहादि के समान दोष रहने पर भी काव्यत्य माना जाता है। श्रतः उक्क काव्यतक्षण में श्रव्याप्ति दोष श्रवश्य है।

दूसरा दोष देते हैं किबेति—'शब्दार्थों' इसका 'सगुणा' यह विशेषण मी युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि गुण केवल रस में ही रहते हैं, शब्द और अर्थ में नहीं। यह बात अष्टम उल्लास में गुणों का वर्णन करते हुए उन्हीं काव्यप्रकाश कार ने स्वयं कही है—''ये रसस्याद्विनो धर्माः शोर्योदय इवात्मनः। उत्कर्षहेतवस्ते स्युर्वक स्थितयो गुणाः" अर्थात् जैसे आत्मा का गुण शूरता आदि है इसी प्रकार माधुर्यादि गुण काव्य के आत्मभूत रस के ही धर्म हैं और अचल हैं। इससे स्पर

है कि गुण रसों में ही रहते हैं शब्द या अर्थ में नहीं।

रसाभिन्यक्षकेति—यदि यह कही कि शन्द श्रीर श्रर्थ रस के न्यक्षक होते हैं श्रतः उपचार (परम्परा सम्बन्ध ) से इनमें भी गुण रह सकते हैं। 'स्वाश्रय रसाभिन्यक्षकत्व' सम्बन्ध से शन्द, श्रर्थ भी सगुण हो सकते हैं। 'सं करके गुण —उनका श्राश्रय रस—उसके श्रिमन्यक्षक शन्द श्रीर श्री होते हैं। इसका खएडन करते हैं—तथाप्ययुक्तमिति—यों भी ठीक नहीं। तथेति यह तो बतलाश्रो, तुम जिन शन्दों श्रीर श्रयों को कान्य समभते हो, उनी रस रहता है या नहीं ? यदि नहीं, तो गुण भी नहीं रह सकते, क्योंकि गुले तो रस के अन्वय-व्यतिरेक का श्रनुगमन करते हैं। रस हो तो वे भी होते श्रीर यदि रस न हो तो वे भी नहीं रहते। 'यसचे यसच्वित्यन्तयः'—'यदमी यदमाव इति न्यतिरेकः'। एक के होने पर दूसरे का होना 'श्रन्वय' श्रीर एक के होने पर दूसरे का होना 'श्रन्वय' श्रीर एक के होने पर दूसरे का होना 'श्रन्वय' श्रीर एक के होने पर दूसरे का न होना 'व्यतिरेक' कहाता है। यदि कहो कि उनमें रि हो तो फिर 'रसवन्ती' यही विशेषण क्यों न दिया श्रयदि कहो कि गुण कि रस के रह ही नहीं सकते, श्रतः सगुण कहने से ही सरस होना श्रर्थवर्ध सिद्ध होजायगा, तो इस दशा में भी 'सरसी' यही विशेषण देना चारि 'सगुणी' नहीं। क्योंकि 'प्राणिमान देश हैं' इस वाक्य की जगह 'शौर्यवर्ध सगुणी' नहीं। क्योंकि 'प्राणिमान देश हैं' इस वाक्य की जगह 'शौर्यवर्ध सगुणी' नहीं। क्योंकि 'प्राणिमान देश हैं' इस वाक्य की जगह 'शौर्यवर्ध सगुणी' नहीं। क्योंकि 'प्राणिमान देश हैं' इस वाक्य की जगह 'शौर्यवर्ध सगुणी' नहीं। क्योंकि 'प्राणिमान देश हैं' इस वाक्य की जगह 'शौर्यवर्ध सगुणी' नहीं। क्योंकि 'प्राणिमान देश हैं' इस वाक्य की जगह 'शौर्यवर्ध सगुणी' नहीं।

इति केनाप्युच्यते । ननु 'शब्दार्थों सगुणां' इत्यनेन गुणाभिन्यञ्जकौ शब्दार्थों कान्ये प्रयोज्यावित्यभिपाय इति चेत् : न । गुणाभिन्यञ्जकशब्दार्थवत्त्वस्य कान्ये उत्कर्षमात्रा-धायकत्वम् , न तु स्वरूपाधायकत्वम् । उक्तं हि—कान्यस्य शब्दार्थों शरीरम् , रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत् , दोषाः काणत्वादिवत् , रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत् , अलंकाराः कटककुण्डलादिवत् , इति । एतेन 'अनलंकृती पुनः कापि' इति यदुक्तम् , तदि परास्तम् । अस्यार्थः — सर्वत्र सालंकारौ कचित्त्वस्फुटालंकाराविष शब्दार्थों कान्यमिति । तत्र सालंकारशब्दार्थयोरिप कान्ये उत्कर्षमात्राधायकत्वात् । एतेन 'वक्रोक्तिः कान्यजीवितम्' इति वक्रोक्तिजीवितकारोक्तमिप परास्तम् । वक्रोक्तेरलंकारस्यवात् । यत्तु कचिदस्फुटालंकारत्वे उदाद्दतम्—

'यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रच्रपा-

स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः पौढाः कदम्बानिलाः।

देश हैं यह वाक्य कोई नहीं वोलता। यद्यपि शौर्य विना प्राणी के नहीं हो सकता, तथापि विना प्रयोजन किसी सीधी बात को चक्कर में डालना कोई पसन्द नहीं करता। श्रतः यहां 'सरसौं यही कहना ठीक है।

निविति - यदि कही कि 'सगुणी शब्दार्थी' इसका यह श्रमित्राय है कि गुणी के अभिव्यक्षक शब्दों और अर्थों का काव्य में प्रयोग करना चाहिये, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि गुणों के अभिन्यक्षक शब्द और अर्थ कान्य में केवल उत्कर्ष पैदा करते हैं - वे स्वरूप के आधायक नहीं होते। उक्षं हीति-इसीलिये कहा है—काव्यस्येति—शब्द श्रीर श्रर्थ काव्य के शरीर हैं श्रीर रसादिक श्रातमा है। माधुर्यादि गुण शौर्यादि की भांति, श्रुतिकदुत्वादि दोष काण्यत्वादि की तरह, वैद्भी आदि रीतियां अङ्गरचना के सहश और उपमादिक अलंकार कटक, कुएडलादि के तुल्य होते हैं। इसमें काव्य को पुरुष के समान माना है श्रीर पुरुषों में जैसे शरीर, श्रात्मा गुण, दोष श्रलंकारादिक होते हैं इसी प्रकार काव्य में भी बताये हैं। रस, गुण दोषादिकों का स्वरूप आगे कहेंगे। एतेनेति— इस काव्यपुरुष के रूपक से पूर्वलक्षण में कहा हुआ 'अनलंकती पुनः कापि' यह अंश भी खिएडत हो गया। खएडन प्रकार दिखाते हैं — अस्यार्थ इति — इस उक्त अंश का यही ऋर्थ है कि सब स्थानों पर ऋलंकारयुक्त शब्द ऋर्थ होने चाहियें, किन्तु यदि कहीं अलंकार स्फुट न हो तो भी वहां काव्यत्व होता है। परन्तु उक्त रूपक में अलंकारों को कटक, कुएडल के तुल्य कहने से यह स्पष्ट है कि वे उत्कर्ष करनेवाले ही होते हैं, स्वरूप के घटक नहीं होते। एतेनेति— इसीसे 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' यद्द वक्रोक्तिजीवितकार का कथन भी खिएडतः हो गया, क्योंकि वृक्रोक्ति तो एक अलंकार है-और अलंकार, स्वक्ष के अन्तर्गत नदीं होते। वे केवल उत्कर्ष पैदा करते हैं।

यतु—श्रस्पुटालं कार का जो निम्नलिखित उदाहरण काव्यप्रकाशकार ने दिया है, वह भी ठीक नहीं है। यहित—जिसने बालभाव श्रथवा श्रनूढात्व को दूर किया है वही तो वर है और वे ही (पूर्वातुभूत) चैत्रमास की (वसन्त ऋतु की) रात्रियां हैं। खिली हुई मालती (वासन्तीलता) से सुगन्धित वही प्रौढ सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधिस वेतसीतरुतले चेतः समुत्कएठते ॥ इति ।
एतचिन्त्यम् । अत्र हि विभावनाविशेषोिक्तमूलस्य संदेहसंकरालंकारस्य
स्फुटत्वम् । एतेन—

'श्रदोषं गुगावत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्। रसान्वितं कविः कुर्वन्कीर्तं प्रीतिं च विन्दित्॥'

्रत्यादीनामिष कान्यलक्त्यात्वमपास्तम् । यतु ध्वनिकारेगोक्तम्—'कान्यस्यात्मा ध्वनिः' इति, तिंक वस्त्वलंकाररसादिलक्त्याखिरूपो ध्वनिः कान्यस्यात्म उत रसादिरूपमात्रो वा। नाद्यः,पहेलिकादावित्व्यासेः । द्वितीयश्चेदोमिति ब्र्मः। ननु यदि रसादिरूपमात्रो ध्वनिः कान्यस्यात्मा, तदा—

( अमन्द अर्थात् उद्दीपक ) कदम्ब वन का समीर है और मैं भी वही हूं। तात्पर्य यह कि सब वस्तुयें पूर्वानुभूत ही हैं, कोई नई चीज़ या नई बात नहीं तो भी नर्मदा के किनारे उस वंत की कुआ में विद्वार करने को जी उत्करिक हो रहा है। एतचिंन्त्यामिति यह उदाहरण चिन्त्य (दूष्य) है। दोष दिस्तो हैं — अनेति —यहां विभावना और विशेषोक्ति से उत्थापित सन्देहसंकरालंका स्फुट है, ग्रतः यहां ग्रस्फुटालंकार बताना ठीक नहीं। हेतुके विनाही यदि कार् की उत्पत्ति का वर्णन हो तो विभावना श्रलंकार होता है। श्रीर कारण के हों पर भी यदि कार्य की उत्पत्ति न हो तो विशेषोक्ति आलंकार होता है। एवं जहं श्रनेक श्रलंकारों का सन्देह हो—लत्त्रण कई के मिलते हों, किन्तु कोई विनिगम न हो - यहां तन्मूलक सन्देहसंकर कहलाता है। प्रकृत पद्य में सव वस्तुन को अनुभूत बतलाया है, नया कुछ नहीं है, अतः उत्कर्टा की कार सभूत नवीता के न होने पर भी उत्कराठारूप कार्य के उत्पन्न होने से यहां विभावना उत्तंका हो सकता है और अत्कराठा न होने का कारण अनुभूतत्व या अनवीति तो है, किन्तु उत्कएठाभावरूप कार्य नहीं हुआ, अतः यहां विशेषोक्ति लच्चण भी मिलता है, किन्तु कोई विनिगमक (एक का निर्णायक हेतु) नहीं अतः विभावना-विशेषोक्षिमूलक सन्देह संकरालंकार स्फुट है।

एतेनेति—इस पूर्वोक्त प्रन्थे से—अदोषमिति—'दोषरिद्वत, गुणसिंदत, आ कारों से भूषित और रस से युक्त काव्य को बनाता हुआ कवि कीर्ति औ प्रीति को पाता है', इत्यादि काव्य के लक्षण भी खिएडत होगये, क्योंकि दो

गुणादिकों का स्वरूप में निवेश नहीं हो सकता।

यतु—'काव्यस्यात्मा ध्विनः' काव्य का आत्मा ध्विन है, यह जो ध्विनिकार कहा है—वहां प्रश्न यह है कि क्या वस्तु, अलंकार और रसादिक इन सर्व ध्विन्यों को काव्य की आत्मा मानते हो ? या केवल रसादि की ध्विन को इनमें पहला पत्त ठीक नहीं, क्योंकि पहेली आदि में—जहां वस्तु ध्विनत हैं हैं—काव्य का लच्चण अतिव्याप्त हो जायगा। अलक्ष्य में लच्चण के जारे अतिव्याप्ति नामक लच्चण का दोष होता है। यदि दूसरा पत्त मानो तो स्वीकार है। रसादि ध्विन को हम भी काव्यात्मा मानते हैं।

'अत्ता एत्थ ग्रिमज्जइ एत्थ अहं दिअसर्थ पलोएहि। मा पहिअ रत्तिअन्धिय सज्जाए मह ग्रिमज्जहिसि॥'

इत्यादौ वस्तुमात्रस्य व्यङ्गचत्वे कथं काव्यव्यवहार इति चेत्, न । अत्रापि रसामासवत्तयैवेतिव्रूमः। अन्यया 'देवदत्तो ग्रामं याति' इति वाक्ये तद्मृत्यस्य तद्नुसरणरूपव्यङ्गचावगतेरिप काव्यत्वं स्यात् । अस्तिवति चेत्, न । रसवत एव काव्यत्वाङ्गीकारात् । काव्यस्य प्रयोजनं हि रसास्वादमुखपिण्डदानद्वारा वेदशास्त्रविमुखानां सुकुमारमतीनां राजपुत्रादीनां विनेयानां रामादिवत्पवर्तितव्यम्, न रावणादिवदित्यादि
कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेश इति चिरंतनैरप्युक्तत्वात्। तथा चाग्नेयपुराणेऽप्युक्तम्—
'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्' इति । व्यक्तिविवेककारेणाप्युक्तम्—
'काव्यस्यात्मिन सङ्गिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमितः' इति । ध्वनिकारेणाप्युक्तम्—'निहं कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेणात्मपदलामः। इतिहासादेरेव तिसद्धेः'

निनिति —प्रश्न —यदि केवल रसादि ध्विन को काव्यात्या मानते हो तो निम्न पद्य में काव्य का लच्य नहीं जायगा — अचा — 'श्वश्रूप्त निम्निति, अत्राऽहं, दिनस एव प्रकोक्य । मा पिथक राष्ट्रपत्म, शव्यायां मम निमक्च्यि । इस स्थान पर मेरी सास नींद में निम्ने होती हैं — अर्थात् वेखबर सोती हैं और यहां में सोती हूं। दिन में ही देख लो । हे रात के अन्धे (रतोंधवाले) पिथक, कहीं रात में मेरी खाट पर मत आ पड़ना। यह स्वयं दूती की उक्ति हैं। इत्यादी — इत्यादिक स्थलों में — जहां चस्तुमात्र व्यक्त्य हैं – काव्यत्व का व्यवहार कैसे होगा ? उत्तर — अत्रापिति — यहां भी रसामास के कारण ही हम काव्यत्व मानते हैं। उक्त पद्य में आगन्तुक पर पुरुष में स्वयं दूती का अनुराग प्रतीत होता है, अतः शृङ्गारामास है।

अन्यथेति—यदि यह न मानो अर्थात् वस्तुमात्र के व्यङ्गय होने पर भी यदि काव्यत्व मानने लगो तो 'राजा देवदत्त गांव को जाता है' इत्यादि वाक्य मी काव्य हो जायँगे, क्योंकि इस वाक्य से भी देवदत्त के भृत्य का पीछे २ जाना व्यङ्गय है। श्रित्ति यदि कही कि यह भी काव्य ही सद्दी तो यह ठीक नहीं, क्योंकि सरस वाक्य ही काव्य माना जाता है, अन्य नहीं। इसमें प्रमाण देते हैं--काव्यस्येति--प्राचीन आचार्यों ने भी रसास्त्राद रूप मीठी मीठी वस्तु के द्वारा, कठिन वेद शास्त्रादिकों से विमुख, सुकुमारवृद्धि, शिल्गीय राजपुत्रा-दिकों के प्रति 'रामादि की तरह प्रवृत्त होना चाहिये, राज्यादि की तरह नहीं इत्यादिक कृत्य में प्रवृत्ति और अकृत्य से निवृत्ति के उपदेश को ही काव्य का प्रयोजन बतलाया है, अतः जहां रसास्वाद है वे ही वास्य काव्य होते हैं, नीरस नहीं। तथा चेति-ऐसा ही आग्नेय पुरास में भी कहा है-वागिति--वाग्गी के चातुर्य की प्रधानता होने पर भी काव्य में जीवनभूत तस ही है। व्यक्तीति—वयक्तिविवेककार महिमभट्ट ने भी कहा है - काव्यस्येति-काव्य के श्रात्मभूत सङ्गी (स्थायी) रसादिक हैं, इसमें तो किसी को विवाद ही नहीं। ध्वनीति —ध्वनिकार ने भी कहा है - नहींति - कवि यदि केवल इतिहास लिख दे तो उस प्रन्थ को आत्मपद (काव्य पद ) प्राप्त नहीं हो सकता। कवि जो कुछ लिख दे वह सब काव्य नहीं हुआ करता और न उससे

इत्यादि । ननु तर्हि प्रबन्धान्तर्वर्तिनां केषांचित्रीरसानां पद्यानां काञ्यत्वं न स्यादिति चेत्,न। रसवत्पद्यान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्यरसेन प्रबन्धरसेनैव तेषां रसवत्ताङ्गीका रात् । यतु नीरसेष्वपि गुणाभिव्यञ्जकवर्णसद्भावाद्दोषाभावादलंकारसद्भावाच काञ्यवहारः स रसादिमत्काव्यबन्धसाम्याद्गौण एव । यतु वामनेनोक्तम्—'रीतिरात्व काव्यस्य' इति, तन्न । रीतेः संघटनाविशेषत्वात् । संघटनायाश्चावयवसंस्थाक काव्यस्य' इति, वन्न । रीतेः संघटनाविशेषत्वात् । संघटनायाश्चावयवसंस्थाक कर्णत्वात्, आत्मनश्च तद्भिन्नत्वात् । यच ध्वनिकारेणोक्तम्—

'स्रर्थः सद्दृद्यश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः । वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥' इति । अत्र वाच्यात्मत्वं 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः–' इति स्ववचनविरोधादेवापास्तम् ॥

तिंकस्वरूपं काव्यमित्युच्यते-

काव्य का प्रयोजन ही सिद्ध होता है। पुरानी कथाओं का ज्ञान हो। का काव्य का प्रयोजन नहीं, यह तो इतिहास पुराणादिकों से भी हो सकत है। ध्वन्यालोक की वर्तमान पुस्तकों में यहाँ ऐसा पाठ मिलता है—'निह के रितिवृत्तनिर्वहणेन किवित्रयोजनम्-इतिहासादेरेव तिसिद्धेः।

निन्नित — प्रश्न — यदि सरस वाक्य ही काव्य होते हैं तो रघुवंशादिक प्रवन्धं के अन्तर्गत जो अनेक नीरस पद्य हैं, वे काव्य न रहेंगे ? उत्तर — ऐसा नां है। जैसे सरस पद्य के कुछ नीरस पद उसी पद्य के रस से रसवान समें जाते हैं इसी प्रकार प्रवन्ध के रस से नीरस पद्यों में भी रसवत्ता मानी जातं है। यहाँ पद्य शब्द गद्य का भी उपलक्ष्य है।

यतु—गुर्णों के व्यक्षक वर्णों के श्रीर श्रलंकारों के होने एवं दोषों के नहीं से नीरस वाक्यों में भी जो काव्यत्व व्यवहार देखा जाता है, वह सरस का के बन्ध (रचना) की समता के कारण किया हुश्रा गौण (लाक्तिक ) प्रयो जानना। काव्यशब्द का मुख्य प्रयोग सरस्र काव्यों में ही होता है।

यतु वामनेन—यह जो वामन ( अलंकार-सूत्रकार श्रीवामनाचार्य) ने कहा कि 'काव्य की आत्मा रीति है' सो भी ठीक नहीं—क्यों कि रीति तो संघर ( रचना ) रूप है-और संघटना शरीर के अङ्गविन्यास के तुल्य होती है-बे आत्मा नहीं हो सकती-आत्मा शरीर से भिन्न होता है।

यचिति—ध्विनिकार ने यह जो कहा है कि—अर्थ इति—''सहृद्यों से श्ला जो अर्थ काव्य का आत्मा व्यवस्थापित किया है, उसके दो भेद होते हैं—वि वाच्य और दूसरा प्रतीयमान''। इस कारिका में वाच्यार्थ को काव्य आत्मा वतलाना उनके ''काव्यस्थातमा ध्विनिः' इस अपने कथन से ही विरुद्ध होते। कार्य निरस्त समक्तना चाहिये। एक में केवल ध्विन को काव्य का आत्म बतलाना और दूसरे में वाच्य को भी आत्मा कहना परस्पर विरुद्ध है।

तिकामिति— अञ्जा तो फिर काव्य का निर्दुष्ट लच्च क्या है ? इस आक

• इमने 'अलंकारकरुपद्रुम' नामक निबन्ध में विश्वनाथजी के इन आहें पर विस्तृत विचार किया है। बुद्धिमान् जिज्ञासुओं के विनोदार्थ उसका अ

#### वाक्यं रसात्मकं काव्यं

रसस्वरूपं निरूपियथामः । रस एवात्मा साररूपतया जीवनाधायको यस्य । तेन विना तस्य काव्यत्वाभावस्य प्रतिपादितत्वात् । 'रस्यते इति रसः' इति व्युत्पत्ति-योगाद्भावतदाभासादयोऽपि गृह्यन्ते ।

तत्र रसो यथा-

'शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किश्चिच्छनै-

में स्वसम्मत लच्चण कहते हैं—वाक्यमिति—रसात्मकं वाक्य को काव्य कहते हैं। रसेति—रस के स्वरूप का निरूपण तीसरे परिच्छेद में करेंगे। 'रसात्मक' पद का अर्थ करते हैं—रस एवेति—सार अर्थात् सबसे प्रधान होने के कारण रस ही जिसका जीवनभूत=आत्मा है, वह वाक्य 'रसात्मक' कहलाता है। तेनेति—रस के विना काव्यत्व नहीं होता यह बात पहले कह चुके हैं। रस्यते—'यहां रस शब्द का कढ अर्थ (श्रुङ्गारादिरस) विविद्यत नहीं है, अतः 'रस्यत इति रसः' इस योगार्थ के द्वारा, जो आस्वादित हो, उस सबको रस कहते हैं—इससे रस, रसामास, भाव और भावाभासादि का भी प्रहण होता है। तनेति—उनमें से रस का उदाहरण देते हैं—शस्यिति—यह पद्य सम्भोग शृङ्गार का उदाहरण है। इसमें नवविवाहित दम्पति का वर्णन है। नवोढा नायिका वास-

"यद्यपि ६वमतस्थापनाऽवसरे सवेरेवाचायें समालोचितान्यन्यमतानि, परं साहित्यदर्पणकारं विश्वनाथं विहाय न केनाप्येवमितक्र्रमधिकिप्ताः प्रत्नाचार्यः। अयमुरक्त्ववाह्मण्यन्व्रशेखरतनुजन्मा वैक्रमे चतुर्दशशतके संजातः। एतत्कृतो प्रन्थः साहित्यदर्पणः
काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक, दशरूपकादीनुपजीव्येव वर्तमान इति प्रत्यचमेव चनुष्मताम् ।
तत्र प्रथम एव परिच्छेदेऽनेन स्वोपज्ञस्य पाणिडत्यस्य परा काष्टा प्राद्शिं। अस्मिन्नेवच प्राचीनाचार्या अनुचितमावृर्णिताः। सर्वतोधिकं च वाग्देवताऽवतारः श्रीप्रकाशकारोऽस्य रोषविषयः।
एतन्मतेन प्रकाशोक्ते 'तददोषों' इत्यादौ काव्यक्षच्ये पदसंख्यातोऽप्यचरसंख्यातोऽपि च
म्यसी संख्या दोषाणाम्। न केवलं लच्यमेवास्य सर्वा शहुष्टम्, अपि तु अनुपद्मेव दत्तम्
'अन्वलंकृती' इत्यस्योदाहरणमि प्रमादविज्ञस्मितमेव। किञ्चाऽयं मन्मटाचार्यः स्वयमुक्रमपि वस्तु च्यमेव विस्मृत्य पदान्तरं गत्या अन्यथा तद् वर्णयति। अलंकारज्ञानमप्यस्य
नास्ति। ध्वनिकारोऽप्येतत्समकच एव योऽनुपद्मेव जायमानं स्ववचनविरोधमपि न
चेतयते। अन्येऽपि बहव प्वंविधा एव। तद् यद्यय "मष्टादशमाषावारविज्ञासिनीमुजङ्गो"
न मर्त्यं जोकमवतारप्रह्योनान्वप्रहीष्यत तदा को नाम चिरप्रकृदमेतं महान्तं प्रामादिकसंप्रदायमध्वंसिष्यत। को वा न केनाप्यन्येनाऽऽप्रातमि रसस्य प्राधान्यं प्रत्यष्ठापिष्यत्।

अत्र विचार्यते—यः खलु सम्मटाचार्थो अन्थारम्म एव "सक्लप्रयोजनमौलिभूतं रसास्वाद-सम्रज्ञूतं विगलितवैद्यान्तरमानन्द" मिति सन्दर्भेण रसस्य सर्वातिशायित्वं ख्यापयित । अष्टमे चोल्लासे 'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः' इति कारिकायां तद्व्याख्याने च रसस्याङ्गित्वं प्रति-ष्ठापयित । सप्तमे च 'रसश्च ग्रुल्यः' इति कारिकांशेन रसस्य मुख्यत्वं मुक्तकण्ठमुद्घोषयित, अन्यत्रापि च बहुत्र रसस्यैव मुख्यत्वं व्यनङ्गि, स एव वाग्देवतावतारः श्रीप्रकाशकारः काव्य-जन्न्यावसरे सर्वमिदमेकपदे व्यस्मार्धीदिति कः खल्वप्रमत्तः प्रतीयात् ।

#### र्निद्रान्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्णयं पत्युर्मुखम् । विश्रव्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गएडस्थलीं लजानम्रमुखी पियेगा हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥'

गृह को ग्रून्य (सबी त्रादि से वियुक्त ) देखकर पलंग से कुछ थोड़ी सी, धीरे धारे उठी—ग्रीर उठकर, निद्रा की मुद्रा से लेटे हुए प्रियतम के मुख को बहुत देर तक-बड़े ध्यान से देखती रही कि कहीं जागते तो नहीं हैं। अनन्तर सोता हुग्रा समसकर विश्वासपूर्व जुम्बन किया—परन्तु उस कपट निद्रित की कपोलस्थली को हर्ष से रोमांचित देखकर वह नव वधू लज्जा से नम्रमुखी हो गई ग्रीर हँसते हुए प्रियतम ने ग्रधिक समय तक उसका खुम्बन किया। यहां नायिका के हृद्य में स्थित रित (स्थायीभाव) का नायक ग्रालम्बन विभाव है ग्रीर ग्रून्यगृह उद्दीपन विभाव है। 'किश्वच्छनेक्त्थाय' इससे शङ्का के साथ उत्सुकुता ग्रीर 'स्विरं निर्वपर्य देसे ग्रुद्ध ग्रङ्कारूप सञ्चारीभाव प्रकट होता है। विश्रव्य चुम्बन ग्रुन्थाव ग्रीर लज्जा सञ्चारीभाव है। एवं नायकनिष्ठरित की नायिका ग्रालम्बन है, हर्ष ग्रीर हास सञ्चारी तथा चिरचुम्बन ग्रुभाव है। इन विभाव ग्रुन्थाव ग्रीर सञ्चारी भावों से श्रङ्कार रस्त की ग्रिभव्यक्ति होती है। इस पद्य को रचना ग्रिथिक उत्कृष्ट नहीं है। 'उत्थाय' ग्रीर 'च्छनैः' में

नाद्यापि तस्वतो विद्यो यस्त्रकाशस्य केन दुरदृष्टेन दर्पणोऽजनिष्ट, येन सर्वात्मना 'प्रकार्य' प्रतिचिपता न्याकुलीकृतान लोकलोचनानि ।

संयुक्त महाप्राण वर्णों से श्रुतिकटुत्व आ गया है । इन दोनों का पास पास

किञ्च रसैकसमाश्रयाणां गुणानां शब्दार्थयोः सर्वथाऽसंभवात् 'सगुणी शब्दार्थीं कान्य'-मित्यादि प्रकाशोक्षं लचणं समुपद्रवन्तं विश्वनाथं पृच्छामः—

श्रङ्ग हि भवान् 'रसात्मकं वाक्यं काव्य' मिति लच्चां निर्दोषमिमेप्रैति । तत्र 'वाक्य' मित्यनेन सामानाधिकरण्योपपच्चे 'रसात्मक' मित्यत्र बहुवीहिः समासोऽवश्यमाश्रयित्यः स्यात् । बहुवीहिश्चान्यपदार्थप्रधानो भवति । श्रन्यपदार्थश्चाऽत्र वाक्यमेव । वाक्यं च शब्दं विशेष एव । तदेवं शब्द् विशेषः काव्यमित्येव पर्यवसन्नम् । तत्राऽऽकाशगुर्णे शब्दे रसोऽिस नवा ? श्रदित चेत्कथम् ?

#### 'सत्त्रोद्रेकादखग्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः'

इत्यादि भवदुक्रलच्यानुसारमपि ज्ञानस्वरूपस्य वा त्रात्मस्वरूपस्य वा रसस्य आकाशगुर्वे शब्दे संस्पर्शोऽपि हि दुर्लभः।

नास्ति चेत्, कथमुक्तं 'रसात्मक' मिति ? न खल्वविद्यमानं किञ्चित्कस्याप्यात्मति ब्यवस्थीयते । यदि तु रसप्रकाशकभावनाविषयार्थप्रतिपादकतासंसर्गेण वा, रसप्रकाशकति वच्छेदकार्थप्रतिपादकतासम्बन्धेन वा तदुपचर्यते इति ब्रू चे ति प्रकाशोक्षं 'सगुणौ' इति विशेष णमुपत्रवता भवता किमर्थमुद्ध् खिता धृ खिरिति प्रच्छामः । तत्रापि हि तुल्ययोगचेमोऽयं मार्गः ष्यथ सरसस्येव काव्यत्वं स्वीकारियतुं तथा प्रयास इति चेत्तद्पि न रुचिरम् । नीरतेऽपि चमरकारिणि वस्त्वखंकारब्यक्षके शब्दार्थयुगले काव्यत्वस्य ध्वनिकारादिसक्रखालंकारि

संमतत्वात्। यदुक्तं ध्वनिकृता-

श्चन्न हि संभोगश्रङ्गाराख्यो रसः ।
भावो यथा महापात्रराघवानन्दसान्धित्रप्रहिकाणाम्—
'यस्यालीयत शक्कसीम्नि जलिधः, पृष्ठे जगन्मण्डलं,
दंष्ट्रायां धरणीं, नखे दितिसुताधीशः, पदे रोदसी ।
क्रोधे चत्रगणः, शरे दशमुखः, पाणौ प्रलम्बासुरो,
ध्याने विश्व, मसावधार्मिककुलं कस्मैचिदस्मै नमः ॥'
श्चन्न भगवद्विषया रितर्भावः ।
रसाभासो यथा—

होना और भी दोषाधायक है। अनेक पदों में रेफ का संयोग भी श्रुतिकटु है। लोक धातु के दो बार और क्त्वा प्रत्यय के पांच बार आने से घोर पुनरुक्ति हुई है। इन वातों से वर्णन में किव की दरिद्रता प्रकट होती है।

भाव का उदाहरण — यस्येति — इसमें विष्णु के दश अवतारों का वर्णन है — जिसके सिन्ने ( मञ्जूली का पर ) के एक किनारे में सारा समुद्र समा गया — ( मत्स्यावतार ) और जिसकी पीठ पर अखगुड ब्रह्मागुड आ गया ( कूमें ) जिसकी दाढ़ में पृथ्वी छिप गई ( वाराह ) और नख में दैत्यराज — हिरग्य-किशपु लिपट रहा ( नृसिंह ), जिसके पैर में पृथ्वी और आकाश समा गये ( वामन ) और क्रोध में चित्रय जाति विलीन हो गई ( परश्रुराम ) एवं जिसके वाण में रावण का ( राम ), हाथ में प्रलम्बासुर का ( कृष्णु ), ध्यान में जगत् का ( बुद्ध ) और खन्न में अधर्मी लोगों का लय हुआ ( निष्कलक्क ) उस किसी अलौकिक तेज को मेरा नमस्कार है। यहां. 'अलीयत' क्रिया के अर्थ में सम्बन्धियों के भेद से कुछ भेद होता है। अत्रेति — यहां भगविद्रषयक रितमाव व्यक्त्य है। देवादि विषयक रित और संचारी भाव यदि व्यक्षित हो तो उसे 'भाव' कहते हैं।

'व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण बदालंकृतयस्तदा । ध्रुवं ध्वन्यक्कता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात् ॥' इति ।

विवेचितं चेदं विस्तरतोऽस्माभिरवांचीनसाहित्यविवेचनायाम्।

किञ्च यः खलु सकलालंकारिकाणां मूर्घामिषिकः, यदुपजीन्यतंयेव च वर्णयते ध्वनिरद्या-पि, विश्वनाथस्यापि च ध्वनिवर्णने योऽवलम्बः स एवाऽयं परमर्षिकल्पो ध्वनिकारः स्ववचनविरोधमपि न चेतयते इति कीदशं वचः ? तदेवमुपजीन्येषु विषमं दंशं निवेशयता दर्शिता 'भुजङ्गता' विश्वनाथेन ।

सोऽयं विश्वनाथाभिमतो वचनविरोधः प्रथमद्वितीयकारिकयोरेव।
'काव्यस्यारमा ध्वनिरिति बुधैर्यः समान्नातपूर्वं —
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्रमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वम् चुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहदयमनःश्रीतये तस्त्वरूपम्' १।

इयमादिमा कारिका ध्वनिग्रन्थस्य।

'श्रर्थः सहद्यश्वाध्यः कान्यास्मा यो व्यवस्थितः। वाच्यप्रतीयमानास्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ'२। 'मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ पियां स्वामनुवर्तमानः। श्रङ्कोण च स्पर्शनिमीलिताचीं मृगीमकर्ण्ड्यत कृष्णसारः॥' श्रत्र संभोगश्रङ्कारस्य तिर्यग्विषयत्वाद्रसाभासः। एवमन्यत्। दोषाः पुनः काले

किस्वरूपा इत्युच्यन्ते-

दोषास्तस्यापकर्षकाः।

श्रुतिदुष्टापुष्टार्थत्वादयः काण्यत्वखञ्जत्वादय इव शब्दार्थद्वारेण देहद्वारेणेव व्यभिचा

रसामास का उदाहरण्—मधु इति — जिस समय इन्द्र की आज्ञा से वसन्त को साथ लेकर कामदेव कैलास पर भगवान् शङ्कर को प्रोहित करने पहुँचा था उस समय इसके प्रभाव से पशु पत्ती भी कितने मुग्ध हो गये थे, यह वात किवकुलगुरु श्रीकालिशास ने इस पद्य में श्रङ्कित की है। कामातुर भ्रवर, श्रपनी प्रिया का अनुगमन करता हुआ पुष्पक्षप एक पात्र में मधु (पुष्पसक्षप मद्य) का पान करने लगा और स्पर्शसुख से निमीलितनयना मृगी को उसका प्रेमी कृष्णसार मृग, सींग से धीरे २ खुजाने लगा। यहां श्रङ्कारामास है। अनौचित्य से प्रवृत्त और पश्च पत्नी विषयक श्रङ्कार को श्रङ्कारामास कहते हैं। इसी प्रकार अन्य रसों और भावों के उदाहरण जानना।

काव्य के तत्त्वण में दोषादिकों का निवेश तो माना नहीं है, अतः दोषों के ज्ञान के तिये आकाङ्त्वा उत्पन्न करते हैं—दोषाः पुनः—दोषों का क्या स्वक्ष है यह कहते हैं—दोषा इति—काव्य के अपकर्षकों को दोष कहते हैं। श्रुति हु होति—जैसे काण्यत्व, खञ्जत्वादिक दोष, शरीर को दूषित करते हुए, उसके द्वारा उसमें रहनेवाले आत्मा की हीनता स्चित करते हैं, इसी प्रकार काव्य के शरीर मूं शब्द में श्रुति दु छत्वादि और अर्थ में अपुष्टार्थत्वादिक दोष भी पहले शब्द तथा

इति च द्वितीया कारिका।

श्चन्नेदं चिन्त्यते—यः खल्वेवंविधो विसंज्ञो ध्वनिकारो यस्य प्रथमकारिकोक्नः पदार्थे द्वितीयस्यामेव विरुध्यते, न चासौ तं चेतयते, सोऽयं कथभिव प्रेचावित्ररिप सकलैरलंकार शास्त्राचार्येमोंकिमालाभिर्जालितः।

न केवलं सपक्षेरेव, श्रिप तु घोरतरैर्विपचैर्महिसभट्टप्रमृतिभिरिप 'महता संस्तव एव गीर वाय 'इत्यादिना व्यक्तिविवेके (ध्वनिखण्डनग्रन्थे) कथमेनं प्रति विद्याबहुमानः प्रादिशि

किञ्चोक्ता कारिका विश्वनाथाद् बहुतरपूर्वकालिकेन आलंकारिकम्र्धन्येन श्रीमतार्थीं नवगुप्तपादाचार्येण कथिमव निर्विरोधं व्याख्याता 'धन्यालोकलोचने' — तथाहिं 'शब्दार्थशरीरं तावस्काव्यमिति यदुक्तं तत्र शरीरप्रहणादेव केनचिदारमना तदनुप्राण्के भाग्यमेव । तत्र शब्दस्तावच्छरीरभाग एव संनिविशते । सर्वजनसंवेद्यधर्मस्वात्, स्थू क्रशादिवत् । धर्थः पुनः सकलजनसंवेद्यो न भवति । नद्धर्थमात्रेण काव्यव्यपदेशः, लौकिं वैदिकवाक्येषु तदभावात्—तदाह—'सहद्यश्लाच्य' इति । स एक एवार्थो द्विशास्त्र विवेकिभिर्विभागबुद्धश्राऽभियुज्यते—तथाहि तुल्येऽर्थक्ष्यस्वे किमिति कस्मैचित्सहर्व श्लाघते । तद् भवितस्य केनचिद्विशेषण् । यो विशेषः स प्रतीयमानभागो विवेकि विशेषहेतुत्वादारमेति व्यवस्थाप्यते । वाच्यसंकलनाविमोहितहद्यैस्तु तस्प्रथमावो विविविष्य पद्मते चार्वकेतिवादमप्रथमावः । अत एव 'धर्थ' हत्येकतयोपक्रस्य 'सहद्यश्लाच्य' विविविष्य पद्मते चार्वकेतिवादमप्रथमावः । अत एव 'धर्थ' हत्येकतयोपक्रस्य 'सहद्यश्लाच्य' विविविष्य पद्मते चार्वकेतिवादमप्रथमावः । अत एव 'धर्थ' हत्येकतयोपक्रस्य 'सहद्यश्लाच्य' विविविष्य

रिभावादेः स्वशब्दवाच्यत्वादयो मूर्खत्वादय इव साज्ञात्काव्यस्यात्मभूतं रसमपकर्षयन्तः काव्यस्यापकर्षका इत्युच्यन्ते । एषां विशेषोदाहरणानि वद्यामः ।

गुणाः किंस्वरूपा इत्युच्यन्ते—

उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालंकाररीतयः ॥ ३॥

अर्थ को दूषित करके उसके द्वारा काव्य के आत्ममूत रस का अपकर्ष=हीनता सूजित करते हैं। एवं जैसे मूर्जत्वादि दोष साक्षात् ही—किसी के द्वारा नहीं—आत्मा का अपकर्ष सूजित करते हैं वैसे ही निर्वेद, बीडादिक व्यभिचारिमावों का स्वश्रव्द वाच्यत्व (अपने वाचक पदों से कह देना) प्रमृति अनेक दोष काव्य के आत्मा (रस) का साज्ञात् अपकर्ष करते हैं। साज्ञात् या परम्परा से काव्य के आत्मश्त रस के अपकर्षक ये ही दोष काव्यदोष कहाते हैं, क्योंकि इनसे काव्य का अपकर्ष वोधित होता है। एषामिति—इन दोषों के विशेष उदाहरण सप्तम परिच्छेद में कहेंगे।

गुणा इति—गुणों का लच्चण करते हैं—उत्कर्षेति—गुण अलंकार और रीतियां काव्य की उत्कृष्टता के कारण होते हैं। जैसे ग्रौर्याद् गुण, कटक कुण्डलाद् अलंकार और अङ्गरचनादिक मनुष्य के श्ररीर का उत्कर्ष सूचन करते हुए उसके आत्मा का उत्कर्ष सूचित करते हैं इसी प्रकार काव्य में भी माधुर्यादि गुण, उपमादिक अलंकार और वैदर्भी आदिक रीतियां श्ररीरस्थानीय शब्द और अर्थ का उत्कर्ष सूचन करते हुए आत्मस्थानीय रस का उत्कर्ष सूचित करते हैं और जैसे श्रौर्यादिक मनुष्य के उत्कर्षक कहे जाते हैं इसी प्रकार माधुर्यादिक काव्य के उत्कर्षक माने जाते हैं।

विशेषणद्वारा हेतुमिधाय भ्रपोद्धारदशा तस्य द्वौ भेदौ, श्रंशावित्युक्तम् । नतु द्वावप्यात्मानौ काव्यस्य इति ।"

किञ्च 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व ' इत्यत्र ' बुधैः समाम्नातपूर्व ' इत्यनेन पूर्वाचार्यपरम्परापिरमास्रत्वं तस्य मतस्य सूचितम् । एवं द्वितीयकारिकायामपि 'काव्यात्मा यो व्यवस्थितः' इत्यत्र 'व्यवस्थित' पदेन 'वाच्यप्रती......मेदावुभौ स्मृतौ' इत्यत्र च 'स्मृतौ' इत्यत्र च 'स्मृतौ' इत्यत्र च 'स्मृतौ' इत्यत्र च 'स्मृतौ' इत्यत्र स्विकारमकारणमधि-चिपता विश्वनाथेन विपन्तिकृताः सर्वेऽप्युपकीव्याश्चिरन्तनाचार्याः ।

वयन्त्वेवमुत्पर्यामो यद् यत्र कारिकयोः साहित्यदर्पं आकारो ध्वनिकारस्य 'स्ववचनविरोधं' परयति तद् द्वयमि न ध्वनिकर्तुरात्मीयं मतम्, श्रिप तु श्रालंकारशास्त्रस्येतिहासमात्रम् — तथाहि —श्रातिप्रत्वाः संप्रदायाचार्याः काव्यात्मत्त्वेन ध्वनिमेवाऽऽरनायवत् श्रातिप्रायर्याः समान्नातवन्तः इति प्रथमकारिकायाः प्रथमे चर्यो उक्कम् 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति वृष्टेर्यः समान्नातपूर्वः ' इति । श्रत्र 'बुधैः समान्नात' इत्याद्रातिशयप्रदर्शनेनाऽऽत्मनोपि तत्र पत्रपातः सूचित इत्यन्यदेतत् । सोऽयमलंकारशास्त्रस्योत्कर्षमयः प्रथमः समयः ।

'श्रनन्तरन्तु तस्य-भावं जगदुरपरे माक्तमाहुस्तमन्ये' इत्यादिना निरीश्वरवादिनामिय प्रावा-वुकानां प्रावत्यं प्रदर्शितम्। ततः परम् 'तेन ब्रूमः सह्दयमनःप्रीतये तत्त्वरूपम्' इति ध्वनेर्जीर्यो-द्धारस्य वा पुनरुजीवनस्य वा तृतीयः समयः। ध्वनिकारेख स्वत्र ''तत्स्वरूपं ब्रूमः'' इत्यमेन वक्ष्यमाखो अन्थार्थं उपिद्धाः केवलम्', नतु स्वमतमुपन्यस्तं किंचित्। गुगाः शौर्यादिवत् , अलंकाराः कटककुण्डलादिवत् , रीतयोऽत्रयवसंस्थानिवशे षवत् , देहद्वारेग्येव शब्दार्थद्वारेग्य तस्यैव काव्यस्यात्मभूतं रसमुत्कर्षयन्तः काव्यस्योः त्कर्षका इत्युच्यन्ते । इह यद्यपि गुगानां रसधर्मत्वं तथापि गुगाशब्दोऽत्र गुगामिन्यः

प्रश्न—गुणों को काव्य का उत्कर्षक मानना ठीक नहीं, क्यों कि जैसे 'अलं कार रहित काव्य की अपेचा अलंकार सहित काव्य उत्कृष्ट होता है' यह कहा जाता है वैसे यह नहीं कह सकते कि निर्गुण काव्य की अपेचा सगुण काव्य उत्कृष्ट होता है। कारण यह है कि गुण रस ही के साथ रहते हैं, अतः जो निर्गृष है वह नीरस भी अवश्य होगा—और नीरस को आप काव्य ही नहीं मानते, कि उसकी अपेचा उत्कर्ष बताना कैसा? सजातीयों में जो अधिक गुण विशिष्ट होता है उसे उत्कृष्ट कहते हैं। जो काव्यत्व से ही बहिष्कृत है, उसकी अपेक्षा तारतम का विचार कैसा? इसका उत्तर देते हैं—हहित—यद्यपि गुण रस के धर्म हैं—रस के विना वे नहीं रहते—तथापि यहां गुण शब्द लक्षणा से गुणों के अभि

तद्मे च 'सहृदयरलाध्यस्यार्थस्य काव्यात्मत्वं व्यवस्थाप्य तस्य वाच्यप्रतीयमानाक्षे हो मेदी कैरचन कथिती' इति मतान्तरस्योन्नेको द्वितीयस्यां कारिकायाम् ''अर्थ: सहृद्यः रक्षाध्य'' इत्यादि । अत्र 'स्मृतौ' इत्यनेनाऽस्य परमतत्त्वं स्फुटमेव । अत्र प्व च तृतीयस्यं कारिकायां वाच्यस्य काव्यात्मत्वं मन्यमानानाम् 'अन्य' पदेन स्पष्टमुन्नेखः कृत:—तथाहि

'तत्र वाच्यः प्रसिद्धं। यः प्रकारैरुपमादिभिः। बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः काव्यत्तक्ष्मविधायिभिः॥ ३॥

श्रयमिसिन्धः-'श्रन्यः' कान्यत्तत्त्वणकारैमामहद्याद्यम्होद्भटप्रभृतिभिरत्तंकारप्राधान्यः वादिभियाद्ये उपमादिभिः प्रकारैर्वहुधान्याकृतः स एव वाच्यः कैश्चित्कान्यात्मत्वेनाभिमतः।

श्रथ ये वाच्यादितिरिक्तं व्यङ्गयमर्थं न प्रतिपद्यन्ते तान् प्रति तत्स्वरूपं विविञ्चित्रिव चतुर्थी

कारिकामाह—

'प्रतीयमानं पुनरन्यदेवं वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् । यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्नं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु'॥ ४॥

यथा नवनवोत्मिषद्यौवनासु चारहासिनीषु विज्ञासिनाषु मनोमोहनमन्त्रामं स्फुटमहः भूयमानमिष ज्ञावर्यं न केनापि चजुर्नासिकमिव शक्यं शृङ्गप्राहिकया निर्देष्टुम्, श्रवयदेषु वाडन्तर्भावियतुम्। नच तादशनिर्देशाभावादेव स्फुटं भासमानस्य तस्याभावः शक्यः प्रतिः पत्तुम्, तथैव महाकवीनां वायीषु स्फुटं प्रतीयमानो वाच्याद् भिन्नो व्यङ्गयोऽथों न शक्यं निह्नोतुम्।

्र श्रयैवं पूर्वाचार्येर्वाच्यप्रतीयमानी द्वावप्यथीं काव्यात्मत्वेन व्यवस्थापिती । वाच्यर्वाती बंहुधा व्याकृतः । व्यङ्गयोऽपीदानीमुङ्ग एव । श्रत्रार्थे भवतः किं मतम् ? वाच्यो वा व्यङ्गवी वा, उभयं वा भवता काव्यात्मत्वेन स्वीक्रियते ? इत्येतं प्रश्नमुत्तरीतुं पञ्चमी कारिकामाह

> 'काव्यस्यात्मा स एवाऽर्थस्तथा चादिकवेः पुरा । कौञ्चद्दन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः' ॥ १ ॥

पूर्व प्रावादुक्रमतान्युपन्यस्येदानीं स्वमतमाह—काव्यस्येति — श्रङ्गनासु जावण्यिक्षि काव्येषु प्रधानतया विभाव्यमानः 'स एव' प्रतीयमान एवाऽर्थः काव्यस्यातमा— नतु वाद्योगि स्रत्रायें दृष्टान्तमाह—तथा चेति—'स्रादिक्वे' भेगवतो वाल्मीकेः क्रीब्रह्लन्द्रवियोगक्षत्र ञ्जकशब्दार्थयोरुपचर्यते । यतरच 'गुणाभिव्यञ्जकाः शब्दा रसस्योत्कर्षकाः' इत्युक्तं भवतीति प्रागेवोक्तम् । एषामपि विशेषोदाहरणानि वद्दयामः ॥

 इति श्रीमन्नारायणचरणारिवन्दमधुन्नतसाहित्यार्णवक्ष्मधारम्वनित्रस्थापनपरमाचार्थ-कविस् क्तिरताकराष्ट्रादशभाषावारविलासिनी अजङ्गसांधिविमहिकमहापात्र-शीविश्वनाथकविराजकृती साहित्यदर्पे काः युस्वरूप-निरूपणो नाम प्रथमः परिच्छेदः।

व्यञ्जक शन्दों और अर्थों को वतलाता है, अतः 'गुणाः रसोत्कर्षहेतवः' इसका यह अर्थ है कि गुणाभिव्यक्षक शब्द तथा अर्थ रस के उत्कर्षक होते हैं। इस कारण यहां यह अभिप्राय जानना कि गुणाभिज्यक्षक शब्दों से रहित काव्य की अपेक्षा तत्त्वहित काव्य उत्कृष्ट होता है। यह बात 'सगुणी' पद्की आलोचना करते हुए पहले कही है। गुणों के विशेष उदाहरण अप्रम परिच्छेद में कहेंगे। इति विमलार्थदर्शिन्यां प्रथमः परिच्छेदः।

'शोकः' (स्थायिभावः) ग्रावेशातिशयवशाद् हृद्ये ग्रपरिमिमानो हृद्यसंवाद्तन्मयी-भवनक्रमात् परिपूर्णकुम्भोच्छ्छनन्यायेन बहिः प्रसर्पन् वाप्र्पं प्राप्तः रत्नोकस्वरूपमापन्नो 'मानिपादे' त्यादि । इदं हि पद्यं भगवतो हृदयनिष्ठस्य शौकस्य शब्दमयं चित्रमेव । चित्रं च तदेव चारुतरं यिचन्रणीयं यथायथमभिन्यनिक्त । पद्यञ्चेदं सर्वाङ्गीणतया शोकमेवामिन्य-निक्ति। हा एवाऽत्र काव्ये प्रधानम्। स एव च प्रतीयमानी रसादिः काव्यस्यात्मा।

एप च—

'शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेशैव न वेदाते। वेद्यते स हि कान्यार्थंतत्त्वज्ञैरेव केवलम्'॥ ७॥

इदमपरं प्रतीयमानार्थसाधकं प्रमाणमपि।

किञ्च यथा घटपटाचालोकनकामः कश्चित् तदुपायतया दीपशिखामाद्ते एवं काव्यात्म-भूतं प्रतीयमानमर्थं प्रत्याययितुं तदुवायभूती वाच्योऽर्थं उपादीयते, इतीद्मुच्यते—

'आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः। तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदाहतः'॥ १॥

यदि तु वाच्योऽप्यंथं घात्मत्वेनाभिमतः स्याद् ध्वनिकारस्य तदा तमपि प्रतीयमानिम-वोपेयमिमद्धीत, न पुनः प्रतीयमानस्योपायतया तमुपाददीत ।

किं बहुना-

'यथा पदार्थद्वारेख वाक्यार्थः संप्रतीयते । वाच्यार्थपृर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः ॥ १० ॥ 'यत्राऽर्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।

व्यङ्क्रः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः'॥ १३॥

इत्यादिना शब्दार्थयोः प्रतीयमानीपसर्जनत्वं तथातथा प्रपन्नित्तं येनाऽन्धोपि विधरोपि च शक्नोति प्रतिपत्तुं तत्त्वम् । अद्य यावत् एतत्प्रदर्शितेनैव पथा सर्वेऽध्याचार्याः स्वेषु स्वेषु सन्दर्भेषु ध्वनिमुपवर्शितवन्तः । विश्वनाथोऽप्यत्रार्थे तन्मुखापेची एव । अयन्त्वस्य 'भुजङ्गस्य' विशेषो यत्सर्वथोपजीव्यमपि निर्निमित्तं दशति।

एवं च साहित्यदर्पणे विश्वनाथेन 'कान्यस्यास्मा ध्वनिः' 'श्चर्थः सहद्यश्लाम्यः' इत्यादि परमतोक्रीनां यत् सिद्धान्त्युकित्वेनोपन्यसनं तत्पौर्वापर्याजीचननिवन्धनं प्रमाद-

द्वितीयः परिच्छेदः।

वाक्यस्वरूपमाह—
वाक्यं स्यायोग्यताकां चासत्तियुक्तः पदोचयः।

योग्यता पदार्थानां परस्परसम्बन्धे बाधाभावः। पदोच्चयस्यैतदभावेऽपि वाक्यते 'बिह्नना सिञ्चति' इत्याद्यपि वाक्यं स्यात्। त्र्याकांचा प्रतीतिपर्यवसानविरहः। । च श्रोतुर्जिज्ञासारूपः। निराकांचस्य वाक्यत्वे 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इत्यादीनाः मंपि वाक्यत्वं स्यात्। श्रासित्तर्बुद्धचिव्छेदः—

श्रथ द्वितीयः परिच्छेदः। नीलसरोरुहदेह, निगमग्मित, गोकुलरमण्। इङ्गितकलितसुरेह, वस सततं मम मानसे॥१॥

'वाक्यं रसारमकं काव्यम्' यह पहले कह चुके हैं। इसमें चाक्य शब्द से का विवक्षित है इस उपोद्धात की संगति के लिये चाक्य का लक्षण करते हैं। 'प्रकृतिसिद्ध्यतुक् जीचन्ताविष्यत्वपुपोद्धातः' प्रस्तुत चस्तु की सिद्धि के लिये जिसक विचार करना प्रसंगप्राप्त हा उसे उपोद्धात कहते हैं। यहां काव्य का लक्ष प्रस्तुत है। उसमें वाक्य का विचार प्रसंगप्राप्त है। वाक्यमिति — आकाङ्का योग्यता श्रोर श्रासत्ति से युक्त परसमृह को वाक्य कहते हैं।

योग्यता का लज्ञण करते हैं। योग्यतेति—एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के सा सम्बन्ध करने में बाध न होना योग्यता कहाता है। जो पदार्थ जिस पदार्थ साथ सम्बन्ध करने में बाधित न हो उसे योग्य कहते हैं। यदि योग्यता के वि पदसमुदाय को वाक्य माना जायगा तो 'बहिना सिवति' यह भी वाक्य है जायगा। योग्यता को कारण मानने से इसमें वाक्य का लज्ञण नहीं जाता-क्योंकि सेचन किया में अग्नि की साधनता वाधित है। अग्नि जलाने ह साधन है, सींचने का नहीं।

आकांचेति —िक सी ज्ञान की समाप्ति या पूर्ति का न होना आकांचा है। वाक्यां की पूर्ति के लिये किसी पदार्थं की जिज्ञासा का बना रहना आकांचा कहला है। जैसे 'देवदत्तो आमम्' इतना कहने से 'गच्छति' इत्यादि क्रिया की आकांचा है उसके बिना वाक्यार्थज्ञान का पर्यवसान नहीं होता।

संचिति—यह आकांचा भावकप है, अभावकप नहीं, क्योंकि अभावका अभी प्रतियोगिस्वकप होता है, अतः प्रतीति (जिज्ञासा) के पर्यवसान (अभाव का विरह (अभाव) भी प्रतीतिकप ही होगा। 'निराकांचरयेति'—आकांच्या पदसमुदाय को वाक्य मानें तो 'गौरश्वः पुरुषो इस्ती' इत्यादिक निराकांच्या समृद्द भी वाक्य हो जायगा।

श्रासितिति—बुद्धि श्रर्थात् प्रकृतोपयोगी पद् थाँ की उपस्थितिके 'श्रिविकी विज्ञानिसतमेव। १ ध्वनिः काव्यस्यारमा, २ वाच्यप्रतीयमानौ स्रथौं काव्यस्यारमा, ३ प्रतीक एवाऽर्थः काव्यस्यारमा इति प्रथमद्वितीयपञ्चमकारिकार्थः । नचैतत्त्रयमप्येकस्यावा सिद्धान्तस्वरूपं संसवतीति शक्यं स्थूलदृश्वनाऽप्युन्नेतुम् । विश्वनाथेन त्वन्नाथे क्र्यं गजनिमीविकायितमिति विभावयन्तु सुधियः।"

बुद्धिविच्छ्रेदेऽपि वाक्यत्वे इदानीमुच्चरितस्य देवदत्तशब्दस्य दिनान्तरोचरितेन गच्छतीति पदेन संगतिः स्यात् । अत्राकाङ्कायोग्यतयोरात्मार्थधर्मत्वेऽपि पदोच्चय-धर्मत्वमुपचारात् ।

वाक्योचयो महावाक्यम् योग्यताकाङ्चासत्तियुक्त इत्येव।

इत्थं बाक्यं द्विधा मतम्॥ १॥

इत्थमिति वाक्यमहावाक्यत्वेन । उक्तं च—

'स्वार्थवोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेत्त्या ।

वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते ॥' इति ।

अर्थात् अव्यवधान को आसित्त कहते हैं। जिन पदार्थों का प्रकरण में सम्बन्ध होता हैं, उनके वीच में व्यवधान न होना 'आसित्त' कहाता है। यह व्यवधान दो प्रकार से होता है। या तो एक पदार्थ की उपस्थित के अनन्तर बीच में अधिक काल के आजाने से-अथवा प्रकृतोपयोगी पदार्थों पिस्थिति के बीच में अधुपुक्क पदार्थों के आ जाने से। पहले प्रकार का उदाहरण देते हैं। बुद्धिविच्छेदेऽपीति—यदि बुद्धिविच्छेद होने पर भी वाक्यत्व स्वीकार किया जाय तो इस समय कहे हुए 'देवदत्तः' पद का दूसरे दिन बोले हुए 'गच्छित ' पद के साथ सम्बन्ध होना चाहिये। यहां अत्यन्त व्यवधान दिखाने के अभिप्राय से 'दिनान्तर कह दिया है। वस्तुतः एक घंटा या इससे भी कम समय का बीच में व्यवधान होने पर भी किसी को उन पदों में सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता। दूसरे प्रकार का उदाहरण—'गिरिश्किमिनमान् देवदतेन' यहां 'गिरिशिनमान् ' और 'देवदतेन भुक्कम्' ये दो वाक्य हैं। 'गिरिः' का सम्बन्ध 'अनिमान् ' के साथ है—उसके बीच में प्रकृत का अनुपयोगी 'भुक्कम्' पर आ पड़ा है। एवं 'देवदत्तेन ' के पूर्व अनुपुक्क 'अनिमान् ' व्यवधायक हों। या है, अतः आसित्त नहीं रही। अत्यव यह वाक्य नहीं।

अति—यद्यपि पूर्वोक्त जिज्ञासा इच्छारूप होने के कारण आत्मा में रहती है और योग्यता पदार्थों में ही रह सकती है, तथापि ये दोनों 'उपचार' (परम्परा सम्बन्ध) से पदसप्रदाय में रहती हैं। सजन्यजनकत सम्बन्ध से आकांक्षा पदों में रहती है। 'स्व' शब्द से आकांक्षा यहीत है—उससे जन्य वाक्यार्थ होता है और उसका जनक पदसमूह होता है। (अथवा स्वमेव यज्जन्यं तज्जनकत्वेत्यर्थः) 'योग्यता' स्वाअयोपस्थापकत्व सम्बन्ध से पदों में रहती है। 'स्व' शब्द से योग्यता, उसका आश्रय पदार्थ, उसका उपस्थापक पदसमूह होता है। इस प्रकार आकांक्षा, योग्यता और आसित्त ये तीनों पदों में रह सकती हैं। इस प्रकार आकांक्षा, योग्यता और आसित्त ये तीनों पदों में रह सकती हैं। इस प्रकार आकांक्षा, योग्यता और आसित्त ये तीनों पदों में रह

वाक्योच्चयः—आकांत्तादियुक्त वाक्यों के समूह को महात्राक्य कहते हैं। इत्यामिति—इस प्रकार वाक्य के दो भेद हुए। एक वाक्य, दूसरा महावाक्य। महावाक्य की सत्ता में प्रमाण देते हैं—त्वार्थेति—अपने २ अर्थ का बोधन करके समाप्त हुए वाक्यों का, अङ्गाङ्गिमावसम्बन्ध से, फिर मिलकर एक वाक्य

तत्र वाक्यं यथा—'शून्यं वासगृहं—' इत्यादि । महावाक्यं यथा—रामायग्रा महाभारतरघुवंशादि ।

पदोचयो वाक्यमित्युक्तम्, तत्र कि पदलक्ष्णमित्यत त्राह— वर्णाः पदं प्रयोगाहीनन्वितेकार्थवोधकाः ।

यथा—घटः । प्रयोगाहें ति प्रातिपदिकस्य व्यवच्छेदः। अनिवतेति वाक्यमहाः वाक्ययोः । एकेति साकाङ्ज्ञानेकपदवाक्यानाम् । अर्थबोधका इति कचटतपेत्याः दीनाम् । वर्णा इति बहुवचनमविविज्ञतम् ।

अर्थो वाच्यरच लक्ष्यरच व्यङ्गयरचेति जिधा सतः॥ २॥

एवां स्वरूपमाह— वाच्योऽर्थोऽभिध्या बोध्यो लच्यो लच्चणया सतः। व्यङ्गयो व्यञ्जनया ताः स्युस्तिस्रः शब्द्स्य श्रह्मयः॥३॥ ता अभिधायाः।

( महावाक्य ) होता है। तत्रेति—उनमें वाक्य का उदाहरण 'श्रन्यं वासगृह्यं

इत्यादि है श्रीर महावाक्य का रामायण, रघुवंशादिक।

पद का लत्त्रण करने के लिये प्रसङ्ग-संगति दिखाते हैं। पदोच्चय इति—पर् समुदाय वाक्य होता है, यह कह चुके हैं। उसमें पद का लत्त्रण करते हैं-वर्ण इक्ष्मियोग के योग्य, अनिवत एक अर्थ के बोधक वर्णों को पद कहते हैं। जैं। 'घटः' यह वर्णसमुदाय प्रयोग के योग्य है। व्याकरणादि से ग्रुद्ध होने के काल वाक्य में इसका प्रयोग हो सकता है और दूसरे पदार्थ से असम्बद्ध (अक्षित्र ) एक अर्थ (घड़े) का बोधक है, अतएव यह पद है।

उक्त लक्षण का पद्कृत्य दिखाते हैं—प्रयोगाहें ति—इस लक्षण में 'प्रयोगाहें कहने से प्रातिपदिक की व्यावृत्ति होती है । केवल प्रातिपदिक—जिसे विभक्ति नहीं आई है—प्रयोग के योग्य नहीं होता। महाभाष्यकार ने बि

है- " नापि केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नापि केवलः प्रत्ययः । "

बनिवतिति—अनिवत कहने से वाक्य और महावाक्य की व्यावृत्ति होते हैं, क्यों कि इनसे अन्वित अर्थ का बोध होता है, अनिवत का नहीं। एकें 'एक' कहने से साकांच, अनेक पद और अनेक वाक्यों का व्यवच्छेद होते हैं। 'अर्थ बोध क' कहने से क, च, ट, त, प इत्यादि वणों की व्यावृत्ति होते हैं। यदि 'अर्थ' न कहेंगे तो अर्थ के विशेषण 'अनिवत' और 'एक' ये हों भी छोड़ने पहुंगे, अतः 'प्रयोगाही वर्णाः पदम' इतना ही लच्चण रहेगा। यह कें इत्यादि में अतिव्याप्त होगा—क्यों कि ये भी प्रयोग के योग्य होते हैं। प्रवाहित्व वर्णों में ही होता है, अर्थ में नहीं। वर्णों इति—'वर्णाः' इस पर्व बहुवचन अविविक्षित है। यह आवश्यक नहीं कि बहुत वर्णों के होने पर्व पद हो। एक या दो वर्णों के भी अनेक पद होते हैं।

ं उक्त पदलक्तण में 'अर्थ' आया है, अतः अब अर्थ के भेद दिखाते हैं इति—अर्थ, तीन प्रकार का होता है—वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्गय। इनका क्र लक्तण करते हैं—वाच्य इति—जो अर्थ अभिधा से बोधित हो वह बाज्य

## तत्र संकेतितार्थस्य बोधनाद्यिमाभिधा।

उत्तमवृद्धेन मध्यमवृद्धमुद्दिरय 'गामानय' इत्युक्ते तं गवानयनप्रवृत्तमुपलभ्य बालोऽस्य वाक्यस्य 'सारनादिमित्पण्डानयनमर्थः' इति प्रथमं प्रतिपद्यते। अनन्तरं च 'गां वधान, अप्रवमानय' इत्यादाववापोद्धापाभ्यां गोशब्दस्य 'सारनादिमानर्थः' आनयनपदस्य च 'आहरणमर्थः' इति संकेतमवधारयति । कचिच प्रसिद्धार्थपदसमिमहारात् । यथा— 'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिवति' इत्यत्र । कचिद्यापोपदेशात् ।

लक्षणा से भात हो वह लक्ष्य और जो व्यञ्जना से स्चित हो वह व्यङ्गय कहाता है। ये तीनों-अभिभा, लच्चणा और व्यञ्जना—शब्द की शक्कियां हैं।

तनेति— संकेतित (मुख्य) अर्थ का बोधन करनेवाली, शब्द की सबसे पहली शिक्त का नाम अभिधा है। यहाँ 'संकेतित' शब्द का अर्थ है 'मुख्य'। 'संकेतमहिवषयीमृत' यह अर्थ नहां। इस अर्थ के मानने में आत्माश्रय दोष होता है, क्यों कि संकेत अभिधा का ही नाम है, अतः "अभिधाज्ञानविषयीभूत अर्थ का बोधन करनेवाली शिक्त अभिधा है" यह लच्चण करने से अभिधा के लच्चण में अभिधा का ही आश्रयण करना पड़ेगा। इस कारण आत्माश्रय दोष होगा। अतः (संकेतित) शब्द का उक्त अर्थ (मुख्य) करना चाहिये। व्याकरण, कोशादि में प्रसिद्ध अर्थ मुख्य कहाता है। लक्ष्य और व्यङ्गय अर्थों के पूर्व उपस्थित होना ही इसका मुख्यत्व है।

संकेतग्रह के उपाय बतलाते हैं—उत्तमवृद्धेनेति—िकसी बड़े श्रादमी ने छोटे श्रादमी (नौकर श्रादि) से कहा कि "गौ लाश्रो" श्रोर वह इस वाक्य को सुन-कर, एक गौ ले श्राया, तो उन दोनों के पास बैटा हुआ बालक—िजसे अब तक इन पदों के अथाँ का कुछ ज्ञान नहीं है—पहले पहल यही सममता है कि "गौ लाश्रो" इस समुदाय का तात्पर्य, इस जीव को ले श्राना ही है। श्रन-तर 'गौ बांध दो' 'घोड़ा लाश्रो' इत्यादि वाक्यों के सुनने पर की गई कियाओं को देखकर, वह 'श्रवापोद्धाप' (श्रन्वय, व्यतिरेक) के द्धारा 'गौ' 'बांधो' 'लाश्रो' इत्यादिक प्रत्येक पद के संकेत (श्रक्ति) को सममता है। जब वह बालक देखता है कि जहाँ 'गौ' पद बोला गया है, वहीं यह जीव उपस्थित हुआ है, श्रन्यत्र नहीं, तो यह समम लेता है कि गौपद का वाच्य यही जीव है। इसी प्रकार, 'श्रानय' श्रादि कियाओं का 'लाना' श्रादि अर्थ निर्धारित करता है। इस प्रकार व्यवहार से शिक्तग्रह होता है।

कहीं प्रसिद्ध प्रधात् पहले से ज्ञात पद के साहचर्य से भी शक्तिप्रह होता है—जैसे—इह प्रिमिनेति—यहाँ मधुकर' का अर्थ शहद बनानेवाली मक्खी है, या अगर, यह संदेह, 'कमल' पद के साथ होने से दूर होता है। कमल में अगर के ही रसपान से तात्पर्य है, यह बात 'कमल' पद के सिन्नधान से मालूम होती है, अतः यहाँ प्रसिद्धार्थक पद के समिन्याहार (सानिष्य) से 'मधुकर' पद का शिक्तज्ञान होता है।

कहीं आप्त अर्थात् प्रामाणिक पुरुष के उपदेश से भी शक्तिप्रद होता है—

यथा—'श्रयमश्वशब्दवाच्यः' इत्यत्र । तं च संकेतितमर्थं बोधयन्ती शब्दस्य शक्त्यन्तरानन्तरिता शक्तिरिमधानाम ।

# संकेतो गृद्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च ॥ ४॥

जातिगोंपिएडादिषु गोत्वादिका। गुणो विशेषाधानहेतुः सिद्धो वस्तुधर्मः। शुक्लाद्यो

जैसे किसी बालक से उसके पिता ग्रादि ने कहा कि यह घोड़ा है, तो उसे

'घोड़ा' पद की शक्ति उस जीव में गृहीत हुई।

ये उक्त उदाहरण उपलक्षणमात्र हैं। शिक्षत्रह के छौर भी कारण होते हैं, जैसे—'शिक्षत्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद व्यवहारतश्च । वाक्यस्य शेषादिवृतेवंदिन साविध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः''। 'दािच्च' पद का अर्थ 'दच्चपौत्र' है, यह बात व्याकरण (दचस्याअपत्यं दािचः—'अत इज्') से प्रतीत होती हैं। ''गो के सदश गवय होता हैं। यह वाक्य हे यह वाक्य सुनकर, जङ्गल में गो सदश व्यक्ति के देखने पर, पूर्व वाक्य हे स्मरण द्वारा—यह गवय है—इत्याकारक ज्ञान, उपमान से होता हैं। 'ईखा शर्व ईशानः' इत्यादिक कोष से भी शक्तिग्रह होता है। आप्तवाक्य, सािचाध्य और व्यवहार के उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं।

वाक्य शेष से शिक्षग्रह का उदाहरण—'यवमयश्चरुमंवित' यहाँ 'यव' शब्द से आर्य जाति के व्यवहारानुसार, जो लेना चाहिये अथवा क्लेच्छ जाति हे व्यवहारानुसार मालकंगनी लेनी चाहिये, इस सन्देह में, ''वसन्ते सर्वशस्यानां जाले पत्रशातनम् । मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः'' इस पिछले वाक्य से जौ ही लिये जाते हैं, क्यों कि वसन्त में चे ही फलते हैं । कहीं कहीं 'चित्रृति' अर्थात् उस पद के अर्थ का विवरण करने से भी शक्तिज्ञान होता है।

तं चेति—इन उपार्यो से ज्ञात हुए संकेतित (मुख्य) अर्थ का बोधन करते वाली, दूसरी शक्ति से अञ्यवहित अर्थात् शब्द की सबसे प्रथम शक्ति 'अभिधा' कहाती है। सन्त् णा आदि शक्तियों के पहले जैसे अभिधा आवश्यक है—जिस प्रकार वे अभिधा से व्यवहित हैं—वैसे अभिधा के पूर्व कोई शब्द

शक्ति अपेद्यित नहीं है। अभिधा ही प्रथम शक्ति है।

शिक्तप्रह का विषय बताते हैं—संकेत इति—शब्द चार प्रकार के होते हैं— १ जातिशब्द, २ गुणशब्द, २ कियाशब्द और ४ यहच्छाशब्द। जाति, गुण, किया और यहच्छा, पदार्थों की उपाधियाँ (धर्मविशेष) हैं। इन्हीं में शब्दों की शिक्ष (संकेत) का ज्ञान होता है, व्यक्ति में नहीं। येही जात्यादिक शब्दों के प्रवृति निमित्त भी कहातेहैं। जातिरिति —गौ आदि व्यक्तियों में गोत्वादिक जाति होतीहैं। गुण इति—पदार्थ में विशेषता पैदा करनेका कारणभूत धर्म, जो पहले से सिर्ध

गुण इति—पदार्थ में विशेषता पैदा करनेका कारणभूत धर्म, जो पहले से सिंह हो, (साध्य नहीं) उसे गुण कहते हैं। इसी बात को स्पष्ट करते हैं—शुक्वाद्यों हीति—शुक्तादि गुण गौ आदि को, उसके सजातीय कृष्ण गौ आदि से व्याद्य करते हैं। तात्पर्य यह है कि जातिशब्द से पदार्थ का सामान्य ज्ञान होता है। जैंदे किसीने कहा कि 'गौ हैं'तो यहाँ गोत्वजाति से अविच्छन्न व्यक्तिमात्रका बोध होगी उसमें कोई विशेषता नहीं प्रतीत होगी, परन्तु 'शुक्क गौ'कहने से शुक्कपद कृष्णी वर्णों की गौओं की व्याद्यित करता है। गोत्वजाति से युक्क एक जातीय (स्जी

हि गवादिकं सजातीयेभ्यः कृष्णगवादिभ्यो व्यावर्तयन्ति । द्रव्यशब्दा एकव्यकिन्वाचिनो हरिहरिडत्थडवित्थादयः । क्रियाः साध्यरूपा वस्तुधर्माः पाकादयः । एषु हि अधिश्रयणावश्रयणान्तादिपूर्वापरीभूतो व्यापारकलापः पाकादिशब्दवाच्यः । एष्वेव हि व्यक्तेरुपाधिषु संकेतो गृह्यते, न व्यक्तौ । आनन्त्यव्यभिचारदोषापातात् ।

तीय) ग्रुब्लगों त्रादि स्रव नहीं ली जा सकतीं, स्रतः श्रुक्कादि गुल, विशेषाधान के हेतु होते हैं—वे द्रव्यों की विशेषता के स्चक होते हैं—सौर उन्हें मिन्न गुल वाले सजातीयों से व्यावृत्त करते हैं। गुल, किया की मांति साध्य नहीं होते, किन्तु वस्तुमें पहलेसे विद्यमान (सिद्ध) होतेहैं, स्रतः ये सिद्ध-वस्तुममें कहाते हैं। इत्येति—केवल एक व्यक्ति के वाचक हरि, हर, डित्थ, खवित्थ, देवद्त्त,

यज्ञदत्तादि शब्दों को द्रव्य शब्द या यदच्छाशब्द कहते हैं।

किया इति—वस्तु के 'साध्य' धर्म' (पाकादिक) किया कहलाते हैं। एपु हाति— इन साध्य कप वस्तु धर्मों में 'श्रिधिश्रयण' अर्थात् चावल श्राद् के पात्र को चूल्हे पर चढ़ाने से लेकर 'श्रवश्रयण' श्रर्थात् पाकान्त में नीचे उतारने पर्यन्त जितने भी व्यापार करने पड़ते हैं उन सवका नाम पाक है। श्राग जलाना, चमचे से चलाना, चावल निकाल कर देखना, जल देना श्राद् सब कियायें मिलकर पाक कहाती हैं। तात्पर्य —यह है कि एक किया को सिद्ध करने के लिये, श्रनेक छोटे-मोटे व्यापार, श्रागे-पीछे करने पड़ते हैं। इन्हीं सबकी यथावत् समाप्ति पर कियाकी सिद्धि निर्भर होती है। यद्यपि ये देखने में श्रनेक होते हैं, किन्तु किसी एक ही प्रधान किया के साधक होते हैं, श्रतः इन सबसे सिद्ध होनेवाली किया को साध्य कप वस्तु धर्म कहते हैं श्रीर जो शब्द इसे निमित्त मानकर प्रवृत्त होते हैं उन्हें कियाशब्द कहते हैं—जैसे पाचक, पाठक श्रादि। एक्षेवेति—इन्हीं चारो उपाधियों में शब्दों का सङ्केत गृहीत होता है।

व्यक्ति में संकेतग्रह माननेवालों के मत का निराकरण करते हैं —न व्यक्ती इति— व्यक्ति में संकेतग्रह नहीं होता, क्यों कि ऐसा मानने से शानन्त श्रीर व्यक्तित्त हो । वाल्प्य यह है कि जब जात्यादिक उपाधियों में शिक्तग्रह मानते हैं तब तो समस्त व्यक्तियों में एक ही जाति रहने के कारण, किसी एक स्थान पर गौ आदि शब्दों को शिक्त गृहीत होने से ही काम चल जाता है। सामान्यव्यक्षण प्रत्यासित्त के द्वारा सम्पूर्ण व्यक्तियों का भान हो जाने के कारण, श्रन्य व्यक्तियों में दुबारा शिक्तग्रह न होने पर भी कोई हर्ज नहीं होता, परन्तु यदि व्यक्ति में शिक्त का ग्रहण (ज्ञान) माने तो प्रश्न यह होता है कि क्या सम्पूर्ण व्यक्तियों में एक साथ शिक्तग्रह होता है ? या किसी एक व्यक्ति में ही ?। इनमें पहला पच इसिलये ठीक नहीं कि भूत, भविष्यत् श्रीर वर्तमान समस्त व्यक्तियों का एक समय में किसी एक जगह एकत्रित्र होना ही श्रसम्मव है। यदि यह कहो कि प्रत्येक व्यक्ति में पृथक् पृथक् शिक्तग्रह होता है तो श्रनन्त शिक्तयां माननी पड़ेंगी, श्रतः शानन्त्य दोव होगा। श्रीर यदि किसी एक ही व्यक्ति में शिक्त मानों तो उस व्यक्ति के श्रतिरिक्त श्रन्य व्यक्तियों की उस शब्द से उपस्थित ही न हुआ करेगी, क्योंकि पदार्थोंपित्यित में शिक्तग्रह कारण होता है। अथ बन्नणा--मुख्यार्थबाघे तसुको ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते । स्देः प्रयोजनाद्वासौ लक्ष्मणा शक्तिरर्पिता ॥ ५ ॥

यदि यह मानो कि एक व्यक्ति में शिक्तप्रह हो जाने से अन्य व्यक्तियां विना शिक्तिज्ञान के भी उपस्थित हो जाती हैं, तो व्यभिनार दोष होगा और पदार्थों परिवार में शिक्तप्रह की कारणता न बन सकेगी। कारण वही होता है जिसके होने पर कार्य होता हो और न होने पर न होता हो। यही अन्यय-व्यतिरेक, कारणता का निर्णायक है। यदि शिक्तज्ञान के विना भी पदार्थों परियति मानोगे तो इस व्यभिचार के होने से, शिक्तज्ञान, पदार्थों परियति का कारण नहीं हो सकता। अथवा—यदि शिक्तज्ञान के विना भी अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति मानोगे तो जिस प्रकार गो शब्द, शिक्तप्रह के विना, अन्य गो व्यक्तियों का उपस्थित मानोगे तो जिस प्रकार गो शब्द, शिक्तप्रह के विना, अन्य गो व्यक्तियों का उपस्थापक है इसी प्रकार अश्वादि का भी उपस्थापक हो जायगा, क्यों कि अगृहीतशिक्तत्व दोनों में समान है। इस प्रकार गो शब्द से अश्वादि का भी मान प्रसक्त होने से व्यक्तिचार दोष आयेगा।

इसके श्रितिरिक्त, व्यिक्त में ही सब शब्दों की शक्ति मानने से उक्त चार प्रकार के शब्दों का विषय भी विभक्त नहीं हो सकेगा। जब उपाधियों में शिक्त मानते हैं तब तो उपाधियों के भिन्न होने से एक ही व्यक्ति में "गैः शुक्तश्रको दियः" इस प्रकार चारो प्रकार के शब्दों का प्रयोग हो जाता है, किन्तु व्यक्तिशक्तिवाद में

व्यक्ति की अभिन्नता के कारण पुनस्क दीप होगा।

जैसे एक ही मुख, तेल, तलवार श्रीर दर्पण में कुछ भिन्न सा प्रतीत होता है। इसी प्रकार शंख, दूध, वरफ श्रादि में शुक्लादि गुण श्रीर गुड़, चावल, श्राम श्रादि में एक होने पर भी, श्राश्रयसेद के कारण, भिन्न सी प्रतीत होती हैं। वस्तुतः वे एक ही हैं, श्रतः शिक्तग्रह में कोई बाधा नहीं होती। कोई लोग शुक्लत्वादि जाति में ही शिक्त मानते हैं। इस मत में शुक्लादि गुणें में श्रीर पाकादि कियाशों में वास्तविक भेद माना जाता है।

लच्या-शक्ति का निरूपण करते हैं—प्रस्यार्थेति—उक्त श्रमिधा शक्ति के द्वारा जिसका बोधन किया जाय वह मुख्यार्थ कहाता है, इसका बाध होने पर अर्थात वाक्य में मुख्यार्थ का श्रम्बय श्रमुपपन्न होने पर, रुढि (प्रसिद्धि) के कारण श्रधवा किसी विशेष प्रयोजन का सूचन करने के लिये, मुख्यार्थ से संबद्ध (युक्त) श्रम्य श्रथं का ज्ञान, जिस शक्ति-द्वारा होता है, उसे बच्चा कहते हैं। यह शक्ति 'श्रापित' श्रथीत् किट्टिपत (या श्रमुख्य) है। श्रमिधा की भांति ईश्वर से उद्धावित नहीं है।

नवीन लोग 'बाध' का अर्थ तात्पर्यात्रपाति करते हैं। वे अन्वयातुपपत्ति की लक्षणा का कारण नहीं मानते। यदि अन्वयातुपपत्ति को लक्षणा का कारण माना जायगा तो 'काकेश्यो दिध रक्ष्यताम्' इत्यादि वाक्यों में लक्षणा न ही सकेगी, क्योंकि यहां काक पद के अन्वय में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

यद्यपि प्रयोजन लज्ञ्णा के अनन्तर व्यञ्जना से ज्ञात होता है, ''गंगायां घोषः" इत्यादिक स्थल में शैत्य, पावनत्वादि के अतिशय रूप प्रयोजन का लक्ष्णा के 'किलक्कः साहसिकः'इत्यादौकिलिक्कादिशब्दो देशिवशेषादिरूपे स्वार्थेऽसंभवन्यया शब्दशक्त्या स्वसंयुक्तान्पुरुषादीन्प्रत्याययित, यथा च 'गङ्कायां घोषः' इत्यादौ गङ्कादि-शब्दो जलमयादिरूपार्थवाचकत्वात्मकृतेऽसंभवन्स्वस्य सामीप्यादिसंबन्धसंबन्धिनं

पूर्व ज्ञान हो जाना सम्भव नहीं, क्यों कि वह लज्ञणा का फत है, श्रीर फल, कारण से पीछे होता है, श्रतः प्रयोजन-ज्ञान को किंद की तरह लज्ञणा का कारण नहीं मान सकते, तथापि 'श्रवाचक प्रद का प्रयोग किसी विशेष प्रयोजन के लिये किया जाता है' इस सामान्यक्रप से प्रयोजन-ज्ञान पहले रहता है, वही लज्ञणा का कारण होता है, श्रीर शैत्यातिशय श्रादि विशेषक्रप से उसका ज्ञान लज्ञणा के श्रनन्तर ही होता है। यह श्रीतर्कवाणीशजी का मत है।

मुख्यार्थ से असम्बद्ध अर्थ की भी उपस्थित यदि लच्चणा के द्वारा मानी जाय तो 'गङ्गा' शब्द से यमुना का तट भी उपस्थित होने लगे, अतएव मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध का ज्ञान भी लच्चणा का कारण माना जाता है।

इस कारिका में 'श्रन्य' शब्द मुख्यार्थ से श्रन्य का बोधक नहीं है। ऐसा मानने से उपादान लक्षणा में यह सामान्य लक्षण श्रव्याप्त रहेगा, क्योंकि वहां लक्ष्यार्थ के साथ मुख्यार्थ भी लगा रहता है, इस कारण यहां 'श्रन्य' शब्द का श्रर्थ है ''मुख्यार्थतावच्छेदकातिरिक्षणांवच्छित्र'। 'काकेम्यो दिध रह्यताम्' इत्यादिक उपादान लक्षणा में मुख्यार्थतावच्छेदक है 'काकत्व', उससे श्रन्य धर्म है 'दृष्युप्यातकत्व', तद्वचिछुन्न में काक शब्द की लक्षणा है। एवं 'रामोऽस्मि सर्व सहे' इस उदाहरण में मुख्यार्थतावच्छेदक रामत्व है, तद्तिरिक्ष धर्म है दुःखसहिष्णुत्व, तद्वचिछुन्न में राम शब्द की लक्षणा है।

इस कारिका में लच्चणा के चार कारण बतलाये हैं — मुख्य अर्थ का बाध और उसके साथ लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध, एवं किंदि और प्रयोजन । इनमें से पहले दो तो सर्वत्र आवश्यक हैं और पिछले दो में से किसी एक (किंदि या प्रयोजन) का होना आवश्यक है। इसी बात को स्चित करने के लिये कारिका में 'वा ' शब्द के द्वारा इनका पृथक् पृथक् निर्देश किया है।

किंदि और प्रयोजनम् लक उदाहरणों में उक्त लच्चण का समन्वय करते हैं — किल इति— 'किल साइसी है' इत्यादिक वाक्यों में देशादि के वाचक किल हिर शब्द अपने मुख्य अर्थ के द्वारा अन्वय में अनुपपन्न होकर, जिस शब्द-शिक्त से अपने अर्थ (देशविशेष) के साथ संयुक्त पुरुषादि की प्रतीति कराते हैं, अथवा 'गंगापर कुटी है' इत्यादि वाक्यों में प्रवाहादि के वाचक गङ्गादि शब्द, अन्वय में अनुपपन्न होकर, सामीप्यादि सम्बन्ध से अपने अर्थ के सम्बन्धी तटादि का, जिस शिक्त के द्वारा बोधन करते हैं, वही 'अर्पित' अर्थात् अस्वामाविक अथवा ईश्वरानुद्धावित शब्द-शिक्त लच्चा कहलाती है।

तात्पर्य यह है कि ''किलिङ्गः साहसिकः'' इस वाक्य में किलिङ्ग शब्द का अर्थ है देशविशेष और साहसिक का अर्थ है साहसी, परन्तु साहस, जड़ पदार्थों में नहीं रहा करता, अतः देश के वाचक किलिङ्ग शब्द का 'साहसिक' के साथ अमेद सम्बन्ध होना असम्भव है, अतः यह शब्द अन्वय में अपने मुख्यार्थ तटादि बोधयति, सा शब्दस्यार्पिता स्वामाविकेतरा ईश्वरानु द्वाविता वा शक्तिर्ले व्या (देश) के बाधित होने के कारण, संयोग सम्बन्ध से उस देश के सम्बन्ध

पुरुष का लच्चणा से बोधन करता है।

इसी प्रकार, ''गङ्गायां घोषः " इस वाक्य में गङ्गा पद का मुख्य अर्थं प्रवाहिवशेष। उसके ऊपर कुटी का होना ग्रसम्भव है, श्रतः गङ्गा शब्द मुख्यार्थं का ग्रन्वय बाधित होने के कारण, सामीप्य सम्बन्ध से प्रक सम्बन्धी तट का लत्त्र से बोधन करता है।

कारिका के 'श्रर्पिता' शब्द का श्रर्थ करते हैं='स्वामाविकेतरा' श्रथन 'ईश्वरातुद्राविता'। कोई लोग श्रमिधा को स्वामाविक शक्ति मानते हैं, उत्ते मतानुसार लज्ञणा को 'स्वाभाविकेतर' कहा है। श्रीर जो लोग श्रमिधा बे ईश्वरोद्धावित ईश्वररचित ( ईश्वरेच्छारूप ) मानते हैं, उनके मतानुसा लक्षणा को ईश्वरानुद्रावित कहा है। तात्पर्य यह है कि लक्षणाशक्ति क्रिया है, यह मनुष्यकिएत है, श्रमिधा की भांति सिद्ध नहीं है।

वस्तुतः 'अपित' शब्द के इन दोनों अथों से कोई अपूर्व वात बोधित नहं होती। इस दशा में यदि यह विशेषण कारिका में से निकाल दिया जाय ले भी कोई हानि न होगी, त्रातः यह व्यर्थ है, क्यों कि इसका व्यावर्त्य कुछ नां है। इसके अतिरिक्त व्यक्षनावृत्ति भी 'स्वाभाविकेतर' श्रीर 'ईश्वरातुन्नािक

होती है। उसमें भी यह ऋतिव्याप्त होगा।

प्राचीन श्राचार्यों ने लक्षण को 'श्रारोपित' क्रिया कहा है। व्याख्याकारी इसे 'सान्तरार्थंनिष्ठ' श्रौर 'व्यवहितलक्ष्यार्थविषय' बताया है। वस्तुतः लज्ज अर्थनिष्ठ ही होती है, शब्दनिष्ठ नहीं, शब्द में उसका आरोप करना पड़ताहै।

'गङ्गायां घोषः ' इत्यादिक उदाहरणों में श्रान्वय की श्रानुपपत्ति श्रां ही होती है, शब्द में नहीं। 'गङ्गा' शब्द के मुख्य अर्थ (प्रवाह) में ही 'बीर की अधिकरणता अनुपपन्न होती है। सामीप्य आदि सम्बन्ध भी अर्थ में। देखे जाते हैं। तट के साथ सामीप्य सम्बन्ध प्रवाह का ही होता है, 'गई शब्द का नहीं। प्रवाहरूप मुख्य अर्थ ही सामीप्य सम्बन्ध के द्वारा तटक . अर्थ को उपस्थित करता है। इसी से इसे 'सान्तराऽर्थनिष्ठ' अथवा 'व्यविधि लक्ष्यार्थं विषय' कहा जाता है। लक्ष्य अर्थ मुख्य अर्थ से व्यवहित रहता है यद्यपि लज्ञासा मुख्य श्रंथं का धर्म है, 'गङ्गा' श्रादि शब्द मुख्य श्रंथं उपस्थित करके जीए हो जाते हैं, उसके अनन्तर मुख्य अर्थ ही अ सम्बन्धी व्यवहित अर्थ को उपस्थित करता है, अतः उसी में अश्रमा प्रतिपादकत्व रहता है, परन्तु स्व-वाचकत्व सम्बन्ध से इस व्याप ( अशक्यार्थप्रतिपादकत्वरूप.) का शब्द में आरोप किया जाता है। आरोप के कारण लक्षणा को प्राचीन आचायों ने 'आरोपिता किया' कहा - 'अर्पित' शब्द का भी यही अर्थ होना चाहिये, 'स्वाभाविकेतर' आदि नहीं

लक्तणा को यदि शब्द में आरोपित न किया जाय तो लक्ष्य अर्थ शान्द-बोध में भान नहीं हो सकेगा, क्योंकि जो अर्थ शब्द के द्वारा उपिर नहीं होता उसका शाब्द-बोधं में भान नहीं हुआ करता। इसी कारण हरी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नाम। पूर्वत्र हेत् रूढिः मसिद्धिरेव। उत्तरत्र 'गङ्गातटे घोषः' इति मतिपादनालम्यस्य शितत्वपावनत्वातिशयस्य वोधनरूपं मयोजनम् । हेतुं विनापि यस्य कस्यचित्संव-न्धिनो लच्च सेऽतिप्रसङ्गः स्यात्, इत्युक्तम्—'रूढेः मयोजनाद्वापि' इति ।

केचितु 'कर्मणि कुशलः' इति रूढावुदाहरन्ति । तेषामयमिप्रायः — कुशां द्वा-तीति व्युत्पत्तिलभ्यः कुशप्राहिरूपो मुख्योऽर्थः प्रकृतेऽसंभवन्विवेचकत्वादिसाधर्म्य-संबन्धसंबन्धिनं दत्तरूपमर्थं बोधयति। तदन्ये न मन्यन्ते। कुशप्राहिरूपार्थस्य व्युत्पत्ति-लभ्यत्वेऽपि दत्तरूपस्यैव मुख्यार्थत्वात् । अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच प्रवृत्तिनिमित्तम् । व्युत्पत्तिलभ्यस्य मुख्यार्थत्वे 'गौः शेते' इत्यत्रापि लक्त्णा स्यात् ।

को शब्द-व्यापार मानना आवश्यक है। पूर्वतेति—इन उदाहरणों में से पहले में कि ( प्रसिद्धि ) लचणा का हेतु है। किलिङ्गादि शब्द तत्त्रहेशवासियों में प्रसिद्ध हैं। उत्तरविति—दूसरे उदाहरण में लचणा का हेतु प्रयोजन है। ''गङ्गा के किनारे कुटी हैं" इस वाक्य से जो शीतता और पिवत्रता का अतिशय वोधित नहीं होता (क्योंकि किनारा बहुत दूर तक माना जाता है) वह बात ''गङ्गापर कुटी हैं" इस वाक्य में लचणा के अनन्तर व्यक्षना से प्रतीत होती है। यही अतिशय-बोधन यहां लच्चणा का प्रयोजन है।

हेतुं विनेति - हेतु के विनां, यदि चाहे जिस सम्बन्धी का 'लच्चणा' अर्थात् लच्चणाशिक से वोधन करने लगें तो अनेक स्थलों में अतिव्याप्ति होगी, अतः "रूढेः प्रयोजनादापि" इस अंश से कारिका में हेतु का निर्देश किया है। लच्चणा के लिये किंद्र या प्रयोजनकप हेतु का होना आवश्यक है।

काव्यप्रकाशकार ने जो कंढि का उदाहरण दिया है, उसका निराकरण करते हैं—केचितु — कोई लोग "कर्मण क्रशलः" इसे कंढि का उदाहरण बताते हैं। उनका यह अभिप्राय है कि कुशले पद की व्युत्पत्ति करने से इसका अर्थ होता है 'कुशों को प्रहण करनेवाला'। ''कुशान् लातीति कुशलः" यह इसकी व्युत्पत्ति है, किन्तु उक्त उदाहरण में इस व्युत्पत्ति से लभ्य (कुशग्राहकरूप) अर्थ का सम्बन्ध होना असम्भव है, अतः यह पद विवेचकत्वादिसाधम्य-सम्बन्ध से अपने सम्बन्धी चतुरक्षप अर्थ का लच्चणाद्वारा बोधन करता है। इस मत का खएडन करते हैं—तदन्ये इति—इस बात को और लोग नहीं मानते, क्योंकि कुशलपद की व्युत्पत्ति से यद्यपि कुशग्राहकरूप अर्थ प्राप्त होता है, तथापि उसका मुख्यार्थ चतुरक्षप अर्थ ही है, कुशग्राहक नहीं। शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित्त अन्य होता है और प्रवृत्ति का निमित्त अन्य। यह आव-स्यक नहीं है कि जो व्युत्पत्ति का निमित्त है वही प्रवृत्ति का मित्र हो।

व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ में जो प्रकारतया भासित होता है, वह 'व्युत्पत्ति-निमत्त' कहाता है—जैसे कुशल शब्द में 'कुशब्राहित्व'—और शक्तिज्ञान में जो प्रकारतया भासित होता है वह 'प्रवृत्तिनिमित्त' कहाता है—जैसे गो शब्द में 'गोत्व'। यदि व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को ही मुख्यार्थ मानें तो "गौ सोती हैं" इस वाक्य में भी लक्त्या माननी पड़ेगी, क्योंकि गमनार्थक गम् धातु से 'गमेडों:' ( उणादि—२।६७) इति गम्धातोडोंप्रत्ययेन व्युत्पादितस्य गोशब्द्स्य शयनकालेऽपयोगात् ॥

तद्भेदानाह— मुख्यार्थस्येतराचेषो वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये। स्यादात्मनोऽप्युपादानादेषोपादानलक्षणा॥६॥

रूढावुपादानलच्या यथा—'श्वेतो धावति '। प्रयोजने यथा—'कुन्ताः प्रविशन्ति '। अनयोहि श्वेतादिभिः कुन्तादिभिश्चाचेतनतया केवलैर्धावनप्रवेशन-प्रविशन्ति '। अनयोहि श्वेतादिभिः कुन्तादिभिश्चाचेतनतया केवलैर्धावनप्रवेशन-क्रिययोः कर्तृतयान्वयमलभमानैरेतित्सद्भये आत्मसंबन्धिनोऽश्वादयः पुरुषादयश्चा-

''गमेडों:" इस श्रीणादिक सूत्र के द्वारा डो प्रत्यय करने पर वने हुए गो शब्द का शयनकाल में प्रयोग श्रमुपपन्न है। शयनकाल में गमन तो होता नहीं, किर उस समय वह गौ (गमनकर्त्रों) कैसे होगी श्रमतः व्युत्पिक्तिनिमत्त को ही प्रवृत्तिनिमित्त मानना ठीक नहीं। एवश्च ''क्मीण कुशलः" इस उदाहरण में

भी कुशग्राहकरूप अर्थ को मुख्यता नहीं है।

बच्या के भेद दिखाते हैं-प्रस्यार्थस्येति-वाक्यार्थ में, अङ्गरूप से अपने अत्वय की सिद्धि के लिये, जहां मुख्य अर्थ अन्य अर्थ का आ लेप कराता है वहां 'श्रात्मा' श्रर्थात् मुख्यार्थं के भी बने रहने से, उस तत्त्त्णा को उपादान तत्त्र्ण कहते हैं। यहां भा पूर्ववत् 'अन्य' का अर्थ 'मुख्यार्थतः वंच्छेदकातिरिक्त धर्माविच्छन' है। इस कारिकामें, श्रीतर्कवागीशजी ने 'अन्वयसिद्धयें' का अर्थ ''परस्याप्यन्वयसिद्धयें" लिखा है। यह ठीक नहीं, क्योंकि अपनी अन्वयसिद्धि के लिये (अन्य की नहीं) अन्य के त्राचिप का नाम ही 'उपादान' है। यही श्रीग्रम्मदाचार्यजी ने लिखा है ''स्वसिद्धये पराचेपः.....उपादानम्''। प्रकृत उद्ाहरण में भी कुन्त की अन्वयसिद्धि के लिये पुरुष का श्राचेप किया गर्या है, पुरुष का श्रन्वय सिद्ध करने के लिये कोई यस नहीं किया गया है। पुरुष का अन्वय तो स्वयंसिद्ध है, बाधित तो है ही नहीं, फिर उसके लिये यस की क्या आवश्यकता है ? जैसे प्रवेशिक्रिया में कुन्त का अन्वय बाधित होकर लक्ष्यार्थ का उपस्थापक होता है, इसी प्रकार यदि पुरुष का भी अन्वय बाधित होता, तो उसके अन्वय की सिद्धि की चिन्ता होती। इसके अतिरिक्त लक्ष्यार्थ लक्क होता भी नहीं। जिल प्रकार कुन्तों के अन्वय के लिये कुन्तधारी पुरुष लिचत हुए हैं, इसी प्रकार इन् पुरुषों के लिये यदि कुछ और श्राचित या लिचत होता तो "अन्यस्याप्यत्व" सिद्धये" कहना कुछ ठीक भी होता।

पहले कह चुके हैं कि कि वि श्रीर प्रयोजन लक्षणा के हेत होते हैं। उसी क्रम से उदाहरण देते हैं—रूढाधिते—कि में उपादान लक्षणा जैसे "श्वेतो धावति" घुड़ दोड़ या किसी अन्य अवसर में किसी ने पूछा कि कौनसा घोड़ा दौड़ रहा है। इसके उत्तर में किसी ने कहा कि "सफ़ेद दौड़ रहा है"। प्रयोजन में उपादा लक्षणा जैसे "कुन्ताः प्रविशन्ति" (मालें प्रवेश कर रहे हैं)। अन्योतिति—इन उदा हरणों में श्वेत (वर्ण) श्रीर कुन्त (माले) जड़ होने के कारण, दौड़ने श्रीर प्रवेश करने में (इन कियाश्रों में) कर्ता होकर अन्वित नहीं हो सकते, श्रीर

चिप्यन्ते। पूर्वत्र पयोजनाभावाद्र्दिः । उत्तरत्र तु कुन्तादीनामितगहनत्वं प्रयोजनम्। अत्र च मुख्यार्थस्यात्मनोऽप्युपादानम्। लच्चणालच्चणायां तु परस्यैवोपलच्चणित्यनयो-र्भेदः । इयमेवाजहत्स्वार्थेत्युच्यते ॥

#### अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वयसिद्धये। उपलक्ष्मणहेतुत्वादेषा लच्चणलच्चा।। ७।।

रूढिमयोजनयोर्लज्ञणलज्ञणायथा—'कलिङ्गः साहसिकः','गङ्गायां घोषः' इति च। अनयोर्हि पुरुषतटयोर्वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये कलिङ्गगङ्गाशब्दावात्मानमर्पयतः।

वाक्यार्थ में अपने अन्वय की सिद्धि के लिये 'श्वेत' शब्द श्वेत रंगवाले अश्वादि का और कुन्त शब्द कुन्त धारण करनेवाले पुरुषों का आत्तेप कराता है। पूर्वत्रेति—पहले उदाहरण (श्वेतः) में लत्त्रणा का कुछ प्रयोजन नहीं, रूढि ही उसका निमित्त है। दूसरे में कुन्तों की अतिगहनता व्यक्षित करना प्रयोजन है।

वैयाकरण लोग गुणवाचक श्वेत आदि शब्दों से मतुप्पत्यय करके उसका
लुक् करते हैं। रसादिम्यश्च ४। राहर इस पाणिनिस्त्र से मतुप्पत्यय होता है
और 'ग्रणवचनेम्यो मतुपो लुगिष्टः' इस वार्तिक से उसका लुक् होता है। इस
प्रकार 'श्वेतः' का वाच्य अर्थ ही श्वेत गुणवान होता है। जहां मतुप्
प्रत्यय और उसका लुक् नहीं होता वहां यह शब्द केवल श्वेत गुणका वाचक
रहता है। इससे यह स्पष्ट है कि श्वेत गुण और श्वेत-गुणवान् ये दोनों ही
श्वेत शब्द के वाच्य अर्थ होते हैं। इसी अभिप्राय से अमरकोषकार ने इन
शब्दों को गुण और गुणी इन दोनों का वाचक बताया है। 'ग्रणे गुकादयः
पुंसि गुणिलिगास्तु तहति'। परन्तु नैयायिक लोग मतुप् और उसके लुक् को
स्वीकार नहीं करते, अतः 'श्वेतो घावित' इत्यादिक स्थलों में उन्हें लच्नणा
माननी पड़ती है। इसी मत के अनुसार मुलोक उदाहरण जानना।

अत्र चेति—इस उपादान-लज्ञणा में मुख्यार्थ के अपने स्वरूप का भी लक्ष्यार्थ के साथ उपादान (ग्रहण) रहता है, किन्तु लज्ञण-लज्ञणा में मुख्यार्थ, लक्ष्यार्थ का उपलज्ञणमात्र होता है, स्वयं नहीं मासित होता, यही इन दोनों का भेदहै। इसी लक्षणा को अजहत्स्वार्थावृत्ति भी कहते हैं, क्योंकि इसमें स्वार्थ (मुख्यार्थ) का परित्याग नहीं होता।

'लच्या-लच्या' का लच्या करते हैं-अर्पयमिति— वाक्यांथे में मुख्यार्थ से मिन्न अर्थ के अन्वय-बोध के लिये जहां कोई शब्द अपने स्वरूप का समर्पण कर दे अर्थात् मुख्य अर्थ को छोड़ कर लक्ष्य अर्थ का उपलच्यामात्र बन जाय, उस लच्या को लक्ष्याल व्या कहते हैं; क्यों कि यह उपलच्या का ही हेतु होती है, इसमें मुख्यार्थ का वाक्य में अन्वय नहीं होता। इसका रुढि और प्रयोजन में कम से उदाहरण देते हैं-कलिंग इत्यादि। इन उदाहरणों में कम से पुरुष और तट के अन्वय को सिद्ध करने के लिये 'कलिक्ष' और 'गङ्गा' शब्द अपने स्वरूप का समर्पण करते हैं अर्थात् वाक्यार्थ में पुरुष और तट का बोध कराने के लिये अपने स्वरूप को उपयोगी बनाते हैं। अथवा अत्यानम् मुख्यार्थम् अर्पयतः परित्याज्ञतः। ये दोनों पद अपने मुख्यार्थ का परित्याग करते हैं।

यथा वा—
'उपकृतं बहु तत्र िकमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
'उपकृतं बहु तत्र िकमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
'विद्धदीदृशमेव सदा सखे, सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम् ॥'
अत्रापकारादीनां वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये उपकृतादयः शब्दा आत्मानमर्पयन्ति
अपकारिणं प्रत्युपकारादिप्रतिपादनानमुख्यार्थवाधो वैपरीत्यलदागः संवन्धः । फलम-

पकारातिशयः । इयमेव जहत्त्वार्थेत्युच्यते ॥

आरोपाध्यवसानाभ्यां प्रत्येकं ता अपि द्विधा।

ताः पूर्वोक्तारचतुर्भेदलच्याः।

विषयस्यानिगीर्णस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिकृत् ॥ ८ ॥ सारोपा स्यानिगीर्णस्य मता साध्यवसानिका ।

विषयिणा अनिगीर्णस्य विषयस्य तेनैव सह तादात्म्यप्रतीतिकृत्सारोपा । इयमेव

अन्य उदाहरण देते हैं - उपकृतिमिति—अनेक अपकार करके भी अपने को उपकारी वतलानेवाले किसी कुटिल पुरुष के प्रति किसी सहृद्य की मार्मिक उक्ति है। अर्थ — आपने बहुत बहुत उपकार किया है! उसके क्यां कहने हैं!! आपने अत्यन्त सज्जनता का विस्तार किया है!!! हे मित्र! आप इसी प्रकार कार्य करते हुए सौ वर्ष तक जीते रिहये। अत्रति—यहां वाक्यार्थ में अपकारा-दिकों का अन्वय सिद्ध करने के लिये 'उपकृत' 'सुजनता' आदि शब्द अपने स्वक्ष्य का समर्पण करते हैं। अपकारी के प्रति उपकारादि के कथन से मुख्यार्थ का बाध है। और मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का वैपरीत्यक्ष सम्बन्ध है, एवम् अपकार की अधिकता का बाधन करना इस लक्ष्यां का प्रयोजन है। इसी 'लक्ष्यलक्ष्यां' को 'जहत्स्वार्था' वृत्ति भी कहते हैं।

लक्षणा के और भेद दिखाते हैं—आरोपेति—आराप और अध्यवसान के

कारण पूर्वोक्त चारों प्रकार की लक्षणाओं के फिर दो भेद होते हैं।

श्रारोप श्रीर श्रध्यवसान के स्वरूप का निर्देश करते हुए सारोपा श्रीर साध्यवसाना लक्षणा का स्वरूप दिखाते हैं—विषयस्पेति—श्रमाठश्रादित-स्वरूप विषय (उपमय) का श्रम्य (उपमान) के साथ श्रभेद्ञ्चान करानेवाली लक्षणा को 'सारोपा' कहते हैं श्रीर निगीण्स्वरूप (श्राञ्चादित) विषय का विषयों के साथ श्रभेद्ञ्चान करानेवाली लक्षणा को 'साध्यवसाना' कहते हैं।

'श्रिनिगीण्स्वरूपस्य प्दार्थस्या उन्यतादात्म्यप्रतीतिरारोपः"। वाक्य में जिस पदार्थ के स्वरूप का स्पष्टतया निर्देश किया गया है—जिसका स्वरूप श्रमधान (श्रमकृत) उपमानभूत चन्द्रादि (विषयी) से निगीण् श्रधांत् छिपा हुश्री नहीं है, उसी प्रकृत (वर्ण्यमान) उपमेय मुखादि (विषय) की श्रम्य श्रणीं श्रमकृत चन्द्रादि विषयों के साथ तादात्म्य प्रतीति (श्रभेदञ्चान) को श्रात्म कहते हैं। जैसे "सिंहो माणवकः"। यहां बालक का स्वश्वरू (माणवक) से निर्देश करके उसका सिंह के साथ श्रभेद दिखलाया गया है, श्रतः यहां बालक

रूपकालंकारस्य वीजम् । रूढावुपादानलक्षा सारोपा यथा—'श्ररवः रवेतो-धावति' । स्रत्र हि रवेतगुणवानरवोऽनिगीर्णस्वरूपः स्वसमवेतगुणतादात्म्येन प्रतीयते । प्रयोजने यथा—'एते कुन्ताः पविशन्ति' । स्रत्र सर्वनाम्ना कुन्तधारिपुरुष-निर्देशात्सारोपत्वम् । रूढौ लक्षणलक्षणा सारोपा यथा—'कलिङ्गः पुरुषो युध्यते'। स्रत्र पुरुषकलिङ्गयोराधाराध्रेयभावः संबन्धः । प्रयोजने यथा—'श्रायुष्टृ तम्' । स्रत्रायुष्कारणमपि घृतं कार्यकारणभावसंबन्धसंबन्ध्यायुस्तादात्म्येन प्रतीयते । स्रत्रयवैलक्ष्एयेनाव्यभिचारेणायुष्करत्वं प्रयोजनम् । .

में सिंहत्व का आरोप है । यही सारोपा तत्त्वणा कपक आतंकारका बीज है।
'विषयनिगरणेन विषयिणोऽभेदप्रतिपित्तिस्यवसानम्'। विषय का निगरण करके उसके
साथ विषयी का अमेद प्रतिपादन करना अध्यवसान कहाता है। जैसे 'सिंहः'।
यहां वालक का वाक्य में पृथक निर्देश नहीं है और सिंह के साथ उसका
अमेद प्रतिपादन किया गया है। यह साध्यवसाना तत्त्वणा 'अतिशयोक्ति'
आलंकार का बीज है।

कि मैं सारोपा उपादान तत्त्वणा का उदाहरण—श्रव इति—यहां श्रव 'श्रिनिगीर्ण्स्वकप' है, क्यों कि उसका पृथक निर्देश किया गया है और श्रवने में समवेत (समवाय सम्बन्ध से विद्यमान) जो गुण (श्वेत वर्ण) उसके साथ उसका (श्रव का) अभेद प्रतीत होता है। यहां श्वेत शब्द की श्वेतगुणविशिष्ट में प्रसिद्धि होने के कारण कि है। श्वेत गुण अपने स्वकप को भी तक्ष्यार्थ के साथ बोधित करता है, श्रतः यह उपादान तत्त्वणा है—और श्रविगीर्ण्स्वकप श्रव के साथ श्वेत का तादात्म्य प्रतीत होता है, श्रतः श्रारोप है। इस प्रकार यह कि में सारोपा उपादान तत्त्वणा हुई।

इसी का प्रयोजन में उदाहरण देते हैं—एते कुन्ता इति—अत्रेति—यहां 'एतत्' सर्वनाम से कुन्तधारी पुरुषों का निर्देश किया है और कुन्तों के साथ उनकी अमेद प्रतीति होती है, अतः यहां आरोप है, और लक्ष्यार्थ के साथ कुन्तों की भी प्रतीति होती है, अतः उपादान है, एवं कुन्तों का अतिगहनत्व सूचन करना प्रयोजन है, अतः यह प्रयोजनवती सारोपा उपादानलज्ञणा है।

किंदि में सारोपा लच्च एलच्चणा का उदाहरण — किंदि हिं — यहाँ किल्डिश व्याप्त किंदि प्राप्त किंदि होते से सारोपा है, श्रीर प्रयोजनामाव तथा प्रसिद्धि के कारण किंदि है। मेंति — पुरुष श्रीर किंदिश का श्राधारा- ध्रेय भाव सम्बन्ध यहां लच्चणा का प्रयोजक है।

प्रयोजन में सारोपा लक्षणलक्षणा का उदाहरण देते हैं—"अपुर्वतम्" यद्यपि घृत आयु का कारण है, आयु नहीं, तथापि कार्यकारणभाव सम्बन्ध से आयु का सम्बन्धी घृत यहां आयु के साथ अभिन्न प्रतीत होता है, अतः यह सारोपा है। 'आयुः' शब्द आयुके कारण को उपलक्षितमात्र करता है, अतः यह लक्षणलक्षणा है, पत्रम् अन्य वस्तुओं की अपेक्षा, घृत विलक्षण रीति से आयु पैदा करता है और अव्यभिचार से आयुष्य का कारण है—अर्थात्

यथा वा-राजकीये पुरुषे गच्छृति 'राजासौ गच्छृति' इति । अत्र स्वस्वामि भावतत्त्व्याः संबन्धः । यथा वा--- ऋग्रमात्रेऽवयवभागे 'हस्तोऽयम्' । ऋग्रावयवाः वयविभावलत्त्रणः संबन्धः। 'ब्राह्मणोऽपि तत्त्वासौ'। ऋत्र तात्कम्पलत्त्रणः। 'इन्द्रार्थीसु स्थूगासु अमी इन्द्राः' । अत्र तादर्थ्यलच्गाः संबन्धः । एवमन्यत्रापि । निगीर्गास्य पुनर्विषयस्यान्यतादात्म्यमतीतिकृत्साध्यवसाना । अस्यारचतुर्षु भेदेषु पूर्वोदाहरणान्येव ॥

श्रवश्य ही श्रायु का हितकर है, यह बात द्योतन करना इस लच्चणा का

प्रयोजन है, श्रतः यह प्रयोजनवती है।

शक्यार्थ के साथ अनेक प्रकार के सम्बन्ध लच्चणा के प्रयोजक होते हैं, यह दिखलाने के लिये अनेक प्रकार के उदाहरण देते हैं —यथावेति —राजसम्बन्धी किसी बड़े ब्रादमी के गमन समय में भी ''राजाऽसौ गच्छति" यह प्रयोग होता है। यह भी सारोपा प्रयोजनवती लच्च एतच्या है। 'ग्रसौ' पद से विषय का पृथक् निर्देश किया है और राजा के साथ उसका अभेद प्रतीत होता है, अतः सारोप है। राजशब्द राज सम्बन्धी का उपलक्षण है श्रौर उस पुरुष की सम्पत्ति श्रादि की श्रधिकता द्योतन करना इस लच्चा का प्रयोजन है। अत्र स्वस्वामीति— यहां स्वस्वामिभावसम्बन्ध लच्चणा का प्रयोजक है।

अन्य उदाहरण देते हैं - अप्रेति - हाथ के केवल अग्रभाग को 'हस्तोऽयम्' कहा जाता है। यह रूढि में सारोपा लक्षणलक्षणा का उदाहरण है। यहां अवयवा वयविभावसम्बन्ध है। 'श्रयम्' पद से निर्दिष्ट श्रयमाग का हाथ के साथ अभेदारीप है और 'हस्त' शब्द उपलक्षण है पवम् इस लक्षणा का कारण प्रसिद्धि ही है, प्रयोजन कुछ नहीं। अन्य सम्बन्ध का उदाहरण — नाह्मणोपीति बढ़ई का काम करनेवाले ब्राह्मण को भी 'तबाडसी' कहा जाता है। यह प्रयो जनवती सारोपा लत्तणलत्तणा का उदाहरण है। बढ़ई के सब कामों में प्रवी णता सूचित करना इसका प्रयोजन है। यहां 'तात्कर्म्य' सम्बन्ध है, क्योंकि ब्राह्मण बढ़ई का काम करता है। अन्य उदाहरण-इन्द्रेति यज्ञ में इन्द्र के लिये गाड़ी गई स्थूणात्रों ( खम्मों ) को 'अमी इन्दाः' कहा जाता है। यह प्रयो जनवती सारोपा लक्षण्वक्षा का उदाहरण है। यहां इन्द्र के समान पूज्यत्व द्योतन करना प्रयोजन है श्रीर ताद्रथ्य सम्बन्ध है। इसी प्रकार श्रन्य उद्दी हरण भी जानना।

उक्त सब सारोपा तत्त्वणा के उदाहरण दिये हैं, श्रव साध्यवसाना के विष्य में कहते हैं--निगीर्णस्याते--निगीर्ण (पूर्वोक्र ) विषय का अन्य (विषयी) के साथ अमेद ज्ञान करानेवाली लज्ञणां 'साध्यवसाना' कहाती है। इसके इन बार भेदों के उदाहरण पूर्वोक्त ही जानना। यथा—कृष्टि में साध्यवसाना उपादित लंबणा का उदाहरण है 'श्वेता भावति' श्रीर प्रयोजन में 'कुन्ताः प्रविशन्ति'। एवं साध्यवसाना तत्त्र एतत्त्रणा का किंदि में 'कलिक्षः साहसिकः' श्रौर प्रयोजन में 'गङ्गायां घोषः' यह उदाहरण है। इनका वर्णन पहले ही हो चुका है।

### साहरयेतरसंबन्धाः शुद्धास्ताः सकता अपि ॥ ६ ॥ साहरयात्तु मता गौएयस्तेन षोडश भेदिताः।

ताः पूर्वोक्ता अष्टभेदा लच्चणाः । सादृश्येतरसंबन्धाः कार्यकारणभावादयः । अत्र शुद्धानां पूर्वोदाहरणान्येव । रूढावुपादानलच्चणा सारोपा गौणी यथा— 'एतानि तैलानि हेमन्ते सुखानि' । अत्र तैलशब्दस्तिलभवस्नेहरूपं मुख्यार्थमुपा-

किसी का मत है कि 'अश्वः श्वेतो धावति' इस 'उदाहरण में उपादान लक्षणा मानना ठीक नहीं, क्योंकि यहां उपादान नहीं है। जैसे 'कुन्ताः प्रविश्वित' में लक्षणा करने पर कुन्तों का भी प्रवेश-किया में अन्वय होता है वैसे इस उदाहरण में नहीं होता, क्योंकि 'श्वेत' गुण है और गुणों में किया रहती नहीं—'गुणादिनिंग्रेणिकियः'— अतः धावन किया में श्वेत का अन्वय नहीं हो स्कता, इसिलिये इसे लक्षणलक्षणा मानना चाहिये और उपादान लक्षणा का उदाहरण 'श्वेतः शोमते' हो सकता है। शोभा गुणों में भी रहती है। गमनादि किया ही गुणों में नहीं रहती।

श्रीर भेद दिखाते हैं —साहर्यति —ये पूर्वोक्त श्राठ प्रकार की (चार सारोपा श्रीर चार साध्यवसाना ) लक्षणार्य यदि साहश्य से इतर (भिन्न) किसी सम्बन्ध के द्वारा सिद्ध हुई हों तो 'श्रुद्धा' कहलाती हैं श्रीर यदि साहश्य सम्बन्ध ही इनका प्रयोजक हो तो इन्हें 'गौणी' लक्षणा कहते हैं। इस प्रकार सोलह भेद होते हैं। साहश्य से भिन्न —कार्यकारणभावादि —सम्बन्ध भी लक्षणा के प्रयोजक होते हैं। इनके उदाहरण श्रभी दिये जा चुके हैं। इनमें से श्रुद्धा लक्षणा के प्रयोजक होते हैं। इनमें से श्रुद्धा लक्षणा के प्रयोजक होते हैं।

किंद में गौणी सारोपा उपादान लक्षण का उदाहरण देते हैं। पतानि तैलानीति—अनेति—यहां तैल शब्द तिलों से उत्पन्न स्नेह (तिल का तेल) कप मुख्य अर्थ का उपादान करके ही सरसों आदि के स्नेह का बोधन करता है, अतः यह उपादान लक्षणा है। ताल्य —यह है कि 'तैल' शब्द का अक्तरार्थ है 'तिलों से उत्पन्न स्नेह'। इस कारण तिलतेल ही इस शब्द का मुख्य अर्थ है, किन्तु साहश्य होने के कारण सरसों आदि के स्नेह को भी तैल ही कह देते हैं। उक्त उदाहरण में तिलमव स्नेह का परित्याग नहीं हुआ है, अतः यह गौणी उपादान लक्षणा है। लक्षणा का यहां कोई व्यक्तय प्रयोजन नहीं, तैल शब्द की मिसिद्ध ही इस प्रयोग का कारण है, अतः यह किंदिमुलक लक्षणा है। 'पतत' शब्द से विषय का निर्देश है, अतः यह सारोपा है। इस प्रकार यह उदाहरण किंदिमुलक सारोपा गौणी उपादान लक्षणा का है।

पश्न—यदि तिलमव स्नेह भी यहां सम्मिलित है तो वाक्यार्थ में मुख्य अर्थ का अन्वय भी बना रहा, उसका बाध नहीं हुआ, अतः यहां लक्षणा नहीं होनी चाहिये, क्योंकि मुख्यार्थ के बाध में ही लक्षणा होती है। उत्तर—यहां एतत् शब्द से तिल, सरसीं, अलसी आदि के अनेक तेल विवित्त हैं और तैल शब्द से केवल तिल का तेल बोधित होता है, अतः इन दोनों पदार्थों

दायैव सार्षपादिषु स्नेहेषु वर्तते । प्रयोजने यथा — राजकुमारेषु तत्सदृशेषु व गच्छत्सु 'एते राजकुमारा गच्छन्ति' । रूढावुपादान तद्या साध्यवसाना गौणी यथा—'तैलानि हेमन्ते सुखानि' । प्रयोजने । यथा—'राजकुमारा गच्छन्ति'। रूढौ लच्यालच्या सारोपा गौग्री यथा—'राजा गौडेन्द्रं शोधयित'। प्रयोजने यथा—-'गौर्वाहीकः'। रूढौ लक्त्रणलक्त्रणा साध्यवसाना

का सामानाधिकरएय से ग्रन्वय नहीं होसकता—यही यहां मुख्यार्थ का बाव है। यद्यपि पतत् पद के अर्थ का एक देश तिलतैल भी है, परन्तु केवल उसी के साथ तैल एद के अर्थ का अन्वय होना असंभव है। इस प्रकार का पकदेशान्वय व्युत्पत्तिसिद्ध नहीं है। श्री. रा. च. त. वा.।

प्रयोजन का उदाहरण देते हैं राजकुमारेति—राजकुमार श्रीर उनके सदश श्रम कुमारों के साथ साथ जाने पर "एते राजकुमारा गच्छुन्ति" यह प्रयोग होता है। यहां पतत् शब्द से विषय का निर्देश होने के कारण आरोप है। राजकुमारों का भी इसमें उपादान है श्रीर श्रन्य कुमारों का राजकुमारों के तुल्य आदरणीय होना इस लच्चणा का प्रयोजन है। सांहश्य सञ्चन्ध इसका प्रयोजक है। इस प्रकार यह प्रयोजनवती सारोपा गौं खी उपादान लच्चणा है। इन्हीं दोनों उदाहरणों में से विषयवाचक एतत्पद के निकाल देने से वे साध्यवसाना के उदाहरण हो जायेंगे—यही दिखलाते हैं-रूढावित्यादि-प्रयोजने इति ।

किंदि में सारोपा गौणी लच्च एलच्या का उदाहरण देते हैं -- राजा गौडेन्द्रमिति-'कएटक' शब्द का अर्थ है कांटा-इसका गौडेन्द्र शब्द के अर्थ- (राज विशेष) के साथ सामानाधिकरएय से सम्बन्ध अनुपपन है, अतः कएक शबंद सादृश्य सम्बन्ध से, कांटे की तरह दुंखं देनेवाले चुद्र शत्रु का उप लक्षण है-यहां मुख्य अर्थ का उपादान नहीं है। गौडेन्द्र शब्द से विषय क पृथक् निर्देश होने के कारण आरोप है। कएटक शब्द की चुद्र शत्र में प्रसिद्धि होने से रुढि है।

प्रयोजन में इसी लच्चा का उदाहरण देते हैं -गौर्वाहीकः - पञ्जाब का ती बाहीकदेश है- "पश्चानां सिन्धुषष्ठानामन्तराहेषु ये स्थिताः। बाहीका नाम ते देशा न ही दिवसं वसेत्"। यहां बोहीकदेशनिवासी किसी पुरुष की मुर्खता भरी क्रिया को देखकर किसी ने कहा कि 'गौर्बाहीकः'—बाहीक बैल है। यहां गो शुन साद्द्रयसम्बन्ध से बाद्दीक को लक्षित करता है, अतः यह गौगील हाणा बाहीक की श्रत्यन्त मुर्खता का चोतन करना प्रयोजन है। शेव वर्ष पूर्ववत् जानना।

उक्त दोनों उदाहरणों में से विषयवाचक पदीं—गौडेन्द्र आर बाहीक निकाल देने से ये साध्यवसाना के उदाहरण होते हैं, यह दिस्राते हैं वित्यादि। क्रिया के विना केवल 'गीः' कहने से लक्ष्णा का भान नहीं होता गौग्री यथा—'राजा कएटकं शोधयति' । प्रयोजने यथा—'गौर्जल्पति'। अत्र केचिदाहु:—-गोसहचारिग्रो गुणा जाडचमान्चादयो लच्चयन्ते । ते च गोशब्दस्य वाहीकार्थाभिधाने निमित्तीभवन्ति । तदयुक्तम् । गोशब्दस्यागृहीतसंकेतं वाहीकार्थमभिधातुमशक्यत्वात् । गोशब्दार्थमात्रबीधनाचाभिधाया विरतत्वाद्, विरतायारच पुनरुत्थापनाभावात् ।

श्चन्ये च पुनर्गोशव्देन वाहीकार्थों नाभिधीयते । किंतु स्वार्थसहचारिगुण-साजात्येन वाहीकार्थगता गुणा एव लच्चन्ते । तदप्यन्ये न मन्यन्ते । तथाहि— अत्र गोशव्दाद्दाहीकार्थः प्रतीयते, न वा । आद्ये गोशब्दादेव वा । लच्चिताद्वा

न वाक्य ही बनता है, श्रतः क्रियासहित उदाहरण देते हैं 'गौर्जल्पित' जल्प धातु का श्रथं है व्यक्षवाणी बोलना उसमें कर्तृत्वरूप से गौ का सम्बन्ध नहीं हो सकता, श्रतः लच्चणा होती है।

'गौर्बाहीकः' इत्यादि वाक्यों से अर्थज्ञान के विषय में मतभेद दिखाते हैं— अत्र केचिदिति —िकिसी का मत है कि 'बाहीक गौ है' इस वाक्य के सुनने पर गी शब्द से वैल का ज्ञान और बाहीक शब्द से बाहीकदेशवासी का ज्ञान अभिधा शक्ति के द्वारा होता है, किन्तु इन दोनों का सामानाधिकरएय से अन्वय अनुपपन्न होने के कारण गो शब्द अपने सहचारी जडत्व, मन्द्रवादि गुणों को लक्तणा से बोधन करता है श्रीर फिर वे ही गुण गो शब्द से श्रमिधा के द्वारा वाहीकरूप अर्थ का बोधन करने में निमित्त (प्रवृत्ति निमित्त ) होते हैं। इसका खएडन करते हैं-तद्युक्तमिति-यह ठीक नहीं, क्योंकि एक तो गो शब्द का संकेत (शक्ति) बाहीक में गृहीत नहीं है, श्रतः श्रगृहीतसंकेत अर्थ (बाहीक) का गो शब्द से अभिधान करना अशक्य है, विना शक्तिकान के कोई शब्द किसी अर्थ का अभिधान नहीं करता -दूसरे यहां गो शब्द अपने पशुरूप अर्थ को अभिधाशिक के द्वारा पहले बोधन कर चुका है, अतः उसकी वह शक्ति विरत हो चुकी और विरतशक्ति का फिर उत्थान नहीं हो सकता, क्योंकि ''शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य पुनर्व्यापाराभावः" यह नियम है । श्रतः जब यहां गोशब्द पहले श्रमिधा के द्वारा पशुविशेष का बोधन कर चुका है तो फिर लच्या से जाड्यादि गुर्यों का बोधन करने के अनन्तर दूसरी बार उसकी वह शिक्त जागृत नहीं हो सकती।

इसी विषय में दूसरा मत दिखाते हैं—अन्ये चेति—दूसरे लोगों का यह मत है कि गोशब्द से अभिधाशिक के द्वारा बाहीकरूप अर्थ का बोधन नहीं होता, किन्तु गोशब्द अपने अर्थ—पशुविशेष—के साथ रहनेवाले जाड्यादि गुणों के सहश होने के कारण, बाहीक गत जाड्यादि गुणों का ही लच्चणा से बोधन करता है। इसका भी खएडन करते हैं तदपीति—यह बात भी अन्य लोग नहीं मानते—तथाहीति—उक्त मत का विकल्पों द्वारा खएडन करते हैं—अनेति—यह तो कहो कि तुम्हारे मत में गोशब्द से बाहीकरूप अर्थ की प्रतीति होती है या नहीं ? यदि होती है तो गोशब्द से ही होती है या गोशब्द से लिंकत

गुणादिवनाभावद्वारा । तत्र न प्रथमः । वाहीकार्थस्यासंकेतितत्वात् । न द्वितीर्यः। अविनाभावलम्यस्यार्थस्य शाब्देऽन्वये प्रवेशासंभवात् । शाब्दी ह्याकांचा शब्देनैव पूर्वते । न द्वितीयः । यदि हि गोशब्दाद्वाहीकार्थो न प्रतीयेत, तदास्य वाहीक शब्दस्य च सामानाधिकरएयमसंगतं स्यात्।

तस्मादत्र गोशब्दो मुख्यया वृत्त्या वाहीकशब्देन सहान्वयमलभमानोऽज्ञत्वादिसा धर्म्यसंबन्धाद्वाहीकार्थं लत्त्यति । वाहीकस्याज्ञत्वाद्यतिशयबोधनं प्रयोजनम् । इयं व

गुणों से श्रविनाभाव के कारण ? गोशब्द से बादीक के जाड्यादि गुण लित होते हैं स्रोर गुण गुणी के विना रह नहीं सकते । यही गुणों का गुणी स्रर्थात द्रव्य के साथ अविनाभाव कहाता है। तत्रेति—इनमें पहला मत ('गोशब्द से ही बाहीक की प्रतीति होती हैं यह ) तो इस लिये ठीक नहीं कि गोशब्द का बाहीक में संकेतग्रह ही नहीं है। श्रीर दूसरा मत (श्रविनाभाव द्वारा बोधन) भी ठीक नहीं, क्योंकि जो अर्थ अविनाभाव के द्वारा लब्ध होता है उसका शाय बोध में प्रवेश नहीं होता। इसमें हेतु देते हैं-शान्दीहीति-'शन्द सम्बन्धिनी आका ङ्का शब्द से ही पूर्ण होती है, यह नियम है। यह बात शब्दाध्याहारवादी के मतानुसार कही है-अर्थाध्याहारवादियों के मत में तो अविनामाव द्वार लन्य पदार्थों का भी सम्बन्ध शान्द्वोध में होता ही है, अतएव उपाधि-शक्षि वाद में अविनाभाव द्वारा लब्ध व्यक्ति का शाब्द बोध में अन्वय होता है। प्रथम बार किये हुए विकल्पों में से द्वितीय विकल्प (गो शब्द से वाहीक की प्रतिति नहीं होती) का खएडन करतेहैं -- दितीय इति -यदि गोशब्द से बाहीक की प्रतीति न हो तो गोपदार्थ के साथ बाहीक का सामानाधिकरएय ही असंगत

इस प्रकार अन्य मतों का निराकरण करके अपना सम्मत पक्ष दिखाते हैं-तस्मादिति—इस लिये न तो गोशब्द से पहले जाड्यादि गुगों को लच्चणाद्वार उपस्थित करके फिर उन्हें प्रवृत्तिनिमित्त बना के श्रिभिधाद्वारा बाहीक क उपस्थापन करना ठीक है, और न बाहीक के गुणों का लच्चणा के द्वारा बोध करना ही युक्तियुक्त है, किन्तु उक्त उदाहरण (गौर्वाहीकः) में गोशब्द मुख वृत्ति (अभिधा) के द्वारा बाहीक के साथ सामानाधिकरएय से अन्वित हो सकने के कार्ण मूर्खत्वादि साहश्य (सम्बन्ध) से बाहीकरूप अर्थ की लच्चणाद्वारा उपस्थित करता है। व्यञ्जना के द्वारा बाहीक की मूर्खता श्राहि

का आधिक्य द्योतित करना इस तत्त्रणा का प्रयोजन है।

इयं चेति—यह लच्चणा 'गुण' अर्थात् जडत्वादि साधारण धर्मी का 'बी अर्थात् सम्बन्ध होने के कारण 'गोंणी' कहाती है। तात्पर्य यह है कि इस प्रका की तत्त्वणाये, जिनमें साधारण धर्मों के सम्बन्ध अर्थात् सादृश्य के तस्यार्थ का मान होता है व गौणी कहाती हैं और पहली ('गङ्गायां घीडी इत्यादि ) उपचार न होने के कारण 'शुद्धा' कहाती हैं। उपचार ही गी लच्या का मूल है।

गुण्योगाद्गौणित्युच्यते । पूर्वा तूपचारामिश्रणाच्छुद्धा । उपचारो हि नामात्यन्तं विश-कलितयोः शब्दयोः (१ –पदार्थयोः) सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदमतीतिस्थगनमात्रम् । यथा—'श्रिग्निमाण्यकयोः' । शुक्लपटयोस्तु नात्यन्तभेदमतीतिः । तस्मादेवमादिषु शुद्धैव लक्त्या।

व्यङ्गयस्य ग्ढाग्ढत्वाद् द्विधा स्युः फललत्त्वणाः ॥ १० ॥

प्रयोजने या अष्टभेदा लच्चणा दर्शितास्ताः प्रयोजनरूपन्यङ्गचस्य गूढागूढतया प्रत्येकं द्विधा भूत्वा पोडश भेदाः। तत्र गूढः,वाक्यार्थभावनापरिपक्कबुद्धिविभवमात्रवेद्यः। यथा—'उपकृतं वहु तत्र-—'इति । अगूढः, अतिस्फुटतया सर्वजनसंवेद्यः। यथा— 'उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि ।'

उपचार का लक्ष्ण करते हैं—उपचारो हीति—अत्यन्त मिन्न अर्थात् पृथक्षप से मिन्न भिन्न प्रतीति के विषय—एक दूसरे के साथ अत्यन्त निराकाङ्च — दो पदार्थों के भेद्ज्ञान का, साहश्यातिशय (अत्यन्त समानता) के कारण छिप जाना ही उपचार कहाता है — जैसे ''अनिर्माणवकः'' 'सिंहो माणवकः'' इत्यादिश किसी ने कहा कि 'यह वालक सिंह हैं — यहां वालक और सिंह इन दोनों पदों से भिन्न भिन्न अर्थ प्रतीत होते हैं। इनका आपस में सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता। जंगल का कर् मृगराज और मजुष्य का छोटा साबालक ये दोनों भिन्न र प्रतीतियों के विषय होते हैं। इनमें से कोई एक दूसरे के लिये साकाङ्च नहीं, परन्तु अत्यन्त भिन्न होने पर भी क्र्रता, श्र्ता आदि समान गुणों के द्वारा अतिशय साहश्य होने के कारण इन दोनों की भिन्नता की प्रतीति यहां द्व गई है। इसी 'भेदप्रतीतिस्थगन' को उपचार कहते हैं—और इससे जो लच्चण होती है उसे गौणी लच्चण कहते हैं। उपचार के लच्चण में आये हुए 'अत्यन्त' शब्द की ब्यावृत्ति दिखाते हैं। उपचार के लच्चण में आये हुए 'अत्यन्त' शब्द की ब्यावृत्ति दिखाते हैं— यक्षप्रतीति — 'युक्तःपटः' इत्यादि प्रयोगों में यद्यपि युक्त गुण और पटक्त द्व्य भिन्न भिन्न हैं— परन्तु वे सिंह और माणवक की मांति अत्यन्त भिन्न नहीं, अतः यहां उपचार नहीं है। तस्मादिति— इसलिये इस प्रकार के प्रयोगों में युद्धा लच्चण ही जानना।

इस प्रकार इन पूर्वाक्त सोलह प्रकार की लच्चणाओं में आठ कि स्वाक हैं और आठ प्रयोजनमूलक, उनमें से प्रयोजनमूलक लच्चणाओं के और भेद दिखाते हैं—व्यक्तयस्थित । प्रयोजने इति—प्रयोजन (फल) में जो आठ प्रकार की लच्चणायें दिखाई हैं ने प्रयोजनक्ष व्यक्तय के गृढ और अगृढ होने के कारण दो प्रकार की होती हैं, अंतः इनके इस प्रकार सोलह भेद होते हैं। तनेति—उनमें 'गृढ' उस व्यक्तय को कहते हैं जो वाक्यार्थ के विचारने में परिपक्क दि के विभव अर्थात् सूक्ष्मार्थदर्शनसामर्थ्य से ही जाना जा सकता है, साधारण बुद्धि से ज्ञातव्य नहीं होता । यथेति—जैसे 'उपकृतं बहु तन' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य । 'अगृढ उस व्यक्तय को कहते हैं जो अत्यन्त स्फुट होने के कारण सबकी समक्त में आ सके । जैसे—उपदिशतीति—'ललनाओं को यौवन का मद' ही 'ललित'

अत्र 'उपदिशति' इत्यनेन 'आविष्करोति' इति लच्यते । आविष्कारातिशय-

श्चाभिघेयवत्स्फुटं प्रतीयते ।

धर्मिधर्मगतत्वेन फलस्यैता अपि द्विधा।

एता अनन्तरोक्ताः षोडशभेदा लच्चणाः फलस्य धर्मिगतत्वेन धर्मगतत्वेन व प्रत्येकं द्विधामूला द्वात्रिशद्भेदाः ।

दिङ्मात्रं यथा---

'स्निग्धरयामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्वलाका घना वाताः शीकरिगाः पयोदसुद्धदामानन्दकेकाः कलाः । कामं सन्तु, दृढं कठोरद्वदयो रामोऽस्मि, सर्वं सहे वैदेही तु कथं भविष्यति, हृहा हा देवि धीरा भव॥'

त्रर्थात् हाव, भाव त्रादि का उपदेश कर देता है। उपदेश देना चेतन का ही काम है और मद जड़ है, श्रतः यहां लच्चणा से 'उपदिशाति' का श्रर्थ 'श्राविष्क्रोति' (प्रकट करता है) होता है। श्रीर श्राविष्कार का श्रविशय, जो यहां व्यक्ष्य प्रयोजन है वह श्रीभधेय श्रर्थ की भांति स्फुट रूप से प्रकाशित होता है।

इन्हीं सोलह भेदों में और भेद दिखाते हैं। धर्मधर्मेत्यादि-एता इति—ये अभी कही हुई सोलह प्रकार की लच्चणायें फल (व्यक्षनागम्य प्रयोजन), के धर्मिगत और धर्मगत होने के कारण फिर दो प्रकार की (प्रत्येक) होती हैं, अतः इनके बत्तीस भेद होते हैं। कुछ थोड़ा (दिङ्मात्र) उदाहरण दिखाते हैं। स्निग्धेति—वर्षा के विलासों को उमड़ता देख, सीता के विरह से कातर भगवान रामचन्द्र की उक्ति है—स्निग्ध, श्याम कान्ति से आकाश को व्याप्त करनेवाले, और बलाका जिनके पास विहार कर रही हैं ऐसे मेघ भले ही उमड़ें तथा शीकरी (छोटे र जलकणों से युक्त) मन्द मन्द समीर स्वच्छन्दतापूर्वक चले और मेघों के मित्र मयूरों की आनन्द भरी मनोहर कुहकें भी यथेच्छ सुनाई दें। में अत्यन्त कठोर हृद्य 'राम' हूं। सब कुछ सहन कढंगा। परन्तु अति सुकुमारी कोमलहृदया वैदेही की क्या दशा होगी ? हा देवि। भेर्य रखना।

श्राकाश निराकार है, उसपर लेपन नहीं हो सकता, श्रतः इस पद्य में 'लिहें पद का लक्षणा से 'व्यात' अर्थ होता है। श्रीर सोहाई (मित्रता) चेतन की धर्म है। वह जड़ मेघों में नहीं हो सकता, श्रतः यहां 'सुहत्' का अर्थ, श्रानिदे' दायक है। इन दोनों में वाच्यार्थ श्रत्यन्त तिरस्कृत है।

इसके वक्ता स्वयं राम ही हैं, अतः केवल 'अस्मि' कहने पर भी 'अहम्' पर की प्रतीति के द्वारा राम का बोध हो ही जाता, इस लिये प्रकृत में राम पर की मुख्य अर्थ अनुपयुक्त होने से, लक्षणा के द्वारा 'दुःख सहनशील' रूप अर्थ की बोधक होता है। 'मैं राम हूं' अर्थात् पिता के अत्यन्त वियोग, राज्यत्याप वनवास, जटाचीर धारण, स्त्री-हरण आदि अनेक दुःखों का सहन करनेवाल (अत्यन्त कठोर हदय) 'राम' हूं!! मैं सब कुछ सहन कर सकूंगा! यहां 'र अत्रात्यन्तदुः खसहिष्णुरूपे रामे धर्मिणि लच्ये तस्यैवातिशयः फलम् । 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र तटे शीतत्वपावनत्वरूपधर्मस्यातिशयः फलम् ।

तदेवं लच्याभेदारचत्वारिंशन्मता बुधैः ॥ ११ ॥

क्रदावष्टौ फले द्वात्रिंशदिति चत्वारिंशल्लक्षणाभेदाः।

किं च-

### पद्वाक्यगतत्वेन प्रत्येकं ता अपि द्विधा।

कठोरहृदयः' यह एद उक्त लक्ष्यार्थ की उपस्थित में सक्षायता देते हैं। 'राम' एद ग्रथान्तरसंक्रमितवाच्य है, क्यों कि यह तुःखसिहृष्णुत्वक्ष विशेष ग्रथं का बोधन करता है। यहां 'राम' एद दुःखसिहृष्णुत्वेन रूपेण श्रीरामचन्द्रजी को ही वोधित करता है ग्रीर व्यञ्जना से उन्हीं का श्रतिशय प्रतीत होता है, श्रतः इस लच्चणा का फल धर्मिगत (धर्मी श्रथीत् द्रव्य में स्थित) है। एहले कही हुई दोनों लच्चणाश्रों ('पयोद सुहृत्'—'लिप्तवियत्') में लक्ष्य धर्मी का ही श्रतिशय बोधन होता है। यह सब लच्चणाम् लक व्यक्त्व, इस पद्य से प्रतीयमान विप्रलम्म श्रक्षार के श्रक्ष हैं। श्रवेति—यहां श्रत्यन्त दुःखसिहृष्णुत्विविशिष्ट राम (धर्मी) लक्ष्य है श्रीर उन्हीं का श्रतिशय व्यक्षनाद्वारा बोधित फल (प्रयोजन) है।

धर्मगत फल का उदाहरण देते हैं—गहायां घोषः इत्यादि—इस उदाहरण में शीतत्व पावनत्वरूप धर्म का अतिशय व्यक्षना के द्वारा बोधित होता है। यह व्यङ्गध अतिशय, शीतत्व-पावनत्वरूप धर्म में रहता है। अतः धर्मगत फल का उदाहरण जानना।

वस्तुतः विश्वनाथजी का यह कथन असंगत है। प्राचीन आचारों से भी विरुद्ध है और इनके अपने कथन से भी विरुद्ध है, अतः इसे इन्हों के अपने शब्दों में 'स्ववचनविरोधादेवाऽपास्तम्' समभना चाहिये। 'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरण में धर्म लक्ष्य है ही नहीं, प्रत्युत तट रूप धर्मी लक्ष्य है। काव्यप्रकाश में लिखा है—'गङ्गायां घोष इत्याद्धी ये पाननत्वादयो धर्मास्तराद्धी प्रतीयन्ते' और स्वयं विश्वनाथजी भी 'गङ्गादिशन्दो जलमयादिरूपार्थनाचकत्वात्रकतेऽसंमवन्'' तरादि बोधयि लिख चुके हैं। इससे स्पष्ट है कि इनके मत में भी तट ही लक्ष्य है, जो कि धर्मिरूप है, धर्म नहीं। इसी धर्मी (तट) में शीतत्व पावनन्त्वातिशयरूप धर्म व्यञ्जना के द्वारा बोधित होता है। यह बात भी विश्वनाथजी स्त्रयं लिख चुके हैं। "गङ्गातरे घोष इति प्रतिपादनाऽलभ्यस्य शीतत्वपावनत्वातिशयस्य बोधनरूप प्रयोजनम्" इस प्रकार 'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरण में न तो शीतत्वादि धर्म लक्ष्य हैं और न उनका अतिशय मात्र व्यङ्गय फल ही है, प्रत्युत शीतत्वातिशय फल है और वही व्यङ्गय है, अतः धर्मगत फल के उदाहरण में इसे रखना असंगत है। इसके उदाहरण में 'उपदिशति कामिनीनो योवनमद एव लिखतानि' इत्यादिक पद्य रखने चाहिये।

तदेविमिति—इस प्रकार रूढि में आठ मेद और प्रयोजन में बत्तीस मेद होने से सब गिलकर लच्चा के चालीस भेद होते हैं।

श्रीर भेद दिखाते हैं। पदेति—ता इति—ये सब श्रमी कही हुई चालीसो

ता अनन्तरोक्तारचत्वारिशद्भेदाः । तत्र पदगतत्वे यथा—'गङ्गायां घोषः'। वाक्यगतत्वे यथा—'उपकृतं बंहु तत्र' इति । एवमशीतिप्रकारा लच्च्या ॥ अथ व्यञ्जना ।

# विरतास्वभिधाचासु ययार्थी बोध्यते परः ॥ १२ ॥ सा वृत्तिव्यंक्षना नाम शब्दस्यार्थीदिकस्य च ।

'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः'इतिनयेनाभिधालच्यातात्पर्याख्यासु तिसृषु वृत्तिषु स्व स्वमर्थं बोधयित्वोपचीणासु ययान्योऽथों बोध्यते सा शब्दस्यार्थस्य प्रकृतिप्रत्ययादेश्च शक्तिव्यं अन्यन्तनामनप्रत्यायनादिव्यपदेशविषया व्यञ्जना नाम।

प्रकार की लच्चणायें पद में भी रहती हैं और वाक्य में भी रहती हैं, श्रतः फिर प्रत्येक दो प्रकार की होती हैं। तत्रेति—उनमें पद्गत के उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' इत्यादिक हैं और वाक्य के 'उपकृतं बहु तत्र' इत्यादिक हैं। एविमिति— इस प्रकार सब मिलकर लच्चणाओं के श्रस्सी भेद होते हैं।

इति लच्यानिरूपयम्।

#### अथ व्यञ्जना

विरतास्विति—अपना अपना अर्थ बोधन करके अभिधा आदिक वृत्तियों के शान्त होने पर जिससे अन्य अर्थ का बोधन होता है, वह शब्द में तथा अर्था-दिक में रहनेवाली वृत्ति (शक्ति) 'व्यञ्जना' कहाती है। शब्देति—शब्द, बुद्धि श्रीर कर्म इनमें विराम के अनन्तर फिर व्यापार नहीं होता। जैसे देवदत्त ने किसी के थप्पड़ मारा—श्रव थप्पड़ लगने के बाद लाख यल करने पर भी वह थंपड़ वे लगा नहीं किया जा सकता। उस विरत-क्रिया को फिर कोई वापिस नहीं कर सकता। एवं रस्सी को देखकर किसी को सर्पबुद्धि होगई और वह डर गया तो फिर चाहे कुछ यस किया जाय पहला ज्ञान निकल नहीं सकता। यह दूसरी बात है कि रस्सी का ज्ञान होने पर पहले ज्ञान की असत्यता प्रतीत हो जाय और अपने डर जाने पर हँसी भी आये, परन्तु उस पहले इति में अब कोई व्यापार नहीं हासकता—वह नहीं निकाला जा सकता। इसी प्रकार शब्द भी एक बार ही व्यापार करता है। अतएव अपना अपना अर्थ उपस्थित करके 'अभिधा' 'खन्ए।' और 'तात्पर्य' नामक शब्दकी तीन वृत्तियों (व्यापारी) के उपत्तीण हो जाने पर जिसके द्वारा और अर्थ बोधित होता है वह शब्द निष्ठ अर्थनिष्ठ, प्रकृतिनिष्ठ, प्रत्ययनिष्ठ तथा उपसर्गादिनिष्ठ शक्ति व्यञ्जना कहाती है श्रीर वही व्यञ्जना, ध्वनन, गमन, प्रत्यायन श्रादि नामों से भी व्यवहृत होती हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे पदार्थीपस्थित के अनन्तर अभिधा के विरत ही पर 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि सथलों पर तट आदि अर्थ का बोधन करने के लिये दूसरी शक्ति (लच्या) माननी पड़ती है। उसी विरत अभिधा को फिर् नहीं उठाया जा सकता। इसी प्रकार जब यह पूर्वोक्त तीनों शक्तियाँ अभिधेया लक्ष्य खीर तात्पर्यार्थं का बोधन करके विरत हो चुकीं तो उसके अनन्तर प्रतीत तत्र--

अभिधालच्णामूला शब्दस्य व्यञ्जना द्विधा ॥ १३॥ अभिधामूलामाह——

अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगायैर्नियन्त्रिते । एकत्रार्थेऽन्यधिहेतुव्येञ्जना साभिधाश्रया ॥ १४॥

आदिशब्दाद्विपयोगादयः। उक्तं हि——

> 'संयोगो विषयोगरच साहचर्यं विरोधिता । श्र्यः पकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः ॥ सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः । शंब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥' इति ।

'सशङ्खचको हरिः' इति शङ्खचकयोगेन हरिशब्दो विष्णुमेवाभिधत्ते। 'अशङ्खचको

होनेवाला अर्थ इन तीनों में से किसी के द्वारा उत्पन्न हुआ नहीं कहा जा सकता; क्यों कि ''शब्दबुद्धिकर्माणां विरम्य व्यापारामावः'' यह नियम है, अतः उक्त अर्थ को बोधन करने के लिये कोई चौथी वृक्ति अवश्य माननी पहेगी। उसी को व्यक्षना कहते हैं।

व्यक्षना अनेक प्रकार की होती हैं, यह कह चुके हैं—उनमें शाब्दी व्यक्षना के मेद कहते हैं। तनेति — श्रमिषेति — शाब्द की व्यक्षना दो प्रकार की होती है। एक अमिषामुल क और दूसरी लच्चणामुल क। उनमें श्रमिषामुल का स्वरूप दिखाते हैं — श्रनेकार्थस्पेति — संपोग आदि के द्वारा अनेकार्थक शब्द के प्रकृतोपयोगो एक अर्थ के निर्णीत होजाने पर भी जिसके द्वारा अन्य अर्थ का ज्ञान होता है, वह व्यक्षना अभिधाशया (अभिधाशिक्त के आश्रित) समक्षनी चाहिये। श्रादीति — इस कारिका में 'आदि' (अथवा 'श्राध') पद से विप्रयोग आदि का ग्रहण है।

संयोगादि का निरूपण करते हैं उक्त हीति—संयोग, विषयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, अन्य शब्द का संनिधान, सामर्थ्य, श्रोचिती (श्रोचित्य), देश, काल, व्यक्ति श्रोर स्वरादिक ये सब शब्द के अर्थ का 'अन-वच्छेद' (तात्पर्य का श्रानिर्णय अथवा तात्पर्य में सन्देह) होने पर विशेष ज्ञान के कारण होते हैं। अर्थात् जब कहीं किसी अनेकार्थक शब्द का तात्पर्य स-निद्य होता है तो प्रकरणादि के द्वारा विशेष ज्ञान हुआ करता है।

संयोगादिकों के क्रम से उदाहरण दिखाते हैं। सरांखचक इत्यादि—अनेकार्थकं शब्द के किसी एक ही अर्थ के साथ प्रसिद्ध संबन्ध को संयोग कहते हैं। हरि शब्द के अनेक अर्थ हैं—जैसे "यमाऽनिलेन्द्रचन्द्रार्किविष्णुतिहां शुवा जिष्ठ । शुका हिका पेमे केषु हिंती किपले त्रिषु" इत्यमरः, परन्तु शंख, चक्र का संबन्ध केवल विष्णुही के साथ प्रसिद्ध है, अतः 'सरांखचको हिः' यह कहने पर शंख चक्र के संयोग से हरिपद विष्णु का ही बोधन करता है।

हरिः'इति तिह्योगेन तमेव। 'भीमार्जुनौ' इति अर्जुनः पार्थः। 'कर्णार्जुनौ' इति कर्णः सूतपुत्रः। 'स्थाणुं वन्दे' इति स्थाणुः शित्रः। 'सर्वं जानाति देवः' इति देवो भवान्। 'कुपितो मकर्प्वजः, इति मकर्प्वजः कामः । 'देवः पुरारिः' इति पुरारिः शिवः। 'मधुना मत्तः पिकः' इति मधुर्वसन्तः । 'पातु वो दयितामुखम्' इति मुखं सांमुख्यम्।

वियोग का अर्थ विश्लेष है और विश्लेष वहीं होता है जहां संयोग हो, अतः 'ब्रांखचको हरिः' कहने पर भी हरिपद वियोग के कारण विष्णु को ही कहता है। साथ रहने का नाम साहचर्य है। यद्यपि भीमपद का अर्थ भयानक है और श्रजु न का श्रर्थ एक 'जङ्गली वृत्त' है, परन्तु 'भीमार्जनो' कहने से दोनों सह चारी पाएडवों का ही वोध होता है।

प्रसिद्ध वैर का नाम विरोधिता है। 'कर्णार्जुनी' कहने पर प्रसिद्ध विरोध के कारण 'कर्ण' शब्द से स्तपुत्र महावीर कर्ण का ग्रहण होता है, कान का नहीं।

प्रयोजन को 'ग्रर्थ' कहते हैं श्रीर चतुर्थी विभक्ति श्रादि से उसका का होता है। यद्यपि 'स्थाणु'-पद का अर्थ खम्मा और शिव दोनों हैं, परनु 'स्थाग्रुं वन्दे भवन्त्रिदे' इत्यादिक उदाहरणों में संसारोच्छेद रूप अर्थ शिवजीहे ही सिद्ध होता है, खम्मे से नहीं, अतः स्थागुपद का अर्थ यहां शिवही है। वक्ता और श्रोता की बुद्धिस्थता को प्रकरण कहते हैं। 'सर्वे जानाति देवः' यह

'देव' पद का अर्थ प्रकरगुगत राजा आदि है, अप्रकृत नहीं।

. अनेक अर्थों में से किसी एक ही के साथ रहनेवाले और साचात् शब्द से वीव धर्म का नाम 'लिक्न' है (स्त्रीलिक्न, पुंलिक्न आदि को 'व्यक्ति' शब्द से कहेंगे)। यद्यपि मकरध्वज का अर्थ समुद्र भी है परन्तु 'क्विपतो मकरध्वजः' इस वाक्य में ए पद से कामदेव का ही ग्रहण है, क्योंकि की परूप लिङ्ग समुद्र में नहीं रहता। अनेकार्थक शब्द के किसी एक ही अर्थ के साथ रहनेवाले पदार्थ के वार्व शब्द का सामीप्य 'श्रन्यशब्द सिन्निधि' से अभीष्ट है। यद्यपि पुर का अर्थ है। भी है, 'पुरं देहेंपि दरयते'—परन्तु 'देव' पद के संनिधान से 'पुरारि' का अर्थ शह ही है, देहादि नहीं।

'मधु'पद दैत्य, वसन्त, मद्य आदि अनेक अर्थों का वाचक है, परन्तु कोकि को मस्त करने का सामर्थ्य वसन्त ऋतु में ही है, अतः 'मधुना मत्तः पिकः' रि

वाक्य में मधुपद का अर्थ वसन्त ही है।

प्रियतमा के कुपित हो जाने के कारण खिन्न पुरुष के प्रति किसी मिन्नी सखी की डिक्त है "पातु वो दियतापुखम्" यहां श्रीचित्य के कारण मुखपद का सांमुख्य (श्रद्धकुलता) है। प्रतिकृतता से खिन्न पुरुष का खेद श्रद्धकृती दूर कर सकती है, श्रतः उसी का श्रहण उचित है। कामार्तपुरुष के परि की योग्यता द्यिता के सांमुख्य ( त्रांजुकूल्य ) में ही है, केवल मुखं में ही . मुख, यदि कुपित हो, तब तो उलटा अयावह है।

श्रीचिती का अर्थ योग्यता है। यद्यपि 'चन्द्र' का अर्थ कपूर आदिक भी

'विभाति गंगने चन्द्रः' इति चन्द्रः शशी। 'निशि चित्रभानुः' इति चित्रभानुर्वेहिः। 'भाति रथाङ्गम्' इति नपुंसकव्यक्त्या रथाङ्गं चक्रम् । स्वरस्तु वेद एव विशेष-प्रतीतिकृत काव्य इति तस्य विषयो नोदाहृतः।

इदं च केऽप्यसहमाना आहु:--'स्वरोऽपि काकादिरूप: काव्ये विशेष-प्रतीतिकृदेव । उदात्तादिरूपोऽपि मुनेः पाठोक्तदिशा शृङ्गारादिरसिवशेषप्रतीति-कृदेव इत्येतद्विषये उदाहररामुचितमेव' इति, तन्न । तथाहि - स्वराः काकादयः उदात्तादयो वा व्यङ्गचरूपमेव विशेषं मत्याययन्ति, न खलु मक्कतोक्तमनेकार्थशब्द-स्यैकार्थनियन्त्रग्ररूपं विशेषम् । किं च यदि यत्र कंचिदनेकार्थशब्दानां प्रकरगादि-नियमाभावादिनयन्त्रितयोरप्यर्थयोरनुरूपस्वरवशेनैकत्र नियमनं वाच्यं तदा तथा-विधस्थले रलेषानङ्गीकारमसङ्गः । न च तथा । व्यत एवाहुः रलेषनिरूपग्रापस्तावे— 'काव्यमार्गे स्वरो न गएयते इति च नयः'। इत्यलमुपजीव्यानां

परन्तु 'विमाति गगने चन्द्रः' यहां चन्द्रमा का ही बोध होता है, क्योंकि आकाश (देश) में वही रहता है। 'निशि चित्रमातुः' यहाँ चित्रमातुः का अर्थ अगिन है, सूर्य नहीं। रात्र (काल) में वही होती है।

व्यक्ति का अर्थ स्त्रीलिङ्ग पुँलिङ्ग आदि व्यक्ति है। 'माति त्थाङ्गम्' में नपुंसकत्व

के कारण पहिये का ही प्रहण होता है, चक्रवाक का नहीं।

'स्वर' उद।त्तादिक वेद में ही विशेष ऋर्थ के निर्णायक होते हैं। जैसे 'वृत्र-रातुः' यद्वां पूर्वपदप्रकृतिस्वरं बहुवीहि का श्रीर श्रन्तोदात्त, तत्पुरुष समास का निर्णायक होता है, परन्तु काव्य में इससे अर्थ का निर्णय नहीं होता, श्रतः इसका उदाहरण नहीं दिया।

इदबेति—कोई लोग इसको सहन न करके कहते हैं कि स्वरोपीति—काकु आदि कएडस्वर काव्य में विशेष अर्थ की. प्रतीति कराता ही है। और उदात्त श्रादि स्वर भी भरत मुनि के कथना जुसार श्रङ्कारादि रस का प्रत्यायक होता ही है । नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने - 'श्टूङ्गार ग्रीर हास्य में स्वरितोदात्त तथा करुणादि रस में अनुदान स्वरित करना चाहिये'-इत्यादि स्वरनियम लिखा है। इस लिये इसका भी उदाहरण देना ही चाहिये। इसका खण्डन करते हैं। तन्नेति-यह बात ठीक नहीं। क्योंकि काकु आदि अथवा भरतोक्त उदात्तादि स्वर केवल व्यङ्गय अर्थ की ही विशेषता बताते हैं। इस प्रकरण में कहे हुए अनेकार्थक शुब्द के किसी एक अर्थ को निर्णीत करना इनका काम नहीं है। ये स्वर अनेकार्थक शब्द को किसी एक अर्थ में नियन्त्रित नहीं करते। किवेति. इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त प्रकरणादि का नियम न रहने के कारण जहां अनेकार्थक शन्दों के दो अथवा अधिक अर्थ अनियन्त्रित (अनिवारित) रूप से प्रकट होते हैं वहां अनुकूल स्वर के कारण यदि एक ही अर्थ की उपस्थिति मानी जायगी तो ऐसे स्थलों में श्लेष का परित्याग करना पहुंगा। नचेति—परन्तु ऐसा है नहीं । स्वरमेद होने पर भी श्लेष माना जाता है। अतएव श्लेषालङ्कार निरूपण के अवसर में यह कहा है कि. 'काव्य मार्ग में

व्याख्यानेषु कटाक्तिक्पेण। आदिशब्दात् 'एतावनमात्रस्तनी--'इत्यादौ हस्तादि चेष्टादिभिः स्तनादीनां कमलकोरकाद्याकारत्वम् ।

एवमेकिसमन्तर्थेऽभिधया नियन्त्रिते या शब्दार्थस्यान्यार्थबुद्धिहेतुः

साभिधामुला व्यञ्जना । यथा मम तात्पादानां महापात्रचतुर्दशभाषाविलासिनीभुजंगमहाकवीरवाः

श्रीचन्द्रशेखरसांधिविग्रहिकाणाम्—

'दुर्गालिङ्कतिविग्रहो मनसिजं संमीलयंस्तेजसा पोद्यदाजकलो गृहीतगरिमा विष्वग्वृतो भोगिभिः। नच्त्रेशकृतेच्यो गिरिगुरौ गाढां रुचि धारयन् गामाक्रम्य विभूतिभूषिततन् राजत्युमावल्लभः॥

स्वर की परवाह नहीं की जाती'। स्वरभेद होने पर भी शिलष्ट अर्थ की प्रतीति मानी जाती है। इस लिये उपजीव्य ( श्राश्रयभूत ) श्रौर मान्य लोगों

की की हुई पूर्वीक व्याख्या पर कटाच करना ठीक नहीं।

"कालो व्यक्तिः स्वरादयः" यहां पर आदि पद से हाथ आदि की चेष्टायें ली जाती हैं, यह बताते हैं - एतावन्मात्रेत्यादि - एविमिति - इस प्रकार श्रमिधा के द्वारा एक अर्थ के नियन्त्रित होने पर भी शब्द के अन्य अर्थ के ज्ञान का कारण जो शक्ति है उसे अभिधामुला व्यञ्जना कहते हैं। इसके उदाहरण में अपने पिता का बनाया उदाहरण देते हैं। यथा ममेत्यादि — 'सान्धिविग्रहिं .उस मन्त्री को कहते हैं जो अन्य राजाओं के साथ व्यवहार्य नीति का निर्ण करे और उनके साथ सन्धि या विष्रह कराये। दुर्गेत्यादि—यह पद्य उमा नाम रानी के पित राजा भानु देव की प्रशंसा में लिखा गया है, अतः प्रकरण के नियमन से उन्हीं का बोध होता है, परन्तु शब्दरचना इस प्रकार की जिससे महादेवपरक अर्थ भी व्यञ्जना से प्रतीत होता है और फिर अन्त्य में इन दोनों ( राजा और शिव ) का उपमानोपमेयभाव फलित होता है दुर्गेति - दुर्ग (क़िला) से नहीं रोका गया है विश्वह (युद्ध ) जिसका अर्थाव जो राजा किलों को तोड़कर शत्रु को परास्त करता है अथवा जो किलों में है नहीं—मैदान में त्राकर युद्ध करता है—तेज अर्थात् अपनी देहच्छवि है कामदेव को भी तिरस्कृत करता हुआ, अभ्युद्य से युक्त 'राजक' अर्थात् रा समृह को 'ल' ग्रहण करनेवाला अर्थात् त्रजुचरक्रप से राजसमृह को रखी वाला, गौरवयुक्त, सुखमोग करनेवाले पुरुषों से सब श्रोर उपासित, वर्ग (बड़े २ राजात्रों) पर भी नज़र नहीं डालनेवाला, गिरि (हिमालय) गुरु ( श्वग्रुर ) जिन्का उन महादेवजी में श्रथवा 'ग्ररी महत्यां गिरि वायान गौरवयुक्त वाणी यद्वा सरस्वती में प्रगाढ़ प्रेम रखनेवाला, विभूष ( पेश्वर्य ) से अलंकृत है शरीर जिसका वह उमा नामक रानी का वियत राजा भाजुदेव पृथ्वी को जीतकर शोभित होता है। इस पद्य में वित्रह, संमीलयन, राजकल, भोगि, नचत्रेश, गिरिगुरु, गाम्, विभूति,

प्रकरणोनाभिधेये उमावल्लभशब्दस्योमानाममहादेवीवल्लभभानुदेवनृपति-रूपेऽर्थे नियन्त्रिते व्यञ्जनयैव गौरीवल्लभरूपोऽर्थो बोध्यते । एवमन्यत् । लच्याम्लामाह—

बच्चोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम् । यया प्रत्याय्यते सा स्याद्रयञ्जना बच्चणाश्रया ॥ १५॥

'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ जलमयाद्यर्थबोधनादिभिधायां तटाद्यर्थबोधनाच लत्त-णायां विरतायां यया शीतत्वपावनत्वाद्यतिशयादिबोंध्यंते सा लच्चणामूला व्यक्तना। एवं शाब्दीं व्यञ्जनामुक्त्वार्थीमाह —

वकतृबोद्धव्यवाक्यान।मन्यसंनिधिवाच्ययोः। प्रस्तावदेशकालानां काकोरचेष्टादिकस्य च ॥ १६॥ वैशिष्टचाद्न्यमर्थं या बोधयेत्सार्थसंभवा। व्यञ्जनेति संबध्यते।

इत्यादिक पदों से शंकरपरक अर्थ भी भासित होता है। इनमें 'उमा' पद सबसे प्रधान है। यथा-जिनका आधा 'वित्रह' (देह) 'दुर्गा' (पार्वती) से 'लङ्कित' (आकान्त) है और तृतीयनेत्र के तेज से कामदेव को भस्म करनेवाले. 'राजा' अर्थात् चन्द्रमा की कला जिनके मस्तक पर उदय हो रही है, चारों श्रोर 'मोगि' ( खर्पों ) से श्रावृत, चन्द्रमा के द्वारा देखनेवाले, हिमालयहर अपने गुरु (मान्य) में प्रगाढ़ प्रीति रखते हुए, भस्म (विभूति) से भूषित है देह जिनका वे 'उमा' (पार्वती) के प्रियतम भगवान् शंकर 'गौ' (वैल= नन्दीश्वर ) पर चढ़कर शोभित होते हैं । अनेति यहां प्रकरण के द्वारा 'उपावल्लमः' शब्द का "उमा नामक महादेवी के वल्लम मानुदेवनृपति" यह श्रमिधेय अर्थ निश्चित होने पर भी व्यक्षना ही के द्वारा गौरीवल्लम ( शंकर) रूप अर्थ बोधित दोता है। इसी प्रकार और उदाहरण भी जानना।

श्रभिधाम् तक व्यञ्जना हो चुकी। श्रव लक्त्णामूलक व्यञ्जना का निरूपण करते हैं। लच्योपास्यते इति—जिसके लिये लच्चणा का आश्रयण किया जाता है वह प्रयोजन, जिस शक्ति के द्वारा प्रतीत होता है वह व्यञ्जना लच्चणाश्रया ('लज्ज्णामूलक) कहाती है। इसी को स्पष्ट करते हैं—गंगायामिति —'गंगायां घोषः' इत्यादिक स्थलों में श्रमिधा के द्वारा 'गङ्गा' पद से जलमय (प्रवाह) रूप मुख्य अर्थ को बोधित करके अभिधा के शान्त होने पर और तटादि रूप लक्ष्यार्थ का बोधन करके लच्चणा के विरत होने पर शीतलता और पवित्रता का आधिक्य जिस शब्दशक्ति के द्वारा प्रतीत होता है उसे लच्चणामूलक व्यञ्जना कहते हैं। एवमिति — इस प्रकार शब्द की व्यक्षना का निरूपेण करके अर्थमूलक व्यक्षना कहते हैं -विक्त्रिति -वक्ता, (कहनेवाला) बोद्धव्य (जिससे बात कही जाय) वाक्य, अन्य का सिन्नधान, वाच्य, (अर्थ) प्रस्ताव, (प्रकर्ण) देश, काल काकु, (गले की विशेष ध्वनि) तथा चेष्टा आदि की विशेषता के कारण जो शब्दशक्ति सन्य अर्थ का बोधन करती है, वह अर्थमूलंक व्यञ्जना है।

तत्र वक्तृवाक्यप्रस्तावदेशकालवैशिष्टचे यथा मम—

'कालो मधुः कुपित एष च पुष्पधन्वा
धीरा वहन्ति रतिखेदहराः समीराः ।

केलीवनीयमपि वञ्जुलकुञ्जमञ्जु
र्दुरे पतिः कथय कि करणीयमद्य॥'

अत्रैतं देशं पति शीघ्रं पच्छ्रचकामुकस्त्वया प्रेष्यतामिति सखीं पति कयाचि-

द्यज्यते । बोद्धन्यवैशिष्ट्ये यथा--

'नि:शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निमृ ष्टरागोऽधरो नेत्रे दूरमनञ्जने पुलिकता तन्त्री तत्रेयं तनुः । मिथ्यात्रादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥'

अत्र तदन्तिकमेव गतासीति विपरीतलज्ञ्णया लच्यम् । तस्य च रन्तुमिति

व्यङ्गचं प्रतिपाद्यत्तीवैशिष्टचाद्वोध्यते ।

वक्ता, वाक्य, प्रकरण, देश और काल की विशेषता के कारण उत्पन्न हुरं व्यक्षना के उदाहरण में अपना ही बनोया पद्य लिखते हैं—यथा ममेति—काल इत्यादि—नायिका अपनी सखी से कहती है। वसन्ते ऋतु का उत्मादक समय है और फिर यह कामदेव कुपित है, रितिश्रम को हरनेवाला धीर समीर मन्द मन्द चल रहा है। अशोक के कुआं से रमणीय, कीड़ा के योग्य यह छोटासा वन है और पित दूर है। हे सखी, बता तो सही, अब क्या करना चाहिये! अति—इस पद्य में ''यहां शीप्र प्रच्छक्षकामुक को त् भेज'' यह बात व्यक्षना के द्वारा सचित की है।

बोद्धव्य की विशेषता का उदाहरण देते हैं। निःशेषेत्यादि—नायक को बुकाने के लिये प्रेषित, किन्तु नायकोपभुक्त और अपने को वापीस्नान करके आहें वताती हुई दूतों के प्रति कुषित नायिका की उक्ति है—'निःशेषेति' तेरे स्तन तटों से चन्दन सब छूट गया है, अधरोष्ठ का रंग बिल्कुल साफ़ हो गया है नेत्रों के प्रान्त अञ्जन से शून्य हैं, और तेरी दुर्वल देह, पुलकित हो रही है वान्धवजन की (मेरी) व्यथा को न समस्रनेवाली हे मिध्यावादिनी दूती, विश्वां से वापी में स्नान करने गई थी और उस अधम (नायक) के पास नहीं गई थी। अनेति—इस पद्य में 'न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ' इस अंश से विपरीत लच्चणा के द्वारा 'तदिनतकमेन गतासि' (उसी के पास गई थी) 'यह अर्थ लिंदि होता है और उसका 'रन्तुम्' (रमण करने को) यह अर्थ व्यक्त्य है जीवि प्रतिपाद्य दूती की विशेष दशा के कारण बोधित होता है। प्राचीन त्यां नवीन आचारों ने इस पद्य में विपरीत लच्चणा नहीं मानी है, यह विश्वनाधी का ही मत है, परन्तु इससे इस पद्य का चमत्कार और महत्त्व एक दम हो गया। 'चित्रमीमांसा' और 'रसगङ्गाधर' में इसकी विशिष्ट व्याख्या है। गया। 'चित्रमीमांसा' और 'रसगङ्गाधर' में इसकी विशिष्ट व्याख्या है। गया। 'चित्रमीमांसा' और 'रसगङ्गाधर' में इसकी विशिष्ट व्याख्या है। गया। 'चित्रमीमांसा' और 'रसगङ्गाधर' में इसकी विशिष्ट व्याख्या है।

ब्रान्यसंनिधिवैशिष्ट्ये यथा--

·उत्र िराचल शिष्फन्दा भिसिग्गिपत्तिम्म रेहइ बलात्रा।

श्चिम्मलमरगत्र्यभात्र्यस्पिहित्रा सङ्घसुति व्व॥

अत्र बलाकाया निःस्पन्दत्वेन विश्वस्तत्वम् , तेनास्य देशस्य विजनत्वम्, अतः संकेतस्थानमेतदिति कयापि संनिहितं पच्छनकामुकं पत्युच्यते। अत्रैव स्थान-निर्जनत्वरूपं व्यङ्गचार्थवैशिष्ट्यं प्रयोजनम् ।

'भिन्नकएठध्वनिर्धारै: काकुरित्यभिधीयते' इत्युक्तमकारायाः काकोर्भेदा आक-रेम्यो ज्ञातव्याः । एतद्वैशिष्ट्ये यथा--

'गुरुपरतन्त्रतया बत दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम्। अलि कुलंको किलललिते नैष्यति सखि, सुरभिसमयेऽसौ॥

अन्य संनिधि की विशेषता का उदाहरण देते हैं—उद्य गिचल इति—''पर्य निश्चल, निष्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका । निर्मलमरकतमाजनपरिस्थिता शंखशुक्तिरिव — निर्जन वनकुञ्ज में खरोवर के किनारे श्रपने पास में स्थित, निश्चेष्ट प्रियतम से नायिका की उक्ति है —हे निश्चल, देख, कमिलनी के पत्ते पर बैठा हुआ बगला, निर्मल मरकत (पन्ने) की थाली में रक्खे हुए शंख के समान सुन्दर दीखता है। अतेति —यहां बगले को शंख की तरह (एक जड़ पदार्थ की मांति) 'निष्पन्द' कहने से उसकी विष्ट्रवस्तता द्योतित होती है। वगला निःशङ्क वैठा है, इससे मालूम होता है कि यह स्थान निर्जन है और निर्जनता के कारण यह संकेंतस्थान है, यह बात कोई अपने संनिहित प्रच्छन्न कामुक से व्यञ्जना के द्वारा कहतीं है। 'वच' धातु की शक्ति अभिधान में है और प्रकृत पद्य में संकेत-स्थानत्व का बोध अभिधा के द्वारा नहीं होता, ब्यञ्जना के द्वारा होता है, अतः मूलग्रन्थ में 'उच्यते' के स्थान पर 'बोध्यते' कहना अधिक उपयुक्त था। अतेवेति—इसी पद्य में व्यङ्गयार्थ ( संकेतस्थान ) का निर्जनत्वक्रप वैशिष्ट्य यहां प्रयोजन है। श्रीर यह प्रयोजन 'श्रन्य सिन्निधिवैशिष्ट्य' के द्वारा व्यक्त होता है। वक्ता और बोद्धव्य इन दोनों से 'अन्य' है बलाका। उसकी संनिधि में वैशिष्ट्य है निःस्पन्दत्व। उसी के द्वारा यहां इस स्थान का निर्जनत्व व्यक्षित होता है। 'भिन्नक एठे' त्यादि पद्य में कही हुई काकु के भेद, आकर प्रन्थ (नाट्य शास्त्र आदि ) से जानने चाहिये । बदली हुई कएउध्विन को काकु कहते हैं। प्तिदिति—इसकी (काकुकी) विशेषता का उदाहरण देते हैं। ग्रहपरेति—सखी से नायिका की उक्ति है—गुरु (पिता आदि) के अधीन होने के कारण अत्यन्त दूरदेश में जाने के लिये उद्यत, यह मेरा प्रियतम हे सखि, अमरसमृह और को किलों से मनोहर, वसन्त ऋतु में नहीं आयेगा। जो गुरुजनों के अधीन है वह अपने मन में उत्कर्णा उत्पन्न होने पर भी उनके आगे न कह सकेगा और देश अत्यन्त दूर है, अतः अकेले आने की अनुमित भी न पा सकेगा—पवम् विना अनुमति के आभी न सकेगा। यह बात नायिका की.

अत्र नैष्यति, अपि तर्हि एष्यत्येत्रेति काका व्यज्यते । चेष्टावैशिष्ट्ये यथा—

'संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विद्ग्धया । इसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥'

अत्र संध्यासंकेतकाल इति पद्मिनिमीलनादिचेष्टया क्याचिद्दचोत्यते । एवं वक्त्रादीनां व्यस्तसमस्तानां वैशिष्ट्ये बोद्धव्यम् ।

त्रैविध्यादियमर्थानां प्रत्येकं त्रिविधां सता ॥ १७॥

अर्थानां वाच्यलद्यव्यङ्गचत्वेन त्रिरूपतया सर्वा अप्यनन्तरोक्ता व्यञ्जनाः स्त्रिविधाः । तत्र वाच्यार्थस्य व्यञ्जना यथा—'कालो मधुः'— इत्यादि । लद्द्यार्थस्य यथा—'निःशेषच्युतचन्दनं'— इत्यादि । व्यङ्गचार्थस्य यथा—'उत्र गिचल-' इत्यादि । प्रकृतिप्रत्ययादिव्यञ्जकत्वं तु प्रपञ्चयिष्यते ।

शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थोन्तराश्रयः। एकस्य व्यञ्जकत्वे तद्नयस्य सहकारिता॥ १८॥

यतः शब्दो व्यञ्जकत्वेऽर्धान्तरमपेत्तते, ऋथोंऽपि शब्दम्, तदेकस्य व्यञ्जकते-ऽन्यस्य सहकारितावश्यमङ्गीकर्तव्या ।

उक्ति से अभिव्यक्त होती है। सखी ने इसी पद्य को अपने गले की दूसरी व्वित से पढ़ दिया तब यह अर्थ व्यक्षित होने लगा कि गुरुपरवश होने के कारण जा रहा है (अन्यथा जाता भी नहीं) फिर वसन्त समय में, 'नैव्यितं। क्या नहीं आयेगा ? अर्थात् अवश्य आयेगा। यह बात काकु से व्यक्त होतीहै।

चेष्टावैशिष्ट्य का उदाहरण देते हैं। संकेतित — चतुर सखी ने चिट को संकेत काल का 'जिश्वासु' जानकर विकसित नेत्रों से भाव बताते हुए लीलाकमत बन्द कर दिया— अत्रेति-यहां कमल के मूँद देने से किसी ने यह सूचित किंग कि संध्या (जब कमल मुकुलित होते हैं) संकेत का समय है। एवमिति—इसी प्रकार बक्का आदि की विशेषताओं के पृथक्र तथा मिले हुए उदाहरण जानना

त्रैविष्यादिति-त्रर्थानामिति — त्रार्थ — वाच्य, लक्ष्य और व्यञ्ज्य इन तीन भेदी विभक्त होता है, अतः अभी कही हुई अर्थम्लक व्यञ्जनायें भी तीन प्रकार है होती हैं। उनमें वाच्य अर्थ की व्यञ्जना 'कालो मधुः' इत्यादि पद्य में दिश्ली है। लक्ष्य अर्थ की व्यञ्जना (विपरीत अर्थ के द्वारा) 'निःशेषच्युते' त्यादि श्ली में कही गई है और व्यञ्जय अर्थ की व्यञ्जना 'उन्न पिचल' इत्यादि प्राकृत के विवार है। प्रकृति, प्रत्यय आदि की व्यञ्जना का विस्तार आगे करेंगे।

शब्दबोध्य इति—श्रर्थ, शब्द से वोधित होने पर श्रिमब्यञ्जन करता है श्री शब्द मी श्रर्थ का श्राश्रय लेकर ही व्यञ्जन करता है, श्रतः एक (शब्द श्रीमें श्रर्थ) जहां व्यञ्जक होता है वहां दूसरा सहकारी (साथी) कारण रहता है यत श्यादि—शब्द श्रर्थ की श्रीर श्रर्थ शब्द की श्रपेद्धा (ब्यञ्जन में) करता श्रीस्तार एक की व्यञ्जकता में दूसरे की सहकारिता श्रवश्य माननी पड़ेंगी

# अभिधादित्रयोपाधिवैशिष्ट्यात्त्रिविधो मतः। शब्दोऽपि वाचकस्तद्वस्त्वको व्यञ्जकस्तथा॥ १६॥

अभिधोपाधिको वाचकः। लच्चणोपाधिको लच्चकः। व्यञ्जनोपाधिको व्यञ्जकः। किञ्च-

तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने। तात्पर्यार्थं तद्थे च वाक्यं तद्वोधकं परे॥ २०॥

श्रभिधाया एकैकपदार्थवोधनविरमाद्वाक्यार्थरूपस्य पदार्थन्वयस्य बोधिकातात्पर्य नाम वृत्तिः तदर्थरच तात्पर्यार्थः। तद्वोधकं च वाक्यमित्यभिहितान्वयवादिनां मतम्॥ इति साहित्यदर्पेणे वाक्यस्वरूपनिरूपणे नाम द्वितीयः परिच्छेदः।

श्रीभिषेति—श्रीभिधा स्नादि तीन उपाधियों ( व्यापारों ) के सम्बन्ध से शब्द भी वाचक, लच्चक श्रीर व्यञ्जक इन तीन भेदों में विभक्ष माना जाता है। श्रीभिधाशिक जिसका व्यापार है वह वाचक, लच्चणोपाधिक लच्चक श्रीर व्यञ्जनोपाधिक शब्द—व्यञ्जक कहलाता है।

किविति - कोई लोग (श्रीकुमारिलभट्ट प्रभृति मीमांसाचार्य) पदों से पृथक् पृथक् उपस्थित पदार्थों के, कर्तृत्व कर्मत्व आदि रूप से परस्पर अन्वय (सम्बन्ध) के बोधन के लिये, वाक्य में तात्पर्य नाम की शक्ति मानते हैं और तात्पर्यार्थं को उस वृत्ति का प्रतिपाद्य अर्थं मानते हैं - एवं वाक्य को तात्पर्यं बोधक मानते हैं। अभिषाया इति — अभिधाशक्ति के एक एक पदार्थ को अलग र .बोधन करके विरत हो जाने पर उन बिखरे हुए पदार्थों को परस्पर संबद्ध करके वाक्यार्थ का स्वरूप देनेवाली तात्पर्यनामक वृत्ति (शक्ति) है। उस वृत्ति का प्रतिपाद्य अर्थ ही तात्पर्यार्थ कहलाता है और उसका बोधक वाक्य होता है। यह अभिहितान्वयवादियों का मत है। प्राचीन नैयायिक तथा कुमारिलमङ प्रभृति जो लोग 'गौः' म्रादि पदौं से पृथकू पृथकू स्रवस्थित स्रन-न्वित अर्थ की उपस्थिति मानते हैं और उपस्थित होने के पीछे उन पदार्थी का वाक्यार्थं रूप से परस्पर अन्वय मानते हैं वे लोग 'अभिहितान्वयवादी' अर्थात् अभिहित ( अभिघा से उपस्थित ) अर्थों का अन्वय (संबन्ध ) मानने वाले कहलाते हैं। श्रीर जो प्रभाकरगुरु श्रादि, पदों से क्रियान्वयी अर्थ की उपस्थिति मानते हैं - जिनके मत में पदार्थ एक दूसरे से संबद्ध ही उपस्थित होते हैं, असंबद्ध नहीं —वे 'अन्विताभिधानवादी' अर्थात् सब पदों से अन्वित अर्थं का ही अभिधान माननेवाले कहलाते हैं। ये इस वृत्ति को नहीं मानते, अलङ्कार शास्त्र में तात्पर्य वृत्ति मानी जाती है । अधिकांश आचार्य इसके प्तपाती हैं। विश्वनाथ कविराज भी इसके पत्तपाती हैं, अतपव पद के लत्तग में 'अनिन्वतैकार्थनोधकाः' लिखा है । अनिन्वत अर्थं की उपस्थिति अभिदिता-न्वयवादी ही मानते हैं। मूल में इसी मत का निर्देश किया है, दूसरे का नहीं। इति विमलायां द्वितीयः परिच्छेदः।

तृतीयः परिच्छेदः।

श्रय कोऽयं रस इत्युच्यते— विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा। रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्॥१॥

विभावादयो वद्यन्ते।सात्त्विकारचानुभावरूपत्वाच पृथगुक्ताः। व्यक्तो द्याहि. न्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तीकृत एव रसः। न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते।

#### तृतीयः परिच्छेदः।

भावं भावं भावना बल्लवीनां नन्दं नन्दं नोदयन्तं कटाचैः।

वृन्दारएये वेणुपारिंग, रसानां देवं, वन्दे कञ्चिदानन्दकन्दम् ॥ १॥

'रसात्मक वाक्य, काव्य होता है', यह प्रथम परिच्छेद में कहा है उसां वाक्य का निरूपण कर चुके। अब रस के निरूपण के लिये जिज्ञासा पैदा करते हैं—'अब कोऽयं रस इति'—यह रस क्या वस्तु है ? रस की अभिव्यक्ति का प्रकार बतलाते हैं—विमावनेत्यादि— सहदय पुरुषों के हृद्य में स्थित, वासना रूप, रित आदि स्थायिमाव ही विभाव, अनुभाव और सञ्चारीमावों के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस के स्वरूप को प्राप्त होते हैं। काव्यादि के सुनने हे अथवा नाटकादि के देखने से आलम्बन, उद्दीपन विभावों, अ विन्तेष, कटान्नाहि अनुभावों और निर्वेद, ग्लानि आदि संवारी भावों के द्वारा अभिव्यक्त होका सहदय पुरुषों के हृद्य में स्थित, वासनास्वरूप रित, हास, शोक आहि स्थायीमाव, श्रङ्गार, हास्य और करण आदि रसों के स्वरूप में परिणत होते हैं।

विमाविति-विभाव अनुभाव आदि का लच्या आगे कहेंगे। सात्त्विकेति—यशी "विभावा अनुभावाश्व सात्त्विका व्यक्षिचांरियः" इत्यादि प्राचीन कारिकाओं में विभावारि के साथ सात्त्विकों को भी रस का व्यक्षक माना है, परन्तु वे अनुभावों के हैं अन्तर्गत हैं, अतः उन्हें यहां पृथक् नहीं कहा है। प्राचीनों ने स्तम्भ, स्वेद आरि वक्ष्यमाण सात्त्विकों का प्रधानत्या निर्देश 'गोवलीवर्द' न्याय से कर दिया है।

व्यक्त इति—प्रकृत कारिका में दूध से दही आदि की तरह दूसरे रूप में परिष होना 'व्यक्त' पद का अर्थ है। रित आदि स्थायीमाव, ज्ञान के विषय होते प ही रस कहलाते हैं-अन्य समय में नहीं। नतु इति-यह नहीं है कि जैसे दीपक विषय होते प घट प्रकाशित होता है इसी प्रकार पहले से स्थित रस, व्यक्त होता हो।

तात्पर्य यह है कि 'ब्यक्त' पद का अर्थ है प्रकाशित, और प्रकाशित की वस्तु होती है जो वहां पहले से विद्यमान हो, जैसे किसी स्थान पर रक्खा है यहा दीपक के आने पर प्रकाशित हो जाता है। परन्तु रस के विवय में बात ठीक नहीं वैठती, क्योंकि विभावादि की भावना से पहले रस होता नहीं, फिर असत् वस्तु का प्रकाश कैसे होगा ? यदि घड़ा पहले से न रही हो तो दीपक लाने पर भी कैसे व्यक्त होगा ? इस आच्चेप का दूसरे हुड़ान्त होता परिहार करते हैं— वध्यादीति—जिस प्रकार दीपक से घट व्यक्त होता है उसी प्रकार विभावादिकों से रस व्यक्त होता हो, यह बात नहीं है —िकन्तु की

तदुक्तं लोचनकारै:--'रसाः पतीयन्त इति त्वोदनं पचतीतिवद्वचवहारः' इति।

महा डालने से दूध दूसरे रूप में परिश्त हो कर दही के स्वरूप में व्यक्त होता है इस प्रकार यहां रस व्यक्त होता है। दूध में डालने से पहले महे का स्वाद पृथक प्रतीत होता है और दूधका पृथक । एवं स्वरूप में भी भेद रहता है। और इन दोनों के मेल होने पर भी कुछ देर तक यह वात रहती है, परन्तु कुछ देर के बाद न महा ही दीखता है, और न दूध ही, किन्तु उन सबका मिलमिलाकर एक पदार्थ दही ही दिश्गोचर होता है। इसी प्रकार दुष्यन्त शकुन्तला आदि आलम्बन विभाव और चन्द्र, चिन्द्रका आदि उद्दीपन विभाव, तथा भूविचेपादि अनुभाव पवं निवेदाहि संचारी—जिनको महे की तरह रसका साधन कहा जा सकता है—वे सब तथा दूध के सदश रित आदि स्थायीमाव तभी तक पृथक् र प्रतीत होते हैं और इनका आस्वाद भी तभीतक पृथक् प्रतीत होते हैं और इनका आस्वाद भी तभीतक पृथक् प्रतीत होता है जबतक मावना की प्रवल धारा से ये सब रसक्रप नहीं हो जाते। पीछे तो न विभाव पृथक् रहते हैं न अनुभाव और न अन्य कुछ । ये सबके सब अखएड, अद्वितीय, आनन्द-धन, ब्रह्मास्वाद सहोदर, चिन्मय रस के रूप में पूर्वोक्त दही की तरह परिश्तत हो जाते हैं। विभावादिकों की साधनता और रसकी व्यक्तता का यही प्रकार है। व्यक्त पद का यहां यही अर्थ है। दीपघट की भांति व्यक्त होना नहीं है।

इसमें प्रमाण देते हैं—तहुक्तमिति—यही वात लोचनकार (ध्वन्यालोक के टोकाकार श्रीमद्भिनवगुप्तपादाचार्य) ने कही है। रसा इति—"रस प्रतीत होते हैं" यह व्यवहार तो इस प्रकार का है जैसे कहते हैं कि "मात पकाते हैं"। श्रमिप्राय यह है कि जैसे पकने के बाद 'भात' या श्रोदन संज्ञा होती है, पकने से पूर्व नहीं होती। पहले तएडुल ही होते हैं। परन्तु व्यवहार 'मात पकाते हैं' यह भी होता ही है। इसी प्रकार यद्यपि प्रवीति से ही रस निष्पन्न होते हैं। प्रती-यमानही रस होते हैं प्रतीति के पूर्व नहीं होते, तथापि यह व्यवहार भी पूर्व व्यवहार ही की भांति होता है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रतीति के पूर्व रस की स्थित नहीं होती, श्रतप्रव दीपघट का ह्यान्त यहां संगत नहीं है। किन्तु पूर्वोक्त दिध का साहश्य ही संगत होता है।

यहां प्रश्न करनेवाले का यह श्रमिप्राय है कि "हरिम्मजित-प्रामं गच्छाति, घटं जानाति" इत्यादिक स्थलों में पहले से विद्यमान वस्तु ही कर्म देखी गई है। कर्ता श्रपनी क्रिया के द्वारा जिससे सम्बन्ध करना चाहता है उसे पूर्व से ही विद्यमान होना चाहिये—जैसे हरि, ग्राम-श्रीर घट, पहले से विद्यमान हैं-तभी उनका भजन ज्ञान श्रादि होता है। यदि घट हो ही नहीं तो उसका ज्ञान भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार "रसाः प्रतीयन्ते" इत्यादि व्यवहार से भी रसकी पहले से सत्ता प्रतीत होती है। यदि रस पूर्व से ही घटादि की भांति श्रव-स्थित न हो तो उसकी प्रतीति (ज्ञान) भी नहीं हो सकती।

समाधान करनेवाले का यह तात्पर्य है कि यह कोई आवश्यक बात नहीं कि पहले से विद्यमान वस्तु को ही कर्मत्व होता हो। घट करोति, बोदनं पचति-इत्यादि स्थलों में क्रिया से उत्पन्न वस्तु को भी कर्मत्व देखा गया है। उसी प्रकार रसाः

अत्र च रत्यादिपदोपादानादेव स्थायित्वे प्राप्ते पुनः स्थायिपदोपादानं रत्यादीनामिष्ति न्तरेष्वस्थायित्वप्रतिपादनार्थम्। ततरच हासक्रोधादयः शृङ्गारवीरादौ व्यभिचारिस । तदुक्तम्—

'रसावस्थः परं भावः स्थायितां प्रतिपद्यते' इति ।

अस्य स्वरूपकथनगर्भ आस्वादनप्रकारः कथ्यते-

सत्त्वेद्रिकाद्खण्डस्वप्रकाशानन्द्चिन्मयः ।

प्रतीयन्ते' में भी जानना चाहिये । कर्म सात प्रकार का होता है, अतः को दोष नहीं।

कर्म के सात भेद पदमञ्जरी में लिखते हैं—

निर्वर्त्यञ्च विकार्यञ्च प्राप्यब्चेति त्रिधा मतम् । तच्चेष्सिततमं कर्म चतुर्धान्यत्तु कल्पितम् ॥ १॥ श्रौदासीन्येन यत्प्राप्तं यच कर्त्र्रनीप्सितम्। संज्ञान्तरैरनाख्यातं यद्, यचाप्यन्यपूर्वकम् ॥ २ ॥ यद्सज्जायते यद्वा जन्मना यत्प्रकाश्यते। तिनर्वत्यं विकार्यन्तु कर्म द्वेधा व्यवस्थितम् ॥ ३ ॥ प्रकृत्युच्छेदसंभूतं किञ्चित्काष्टादि भस्मवत्। किञ्चिद्गुणान्तरोत्पत्त्यां सुवर्णादि विकारवत् ॥ ४ ॥ क्रियाकृतविशेषाणां सिद्धियत्र न गम्यते। दर्शनाद् जुमानाद्वा तत्प्राप्यमिति कथ्यते ॥ ४ ॥

श्रीशङ्करांचार्य ने शारीरक माध्य में चार प्रकार के कर्म बताये हैं। १ कार्य (घटादि) २ विकार्य (दूध का दही) ३ आप्य ( ग्रामं गच्छति इत्यादि ) श्रीर ४ संस्कार्य ( द्र्पणं प्रमार्धि इत्यादि )। रस में दृध्यादि की अपेता भी इतनी श्रीर विशेषता है कि वह प्रतीति-काल में ही रहता है। दध्यादि की भांति

प्रतीति के अनन्तर अवस्थित नहीं रहता।

अत्र नेति—रित त्रादिक स्थायीमाव ही हैं, कुछ श्रीर तो हैं ही नहीं, श्र उनका नाममात्र कह देने से भी स्थायित्व प्रतीत हो सकता था, तथापि उत् कारिका में जो 'स्थायी' पद का उपादान किया है उससे यह स्चित होता कि जो रित त्रादि, एकरस के स्थायी हैं वे ही दूसरे रस में जाकर अस्थायी हो जाते हैं, अतः श्रंगार वीर आदि रसों में हास, क्रोध आदि - जो हास श्रीर रौद्रादि रसों के स्थायी हैं सञ्जारी (श्रस्थायी) हो जाते हैं। तइक्ष यही कहा भी है। रसावस्थ इति—यहां 'परम्' अव्यय 'एवं' शब्द के अर्थ में भ्राव है। जो भाव रस की अवस्था को प्राप्त हो वही स्थायी होता है, अन्य नहीं।

श्रत्यत्यादि—रस के स्वरूप का निरूपण और उसके आस्वादन का प्रकृ बंताते हैं। सत्त्वोद्रेकादिति—यहां 'सत्वोद्रेकात्' इस पद से हेतु का निर्देश किया गया है श्रीर 'अखरड-स्वप्रकाशानन्दचिन्मयः' 'वेद्यान्तरस्परीश्रस्यः' 'ब्रह्मास्वादसहोदरः' 'ब्रोही त्तंत्वमत्कार्प्राणः' इन पद्ों से रस का स्वरूप बतलाया गया है । पर्व 'स्वाकी

वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ॥ २ ॥ लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः । स्वाकारवद्यभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥ ३ ॥

"रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते" इत्युक्तप्रकारो बाह्यमेयविमुखतापा-दकः करचनान्तरो धर्मः सत्त्वम् । तस्योद्रेको रजस्तमसी अभिभूय आविभीवः । तत्र हेतुस्तथाविधालौकिककाव्यार्थपरिशीलनम् । अखएड इत्येक एवायं विभा-

वदिभवतिन ' इससे उसके आस्वाद का प्रकार और 'कैश्रिलमातृभिः' से रसास्वाद के अधिकारियों का निर्देश किया गया है। सत्वेति—अन्तः करण में रजोगुण और तमोगुण को दवाकर सत्वगुण के सुन्दर स्वच्छ प्रकाश होने से रस का साचात्कार होता है। अखण्डेति—अखण्ड, अद्वितीय, स्वयं प्रकाशस्वक्षप आनन्दमय और चिन्मय (चमत्कारमय) यह रस का स्वक्षप (लज्जण) है वेथेति—रस के साचात्कार के समय दूसरे वेद्य (विषय) का स्पर्श तक नहीं होता। रसास्वाद के समय विषयान्तरका ज्ञान पास तक नहीं फटकने पाता, अतप्व यह ब्रह्मास्वाद (समाधि) के समान होता है। यहां 'ब्रह्मास्वाद' पद से सवितक समाधि—जिसमें आनन्द अस्मिता आदि आलम्बन रहते हैं—अमीष्ट है। निरालम्बन निर्वितक समाधि की समता इसमें नहीं है। क्योंकि रसास्वाद में विभावादि आलम्बन रहते हैं।

बोकोचरेति—श्रलौकिक चमत्कार है प्राण (सार) जिसका उस रस का, कोई ज्ञाता जिसमें पूर्व जन्म के पुण्य से वासनाख्य संस्कार है, वही अपने श्राकार की मांति श्रभिन्न रूप से श्रास्वादन करता है। जैसे श्रात्मा से भिन्न होने पर भी श्रारीरादिकों में 'गौरोऽहम्' 'काणोऽहम्' इत्यादि का श्रमेद प्रतीत होता है, इसी प्रकार श्रात्मा से भिन्न होने पर भी श्रानन्द चमत्कारमय रस श्रात्मा से श्रमिन्न प्रतात होता है। तात्पर्य यह है कि जैसे घटादिकों के ज्ञान के श्रनन्तर 'घटमहं जानामि' इत्यादि प्रतीति में ज्ञाता श्रीर ज्ञान का भेद प्रतीत होता है उस प्रकार रसास्वाद के पीछे भेद नहीं भासित होता। श्रथवा जिस प्रकार चिन्नानवादी बौद्ध के मत में घट श्रादि विज्ञान के रूप ही माने जाते हैं, उसी प्रकार विज्ञानकप श्रात्मा से श्रमिन्न रस की प्रतीति होती है।

इन कारिकाओं का व्याख्या ग्रन्थकार स्वयं करते हैं। रजस्तमोग्यामित्यादि— 'सत्त्वोद्रेकादि' पदों का अर्थ करते हैं। "रजोगुण और तमोगुण से असंस्पृष्ट अन्तःकरण को सत्त्व कहते हैं" इस प्राचीन आचार्यों की उक्ति के अनुसार बाहरी विषयों से चित्तवृत्तियों को हटानेवाला कोई अन्तःकरण का धर्म सत्त्व कहाता है उसका रजस् और तमस् को दबा के—उन्हें कार्याचम बनाके—प्रका-थित होना 'उद्रेक' पद का अर्थ है। किसी मार्मिक महाकवि से उपनिबद्ध अलोकिक काव्य के अर्थ (विभाव अनुभाव आदि) की भावना (परिशीलन) इस सत्त्वोद्रेक का कारण होता है। अखण्ड इति—'अखण्ड' पद का यह वादिरत्यादिपकाशसुखचमत्कारात्मकः । अत्र हेतुं वद्यामः—स्वपकाशत्वाक्षी वद्यमाण्यित्या । चिन्मय इति स्वरूपार्थे मयट् । चमत्कारिचत्तविस्तार्द्धणे विस्मयाप्रपर्यायः । तत्प्राण्यत्वं चास्मद्बद्धप्रितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपिर्द्धः मुख्यश्रीमन्नारायण्यादैरुक्तम् । तदाह धर्मदत्तः स्वप्रन्थे—

'रसे साररचमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते । तचमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः । तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ॥' इति । कैरिचदितिप्राक्तनपुण्यशालिभिः ।

यदुक्तम्--

'पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्रससंत्तिम् ।' इति ।

यद्यपि 'स्वादः काव्यार्थसंमेदादात्मानन्दसमुद्भवः' इत्युक्तदिशा रसस्यास्वादानिक रिक्तत्वम्, तथापि 'रसःस्वाद्यते' इति काल्पनिकं भेदमुररीकृत्य, कर्मकर्तरि वा प्रयोगः।

श्रमिप्राय है कि विभाव श्रादि तथा रित श्रादि का प्रकाश, एवं सुख श्री चमत्कार इन सबसे श्रमिन्न-एतदात्मा-रस एक ही है।

प्रश्न—जब विभाव श्रादि श्रनेक पदार्थ रसके श्रन्तर्गत हैं तो यह 'परं श्रयवा श्रवएड कैसे हो सकता है ? इसका समाधान करते हैं। अत्रोति—ए विषय में हेतु (समूहावलम्बनात्मकज्ञानस्वरूपत्व) श्रागे कहेंगे। स्वप्रकारत श्रादिक भी वश्यमाण रीति से जानना। 'चिन्मय' इस शब्द में स्वरूप श्रुर्थ मयट् प्रत्यय हुश्रा है। विस्मय नामक चित्त का विस्तार (विकास) चमका कहलाता है। रस में यही चमत्कार प्राणक्षप होता है। इस बात में अपने वृष्ट प्रितामह का प्रमाण देते हैं। श्रसादित्यादि—यही बात धर्मदत्त ने अपने श्रव में कही है-रसत्यादि—सब रसों में चमत्कार, सारक्षप से प्रतीत होता है। श्री चमत्कार (विस्मय) के सारक्षप (स्थायी) होने से सब जगह श्रद्भुत ए ही प्रतीत होता है, श्रतः परिडत नारायण केवल एक श्रद्भुत रस ही मानते हैं।

रस के त्रच्या में 'कैर्चित्रमातृभिः' आया है उसके 'कैरिचत्' पद की व्याब करते हैं कैरिचिदित्यादि । प्रयवन्त इति—जैसे कोई २ विशिष्टयोगी ब्रह्म का साह त्कार करते हैं इसी प्रकार कोई २ पुरायवान् अर्थात् वासनाख्य संस्कार से प्र सहदय पुरुष रसका आस्वाद लेते हैं। सबको रस का साचारकार नहीं होते

रस की प्रमेयता पर श्राचेप करके समाधान करते हैं। यद्यपिति—यद्या "काव्यार्थ की मावना के द्वारा श्रात्मानन्द का श्रास्वाद होता है" इस की के श्रानुसार रस श्रास्वाद करही है। श्रास्वाद से श्रातिरिक्त कोई श्रास्वाद से श्रातिरिक्त कोई श्रास्वाद से श्रातिरिक्त कोई श्रास्वाद से श्रातिरिक्त कोई श्रास्वाद रस नहीं है। तथापि 'रसः स्वावतें'—( रस श्रास्वादित होता हत्यादिक प्रयोग किएत भेद मानकर किये हुए सम्भाने चाहिये। श्राप्त का प्रयोग समभाना चाहिये। "रसः स्वयमेवास्वावते=स्वाभिनितं विषय इत्यार्थः।"

तदुक्तम्—'रस्यमानतामात्रसारत्वात्पकाशशरीरादनन्य एव हि रसः \*' इति। एवमन्य-त्राप्येवंविधस्थलेषूपचारेगा पयोगो ज्ञेयः।

नन्वेतावता रसस्याज्ञेयत्वमुक्तं भवति । व्यञ्जनायाश्च ज्ञानविशेषत्वाद् द्वयोरैक्यमा-पतितम् । ततश्च—

रस के आस्वाद रूप होने में प्रमाण देते हैं-तदुक्तमिति-रस्यमानतेति—रस में रस्य-मानता ही सार रूप होती है, अतः रस, प्रकाश शरीर (ज्ञान रूप) से अन्य नहीं है। एवमिति—इसी तरह इस प्रकार के अन्य स्थानों में भी उपचार से किया हुआ गीण प्रयोग जानना।

विनिति—प्रश्न—''प्रकाशशरीरादनन्य एव रसः''—इस कथन के अनुसार यदि रस को ज्ञानस्वरूप ही मानते हो तब तो वह अज्ञेय हुआ। 'ज्ञेय' अर्थात् ज्ञान का विषय नहीं रहा। क्योंकि ज्ञान अपने विषयभूत घटादिकों से सदा मिन्न होता है, अतः आस्वाद रूप अथवा प्रकाश (ज्ञान) स्वरूप रस भी आस्वाद और प्रकाश का विषय नहीं हो सकता। पवञ्च व्यक्षना अर्थात् व्यक्षनाजन्य प्रतीति और रस ये दोनों एक ही होगये, क्योंकि व्यक्षनाशिक के द्वारा उत्पन्न हुई प्रतीति भी ज्ञानिवशेष ही होती है और पूर्वोक्त रीति से रस भी ज्ञानिवशेष ही सिद्ध हो चुका है। इस प्रकार रस, व्यक्षनास्वरूप ही सिद्ध हुआ। वह व्यक्षना से उत्पन्न ज्ञान का विषय न सिद्ध होसका। ततश्चेति—तो फिर रस को जो व्यक्ष्य (व्यक्षना-जन्यबोध विषय) सिद्धान्तित किया है, सो कैसे बनेगा? क्योंकि पूर्व कथना-चुसार वह व्यक्षक शब्द की व्यापारभूत व्यक्षना से उत्पन्न प्रतीति से अभिन्न सिद्ध हुआ है। यहां 'ततश्च' इस हेतुवाचक पद का "क्थं रसस्य व्यक्ष्यता" इस अगले ग्रन्थ के साथ सम्बन्ध है।

श्रीतर्कवागीशजी ने इस पंक्ति की व्याख्या में तिस्ना है कि

नतु विभावादिमेलकाञ्चायमानानन्दसंबित्तिमिलितविमावादिसंविद्रस इत्युक्तं मवति । विमावादीनां मेलकश्च विभावादिविशिष्टवैशिष्टयावगाह्मेकज्ञानविषयत्वामित्यवश्यं वाच्यम् । प्रकारान्तरेण तिनि-क्ष्पणस्याशवयत्वात् । तादशज्ञानं च विभावादीनां प्रत्येकज्ञानादेव भवति । एवं च तादशज्ञानानन्तरं रसास्वादः कथं जायतामुपायामावादित्यभिप्रायेण शङ्कते—निविते । एतावता रसस्य विभावादिसमु-दायप्रकारस्य रसत्वाङ्गीकारेण । अज्ञेयत्विमिति । उपायत्वामावादित्यर्थः । स्वप्रकाशस्य स्वाज्ञत्पत्त्येवाज्ञेय-विभिति मावः । नज्ञ व्यञ्जनयेव रसास्वादो जायतामित्यत आइ—व्यञ्जनायाश्चेति । विभावादि-सम्रदायसामध्यस्य चेत्यर्थः । ज्ञानविशेषत्वाद विशिष्टवैशिष्टयज्ञानक्ष्पत्वात् ।

\*'अर्वाचीनसाहित्यविवेचना'नामक निबन्ध में हमने रस के विषय में भी विचार किया है। उसका कुछ ग्रंश बुद्धिमान् पाठकों के विनोदार्थ यहाँ उद्गृत करते हैं—

श्रथ कोऽसी रसी यत्प्रधानोऽयमधस्तादावेदितः शब्द इति रसं किञ्चिद् ।ववेचियव्यामः । तत्र श्रवाचे उपलभ्यमानेषु साहित्यसन्दर्भेषु भरतवाक्यानामुपष्टम्भकतया रद्धरणात् भरतप्रणीता एव प्रबन्धाः प्राचीनतमाः प्रामाणिकारचेति सुशकं प्रमाणीकर्तुम् । भरतेन तु साहित्यसूत्रेष्वेवमस्त्रि रसविषये ।

'विभावानुभावन्यभिचारिसंयोगाद् रसनिन्पत्ति' रिति । एतद्ब्यास्यानृषु अलङ्कारशास्त्रे अलङ्कर्मिणो रसप्रवीणः श्रीमद्भिनवगुप्तपादाचार्यस्तदनुसारिणरच, सांस्येषु संस्थावान् 'स्वज्ञानेनान्यधीहेतुः सिद्धेऽर्थे व्यञ्जको मतः । यथा दीपोऽन्यथामावे को विशेषोऽस्य कारकात्॥'

इत्युक्त दिशा घटपर्दीपवत् व्यङ्ग चव्यञ्जकयोः पार्थक्यमेवेति कथं रसस्य व्यङ्ग चतित्व चेत्, सत्यमुक्तम् । अत एवाहुः—'विलच्त्या एवायं कृतिज्ञ सिभेदेभ्यः स्वादनास्यः

श्रतंकारशास्त्र के सिद्धान्तानुसार यह नितान्त श्रसंगत प्रलाप है। हम प्रत्य विस्तर के भय से इसकी विस्तृत श्रालोचना नहीं करते। बुद्धिमान् पाठक इन दोनों व्याख्याओं के तारतम्य की परीचा कर लें।

व्यङ्गवव्यञ्जकभाव, पार्थक्य में ही हो सकता है, अभिन्नता में नहीं, इस वार

को पुष्ट करने के लिये प्राचीन कारिका लिखते हैं 'स्वज्ञानेनेति'।

हेतु दो प्रकार के होते हैं, एक कारक, दूसरे ज्ञापक अथवा व्यक्षक। जो पहले से असिख वस्तु को निष्पादित करते हैं वे कारक अर्थात् उत्पादक हेतु कहलाते हैं—जैसे चक्र, चीवर, दएड, कुलाल, कपाल इत्यादि। ये सब पहले से अविद्यमान घट को उत्पन्न करते हैं।

श्रापक हेतु का लच्या करते हैं—स्वज्ञानेनिति—श्रर्थ—''जो श्रापने ज्ञान के द्वारा सिद्ध वस्तुश्रों का ज्ञान कराता है वह व्यक्षक ( ज्ञापक ) हेतु कहलाता है जैसे दीपक। यदि घटादि वस्तु पहले से विद्यमान हो तो दीपक श्रपने ज्ञान के द्वारा उनका प्रकाश करता है। कुलाल की तरह श्रविद्यमान वस्तु को उत्पन्न नहीं कर सकता, इसिलये यह ज्ञापक हेतु है। अन्यथामाने—यदि यह न माने कि सिद्ध वस्तु काप्रकाशक ही व्यक्षक हेतु होता है तो इस व्यक्षक हेतु का प्रवौक्ष कारक हेतु से भेदं ही क्या रहेगा?'' इसुक्तेति— इस कथन के श्रवुसार घट श्रीर दीपक की तरह व्यक्षय श्रीर व्यक्षक का भेद सिद्ध होता है। व्यक्ष्य (घटाहि) व्यक्षक (दीपकादि) से श्रमिन्न कभी नहीं हो सकते। परन्तु पूर्वकथनाई सार यदि रस को व्यक्षनास्वरूप मानोगे तो रस व्यक्ष्य कैसे कहलायेगा व्यक्षना व्यक्षक का व्यापार है श्रीर व्यक्षय उस व्यापार का विषय होता है—व्यक्षना व्यक्षक का व्यापार है श्रीर व्यक्षय उस व्यापार का विषय होता है—व्यक्षरा नहीं हो सकता।

समाधान करते हैं-सत्यमिति—बात तो ठीक है। 'सत्यम्' यह अव्यय श्रारे स्वीकार में आता है। अतएवेति—इसी आशङ्का के कारण श्रीमद्भिनवगुप्तपारी चार्य ने लिखा है कि विलवण इति—कारक और ज्ञापक हेतुओं के व्यापारी कृति और ज्ञास से विलवण एक अनिर्वचनीय स्वादनाख्य व्यापार हैं

श्रीमदृनायकः,मीमांसामांस लप्रज्ञोमदृत्वोत्तटस्तद्नुगामिनश्च,न्यायनयनिष्णातःश्रीशृङ्गी श्रन्ये च उत्स्तृता श्रापि बहुवो नैकविधाभिः श्रोमुषीभिरुन्मेषितं विविधमिदं विवृण्वते

१—तत्र विभावानुभावव्यभिचारियां "संयोगात्''समुदायात् 'रसनिव्यक्तिः' रस्ति व्यवहार इति सूत्राशयं मन्वानाः कतिपये विभावादयस्त्रयः समुदिता रस इति रसस्वर्धिनिकपयन्ति । एतानेव निराकतु काव्यप्रकाशे चतुर्थेखासे, "न स्रतु विभावानुभावव्यक्ति चारिया एव रसः-श्राप तु रसस्तैरित्यरित क्रमः-स तु जाववान्न जच्यते'' इत्युक्तं भीर्यां मन्मदाचार्येया । करिचद्रघापारः' इति । अत एव हि रसनास्वादनचमत्करणादयो विलक्तणा एव व्यपदेशा इति । अभिधादिविलक्तणव्यापारमात्रप्रसाधनग्रहिलैरस्माभी रसादीनां व्यक्तग्रत्वमुक्तं भवतीति ।

नतु तर्हि करुणादीनां रसानां दुःखमयत्वाद्रसत्वं न स्यादित्युच्यते—— करुणादाविप रसे जायते यत्परं सुखम् ॥ ४॥ सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ॥

न

18

जो

रा

सि

रा

E

कि

Ŕ

गेर

हे

। ।!

गुधे

**El** 

11

1

TT'

P

fi

अविशब्दाद्वीभत्सभयानकादयः। तथाप्यसदृदयानां मुखमुद्रग्राय पन्नान्तरमुच्यते—

किंच तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्पात्तदुनमुखः ॥ ५ ॥

जो रस का साचात्कार कराता है, श्रतपव इस विषय में रसन, श्रास्त्रादन, चमत्करण श्रादिक शब्दों का व्यवहार भी विलक्षण ही होता है। कृति श्रथवा इप्ति शब्द से व्यवहार नहीं होता।

तो क्या श्रलङ्कारशास्त्र में अनेक स्थानों पर जो रस को व्यङ्गय कहा है वह ठीक नहीं ? इस श्रालेप का समाधान करते हैं। श्रीमधादीति—जो लोग (नैयायिक श्रादि) श्रीमधा श्रोर लक्षणा के श्रीतिरक्त किसी शब्द शिक्त को स्वीकार नहीं करते उनके प्रति, श्रीमधा लक्षणा श्रोर तात्पर्याख्य वृत्तियों से विलक्षणा भी कोई शब्द-व्यापार (वृत्ति) है इस बात के साधन में सयल (श्रहिल) हम लोग रस को व्यङ्गय कहते हैं। वहां रस को व्यङ्गय कहने से यह तात्पर्य है कि श्रीमधा श्रादि परामिमत वृत्तियों से रसोद्रोध शक्य नहीं है, श्रतः उसके लिये कोई श्रीतिरक्त वृत्ति श्रवश्य माननी पढ़ेगी। प्रदीप घट की तरह उसके श्रास्वाद श्रथवा व्यञ्जना से भिन्न सिद्ध करने का वहां तात्पर्य नहीं है, श्रतः रस या श्रास्वाद को व्यञ्जना का स्वरूपिवशेष मानने में श्रथवा उससे विलच्या मानने में भी कोई स्नित नहीं है।

निविति—यदि श्रानन्दमय को ही रस मानते हो तो करण वीमत्स श्रादि रस नहीं कहलायेंगे, क्योंकि ये तो दुःखमय होते हैं। इसका समाधान करते हैं। करणादाविति—करुण श्रादि रसों में भी जो परम श्रानन्द होता है उसमें केवल सहद्यों का श्रनुभव ही प्रमाण है। श्रादांत इस कारिका में श्रादि पद से बीमत्स, भयानक श्रादि रसों का ग्रहण होता है।

त्थापीति — जो सहदय नहीं हैं उनका मुँह बन्द करने को दूसरा पच उठाते हैं। किबेति — यदि करुणादि रसों में दुःख होता हो तो करुणादिरसप्रधान

रे—बहुवः पुन'विभावादीनां' 'संयोगात् 'सम्यग्योगात् —चमस्कारात् रसविष्पत्तिरितिं स्त्रार्थं पश्यन्तो विभावादिषु यः प्रधानतया चमस्कारी स एव रस इति वर्णयन्ति । इदमिष् 'न विभावादय एव रस' इति पूर्वेणैव प्रस्युक्तस् ।

रै—केचितु 'साब्यमांनो विभाव एवं रस' इति मन्यन्ते ।

४ - अन्ये साव्यमानोऽनुभावस्तथा इति कथयन्ति ।

रे विद्रतरे व सञ्चारी एव ताइशस्तथा परिवासतीस्याचवर्ते ।

निह करिचत्सचेतन आत्मनो दुःखाय प्रवर्तते । करुणादिषु च सकलस्यापि साभिनिवेशपवृत्तिदर्शनात्सुखमयत्वमेव ।

उपपत्त्यन्तरमाह—

, तथा रामायणादीनां भिवता दुःखहेतुता।

करुण्यसस्य दुःखहेतुत्वे करुण्यसमधानरामायणादिमबन्धानामपि दुःखहेतुताः प्रसङ्गः स्यात् ।

नतु क्यं दुःखकारग्रेभ्यः सुखोत्पत्तिरित्याह—

हेतुत्वं शोकहषाँदेगीतेभ्यो खोकसंश्रयात् ॥ ६ ॥ शोकहषींद्यो खोके जायन्तां नाम खौकिकाः । श्रखौकिकविभावत्वं प्राप्तेभ्यः काव्यसंश्रयात् ॥ ७ ॥ सुखं संजायने तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति का चृतिः।

ये खलु वनवासादयो लोके 'दुः खकारणानि' इत्युच्यन्ते त एव हि काव्यनाव्यसम

कान्य, नाटकादि के श्रवण, दर्शन श्रादि में कोई भी प्रवृत्त न हुत्रा करे। नहीति-क्योंकि कोई भी समसदार श्रपने दुःख के लिये प्रवृत्त नहीं होता, परन्तु करा रस के कान्यों में सभी लोग श्राप्रदपूर्वक प्रवृत्त होते हैं, श्रतः वे रसं भी सुलग्य ही हैं। दूसरी युक्ति देते हैं—तथेति —यदि करुण रस को दुःख का हेतु मानोगे ते करुण्रसप्रधान रामायण श्रादिक ग्रन्थ भी दुःख के ही हेतु मानने पहुँगे।

निनिति—प्रश्न—पिता, पुत्र आदि का वियोग, राज्यत्याग, वनवास आदि जो सब दुःख के कारण कहण रस में उपन्यस्त होते हैं उनसे सुख की उत्पत्ति कैसे होगो ? दुःख के कारण से तो दुःख कप कार्य की ही उत्पत्ति होनी चाहिये। इसका उत्तर देते हैं। हेतुत्वमिति—लोक (जगत्) के संश्रय (स्वभाव) से शोक हर्षादि के कारण कप से प्रसिद्ध, वनवासादि से लोक में लौकि शोक आदि भले ही पैदा हुआ करें, परन्तु काव्य से सम्बन्ध (संश्रय) होने पर वे कारण आलोकिक विभाव कहलाते हैं। अतः उन सबसे सुख ही होती है, यह गानने में क्या चित है ?

इसी बात को स्पष्ट करते हैं ये खिल्विति—लोक में जो वनवास आदिक दुः के कारण कहे जाते हैं, वे यदि काव्य और नाटक में नियद्ध किये जायँ तो कि

मतत्रयम्पीदमुत्सूत्रमिति प्रामाणिकाः प्राद्धः । तथाहि यथा व्याघादयो मयानक्ष विभावा एवं वीराऽद्भुतरौद्राणामि । यथा च अश्रुपातादयः श्रङ्कारस्य अनुभावा ए करुणादीनामि । चिन्तादीनां च समानं सञ्चादित्वं श्रङ्कारवीरादिषु । एवञ्च अन्यतम् रसान्तरसाधारययेन नियतरसञ्यक्षकतानुपपत्तेः सूत्रे ( भरतस्य ) मिलितानामुपार्गाः इति स्फुट एव अन्यतमेन रसनिक्पत्ति स्त्रीकुर्वतां सूत्रविरोधः ।

६—'विभावानुभावन्यभिचारिभिः'' 'संयोगात्'न्यक्षनात् 'रसस्य'निदानन्दिविधिः स्थाबिनो, रत्याद्युपहितस्य चिदानन्द्रारमनो चा 'विष्पत्तिः' स्वरूपेस् प्रकाशनम् इति प्रार Tfq

र्ग

मय

तो

गे।

दि

की

ोनी

**ाव**)

15

होने

विश

:d

क्र

利

HE

P

gA

TO

र्पिता अलौकिकविभावनन्यापारवत्तया कारणशब्दवाच्यतां विहायालौकिकविभाव-शब्दवाच्यत्वं भजन्ते । तेभ्यश्च सुरते दन्तघातादिभ्य इव सुखमेव जायते । अतश्च 'लौकिकशोकहर्षादिकारणेभ्यो लौकिकशोकहर्षादयो जायन्ते' इति लोक एव प्रतिनियमः । काव्ये पुनः 'सर्वेभ्योऽपि विभावादिभ्यः सुखमेव जायते' इति नियमान कश्चिद्दोषः ।

कथं तर्हि हरिश्चन्द्रादिचरितस्य काव्यंनाट्ययोरिप दर्शनश्रवणाम्यामश्रुपाता-दयो जायन्त इत्युच्यते—

अश्चराताद्यस्तद्भद् द्वतत्वाचेतसो मताः ॥ ८॥ तर्हि कथं काव्यतः सर्वेषामीदशी रसाभिव्यिक्तर्न जायत इत्यत त्राह— न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम्।

उनका कारण शब्द से व्यवहार नहीं होता, किन्तु ''श्रतौकिक विभाव" शब्द से व्यवहार होता है। इसका कारण यह है कि काव्यादि में उपन्यस्त होने पर उन्हीं कारणों में ''विभावन" नामक एक श्रतौकिक व्यापार उत्पन्न हो जाता है। 'विभावन' का वर्णन श्रमी श्रागे चलकर करेंगे।

जिस प्रकार लड़ाई भगड़ों में दन्ताघात, नसत्तत ग्रादि दुःस के ही कारण प्रसिद्ध हैं, परन्तु सुरत में उनसे सुस्न ही होता है। इसी प्रकार वनवासादिक भी काव्य नाट्य में सुस्न के ही जनक होते हैं। इसित्तये शोक के कारणों से शोक के उत्पन्न होने ग्रीर हर्ष के कारणों से हर्ष के उत्पन्न होने का नियम लोक में ही किसी हह तक हो सकता है। काव्यसमर्पित ग्रलीकिक विभावों में नहीं। वहां (काव्य में) तो चाहे लौकिक दुःस्न के कारण हों ग्रीर चाहे सुस्न के, परन्तु उन सबसे सुस्न ही होता है, यह नियम मानने में कोई दोष नहीं है।

पश्न—कथिति—यदि सबसे सुख ही होता है तो हरिश्चन्द्र आदि के करुण्एसमय चित्त को काव्य आदिक में देखने सुनने से आँस् गिरना आदि दुःख के कार्य क्यों दीख पड़ते हैं ? इसका उत्तर देते हैं । अधुपातेति—उस समय चित्त के दुत हो जाने के कारण अधुपातादिक होते हैं । चित्त के दुत होने का कारण केवल दुःखोद्रेक ही नहीं है—क्योंकि आनन्द से भी अधुपात देखा जाता है । तहींति—अञ्जा तो फिर काव्य से सबको इस प्रकार रस की अभिव्यिक्त (प्रकाश) क्यों नहीं होती ? इसका समाधान करते हैं— न जायते रियादि—रित आदि की वासना (संस्कारविशेष) के विना रस का आस्वाद नहीं होता । और वह वासना इस जन्म की तथा पूर्व जन्म की दोनों मिलकर रासस्वाद कराती है।

स्त्रस्य हृद्यं विश्वदीकुर्वतां मार्मिकाणामालङ्कारिकाणां तु मतम् 'व्यक्तः स तैर्विभावाणेः स्थात्री भाषी रसः स्मृतः' इति प्रकाशोक्तन्या कारिकया प्रकारयते ।

'ते' रिति कथनेनापि त्रयाणां प्रतीतौ सम्भवन्त्यां 'विभावायें' रित्युपादानं मिबिन तानामेव तेषां कार्यकरत्वस्चनार्थम् । वासना चेदानींतनी प्राक्तनी च रसास्वादहोतुः । तत्र यद्याद्या न स्यात्त्रा श्रोत्रियजरन्मीमांसकादीनामपि सा स्यात् । यदि द्वितीयां न स्यात्तदा यद्वाः गिणामपि केषांचिद्रसोद्बोधो न दृश्यते तन्न स्यात् ।

उक्तं च धर्मदत्तेन-

'सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत् । निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसंनिभाः।।' इति । ननु कथं रामादिरत्याखुद्बोधकारगौः सामाजिकरत्याद्यद्बोध इत्युच्यते— व्यापारोऽस्ति विभावादेनिका साधारणी कृतिः॥ ६॥

दोनों वासनाओं के मानने की आवश्यकता बतलाते हैं। तत्रेति—उत्तं यदि पहली (इस जन्म की) वासना न मानें तो कलहदय वेदपाठिलें और खुर्रांट मीमांसकों को भी रसास्वाद होना चाहिये। और यदि द्वितील की कारणता न हो तो आज कल जो कई रागियों को भी रसास्वाद नहीं देखा जाता वह नहीं होना चाहिये। उक्षं चेति—धर्मदत्त ने कहा भी है।

सवासनेति—वासना से युक्त सभ्यों को ही रसास्वाद होता है। वासनारित पुरुष तो नाट्यशाला में लकड़, दीवार श्रीर पत्थरों के समान (जडवत्)

ही पड़े रहते हैं।

निनिति—प्रश्न—कान्यादि में सीता आदिक का चिरत-वर्णन तथा अभिनय किया जाता है और सीता आदि पान रामचन्द्रादि की रित (अनुराग) का कारण हो सकते हैं। उनसे सामाजिकों (द्रष्टा तथा श्रोता) की रित के उद्योध कैसे होता है ? उत्तर—न्यापार इति—जो सीता आदि आलम्बन विभाग और वनवास आदि उद्दोपन विभाव कान्यादि में निबद्ध होते हैं वे कान्या शिक्षन तथा नाटकदर्शन के समय श्रोता और द्रष्टाओं के साथ अपने के सम्बद्धकप से ही प्रकाशित करते हैं। यही साधारणीकरण (साधारणीकि अर्थात् रामचन्द्रादि नायक तथा सामाजिकों के साथ समानक्ष्य से सम्बद्ध रखना—इनको अपना साधारण आश्रय बनाना—ही विभावादिकों के 'विभावन' नामक न्यापार है। इसी के प्रभाव से उस समय प्रमाता (द्रष्ट्र श्रोता) अपने को समुद्र को कूद जानेवाले हन्मान् आदिकों से श्रोता अपने को समुद्र को कूद जानेवाले हन्मान् आदिकों से श्रीता समक्षने लगता है। यद्यपि समुद्र लांधना मनुष्य से साध्य नहीं, तथा हि समक्षने लगता है। यद्यपि समुद्र लांधना मनुष्य से साध्य नहीं, तथा हि सद्य से साध्य नहीं, तथा हि सद्य से साध्य नहीं, तथा हि सद्य से साध्य नहीं, तथा है। इसी के सत्त से सोमाजिकों के हदय में के वैसा उत्साह होने लगता है।

' 'व्यक्रः' व्यक्तिविषयीकृतः — व्यक्तिश्च भरनावरणा चितिशक्तिः । यथा हि शराविष् पिहितो दीपस्तक्षिवृत्तौ सत्यां सिन्नहितान् पदार्थान् प्रकाशयति, स्वयं च प्रकाशते एवमास्मचैतन्यं विभावादि संवितान् रत्यादीन् प्रकाशयत् स्वयमपि प्रकाशते ।

धन्तः कर ग्रंथमां यामिय साचिमास्यत्वा भ्युपगमेन, यथा स्वमे तुरगादीनां वर्षा जामित रङ्गरजतादीनां साचिमास्यत्वं स्वीकियते, एवं विभावादीनामिय साक्षिमास्यत्वं प्रविरुद्धमेव । उत्पन्नो रस्रो विनष्टो रस इति व्यपदेशस्तु व्यक्षकविभावादि वर्षेष्ण प्रावरणमङ्गस्य वा उत्पत्तिविनाशयो रसे उपचारात् निर्वाद्यः ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तत्त्रभावेण, यस्यासन्पाथोधिप्रवनाद्यः। प्रमाता तद्भेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते ॥ १०॥ ननु कथं मनुष्यमात्रस्य समुद्रलङ्कनादावुत्साहोद्दोध इत्युच्यते— उत्साहादिसमुद्बोधः साधारएयाभिमानतः। नृणामपि समुद्रादिलङ्गनादौ न दुष्यति ॥ ११ ॥ रत्यादयोऽपि साधारएयेनैव प्रतीयन्त इत्याह—

साधारणयेन रत्यादिरपि तद्वत्पतीयते।

रत्यादेरिप स्वात्मगतत्वेन मतीतौ सम्यानां ब्रीडातङ्कादिर्भवेत् । परगतत्वेन

त्वरस्यतापातः ।

इस कारिका में 'तत्प्रभावेण' का सम्बन्ध प्रमाता के साथ है। इसका श्रन्वय इस प्रकार है । "यस्य इतुमतः पाथोधिसवनादय श्रासन् तदमेदेन प्रमाता स्वात्मानं प्रतिपद्यते" । केन हेतुना ? "साधारणीकृतिरितिनाम्ना प्रसिद्धो विभावादेव्यापारोस्ति, तत्त्रमावेख ।"

श्रीतर्कवागीशजी ने यहां 'यस्य' का ऋर्थ 'रामस्य' किया है। वह ठीक नहीं है, क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी कूदकर समुद्र के पार नहीं गये थे। उन्होंने 'पाशोधि-सवन' नहीं किया था। सेतु के द्वारा 'गमन' किया था। 'सवन' का ऋर्य कूदना है। इसके आगे ही 'कथं मतुष्यमात्रस्य समुद्रतंघनादातुत्साहोदबोधः' इस मृता प्रन्थ में मजुष्य के द्वारा समुद्रलंघन की जो असम्मावना दिखाई है वह भी 'क्द्ने' में ही संगत होती है। सेतु के ऊपर होकर समुद्र पार करना तो मनुष्यों के लिये भी सुकर है।

निन्वति—अल्पशक्ति मनुष्यमात्र को समुद्रलंबन जैसे दुष्कर कार्य में कैसे उत्साइ होता है, यह कहते हैं—उत्साहेति—हुनुमदादि के साथ साधारएयामि-मान अर्थात् अभेद्शान के हो जाने पर प्रजुष्या का भी समुद्रलंघनादि में उत्साहित होना दूषित नहीं है।

श्वजारादि रसों के स्थायी भाव रित आदिक भी काव्य नाट्यादि में सामान्य-रूप से प्रतीत होते हैं। "रामचन्द्र का सीता में श्रनुराग है" श्रथवा "मेरा इस नायिका में अनुराग है" इत्यादि विशेष रूप से प्रतीत नहीं होते । यह कहते हैं —साधारएयेनेति — रत्यादेरिति — यदि रङ्गस्थल में बैठे सभ्यों को अपने में विशेष रूप से रत्यादि का ज्ञान हो तो तजा, भय आदि उत्पन्न हो जायँ और यदि रामादि अन्यपुरुषगत रति आदि का विशेषरूप से ज्ञान होता हो तो जैसे लोक में दूसरों का रहस्यदर्शन अरसनीय होता है इसी प्रकार कान्य नाट्य के रस भी अरस्य हो जायँ। इसिलये रत्यादिक साधारणता से ही पतीत होते हैं।

थया च वर्णं नित्यतावादिनां वैयाकरणानां नये व्यक्षकतास्वादिन्यापारस्य निवृत्तीः सन्निप नित्योऽकारादिनं प्रकाशते-एवमन्नापि विभावादिचर्वणावधित्वादावरणभन्नस्य निवृत्तायां तस्यां प्रकाशस्याऽऽवृत्तत्वाद्विद्यमानोऽपि स्थायी न प्रकाशते ।

यथा वा सविकल्पसमाधौ वितर्कविचाराचालम्बनेन तदाकारा योगिनश्चित्तवृत्तिरूप-जायते-तथा सहद्यस्य निजसहद्यतावशोन्मिषितेन विभावादिचवैषामहिग्ना रत्यादिस्था- विभावादयोऽपि प्रथमतः साधारण्येन प्रतीयन्त इत्याह—
परस्य न परस्योति ममेति न ममेति च ॥ १२ ॥
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते ।
ननु तथापि कथमलौकित्वमेतेषां विभावादीनामित्युच्यते—
विभावनादिच्यापारमलौकिकमुपेयुषाम् ॥ १३ ॥
ऋलौकिकत्वमेतेषां भूषणं न तु दूषणम् ।

अविशब्दादनुभावनसंचारणे । तत्र विभावनं रत्यादेर्विशेषेणास्वादाङ्कुरणः योग्यतानयनम्। अनुभावनमेवंभूतस्य रत्यादेः समनन्तरमेव रसादिरूपतया भावनम्। संचारणं तथाभूतस्यैव तस्य सम्यक्चारणम् ।

विभावादय इति—विभावादिक भी पहले साधार गतात होते हैं। परसंति-रसास्वाद के समय विभावादिकों का ये (विभावादि) मेरे हैं अथवा मेरे नहीं हैं-अन्य के हैं अथवा अन्य के नहीं हैं, इस विशेष रूप से परिच्छेद अर्थात् सम्बन्धविशेष का स्वीकार अथवा परिहार नहीं होता।

निन्नति—तथापिराम, सीता, चन्द्रोदय आदि लोकसिद्ध विभावादिकों की अलीकिकता कैसे होती है, यह कहते हैं—विभावनेति—'विभावन' आदि अलेकिक व्यापार को प्राप्त हो जाने पर विभावादिकों का अलोकिकत्व, भूषण ही है। दूषण नहीं। ताल्य यह है कि यद्यपि राम सीता तथा चन्द्रोदयादि आलम्बने होपन विभाव और कटाच, भूविच्लेपादि अनुमाव एवं बीडा आदि सञ्चारी लोकिस हो होते हैं, परन्तु काव्यादि में निबद्ध होने से उनमें 'विभावन' आदि अलीकिक व्यापार आ जाता है। इसी का नाम 'साधारणीकृति' भी है। इसी अलीकिक व्यापार से युक्त होने के कारण विभावादि अलौकिक कहाते हैं। पश्न—यदि विभावादि अलौकिक हैं तो उनसे लौकिक रस की सिद्ध कैसे होगी ? क्योंकि अलौकिक कारणों से कहीं भी लौकिक कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। उत्तर—यह ठीक है कि अलौकिक कारण से लौकिक कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, परन्तु अलौकिक कारण से अलौकिक कार्य की उत्पत्ति तो होती हो है। अतः इन अलौकिक विभावादिकों से अलौकिक रस की उत्पत्ति तो होती हो है। अतः इन अलौकिक विभावादिकों से अलौकिक रस की उत्पत्ति तो होती हो है, अतपव इनका अलौकिकत्व भूषण ही है दूषण नहीं। रस की अलीकिकता आगे सिद्ध करेंगे।

श्रादीति—इस कारिका में श्रादि पद से अनुमावन श्रीर सञ्चारण का ग्रहण है। उक्त व्यापारों का लच्चण करते हैं। तत्रेति—रत्यादि कों को श्रास्वादोत्पित (रसोव्वोघ) के योग्य बनाना 'विमावन' कहलाता है। श्रीर विभावन के द्वारा श्रास्वादोत्पित्त के योग्य हुए उस रत्यादि को तुरन्त ही रसक्षप में पिर जात कर देनेवाले व्यापार का नाम 'श्रनुभावन' है। एवम्, इस प्रकार सुसम्पर्ध रत्यादि को भले प्रकार सञ्चारित कर देने का नाम 'सञ्चारण' है। ये ही कीं से तीनों विभाव, श्रनुभाव श्रीर सञ्चारीमावों के व्यापार हैं।

रयुपहितस्वस्वरूपाऽऽनन्दाकारा चित्तवृत्तिः सम्पद्यते–तन्मयीभवनञ्च, रस इति । इति । इति । इति । इति । इति । इति ।

विभावादीनां यथासंख्यं कारणकार्यसहकारित्वे कथं त्रयाणामेव रसोद्घोधे कारणत्विमत्युच्यते—

कार्यकारणसंचारिरूपा अपि हि लोकतः ॥ १४॥ रसोद्बोघे विभावाद्याः कारणान्येव ते मताः।

ननु तर्हि कथं रसास्वादे तेषामेकः प्रतिमास इत्युच्यते—
प्रतीयषानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते ॥ १५॥
ततः संभित्तिः सर्वो विभावादिः संचेतसाम्।
प्रपानकरसन्यायाच्चव्यमाणो रसो भवेत्॥ १६॥

यथा खण्डमरिचादीनां संमेलनादपूर्व इव करिचदास्वादः प्रपानकरसे संजायते, विभावादिसंमेलनादिहापि तथेत्यर्थः ।

विमावादीनामिति — लोक में सीता आदि विभाव रामादि की रित के कारण होते हैं और अविद्यापिद उस रित के कार्य होते हैं एवं हास्य, लजा आदि रित के सहकारी मात्र होते हैं, परन्तु रसोद्योध में इन तीनों को करण कैसे मान लिया गया, यह कहते हैं। कार्येति — लोक में कार्य, कारण तथा सश्चारीक्षप होने पर भी रसोद्योध में विभावादिक कारण ही माने जाते हैं, क्यों कि पूर्वों के अलौकिक विभावनादिक व्यापार के द्वारा सभी रस को उद्योधित करते हैं। इस कारिका के 'कारणानि' पद में वहुवचन विवित्तत नहीं है। कारणतामात्र बोधन करने में तात्पर्य है। विभावादिकों में पृथक् पृथक् कारणता नहीं है। सब मिलकर ही कारण होते हैं।

निनिति—अञ्छा तो फिर रसास्वाद में उन सब विभावादिकों का एक प्रतिभास अर्थात् एक रस के कप में परिणाम कैसे होता है । भिन्न भिन्न कार्यों से तो भिन्न भिन्न कार्य ही होने चाहिये—इसका समाधान करते हैं भिन्न भिन्न कार्यों से तो भिन्न भिन्न कार्य ही होने चाहिये—इसका समाधान करते हैं भिन्न भिन्न सिन्न सिन्न एहले विभावादि पृथक् पृथक् प्रतीत होते हैं। उसी समय उन्हें हेतु कहा जाता है। इसके अनन्तर भावना के बल से और व्यक्षना की महिमा से चर्च्यमाण ( आस्वाद्यमान) सब सम्मिलित विभावादिक सहद्यों के हंदय में, प्रपानक रस की मांति, अखएड एक रस के कप में परिणत हो जाते हैं। यथेति—जैसे ज़ीरे के पानी में अथवा और किसी प्रपानक में खांड, भिन्न, ज़ीरा, हींग, काला नमक, पोदीना, नीवू, इमली आदि के सम्मेलन से एक अपूर्व उन सबके पृथक् पृथक स्वाद से विल्वलण् आस्वाद पैदा होता है जो विभावादिकों के पृथक् पृथक् आस्वाद से विल्वलण् होता है।

श्रानन्दो ह्ययं न लौकिकंसुखान्तरसाधारणः-श्रन्तःकरणवृत्यविच्छिश्वचैतन्यासरूपत्वात् । इत्थञ्ज श्रीमद्भिनवगुसपादाचार्यं-राजानक-श्रीमस्मटभट्टप्रसृतीनां प्रन्थस्वारस्यात्, सरना-वरणचितिशक्तिविशिष्टो रत्यादिः स्थायीभावो रस इत्यास्थितं भवति ।

७—'रसो वै सः 'रसछ हा वाडयं लब्ध्वाडऽनन्दीभवति' 'एष हा वाडऽनन्दुषाति' इत्यादीनां तैक्तिरीयेष्ट्वास्नातश्रुतीनां स्वारस्याद् श्राक्षीय रस इत्यवसीयते । तेन रत्याद्य- ननु यदि विभावानुभावव्यभिचारिभिर्मिलितैरेव रसस्तत्कथं तेषामेकस्य द्वयोत्रं सद्भावेऽपि स स्यादित्युच्यते—

सद्भावरचेद्विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा अवेत्। भारित्यन्यसमाचेपे तथा दोषो न विद्यते॥ १७॥

अन्यसमादोपश्च प्रकरगादिवशात्।

यथा-

'दीर्घान्नं शरिदन्दुकान्ति वदनं बाहू नतावंसयोः संनिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव । मध्यः पाणिमितो नितम्ब जघनं पादाबुदप्राङ्गुली स्नृन्दो नर्तियतुर्यथैव मनसः सृष्टं तथास्या वपुः ॥'

निविति—यदि विभाव, अनुभाव और सञ्चारी इन तीनों के मिलने पर ही रसास्वाद होता है तो जहां कहीं एक अथवा दो ही का वर्णन है वहां कर कैसे होगा ? उत्तर-सद्भाव इत्यादि—विभावादिकों में से दो अथवा एक के उपित्र होने पर जहां प्रकरणादि के कारण शेष का भर से आक्षेप हो जाय वहां कुछ दोष नहीं। इसका उदाहरण देते हैं। यथेति—रंगस्थल में गणदास के द्वारा नचाने को लाई गई मालविका को देखकर राजा अगिनिमत्र की उक्ति है। दोर्चाविति—शरचन्द्र के समान कान्तिवाला इसका मुख वड़े को नेत्रों से सुशोभित है। दोनों बाहु कन्धों से कुछ कुके हुए हैं। संन्तित वहां स्थल, निविड (आपस में सटे हुए) उन्नत स्तनों से रमणीय है। दोनों पार्व विकत्ते तथा एक से हैं। नीची ऊंची पसित्र ये नहीं दीखतीं। अतएव विषा नहीं हैं। सुन्दर समान हैं। कमर, मुट्टीभर की (पाणिमित) है। जधनस्था विशाल नितम्ब से युक्त है और पैर उन्नताम अंगुलियों से सुभूषित हैं। इसको नचानेवाले (गणदास ) के मन का जैसा अभिलाष है उसी प्रका इसका शरीर रचा गया है। मानो ब्रह्माजी ने इसके नचानेवाले गणदास की इच्छा के अनुसार ही इसके शरीर की रचना की है। गम्योत्प्रेच्ना है।

श्रीरामचरणतर्कवागीश ने "मनसो नर्तियतुश्रपत्तीकर्तुः कामस्य" यह अर्थ लिंब है। मालूम होता है उन्होंने "मालविकान्निमन" नाटक देखा नहीं था, श्रत्य

विष्णुत्रा भग्नावरणा चिदेव रसः -इति भ्रांशिकं भट्टनायकमतानुसारि पण्डितेन्द्रस्य मंत्री उभयत्रापि चात्र विशिष्टाः सनोऽस्य विशेषणं विशेष्यं वा चिदंशमादाय विशेष्यं वा चिदंशमादाय विशेषणं विशेष्यं वा चिदंशमादाय विशेषणं विशेष्यं वा चिदंशमादाय

चवंणा चास्य चिद्गतावरणभङ्ग एव । प्रागुक्ता तदाकारा श्रन्तःकरणवृत्तिवी । परम्रह्मास्याद्यात । परम्रह्मास्याद्यात । परम्रह्मास्याद्याद्यात । परम्रह्मास्याद्याद्यात्यात् । विभावादिविषयसंविष्णतिच्यानन्द्र। त्रम्बा काव्यव्यापारमात्रात् । वतु च अस्याः सुलांशे कि मानमिति चेत् , समाधाविष सुलांशे कि मानमिति चेत् , समाधाविष सुलांशे किति समानः पर्यनुष्योगः। यदि तु तन्नास्ति शब्दः प्रमाणमित्युच्यते, तदात्रापि प्रविक्ष

अत्र मालविकामभिलषतोऽग्निमित्रस्य मालविकारूपविभावमात्रवर्णनेऽपि संचारि-गामौत्सुक्यादीनामनुभावानां च नयनविस्फारादीनामौचित्यादेवाच्चेपः । एवमन्या-च्चेपेऽप्यूह्मम् ।

अनुकार्यगतो रस इति वदतः पत्याह—

पारिमित्याञ्जीकिकत्वात्सान्तरायतया तथा। अनुकार्यम्य रत्यादेरुद्वोघो न रसो भवेत्॥१८॥

सीतादिदर्शनादिजो रामादिरत्यायुद्दोधो हि परिमितो लौकिको नाट्यकान्यदर्श-नादेः सान्तरायरच, तस्मात्कथं रसरूपतामियात् । रसस्यैतद्धर्मत्रितयविलच्चण-धर्मकत्वात् ।

अनुकत् गतत्वं चास्य निरस्यति—

शिच्।भ्यामादिमात्रेण राघवादेः सरूपताम्। दर्शयन्नतेको नैव रसस्यास्वादको भवेत्॥१६॥

यह भूल हुई । अत्रोत - इस पद्य में यद्यपि मालविका पर अनुरक्त राजा अग्नि-मित्र का किया हुआ केवल आलम्बन विभाव ( मालविका ) का ही वर्णन है. तथापि अनुरागी की उक्ति होने के कारण औत्सुक्य आदि सञ्चारीमाव तथा नयनविस्फार ग्रादि अनुभावों का श्रीचित्य से ही श्राच्चेप हो जाता है। एवमिति — जैसे यहां अनुभाव और सञ्चारी का आद्मेप हुआ है इसी प्रकार अन्य (विभावादि) के आह्रोप में भी सबसे मिलकर ही रस की सिद्धि जानना। अनुकार्येति—जो लोग रस को अनुकरणीय (रामादि ) निष्ठ मानते हैं उनका प्रतिवाद करते हैं। पारिमित्यादिति—परिमित, लौकिक और सान्तराय होने के कारण अनुकार्यनिष्ठ रत्यादि का उद्घोध रस नहीं हो सकता । सीतादीति—सीता आदि के दर्शन से उत्पन्न रामादि की रति का उद्वोध परिमित होता है। अर्थात् केवल रामादि में ही रहता है और रस अनेक द्रष्टा श्रोताओं में एक ही समय समानक्रप से विद्यमान होने के कारण अपरिमित होता है। रामादिनिष्ठ रित लौकिक होती है और रस वस्यमाण रीति के अनुसार अलौकिक होता है। एवं उक्त रित, काव्य तथा नाट्य दर्शनादि में प्रतिकृत होती है। क्योंकि अन्यदीय रहस्यदर्शन सभ्यों को अरस्य होता है और रस उनके अनुकूत होता है, अतः इन तीनों धर्मों से विलच्या रस के रूप में रामादिनिष्ठ रति कैसे परियत हो सकती है ? श्रावकर्तृगतत्विमाति—रस अनुकर्ता (नटादि) में रहता है, इस बात का भी निराकरण करते हैं —शिहेति-अभिनय की शिद्धा तथा अभ्यासादि के कारण रामादि के रूप का अभिनय करनेवाला नट, रस का आस्वाद्यिता नहीं हो प्रामाण्यं निर्वाधमेव । किं च सकलसहृद्यप्रत्यचमप्यस्य भवतीत्यस्ति प्रमाणद्वयम् इति ।

म-भटनायकास्तु पूर्वीक्रस्त्रस्यार्थमेवमाहुः -'विभावानुभावव्यभिचारिणां' 'सम्यक्' साधारणात्मतया ''योगात्' भावकत्वव्यापारेण भावनाद् 'रसस्य' सरवोद्रेकपकाशितस्थाययुपहितस्वात्मानन्दरूपस्य ''निष्पत्ति'' मौंगास्येन

साक्षात्कारेण विषयीकृतिः, इति । प्रतन्मतस्यायं निष्कर्षः —यदि काव्यनाटकादौ ''रामःसीताविषयकानुरागवान्'' इत्यादि

किंच।

# काव्यार्थभावनेनायमपि सभ्यपदास्पद्म् ।

यदि पुनर्नटोऽपि काव्यार्थमावनया रामादिस्वरूपतामात्मनो दर्शयेत्तदा सो

नायं ज्ञाप्यः स्वसत्तायां प्रतीत्यव्यभिचारतः ॥ २०॥

यो हि ज्ञाप्यो घटादिः ससन्निप कदाचिदज्ञातो भवति न ह्ययं तथा, प्रतीतिमन्ते गाभावात् ।

यस्मादेष विभावादिसमूहालम्बनात्मकः।
तस्मान्न कार्यः

यदि रसः कार्यः स्यात्तदा विभावादिज्ञानकारणक एव स्यात्। ततश्च रसप्रतीः काले विभावादयो न प्रतीयेरन्। कारणज्ञानतत्कार्यज्ञानादीनां युगपददर्शनात्। नी

सकता। कान्यार्थेत—यदि काव्यार्थं की भावना के द्वारा (केवल शिचाभ्यास के नहीं) नट भी अपने में रामादि की स्वक्षाता दिखलाये तो वह भी रसास्वाहर होने के कारण सभ्यों के मध्य में गिना जा सकता है।

रस की अलौकिकता और स्वप्रकाशता सिद्ध करने के लिये अन्य श्रेगों है उसकी विलक्षणता सिद्ध करते हैं। नायमिति—रस झाप्य नहीं, क्यों कि अलं सत्ता में कभी प्रतीति से व्यभिचरित नहीं होता। जब होता है तब अवश्य में प्रतीत होता है। यो शात—जो घटादि झाप्य होते हैं अर्थात् पूर्वोक्त झापक हैं हैं दीपादि से प्रकाश्य होते हैं वे कभी २ विद्यमान हं। ने पर भी प्रतीत नहीं होते। जैसे ढका हुआ घड़ा अथवा गड़ी हुई की ल। परन्तु रस ऐसा नहीं है, क्यों प्रतीति के विना रस की सत्ता ही नहीं होती।

्यस्मादिति—विभावादि समुद्दालम्बनात्मक होने के कारण, रस कार्य नहीं। यदीति --यदि रस कार्य होता तो उसका कारण विभावादि ज्ञान ही होती क्योंकि विभावादि ज्ञान के अनन्तर ही रसनिष्पत्ति होती है। एवश्च ए की प्रतीति के समय विभावादिक प्रतीत न हुआ करते, क्योंकि कारण ज्ञान और उसके कार्य का ज्ञान एक समय में कहीं नहीं देखा जाता

क्षेण तटस्थतया रसमानं स्थात् , तदा न स्वाद्यत्वमस्य सम्भवेत् , प्रत्युत लोके प्रान्धिः रहस्यद्रशंनिमव नितरां परिहरणीयस्वं स्यात्। छहं सीताविषयकानुरागवान् — हत्याकार्षः प्रत्ययो दुर्घटः । यतो न खलु सीताद्याः सामाजिकान् प्रति प्राल्यवनविभावा भविति। विभावतावच्छेदकं तत्रास्तीति वाच्यम् । जय सामाजिकान् प्रत्यपि साधारणं कार्वा विभावतावच्छेदकं तत्रास्तीति वाच्यम् । प्रप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गितस्य प्रगम्यास्वप्रका ज्ञानविरहस्य विशेष्यतासम्बन्धावच्छित्वप्रतियोगिताकस्य विभावतावच्छेदककोती कर्म निवेश्यस्वात्। प्रन्यथा स्वस्नादेरपि साधारणविभावतावच्छेदककान्तास्वावच्छित्वत्वा विश्वत्वापत्तेः। एतादशक्वामानुत्पादस्तु प्रतिबन्धकान्तरनिर्वचनमन्तरेण दुरुपपाद प्रव। सि

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चन्दनस्पर्शज्ञानं तज्जन्यसुखज्ञानं चैकदा संभवति । रसस्य च विभावादिसमूहा-लम्बनात्मकतयैव प्रतीतेर्न विभावादिज्ञानकारणकत्विमत्यभिप्रायः ।

नो नित्यः पूर्वमंवेदनोजिसतः।

श्रमंवेदनकाले हि न भावोऽप्यस्य विद्यते॥ २१॥
न खलु नित्यवस्तुनोऽसंवेदनकालेऽसंभवः।

नापि अविष्यन्साचादानन्दमयप्रकाश्रुरूपत्वात्। कार्यज्ञाप्यविषच्यभावान्नो वर्तमानोऽपि॥ २२॥ विभावादिपरामशीविषयत्वात्सचेतसाम्। परानन्दमयत्वेन संवेद्यत्वादपि स्फुटम्॥ २३॥

चन्दन के स्पर्श का ज्ञान श्रोश चन्दन स्पर्श से उत्पन्न सुख का ज्ञान एक काल में नहीं हो सकता, परन्तु रस के प्रतीतिकाल में विभावादि की प्रतीति होती है। विभावादि के समुहालम्बनात्मक क्षानक्ष से ही रम प्रतीत होना है. श्रतः विभावादिज्ञान रस का कारण नहीं, श्रीर इसके सिवा श्रन्य किसी की कार-णता सम्भव नहीं, श्रतः रस किसी का कार्य नहीं हो सकता।

नो नित्य इति—रस को नित्य भी नहीं कह सकते, क्योंकि विभावादि ज्ञान के पूर्व उसका संवेदन (ज्ञान) होता ही नहीं। यदि कहो कि विभावादि का ज्ञान ही रस का प्राहक है, अतः उसक पूर्व क्थित होन पर भा रस प्रतीत नहीं होता. यह भी ठांक नहीं, क्योंकि असंवेदन क समय रस का सत्ता ही नहीं होती।

न खिल्वित—यह नहीं है। क नित्य वस्तु (आतमा आकाश आदि) अपन झान के हैं। समय रहते हों थ्रार अन्य समय में नष्ट हो जाते हों, परन्तु रस पेसा ही है। वह झान काल में हा रहता है, अन्य काल में नहीं, अतः नित्य भी नहीं हा सकता।

नापीति—रस भविष्यत् अर्थात् भविष्यत् काल में होनेवाला भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह आनन्द्धन और प्रकाशक्य साद्धात्कार (अनुभव) का विषय होता है। यदि भविष्यत् हाता तो अनुभव में कैसे आता? कल होने-वाली वस्तु आज नहीं दीन्त्रा करती।

कार्यक्षाप्यति—संसार की लभी वस्तुएँ या तो कार्य होती हैं, या क्षाप्य। परन्तु उक्क रीति के अनुसार रस न कार्य है,न क्षाप्य, स्रतः उसे वर्तमान भी नहीं कह सकते।

विभावादीति—रस को निर्विकलपकन्नान का विषय भी नहीं कह सकते। निर्विकलपकन्नान में सम्बन्ध का मान नहीं होता और रस में विभावादि का

रामाद्यभेदबुद्धिरेव तथा स्यादित्यपि नोपपद्यते । नायके घराघौरेयत्ववीरत्वादेः घारमनि च आधुनिकत्वकापुरुषत्वादेः स्फुटमुपलम्भादभेदबोध एव तावद् तुर्लमः ।

किंच केयं प्रतीतिः ? प्रमाणान्तरेण अनुपश्यापनात् शाब्दीति चेत्, अयताम्-यथा कान्यादन्यैव्यावहारिकशब्दैर्जायमाना नायकवृत्तान्तसंविदः अह्या भवन्ति, एवमियमपि स्यात् । मानसीयं प्रतीतिरित्यपि च न शक्यं वक्षुम् । चिन्तोपनीतानां तेषामेव पदार्थानां मानसप्रतीतेः अस्यां वैज्ञच्यस्य स्फुटमुपं बच्धेः । नापि चेषं स्मृतिः सम्भवति, तथा प्राग्-

न निर्विकल्पकं ज्ञानं तस्य ग्राहकमिष्यते। तथाभिलापसंसर्गयोग्यत्वविरहान्न च ॥ २४॥

सविकल्पकसंवेचः

सविकल्पकज्ञानसंवेद्यानां हि वचनपयोगयोग्यता । न तु रसस्य तथा। साचात्कारतया न च।

परोत्तस्तत्प्रकाशो नापरोत्तः शब्दसं अवात् ॥ २५॥ तत्कथय कीद्दगस्य तत्त्वमश्रुतादृष्टपूर्वनिरूपगाप्रकारस्येत्याह्—

परामर्श अर्थात् विशिष्टवैशिष्ट्य सम्बन्ध प्रतिभासित होता है। दूसरे निह कल्पकज्ञान निष्प्रकारक होता है। उसमें किसी धर्म का प्रकारताकप से सा नहीं होता, परन्तु रस परमानन्दमय है, अतः उसमें आनन्दमयत्व, प्रकारत से भासित होता है, इसलिये निर्विकल्पकज्ञान रस का प्राहक नहीं।

तथीत-इसी प्रकार रस को सविकल्पकज्ञान से संवेद्य भी नहीं मान सकते क्योंकि सविकल्पकज्ञान के विषयभूत सभी घट पटांदि, शब्द के द्वाराप्रक शित किये जा सकते हैं, परन्तु रस में 'श्रिभिलाप-संसर्ग' ( वचन-प्रयोग) है योग्यता नहीं अर्थात् रस को शब्द से नहीं कह सकते। वह अनिर्वचनीयहै।

साचात्कारेति—रस का प्रकाश त्रर्थात् ज्ञान परोत्त नहीं, क्योंकि उसका साक्ष त्कार होता है, श्रीर श्रपरोत्त भी नहीं, क्योंकि काव्यादि के शब्दों से वह उत्क होता है। यद्यपि बहुत से वेदान्ती लोग शब्द से भी अपरोक्तज्ञान की उत्पत्ति मानते हैं, परन्तु यह सिद्धांत सर्वसम्मत नहीं है।यदि शब्द से ही अपरोक्षा हो जाय तो श्रुतिद्वारा श्रात्मस्व रूपबोधन के श्रनन्तर निद्धियासन श्रादि की की आवश्यकता ही न रहे। यही बात सर्वतन्त्रस्वतन्त्र श्रीवाचस्पतिमिश्र ने लिखीं।

तत्कथयेति—अञ्जा तो फिर तुम्धीं बतलाश्रो कि नित्य, श्रनित्य, ज्ञाप्य श्रारि संसार् की देखी सुनी सब वस्तुओं से विलक्षण इस रस का तत्त्व (स्वक्ष) क्या है ? जिसका निरूपणप्रकार श्रदृष्ट श्रीर श्रश्रुत है उसका तत्त्व तो कही

ननुभवात् । तस्मादिदं प्रतिपत्तब्यम्, यद् —श्राभिधया निवेदिताः पदार्थाः भावकत्वनामन च्यापारेख श्रगम्यात्वादिरसविरोधिज्ञानप्रतिबन्धद्वारा कान्तात्वादिरसानुकूलधर्मपुरस्कारी श्रवस्थाप्यन्ते । एवं साधारणीकृतेषु रामसीतादेशका जवयोऽवस्था दिषु पङ्गी पूर्वन्यापारमी मनि तृतीयस्य मोगकृत्वन्यापारस्य महिम्ना निगीर्णयोः रजस्तमसोः उत्रिक्रसत्त्ववि निजित्तिस्वभावनिवृतिविश्रान्तित्वच्योन साक्षात्कारेण विषयीकृती भावनीपनीती सा रणात्मा रत्यादिः स्थायी रसः। सोऽयं भोगो विभावादिविषयसंवलनाद् ब्रह्मास्वादस्रीति वर्तीत्युच्यते ।

एवं च त्रयोंशाः काव्यस्य "श्रमिधा भावना चैव तस्रोगीकृतिरेव च" इति । मतेऽसि भावकत्वन्यापार एवातिरिक्नः स्वीक्रियते । भोगस्तु न्यक्रिरेव । भोगकृत्वं च व्यक्ति विशिष्टम् । अन्यत्सर्वं तु सम्मटादिवदेव इति ।

१ - नन्यास्तु 'विभावानुभावन्यभिचारियाां' स।वनाविशेष्रपारं 'संयोगाद्' 'रसस्य' श्रनिर्वचनीयदुष्यन्तरत्याद्यात्मनो 'निष्पत्ति' रुत्पत्तिरिति सूत्राशयं पश्यनि हि अनिर्वेचनीम्ब्याति स्वीकुर्वते । एतन्मतस्यामं सारः स्थानाविक्षेत्रं गुर्वि CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by egangom

# तस्मादलौकिकः सत्यं वेद्यः सहद्येरयम्।

तिक पुनः प्रमाणं तस्य सङ्गाव इत्याह-

# प्रमाणं चर्वणैवात्र स्वाभिन्ने विदुषां मतम् ॥ २६॥

चर्वगा त्र्यास्वादनम् । तच 'स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः' इत्युक्तपकारम् ।

नतु यदि रसो न कार्यस्तत्कथं महर्षिणा 'विभावानुभावन्यभिचारिसंयोगादस-निष्पत्तिः' इति लच्चणं कृतमित्युच्यते—

## निष्पत्या चर्चेणस्यास्य निष्पत्तिरुपचारतः।

यद्यपि रसाभिन्नतया चर्वणस्यापि न कार्यत्वं, तथापि तस्य कादाचित्कतया उपचरितेन कार्यत्वेन, कार्यत्वमुपचर्यते ।

#### श्रवाच्यत्वादिकं तस्य वस्ये व्यञ्जनरूपणे ॥ २७ ॥

तसादिति—सच पूछो तो, रस का स्वरूप श्रलीकिक, श्रनिर्वचनीय ही है। केवल सहृद्य पुरुष इसका श्रनुभव कर सकते हैं।

तिकिमिति—यदि रस इस प्रकार अलौकिक है और उसका ज्ञान भी सबको नहीं होता तो उसकी सत्ता में ही क्या प्रमाण है ? प्रमाणमिति—'स्व' अर्थात् चर्वणा से अभिन्न (आस्वादस्वरूप) उस रस की सत्ता में सहृद्य विद्वानों की चर्वणा ही प्रमाण है। चर्वणेति—चर्वणा का अर्थ आस्वादानुमव है। और उसका स्वरूप 'स्वादः काव्यार्थेत्यादि' पूर्वोक्त लक्षणानुसार जानना।

विश्वात — यदि रस कार्य नहीं है तो भरतमुनि ने यह कैसे जि़खा है कि विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है ? जिंपत्येति — चर्वेणा नामक ज्यापार की उत्पत्ति होती है ? जिंपत्येति — चर्वेणा नामक ज्यापार की उत्पत्ति होती है, उसी का उपचार से रस में भी प्रयोग कर देते हैं, अतः रस के विषय में 'उत्पत्ति' शब्द गौण है । वस्तुतः रस की उत्पत्ति नहीं होती । यथि रसेति — वस्तुतः देखा जाय तो रस से अभिन्न होने के कारण चर्वणा भी कार्य नहीं है, परन्तु वह कभी २ होती है, सदा नहीं रहती, और कार्य भी अनित्य होने के कारण सदा नहीं रहते । बस, इसी एक साधारणधर्म के सम्बन्ध से चर्वणा में भी उपचार से 'कार्य' शब्द का लाज्ञिक प्रयोग होताहै और इसी उपचरित कार्यत्व के द्वारा रसमें भी कार्यत्व उपचरित होता है। चर्वणसे अभिन्न होने के कारण, चर्वणमें उपचरित कार्यत्व का, रसमें भी, उपचार से प्रयोग होता है। कादाचित्कत्वक्षणैकधर्मसम्बन्धात् चर्वणे उपचरितेन 'कार्यतेन', रसे 'कार्यत्व' कार्यपद्वयदेश्यत्वमुपचर्यते गीणवृत्त्याऽऽश्रीयते इत्यर्थः ।

अवाच्यत्वादिकंमिति—रस का अवाच्यत्व व्यक्षना के प्रकर्ण में कहेंगे। यहां

शक्ते समुख्यमानोऽनिर्वचनीयो रजतलगढः साचिमास्यो भवति, एवं कान्ये कविना, नाट्ये च नटेन प्रकाशितेषु विभावादिषु व्यक्षनान्यापारेग् दुष्यन्तादौ शकुन्तजादिस्तौ

तस्य रसस्य । त्रादिशब्दादलच्यत्वादि । ननु यदि मिलिता रत्यादयो रसस्तत्कथमस्य स्वप्नकाशत्वं कथं वाऽखएडत्वमित्याह— रनगदिज्ञाननादात्म्यादेव यस्माद्रसो भवेत् ।

# रत्यादिज्ञानतादात्म्यादेव यस्माद्रसो भवेत्। ततोऽस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्वं च सिध्यति॥

यदि रत्यादिकं प्रकाशशरीरादितिरिक्तं स्यात्तदैवास्य स्वप्रकाशत्वं न सिघ्येत्। न च तथा। तादात्म्याङ्गीकारात् । यदुक्तम्—'यद्यपि रसानन्यतया चर्वणापि न कार्या, तथापि कादाचित्कतया कार्यत्वमुपकल्प्य तदेकात्मन्यनादिवासनापरिणिति-

'म्रादि' पद से म्रलंस्यत्व का प्रहण है। रस न तो श्रमिधाशक्ति के द्वारा वाच्य होता है और न लच्या से लक्ष्य होता है। केवल व्यञ्जना से व्यङ्गध होता है। निन्ति -यदि रत्यादिक मिलकर रस होते हैं तो रस का स्वप्रकाशत्व और अखएडत्व कैसे सिद्ध होगा ? क्योंकि स्वप्रकाशता तो ज्ञान में ही होती है। रत्यादिकों में वह असम्भव है। एवं रित तथा अन्यों के संमिश्रिन रहने हे रस में सखरडता भी स्पष्ट है। इसका समाधान करते हैं -रत्यादीति-रस की निष्पत्ति, रत्यादि के ज्ञान के स्वरूप से ही सम्पन्न होती है। रस रत्यादि-ज्ञानस्वरूप ही है और ज्ञान की स्वप्रकाशता तथा अखएडता सिद्ध ही है। अतएव रस भी स्वप्रकाश और अखग्ड सिद्ध होता है। यदीति यदि रत्याः दिक प्रकाश शरीर अर्थात् ज्ञान के स्वरूप से अतिरिक्त माने जायँ तभी रस की स्वप्रकाशना और अखएडता मिद्ध न हो सके । परन्तु ऐवा नहीं है क्योंकि रस के सम्पादक रत्यादिकों का ज्ञान के साथ तादातम्य ( अमेद) माना है। इसमें प्रमाण देते हैं। यहकामान — 'यद्यपि रल से अभिन्न होने के कारए चर्वणा भी कार्य नहीं है, तथापि वह कादाचित्क है, (कभी २ होती है ) अतः लव्या से उनमें कार्यपद का प्रयोग होता है और उस चर्वण से बामन ( एकात्मा ) तथा अनादि वासना के परिणामस्वरूप रत्याद माव में भी कार्यपद की तन्त्रणा से व्यवहार होता है। चर्चणा प्रथीत् प्रास्वाद से रत्यादि की प्रभि न्नता उक्त प्रमाण से स्पष्ट सिद्ध है इसी से यह भी सिद्ध है कि चर्वणा में कार्यत का उपचार होता है श्रीर चर्वणा से श्रभिन्न होने के कारण रह में मी कार्यत्व उपचरित होता है।

गृहीतायां तद्तु सहद्यतोन्नासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिन्ना कल्पितदुष्यन्ति स्वावन्द्वादिते स्वात्मनि समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्यशकुन्तलादिविषयकरत्यादि ते स्वाः । अयं च कार्यो दोषविशेषस्य । नारयश्च तन्नाशस्य । स्वोत्तरभाविना लोको त्तराह्वादेन भेदाप्रहात् सुखपद्व्यपदेश्यो भवति । स्वप्नोपस्थितेन च रत्यादिना भेदाप्रहात् तत्रितित्वेन एकस्वाध्यवसानाद्वा ब्यांयो वर्णनीयश्चोच्यते । अवच्छाद्कं दुष्यन्तत्वमध्यिविशेष्वाचे । विशेष्यतावच्छेदकःवम् ।

एतेन ताटस्थ्येन रसप्रतीतौ स्ननास्वाद्यसम् । स्ननारमसम्बन्धिभः शकुन्तजादिनि रात्मगतत्वेन तु प्रत्ययो दुर्घटः । स्वित्मन् दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिस्तु बाधबुद्धिपराहतेत्वादि प्रोक्तं दूषसम्बद्धस्त स्वति ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

क्रिये रत्यादिभावेऽपि व्यवहार इति भावः 'इति । सुखादितादात्म्याङ्गीकारे चारमाकी सिद्धान्तशय्यामधिशय्य दिव्यं वर्षसहस्रं प्रमोदनिद्रामुपेया इति च । 'अभिन्नोऽपि

इस प्रकार रत्यादिभाव चर्वणा से श्रामित्र श्रीर चर्वणा रस से श्रमित्र सिद्ध हुई। अब रस की खुखस्वरूपता और चमत्कारपाणता में प्रमाण देते हु सुखादाति सुख और आदिपद से चमत्कार के साथ अभेद मानने में ह्मारी ( ब्रालङ्कारिकों का ) निद्धान्तक्य शय्या का आश्रय लेके देवताओं के हुजार वर्षपर्यन्त सुख-नींद से सोइये।

तात्पर्य यह है कि आलङ्कारिकों के सिद्धान्तानुसार रस अनौकिक है. यह बात श्रभी सिद्ध की जा चुकी है। अनएव उनमें ज्ञानस्वरूपता. श्रानन्दमयता श्रीर जमत्कारप्राण्ता श्रादि सब धर्मों का समावेश हो सकता है। इस मत प्रें हज़ारों वर्ष तक भी कोई दोष नहीं दे सकता, अतः निश्चिन्त रहिये।

अभिनोपीति—थद्या रस आत्मा के स्वरूप सं अभिन्न है, चिन्मय है, तथाऽपि

यञ्चापि विभावादीनां सामाजिकान् प्रति साधारणीकरणं प्राचीनैरुक्रम् तर्पि काव्येन गकुन्त बारवादिपकार कथाध जनकैः श हुन्त कादिशब्दैः प्रतिपाद्यमानेषु नाथिकादिरूपेषु पदार्थेषु दोषविशेषकल्पनं विना दुरुपपादम्-एवञ्च अवश्यकल्पनीये दोषविशेषे तेनैव स्वासिनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरिप सूपपादैव इति ।

स्यादेतत्, रतेहिं सुख जनकतया दुष्यन्तादाविव महृद्येऽि श्रास्तां नाम सुखकरस्वम् । करुणरसादिषु तु स्थायिनः शोकादेर्दुःस्तजनकनया प्रमिद्धस्य कथमिव सहृदयाह्नाद्कत्वम् ? प्रत्युत नायक इव सहदयेऽपि दुःखजननस्यैव घौचिन्यात्। न च सत्यस्यैव शोकादेर्दुःखजन-कत्वं प्रतिनियतम्, न पुनः कल्पितस्यापीति नायकादीनामेव दुःखम्, न तु सहृदयस्येति शक्यं वक्तुम्, रञ्जुलपादीनामपि भयकम्पाचनुःपाद् इत्वप्रसङ्गात् । सहदये रतेरपि किल्प-तत्वेन सुखमनकतानुपपत्ते रचेतिचेद्, श्रवधीयताम् —श्रङ्गारप्रधानकाच्येभ्य इव यदि केवजाह्नाद एव अत्रापि सहृद्यहृद्यप्रमाणकस्तदा कार्यानुरोधेन कारणस्य कल्पनीयत्वात् बोकोत्तरकाव्यव्यापारस्यैव श्राह्माद्अनकत्विमिव दुःखप्रतिबन्धकत्वम्पि कल्पनीयम् । श्रथ यदि बाह्वाद इव दुः लमपि प्रमाणि सिद्धं तदा प्रतिबन्धकत्वं न कल्पनीयम् । स्वस्वकारण-वशास्त्रोमयमि मिविष्यति । श्रथ तादशे काव्ये कवीनां कर्तुम्, सहद्यानाञ्च श्रोतुं कथं प्रवृत्तिः ? श्रानिष्टसाधनत्वेन निवृत्ते रुचितत्वाद् इति चेन्न, इष्टस्याधिक्याद् धनिष्टस्य च न्यून-त्वात्प्रवृत्ते रुपपत्ते :। केवलाह्वाद्वादिनान्तु प्रवृत्तिरप्रत्यू हैव । श्रश्रुपाताद्यश्च तत्तद्वानन्दातु-भवस्वामाज्यात्। न तु दुःखात्। अतएव भगवद्रक्रानां भगवद्वर्णनाकर्णनाद्रश्रुपाताद्य उपपद्यन्ते । न हि तत्र जातुचिद् दुःखानुभवोऽस्ति ।

न च करुणरसादौ स्वात्मिन शोकादिमद्शरथादितादात्म्यारोपेऽपि यद्याह्मादस्तर्हि स्वमादी सिंखपातादाविप च स स्यात्। ज्ञानुभविकं च तत्र केवलं दुःसमिति इहापि तदेव युक्तमिति वाचयम्-श्रयं हि लोकोत्तरस्य काव्यव्यापारस्यैव महिमा यस्त्रयोज्या श्ररमणीया अपि पदार्थाः शोकाद्यः आह्वादमलौकिकं जनयन्ति । विश्वच्यो हि कमनीयः काव्य-व्यापार्त्र बास्वादः प्रमाणान्तरजादनुभवात्। जन्यस्य स्वजन्यभावनाजन्यरस्यादिविषय-करवम् । तेन रसास्वादस्य काव्यव्यापाराऽजन्यत्वेपि न चतिः । शकुन्तस्रादावगम्बा-त्वज्ञानोत्पाद्रकु स्वात्मनि दुष्यन्ताभेद्रबुद्ध्या प्रतिबश्यते इति ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स प्रमात्रा वासनोपनीतरत्यादितादात्म्येन गोचरीकृतः 'इति च । ज्ञानस्य स्वप्रकाश्व मनङ्गीकुर्वतामुपरि वेदान्तिभिरेव पातनीयो दएडः । तादात्म्यादेवास्याखएडलम्।

श्रनादि वासना के द्वारा उपनीन श्रर्थात् ज्ञान में प्रतिभासित जो रत्यादिक उनके साथ अभिन्नरूप (तादात्म्य ) से गृहीत होता है। इस प्रकार रह की ज्ञानस्वरूपता श्रीर उसके साथ रत्यादि का श्रमेद् सिद्ध दृश्रा। ज्ञान स्वयं प्रकाश है, अनः रस भी स्वयं प्रकाश है। परन्तु नैयायिक लोग हात को स्वयं प्रकाश नहीं मानते। वे अतुःयवसाय से ज्ञान का ज्ञान मानते हैं। उनके ऊपर ब्रान्तेप करते हैं -- इनस्यति -- जो लोग ज्ञान की स्वप्रकाशना स्वी-कार नहीं करते उनके ऊपर तो चेदान्ती लोग ही इंडा फटकार देंगे। यदि बात का ज्ञान श्रानुव्यवसाय से मानोगे तो श्रानुव्यवसाय के ज्ञान के लिए एक तीसग ज्ञान चाहिये। एवं तीसरे के ज्ञान को चौथा और चौथे के ज्ञान को पांच गंजान चाहिये। इस प्रकार अनन्त परम्परा के कारण अनुव्यत्रसाय मानते में अनवस्था दोष आयंगा. अतः प्रथम ज्ञान को ही स्वतः प्रकाश मानना चाहिये, इत्यादिक विस्तृत विचार इस विषय पर वेदान्त ग्रन्थों में उपन्यस्त हैं।

तादात्म्यादेवात - ज्ञान क साथ ताद्वात्मय होने के कारण ही रस अखएड है।

१०—महत्तोन्नटप्रमृतयस्तु विभावादीनां सम्बन्धाद् रसस्य निष्पत्तिरारोप इति पूर्वोन्न-सुत्रस्यार्थमाहुः । इदमेषामाकृतम् -यद् व्यक्षनाव्यापारस्य छानिर्वचनीयख्यातेशचानभ्युपा-मेपि प्रागुक्रदोषमहिस्रा स्वास्मनि दुष्यन्तादितादास्म्यावगाही शकुन्तजादिविषयकरत्यादि-मद्मेदवोधो मानसः कान्यार्थभावनाजनमा वित्तत्त्व्याविषयताशाली रसः । स्वामादिख बोघो न काव्यार्थभावनाजन्मा इति न रसः। तेन तत्र न तादशाह्वादापत्तिः।

. नचैवमपि स्वस्मिन् अविद्यमानस्य रत्यादेरनुभवः कथं नाम स्याद् इति वास्यम्। नह्ययं लौकिकसाचात्कारो रत्यादे:, येनावश्यं विषयसद्भावोऽपेच्यायः स्यात्। श्रिपे इ भ्रमः । भ्रास्तादनस्य रसविषयकस्यव्यवहारस्तु रस्यादिविषयकस्वालम्बनः । एतैश्च स्वासानि बुष्यन्तःवधिमतावच्छेदकशकुन्तजादिविषयकरतिवैशिष्टयावगाही, स्वारमस्वविशिष्टे न्तलादिविषयक्रतिविशिष्टदुष्यन्ततादारम्यावगाही, स्वात्मश्वविशिष्टे दुष्यन्तश्रकुन्तलादिः विषयकरस्योवेंशिष्ट्यावगाही वा त्रिविधोऽपि बोधो रसपदार्थतयाऽभ्युपेय:। तत्र विशेषणी भूताया रते: शब्दादप्रतीतत्वाद् व्यञ्जनायाश्च अस्वीकाराद् आदी चेष्टादि जिङ्गकमनुमानम् विशेषणज्ञानार्थमभ्युपगन्तव्यम् ।

११ - दुष्यन्तादिगत एव रसी रत्यादिः कमनीयविभावाद्यभिनयप्रदर्शनकोविदे नर समारोप्य साचात्क्रियते—इति केचित्।

'१२ -श्रीशंकुकप्रभृतयस्तु-मतेऽस्मिन् साचात्कारो 'दुण्यन्तोऽयं शकुन्तलादिविषयकरिं मानित्यादिः प्राग्वद् धर्म्यशे लौकिकः । चारोप्यांशे त्वलौकिकः । दुष्यन्तादिगती राया दिनंटे पक्षे दुरयन्तरवेन गृहीते क्रित्रिमैरप्यक्रित्रमतया गृहीतैविभावादिभिभिन्नेऽपि विश्व चनुमितिसामप्रया बलवत्त्वादनुमीयमानो रस इत्याहुः।

एतेषां मते 'विभावादिभिः' कृत्रिमैरप्यकृत्रिमतया गृहीतैः 'संयोगाद्'श्रजुमानाद्'रस्य रत्यादेः 'निष्पत्तिः' अनुमानम् इति सूत्रार्थी भवति । अत्र च'नटे' पचे इति वाक्यशेषी भवति। अत्र मतेषु प्रत्यत्तमेव ज्ञानं चमकारकं भवति, नानुमानम् । क्रिंज् सत्यनुमाने प्र

रत्यादयो हि प्रथममेकैकशः प्रतीयमानाः सर्वेऽप्येकीभूताः स्फुरन्त एव रसता-मापबन्ते । तदुक्तम्—

त्यादय इति — पहले एक २ करके रत्यादिक प्रतीत होते हैं श्रीर फिर सब भावना के बल से सहद्यों के हृदय में देखते २ एकाकार होकर रसक्ष में परिखत हो

सानातकरोमीत्यनुव्यवसायानुपपित्ति । नटे वाध ज्ञानेपि उक्तानुमितिविरहेपि च आस्वादोद्यो दृश्यते इत्यादिक महिचनीजं कचित्। कचित्तु, न खलु रितेरेव रसः, नापि रामादौ रसः,
रामादौ रतिः, सामाजि केषु रस इति दिथतेः। तस्मात् मुख्यया वृत्त्या रामादौ रसस्वीकृतिरेवाहचिनीजम् । कचिच व्यापारान्तरकल्पनमेव गौरवम् । कचिचान्यद्प्येवंजातीयकमहचिनिमित्तम् । तस्मात् काव्यप्रकाशकारिकया प्रकाशितम् अलंकारशास्त्रहृदयज्ञस्य अभिनवगुप्तपादाचार्यस्य मतमेव सकलालंकारिकमौलिमालालाजितम् ।

प्तमत्र रसिवषये द्वादश विकल्याः प्रदर्शिताः । विकल्पान्तराणि तु प्राय प्रतेषामेव स्यान्तराणि, विवादबहुलानि, न च हृदयङ्गमानि इत्यतिविस्तृतिभयादुपेक्ष्यन्ते ।

ययप्यत्र प्रपञ्चे नानाजातीयाभिः शेमुषीभिरनेकघाऽध्यवसितो रसः, तथापि तस्य परमाहादजनकतायां न कस्यापि विसंवादः । स्रवान्तरप्रकारे च नास्ति सर्वथा संवादोपि । इदमेव
पुष्कतं प्रमाणं रसस्य सरवे, स्रानन्दस्वरूपत्वे, स्रानिवंचनीयस्वे च । एतेनैव चास्य स्रास्मस्वरूपता साधु साधिता भवति । स्रात्मनश्च वाङ्मनसातिगोचरत्वम् स्रानवंचनीयस्वम्
सानन्दयनस्वद्वार्णन तत्र मनो गच्छति न वाग् गच्छति" "एष एव ह्यात्मा स्रानन्दमयः"
इत्यादि वेदान्तवाक्यैरुद्घोषितमेव ।

सोऽयं रसो नाभिधयाभिधेयः । स्वशब्देन श्रङ्गारादिशब्देन च उच्यमानः प्रत्युत दोषाय । नापि लच्चणया लक्षणीयः । न चापि तार्त्यर्थाख्यया वृत्त्या विनिवेदनीयः । किन्तु अलंकारशास्त्रप्राच्या चनरकारजीवातुभृतया व्यक्षनावृत्या प्रकाशितो भवति । इयमेव (व्यक्षनैव) रसाङ्गभृतो व्यापार इत्युच्यते । एतद्विशिष्टश्च शब्दः काब्यमित्याख्यायते ।

इयञ्च सक्रवार्थमी लिमालायमानं रसं भासयन्ती वस्त्ववङ्कारं दिकमिप द्योतयति ।
प्तावांस्तु विशेष: —यद् श्रवङ्कारादयः शक्त्रयन्तरेणापि शक्याः प्रतिपादियतुम् । रसं पुनरेतां
महाशक्किमन्तरेण न काप्यन्या शिक्किः शक्का सम्पादियतुम् । दोषाभावगुणावङ्काररी तिप्रभृतयस्तु रसस्य उपस्कारकाः । राज्ञ इव पार्षदाः। यथा च राज्ञो विरहेपि केवलाः समुदितारच
तस्य पारिषद्याः चमन्ते जनानावर्जयितुम्, प्रभावञ्च सम्पाद्यितुम् । एवं नीरसेपि काव्ये
सम्भूय वर्तमानाः गुणावङ्कारादयः सहद्यानावर्जयन्ति, चमत्कारञ्च जनयन्ति । रसेनं सह
वर्तमानास्तु तस्योत्कर्षातिशयमापादयन्ति । एतेषु दोषाभाव एव सर्वप्रधानः । दोषो हि
अनीचित्याय जायमानो रसमपकर्षयन् कदाचित्तं समूलमप्युन्मूलयति । अतस्तदभावोऽ
वरयमेषणीयः । सर्वात्मना च यतनीयं कविना तदपाकरणे । इदमेव प्रथमं सोपानं सरसन्
कवितासम्पत्तये । अनौचित्यपरिहारेणेव हि स्रौचित्यं सम्यक् सम्पद्यते । शब्दार्थयोगौचित्यमेव च समर्थं स्वात्मनि व्यञ्जनामाधातुम् रसञ्च प्रकाशियतुम् । यदुक्रमिमयुक्कैः—

"अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभक्षस्य कारणम् । श्रीचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।"

कात्यवाचित्योपनिवन्धस्तु रसस्योपनिवत्परा ।"
अवितः प्रथमम् अदोषत्वमुपनिवस्तो वाग्देवतावतारस्य श्रीप्रकाशकारस्या-

्रप्ययमेवाभिप्रायः इति दिक् । CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangoth 'विभावा अनुभावाश्च सात्विका व्यभिचारिएः। प्रतीयमानाः प्रथमं खण्डशो, यान्त्यखण्डताम् ॥' इति । 'प्रमार्थतस्त्वखण्ड एवायं वेदान्तप्रसिद्धब्रह्मतत्त्ववद्वेदितव्यः' इति च। अथ के ते विभावानुभावव्यभिचारिणः इत्यपेक्षायां विभावमाह— रत्याद्यद्वोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः।

ये हि लोके रामादिग्स्तरितहासादीनामुद्धोधकारिणानि सीतादयस्त एव कार्ये नाट्ये च निवेशिताः सन्तः 'विभाव्यन्ते त्र्यास्वादाङ्करपादुर्भावयोग्याः क्रिक्ते सामाजिकरत्यादिभावा एभिः' इति विभावा उच्यन्ते ।

तदुक्तं भतृ हरिणा-

'शब्दोपहितरूपांस्तान्बुद्धेर्विषयतां गतान् । प्रत्यज्ञानिव कंसादीन्साधनत्वेन मन्यते ॥'

जाते हैं। यही कहा भी हैं — विमान इति — विभाव, अनुभाव, सास्विक तम संचारीमाव पहले खएडशः प्रतीयमान होते हैं और फिर अखएड रसक्प के प्राप्त होते हैं। और भी कहा है — परमार्थेति — वास्तव में रस, वेदान्तप्रसिद्ध क्र की तरह, अखएड ही है।

इति रसनिरूपणम् ।

अशेति—रस के निकपण में विभावादिकों की चर्चा वार वार आई है, मह उनके लच्छा की जिज्ञासा दिखाके पहले विभाव का स्वक्षप कहते हैं। त्यादीविलोक में जो रत्यादि के उद्वोधक हैं वे ही काव्य और नाटकादिकों में विभाव कहलाते हैं। यहाँ ति —लोक में सीता आदिक जो रामचन्द्रादि की रित आहि के उद्वोधक प्रसिद्ध हैं, वे ही यदि काव्य और नाट्य में निवेशित किये जा तो 'विभाव' कहलाते हैं, क्यों के वे सहद्य दृष्टा तथा श्रोताओं के रत्यादिभाव को विभावित करते हैं अर्थात् उन्हें त्सास्वाद की उत्पत्ति के योग्य बनाते हैं। सीव आदि के दर्शन या श्रवण से ही, सहद्यों के हद्य में वासनाक्षप से स्थि रत्यादिभाव रसक्ष में परिण्य होते हैं। यही 'विभाव' शब्द का श्रवरार्थ हैं।

तद्भेदावाह— श्रालम्बनोद्दीपनारूयौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।

स्पष्टम् ।

श्रातम्बनो नायकादिस्तमालम्बय रसोद्गमात्॥ २६॥ श्रादिशब्दानायिकाप्रतिनायकादयः। श्रत्र यस्य रसस्य यो विभावः स तत्त्वरूप-

वर्णने बद्दयते । तत्र नायकः---

त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही। दच्चोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता ॥३०॥

द्यः चिपकारी । शीलं सद्भृत्तम् । एवमादिगुणसंपन्नो नेता नायको भवति । तद्भेदानाह—

षीरोदात्तो धीरोद्धतस्तथा धीरललितरच। धीरप्रशान्त इत्ययसुक्तः प्रथमश्रतुर्भेदः॥ ३१॥

स्पष्टम् । तत्र धीरोदात्तः—

श्रविकत्थनः समावानितगम्भीरो महासत्त्वः।
स्थेयान्निगृहमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः॥३२॥

अविकत्थनोऽनात्मरलाघाकरः। महासत्त्वो हर्षशोकाचनभिभूतस्वभावः। निगूढ-मानो विनयच्छ्रनगर्वः। दृढव्रतोऽङ्गीकृतनिर्वाहकः। यथा—रामयुधिष्ठिरादिः।

रस दुरूह, बिल्क 'निरूह' हो जाय। उसकी किसी को प्रतीति ही न होसके। विभाव के भेद बतलाते हैं—श्रालम्बनीत—विभाव के दो भेद हैं, श्रालम्बन श्रीर उद्दीपन। तत्रेति—उनमें श्रालम्बन विभाव नायक (श्रीरामचन्द्र) श्रादि होते हैं, क्योंकि उन्हीं का श्राश्रय लेके रस की निष्पत्ति होती है। यहां 'श्रादि' पद से श्रुकारस में सीता श्रादि नायिकाश्रों और वीररस में रावण श्रादि प्रतिनायकों का प्रहण होता है। जिस २ रस का जो २ विभाव है वह उसी रस के वर्णन में श्रायेगा।

नायक का लच्चण करते हैं—त्यागीति—दाता, कृतज्ञ, पिएडत, कुलीन, लक्ष्मी-वान् लोगों के अनुराग का पात्र, रूप यौवन और उत्साह से युक्त तेजस्वी,

चतुर और सुशील पुरुष काव्यों में नायक होता है।

नायकों के भेद कहते हैं — धीरीति— घीरोदात्त, घीरोद्धत, घीरतित तथा घीरप्रशान्त ये नायक के प्रथम चार भेद हैं। घीरोदात्त का ल्ल्स्स करते हैं — धीरेक्सन इति— अविकत्थन अर्थात् अपनी प्रशंसा न करनेवाला, ज्ञमायुक्त, अति गम्भीर स्वभाववाला, महासत्त्व अर्थात् हर्ष, शोकादि से अपने स्वमाव को नहीं बद्द्यनेवाला स्थिर प्रकृति, विनय से प्रच्छन्न गर्व रखनेवाला और इद्वत्रत अपनी बात का प्रका और आन का प्रा पुरुष 'घीरोदात्त' कहाता है। जैसे मगवान रामचन्द्र और महाराज युधिष्ठिरादिक।

अय धीरोद्धतः— मायापरः प्रचर्डश्चपलोऽहंकारद्रभृयिष्ठः। आत्मश्लाघानिरतो धीरैधीरोद्धतः कथितः॥३३॥

यथा—भीमसेनादिः। अथ धौरललितः—

निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात्।

कला नृत्यादिका । यथा—रत्नावल्यादौ वत्सराजादिः । स्रथ धीरप्रशान्तः—

सामान्यगुणैर्भूयान्द्रिजादिको घोरशान्तः स्यात्॥ ३४॥

यथा मालतीमाधवादौ माधवादिः । एषां च शृङ्गारादिरूपत्वे भेदानाह-

एभिदे चिष्पृष्टानुकू बराठरूपिभिस्तु षोडराधा ।

तत्र तेषां धीरोदात्तादीनां प्रत्येकं दिच्याधृष्टानुकूलशठत्वेन षोडशपकारो नायकः।

एषु त्वनेकमहिलासमरागो दक्षिणः कथितः ॥ ३५॥ द्योक्षिचतुः मधितेषु नायिकासु तुल्यानुरागो दिल्यानायकः । यथा—

'स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता, वारोऽङ्गराजस्वसु, र्बूते रात्रिरियं जिता कमलया, देवी प्रसाद्याद्य च ।

धीरोद्धत का बच्चण करते हैं—मायापर इति-मायाची, प्रचएड चपल, घमगढी शूर, अपनी तारीफ़ के पुल बांधनेवाला नायक 'धीरोद्धत' कहाता है। कैंदे भीमसेन प्रभृति ।

ं धीरलित का लच्चण — निश्चिन्त इति—निश्चिन्त, श्रति-कोमल स्वभाव, सह गृत्य गीतादि कलाश्री में प्रसक्त नायक 'धीरलितत' कहाता है। जैसे रहावा नाटिका में वत्सराज।

अथ धीरप्रशान्त — हामान्येति — त्यागी कृती इत्यादिक कहे हुए नायक सामान्य गुणों से अधिकांशयुक्त ब्राह्मणादिक 'धीरप्रशांत' कहाता है। कैं 'मालतीमाधव' में माधव। एमितित – ये पूर्वोक्त चारों नायक दक्षिण, धृष्ट, भी कृत और शठ इन चार भेदों में विभक्त होते हैं, अतः प्रत्येक के चार भेद हैं से सोलह भेद हुए।

्षु इति—इनमें से अनेक पितयों में समान अनुराग रखनेवाले को 'दिलें नायक कहते हैं। उदाहरण्—स्नातेत्यादि—प्रतीहारी की किसी से उक्ति हैं अन्तःपुर की सुन्दरियों का समाचार जानकर जब महाराज से यह निवेश किया कि. आज कुन्तलेश्वर' की पुत्री ऋतुस्नान करके निवृत्त हुई है, और शि आज अक्रराज की बहिन के यहाँ जाने का नियत है। एवं कमला ने आप

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इत्यन्तःपुरसुन्दरीः पति मया विज्ञाय विज्ञापिते देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थितं नाडिकाः॥

कृतांगा अपि निःशङ्कस्तर्जितोऽपि न लज्जितः। ह्छदोबोऽपि मिथ्याबाऋथितो घृष्टनायकः ॥ ३६॥

यथा मम-शोगां वीच्य मुखं विचुम्बितुमहं यातः समीपं, ततः पादेन प्रहृतं तया, सपदि तं धृत्वा सहासे मिय। किचित्तत्र विधातुमच्चमतया बाष्यं सृजन्त्याः सखे, ध्यातरचेतसि कौतुकं वितनुते कोपोऽपि वामभ्रवः॥'

#### अनुकूल एकनिरतः

एकस्यामेव नायिकायामासक्तोऽनुकूलनायकः। यथा-

'अस्माकं सखि वाससी न रुचिरे, प्रैवेयकं नोज्ज्वलं, नो वक्रा गतिरुद्धतं न हसितं, नैवास्ति कश्चिन्मदः। कि त्वन्येऽपि जना वदन्ति सुभगोऽप्यस्याः पियो नान्यतो दृष्टिं निच्चिपतीति विश्वमियता मन्यामहे दुःस्थितम् ॥

आज की रात्रि जुए में जीत ली है, श्रीर रूठी हुई महारानी को श्राज मनाना भी है तो इन बातों को सुनकर वे किंकर्तव्य विमृद होकर दो तीन घड़ी तक चुप वैठे रहे। इस पद्य से राजा का सब रानियों में समान अनुराग प्रतीत होता है। यदि किसी में विशेष अनुराग होता तो इतने सोच विचार की आवश्यकता नहीं थी। कारण ऐसे हैं कि सभी के यहां जाना चाहिये, परन्तु अकेले राजा कहां कहां जायँ, इसी की चिन्ता है।

अय भृष्टः - कतागा इति - जो अपराध करके भी निःशङ्क रहे, िकड़िकयां खाने पर भी लिजित न हो-ग्रार दोष दीख जाने पर भी भूठ बोलता जाय, वह नायक भृष्टं कहाता है। उदाहरख—शोणिमिति –कोई भृष्ट नायक श्रपना रहस्य किसी मित्र को सुना रहा है। कोध में भरी उस कामिनी का लालमुख देखकर मैं चुम्बन करने के लिये उसके पास गया। तब उसने लात मारी। मैं ऋट से उसे (लात को) पकड़कर हँ सने लगा। है मित्र, उस समय कुछ न कर सकने के कारण श्रांस् बहाती हुई उस कुटिल भृकुटिवाली सुन्द्री का कोघ भी याद आने पर बड़ा कौत्हल पैदा करता है।

अतुकूर्विति जो नायक एक ही नायिका में अनुरक्त रहे उसे अनुकूल कहते हैं। उदाहरण — श्रहमाक्रीमाते — सखी के प्रति नायिका की उक्ति है — हे सखि, न तो मेरे वहा ही रमणीय हैं और न गले का भूषण साफ-सुधरा है। न अरखेलियों की वाल है और न उद्धत हुँसो ही है-(तात्पर्य यह कि प्रियतम को रिसानेवाली कोई बात नहीं हैं) किन्तु और लोग भी यही कहते हैं (मैं तो जानती ही हूं) कि "सुन्दर स्वरूप होने पर भी इसका प्रियतम दूसरी स्त्रियों की ओर दृष्टि भी नहीं

## शठोऽयमेकत्र बद्धभावो यः।

## द्शितबहिरनुरागो विवियमन्यत्र गुढमाचरति ॥ ३७॥

यः पुनरेकस्यामेव नायिकायां बद्धभावो द्वयोरिप नायिकयोबिहिर्दिशितानुः रागोऽन्यस्यां नायिकायां गूढं वििषयमाचरित स शठः।

यथा---

'शठान्यस्याः काञ्चीमिण्रिणितमाकर्ण्य सहसा यदारिलष्यने व पशिथिलभुजप्रनिथरभवः । तदेतत्काच्चे, घृतमधुमयत्वाद्बहुवचो विषेणाघूर्णन्ती किमिप न सखी मे गण्यति ॥'

एषां च त्रैविध्यादुत्तममध्याधमत्वेन । उक्ता नायकभेदारचत्वारिंशत्तथाष्ट्री च ॥ ३८ ॥

एषामुक्तषोडशभेदानाम् ।

अथ पसङ्गादतेषां सहायानाह-

दूरानुवर्तिनि स्यात्तस्य प्रासङ्गिकेतिवृत्ते तु । किंचित्तद्रुणहीनः सहाय एवास्य पीठमदाख्यः ॥ ३६॥

तस्य नायकस्य बहुव्यापिनि प्रसङ्गसंगते इतिवृत्तेऽनन्तरोक्तैर्नायकसामान्यगुगैः किंचिद्नः पीठमर्दनामा सहायो भवति । यथा—रामचन्द्रादीनां सुप्रावादयः।

डालता" वस, मैं तो इसी से संसारभर कों ( अपने सिवा ) दुःख में स्म भती हूं। इससे नायक का अनुराग इस एक ही नायिका में प्रतीत होता है। शठोऽयमिति—त्रह नायक 'शठ' कहलाता है जो अनुरक्त तो किसी अन्य में हो, परन्तु प्रकृत नायिका में भी बाहरी अनुराग दिखलाये और प्रच्छनक्ष से उसका अप्रिय करे। उदाहरण-शंकति-नायिका की चतुर सखी का वसन नायक से। हे शठ, दूसरी नाथिका की काञ्ची-मिणियों (करधनी के रहाँ) के शब्द को सुनकर, इस नायिका के आश्लेष के समय ही जो तू ने भुजबन्ध शिथिल किया था - यह बात किससे कहूं! मिले हुए शहद और घी के समान चिक्रनी चुपड़ी, मीठी मीठो किन्तु विषमय तेरी बातों से विमोहित यह मेरी सखी कुछ नहीं समभती। घी और शहद बराबर मिलाने से विष हो जाता है। वह यद्यपि खाने में मीठा और स्निग्ध होता है, परन्तु परिणाम में मादक ग मारक होता है। एवामिति इन सोलइ प्रकार के नायकों के उत्तम, मध्यम तथा अध्म ये तीन भेद और होते हैं। इस प्रकार नायकों के अड़तालीस भेद होते हैं। अवेति — अब नायकों के सहायकों का निरूपण करते हैं। दूरेति – तस्येति — उस नायक के बहुदूरव्यापी प्रसङ्गपास चरित में, पूर्वोक्त नायक के स्वासन्य गुण से कुछ न्यून गुर्णोवाला, नायक का सहायक 'पीठमद्' कहाता है। और श्रीरामचन्द्रजी के सुग्रीव। यह श्रवान्तर चरित के नायक हैं श्रीर रामचन्द्रजी के सुदूरवर्ती चरित (रावण वध बादि) में सहायक हैं एवं श्रीरामचन्द्र<sup>जी के</sup> कई गुण न्यूनमात्रा में इनमें मिलते भी हैं।

श्रथ शृङ्गारसहायाः-

श्रृङ्गारेऽस्य सहाया विटचेटविद्षकाद्याः स्युः।

भक्ता नर्मसु निपुणाः कुपितवधूमान भञ्जनाः सुद्धाः ॥ ४०॥

आदिशब्दान्मालाकाररजकताम्बूलिकगान्धिकादयः।

तत्र विट:-

संमोगहीनसंपद्घिटस्तु धूर्तः कलैकदेशज्ञः।

वेशोपचारकुशलो वाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ट्याम् ॥ ४१॥

चेटः प्रसिद्ध एव ।

कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः।

हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात्स्वकर्मज्ञः॥ ४२॥

स्वकर्म भोजनादि ।

अर्थचिन्तने सह।यमाह्-

मन्त्री स्याद्थीनां चिन्तायां

अर्थास्तन्त्रावापादयः। यत्त्वत्र सहायकथनपस्तावे 'मन्त्री स्वं चोभयं चापि सखा तस्यार्थचिन्तने'इति केनचिल्लक्षणं कृतम्, तदिप राज्ञोऽर्थचिन्तनोपायलक्षणपकरणे

श्रृहार के सद्दायक —शृहारे इति—स्वामिमक्र, बात-चीत तथा हँसी-मज़ाक्र करने में चतुर, कुपित वधू के मान को दूर कर सकनेवाले और सचिरित्र लोग विट, चेट तथा विद्षक ग्रादि श्रङ्गाररस में नायक के सहायक होते हैं। इस कारिका में आदि शब्द से माली, घोबी, तमोली और गन्धी आदि का प्रइण है।

विट का लक्त ए करते हैं —सम्मोगेति—भोग-विलास में अपनी सम्पत्ति खो चुकनेवाला, धूर्त, नृत्य गीतादि कलाओं के एक श्रंश को जाननेवाला, वेश्याओं की आवभगत करने में होशियार, बातचीत करने में चतुर, मधुरमाषी और गोष्ठी में समादत पुरुष 'विद' कहाता है। चेट इति चेट अर्थात् दास तो प्रसिद्ध ही है। इस 'थर्ड क्लास' आद्मी का लच्चण करने की भी आवश्यकता नहीं समभी गई। कुछमेति —िकसी फूल अथवा वसन्तादिक पर जिसका नाम हो और जो अपनी क्रिया, देह, वेष और भाषा आदि से हँस।नेवाला हो, दूसरी को लड़ाने में प्रसन्न रहता हो और अपने मतलब का पूरा हो अर्थात् अपने बाने पीने की बात कभी न भूले वह पुरुष 'विदूषक' कहाता है।

राज्य की चिन्ता में राजा का सहायक बताते हैं। मन्त्रीति-प्रश्रों इति — तन्त्र अर्थात् अपने राज्य की चिन्ता और आवाप अर्थात् शत्रु आदि के राज्य की विन्ता (विचार ) में मन्त्री नायक का सहायक होता है। यतु हति—सहा-यकों के निरूपणावसर में यह जो किसी ने (दशरूपककार ने) कहा है कि 'नायक के अर्थिकतन में मन्त्री यहा स्वयं राजा अथवा दोनों 'सखा' (सहायक) होते हैं" सो यह राजा के ऋषीचन्तनोपाय का लच्च करने के

्र विच्यानियम् । न तु सहायकथनप्रकरणे । 'नायकस्यार्थिचन्तने मन्त्री सहायः' इत्युक्तेऽपि नायकस्यार्थत एव सिद्धत्वात् । यद्य्युक्तम् 'मन्त्रिणा लितः श्रेषा मन्त्रिष्वायत्तसिद्धयः' इति, तदपि स्वलक्षणकथनेनैव लिक्तिस्य धीरलितस्य मित्रिः मात्रायतार्थिचन्तनोपपत्तेर्गतार्थम् । न चार्थिचन्तने तस्य मन्त्री सहायः । कि हु स्वयमेव संपादकः तस्यार्थिचन्तनाद्यभावात् ।

श्रयान्तःपुरसहायाः —

#### तद्भवरोधे।

वामनष्रहिकरातम्लेच्छाभीराः शकारकुच्जाचाः ॥ ४३ ॥ मद्मूर्वताभिमानी दुष्कुलतैश्वर्यसंयुक्तः । सोऽयमन्द्राश्चाता राज्ञः श्यालः शकार इत्युक्तः ॥ ४४ ॥ श्चावशब्दान्मूकादयः। तत्र षरहत्रामनिकरातकुच्जादयो यथा रहात्रस्याम्—

'नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगर्णनाभावादपास्य त्रपा-

मन्तः कञ्चुिककञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः । पर्यन्ताश्रियिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतं कुब्जा नीचतंयैव यान्ति शनकरात्मेच्नग्राशङ्किनः ॥'

अवसर में कहना चाहिये था—सहायकों के कथनावसर में नहीं। राजा के सहायकों के वीच में राजा का भी नाम गिनाना ठीक नहीं है। यदि इतनाही कहा जाय कि "अर्थचिन्तन में मन्त्रो नायक का सहायक होता है" तो भी नायक (राजा) अर्थतः सिद्ध है, उसके पृथक कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। अतः उक्त लच्चण में 'स्वंच' इतना अंश व्यर्थ है। इसके सिवा यह जो कहा है कि—मिन्श्णेति—इसमें 'मिन्त्रणा लितः' यह अंश अनावश्यक है, क्यों कि घीरललित का जो लच्चण किया है उसी से यह गतार्थ है। उसमें कहा है कि घीरलित के अर्थ की चिन्ता मन्त्री ही करता है। उसके राज्य का मार मन्त्री में ही आयत्त रहता है। न चिति-दूसरे घीरलित का मन्त्री उसके अर्थचिन्ता (राष्ट्रचिन्ता) में सहायक नहीं होता, बिक्त अपने आप सब कार्यों का सम्बाद करता है। घीरलित स्वयं तो कुछ अर्थचिन्तनादि करता ही नहीं।

अव अन्तःपुर (रनवास) के सहायकों का निरूपण करते हैं—तहदवां में हिंगि हसी तरह रनवास में वौने, नपुंसक, किरात, म्लेच्छ (जंगली), श्रहिर, श्रकार कुबड़े श्रादि राजा के सहायक होते हैं। श्रकार का लज्ञण—प्रदेति—महार्थ मूर्ख, श्रीममानी, नीचकुलोत्पन्न, सम्पत्तिशाली राजा की श्रविवाहिता सी का माई शकार कहाता है। 'कुब्जाद्याः' यहां श्राद्य शब्द से मूकादिकों को श्रह्य श्री परादि का उदाहरण रज्ञावता में —नष्टमित्यादि—वन्द र छूटकर रज्ञात होने के कारण नपुंसक (वर्षवर) तो लज्जा छोड़क ए सहार होने के कारण नपुंसक (वर्षवर) तो लज्जा छोड़क ए सहार हिता की श्रीर वार्ष

शकारो मृच्छ्रकटिकादिषु प्रसिद्धः । अन्येऽपि यथादर्शनं ज्ञातव्याः ।

अथ दग्डसहायाः

द्र्यं सुद्धत्कुमाराटविकाः सामन्तसैनिकाचारच।

दुष्टनिप्रहो दयडः । स्पष्टम् ।

श्रुतिबकपुरोधसः स्युर्जेह्मविदस्तापसास्तथा धर्मे ॥ ४५ ॥

ब्रह्मविदो वेदविदः, आत्मविदो वा ।

अत्र च

उत्तमाः पीठमदीयाः

श्रावशब्दानमन्त्रिपुरोहितादयः।

मध्यौ विटविदूषकौ। तथा शकारचेटाचा अधमाः परिकीर्तिताः॥ ४६॥

<mark>ब्राद्यशब्दात्ताम्बूलिकगान्धिकाद्यः ।</mark> अय प्रसङ्गाइतानां विभागगर्भलच्यामाह—

निस्ष्टार्थी मितार्थश्च तथा संदेशहारकः। कार्यप्रेष्याक्षिधा दूतों दूत्यश्चापि तथाविधाः॥ ४७॥

तत्र कार्यपेष्यो दूत इति लच्च गम्।

(बीने) डर के मारे कञ्चुकी के जामे=अंगरखे में दवकने लगे। किरातों ने कोनों में घुस के अपने नाम के समान ही काम किया। किरात शब्द का अर्थ है जो कोने में छिपे या रहे— "किरम्=कोयम् अतन्ति=गच्छन्तीति किराताः" कुबड़े अपने दीख जाने की आशङ्का से और भी मुककर चलने लगे।

शकार सृच्छकटिक आदि प्रकरणों में प्रसिद्ध है। इसी प्रकार स्लेच्छादि भी जानना । श्रीतर्कवागीशजी ने 'मृञ्कुकटिका नाटिकाविशेषः' लिखा है और 'नष्टं वर्षवरैः' इत्यादि श्लोक के अवतर्ग में ''वानरवेषेणान्तःपुरमविष्टं विदूषकमालोक्य" इत्यादि लिखा है, परन्तु सृच्छकटिक 'प्रकरण' है, नाटिका नहीं। श्रीर नष्टम् इत्यादि पद्य वानर के ही वर्णन में आया है, वानर-वेषधारी विदूषक का यह वर्णन नहीं है।

द्रांड के सहायक—दरांडे इति—मित्र, राजकुमार, 'ब्राटविक', (जंगलों में यूमनेवाले पासी, भील आदि ) अधीन राजा लोग तथा सैनिक आदि, दुष्टों का दमन करने में राजा के सहायक होते हैं। ऋतिविगिति - धर्मकार्यों में ऋतिवग्. पुरोहित, ब्रह्मज्ञानी वेदवेत्रा तपस्वी लोग राजा के सहायक होते हैं। इनमें पीठमर्द, मन्त्री, पुरोहित आदि उत्तमकोटि के सहायक माने जाते हैं और विट तथा विदूषक मध्यम एवम् शकार, चेट, तमोली, गन्धी मादि मधम माने जाते हैं।

द्तों का लत्त्य और विभाग करते हैं—निसृष्टार्थ इति—कार्यों में प्रेच्य (भेजने योग्य ) दूत तथा दूतियों के तीन भेद होते हैं—१ निस्पृष्टार्थ र मितार्थ और ३ सन्देशहारक 'कार्यप्रेच्य' इतना दूत का लच्च है, शेष उसका विमाग है।

तत्र—
उभयोभीवमुन्नीय स्वयं वदित चोत्तरम् ।
सुरिलष्टं कुरुते कार्ये निसृष्टार्थस्तु स स्मृतः ॥ ४८॥

उभयोरिति येन प्रेषितो यदन्तिके प्रेषितरच ।

मितार्थभाषी कार्यस्य सिद्धकारी मितार्थकः।
यावद्वाषितसंदेशहारः संदेशहारकः ॥ ४६॥

अथ सात्त्विकनायकगुणाः— शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं घेर्यतेजसी । ललितौदार्यमित्यष्टौ सत्त्वजाः पौरुषा गुणाः ॥ ५०॥

श्र्रता दक्षता सत्यं महोत्साहोऽनुरागिता। नीचे घृणाधिके स्पर्धा यतः शोभेति तां चिद्धः॥ ५१॥

तत्रानुरागिता यथा—
'श्रहमेव मतो महीपतेरिति सर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत् ।
उदधेरिव निम्नगाशतेष्वभवन्नास्य विमानना कचित् ॥'
एवमन्यदपि ।
श्रथ विलासः—

### घीरा दृष्टिगीतिश्चित्रा विलासे सस्मितं वचः।

उमयोशित—जिसने भेजा है श्रीर जिसके पास भेजा है उन दोनों के श्रिमित्रण का उद्दापोद्द करके जो श्रपने श्राप उत्तर दे दे श्रीर ठीक ठीक काम बना लावे उसे 'निसृष्टार्थ' दूत कहते हैं। मितार्थेति—जो परिमित बातें बोले श्रीर कार्य ठीक कर लाये वह 'मितार्थ' दूत श्रीर केवल कहे हुए सन्देश को यथावर पहुँचा देनेवाला 'सन्देशहारक' दत कहाता है।

श्रव नायकों के सास्विक (सत्त्वसमुद्भूत) गुण कहते हैं—गोमिति —शोमी विलास, माधुर्य, गाम्मीर्य, धेर्य, तेज, लित तथा श्रीदार्य ये श्राठ पुरुषों है सास्विक गुण होते हैं। वक्ष्यमाण स्तम्म, स्वेदादि भी सास्विक होते हैं। परन्तु वे स्नीपुरुषसाधारण हैं। ग्रति — ग्रूरता, चतुरता, सत्य, महान् उत्साधि श्रतुरागिता, नीच में घृणा, उच्च में स्पर्धा इन सबको उत्पन्न करनेवाले श्रानी करण के धर्म को शोमा कहते हैं।

अनुरागिता का उदाहरण—अहमेनेति—महाराज (अज) का मैं ही अन्तर्रा हूं यह बात सभी मन्त्री आदि समभते थे। जैसे समुद्र सब निद्यों के जी को अपने में लेता है इसी प्रकार महाराज अज भी सबकी बात आद्रपूर्व सुनते थे। किसी की अवहेला नहीं करते थे। इसी प्रकार शूरता आदि । उदाहरण भी जानना।

र्धारोत—'विलास' में दृष्टि घीर होती है, गृति मुगेन्द्र के समान विविध् होती CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri यथा-

'इष्टिस्त्यािकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम्। कौमारकेऽपि गिरिवद् गुरुतां दधानी वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एषः ॥'

संचोभव्यप्यनुद्रेगो माधुर्य परिकीर्तितम् ॥ ५२॥

जहामुदाहर गम्।

भीशोककोधहर्षाद्यैगांस्भीर्थं निर्विकारता।

यथा---

'ब्राहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च। न मया लच्चितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविश्रमः॥ व्यवसायाद्चलनं घैंर्य विव्रे महत्यपि ॥ ५३॥

यथा--

'श्रुताप्सरोगीतिरपि च गोऽस्मिन्हरः प्रसंख्यानपरो बभुव । आत्मेरवेराणां नहि जातु विष्नाः समाधिमेदपभवो भवन्ति॥

है और वचनावली मुसकुराइट के साथ निकलती है। उदाइरण — दृष्टिरिति — महर्षि वालमीकि के आश्रम में कुश को देखकर श्रीरामंचन्द्रजी की उक्ति है। अर्थ-इसकी दृष्टि त्रैलोक्य के बल श्रीर उत्साह को तृण के समान तुच्छ समक रही है और इसकी धीर तथा उद्धत गति पृथ्वी को भी दबाये देती है। लड़कपन होने पर भी इसमें अत्यन्त गौरव है। क्या यह सदेह वीररस चला आ रहा है ? अथवा साक्षात् गर्व है ? श्रीतर्कवार्गाशजी ने इस पद्य पर लिखा है कि "अत्र नायकस्य (?) उत्प्राहदर्पयोरतिशयसूचनाय वीररसत्वेन दर्पत्वेन चोक्षेखः" न जाने आप भ्रमवश इसे किस 'नायक' का वर्णन समसे हैं।

संवोभिति — संवोभ (घबराहट) के कारणों के उपस्थित होने पर भी नहीं घब-राता 'माधुर्य' कहाता है। भीशोकेति -भय, शोक, क्रोध, हर्ष आदि के उपस्थित होने पर भी निर्विकार रहने को 'गाम्भीर्य' कहते हैं। उदाहरण — ब्राह्नेति — राज्यामिषेक के लिये बुलाने के समय श्रीर वनवास के लिये प्रवासित करने के समय मैंने उनके (श्रीरामचन्द्र के) आकार में ज़रा भी फ़रक नहीं देखा।

व्यवसायादिति — बड्डे से बड्डा विच्न उपस्थित होने पर भी अपने काम में डटे रहते का नाम 'धैर्य' है। उदाहरण-श्रुतेति-ग्रद्धरात्रों का गाना सुनकर भी उस समय मगवान् शङ्कर अपनी समाधिभावना में तत्पर रहे। भ्रन्तः करण की वश में रखनेवाले (आत्मेश्वर) पुरुषों की समाधि का मङ्ग करने में विक्त कमी समर्थ नहीं होते। कुमारसंभव में शिवजी को मोहित करने के लिये इन्द्र के भेजे कामदेव ने जब अपनी माया कैलास पर फैलाई है उस समय का यह वर्णन है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

श्रिधिक्षेपापमानादेः प्रयुक्तस्य परेण यत् । प्राणात्ययेऽप्यसहनं तत्तेजः ससुदाहृतम् ॥ ५४॥ वाग्वेषयोर्भधुरता तद्रच्छुङ्गारचेष्ठितं ललितम् । दानं सप्रियभाषणमौदार्यं शञ्जित्रयोः समता ॥ ५५॥ एषामुदाहरणान्यूद्यानि ।

त्रथ नायिका त्रिभेदा स्वाऽन्या साधारणी स्त्रीति । नायकसामान्यगुणैभेवति यथासंभवैर्युका ॥ ५६॥

नायिका पुनर्नायकसामान्यगुगौरत्यागादिभिर्यथासंभवैर्युक्ता भवति। स च स्वर्षी अन्यस्त्री साधारगास्त्रीति त्रिविधा। तत्र स्वस्ती—

विनयार्जवादियुका गृहकंमीपरा पतिवता स्वीया।

यथा--

'लज्जापज्जत्तपसाहणाइँ परभत्तिणिप्पिवासाइं। अविण्यदुम्मेधाइँ धण्णाणं घरे कलत्ताइं॥'

सापि कथिता त्रिभेदा मुग्धा मध्या प्रगल्भेति ॥ ५७॥ तत्र—

प्रथमावतीर्षयोवनमद्नविकारा रतौ वामा। कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा॥ ५८॥

श्रिवेपेति—श्रन्य के किये हुए श्राक्तेप श्रीर श्रपमानादि का प्राण जाने पर भी सहन न करना 'तेज' कहाता है। वागिति—वागी, वेष श्रीर श्रङ्कार की वेश्रश्री में मधुरता का नाम 'ललित' है। प्रिय भाषण के सहित दान, श्रीर शत्रु, पित्र में समानता को 'श्रीदार्य' कहते हैं। इनके उदाहरण उहित कर लेना। श्रथ नायिकाभेदः

मदनविकारां (जिसमें कामकलाश्रों के विलास पहले-पहल श्राविभूत हैं।) ३ 'रतिवामा' (जो रति में सिमके श्रीर संकोज करें) ४ 'मानहीं CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection, Digitized by Eagling on ?) ४ 'मानहीं

तत्र प्रथमावतीर्णयौवना यथा मम तातपादानाम् के कि कि प्रधान के कि कि प्रधान के कि कि प्रधान के कि कि प्रधान के कि 'मध्यस्य प्रथिमानमेति जघनं, वज्ञोजयोर्मन्द्ता क्रमाक ... १ दूरं यात्युदरं च, रोमलतिकां नेत्रार्जनं धृब्द्धिन्। कन्दर्पं परिवीद्तय नूतनमनोराज्याभिषिक्तं क्यान दङ्गानीय परस्परं विदधते निर्लूगठनं सुभवः॥ प्रथमावतीर्णमदनविकारा यथा मम प्रभावतीपरिण्ये—

'दत्ते सालसमन्थरं भुवि पदं, निर्याति नान्तःपुरान्, नोद्दामं हसति, च्यात्कलयते हीयन्त्रणां कामपि।

किचिद्भावगभीरविक्रमलवस्पृष्टं मनाग्भाषते,

सभूभङ्गमुदीच्ते पियकथामुद्धापयन्तीं सखीम् ॥' रतौ वामा यथा-

'दृष्टा दृष्टिमधो ददाति, कुरुते नालापमाभाषिता, शय्यायां परिवृत्य तिष्ठति, बलादालिङ्गिता वेपते ।

(जिसका मान चिरस्थायी न हो सके ) ४ समधिक-तजावती (जो अत्यन्त लजा करे ) ये पांच भेद मुग्धा के होते हैं।

प्रथमावती श्रीवना के उदाहरण में प्रन्थकार अपने पिता का बनाया पद्य उपस्थित करते हैं—मध्यस्येति —जैसे किसी नवीन राजा के अभिषेक के समय उसके 'अक्न' (मन्त्री, पुरोहित आदि ) आतन्द में नियन होकर एक दूसरे की वस्तुत्रों की छीनाभाषटी करने लगते हैं उसी प्रकार नवीन मनोराज्य में कामदेव को अभिषिक्ष देखकर इस सुन्दरी के 'श्रङ्ग' (नयन ज्ञान श्रादि ) पक दूसरे के गुणों की लूट मचाने लगे हैं। देखो, कमर की पृथुता ( मुटाई ) नितम्ब ने ले ली है अर्थात् बाल्यकाल में जो मुटाई कमर में थी वह आज उसके पड़ोसी नितम्ब में दीखती है और कमर पतली होगई है। एवं स्तनों की मन्दता सुदूरवर्ती उदर में पहुँच गई है श्रीर नेत्रों का सीधापन रोमलता ने प्रदेश कर लिया है अर्थात् बचपन में स्तन मन्द्र थे और आंखों में सीधापन था, परन्तु अव उदर मन्द् है और नामि के ऊपर से निकली हुई रोमाविल सीधी है एवं स्तन पृथु हो गये हैं और नेत्र चश्चल तथा कुटिल हो गये हैं।

मथमावतीर्णमदनविकारा का उदाहरण देते हैं-इते इति—घीरे से ढीला पैर पृथ्वी में रखती है, अन्तः पुर से बाहर नहीं निकलती, खिलखिलाकर अब हैंसती भी नहीं, ज़रा देर में ही विचित्र लजा से निःस्तब्ध हो जाती है, गम्भीरमाव भरे वक्रोक्तिमय कुळ थोड़े से वचन घीरे से बोलती है और

मियतम की कथा कहती हुई सखी को भृकुटिमङ्ग से देखती है। 'रितवामा' का उदाहरण — हष्टेति — अपने मित्र के प्रति किसी की रहस्योक्ति है—देखने पर नीची दृष्टि कर लेती है और बार बार कहने पर भी वार्तालाप गहीं करती। पर्लंग पर मुँह फेर कर बैठती है। यदि बलपूर्वक आलिकन निर्यान्तीषु सखीषु वासभवनानिर्गन्तुमेत्रेहते, जाता वामतयैव संप्रति मम प्रीत्यै नवोढा पिया ॥'

माने मृदुर्यथा—

'सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना नो जानाति सविश्रमाङ्गवलनावक्रोिक्तसंसूचनम् । स्वच्छ्रेरच्छ्रकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला बाला केवलमेव रोदिति लुठक्कोलालकैरश्रुभिः॥'

समधिकलजावती यथा-

'दत्ते सालसमन्थरं–' इत्यत्र रलोके।

अत्र समधिकलजावतीत्वेनापि लब्धाया रितवामताया विच्छितिविशेषवत्तया पुतः कथनम् ।

अथ मध्या--

मध्या विचित्रसुरता प्रक्रहस्मरयौवना । इवत्प्रगल्भवचना मध्यमत्रीडिता सता ॥ ५६ ॥

विचित्रसुरता यथा-

'कान्ते तथा कथमपि प्रथितं मृगाद्या चातुर्यमुद्धतमनोभवया रतेषु।

किया जाय तो कांपने लगती है। सिखयां जब निवासस्थान से निकले लगती हैं तो उनके साथ आप भी जाने की चेष्टा करती है। इस समा नवीन विवाहिता प्रिया इन सब उलटी बातों (वापता) से ही मेरी पर्य प्रीति को उत्पन्न करती है।

'मानमृदु' का उदाहरण—सा पत्युरिति -वह सुन्द्री पित के प्रथम अपर्शि (अन्यनायिकासंसर्ग) के समय सखी के लिखाये विना सविलास 'अङ्गवली (मुंह फेरना आदि) और वकोिक्त के झारा अपनी ईच्यों को स्वन कर्षा भी नहीं जानती। किन्तु चञ्चल कुन्तलों से संपृक्त और सुन्दर क्योली कपर गिरते हुए, मोतियों के समान स्वच्छ आँ सुमों से व्याकुल नयनकार वाली वह बाला केवल रोदन करती है। समिधिकल्रजावतीति—इसका उदाहर्ष 'दत्ते सालसमन्थरम्' यह पूर्वोक्त पद्य जानना। यद्यपि अधिक लज्जा होते। रित में वामता भी अवश्य होती है, तथापि चमत्कार-विशेष के कार्या दोनों नायिकाओं को पृथक् २ कहा है।

मध्या के भेद कहते हैं—१ विचित्रसुरता, २ प्रकटस्मरा ३ प्रकटियोकी

४ ईषत्प्रगत्मवचना, ४ मध्यमबीडिता ये मध्या के भेद हैं।

विचित्रसुरता का उदाहरण — कान्ते इति — सुरत के समय प्रवृद्धकामा है।
नग्रनी ने इस प्रकार की अपूर्व चतुरता दिखाई कि अनेक बार उसके री

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तत्कृजितान्यनुवदद्भिरनेकवारं शिष्यायितं गृहकपोतशतैर्यथास्याः॥

प्रकृतस्मरा यथात्रैवोदाहरणे । प्ररूढयौवना यथा मम--

भनेत्रे खञ्जनगञ्जने सरसिजमत्यर्थि पाणिद्वयं

वद्योजौ करिकुम्भविश्रमकरीमत्युत्रति गच्छतः । कान्तिः काञ्चनचम्पकपतिनिधिर्वाणीः सुधास्पन्दिनी

स्मेरेन्दीवरदामसोदरवपुस्तस्याः कटाच्च्छ्रटा॥'

एवमन्यत्रापि । अय प्रगल्भा-

> स्मरान्धा गाढतारू यथा समस्तरतकोविदा। भावोन्नता द्रवीडा प्रगल्भाक्रान्तनायका ॥ ६०॥

स्मरान्धा यथा-

'धन्यासि या कथयसि प्रियसंगमेऽपि विश्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु। • नीवीं पति प्रशिहिते तु करे पियेश सख्यः शपामि यदि किश्चिदपि समरामि॥'

गाढतारुएया यथा-

कुजित का अनुकरण करते हुए घर के कबूतर उसके शिष्य से प्रतीत होते थे। जिस प्रकार वेदपाठियों के शिष्य अपने गुरु का उच्चारण सुनकर उसका अनु-करण करते हैं इसी प्रकार रितकूजित सुनने के बाद उसी तरह गुटरगूं करते हुए पालत् कबूतर शिष्यों के समान प्रतीत होते थे।

प्रहरीवना—नेत्रे इति—उस सुन्द्री के नयन, खञ्जनपत्ती का गञ्जन (पराभव) करनेवाले हैं। 'श्रव्जन रव्जन हू विना खब्जनगब्जन नैन' हो रहे हैं। श्रीर दोनों कोमल कर, कमलों के प्रतिस्पर्धी हैं एवं स्तन करिकुम्भ के विलास को धारण करनेवाली अत्यन्त उन्नति को प्राप्त हुए हैं। उसके देह की कान्ति सुवर्ण और चम्पा के पुष्प की स्थानापन्न है श्रीर मधुरवाणी सुधारस बरसानेवाली है पर्व उसके कटालों की छटा खिले हुए नीले कमलों की माला के समान सुशोमित है। इसी प्रकार श्रीर उदाहरण भी अहित कर लेना।

अथ प्रगल्भा -१ स्मरान्धा, २ गाढताद्यया, ३ समस्तरतकोविदा, ७ भावोन्नता, ४ दरबीडा और ६ म्राकान्तनायका ये छुः भेद प्रगल्मा के हैं।यथा-कम उदाहरण देते हैं— वन्येति—हे सखि, तू धन्य है, जो प्रिय के समागम में धरत के समय विश्वास और धैर्य के साथ—बड़े इतमीनान से—सैकड़ों नर्म ववन कहा करती है। मैं तो नीवीबन्धन से प्रियतम का करस्पर्श होते ही, है सिंबयो, शपथ खाती हूं, जो कुछ याद रहती हो। यह 'स्मरान्धा' नायिका है। 'अत्युन्नतस्तनमुरो नयने सुदीर्घे वक्रो भ्रुवावतितरां वचनं ततोऽपि । मध्योऽधिकं तनुरनूनगुरुनितम्बो मन्दा गतिः किमपि चाद्भुतयौवनायाः ॥'

संमस्तरतकोविदा यथा-

'क्रचित्ताम्बूलाकः क्रचिदगरुपङ्गाङ्गमलिनः क्रिचच्यूगोंद्रारी क्रचिदिप च सालक्षकपदः। वलीभङ्गाभोगैरलकपतितैः शीर्णकुसुमैः

स्त्रियाः सर्वावस्थं कथयति रतं पच्छदपटः ॥'

भावोन्नता यथा--

'मधुरवचनै: सभूभङ्गै: कृताङ्गुलितर्जनै
रमसरचितैरङ्गन्यासैर्महोत्सवबन्धुभि: ।
श्रमकृदसकृत्स्फारस्फारैरपाङ्गविलोकितैश्रिभुवनजये सा पञ्चेषोः करोति सहायताम्॥

स्वल्पत्रीडा यथा---

'धन्यासि या कथयसि—' इत्यत्रैव ।

'गाढताक्ण्या' का उदाहरण—अधुकतेति—उस झुन्द्री का वनःस्थल अत्यत्तं उन्नत स्तनों से युक्त है और नेत्र सुन्द्र विस्तीण हैं। भौहें कामदेव के घड़ा के समान वक (टेढ़ी) हैं और वचनावली उनसे भी अधिक वक्त है। का अत्यन्त पतली और नितम्ब (कमर से निचला पृष्ठभाग) अधिक भागी एवं राजहंस के समान मनसोहनी मन्द-मन्द्र गति है। उस अद्भुत यौवन वाल कामिनी का सब कुछ अद्भुत है। इस नायिका का 'ताक्ण्य' (यौका प्रगाढ' (सिवशेष पूर्ण) है, अतएव यह 'गाढताक्ण्या' कहाती है। 'समस्तरतकोविदा' का उदाहरण-कविदिति—'अच्छुद्रपट'=एलंग पर विद्या

की चादर, कहीं पान से रँगी है तो कहीं अगर के पक्क से मिलन है। की उस पर कपोलालक चूर्ण पड़ा है तो कहीं महावर से रँगे पैर का चिह्न हैं। पक और त्रिवलीमङ्ग के निशान हैं तो दूसरी ओर केशों से गिरे पूर्व हैं। इस पकार यह चादर कामिनी की अनेक प्रकार की कामकेलिक की स्वना देती है। इस पद्य से कई आसनों की अवस्था स्वित होती है।

भाषां दता है। इस पद्य से कई श्रासनों की श्रवस्था सूचित होता मायोशता का उदाहरण—मधुरवचनिरिति—मधुर मधुर वचनी, कि मृकुटिभङ्गों, उंगली उठाके तर्जन करने, महोत्सव के सहायक 'रमस्रित' (क्षट से किये गये) सविलास श्रङ्गन्यासों श्रोर वार बार की तिर्छी वित्र से वह रमणी त्रिभुवन के विजय में कामदेव की सहायता किया करती 'स्वल्पवीडा' का उदाहरण—'भन्यासि'—प्रवोक्त।

आक्रान्तनायका यथा-

'स्वामिन्भङ्गरयालकं सतिलकं भालं विलासिन्कुरु, प्राग्रेश, त्रुटितं पयोधरतटे हारं पुनर्योजय। इत्यक्त्वा सुरतावसानसमये संपूर्णचन्द्रानना स्पृष्टा तेन तथैव जातपुलको पाप्ता पुनर्मोहनम् ॥

मध्याप्रगल्भयोर्भेदान्तराएयाह-

ते धीरा चाप्यधीरा च धीराधीरेति षड्विधे।

ते मध्यापगल्भे।

वियं सोत्प्रासबकोकत्या मध्या घीरा दहेद्रुषा ॥ ६१ ॥ धीराधीरा तु रुदितैरधीरा परुषोक्तिभः।

तत्र मध्या धीरा यथा-

'तद्वितथमवादीर्यन्मम त्वं पियेति पियजनपरिभुक्तं यहुक्लं दधानः । मद्धिवसतिमागाः, कामिनां मएडनश्री-र्वजिति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन ॥'

मध्यैव धीराधीस यथा--

'बाले, नाथ, विमुख मानिनि रुषं, रोषान्मया कि कृतं, खेदोऽस्मासु, न मेऽपराध्यति भवान्, सर्वेऽपराधा मयि।

'आकान्तनायका' अर्थात् नायक का अतिक्रमण करनेवाली नायिका का उदाहरण-स्वामित्रिति—''हे विलासी स्वामी, श्रलकों को सम्हाल दीजिये और माल पर तिलक लगा दी जिये। हे प्राणनाथ, स्तनतर पर टूटे हुए हार को फिर बोड़ दीजिये" सुरत के अन्त में चन्द्रमुखी ने इस प्रकार कहा और नायक के स्पर्श करते ही रोमाञ्चित होकर फिर मोहित हो गई।

मध्या और प्रगल्मा के अन्य भेद कहते हैं - ते धीरित-वे दोनों (मध्या और मगल्मा) धीरा, अधीरा श्रीर धीराधीरा इन तीनों भेदों में विमक्त हैं -इस प्रकार कुः भेद होते हैं। इनके लद्मण करते हैं। त्रियमिति — मध्याधीरा, क्रोध करने पर, प्रियतम को सपरिहास वक्रोक्रिके द्वारा विद्ध करती है पर्व धीराधीरा रोदन से और अधीरा परुष भाषण से खिन्न करती है।

मध्याघीरा का उदाहरण-तदिवतथेति - आपने यह ठीक ही कहा था कि 'तुम मेरी प्रिया हो'—इसी लिये तो प्रियजन (सपत्नी) से उपसुक्त वस्न को पहन कर मेरे यहां उसे दिखाने आये हो। कामियों का मगडन प्रिया के देखने पर ही सफल होता है। 'धीराधीरा' प्रध्या का उदाहरण - बाले इति -- यह नायक और नायिका का प्रश्नोत्तर है। एक श्रङ्क से चिह्नित नायक की उक्ति है और दो (२) से अङ्कित नायिका की। १ हे बाले, २ हे नाथ, १ मानवति, क्रोध छोड़ दो,—२ कोध करके मैंने क्या करित्या ?। १ तुमने क्रोध करके मुक्के खिन कर दिया। २ वीक है, आएका कोई दोष नहीं है, सब अपराध मेरा ही है, १ तो फिर गद्भव CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तिंक रोदिषि गद्गदेन वचसा, कस्याप्रतो रुखते, नन्वेतन्मम, का तवास्मि, दियता, नास्मीत्यतो रुखते ॥'

इयमेवाधीरा यथा— 'सार्धं मनोरथशतैस्तव घूर्त, कान्ता सैव स्थिता मनसि कृत्रिमहावरम्या । श्रस्माकमस्ति नहि कश्चिदहावकाश-स्तस्मात्कृतं-चरणपातविडम्बनाभिः॥'

प्रगल्भा यदि धीरा स्याच्छन्नकोपाकृतिस्तदा ॥ ६२॥ उदास्ते सुरते तत्र दर्शयन्त्याद्रान्बहिः।

तत्र मिये।

यथा--

'एकत्रासनसंस्थितिः परिद्वता प्रत्युद्गमाद्द्रत-स्ताम्बूलानयनच्छ्रलेन रमसारलेषोऽपि संविध्नितः । आलापोऽपि न मिश्रितः परिजनं व्यापारयन्त्यान्तिके कान्तं प्रत्युपचारतरचतुरया कोपः कृतार्थीकृतः ॥'

होकर रोती क्यों हो?। २ मला मैं किसके आगे रोती हूं?। १ देखो, अमी मेरेहं आगे रो रही हो। २ मैं तुम्हारी कौन हूं?। १ तुम मेरी प्रिया हो। २ प्रिया

नहीं हूं, इसी लिये तो रो रही हूं।

अधीरा मध्या का उदाहरण—सार्धमिति—हे धूर्त, सैकड़ों कामके कि के मने रथों के साथ वही बनावटी हावभाव दिखानेवाली धूर्त र्छा। तुम्हारे मन में बर् रही है। इस (तुम्हारे मन) में हमारी जैसी को कोई जगह नहीं है—इसिंग जाओ, रहने दो, मेरे पैरों पर गिरने का नाटक दिखाने से कुछ लाभ नहीं।

प्रगल्मित—मध्या की तरह प्रगल्मा भी धीरा, अधीरा और घीराधीरा तीन प्रकारों की होती है। उनमें से प्रगल्मा नायिका यदि धीरा होती है तो ब अपने कोध के आकार को छिपा के बाहरी बातों में बड़ा आदर सतकार दिबाल है, परन्तु वस्तुतः सुरत में उदासीन रहती है। उदाहरण—एक नेति—प्रवार को आता देखकर चतुर रमणी भट खड़ी हो गई और दूरसे प्रत्युत्थान करने बहाने एक आसन पर वैठने का परिहार कर दिया, अर्थात् अपने सार्य आसन पर वैठने की प्रियतम की इच्छा को पूरा नहीं होने दिया और दूर प्रत्युत्थान करने में बाहरी आदर बहुत दिखाया। एवं ताम्बूल लाने के बार से शीधतापूर्वक आलिइन में भी विद्या जीर पास खड़े हुए दासी को को आज्ञा देने के बहाने बात में बात भी नहीं मिलाई। मतलब यह कि जब अपने मों शियतम ने कोई बात कही, तब तब उसकी बात का उत्तर न देकर कि कि विध्यतम ने कोई बात कही, तब तब उसकी बात का उत्तर न देकर कि कि कि दास-दासी को किसी काम की आज्ञा दी। किसी से कहा पर दबा सि किसी से कहा पेत हैं की किसी से कहा पेत हैं कि किसी से कहा पेत हैं की किसी से कहा से ख़ुर ही हैं।

ने कान्त के प्रति श्रपना कोप कुतार्थ कर लिया । CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

# धीराधीरा तु सोल्लुएठ भाषितैः खेद्यत्यमुम् ॥ ६३॥

ग्रमं नायकम् ।

यथा मम-'अनलं कृतोऽपि सुन्दर हरसि मनो मे यतः प्रसभम्।

कि पुनरलंकृतस्त्वं संप्रति नखरच्ततस्त्याः॥

तर्जयेत्ताडयेदन्या

अन्या अधीरा । यथा-- 'शोगां वीच्य मुखं-' इत्यत्र । अत्र च सर्वत्र 'रुषां' इत्यनुवर्तते ।

प्रत्येकं ता श्रपि द्विधा।

कनिष्ठज्येष्ठरूपत्वान्नायकप्रणयं प्रति ॥ ६४॥

ता अनन्तरोक्ताः षड्भेदा नायिकाः।

यथा-

'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते पियतमे परचादुपेत्यादरा-देकस्या नयने पिधाय विहितक्रीडानुबन्धच्छलः।

ईषद्वित्रतकंधरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धृतोंऽपरां चुम्बति ॥

मध्याप्रगरभयोर्भेदास्तद्वद् द्वादश कीर्तिताः। मुग्धा त्वेकैव तेन स्युः स्वीयाभेदास्त्रयोदश ॥ ६५ ॥

धीराधीरेति—प्रगल्भा नायिका यदि धीराधीरा होती है तो वह नायक को व्यक्त्य भरे वचनों (तानों ) से खेदित करती है। उदाहरण—अनलंकत इति—हे सुन्दर, तुम तो विना किसी आभूषण के भी मेरे मन को अत्यन्त लुभाते हो। फिर इस समय तो उसके (सपत्नी के) नखन्तों से "सुभूषित" हो। अब क्या कहने हैं ?

तर्जियेदिति—अधीरा प्रगल्मा तर्जन भी करती है और ताडन भी करती है। उदाहरण-'शोणम्' इत्यादि पूर्वोक्स पद्य । अत्र चेति-इन सब कारिकाओं में 'प्रियं सोत्प्रास' इत्यादि कारिका से 'रुषा' की अनुवृत्ति होती है। अर्थात् कोध आने पर ही उक्त नायिकाओं का तर्जन, ताडन, परुष भाषण आदि होता है, यों ही नहीं मार बैठती हैं।

श्रत्येकिमिति—ये पूर्वोक्त छुद्दी नायिकायं नायक के प्रेम की अधिकता और न्यूनता के कारण दो दो प्रकार की होती हैं। उदाहरण—हिंदी—एक आसन पर वैठी हुई अपनी दोनों प्रियाओं को देखकर धूर्त नायक, आदर-पूर्वक पीछे से आकर, कीड़ा के बहाने एक की आंखें मूंद के, थोड़ी गर्दन धुमा के, प्रेमपुलकित मुसकुराती हुई दूसरी नायिका का चुम्बन करता है। यहां एक के प्रति अधिक प्रेम प्रतीत होता है। न्यून प्रेमवाली का ध्रतता से पतारण है।

मधीत - इस प्रकार मध्या और प्रगल्भा के मिलकर बारह भेद होते हैं - और सुधा एकही प्रकार की होती है इसलिये स्वकीया नायिका के तेरह भेव होते हैं। CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

# परकीया द्विधा प्रोक्ता परोढा कन्यका तथा।

तत्र-

यात्रादिनिरतान्योढा कुबटा गिलतत्रपा ॥ ६६॥

यथा-'स्वामी नि:रवसितेऽप्यसूयति, मनोजिन्न: सपत्नीजन:, रवश्रूरिङ्गितदैवतं, नयनयोरीहालिहो यातरः। तदूरादयमञ्जलिः, किमधुना दग्भिक्कभावेन ते, वैदग्धीमधुरप्रवर्न्धरसिक, व्यथोंऽयमत्रं श्रमः ॥'

प्रकीयेति—परकीया नायिका दो प्रकार की होती है, एक अन्य-विवाहित दूसरी अविवाहिता (कन्या)। उनमें से-यात्रादीते-यात्रा आदिक मे तमाशों की शौक्रीन निर्लजा कुलटा 'श्रन्योढा' कहाती है। उदारण-स्वामीह-'स्वामी' (पित ) सांस लोने में भी खीभते हैं और सपत्नी सब मेरे मन को सुंघती रहती हैं। सास इङ्गितों (इशारों) की अधिष्ठात्री देवी है और जिंठानी देवरानी हर घड़ी नेत्रों की चेष्टात्रों को परखती रहती हैं। इस क्रि आपको मेरा दूर से नमस्कार है। अब तुम्हारी इन भावभरी चितवनों से सा होना है ? हे चतुर रसिक, इस विषय में तुम्हारा यह परिश्रम व्यर्थ है।

भाव - कोई भी पति, यदि पागल नहीं है तो, अपनी स्त्री के सांस लेते। त्रस्या नहीं कर सकता, त्रतः यहां 'निःश्वसित' शब्द लच्च एा से निःश्वास विशेष का स्चक है। इससे परपुरुष की अप्राप्ति से उत्पन्न विरद्व निःश्वास में तालां है। मनोजिम इति—'घा' घातु का अर्थ है सुंघना और सुंघी वही वस्तु जासकी है जिसमें गन्ध हो। परन्तु मन अपार्थिव और गन्धशुन्य होने के कारण स्ंग नहीं जा सकता, अतः यहां 'जिन्न' शब्द लक्षणा से ज्ञानसामान्य का बोधक है श्रीर उस ज्ञान की विशेषता बतलाना यहां व्यङ्गय प्रयोजन है। 'सपित्रयां म को स्ंघती रहती हैं अर्थात् मानसिक मावों को सविशेषकप से परखती रहती हैं। जिस प्रकार शिकारी कुतियां चूहे त्रादि के बिलों को सूंघा करती हैं और उन बिलों में से निकलनेवाले जीवों पर सतर्क रहती हैं इसी प्रकार मेरी स लियां मेरे 'मनोबिल' पर बराबर चौकन्नी रहती हैं—'इति भावः'। जैसे संब से दूर से ही वस्तु की परीचा हो जाती है इसी प्रकार मेरे मन को सपिता दूर से ही पहिचान लेती हैं। इसी विशेषता को व्यक्त करने के लिये यहां 'जि शब्द का ब्रह्म किया है।

इितदैवतमिति—सास इशारों की देवता है। जैसे अधिष्ठातृदेवी से अधिष्ठ विषय की कोई बात छिपी नहीं रह सकती, इसी प्रकार सास से किरी इशारे का कोई भाव छिपाया नहीं जा सकता —यह तात्पर्य है। 'दैवत' ग्री लक्तणा से दैवतसदश का बोधन करता है, क्योंकि सास साज्ञात् देवता

है नहीं। आंख आदि के स्क्ष्म इशारों का नाम 'इङ्गित' है। नयनयोरिति—'लिह' धातु का अर्थ चाटना है और चाटी वही वस्तु जा सकती है, जिसमें रस हो और जिसका जिह्ना से सम्बन्ध हो सके। प्रनित्र ब्रांबी CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अत्र हि मम परिगोतानाच्छादनादिदातृतया स्वाम्येव, न तु बल्लमः। मम बल्लभोऽसीत्यादिन्यङ्गचार्थवशादस्याः परनायक-वैदग्धीमधुरप्रबन्धरसिकतया विषया रतिः प्रतीयते ।

कन्या त्वजातोपयमा सलज्जा नवयौवना। अस्यारचं पित्राद्यायत्तत्वात्परकीयात्वम् । यथा मालतीमाधवादौ मालत्यादिः । धीरा कलाप्रगल्भा स्याद्वेश्या सामान्यनायिका ॥ ६७ ॥ निर्गुणानपि न द्वेष्टि न रज्यति गुणिड्वपि। वित्तमात्रं समालोक्य सा रागं दर्शयेद् बहिः ॥ ६८ ॥ काममङ्गीकृतमपि परिचीणधनं नरम्। मात्रा निष्कासयेदेषा पुनः संघानकाङ्चया ॥ ६६ ॥ तस्कराः पराडका सूर्याः सुखप्राप्तधनास्तथा। लिङ्गिनरञ्जनकामाचा आतां प्रायेण वह्नमाः॥ ७०॥ एषापि मद्नायत्ता कापि सत्यानुरागिणी। रकायां वा विरक्तायां रतमस्यां सुदुर्लभम् ॥ ७१ ॥ प्रविका वातप्रविकादिः । छन्नं प्रच्छन्नं ये कामयन्ते ते छन्नकामाः । तत्र राग-

इशारों में न तो खट्टा, मीठा आदि कोई रस होता है और न उनसे जिह्ना का सम्बन्ध हो सकता है, श्रतः यहां 'जिन्न' के समान लत्त्रणा जानना चाहिए श्रीर ज्ञानगत विशेषता को व्यङ्गय प्रयोजन समभना चाहिये। हाथ, पैर श्राद् अङ्गों की स्थूल चेष्टाओं का नाम 'ईहा' है।

अत्र हाति—इस पद्य में पति को 'स्वाभी' कहने से यह तात्पर्य है कि वह अन-वस्त्र आदि देने के कारण केवल मालिक ही है, प्रिय नहीं है और तुम काम-कलाओं में विदग्ध (चतुर) होने तथा रतिप्रवन्धों में रसिक होने के कारण अत्यन्त प्रिय हो। इन सब बातों से इसकी परपुरुष में रित प्रतीत होती है।

कन्येति—श्रविवादिता सलजा नवयौवना 'कन्या' कहाती है। यह पिता श्रादि के वशीभूत होने से परकीया कहाती है—जैसे 'मालतीमाधव' में मालती।

धीरा, नृत्य गीतादि ६४कलाओं में निपुण, सबकी सामान्य स्त्री 'वेश्या' कहाती है। वह निर्गुण पुरुषों से द्वेष नहीं करती श्रीर गुणियों में श्रमुरक्र नहीं होती। केवल धन देखकर बाहरी अनुराग दिखाती है। अच्छे प्रकार स्वीकृत पुरुष मी, यदि धनहीन हो जाय, तो उसे अपनी माता के द्वारा निकलवा देती है, स्वयं नहीं निकालती, क्योंकि फिर धनागम होने पर उससे मेल करने की इच्छा रहती है। चोर, पंडे=नपु सक, मूर्ज, अनायास से प्राप्त धनवाले, ब्रह्मचारी, संन्यासी मादि वेषधारी, प्रच्छन कामुक पुरुष प्रायः इनके (वेश्याओं के) वह्नम होते हैं। कहीं २ वेश्या भी काम के वश होकर सत्य अनुराग से युक्त होती है। जैसे मुञ्जूकिक में वसन्तसेना। रागद्दीना का उदाहरण लटक मेलकादि में मदनमञ्जरी त्रादि । ये चाहें रक्त हों चाहें विरक्त इनमें रित अत्यन्त दुर्लम है। प्रहक इति—'प्राडक'या प्राडक का अर्थ नपु सक है। ये आठ प्रकार के होते

हैं चरक, शारीरस्थान के अतुल्यगोत्रीय अध्याय में लिखा हैं — वाय्वनिदोषा-CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हीना यथा लटकमेलकादौ मदनमञ्जर्यादिः। रह्मायथा मृच्छकटिकादौ वसन्तसेनादिः।

पुनरच— श्रवस्थाभिभवन्त्यष्ठावेताः षोडश भेदिताः। श्रवस्थाभिभित्ता तद्वत्खिताथाभिसारिका॥ ७२॥ स्वाधीनभर्तृका तद्वत्व्धा प्रोषितभर्तृका। कल्हान्तरिता विप्रलब्धा प्रोषितभर्तृका। श्रन्या वासकसङ्जा स्याद्विरहोत्किण्ठिता तथा॥ ७३॥

तत्र— कान्तो रतिगुणाकृष्टो न जहाति यदन्तिकम् । विचित्रविश्रमासका सा स्यात्स्वाधीन अर्तृका ॥ ७४ ॥

यथा- 'अस्माकं सखि वाससी-' इत्यादि ।

पारवेमेति प्रियो यस्या अन्यसंभोगचिह्नितः।
सा खिरडतेति कथिता धीरैरीव्योकषायिता॥ ७५॥

यथा-- 'तद्वितथमवादी:-' इत्यादि ।

श्रभिसार्यते कान्तं या मन्मथवशंवदा । स्वयं वाभिसरत्येषा धीरैक्काभिसारिका ॥ ७५ ॥

क्रमाद्यथा--

'न च मेऽवगच्छिति यथा लघुतां करुणां यथा च कुरुते स मिय । निपुणां तथैनमभिगम्य वदेरभिदूति काचिदिति संदिदिशे ॥' 'उत्विप्तं करकङ्करणद्वयिमदं बद्धा दढं मेखला यत्नेन प्रतिपादिता मुखरयोर्मञ्जीरयोर्मूकता ।

दृषयो तु यस्य नाशंगतो वातिकषण्डकः सः। इत्येवमष्टो विकृतिप्रकाराः कर्मात्मकानापुत्र स्वर्णायाः'। वातिक षण्डक श्रोर वातपण्डक एक ही है।

श्रीर भेद कहते हैं। पुनश्चेति-श्रवस्थामिरिति—पूर्वोक्त सोलहों (तेरह स्वीया एक परकीया, एक कन्या श्रीर एक वेश्या) नायिकायें श्रवस्थाभेद से किर श्राठ प्रकार की होती हैं यथा—'स्वाधीनपितका, खिएडता, श्रीभसारिका कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितभर्तृका, वासकसज्जा श्रीर विरहोत्किरिता।

कान्त इति—रतिगुण से आकृष्ट प्रियतम जिसका संग न छोड़े वह विवि विलासों से युक्त नायिका—'स्वाधीनपतिका' कहाती है। जैसे 'श्ररमाकं सीं इत्यादि पूर्वोक्त पद्य।

पार्श्वमिति—अन्य स्त्री के संसर्ग—चिह्नों से युक्त नायक जिसके पास जाव वह ईर्ष्यों से कलुषित 'खिएडता' कहाती है। जैसे पूर्वोक्न 'तद्वितयम्' इत्यादि।

काम के वशीभृत होकर जो किसी संकेत स्थान पर नायक को बुलाये प्राथी स्वयं जाये वह 'अभिसारिका' कहाती है। पित को बुलानेवाली का उदाहरण नच में इति—हें दूति, जिससे वह मेरी लघुता न सममें और मेरे ऊपर कृणा के करें इस प्रकार की उनसे बातचीत करना। यह किसी नायिका ने दूती के संदेश दिया है। दूसरा उदाहरण-उत्तिशीमिति—हाथ के कंकण ऊपर को बढ़ी (जिससे बजें नहीं) ढीली तगड़ी कस के बाँधी। मुखरमञ्जीरों (छागी) CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by evangotri

ब्रारच्चे रभसान्मया प्रियसखि, क्रीडाभिसारोत्सव चएडालस्तिमिरावगुएठनपटचोपं विधत्ते विधुः॥'

मंतीना स्वेषु गात्रेषु मूकीकृतविभूषणा। अवगुण्ठनसंवीता कुलजाभिसरेचादि॥ ७०॥ विचित्रोज्ज्वलवेषा तु रणन्तूपुरकङ्गणा। प्रमोदस्मेरबद्ना स्याद्वेश्याभिसरेचादि॥ ७८॥ मदस्वितिसं जापा विश्रमोत्फुल्ललोचना। श्राविद्धगतिसंचार। स्यात्प्रेष्याभिसरे चिद् ॥ ७६ ॥

तत्राचे 'उत्विप्तं-' इत्यादि । अन्त्ययोक्त्ह्यमुदाहरराम् ।

प्रसङ्गादिमसारस्थानानि कथ्यन्ते-

चेत्रं वाटी भगनदेवालयो दूतीगृहं वनम्। मालापञ्चः शमशानं च नचादीनां तटी तथा॥ ८०॥ एवं कृताभिसाराणां पुंश्चलीनां विनोदने। स्थानान्यष्टी तथा ध्वान्नच्छन्ने कुत्रचिद्ाश्रये॥ द१॥ . चादुकारमपि प्राणनाथं रोषाद्वास्य या। परवात्तापमवाम्रोति कलहान्तरिता तु सा ॥ ८२ ॥

यथा मम तातपादानाम्---'नो चाटुश्रवणं कृतं न च दशा हारोन्तिके वीचितः

का वजना जैसे तैसे रोका, हे प्रिय सिख, इतना करके ज्यों ही मैंने कीडा के तिये अभिसरण प्रारम्भ किया है, त्यों ही देखो, यह चएडात चन्द्रमा अन्ध-कार रूप परदे को हटा रहा है।

संजीनेति —यदि कुलीन कामिनी अभिसरण करेगी तो भूषणों के शब्दों को बन्द करके, द्वे पैरों, घूंघर काढ़ के जायगी। यदि वेश्या अभिसरण करेगी तो विचित्र और उउउवल वेष से नूपुर और कं कणों को अनकारती हुई आनन्द से मुसकराती हुई जायगी। दासी यदि अभिसर्ण करेगी तो नशे से अरपरी बातें क ती हुई तिलास से प्रफुल्लनयन होगी और बहकी २ चाल से चलेगी। तत्र ये इति — कुल कामिनी का उदाहरण 'उत्विधम्' इत्यादि आ चुका है। अन्तिम दो के उदाहरण अन्यत्र कहीं देख लेना।

प्रमादिति - अभिसारिकाओं के प्रसङ्ग से अभिसरण के स्थान कहते हैं। खेत, बगीची, ट्रटा देवालय, दूतीगृह, वन, शून्यस्थान, श्मशान तथा नदी शादि का तट ये त्राठ तथा अन्धकारावृत कोई भी स्थान अभिसरण के स्थान होते हैं।

कलहान्तरिता का लत्त्रण—चाड इति —जी क्रोध के मारे, पहले तो प्रार्थना करते हुए प्रियतम को निरस्त करदे और फिर पीछे पञ्चताये वह 'कलहा-न्तरिता' कहाती है । उदाहरण—नो चाटुश्रवणमिति—मैने प्रार्थनावचन अनस्रने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कान्तस्य प्रियहेतवो निजसखीवाचोऽपि दूरीकृताः । पादान्ते विनिपत्य तत्व्यामसौ गच्छ्रन्मया मूट्या पाणिम्यामवरुष्य हन्त सहसा कएठे कथं नार्पितः ॥'

प्रियः कृत्वापि संकेतं यस्या नायाति संनिधिम्। विप्रजन्धा तु सा ज्ञेया नितान्तमवमानिता ॥ ८३॥

यथा—

'उत्तिष्ठ दूति यामो यामो यातस्तथापि नायातः। यातः परमपि जीवेजीवितनाथो भवेत्तस्याः॥'

नानाकार्यवशाचस्या दूरदेशं गतः पतिः। सा मनोभवदुःखाती भवेत्प्रोषितभर्त्वका॥ ८४॥

यथा--

'तां जानीयाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं दूरीभूते मिय सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम् । गाढोत्क्एठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु वालां जातां मन्ये शिशिरमिथतां पिभनीं वान्यरूपाम् ॥'

कर दिये, उनके दिये हुए पास रक्खे हार पर नज़र भी न डाली । प्रियतम का श्रिय चाहनेवाली अपनी सखी की बातों की भी परवाह न की । इंन्ते चरणों पर गिरकर जाते समय मूढबुद्धि मैंने उनको रोककर सहस कराठश्लेष क्यों न किया !!

भिय इति—संकेत करके भी प्रिय जिसके पास न आये वह नितान्त अप मानित 'विप्रलब्धा' कहाती है । उदाहरण —उत्तिष्टेति—हे दूति ! उठ, यहां हे चलें । पहर बीत गया, फिर भी न आये । जो इसके बादभी जियेगी उसके वह प्राण्नाथ होंगे। इस पद्य में यमकानुप्रास की रचना रसके प्रतिकृत होने हे अनुचित है। जैसा कि ध्वनिकार ने कहा है—'ध्वन्यात्मभूते शृक्षारे यमकादिनिकन्यार। शाकाविप प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः॥' प्रकृत पद्य में विप्रलम्भ-शृङ्गार ही है।

नानोति—अनेक कार्यों में फँस कर जिसका पित दूरदेश में चला गया है वह कामगीडित नायिका 'प्रोषितपितका' कहाती है । उदाहरण नामिति 'मेबदूत' में मेब को अपनी प्रेयसो का परिचय देते हुए यन्न का वनत हैं। हे वियमित्र पयोद ! उस पूर्वोक्ष गुणवाली परिमित्तमाषिणी कामिनी को तैं। मेरी प्राणाधार समक्षता। वहीं मेरी जीवनाधार है । आजकल उसका से चारों में दूर हो गया हूं, अतः विरहविद्युरा चक्षवाकी की मांति वह वार्ष होगी। विरह के कारण लंबे २ प्रतीत होनेवाले आज कल के इन दिनों में शाप समाप्ति में थोड़ा समय शेष रहने के कारण —प्रगाह उत्कर्ण से व्यक्ति कोमलाङ्गी उस बाला को में शिशिरऋतु के पाले और उराढी हवा की सम्मती कमिला को मांति दुःख के मारे कुछ और की और हो गई समस्ति। तुम भी इसी हिए से देखने पर पहिचान सकोगे, यह तात्पर्य है ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कुरते मण्डनं यस्याः सिज्जिते वासवेश्मिन । सा तु वासकसङ्जा स्याद्विदितिषयसंगमा ॥ ८५ ॥

यथा राघवानन्दानां नाटके-

'विदूरे केयूरे कुरु, करयुगे रह्नवलयै-रलं, गुर्वी प्रीवाभरणालतिकेयं, किमनया ?

रलं, गुवी प्रावाभरणलातकय, किमनया १ नवामेकामेकावलिमयि, मयि त्वं विरचये-

र्न नेपथ्यं पथ्यं बहुतरमनङ्गोत्सवविधौ ॥

आगन्तुं कृतचित्तोऽपि दैवान्नायाति चेत्प्रियः। तद्नागमदुःखाती विरहोत्किण्ठिता तु सा॥ ८६॥

, यथा--

'िक रुद्धः प्रियया कयाचिदथवा सख्या ममोद्वेजितः किंवा कारणगौरत्रं किमिप यन्नाद्यागतो वल्लभः । इत्यालोच्य मृगीदृशा करतले विन्यस्य वक्त्राम्बुजं दीर्घं निःश्वसितं चिरं च रुदितं चिप्तारच पुष्पस्रजः ॥'

इति साष्टाविंशतिशतमुत्तममध्याधमस्वरूपेण । चतुरिषकाशीतियुतं शतत्रयं नायिकाभेदाः ॥ ८०॥

'इह च परस्रियौ कन्यकान्योढे संकेतात्पूर्वं विरहोत्किएठते। परचादिदूषकादिना

कुरते इति—सजाये हुए महल में सखी जिसे सुभूषित करती हो, प्रिय समागम का जिसे निश्चय हो, वह "वासकसजा" कहाती है। उदाहरण—विदूरे इति—हे सिल, वाज्वन्दों को दूरकर। हाथों में रत्न जहें कंकणों का कुछ काम नहीं। गले में यह हँसली बहुत भारी है। इसकी क्या आवश्यकता है? अरी! तू तो केवल एक लड़वाला मोतियों का हार (एकाविल) मेरे गले में पहना दे। अन्द्रोत्सव के समय बहुत से भूषण अच्छे नहीं होते।

आगन्तुमिति—आने का निश्चय करके भी दैववश जिसका प्रिय न आ सके वह उसके न आने से खिल नायिका 'विरहोत्किएउता' कहाती है। उदाहरण—कि उद हित—क्या किसी अन्य प्रियतमा ने रोक लिया ? अथवा मेरी सखीने ही अपसन्न कर दिया ? अथवा कोई विशेष कार्य अटक गया, जिससे प्रियतम अबतक नहीं आये। इस प्रकार वितर्क करके मृगनयंनी ने करतल पर वदनारविंद को रखकर एक लम्बी सांस ली और देरतक रोती रही। किर पूलमालायें उतारकर फेंक दीं।

इतीति—इस प्रकार नायिकाओं के एकसौ श्रष्टाईस (१२८) मेद होते हैं। प्राह्म सोलहों को श्रभी कहे श्राठ मेदों से गुणा करने पर १२८ होते हैं। श्रीर उत्तम, मध्यम तथा श्रधम इन तीन भेदों से ये भेद तिगुने होकर तीन सौ चौरासी (३८४) होते हैं।

रहेति यहां किसी का मत है कि परकीया अर्थात् कन्या तथा अन्योढा संकेत

सहाभिसरन्त्यावभिसारिके । कुतोऽपि संकेतस्थानमंप्राप्ते नायके विपलब्धे इति क्रास्था एवानयोः । अस्वाधीनप्रिययोरवस्थान्तरायोगात्' इति कश्चित् ।

## कचिद्नयोन्यसांकर्यमासां लच्येषु दश्यते ।

यथा--

"न खलु वयममुष्य दानयोग्याः पित्रति च पाति च यासकौ रहस्त्वाम्।
विट विटपममुं ददस्व तस्यै भवति यतः सदृशोशिचराय योगः॥
तव कितव किमाहितैर्द्ध्या नः चितिरुहपञ्चत्रपुष्पकर्णपूरैः।
ननु जनविदितैर्भवद्वचलीकैशिचरपिर्गूरितमेव कर्णायुग्मम्॥
मुहुरुपहसितामिवालिनादैर्वितरसि नः किलकां किमर्थमेनाम्।
वसितमुपगतेन धाम्नि तस्याः शठ किलरेष महांस्त्वयाद्य दत्तः॥
इति गदितवती रुषा जघान स्पुरितमनोरमपद्मकेसरेण।
श्रवण्यानियमितेन कान्तमन्या सममसिताम्बुरुहेण चचुषा च॥"
इयं हि वक्रोक्त्या परुषवचनेन कर्णोत्पलताडनेन च धीरमध्यताऽधीरमध्यताऽधीरम्यताऽधीरम्यताः।
प्रात्मताभिः संकीर्णा। एवमन्यत्राप्यूह्यम्।

इतरा अप्यसंख्यास्ता नोक्ता विस्तरशङ्कया ॥ ८८ ॥

ता नायिकाः।

अथासामलं काराः-

यौवने सत्त्वज्ञास्तासामष्टाविंशतिसंख्यकाः। अलंकारास्तत्र भावहावहेलास्त्रयोऽङ्गजाः॥ ८६॥ शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता।

से पूर्व विरहोत्कि एउता रहती हैं। अनन्तर विदूषकादि के साथ अभिसरणकरों से अभिसारिका कहाती हैं। यदि किसी कारण, संकेत स्थान में नायक न पहुँवे तो 'त्रिप्रलब्धा' होती हैं। वस, ये तीनही अवस्थायें इनकी हो सकती हैं। असी धीनपतिका होने के कारण अन्य पाँच अवस्थायें इनकी नहीं हो सकती।

किचिदिति—कहीं कहीं इन मेदों का सांकर्य मी उदाहरणों में देखा जाता है। व खलुं इत्यादि चार श्लोकों में महाकिव माघने जिसकी कथा कही है वह नायक संकीर्णता का उदाहरण है। इयं हीति—इस नाथिका में वक्रोक्ति के कारण घीए मध्या का और परुष वचन कहने के कारण अधीरामध्या का एवं कर्णों वर्ष है ताडन करने के कारण अधीरामगल्मा का लच्चण मिलता है। इसी प्रकार औं हरणान्तर भी जानना। इतरा इति—इनके सिवानाथिकाओं के और भी पिक्री चित्रिणी आदि असंख्य भेद होते हैं। उन्हें यहां विस्तर की आशंका सेती कहा है। इति नाथिकाभेदः।

श्रव नायिकाश्चों के श्रलङ्कार कहते हैं — यौवने इति — यौवन में नायिकाश्चों श्रद्धां संस्थित स्थापिकाश्चों श्रद्धां संस्थित स्थापिकाश्चों श्रद्धां संस्थित स्थापिकाश्चों स्थापिकाश्चित्र स्थापिकाश्चित्र स्थापिका स

ब्रौदार्य वैर्यमित्येते सप्तेव स्युर्यत्रजाः ॥ ६०॥ बीला विलासो बिचित्रति विच्चोकः किलकिश्चितम्। मोद्यायितं कुट्मितं विश्वमो लिलतं मदः॥ ११॥ विह्नं तपनं सीउध्यं विचेपश्च कुत्हलम्। हसितं चिकतं केलिरित्यष्टादशसंख्यकाः॥ ६२॥ स्वभावजाश्च भावाचा दश पुंसां भवन्त्यपि।

पूर्वे भावादयो धैर्यान्ता दश नायकानामि संभन्नन्ति । किंतु सर्वेऽप्यमी नायिकाश्रिता एव विच्छित्तिविशेषं पुण्णन्ति ।

तत्र भाव:-

निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविकिया ॥ ६३॥ जन्मतः प्रभृति निर्विकारे मनसि उद्बुद्धमात्रो विकारो भावः ।

यथा-

'स एव सुरभिः कालः, स एव मलयानिलः। सैवेयमवला किंतु मनोऽन्यदिव दृश्यते ॥'

अथ हाव:--

भूनेत्रादि विकारेस्तु संभागेच्छाप्रकाशकः। हाव एवाल्पसंलच्यविकारो हाव उच्यते ॥ ६४ ॥

यथा--

. 'विवृ एवती शैलसुतापि भावमङ्गै: स्फुरद्बालकदम्बकल्पै: । साचीकृता चारुतरेगा तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन॥'

श्रीदार्य, धेर्य ये सात श्रयत्नज हाते हैं। ये यत श्रयात् कृतिसे साध्य नहीं होते। लीला, विलास, विच्छिति, विद्वोक, किलकिञ्चित, विस्नम, लिलत, मद, विद्वत, तपन, मौग्ध्य, विद्योप, कुतूहल, हसित, चिकत और केलि ये अठारह स्वमाव सिद्ध हैं, किन्तु कृतिसाध्य होते हैं। पूर्वे इति – इनमें पहले द्श पुरुषों में भी हो सकते हैं, परन्तु ये सबके सब स्त्रियों में ही चमत्कारक होते हैं।

भाव का लच्चण-निर्विकारेति-जन्म से निर्विकार चित्त में उद्वुद्धमात्र काम-विकारको भाव कहते हैं। यथा—स एवेति — वही वसन्त ऋतु है, वही मलय समीर

है और वही यह रमगी है, परन्तु श्राज इसका मन कुछ और ही दीखता है। भूनेत्रीत—मुकुटी तथा नेत्रादि के विल्ला व्यापारों से सम्भोगाभिलाप का स्वक, मनोविकारों का अल्पप्रकाशक भाव ही 'हाव' कहाता है। उदाहरण— विद्यवर्ताति—इन्द्र के आदेशाऽनुसार हिमालय में कामदेव के मायाजाल फैलाने पर जब पार्वती को देखकर शिवजी का चित्त चञ्चल हुआ उस समय खिलते हुए कद्म्बके फूलके समान (रोमांच युक्त) अपने कोमल अङ्गों से मनोगत भाव को स्वित करती हुई तिरङ्घी चितवन से युक्त वदनारविन्द से सुशोभित पार्वती केषु तिर्द्धी होकर खड़ी रही। इस पद्य में पार्वती का 'हाव' सूचित होता है। श्रथ हेला— हेलात्यन्तसमालच्यविकारः स्यात्स एव तु।

स एव भाव एव । यथा—

'तह से मति पउत्ता बहुए सन्बङ्गविन्ममा सत्र्यला। संसङ्ब्रमुद्रभावा होइ चिरं जह सहीएां पि॥'

अथ शोभा—

रूपयौवनलालित्यभोगाचौरङ्गभूषणम् ॥ ६५॥

शोभा प्रोक्ता

तत्र यौवनशोभा यथा-

'श्रसंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणां मदस्य । कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साथ वयः प्रपेदे ॥'

एवमन्यत्रापि ।

अथ कान्ति:—

सैव कान्तिर्मन्मथाप्यायितद्युतिः।

मन्मथोन्मेषेणातिविस्तीर्णा शोभैव कान्तिरूच्यते । यथा---'नेत्रे खञ्जनगञ्जने--' इत्यादि । श्रथ दीप्तिः---

कान्तिरेवातिविस्तीणी दीप्तिरित्यभिधीयते ॥ ६६ ॥

यथा मम चन्द्रकलानामनाटिकायां चन्द्रकलावर्णनम्— 'तारुएयस्य विलासः समधिकलावएयसंपदो हासः ।

हेंगेति—मनोविकार के श्रित स्फुटता से लिच्चत होनेपर उसी 'माव' को 'हेलों कहते हैं। यथा—''तथा तस्या भिटित प्रवृत्ता वध्वाः सर्वाङ्गविश्वमाः सकलाः । संशिवतप्रध्यमा मवित चिरं यथा सर्वानामि ॥'' नव वधू के सब श्रङ्गों के सब विलास भट ही ऐसे प्रवृत्त हुए जिनसे उसकी सिखयों को भी उसके मुग्धात्व पर सन्देह होने लगी रूपेति — रूप, योचन, लालित्य, सुखभोग श्रादि से सम्पन्न श्रदीर की सुन्दरता को शोभा कहते हैं। उनमें से योचनकृत शोभा का उदाहरण देते हैं—अस्था मिति —जो, श्रङ्गलता का बिनगढ़ा भूषण है, जो श्रासच (सुरा श्रादि) नहीं परन्तु मद उत्पन्न करता है, जो पुष्प न होने पर भी कामदेव का श्रस्त है उसी वाल्य से श्रगले वय (योचन) को पार्वती प्राप्त हुई। इसी प्रकार श्रीर भी जातना के कि

सैनेति—मन्मथोन्मेष अर्थात् स्मरिवलास से बढ़ी हुई शोभा को ही 'कार्ति' कहते हैं — जैसे "नेत्रे खक्षनगक्षने" यह पूर्वोक्त पद्य। कान्तिरेनेति—अति विस्ती कान्ति को ही 'दीप्ति' कहते हैं। इसके उदाहरण में प्रन्थकार अपनी बनाई हैं। चन्द्रकला नाटिका में से चन्द्रकला का वर्णन उपन्यस्त करते हैं। ताक्यवरेने चन्द्रकला तो यौनन का विलास है, बढ़ी हुई लावएयसंपत्ति का मधुर हासी

धरिणतलस्याभरणां युवजनमनसो वशीकरणम् ।' अय माधुर्यम्— ं सर्वावस्थाविशेषेषु माधुर्यं रमणीयता ।

यथा—

'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं

मिलनमपि हिमांशोर्लच्म लद्दमीं तनोति।

इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी

किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥'

अथ प्रगल्भता-

#### निःसाध्वसत्वं प्रागलभ्यम्

यथा--

'समारिलष्टाः समारलेषैरचुम्बितारचुम्बनैरपि । दष्टारच दंशनैः कान्तं दासीकुर्वन्ति योषितः ॥'

अथौदार्यम्-

श्रीदार्थ विनयः सदा ॥ ६७॥

यथा---

न ब्रूते परुषां गिरं, वितनुते न भ्रूयुगं भङ्गुरं, नोत्तंसं चिपति चितौ श्रवणतः सा मे स्फुटेऽप्यागिस । कान्ता गर्भगृहे गवाच्चविवरव्यापारिताच्या बिहः सख्या वक्त्रमिम प्रयच्छिति परं पर्यश्रुणी लोचने ॥'

पृथ्वी का भूषण है श्रौर नवयुवकों के मन को श्राकृष्ट करनेवाला वशाकरण मन्त्र है।

सर्वेति—सव दशाओं में रमणीय होने का नाम 'माधुर्य' है। जैसे—सरिस्जिमिति—राजा दुष्यन्त ने बल्कल पहिने हुए तपस्विनी के वेष में शकुन्तला को देखकर यह पद्य कहा है। कमल, सिवार से लिपटा हुआ भी अञ्ज्ञा माल्म होता है। वन्द्रमा में काला चिह्न भी शोमा बढ़ाता है। यह सुकुमारी बल्कल पहनने पर भी अधिक मनोरम है। मधुर आकृतियों को कौनसी वस्तु भूषित नहीं करती। निःसाध्यस्त्वामिति—निर्भयता का नाम प्रागल्भ्य है। समाश्लिष्टा इति—आलिङ्गनादि के बदले में स्वयं भी उन्हीं व्यापारों को करके रमिण्याँ प्रियतम को दास बना लेती हैं। शौदार्यमिति —सदा विनय रखना 'औदार्य' कहाता है। न बृते इति—मेरा अपराध स्फुट होने पर भी वह पञ्च वचन नहीं कहती, न भृकुटी टेढ़ी करती है, और न कानों के भूषणों को उतार कर पृथ्वी पर फेंकती है। भीतर के घर में मरोसे से बाहर की ओर मांकती हुई सखी के मुँह की ओर वह कामिनी केवल आँस् मरी हिए डालती है।

अथ धैर्यम्—
उक्तात्मरलाघना धैर्थ मनोवृत्तिरचञ्चला।

यथा—

'ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रावखण्डकलः शशी

दहतु मदनः किंवा मृत्योः परेण विधास्यति ।

मम तु दियतः श्लाध्यस्तातो जनन्यमलान्वया

कुलममलिनं न त्वेवायं जनो न च जीवितम् ॥'

अथ लीला— अङ्गेर्वेषेरलंकारैः प्रेमिभवेचनैरिप ॥ ६८ ॥ प्रीतिप्रयोजितैलीलां प्रियस्यानुकृतिं विदुः।

यथा--

'मृणालव्यालवलया वेणीवन्धकपर्दिनी । परानुकारिणी पातु लीलया पार्वती जगत् ॥'

अथ विलास:---

यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम् ॥ ६६ ॥ विशेषस्तु विलासः स्यादिष्टसंदर्शनादिना ।

यथा--

'अत्रान्तरे किमपि वाग्विभवातिवृत्त-वैचित्र्यमुल्लसितविभ्रममायताद्याः । तद्भूरिसात्विकविकारमपास्तधैर्य-माचार्यकं विज्ञिय मान्मथमात्रिरासीत् ॥'

उक्तेति — आत्मश्लाघा से युक्त श्रचञ्चल मनोवृत्ति को 'धेर्य' कहते हैं। यश्र व्वलत इति — कामोद्विग्न विरिक्षणों की उक्ति हैं — प्रत्येक रात्रि में सम्पूर्ण चत्रमा प्रदीप्त होता रहें और कामदेव भी जलाता रहे। मृत्यु से श्रधिक और का कर लेगा। मेरे प्रियतम और पिता तथा माता सभी जगत् में प्रशंक्ति और निष्कलङ्क कुलवाले हैं। ये कुल निर्मल ही रहेंगे। इनमें कभी कलङ्क नहीं समी पायेगा। हाँ, मैं न होऊँगी और मेरे प्राण न बच सकेंगे।

श्रद्धिति—अनुरागातिशय के कारण अद्भ, देष, अलङ्कार तथा प्रेमभरे ववनीरे प्रियतम के अनुकरण को 'लीला' कहते हैं। यथा-मृणालेति—कमलनाल का स वनाकर उसे कंकण के स्थान पर धारण किये हुए और वेणी का जटाजूर की हुए लीला से शङ्कर का अनुकरण करनेवाली पार्वती देवी जगत् की रहा की

यानेति—प्रिय वस्तु के दर्शनादि से गति, स्थित आसन आदि की र्षा मुख नेत्रादि के व्यापारों की विशेषता (विलच्चणता) को 'विलास' की हैं। उदाहरण अत्रेति—इस अवसर में उस विशालनयनी का कुछ अक्षाती विलासों से युक्त, स्वेद, रोमाआदि सारिवक विकारों से पूर्ण, वैर्थार्थि लोकोत्तर कामकौशल प्रकट हुआ। अथ विच्छित्तः—

## स्तोकाप्याकरपरचना विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत्।

वया—

(स्वच्छ्राम्भ:स्नपनविधौतमृङ्गमोष्ट
रताम्बूलबुतिविशदो विलासिनीनाम् !

वासस्तु प्रतनु विविक्तमस्त्वितीया
नाकल्पो यदि कुसुमेषुग्रा न शून्यः ॥'

अथ विञ्चोकः---

## विव्वोकस्त्वतिगर्वेण वस्तुनीष्टेऽप्यनाद्रः॥ १००॥

यथा--

'यासां सत्यिप सद्गुणानुसरणे दोषानुवृत्तिः परा या पाणान्वरमर्पयन्ति न पुनः संपूर्णदृष्टि पिये। अत्यन्ताभिमतेऽपि वस्तुनि विधियीसां निषेधात्मक-स्तास्त्रेलोक्यविलज्ञणपकृतयो वामाः प्रसीदन्तु ते॥'

अथ किलकिञ्चितम्--

## स्मितशुष्करुदित इसितत्रासको धश्रमादीनाम्। सांकर्यं किलकिश्चितमभीष्टतमसंगमादिजाद्वर्षात्॥१०१॥

स्तोकेति—कान्ति को बढ़ानेवाली थोड़ी भी वेष-रचना 'विच्छित्त' कहाती है। सन्केति—निर्मल जल के स्नान से विश्वद्ध श्रङ्ग श्रौर ताम्बूकराग से कमनीय श्रोष्ठ एवम् सुन्दर स्वच्छ बारीक वस्त्र, बस इतना ही श्राभूषण विलासवती रमिणयों के लिये बहुत है—यदि वह कामकलाश्रों के चमत्कार से शन्य नहो।

विव्योक इति—श्रित गर्व के कारण श्रिमलिषत वस्तु में भी श्रनाद्र दिखाना 'विव्योक' कहाता है। यथा —यासामिति—मन में सद्गुणों का श्रनुसरण होने पर भी जो वाणी से प्रायः वस्तुश्रों में केवल दोष ही बताती हैं, जो प्राणों को भले ही दे दें, परन्तु प्रियतम की श्रोर पूरी दृष्टि नहीं देतीं, श्रत्यन्त श्रिमत वस्तु में भी जिनकी विधि निषेधरूप ही हुश्रा करती है श्रर्थात् जो किसी वस्तु को सीधे नहीं माँगतीं, निषेध के द्वारा ही विधान करती हैं, वे तीनों लोकों से विज्ञान प्रकृतिवाली वामा तुम पर प्रसन्न हों। यह श्राशीर्वाद है।

हिमवेति अति शिय वस्तु के मिलने आदि के कारण उत्पन्न हुए हर्ष से कुछ मुस्कुराहर, कुछ 'अष्क किदत' अर्थात् अकारण रोदनाभास, कुछ हास, कुछ त्रास, कुछ कोध, कुछ अमादि के विचित्र मिश्रण को 'किलकि अति'

.यथा— 'पाशिएरोधमविरोधितवाञ्चं भत्सनारच मधुरस्मितगर्भाः । कामिनः स्म कुरुते करभोरू हीरि शुष्करुदितं च सुखेऽपि ॥'

अथ मोद्दायितम्—

तद्भावभाविते चित्ते वल्लभस्य कथादिषु।
मोद्यायितमिति प्राष्टुः कर्णकण्डूयनादिकम् ॥ १०२॥

'सुभग, त्वत्कथारम्भे कर्णाकएडूतिलालसा । उज्जम्भवदनाम्भोजा भिनत्त्यङ्गानि साऽङ्गना ॥'

अथ कुट्टमितम्-

केशस्तनाधरादीनां ग्रहे हर्षेऽपि संभ्रमात्। ब्राहुः कुटमितं नाम शिरः करविध्ननम् ॥ १०३॥

यथा--

'पल्लवोपमितिसाम्यसपत्तं दष्टवत्यधरविम्वमभीष्टे । पर्यकृजि सरुजेव तरुण्यास्तारलोलवलयेन करेण ॥'

उदाहरण—पाणिरोषमिति—जिसमें प्रियतम की इच्छा का विघात न हो ए प्रकार सुन्दरी उसका हाथ रोकती है। मधुर मधुर मुसकुराहट के साथ मिड़की है और सुख होने पर भी मनोहर 'शुष्करोदन' (नक्कती रोना) करती है।

मोद्दायित का लज्जा—तद्भाविति—प्रियतम की कथा श्रादि के प्रसङ्ग में श्रुत्ता (भाव) से व्याप्त चित्त होने पर कामिनी की कान खुजाने श्रादि की चेष्टा के 'मोद्दायित' कहते हैं। यथा—सुमगिति—हे सुन्दर, तुम्हारी बात छिड़ने पर बा कामिनी कान खुजाने लगतीहै, जँभाई लेने लगतीहै, श्रोर श्रॅंगड़ाई लेने लगतीहै

केशस्तनेति—केश, स्तन, श्रधर श्रादि के श्रहण करने से हर्ष होने पर में घवराहट के साथ शिर श्रीर हाथों के विशेष परिचालन को 'कुट्टमित' कर्ति हैं। यथा—पहनिति—प्रियतम के द्वारा पल्लवतुल्य श्रधरविम्ब के दृष्ट होने पर तरुणी का मिण-कंकणयुक्त हाथ चञ्चल हो उठा। मानो —वह दर्द के मारे भी सना उठा। यह महाकवि माघ का पद्य है। इसमें 'उपमिति' 'साम्य' औं 'सपत्त' ये तीन पद श्रनावश्यक तथा पुनरुक्त हैं। इनमें से किसी एक्ते के काम चल सकता है।

'श्रघर' के साथ 'बिम्ब' शब्द जोड़ देने से यहां श्रमीष्ट श्रार्थ भी अस्पष्ट हो गया है। वस्तुतः महाकिव माघ जो बात कहना बार्ध हैं उसे अनेक व्यर्थ शब्द जोड़ने पर भी ठीक २ कह नहीं पाते। श्र किवता की अप्रोडता का स्चक है। आपका तात्पर्य है—प्रलजनेपित्या यत्मान सपने। निरूपितलं तृतीयार्थः। परजनोपितितिक्षितं यत्साम्यं तिक्षक्षितसपन्नत्वविति। आप कहना तो यह चाहते हैं कि 'कर' और 'श्रधर' ये दोनों 'सपनें (कि

अय विश्रमः— त्वरया हर्षरागादेदीयतागमनादिषु । अस्थाने विश्रमादीनां विन्यासो विश्रमो मतः ॥ १०४॥

पद्म के=साथी) हैं। क्यों कि इन दोनों को पत्लव की उपमादी जाती है। 'करपहन्न' श्रीर 'श्रधरपह्मच' कहाते हैं। इसी कारण ज़ब श्रधरपह्मच पर चाट पहुँची तो उसका साथी करपल्लव भी मानों उसी के दुःख से दुःखित होकर कराहने लगा। कंकण के अणत्कार के व्याज से करपल्लव की वेदना का ब्रार्तनाद् प्रकट हुन्छ। परन्तु इस भाव को प्रकट करने में प्रहाकवि माघ के शब्द अत्यन्त शिथिल और अपुष्कल हैं। 'पल्लवोपमितिसाम्यसपन्नम 'के 'हाविडप्राणायाम' से यह बात स्पष्ट प्रतीत नहीं होती। सबसे बड़ी ब्रटि यहां 'श्रघर' के साथ 'विम्व' शब्द को जोड़ कर की है। जब उसे परलव की उपमा के कारण ही 'कर' का सपचा बनाना है तो फिर 'बिस्ब' की उपमा के साथ उसके घसीटने से क्या लाभ ? यह तो और भी विपरीत हो गया !! 'श्रभीष्टे' पर श्रतिकटु भी है और अर्थ की दृष्टि से यहां अनुचित भी है। जिसने अपने संपन्त ( अधर ) को घाय त किया हो, और अपने को दुः खित किया हो, उसे 'अमीष्ट' कौन केहेगा ? इस प्रकार की फ़्रीं जदारी करनेवालेको पुलिस के हवाले िक्या जाता है या उसे 'अभीष्ट' बताया जाता है ? इसके अतिरिक्त 'विय' और 'प्रिया' शब्द जिस प्रकार नायक-नायिका के बोधक होते हैं उस प्रकार 'स्रभीष्ट' श्रौर 'श्रमीप्रा' न तो बोधक हैं, न इनका ऐसे श्रवसर पर प्रयोग ही कोई करता है। सारांश यह कि यहां महाकवि माधने जिस ढंग से अर्थ का उपन्यास किया है वह कविता की द्रिद्रतां का सूचक है। इसी भाव को यदि निम्न-लिखित ढंग से प्रकट किया जाय तो वह सरलता से हृद्यक्रम हो सकेगा।

मन्ये दन्त वर्त वीच्य सपचेऽधरपल्लवे । रुजेव कङ्करणकार्येश्चकूज करपल्लवः ॥

श्रथवा-

कान्तेन दष्टे Sधरपल्लिने Sध दन्तचतं वादय निजे सपचे । रुजेव शिन्जन्मणिकङ्कणेन चिरं चुकूजे करपल्खवेन ॥

'कर' और 'श्रधर' में सपज्ञता क्यों है, इस बात को श्रव श्रलग से सप्रकान की श्रावश्यकता नहीं रही। 'करपल्लव' श्रीर 'श्रधरपल्लव' ये शब्द ही श्रपना बात समसाने के लिये पर्याप्त हैं। इस दशा में माघ के 'उपिनित', 'बास्य', 'बिस्व' श्रीर 'श्रमीष्ट' पद भी निकल गये हैं। 'कान्तेन' में 'श्रमीष्टें' के समान दोष नहीं है। माघ काव्य की विशेष श्रालोचना हमने 'महाकविर्मावः' नामक निवन्ध में की है।

तर्यति—प्रियतम के आगमन आदि के समय हर्ष और अनुराग आदि के कार्य जल्दी के मारे भूषणादि का और की और जगह लगा लेना 'विभ्रम'

यथा--

'श्रुत्वाऽऽयान्तं बहिः कान्तमसमाप्तविभूषया । भालेखनं दशोर्जीचा कपोले तिलकः कृतः ॥'

अथ ललितम्-

## सुकुमारतयाङ्गानां विन्यासो ललितं अवेत्।

यथा-

'गुरुतरकलन्पुरानुनादं सललितनर्तितवामपादपद्मा । इतरदनतिलोलमादधाना पदमथ मन्मथमन्थरं जगाम ॥'

श्रथ मदः--

## मदो विकारः सौभाग्ययौवनाच्यवलेपजः ॥ १०५॥

यथा —

'मा गर्वमुद्दह कपोलतले चकास्ति
कान्तस्वहस्तिलिखिता मम मञ्जरीति ।
अन्यापि किं न खलु भाजनमीहशीनां
वैरी न चेद्रवित वेपथुरन्तरायः ॥'

अथ विद्वतम्—

#### वक्तव्यकालेऽप्यवचो बीडया विह्नतं मतम्।

उदाहरण—श्रुलेति—कान्त को बाहर श्राया हुश्रा सुनकर श्रुङ्गार करती। कान्ता ने जल्दी में घबराकर श्रंजन तो माथे पर लगा लिया श्रोर लाजा श्रावी श्रधरराग या महावर नेत्रों में श्रांज ली एवं तिलक कपोल पर लगा लिया।

हुकमारतयेति—श्रङ्गों का सुकुमारता से रखना 'ललित' कहाता है। ग्रह्में नूपुर की गम्मीर मधुर ध्वनि करती हुई सुकुमारता से बायें पैर को नवीं हुई श्रोर दूसरे को भी धारे से ('श्रनित्तोलम्') रखती हुई वह हंसगीर्य कामिनी स्मरमन्थर (कामोहीपन के कारण मन्द) गति से गई।

मद इति — सौमाग्य, यौवन आदि के घमएड से उत्पन्न मनोविकार की मि कहते हैं। मा गर्वामिति—सपत्नी की उक्ति है। मेरे कपोलतल में प्रियतम के कि की बनाई मझरी सुशोभित है, यह समसकर तू घमएड मत करे। यदि के वेपशु (सात्त्विक कम्प) विष्कृत न करता तो क्या तेरी जैसी मझरी और (मेर) मी न होती? इस पद्य में 'तू कान्त के स्पर्श के समय भी सार्वि विकारश्रून्य, शिलाशकल की तरह बैटी रहती है" इस व्यञ्जना के द्वारा मि सपत्नी की अधन्यता और वेपशु के कारण अपने कपोल पर अर्डि

वक्तव्येति—लजा के कारण कहने के समय भी बात का न कहना

य्या—
दूरागतेन कुशलं पृष्टा नोवाच सा मया किचित्।
पर्यश्रुणी तु नयने तस्याः कथयांबभूवतुः सर्वम्॥'

अथ तपनम्-

तपनं प्रियविच्छेदे स्मरावेगोत्थचेष्टितम् ॥ १०६॥

यथा मम'श्वासान्मुश्चिति, भूतले विलुठिति, त्वन्मार्गमालोकते,
दीई रोदिति, विचिएत्यत इतः चामां भुजावल्लरीम् ।
किंच, प्राणसमान, काङ्चितवती स्वप्नेऽिप ते संगमं
निद्रां वाञ्छिति, न प्रयच्छिति पुनर्दग्धो विधिस्तामिष ॥'

अथ मौग्ध्यम्—

ब्रज्ञानादिव या पृच्छा प्रतीतस्यापि वस्तुनः। वज्जभस्य पुरः प्रोक्तं मीग्ध्यं तत्तत्त्ववेदिभिः॥ १०७॥

यथा-

'के द्रुमास्ते क वा प्रामे सन्ति केन परोपिताः।
नाथ, मःकङ्करणन्यस्तं येषां मुक्ताफलं फलम्॥'
अथ विजेपः—

भूषाणामर्घरचना मिथ्या विष्वगवेच्चणम्। रहस्याख्यानमीषच विच्चेपो द्यितान्तिके॥ १०८॥

यथा—

<sup>'धिम्मिल्लमध</sup>मुक्तं कलयति तिलकं तथाऽसकलम्।

कहाता है। यथा—दूरित—दूरदेश से लौटने पर जब मैंने कुशल पूँछी तो वह अञ्च न बोली, परन्तु उसकी श्रांस् भरी श्रांस्तों ने सब कुछ कह दिया।

तपनिमिति — प्रियतम के वियोग में कामोद्वेग की चेष्टाओं को तपन कहते हैं।
यथा—श्वासानिति — दूती का वचन नायक से। तुम्हारे वियोग में वह सुकुमारी
लम्बी २ सांसें लेती है, पृथ्वी पर लोटती है, तुम्हारी राह देखती है, देर तक
रोती है और दुवंल भुजलता को इधर उधर पटकती है। हे प्राण्पिय! स्वप्न
में ही तुम्हारा समागम हो जाय, इस अभिलाष से निद्रा चाहती है, परनत
दुवेंच उसे सोने भी नहीं देता।

अज्ञानाहिति—जानी पूँछी वस्तु को भी वल्लम के आगे अनजानपने से पूँछना भौष्य कहाता है। यथा —के हति —हे नाथ, मेरे कङ्गण में जड़ा हुआ मुक्राफल जिनका एक के के के किया

जिनका फल है, वे कीन से ऐड़ हैं, श्रीर किस गांव में किसने लंगाये हैं ?

प्रेरित विला के समीप भूषणों की श्राधी रचना श्रीर विना कारण ही इधर
उधर देखना, एवं धीरे से कुछ रहस्य कहना 'विश्लेप' कहाता है। यथा—
विलिखेति—केशपाश (धिन्मिल्ला) को श्राधा ही भूषित करती है श्रीर तिलक भी

किचिद्रदति रहस्यं चिकतं विष्वग्विनोकते तन्वी ॥

अथ कुत्ह्लम्— रम्यवस्तुसमालोके लोलता स्यात्कुत्तृहलम्।

श्रथ इसितम्— इसितं तु वृथाई।सो यौवनोद्भेदसंभवः ॥ १०६॥

यथा-

'अकस्मादेव तन्बङ्गी जहास यदियं पुनः । -नूनं प्रसूनबागाोऽस्यां स्वाराज्यमधितिष्ठति ॥'

अथ चिकतम्—

कुतोऽपि द्यितस्याग्रे चिकतं भयसंभ्रमः।

यथा-

'त्रस्यन्ती चलशफरीविघटितोरू-र्वामोरूरतिशयमाप विश्वमस्य । चुम्यन्ति प्रसममहो विनापि हेतो-

र्लीलाभिः किमु सति कारगे तरुएयः ॥'

अध्रा ही लगाती है। कुछ रहस्य कहती है और वह रमणी चिकत होता इथर उधर देखती है।

रम्यति—रमणीय वस्तु के देखने के लिये चश्चल होना 'कुत्हल' कहाता है।
यथा -प्रसाधिकेति—जब रघु के कुमार अज की बरात निकली थी उस सम्म उसे देखने के लिये आकुल नगरनारियों का वर्णन कविकृतण्य श्रीकालिदास ने रघुवंश में किया है। उन्हीं में का यह एक पद्य है। अर्थ-किसी स्त्रों ने 'प्रसाधिका' (श्रलङ्कर्ती=महावर लगानेवाली) के हाथ से अर्थ-गीले ही पैर को सदक कर मन्दगति छोड़कर जल्दी २ गमन करके जहां है वरात दीखती थी उस सरोखे तक मार्ग को लालाराग से श्रङ्कित कर दिया

हासितमिति —यौवनोद्गम से उत्पन्न श्रकारण हास को 'हसित' कहतेहैं। श्रकस्मादिति —यह रमणी श्रवानक ही जो हँस पड़ी, इससे विदित होता है। तिःसन्देह इसके मन में कामदेव का श्रवत राज्य हो रहा है।

कृतोऽपीति—प्रियतम के आगे अकारण ही उरना और घबराना 'विकित कहाता है। यथा—त्रस्यन्तीति—जलविहार के समय चञ्चल छोटी मह्नी जांघ पर टकरा जाने से उरी हुई रमणी विभ्रम (विशेष भ्रम या विलास) अतिशय को प्राप्त हुई। एकदम तङ्ग गई। तहिण्याँ विना कारण भी नी से ही अत्यन्त ज्ञा हो जाया करती हैं, कारण उपस्थित होने पर कहना ही क्या है? (माघकाइय, श्रष्टम सर्ग) अय केलि:— विहारे सह कान्तेन क्रीडितं केलिकच्यते ॥ ११०॥

यथा-्व्यपोहितुं लोचनतो मुखानिलैरपारयन्तं किल पुष्पजं रजः। पयोधरेगोरसि काचिदुन्मनाः पियं जधानोन्नतपीवरस्तनी॥

अय मुग्धाकन्ययोरनुरागेङ्गितानि-

हुष्टा दर्शयति बीडां संमुखं नैव परयति। प्रच्छन्नं वा भ्रमन्तं वातिकान्तं पश्यति प्रियम् ॥ १११ ॥ वहचा पृच्छयमानापि मन्दमन्दमयोमुखी। सगद्गदस्वरं किंचित्प्रियं प्रायेण भाषते ॥ ११२॥ अन्यैः प्रवर्तितां शरवत्सावधाना च तत्कथाम्। श्रुणोत्यन्यत्र दत्ताची प्रिये बालानुरागिणी॥ ११३॥

अय सकलानामपि नायिकानामनुरागेङ्गितानि -

विराय सविधे स्थानं प्रियस्य बहु मन्यते। विलोचनपथं चास्य न गच्छत्यनलंकृता ॥ ११४ ॥ कापि कुन्तलसंच्यानसंयमच्यपदेशतः। बाहुमू बं स्तनौ नाभिपङ्क जं दर्शयेत्स्फुटम् ॥ ११५ ॥ त्राच्छाद्यति वागाद्यः प्रियस्य परिचारकान्। विरवसित्यस्य मित्रेषु बहु मानं करोति च॥ ११६॥

विहार इति—कान्त के साथ विहार में कामिनी की कीडा को 'केलि' कहते हैं। यथा-व्यपोहितुमिति-नेत्रों में लगे हुए पुष्परज को फूँक से दूर न कर सकते हुए कान्त को उस उत्किएठता उन्नत पीवरस्तनी तक्णी ने पयोघर से घका दिया।

अब मुग्धा और कन्याओं की अनुरागचेष्टायें बताते हैं। ह्येति-प्रियतम को देखकर लजा करती है। उसके सामने नहीं देखती। प्रच्छन ( श्रांस श्रोट) श्रथवा घूमते हुए यद्वा जाते हुए कान्त को देखती है। बहुत बार पूँ इने पर भी नीची गरदन किये हुए गद्गद स्वर से घीरे २ प्रियतम से कुछ कहती है। श्रौरों से चलाई हुई प्रियतम की चर्चा को श्रतुरागवती बाला वहुत सावधान होकर, दूसरी श्रोर दृष्टि दिये हुए ही सुनती है।

अव सब नायिकाओं की अनुरागचेष्टाएँ बताते हैं। विरायित — प्रिय के पास देर तक ठहरने को सौभाग्य समक्षती है और प्रियतम के सामने विना अलं कार किये नहीं जाती। कोई २ तो केश और वस्त्रादि को ठीक करने के बहाने अपने बाहुमूल, स्तन और नामि को साफ २ दिखा देती है। प्रिय के परि-भारकों (नीकर चाकरों ) को मधुर वाणी श्रादि से संतुष्ट करती है श्रीर उस- सखीमध्ये गुणान्बूने स्वधनं प्रददाति च। सुप्ते स्विपिति दुःखेऽस्य दुःखं धत्ते सुखे सुखम् ॥ ११७॥ स्थिता दृष्टिपथे शश्वतिप्रये पश्यति दूरतः। आभाषते परिजनं संमुखं स्मरविकियम्॥ ११८॥ यतिकचिदपि संवीद्य कुरुते इक्षितं सुधा। कर्णकराडूयनं तद्वतकवरीमात्त्वं यसी ॥ ११६॥ ज्मभते स्फोटयत्यक्तं वालमाश्लिश्य चुम्बति। भाले तथा वयस्याया रचयेत्तिलक क्रियास् ॥ १२०॥ अङ्गुष्ठाग्रेण लिखित सकटाचं निरीच्ते। दशित स्वाधरं चापि ब्रूते प्रियमधोसु बी ॥ १२१ ॥ न मुश्रति च तं देशं नायको यत्र दश्यते। अ।गच्छाने गृहं तस्य कार्यव्याजेन केनचित् ॥ १२२॥ दत्तं किमपि कान्तेन घृत्वाङ्गे मुहुरीच्ते । नित्यं हृष्यति तद्योगे वियोगे मिलना कृशा ॥ १२३॥ मन्यते बहु तच्छीलं तित्रयं मन्यते प्रियम्। प्रार्थयत्य लपमूल्यानि सुप्ता न परिवर्तते ॥ १२४ ॥ विकारान्सात्त्रिकानस्य संमुखीनाऽधिगच्छति। भाषते सूचतं स्निग्धमनुरक्ता नितम्बनी ॥ १२५ ॥

के मित्रों पर विश्वास करती है तथा उनका आदर करती है। सखीमणे हिंते सिख्यों के मध्य प्रिय के गुणों का कीर्तन करती है और अपना धन भी देते है। प्रिय के सो जाने पर सोती है। उसके दुःख में दुःखी और सुख में सुखें होती है। दूर से देखते हुए प्रियतम के दृष्टिपय में (नज़र के सामने) स्थित होकर अपने परिजन (सखी सहेली आदि) के आगे कामविकारों का कथल करती है। (स्मरस्य विकिया यस्मिन् तद् यथा स्यातथा) कुछ भी देखकर योंहीं हैं पड़ती है। कान खुजाती है तथा चोटी खोलती-चाँधती है। जँभाई लेती है औं अँगड़ाती है। पवं किसी वालक का आलिङ्गन करके चुम्बन करती है। अपने सखीके ललाट पर तिलक लगाती है। पैर के अँगूठेसे ज़मीन कुरेदती है। तिर्ध नज़र से देखती है। अपना होंठ चबाती है और नीची गरदन करके प्रिय से बढ़ करती है। एवं उस स्थान को, जहां से नायक दीखता हो, नहीं छोड़ती। किस करती है। संयोग में सदा हिंदित रहती है और वियोग में मिलन और है वार देखती है। संयोग में सदा हिंदत रहती है और वियोग में मिलन और है रहती है। उसके स्वभाव को बहुत अच्छा मानती है और उसकी प्रिय वस्तु और स्वती है। उसके स्वभाव को बहुत अच्छा मानती है और श्री उसकी प्रिय वस्तु और स्वती है। अपने स्वता हो। अपने स्वता हो स्वता हो। स्वता हो स्वता हो। स्वता हो स्वता हो। स्वता ही। स्वता हो। स्वता हो।

एतेष्वधिकलज्जानि चेष्टितानि नवस्त्रियाः। मध्यव्रीडानि मध्यायाः स्रंसमानत्रपाणि तु ॥ १२६॥ अन्यस्त्रियाः प्रगल्भायास्तथा स्युवीरयोषितः

दिङ्मात्रं यथा मम— श्र्वितकगतमिप मामियमनलोकयतीव हन्त दृष्ट्वापि । सरसनखन्तलन्तितमाविष्कुरुते भुजामूलम् ॥१

तथा-

तेखाप्रस्थापनैः हिनग्धेर्वीत्तिनैर्मृदुभाषितैः ॥ १२७॥ द्तीसंप्रेषणैनीयी भावाभिव्यक्तिरिष्यते।

दूत्यश्च-

द्त्यः सखी नटी दासी धात्रेयी प्रतिवेशिनी ॥ १२८॥ बाला प्रविजना कारूः शिलिपन्याचाः स्वयं तथा।

कान्त के सामने आने पर सात्त्विक विकारों को प्राप्त होती है एवम् अनुरागवती रमणी स्नृत ( प्रिय श्रीर सत्य ) तथा स्नेहपूर्ण भाषण करती है।

एते विति चंदनमें नवीढा की चेष्टायें अधिक लज्जा से युक्त होती हैं, मध्या की थोड़ी लजासे युक्त दोती हैं और परकीया, प्रगल्भा तथा वेश्याकी चेष्टायें निर्लज्जता पूर्ण होती हैं। कुछ चेष्टा आंके उदाहर एमें प्रन्थकार अपनाही बनाया श्लोक देते हैं। श्रीतिकेति -पास खड़े हुए मुक्तको देखकर भी यह कामिनी न देखती हुई सी-अन-जान की भांति—नवीन नखज्ञतसे चिह्नित श्रपने सुजमूल की प्रकाशित करतीहै।

रस पद्य में 'त्रनलोकयतीव' यह त्राशुद्ध है। यदि यहां शतु प्रत्यय माने तो लोक-यन्ती होना चाहिये, क्योंिक 'शप्श्यनोनित्यम्' इस सूत्र से नित्य नुम् होगा। और यदि 'लोक्यति' किया माने तो नञ् के साथ समास नहीं हो सकता। यदि समास हों भी जाय तो भी 'अनलोकयित' नहीं बन सकता 'अलोकयित' ही रह सकता है। यदि 'श्वलोकयति' पाठ मानें तो अर्थ नहीं बनता, क्योंकि नञर्थ होना आवश्यक है। और 'त्रन' कोई अव्यय नहीं है, अतः यह सर्वथा अगुद्ध है। इसी प्रकार 'युनामूलम्' मी कुछ शिथित है। भुजा शब्द स्त्रीतिङ्ग में नहीं प्रयुक्त होता। 'युनबाह प्राविद्योः' इस अमरकोष आदि के अनुसार 'भुज' शब्द पुँ ह्विङ्ग है और 'भुजे युजनित्तिकार्तर्वार्थः इत्यादिकों में पुँ सिक्त ही प्रयुक्त है। यदि 'श्रामृतम्' पदच्छेद करें तो भी 'श्रा' पद निरर्थक होने से कविता में श्रव्युत्पत्ति स्चित करेगा। पूर्वार्ध में 'अन्तिकगतमि' 'दृष्व।पि' का 'डबल' 'अपि' शब्द भी शैथिल्य स्चित करता है। सम्भव है विश्वनाथं जी की बाल्यकाल की कविता का यह नम्ना हो, परन्तु विना सोचे समक्षे इसे ग्रन्थ में रखना ठीक नहीं था।

वेद्येति तेस भेजने, स्नेह भरी दृष्टि से देखने, मृदु भाषण करने तथा दूती के भेजने से नारियों के भाव की अभिव्यक्ति होती है। दूर्य इति—सस्री, नदी, दासी, धाइ की लड़की, पड़ोसिन, बालिका, संन्यासिनी, घोबिन, रंगरेजिन,

कारू रजकीप्रमृतिः । शिल्पिनी चित्रकारादिस्त्री । आदिशब्दात्ताम्बू लिक् गान्धिकस्त्रीपभृतयः।

तत्र सखी यथा---'श्वासान्मुख्यति-' इत्यादि ।

स्वयंदूती यथा मम--पन्थित्र पित्रासित्रो वित्र लच्छीत्रसि जासि ता किमएगुत्तो। गा मगापि वारस्रो इध ऋत्थि घरे घगारसं पित्रन्तागाम्।। एतारच नायिकाविषये नायकानामपि दूत्यो भवन्ति ।

दूतीगुगानाह--

कलाकौशलमुत्साहो भिक्तिश्चित्तज्ञता स्मृतिः॥ १२६॥ माधुर्यं नर्मविज्ञानं वाग्मिता चेति तद्गुणाः। एता अपि यथौचित्यादुत्तमाधममध्यमाः ॥ १३०॥

एता दूत्यः अध प्रतिनायकः --

घीरोद्धतः पापकारी व्यसनी प्रतिनायकः।

यथा--रामस्य रावगाः। अयोद्दीपनविभावाः--

उद्दीपनविभावास्ते रससुद्दीपयान्ति ये॥ १३१॥

तमोलिन तथा तसवीर बनानेवाली आदि स्त्रियां दूता का काम करती है

श्रीर कहीं २ नायिका ही स्वयंदूती होती है।

उनमें से सखी का उदाहरण 'श्वासान् मुञ्जित' इत्यादि पूर्वोक्त पदी स्वयं दृती यथा-पन्धित्र इति-''पथिक विपासित इव लद्द्यसे यासि तिकंमन्यतः। व मनागि वारकोऽत्र गृहे घनरसं पिवताम्"। अर्थ-हे बटोही ! कुछ प्यासे से माल् होते हो। फिर दूसरी श्रोर क्यों जाते हो ? इस घर में 'घनरस' पीनेवाली को ज़रा भी रोकटोक करनेवाला कोई नहीं। एताएचेति— ये ही पूर्वोक्त विवी नायिकाओं के प्रति नायक की ओर से भी दूती होती हैं।

दूती के गुण कहते हैं। क्लेति - कलाओं में कुशलता, उत्साह, स्वापिमि दूसरे के अभिप्राय को समक्षना, अञ्जी स्मृति, वाणी में मधुरता, भावभी वकोक्ति आदि में निपुणता, बोलने की अच्छी शक्ति ये दूतियों के गुण द्तियां भी श्रौचित्य से उत्तम, मध्यम श्रौर श्रधम हुत्रा करती हैं।

आलम्बन विभाव के प्रसङ्ग से, नायक श्रीर नायिकाश्री का सपरिकरिका के नायक श्रीर नायिकाश्री का सपरिकरिका करके वीररस के श्रालम्बन विमाव (प्रतिनायक) का वर्णन करते हैं इति—धीरोद्धत (पूर्वोक्स लज्ञण) पापो श्रौर काम कोधादि से उत्पन्न ध्यम में फँना हुम्रा पुरुष 'प्रतिनायक' कहाता है। जैसे श्रीरामचन्द्रजी का राह्म उद्दंपन विभाव बताते हैं। उद्दीपनेति — जो रस को उद्दीपित करते हैं वे वि

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

#### ते च-त्रालम्बनस्य चेष्टाचा देशकालाद्यस्तथा।

चेष्टाद्या इत्याद्यशब्दाद्रूपभूषगादयः । कालादीत्यादिशब्दाचन्द्रचन्दनकोिक-लालापभ्रमरमंकारादयः ।

तत्र चन्द्रोदयो यथा मम--

क्तरमुदयमहीधरस्तनाग्रे गलिततमःपटलांशुके निवेश्य। विकसितकुमुदेच्च यां विचुम्बत्ययममरेशदिशो, मुखं सुधांशः ॥' यो यस्य रसस्योदीपनिवभावः स तत्स्वरूपवर्णाने वद्दयते।

अथानुभावाः-उद्वुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्वहिभीवं प्रकाशयन् ॥ १३२॥ लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः।

यः खलु लोके सीतादिचन्द्रादिभिः स्त्रैः स्त्रैरालम्बनोद्दीपनकार् ए।मादेरन्त-रुद्बुद्धं रत्यादिकं बहिः प्रकाशयन्कार्यमित्युच्यते, स काव्यनाट्ययोः पुनरनुभावः। कः पुनरसावित्याह--

उक्ताः स्त्रीणामलंकारा अङ्गजारच स्वभावजाः ॥ १३३ ॥ तद्रूपाः सात्विका भावास्तथा चेष्टाः परा ऋपि। तद्र्पा अनुभावस्वरूपाः । तत्र यो यस्य रसस्यानुभावः स तत्स्वरूपवर्णने वद्यते।

पन विभाव कहाते हैं। जैसे नायक, नायिका, प्रतिनायक प्रमृति की चेष्टा और उपयुक्त देश कालादिक ये सब उद्दीपक होने से उद्दीपन विभाव कहाते हैं। 'वेष्टाद्याः' इस आद्य पद्से रूप, भूषण आदि जानना। 'कालादि' इस आदि पद्से चन्द्रमा, चन्द्रन, कोकिलों का यालाप और भ्रमरों की अंकार आदि जानना।

उदाहरण-करेति-यह चन्द्रमा उद्याचलक्रप स्तन के श्रयभाग में कर (किर्ण अथवा हाथ) रख के जिससे अन्धकारपटलक्षप वस्त्र ( घूँघट ) गिर् गया है और कुमुद्रूप नेत्र जिसमें विकसित हैं ऐसे इन्द्र की दिशा (पूर्व दिशा) के मुख का चुम्बन करता है। अर्थात् चन्द्रमा उदित होता है। यहां मागत्याग लच्चणा से 'मुख' का अर्थ आदि भाग और 'चुम्बन' का अर्थ संयो-गमात्र है। क्योंकि वक्त्रसंयोग चन्द्रमा के पच में संगत नहीं होता। कर,स्तन. श्रंशक, ई च ए, मुख श्रोर चुम्बन श्रादि शब्दों से चन्द्रमा में जारत श्रीर पूर्व

दिशा में परकीयात्व प्रतीत होता है। विशेष उद्दीपन विभाव आगे कहेंगे। अब अनुमाच का लक्षण करते हैं। उद्बुद्धिमिति—सीता आदि आलम्बन् तथा चन्द्रादि उद्दीपन कारणों से रामादि के हृद्य में उद्बुद्ध रत्यादि को वाहर प्रकाशित करनेवाला, लोक में जो रित का कार्य कहाता है, वही काव्य शीर नाट्यमें अनुभाव कहाता है। वह कार्य क्या है, यह कहते हैं —उक्षा इति— प्रोंक अक्रज तथा स्वभावज स्त्रियों के अलक्कार एवं सास्विकमाव और रत्यादि से उत्पन्न अन्य चेष्टार्ये अनुभाव कहाती हैं। जो जिसरस का अनुभाव . है उसे उसी के वर्णन में कहेंगे।

तत्र सात्त्विकाः--

विकाराः सत्त्वसंभूताः सात्त्विकाः परिकीर्तिताः ॥ १३४॥ सत्त्वं नाम स्वात्मविश्रामप्रकाशकारी करचनान्तरो धर्मः ॥ सत्त्वमात्रोद्भवत्वात्ते भिन्ना अप्यनुभावतः ।

'गोबलीवर्दन्यायेन' इति शेषः ।

के त इत्याह—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाश्रः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ॥ १३५॥ वैवर्ण्यमश्रु प्रतय इत्यष्टी सान्त्रिकाः स्सृताः।

तत्र--

स्तम्भश्रेष्टाप्रतीघातो भयहर्षामयादि शिः ॥ १३६॥ वपुर्जे बोद्गमः स्वेदो रितघर्मश्रमादि भिः । हर्षाद्गतभयादिभ्यो रोमाञ्चो रोमविकिया ॥ १३७॥ मद्ममद्गीडाचै वैस्वर्यं गद्गदं विदुः । रागद्वेषश्रमादिभ्यः कम्पो गात्रस्य वेपशुः ॥ १३८॥ विषादमदरोषाचै वर्षान्यत्वं विवर्षता । श्रम्भ वेत्रोद्भवं वारि कोधदुः खप्रहर्षजम् ।

विकास इति—सस्व गुण से उत्पन्न विकार सास्विक कहाते हैं। सत्विभिन्न आत्मा में विश्वान्त होनेवाले रस का प्रकाशक, श्रन्तः करण का विशेष धर्म 'सले कहाता है। सात्त्विक, यद्यपि रत्यादि के कारण होने के कारण, श्रद्धभाव ही तथापि केवल सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण 'गोबलीवर्द' न्याय से वे अन्त्र आत्मावों से भिन्न भी कहें जा सकते हैं। जैसे लोक में 'गावः समागताः, वर्जनिर्वे समागतः' ये दोनों वाक्य बोले जाते हैं। यहां यद्यपि 'गो' प्रद से बिजार (संहे का भी प्रहण हो सकता है, श्रदः दूसरा वाक्य बोलना श्रत्यावश्यक वा तथापि गौओं की श्रपेत्वा प्रधानता स्वन करने के लिये उसको पृथक का तथापि गौओं की श्रपेत्वा प्रधानता स्वन करने के लिये उसको पृथक का तथापि गौओं की श्रपेत्वा प्रधानता स्वन करने के लिये उसको पृथक का तथापि गौओं की श्रपेत्वा प्रधानता स्वन करने के लिये उसको पृथक का तथापि गौओं की श्रपेत्वा प्रधानता स्वन करने के लिये उसको पृथक का तथापि गौओं की श्रपेत्वा प्रधानता स्वन करने के लिये उसको पृथक का तथापि गौओं की श्रपेत्वा प्रधानता स्वन करने के लिये उसको पृथक का तथापि गौओं का तथापि वहां यह 'न्याय' संगत होता है।

स्तम्म इति—भय, हर्ष, रोग आदि के कारण हस्त, पाद आदि की वेषा का रक जाना 'स्तम्म' कहाता है। सुरत, आतप, परिश्रम आदि के कि शर्रार से निकलनेवाले जल को 'स्वेद' (पसीना) कहते हैं। हर्ष, आवि तथा मय आदि के कारण रोगटों के खड़े होने का नाम 'रोमांव' है। कि हर्ष तथा पीड़ा आदि के कारण गला मर आने को 'गद्गद' कहते हैं। विकास से तथा श्रम आदि से उत्पन्न शरीर के कम्प को 'वेपथु' कहते हैं। विकास मद, कोध आदि के कारण उत्पन्न हुए वर्णविकार को 'वेवग्ये' या 'विवर्ण कहते हैं। कोध, दुःख और हर्ष से उत्पन्न नेत्रजल का नाम 'श्रश्रु' ( श्रांद्र) कहते हैं। कोध, दुःख और हर्ष से उत्पन्न नेत्रजल का नाम 'श्रश्रु' ( श्रांद्र) कहते हैं। कोध, दुःख और हर्ष से उत्पन्न नेत्रजल का नाम 'श्रश्रु' ( श्रांद्र) कहते हैं। कोध, दुःख और हर्ष से उत्पन्न नेत्रजल का नाम 'श्रश्रु' ( श्रांद्र) के कारण उत्पन्न नेत्रजल का नाम 'श्रश्रु' ( श्रांद्र) के कारण उत्पन्न नेत्रजल का नाम 'श्रश्रु' ( श्रांद्र) के कारण उत्पन्न नेत्रजल का नाम 'श्रश्रु' ( श्रांद्र) के कारण उत्पन्न नेत्रजल का नाम 'श्रश्रु' ( श्रांद्र) के कारण उत्पन्न नेत्रजल का नाम 'श्रश्रु' ( श्रांद्र) के कारण उत्पन्न नेत्रजल का नाम 'श्रश्रु' ( श्रांद्र) के कारण का नाम 'श्रिश्रु' ( श्रांद्र) के कारण के कारण का नाम 'श्रिश्रु' ( श्रांद्र) के कारण का नाम 'श्रिश्रु' ( श्रांद्र) के कारण के कारण का नाम 'श्रांद्र) के कारण का नाम 'श्रिश्रु' ( श्रांद्र) के कारण का नाम 'श्रांद्र) के कारण का नाम 'श्रिश्रु' ( श्रांद्र) के कारण का नाम 'श्रांद्र) के कारण का नाम 'श्रेष्ठ का नाम का का नाम 'श्रुष्ठ का नाम 'श्रेष्ठ का नाम का का नाम का नाम

# प्रतयः सुखदुःखाभ्यां चेष्टाज्ञाननिराकृतिः ॥ १३६॥

यथा मम--

'तनुस्पर्शादस्या दरमुकुलिते हन्त नयने

उदब्बद्रोमाञ्च त्रजित जडतामङ्गमिखलम् ।

कपोलौ धर्मादौँ ध्रुवमुपरताशेषविषयं

मनः सान्द्रानन्दं स्पृशित भटिति बृह्म परमम् ॥'

• एवमन्यत् ।

अथ व्यभिचारिणः--

विशेषादाश्विञ्जरूयेन चरणाद्वयभिचारिणः। स्थायिन्युन्मरननिर्भरनास्त्रयस्त्रिशच तद्भिदाः॥ १४०॥

स्थिरतया वर्तमाने हि रत्यादौ निर्वेदादयः पादुर्भावतिरोभावाम्यामाभिमुख्येन

चरणाद्वयभिचारिगाः कथ्यन्ते ।

के त इत्याह—

निर्वेदावेगदैन्यश्रममद्जडता श्रोग्रथमोहौ विवोधः
स्वप्रापस्मारगर्वा मरणमलसतामर्पनिद्रावहित्थाः।
श्रोत्सुक्योन्मादशङ्काः स्मृतिमतिसहिता व्याधिसंत्रासलज्जा
हर्षास्याविषादाः स्पृतिचपलता ग्लानिचिन्तावितकीः १४१

सुल अथवा दुः ख के कारण चेष्टा और ज्ञान के नष्ट हो जाने का नाम 'प्रत्य' है। उदाहरण—तन्तर्सर्शादिति—शरीर का स्पर्श करने से इस कामिनी के नयन कमल ऊछ मुकुलित ( श्रानन्द विघूणित ) होने लगे हैं। रोमाञ्चयुक्त सम्पूर्ण शरीर जडवत् होगया है और कपोलों पर पसीना श्रा गया है। मालूम होता है अन्य सब विषयों से विमुख होकर इसका मन ब्रह्मानन्द के समान किसी सान्द्र सुख में विलीन हो रहा है। इसमें रोमाञ्च स्वेद और प्रत्य का उदाहरण है। इसो प्रकार श्रीर प्रत्य का उदाहरण है। इसो प्रकार श्रीर भी जानना।

विशेषेति—स्थिरतयंति—स्थिरता से विद्यमान रत्यादि स्थायीमाव में उन्माननिर्मान अर्थात् आविर्भूत—तिरोभूत होकर निर्वेदादिभाव अनुकूलता से व्याप्तहोते हैं। अतप्व विशेष रीति से आभिमुख्यवरण के कारण इन्हें—'व्यभिचारी'
कहते हैं। ये संख्या में तेंतीस होते हैं। निर्वेदेति—१ निर्वेद, २ आवेग, ३ दैन्य,
४ अम, ४ मद, ६ जडता, ७ औत्रय, मोह, ६ विबोध, १० स्वम, ११ अपस्मार,
१२ गर्व, १३ मरण, १४ अलसता, १४ अमर्ष, १६ निद्रा, १७ अवहित्था,
१८ गर्व, १३ मरण, १४ अलसता, १४ अमर्ष, १६ निद्रा, १७ अवहित्था,
१८ औत्सुक्य,१६ उन्माद, २० शङ्का, २१ स्मृति, २२ मित, २३ व्यक्ति, २४ लजा, २६ हर्ष, २७ असूया, २८ विषाद, २६ धृति, ३० चपलता, ३१ ग्लानि,
३२ विन्ता, ३३ वितर्क ये तैतीस व्यभिचारी अथवा संचारी भाव कहाते हैं।

तत्र निर्वेदः-

तत्त्वज्ञानापदीष्यदिनिर्वेदः स्वावमाननम् । दैन्यचिन्ताश्चनिःश्वासवैवएर्योच्छ्वसितादिकृत् ॥ १४२॥

तत्त्वज्ञानानिर्वेदो यथा-

'मृत्कुम्भबालुकारन्ध्रपिधानरचनार्थिना । दिल्लागावर्तशङ्कोऽयं हन्त चूर्णीकृतो मया ॥'

अथावेगः-

श्रावेगः संभ्रमस्तत्र हर्षजे पिण्डिताङ्गता। उत्पातजे स्रस्तताङ्गे धूमाद्याञ्जलताग्निजे॥ १४३॥ राजविद्रवजादेस्तु शस्त्रनागादियोजनस्। गजादेः स्तम्भकम्पादि, पांस्वाद्याञ्जलतानिलात्॥ १४४॥ इष्टाद्धर्षाः, श्रुचोऽनिष्टाज्ज्ञेयास्थान्ये यथायथम्।

तत्र शत्रुजो यथा— 'अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृपं सोऽनपेच्य भरताप्रजो यतः । चत्रकोपदहनार्चिषं ततः संदधे दृशमुद्ग्रतारकाम् ॥'

इनका कम से लच्चण करते हैं तत्वेति—तत्त्वज्ञान, श्रापित्त श्रोर ईच्चा श्राहि के कारण अपने को धिकारने का नाम निर्वेद है। इससे दीनता, बिन्ता, श्रांस्, दीर्घश्वास, विवर्णता श्रोर उच्छ्वास श्रादि होते हैं। तत्त्वज्ञानजन निर्वेद का उदाहरण—मृद्धमेति—विषयभोग श्रीर सांसारिक सुबों के लिं सम्पूर्ण श्रायु नष्ट करके पीछे किसी महात्मा के संसर्ग से तत्त्वज्ञान उत्तर होनेपर श्रपनी पिछली करत्तों से 'निर्विग्ण' (पछताते हुए) किसी पृष्ठ की उक्ति है। कंकड़ी निकल जाने से उत्पन्न मिट्टी के घड़े के छेद ('बालुका रन्ध्र') को बन्द करने के लिये हाय! मैने यह दक्तिणावर्त शङ्ख कीड़ डाला यहाँ विषय सुबों को बालुकारन्ध्र श्रीर जीवनको दक्तिणावर्त शङ्ख बताया है। श्रोग इति—सम्भ्रम, (घबराहट) को श्रावेग कहते हैं। वह यदि हर्ष से उत्पाद होता है तो उसमें शरीर संपिण्डत (संकुचित्त) हो जाता है श्रीर उत्पाद जन्य श्रावेग में देह ढीली पड़ जाती है। पवम् श्रिग्नजन्य श्रावेग में पृष्ठ श्रादि से व्याकुलता होती है। राजपलायनादिजन्य श्रावेग में श्रक, हांचे श्रादि की तथ्यारी, हाथी श्रादि से उत्पन्न में स्तम्म, कम्प श्रादि श्रीर वायुक्त में घिल श्रादि से व्याकुलता होती है। इष्टजन्य श्रावेग में हर्ष श्रीर वायुक्त में घिल श्रादि से व्याकुलता होती है। इष्टजन्य श्रावेग में हर्ष श्रीर श्रानिष्ठकत्त्र में घिल श्रादि से व्याकुलता होती है। इष्टजन्य श्रावेग में हर्ष श्रीर श्रानिष्ठकत्त्र में घिल श्रादि से व्याकुलता होती है। इष्टजन्य श्रावेग में हर्ष श्रीर श्रानिष्ठकत्त्र में घिल श्रादि से व्याकुलता होती है। इष्टजन्य श्रावेग में हर्ष श्रीर श्रानिष्ठकत्त्र से घिल श्रादि से व्याकुलता होती है। इष्टजन्य श्रावेग में हर्ष श्रीर श्रानिष्ठकत्त्र से घिल श्री से स्तरम्य स्रावेग में हर्ण श्री स्रानिष्ठकत्त्र से घल स्तर से स्तरम्य स्रावेग में हर्ष श्रीर श्रानिष्ठकत्त्र से चल स्तर से स्तरम्य स्रावेग में हर्ष श्री स्राविक्रकत्र से स्तरम्य स्रावेग में हर्ष स्रावेग से स्तर स्तर स्रावेग से स्रावेग से स्तर स्रावेग से स्तर स्रावेग से स्रावेग से स्रावेग से स्रावेग से स्तर स्रावेग से स्रावेग से स्रावेग से स्तर स्रावेग से स्

में शोक होता है। इसी प्रकार और भी यथावत समक्त लेना चाहिये।
शत्रुजन्य 'श्रावेग' का उदाहरण देते हैं—श्रध्मिति—'श्राह्यं लाश्रो श्रद्धं हैं
प्रकार अपने श्रादमियों से कहते हुए राजा दशरथ की श्रोर ध्यान न हें कि जिल्ला कि ज्वाला कर, उद्यतारका ( प्रचएड पुत्रिवाली श्रपनी दृष्टि परश्रुराम ने श्रीरामचन्द्र की श्रोर डाली। यहाँ परश्रुराम के हें की

एवमन्यदू हाम् ।

अथ दैन्यम्-दौर्गत्याचैरनौजस्यं दैन्यं मिलनतादिकृत् ॥ १४५॥

यथा-'बृद्धोऽन्धः पतिरेष मञ्जकगतः, स्थ्**गावशेषं गृहं**, कालोऽभ्यर्णजलागमः, कुशलिनी वत्सस्य वार्तापि नो ।

युतात्मं चिततैलविन्दु घटिका भग्नेति पर्याकुला दृष्ट्वा गर्भमरालसां निजवधं स्वश्रूरिचरं रोदिति॥'

ग्रध श्रम:-

वेदो रत्यध्वगत्यादेः स्वासनिद्रादिकृच्छमः।

यथा--

'सद्यः पुरीपरिसरेऽपि शिरीषमृद्वी सीता जवात्त्रिचतुराणि पदानि गत्वा। गन्तव्यमस्ति कियदित्यसकृद् ब्रुवाणा रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम् ॥'

श्रथ मदः-

संमोहानन्दसं भेदो मदो मदोपयोगजः॥ १४६॥ असुना चोत्तमः शेते, मध्यो इसति गायति। अधमप्रकृतिआपि परुषं विकति रोदिति ॥ १४७॥

से राजा दशरथ में सम्भ्रम उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार और भी जानना। वैभित्येति - दुर्गंति आदि से उत्पन्न श्रोजस्विता के श्रमाव को 'दैन्य' कहते हैं। उससे मिलनता आदि उत्पन्न होती हैं। उदाहरण —वृद्ध इति —बूद्रा और अन्धा पति दूरी खाट पर पड़ा है, घर में स्थूणा ( श्रुनिया=छुप्पर में टेक लगाने की लकड़ी) मात्र शेष बची हैं। छुप्पर पर फूंस तक नहीं है। बरसात सिर पर आ रही है और पुत्र का कुशलपत्र तक नहीं आया। जैसेतैसे जोड़कर रक्खे तेल की हँडिया फूट गई, इससे व्याकुल सास, श्रासन्न-प्रसवा पुत्रवधू को देख कर देर तक रोती है।

खेद इति – रित और मार्ग चलने आदि से उत्पन्न खेद का नाम अम है। उससे सांस चढ़ती है और निद्रा आदि होती हैं। उदाहरण—सच इति— शिरीषपुष्प के समान कोमलाङ्गी सीता अयोध्या के पास ही भट से तीन चार पा चल के बार बार श्रीरामचन्द्रजी से यह पूछने लगी कि श्रभी और कितना वित्तना है वस यहीं से श्रीरामचन्द्रजा स यह पूछ्य लगा राज्यम अवतरण हुआ।

सम्मोहिति जिसमें बेहोशी श्रीर श्रानन्द का मिश्रण हो वह श्रवस्था 'मद' कहलाती है। मद्य आदि के सेवन से वह पैदा होती है। इस मद से उत्तम पुरुष सो जाते हैं, मध्यम हँसते और गाते हैं एवं नीच प्रकृति के लोग गाली यथा---

'प्रातिभं त्रिसरकेण गतानां वक्रवाक्यरचनारमणीयः । गूटस्चितरहस्यसहासः सुभुवां प्रववृते परिहासः ॥'

अथ जडता-

अप्रतिपत्तिजेडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्चातिभः। अनिमिषनयनतिरीच्णतृष्णीभावादयस्तत्र ॥ १४८॥

यथा मम कुवलयारवचिति पाकृतकाव्ये —

'गाविरिश्र तं जुत्रजुञ्चलं त्र्यगोएगं गिहिदसजलमन्थरिदिहिम् ।

श्रालेक्खन्नोपित्रं वित्र खग्मेतं तत्थ संहित्रं मुत्रसएग्णम् ॥'

श्रयोप्रता—

शौर्यापराधादिभवं भवेचण्डत्वसुग्रता । तत्र स्वेद्शिरःकम्पतर्जनाताडनाद्यः ॥ १४६ ॥

यथा-

वकते और रोते हैं। उदाहरण—प्रातिमिति—मद्य के तीन दौर (त्रिसरक) है तरुणियों की प्रतिमा जाग उठी और उनमें वक्रोक्तिरचना से रमणीय, गृह रहस्य की ओर संकेत करनेवाला परिहास प्रारम्भ हो गया!

अप्रतिपत्तिरिति —इष्ट तथा अनिष्ट के द्र्यंन और अवस्य से उत्पन्न अप्रतिपति (किंकर्तव्यविमृदता) को 'जडता' कहते हैं। इसमें टकटकी लगा के देखें रहना चुप हो जाना आदि कार्य होते हैं। जैसे-स्वरित्र इति-'केवलन्तस्वस्वर्गान अन्योग्य निहितसजलमन्थरदृष्टि। आलेल्यापितिमव तत्र संस्थितं मुक्तसंज्ञम्' उस समय वा प्रेमियों की जोड़ी एक दूसरे की ओर आँसू भरी निश्चल दृष्टि से देखती हैं।

संज्ञाग्रस्य, तसवीर की तरह, वहाँ केवल खड़ी रही।

गौरेंति—ग्रूरता तथा अपराधादि से उत्पन्न चएडता का नाम उन्नता है
इसमें प्रस्वेद, सिर घूमना या सिर का कम्पन और तर्जन ताडनादिक होते।
यथा—प्रण्याति—प्रेम में आकर हँसी करती हुई सखी के कोमल गिरीवप्रण के द्वारा ताडन से भी जो मृदुल तगुलता नितान्त तान्त हो उठती है (विश्वाता) असके वधके लिये शस्त्र चलाते हुए तेरे सिरपर 'श्रकाएड' (अवाता)
यमद्गड के समान प्रचएड यह मेरा मुजद्गड पड़ेगा। 'मालती माजती मालती का बिलदान करने को उद्यत अधीरघएट नामक कापालिक के प्रात्वाता का बिलदान करने को उद्यत अधीरघएट नामक कापालिक के

अय मोहः विचित्तता भीतिदुःखावेगानुचिन्तनैः। मृञ्छ्वनाज्ञानपतनभ्रमणादर्शनादिकृत्।। १५०॥

्तीव्राभिषङ्गप्रभवेण वृत्ति मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम् । अज्ञातभत्र व्यसना मुहूर्तं कृतोपकारेव रितर्वभूव ॥'

त्र्य विवोधः— निद्रापगमहेतुभ्यो विवोधश्चेतनागमः। जम्भाङ्गभङ्गनयनभीलनाङ्गावलोककृत्॥१५१॥

> 'चिररतिपरिखेदपाप्त निद्रासुखानां चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धाः । अपरिचलितगात्रा कुर्वते न पियाणा-मशिथिलमुजचकारलेषभेदं तरुएयः ॥'

श्रथ स्वप्तः—

स्वप्नो निद्रामुपेतस्य विषयानुभवस्तु यः। कोपावेगभयग्लानिसुखदुःखादिकारकः॥ १५२॥

यथा---

यथा-

भामाकाशप्रिगिहितमुजं निर्दयारलेषहेतो-र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसंदर्शनेन ।

मालती के प्रेमी माधव की यह उक्ति हैं। माह इति—भय, दुःख, घबराइट, अत्यन्त चिन्ता आदि के कारण उत्पन्न हुई चिक्त की 'विक्लवता' (परेशानी) को मोह कहते हैं। इसमें मूच्छी, अज्ञान, पतन, चक्कर आना और अदर्शन आदि होते हैं। जैसे तिविति—कामदेव के भस्म होजाने पर तीव शोक से उत्पन्न, चक्तुरादि इन्द्रियों के ज्ञान (वृक्ति) को रोक देनेवाली मूच्छी से ज्ञणभरके लिये स्वामी के मरण दुःख का अनुभव न करती हुई रितदेवी उपकृत सी हुई। मानो मूच्छी ने थोड़ी देर के लिये उसका दुःख बटा लिया।

निद्रीति—निद्रा दूर करनेवाले कारणों से उत्पन्न चैतन्यलाम को 'विबोध' कहते हैं। इसमें जमाई, श्रंगड़ाई, श्रांख मींचना, श्रपने श्रंगों का अवलोकन आदि होता है। यथा —चिरेति—चिररमण के खेद से सोये हुए पतिदेवों से पोछे सोने पर भी उनसे पूर्व ही जागी हुई पतिपरायणा तरुणी उनके निद्रा महमय से मुजयन्थि को शिथिल नहीं करती।

स्वम इति नींद में निमन्त पुरुष के विषयानुभव करने का नाम 'स्वर्न' है सिमं कोप, आवेग, भय, न्तानि, सुख, दुःख आदि होते हैं। यथा — मामिति — है मेथ। तुम मेरी ओर से प्रया से यह संदेश कहना कि मुक्ते विरह न्याकुलता के

पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥

अथापस्मारः —

मनः चेपस्त्वपस्मारो ग्रहाद्यावेशनादिजः। भूपातकम्पप्रस्वद्फेनलालादिकारकः॥ १५३॥ ध्यारिलष्टभूमि रसितार्मुचैलोल ब्रुजाकार बृहत्तरङ्गम्। फेनायमानं पतिमापगानामसावपस्मारिणमाशशङ्के॥'

अथ गर्वः--

गर्वो मदः प्रभावश्रीविद्यासत्कुलताद्जिः। श्रवज्ञासविवासाङ्गद्शनाविनयादिकृत्॥ १५४॥

तत्र शौर्यगर्वो यथा--

'धृतायुधो यावदहं तावदन्यैः किमायुधैः । यद्वा न सिद्धमस्रोगा मम तत्केन साध्यताम् ॥'

अथ मर्गम्--

## शराचैर्मरणं जीवत्यागोऽङ्गपतनादिकृत्।

कारण बड़ी कठिनता से कभी नींद आती है। उस समय स्वप्न में यदि किले तरह तुम्हें देखकर गाढालिङ्गन के लिये दोनों हाथ बढ़ाता हूँ तो शून्य आकार में मेरे हाथ फैले देखकर मेरे दुःख से दुःखी वनदेवताओं के मोती के तुल

श्राँस् तरुपल्लत्रों पर बहुधा गिरते हैं।

मनः हेप इति—भूतावेश आदि के कारण चित्त का विक्षेप 'अपस्मार' (मिर्गो कहाता है। इसमें भूमिपतन, कम्पन, प्रस्वेद तथा मुँह में काग और हा आदि होती हैं। यथा —द्वारका से युधिष्ठिर के यहा में दिल्ली जाते हैं। श्रीकृष्णजी का महाकवि माघकृत वर्णन है। पृथ्वी से संशिलप्ट और घोर शर्क करते हुए, अजतुल्य चञ्चल तथा लम्बी २ तरंगों से युक्त फेनायित सप्तृ है श्रीकृष्णजी ने अपस्मारी (मिरगीयुक्त) सा समका। जिस पुरुष को मिर्गो आती है वह भी पृथ्वी पर गिर के कुछ अव्यक्त शब्द करता हुआ हांग है। प्रस्कता है और उसके मुँह से फेन निकलते हैं।

अपने प्रमाव, ऐश्वर्य, विद्या तथा कुलीनता आदि वे, कारण उत्पन्न प्रमाव कानाम 'गर्न' है। उससे मनुष्य अन्यों की अवज्ञा करने लगता है। विभ्रम्सी अक्ष ( ओंठ अँगुठा आदिः ) दिखाता है और अविनय करता है। शौर्य का जैसे शृतेति - कुद्ध कर्ण का वचन अश्वत्थामा से—जबतक, मैंने शस्त्र ति स्व है तबतक अन्य शस्त्रधारियों की क्या आवश्यकता है ? और जो मेरे शक्त

न सिद्ध हुआ उसे फिर सिद्ध करनेवाला है भी कौन ? शोति—बाण आदि के लगने से प्राण्त्याग का नाम मरण है। इसमें हैं। यथा— श्राममन्मथशरेगा ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी। गन्धवद्रुधिरचन्दनोचिता जीवितेशवसर्ति जगाम सा॥'

<sub>श्रयाबस्यम्—</sub> श्राबस्यं श्रमग श्राच्चेजीड्यं जुम्भासितादिकृत् ॥ १५५॥

यथा-

'न तथा भूषयत्यङ्गं न तथा भाषते सखीम् । जुम्भते मुहुरासीना वाला गर्भभरालसा॥' अथामर्षः—

निन्दाचेपापमानादेशमर्थोऽभिनिविष्टता । नेत्ररागशिरःकम्पश्रूभङ्गोत्तर्जनादिकृत् ॥ १५६॥

यथा--

'प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात् । न त्वेत्रं दूषियण्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥'

अथ निद्रा—

चेतःसंमीलनं निद्रा श्रमक्षममदादिजा। जृम्भाचिमीलनोच्छ्वासगात्रभङ्गादिकारणम्॥ १५७॥

पतन श्रादि होता है। जैसे—रामेति—रामक्रप काम के दुःसह बाग से हृद्य में ताडित वह राज्ञसी (ताडका) गन्ध्युक्त रक्तचन्दन से उपलिस होकर प्राण-

पति (यम ) के स्थान पर पहुँच गई।

शालस्यमिति—श्रान्ति श्रीर गर्भादि से जन्य जडता का नाम 'श्रालस्य' है। स्मिनं जँमाई, एक जगह बैठा रहना श्रादि होते हैं। यथा—नेति —गर्भ के भार से अलस तहणी न तो पहले की तरह शरीर को भूषित करती है श्रोर न उस तरह सिखयों से ही बातचीत करती है। एक जगह बैठी बार र जँमाई लेती है। श्राषं —िनन्देति—िनन्दा, श्राज्ञेप श्रीर श्रपमानादि के कारण उत्पन्न हुए बित्त के श्रीमिनवेश का नाम श्रम्षं है इससे श्राँखों में लाली, सिर में कम्प, तिउरी बढ़ना (भूमक्र) श्रीर तर्जन श्रादि होते हैं। उदाहरण —प्रायश्चिति — जनकः पुर में शान्ति का उपदेश देती हुई श्रीषमगडली के प्रति परश्रामजी की उत्ति है। श्राप सब पुत्रय लोगों के व्यतिक्रम (श्राज्ञोल्लंघन) का में प्रायश्चित्त कर लूँगा, परन्तु ज्ञियों को निर्बांज करने के लिये श्रारम्भ किये इस श्रम्भ हणक्ष्म महावत को दूषित न करूँगा। निद्रा —चेत इति—परिश्रम, ग्लानि, मद (नशा) श्रादि से उत्पन्न चित्त के संमीलन (बाह्य विषयों से निवृत्ति) को नित्र कहते हैं। इसमें जँमाई, श्राँख मीचना, उच्छास, श्रगड़ाई सादि होती हैं। उदाहरण—

यथा--

'सार्थकानर्थकपदं बुवती मन्थराच्चरम् । निद्रार्धमीलिताची सा लिखितेवास्ति मे हृदि ॥'

अथावहित्था--

भयगौरवलजादेईषीयाकारग्रसिरवहित्था।

व्यापारान्तरसकत्यृन्यथावभाषणविलोकनादिकरी॥ १५६॥ यथा—

'एवंवादिनि देवषौं पार्श्वे पितुरधोमुखी । लीलाकमलपत्त्राणि गण्यामास पार्वती ॥'

अथौत्सुक्यम्-

इष्टानवासेरौत्सुक्यं कालचेपासहिष्णुता । चित्ततापत्वरास्वेदंदीर्घानःश्वसितादिकृत् ॥ १५६॥

यथा—-'यः कौमारहरः स एव हि वरः—' इत्यादि ।
अत्र यत् काव्यप्रकाशकारेगा रसस्य प्राधान्यमित्युक्तं तद्रसनधर्मयोगित्वाद्ववि
चारिभावस्यापि रसशब्दवाच्यत्वेन गतार्थं मन्तव्यम् ।
अथोन्मादः

चित्तसंमोह उन्मादः कामशोकभयादिभिः। अस्थानहासरुदितगीतप्रलपनादिकृत्॥ १६०॥

व्यवहार होने से गतार्थ जानना। विवेति—काम, शोक, भय श्रादिक से चित्त के व्यामोह को उन्माद करी यथा मम---भ्रातिर्द्धरेफ, भवता भ्रमता समन्ता-स्प्राणाधिका प्रियतमा मम वीचिता किम्।

( संकारमनुभूय सानन्दम् । )

ब्रूषे किमोमिति सखे, कथयाशु तन्मे

कि कि व्यवस्यति कुतोऽस्ति च कीदृशीयम् ॥'

अय शङ्का— परक्रीर्यात्मदोषाचैः शङ्कानर्थस्य तर्भणम्। वैवर्ण्यकम्पवैस्वर्यपारवालोकास्यशोषकृत्॥ १६१॥

यथा मम——
'प्रागोशेन प्रहितनखरेष्यङ्गकेषु च्रपान्ते

जातातङ्का रचयित चिरं चन्दनालेपनानि ।

धत्ते लाच्यामसकृदधरे दत्तदन्तायघाते

च्यामाङ्गीयं चिकतमभितरचचुषी विचिपन्ती॥'

अथ स्मृतिः,—

सदृशज्ञानचिन्ताचैर्श्रुसमुन्नयनादिकृत्। स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषयज्ञानमुच्यते॥ १६२॥

यथा मंम--

भिय सकपटं किंचित्कापि प्रग्तितिवलोचने किमपि नयनं पाप्ते तिर्यग्विज्मिभततारकम्।

इसमें अकारण हँसना, रोना, गाना और प्रलाप आदि होते हैं। जैसे— आविति—विरही की उक्ति है—हे भाई अमर, तुम चारों ओर घूमते फिरते हो; तुमने कहीं मेरी प्राणिप्रया भी देखी हैं? (अमर की गूँज सुनकर आनिद्दत होकर फिर कहता है) हे मित्र, क्या तुम 'ओम्' (हाँ) कहते हो श्रच्छा तो फिर जल्दी बताओं कि वह क्या कर रही हैं? और किसर हैं? किस अवस्यामें हैं? परिति—अन्य की करता तथा अपने दोष आदि से अपने अनिष्ट की ऊहा का नाम 'शक्ता' है। इसमें विवर्णता, कम्प, स्वरभङ्ग, इधर उधर ताकना, मुँह स्वना आदि होते हैं। यथा—प्राणेशेनिति—चारों और चिकत चन्नुओं से देखती हुई बाला प्रातःकाल ही अपने शरीर में प्रियतमकृत नखन्त के स्थानों पर बन्दन लगाती है और अधरिबम्बिध्यत दन्तन्त्रत पर लान्नाराग लगाती है। सहरोति—सहश्च वस्तु के अवलोकन तथा चिन्तन आदि से पूर्वानुभूत वस्तु के स्मरण को 'स्पृति' कहते हैं। इसमें मोंह चढ़ना आदि होता है। यथा—मशिति— उसके सामने जाकर किसी बहाने से योही मैंने किसी दूसरी और दिख डालदी और उस समय उसने तिर्यग्वितत तरल (तिरछी, चञ्चल) दिष्ट से मुक्ते देखा। स्मितमुपगतामालीं दृष्वा सलजमवाञ्चितं कुवलयदशः स्मेरं स्मेरं स्मरामि तदाननम् ॥'

अथ मति:-

नीतिमार्गानुसृत्यादेरर्थनिर्घारणं मतिः। स्मेरता घृतिसन्तोषौ बहुमानश्च तद्भवाः ॥ १६३॥

यथा-

'श्रमंशयं त्त्रपरिप्रहत्त्भा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः। सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः ॥' अथ व्याधिः-

व्याधिज्वरादिवीतायैभूमीच्छोत्कम्पनादिकृत्।

तत्र दाहमयत्वे भूमीच्छादयः । शैत्यमयत्वे उत्कम्पनादयः । स्पष्टमुदाहरणम्। अथ त्रासः-

निर्घातविद्युदुल्क। चैस्त्रासः कम्पादिकारकः ॥ १६४॥

यथा-

'परिस्फुरन्मीनविघष्टितोरवः सुराङ्गनास्त्रासविलोलदृष्टयः । उपाययुः कम्पितपाणिपञ्चवाः सुखीजनस्यापि विलोकनीयताम् ॥ ं अथ त्रीडा-

## धाष्ट्रयीभावो बीडा वदनानमनादिकुदुराचारात्।

इस चरित्र को समभ के मुसकुराती हुई अपनी सखी को देख के तजा है नीची गरदन किये हुए उस नीलंकमलनयनी का मुसकुराता हुआ वह वहनी रविन्द मुक्ते रह रहके याद आता है। इस पद्य की रचना अस्पुट औ शिथिल है।

नीतीति—नीतिमार्ग के अनुसरण आदि से वस्तुतत्त्व के निर्धारण अर्थी वात की तह पर पहुँचने का नाम 'मिति' है। इसमें मुसकुराहट, धैर्य, सन्ती श्रीर अपने में बहुमान (श्रात्मसंमान) होता है। यथा—असंश्यामिति—व तपस्विकन्या (शकुन्तला) अवश्य ही चित्रय के विवाह करने योगि क्योंकि आर्यगुणोपपन्न मेरा (दुष्यन्त का) मन इसमें सामिलाव है। सर्व हास्पद विषयों में सत्पुरुषों के अन्तः करण की वृत्ति ही प्रमाण होती है। व्याधिरिति—वात, पित्त, कफ श्रादि से उत्पन्न ज्वरादि को 'व्याधि' कहते। इसमें पृथ्वी पर लोटने की इच्छा और कम्प आदि होते हैं। पित्रप्रम क्याधि में भूमीच्छादिक और कफप्रधान में कम्प आदि होता है।

निर्वाति वज्रनिर्घोष, विजली, तारा टूटने आदि से चित्त की व्यप्रती नाम 'त्रास' है। इसमें कम्पादि होते हैं। परिस्फुरिकति—जलविहार के स्म जङ्घात्रों में चञ्चल मञ्जलियों के सङ्घर्ष से डरी हुई अतएव करपञ्चव की केल हुई चञ्चलनयनी अप्सरायें सिखयों को भी दर्शनीय हो गई । धार्कीत यथा—'मयि सकपटम्—' इत्यादि । अय हर्षः—

हर्षस्तिवष्टावासेर्भनः प्रसादोऽश्रुगद्गदादिकरः ॥ १६५॥

यथा— 'समीद्य पुत्रस्य चिरात्पिता मुखं निधानकुम्भस्य यथैव दुर्गतः।

मुदा शरीरे प्रबभूव नात्मनः पयोधिरिन्दूदयमूर्च्छितो यथा॥'

अयास्या— असूयान्यगुणधीनामौद्धत्यादसहिष्णुता । दोषोद्घोषभूविभेदावज्ञाकोधेङ्गितादिकृत् ॥ १६६ ॥

यथा— 'अथ तत्र पाग्डुतनयेन सदिस विहितं मधुद्विषः । मानमसहत न चेदिपतिः परदृद्धिमत्सिर मनो हि मानिनाम् ॥'

व्यथ विषादः—

उपायाभावजन्मा तु विषादः सत्त्वसंच् यः। निःश्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत्॥ १६७॥

यथा मम---

'एसा कुडिलघरोग्ण चिउरकडप्पेग्ण तुह ग्णिबद्धा बेग्णी।
मह सिंह दारइ डंसइ त्रात्र सजदृब्व कालउरइव्व हित्रक्षम्॥'

श्राचार, व्यवहार से उत्पन्न धाष्ट्यांभाव का नाम 'त्रींडा' है। इसमें सिर नीचा होना श्रादि कार्य होते हैं। उदाहरण—'मिय' इत्यादि। हर्ष इति—इष्ट का प्राप्ति से मन की प्रसन्नता का नाम 'हर्ष' है। इसमें श्रानन्दाश्रु श्रोर गद्गद स्वर श्रादि होते हैं। समीक्षेति—जैसे कोई दिरद्र गड़ी हुई पूर्वजों की धरोहर के यड़े का मुख देख कर प्रसन्न हो, उसी प्रकार बहुत श्रायु बीतने पर पुत्र का मुँह देखने से, चन्द्रोद्य देखकर प्रवृद्ध समुद्र की भाँति, पिता (दिलीप) श्रानन्दोद्देक से श्रपने श्रापे में न समा सके।

अस्येति—श्रीद्धत्य के कारण दूसरे की गुणसमृद्धि का सहन न करने की 'अस्या' कहते हैं। इसमें दोषकथन, भृकुटिभङ्ग, तिरस्कार तथा कोध श्रादि होते हैं। यथा—श्रयेति—सभा में युधिष्ठिर के द्वारा किये हुए भगवान श्रीकृष्ण के मधम पूजन को शिशुपाल न सह सका। श्रीभमानी पुरुषों का मन दूसरों की समकि नहीं

की समृद्धि नहीं देख सकता। यहां अर्थान्तरन्यास अनुचित है। उपायेति—उपायाभाव के कारण पुरुषार्थहीनता का नाम विषाद है। इसमें निश्वास, उच्छ्लास, मनस्ताप और सहायान्वेषण इत्यादि होते हैं। यथा—एसा इति—"एषा कुटिलघनेन चिकुरकलापेन तम निश्वहा विणिः। मम सिं दारयित दशत्यायस-यिशित कालोरगीम हदयम्।" हे सिंख ! कुटिल केशकलाप की बाँधी हुई यह तेरी चोड़ी लोहे के इंडे की तरह मेरे हृद्य को विदीर्ण करती है और काली नागिन के समान इसनी है।

अथ धृतिः— ज्ञानाभीष्टागमाद्यैस्तु संपूर्णस्पृहता धृतिः। सौहित्यवचनोञ्जाससहासप्रतिभादिकृत्॥ १६८॥

यथा मम---

'कृत्वा दीनिनपीडनां निजजने बद्धा वचोत्रिग्रहं नैवालोच्य गरीयसीरिप चिरादामुन्मिकीर्यातनाः । द्रव्यौघाः परिसंचिताः खलु मया यस्याः कृते सांपतं नीवाराञ्जलिनापि केत्रलमहो सेयं कृतार्था तनुः ॥'

अथ चपलता——

मात्सर्यद्वेषरागादेश्वापल्यं त्वनवस्थितिः। तत्र भृत्सेनपारुष्यस्वच्छन्दाचरणाद्यः॥ १६६॥

यथा--

'अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृक्षः, लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु । मुग्धांमजातरजसं कलिकामकाले व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमालिकायाः॥'

ज्ञानेति—तत्त्वज्ञान तथा इष्टप्राप्ति आदि के कारण इच्छाओं का पूर्ण हो जाव 'धित' कहलाता है। इसमें सन्तुप्तता, श्रानन्द्पूर्ण वचनावली श्रीरमधु स्मित तथा बुद्धिविकास दोते हैं। यथा—इत्वेति—प्ररीवों का गला घोटक आपस के लोगों के साथ क्षगड़े ठानकर और परलोक में होनेवाली कड़ी है कड़ी यमयातना का ध्यानन करके जिस शरीर के लिये मैंने अनेक धनराशि सञ्चित की थीं वह आज एक मुट्टी समा (श्यामाक) के चावलों से भी छतार्थी जिस पापी पेट के लिये इतने घोर पाप किये थे वही आज एक मुट्टी निकृष्ट वार्षी से भी भर जाता है। अन्त में वैराग्य-सम्पन्न किसी निस्पृह पुरुष की उक्ति है। मासर्वेति—मत्सर, द्वेष, राग आदि के कारण अनवस्था का नाम 'चापत (चपलता) है। इसमें दूसरों को धमकाना, कठोर शब्द बोलना और उन्धू श्राचरण श्रादिक होते हैं। यथा —श्रन्यास्त्रिति—हे भ्रमर, उपमर्द सहत करते योग्य अन्य पुष्पत्ततात्रों में अपने मन को विनोदित करो। भोती भारी थोड़ी उमरवाली परागश्चय इस नवमालिका (चमेली) की कीमल को असमय में क्यों व्यर्थ बदनाम करते हो। अल्पवयस्क कुपारिका श्रासक, श्रतुराग चेष्टार्ये दिखाते हुए कामुक के प्रति किसी की उहीं। यहां 'मुग्घा' और 'रजस्' पद शिलष्ट हैं। कली के पन्न में 'मुग्धा' का विना सिली और नायिका के पत्त में —कामकलाओं से अनिभक्ष अर्थ है। 'रजस्' का एक पन्न में पराग और दूसरे में 'रजोधर्भ' अर्थ है।

अथ ग्लानिः— रत्यायासमनस्तापत्तुतिपपासादिसंभवा । ग्लानिर्निष्प्राणता कम्पकार्यानुत्साहतादिकृत्॥१७०॥

यथा-
'िकसलयिमव मुग्धं बन्धनाद्विपलूनं

हृदयकुसुमशोषी दारुगो दीर्घशोकः।

ग्लपयित परिपाण्डुचाममस्याः शरीरं

शरदिज इव धर्मः केतकीगर्मपत्रम्॥'

अथ चिन्ता--

ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः शून्यतारवासतापकृत्।

यथा मम--

'कमलेगा विश्वसिएगा संजोएन्ती विरोहिगां ससिबिम्बम् । करश्रलपञ्जत्थमुही किं चिन्तसि सुमुहि अन्तराहिश्रहिश्रश्रा॥'

अथ वितर्कः--

तर्को विचारः संदेहाद् अशिरोङ्गु जिनतेकः ॥ १७१ ॥

यथां—'कि रुद्धः प्रियया—' इत्यादि ।

एते च त्रयिक्षशद् व्यभिचारिभेदा इति यदुक्तं तदुपलक्त्यामित्याह—

रत्यादयोऽप्यनियते रसे स्युव्यभिचारिणः।

त्यायासेति—रति, परिश्रम, मनस्ताप, भूख, प्यास श्रादि से उत्पन्न निष्प्राणता (निर्वलता) को 'क्वानि' कहते हैं। इसमें कम्प, काम करने में श्रनुत्साह श्रादि होते हैं। यथा—िकसल्येति—वृन्त के बन्धन से छूटे हुए कोमल पल्लव के समान दुर्वल और पाएडु वर्ण इसके (रामचन्द्र से परित्यक्त वन-विवासित सीता के) शरीर को, हद्यपुष्प का सुखानेवाला दारुण दीर्घ शोक, इस प्रकार परित्लान करता है जैसे श्राध्विन की कड़ी धूप केतकी के कोमल गर्भपत्र (भीतर के पत्ते) को सखाती है।

चिन्ता—ध्यानमिति—हित की अप्राप्ति के कारण उत्पन्न ध्यान को 'चिन्ता' कहते हैं। इसमें ग्रन्थता, श्वास और ताप होते हैं। यथा—कमलेण इति—''कमलेन विकित्त तेन संयोजयन्ती विरोधिनं शशिनम्। करतलपर्यस्तमुखी कि चिन्तयित समुखि, अन्तराहितहृद्यां'—हे सुमुखि, करकमल पर मुख्यक्त को रक्खे हुए तू मानो सदा के विरोधी चन्त्रविम्ब को खिले कमल से संयुक्त करती हुई, मन ही मन क्या सोच रही हैं? तर्क इति—सन्देह के कारण उत्पन्न विचार का नाम 'वितर्क' हैं ? इसमें मुकुटिम्ब, सिर हिलाना और उंगली उठाना आदि होता है। यथा—'कि रुद्ध' इत्यादि प्लॉक्त पद्य। एते चिति—पहले जो तंतीस व्यभिचारी भाव कहे हैं वे उपलक्ष्यमात्र है। इनके अतिरिक्त और भी व्यभिचारी होते हैं। यथा—त्यादय इति—'अनियत'

तथाहि शृङ्गारेऽनुिच्छ्रद्यमानतयावस्थानाद् रितरेव स्थायिशब्दवाच्या। हासः पुनरुत्पद्यमानो व्यभिचारेव । व्यभिचारिलक्णयोगात् । तदुक्तम्—
'रसावस्थः परं भावः स्थायितां प्रतिपद्यते ।' इति ।

तत्कस्य स्थायिनः कस्मिन्रसे संचारित्वमित्याह-

शृङ्गारवीरयोहीसो वीरे क्रोधस्तथा मतः ॥ १७२॥ शान्ते जुगुप्सा कृथिता व्यभिचारितया पुनः। इत्याद्यन्यत्समुन्नेयं तथा भावितबुद्धिभिः॥ १७३॥

अय स्थायिभावः-

श्वविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमञ्जमाः। श्वास्वादाङ्करकन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः॥ १७४॥

यदुक्तम्—

'स्रक्सृत्रवृत्त्या भावानामन्येषामनुगामकः । न तिरोधीयते स्थायी तैरसौ पुष्यते परम् ॥' इति ।

तद्भेदानाह—

रतिहीसरच शोकरच कोघोत्साही अयं तथा। जुगुप्सा विस्मयरचेत्थमष्टी प्रोक्ताः शसोऽपि च ॥ १७५॥

कीन २ स्थायी किस २ रस में संचारी होते हैं, यह कहते हैं। शृह्यां श्रिक्ता श्रीर श्रीर में हास, वीररस में क्रोध एवं श्रान्तरस में ज्रुप्तां संचारीमाव होते हैं। इसी प्रकार श्रीर भी यथायोग्य समक्ष लेना चाहिं।

स्थायीमाव का लक्षण—अविरुद्धा इति—अविरुद्ध अथवा विरुद्ध भाव विरुद्ध विरुद्ध विरुद्ध भाव विरुद्ध विरुद्

स्थायीमाव के भेद दिखाते हैं—रितिरिति—१ रित, २ हास, ३ शोक, १ की ४ उत्साह, ६ मय, ७ जुगुन्सा, ५ विस्मय और ६ शम ये नौ (६) स्थायी होते।

रितर्मनोनुक् लेऽथे सनसः प्रवणायितम्।
रितर्मनोनुक् लेऽथे सनसः प्रवणायितम्।
वागादिवैकृतैरचेतोविकासो हास इष्यते ॥ १७६ ॥
इष्टनाशादिभिरचेतोवैक्षव्यं शोकशब्दभाक् ।
प्रतिकृ लेषु तैन्ण्यस्यावबोधः क्रोध इष्यते ॥ १७७ ॥
कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते ।
रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्षव्यदं भयम् ॥ १७८ ॥
दोषेचणादिभिगेही जुगुप्सा विषयोद्भवा ।
विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु ॥ १७६ ॥
विस्फाररचेतसो यस्तु स चिस्मय उदाहृतः ।
श्रमो निरीहावस्थायां स्व।तमविश्रामजं सुखम् ॥ १८० ॥

यथा मालतीमाधवे रितः । लटकमेलके हासः । रामायणे शोकः । महाभारते शमः । एवमन्यत्रापि । एते ह्येतेष्वन्तरा उत्पद्यमानैस्तैस्तैर्विरुद्धैरिवरुद्धैरच भावै- रनुष्क्रिनाः प्रत्युत परिपुष्टा एव सहृदयानुभवसिद्धाः ।

उक्तमावों का लच्च करते हैं। रितिरिति — प्रिय वस्तु में मन के प्रेमपूर्ण उन्मुखी-माव का नाम 'रति' है । वाणी आदि के विकारों को देखकर चित्त का विक-सित होना 'हास' कहाता है। इष्टनाशादि के कारण चित्त की विक्लवता को 'शोक' कहते हैं। शत्रुष्टों के विषय में तीवता के उद्बोध का नाम 'क्रोध' है। कार्य के करने में स्थिरतर तथा उत्कट आवेश ('संरम्भ') को 'उत्साह' कहते हैं। किसी रौद्र (सिंहादि ) की शक्ति से उत्पन्न, चित्त को व्याकुल करनेवाला माव 'भय' कहलाता है। दोषदर्शनादि के कारण किसी (वस्तु) में उत्पन्न पृणा को 'जुगुप्सा' कहते हैं। लोक की सीमा से अतिकान्त, अलौकिक सामर्थ्य से युक्त किसी वस्तु के दर्शन त्रादि से उत्पन्न चित्त के विस्तार को 'विस्मय' कहते हैं। निःस्पृहता (किसी प्रकार की इच्छा न होने ) की अवस्था में अपने श्रातमा (श्रन्तः करण्) के विश्राम (बहिर्मुखता छोड़ कर श्रन्तर्मुख हो जाने) से उत्पन्न सुख का नाम 'शम' है। उदाहरण-मालती माधव में रित प्रधान है। 'लटकमेलक' में हास, रामायण में शोक श्रीर महाभारत में शम प्रधान है। इसी मकार और भी जानना। इन उक्त ग्रन्थों में ये प्रबंह्न भाव अपने बीच में श्राये हुए अन्य विरुद्ध तथा अविरुद्ध भावों से उच्छिन्न नहीं होते, प्रत्युत परिपुष्ट होते हैं, यह बात सहद्य पुरुषों के अनुभव से सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि जैसे महाभारत में 'शम' प्रधानमाव है, क्योंकि आदि से अन्ततक उसकी अवििच्छित्रकृप से विद्यमानता है और बीच २ में रित, हास, क्रोध, मय, खुप्ता त्रादि भी बहुधा वर्षित हैं, परन्तु वह 'श्रम' (जो शान्तरस का स्थायी है) अपने विरुद्धमाव, क्रोध और रित ग्रादि से अथवा अविरुद्ध जुगुल्सा,

d

Ħ

कि च।
नानाभिनयसंबन्धानभावयन्ति रसान् यतः।
तस्माद्भावा अमी प्रोक्ताः स्थायिसंचारिसान्विकाः॥ १८१॥
यदुक्तम्—

'सुखदु:खादिभिभीवैभीवस्तद्भावभावनम्।'

त्रय रसस्य भेदानाह— शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः । शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः । बीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ रसाः शान्तस्तथा सतः ॥ १८२॥

तत्र शृङ्गारः—

शृक्षं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।
उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृक्षार इष्यते ॥ १८३॥
परोढां वर्जियत्वा तु वेश्यां चाननुराणिणीम्।
त्रालम्बनं नायिकाः स्युदिक्षिणाचाश्च नायकाः॥ १८४॥
चन्द्रचन्दनरोलम्बस्तासुदीपनं मतम्।
श्रूविद्येपकटाचादिरनुभावः प्रकीर्तितः॥ १८५॥
त्यक्तवौग्रयमरणालस्यजुगुप्सा व्यभिचारिणः।
स्थायिभावो रतिः श्यामवर्णोऽयं विष्णुदैवतः॥

यथा —'शून्यं वासगृहम्—' ईत्यादि । अत्रोक्तस्वरूपः पतिः, उक्तस्वरूपा च वा

भय, विस्मय त्रादि से उच्छिन्न नहीं होता। ये सव भाव त्राते हैं श्रीर थोड़ी हैं तक अपनी चमक दिखाकर चलते बनते हैं, श्रतः ये सब वहां संचारी हैं श्री श्राचन्तिविद्यमान 'श्रम' स्थायी है। इसी प्रकार श्रन्यत्र भी जानना। नानेति श्री श्रीमनयादिकों में श्रङ्कारादि रसों को भावित (परिपुष्ट) करते हैं, श्रतप्व कि श्रीद संचारी तथा पूर्वोक्ष सात्त्विकों को 'भाव' कहते हैं।

ब्रालम्बनियावौ । शून्यं वासगृहमुदीपनविभावः । चुम्बनमनुभावः । लज्जाहासौ व्यभिचारिगा । एतरिभिन्यकः सहृदयविषयो रितभावः श्रृंङ्गाररसरूपतां भजते । तद्भेदानाह— विप्रतम्भोऽथ संभोग इत्येष द्विषिधो मतः॥ १८६॥ तत्र— यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ। अभीष्टं नायकं नायिकां वा। स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकरचतुर्घा स्यात् ॥ १८७॥ तत्र-अवणाद्दश्चिताद्वापि मिथः संरूढरांगयोः। दशाविशेषो योऽप्राप्तौ पूर्वरागः स उच्यते ॥ १८८॥ <mark>श्रवणं तु भवे</mark>त्तत्र दूतवन्दीसखीमुखात्। इन्द्रजाले च चित्रे च साचात्स्वप्ने च दर्शनम् ॥ १८६॥ अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसंप्रलापारच। उन्मादोऽथ व्याधिर्जेडता सृतिरिति दशात्र कामदशाः॥१६०॥ श्रमिलाषः स्पृहा, चिन्ता प्राप्तश्रुपायादिचिन्तनंम्। उन्मादश्चापरिच्छेदश्चेतनाचेतनेष्वपि ॥ १६५॥ अवस्यवाकप्रवापः स्याच्चेतस्रो भ्रमणाङ्ग्रम्। व्याधिस्तु दीर्घनिःश्वासपायङ्जताकृशताद्यः ॥ १६२ ॥

यत्य वासगृह उद्दीपनिवंभाव है । चुम्बन अनुभाव है । लजा और हास संचारी हैं। इन सबसे अभिन्यक्ष होकर रितभाव श्रङ्काररस के रूप में परिणृत होता है । विश्वस्म इति—विप्रलम्भ और सम्भोग ये दो श्रङ्काररस के भेद हैं । यत्रेति—वहां अनुराग तो अति उत्कर है, परन्तु प्रिय समागम नहीं होता उसे 'विप्रलम्भ' (वियोग) कहते हैं । सचिति—वह विप्रलम्भ, १ पूर्वराग, २ मान, ३ प्रवास और ४ करुण इन मेदों से चार प्रकार का होता है। अवणादिति—सौन्दर्यादि गुणों के अवण अथवा दर्शन से परस्पर अनुरक्ष नायक और नायिका की, समागम से पहली दशा का नाम 'पूर्वराग'है। दूत, भार अथवा सखी के द्वारा गुणोंका अवण होता है और दर्शन इन्द्रजाल में, चित्र में, स्वप्न में अथवा साचात् ही होता है। अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणुकथन, उद्देग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जडता और मृति (मरण्) ये दश कामद्रशायं विप्रलम्भ श्रङ्कार (वियोग) में होती हैं। कि विशेष लच्चण कहते हैं—इच्छा का नाम 'अभिलाष' है। प्राप्ति के उपायिक की खोज का नाम 'चिन्ता' है। जड़, चेतन का विवेक न रहना 'उन्माद' कहाता है। चिन्न के बहकने से उत्पन्न अरुपरी बातों को, 'प्रलाप' कहते हैं। दिन्न के बहकने से उत्पन्न अरुपरी बातों को, 'प्रलाप' कहते हैं। दिन्न के बहकने से उत्पन्न अरुपरी होती है। अक्नो तथा मन

## जडता हीनवेष्टत्वमङ्गानां मनसस्तथा।

शेषं स्पष्टम् । क्रमेग्गोदाहरगानि——

भमार्दाः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्राढरागोदया-

स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मिय ।

यास्वन्तः करणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधी च्रणा-

दाशंसापरिकल्पितास्वपि भवत्यानन्दसान्द्रो लयः॥

अत्र भालतीसाचादशैनप्ररूढरागस्य माध्वस्याभिलाषः ।

'कथमीचे कुरङ्गाची साचाल्लदमी मनोभुवः।

इति चिन्ताकुलः कान्तो निद्रां नैति निशीथिनीम् ॥'

अत्र कस्याश्चित्रायिकाया इन्द्रजालदर्शनपरूढरागस्य नायकस्य चित्ता। मम । 'मिय सकपटम्—' इत्यादौ नायकस्य स्मृतिः । 'नेत्रे खञ्जनगञ्जने—' इत्यादौ उद्देगः । गुणकथनम् । ' श्वासान्मुञ्जति—' इत्यादौ उद्देगः ।

'त्रिमागशेषासु निशासु च ज्ञाएं निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत। क नीलकएठ, व्रजसीत्यलच्यवागसत्यकएठापितवाहुवन्धना॥'

अत्र प्रलापः ।

'भ्रातिर्द्वरेफ--' इत्यादावुन्मादः ।

के चेष्टाशून्य होने का नाम 'जडता' है और मरण को 'मृति' कहते हैं।

कम से इनके उदाहरण देते हैं। साज्ञात् दर्शन से उत्पन्न अमिला 
उदाहरण—प्रेमार्झ इति —उस मोली चितवनवाली सुन्दरी की प्रेम से 
प्रणय भरी, परिचय होने पर प्रगाढ़ अनुराग से युक्त, स्त्रभाव से म्यु
श्रुक्तारचेष्टायें क्या मुक्त पर कभी होंगी ? जिनके तनिक मन में लाते ही 
च च तुरादि बाहरी इन्द्रियों के व्यापार को रोक कर सान्द्र आनन्द में 
करण का लय हो जाता है। इस पद्य में मालती को देखकर उसमें अस्
माधव का 'अभिलाष' सुचित होता है।

इन्द्रजाल से उत्पन्न श्रामेलाव का उदाहरण—कंशमिति—'कामदेव की सार् लक्ष्मी स्वरूप उस मृगनयनी को में कैसे देखूँगा' इस चिन्ता से व्याक्त के को रात में नींद नहीं श्राती। श्रति — इस पद्य में किसी नायिका को की में देखकर प्रकटराग नायक की चिन्ता प्रतीत होती है। 'मयीत्यादि' प्र पद्य में स्मृति है। 'नेत्रे' इत्यादि में गुण कथन है। 'श्वासान' इत्यादि में

आ चुका है।

प्रलाप—तिमागेति—ब्रह्मचारिवेष में छिपे शङ्कर से, पार्वती की स्व वचन। अर्थ—अनेक वार रात्रि के पिछले पहर में ज़रा देर के लिये आंव हो यह हमारी सखी 'हे नीलकएठ, कहाँ जाते हो' इस प्रकार बड़्ब हुई, किसी के किएत कएठ में बाहुलता डाले हुए जाग उठती हैं। इस अज़रक्त पार्वती का 'प्रलाप' दिखाया है। 'भ्रात द्विरेक' इत्यादि में अध्या है। पाग्डु चामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः । आवेदयति नितान्तं चेत्रियरोगं सिख हृदन्तः ॥'

अत्र व्याधिः । 'भिसिग्गित्रजलसत्र्यगिए निहित्रं स्वतं सुगिचलं अङ्गम् । दीहो ग्रीसासहरो एसो साहेइ जीत्र्यइति परम् ॥'-

अत्र जडता । इदं मम ।

रसविच्छेदहेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते.॥ १६३॥ जातप्रायं तु तद्वाच्यं चेतसाकाङ्चितं तथा। वर्ण्यतेऽपि यदि प्रत्युज्जीवनं स्पाददूरतः॥ १६४॥

तत्राद्यं यथा---

तुर

F

'शेफालिकां विद्वितामवलोक्य तन्वी प्राणान्कथंचिद्दिष धारियतुं प्रमूता । त्र्याकएर्य संप्रति रुतं चरणायुधानां किं वा भविष्यति न वेद्यि तपस्विनी सा॥'

द्वितीयं यथा— 'रोलम्बाः परिपूरयन्तु हरितो भंकारकोलाहलै-

व्याधि का उदाहरण —पायड इति—हे सिख, तेरा पायडुवर्ण मुरक्ताया हुआ चेहरा, सरस हृदय और ढीला देह; तेरे हृदय में स्थित नितान्त असाध्य ( 'क्षेत्रिय'=जन्मान्तर साध्य ) रोग की सूचना देते हैं। इसमें 'व्याधि' है। भितिया इति — विसिनीदलशयनीय निहितं सर्वे सुनिश्चलमङ्गम् । दीवीं निःश्वासमर एव साधयति जीवतीति परम्। कमल की शय्या पर पड़ा हुआ देह तो एकद्म निश्चल है। हाँ, दीर्घ निःश्वाससे यह अवश्य सिद्ध होता है कि अभी जीती है। यहाँ 'जडता' है। रसेति—यद्यपि रस का विच्छेदक होने से मरण का वर्णन नहीं किया जाता, तथापि मरगतुल्य दशा का वर्णन कर देना चाहिये श्रौर चित्त से श्राकांचित मरण का भी वर्णन कर देना चाहिये। यदि शीघ्र ही पुनर्जीवित होना हो तो मरण का भी वर्णन कर देते हैं। जातप्राय मरण का उदाहरण जैसे रेफा-विकामिति—दूती का वचन नायक से—वह सुकुमारी शेफालिका को विकसित देखकर जैसे तैसे प्राण घारण कर सकी है। 'शेकालिका' (हारसिङ्गार) के क्ल आधीरात में खिलते हैं, उन्हें देखकर अर्थात् उस समय तक तुम्हारी वाट जोहने पर विरहवेदना से व्याकुल उस सुकुमारी ने यथाकथित प्राण धारण किये थे। परन्तु इस समय मुरगों की आवाज़ सुनकर (प्रातःकाल हो जाने से ) वह तपस्विनी (बेचारी) न जाने किस दशा में होगी। तर्कवागीशजी ने 'तपस्विनी' का अर्थ ब्रह्मचारिणी किया है 'तपस्विनी ब्रह्मचारिणी मैथुनरहि-तलात्'!!! इम तो आपकी 'ब्रह्मचारिणी' बनाने की इस द्लील (मैथुन-रिक्ट-रिहतत्वात्) पर क्रुवीन है।

वित्त से आकांचित मरण का उदाहरण —रोलम्बा इति — भ्रमर अपनी गूँज से

र्मन्दं मन्द्मुपैतु चन्दनवनीजातो नभस्वानपि । माद्यन्तः कलयन्तु चूतशिखरे केलीपिकाः पञ्चमं

पाणाः सत्वरमश्मसारकठिनां गच्छ्रन्तु गच्छ्रन्त्वमी ॥'

ममैतौ । तृतीयं यथा —कादम्बर्या महारवेतापुग्डरीकवृत्तान्ते । एष च पकारः करण विप्रलम्भविषय इति वद्यामः।

केचित्तु-'नयनपीतिः पथमं चित्तासङ्गस्ततोऽथ संकल्पः । निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्वपानाशः। उन्मादो मूच्क्री मृतिरित्येताः स्मरदशा दशैव स्यः ॥ इत्याहुः।

तत्र च-श्रादौ वाच्यः स्त्रिया रागः पुंसः परचात्तादिङ्गितैः।

इक्कितान्युक्तानि यथा रत्नावल्यां सागरिकावत्सराजयोः । आदौ पुरुषानुरागे संभ वत्यप्येवमधिकं हृद्यंगमं भवति ।

नीली कुसुम्भं मिल्लिष्टा पूर्वरागोऽपि च त्रिघा ॥ १६५॥ तत्र-

न चातिशोभते यत्रापैति प्रेम मनोगतम्। तन्नी बीरागमा ख्यातं यथा श्रीरामसीतयोः ॥ १६६॥

दिशाओं को पूरित करें, चन्दन के वनों से उठा हुआ मलयानिल मन्द र चलता रहे। आमों की मक्षरी पर बैठी हुई मस्त कोयल पश्चम स्वर में अपनी की काकली आलापती रहे और पत्थर से भी अधिक कठोर ये मेरे प्राण भी श बिदा हों। ये दोनों पद्य विश्वनाथजी के बनाये हुए हैं। तृतीयमिति — तृतीय मरण का उदाहरण-जैसे काद्मबरी में महाश्वेता पुराडरीक के बृताली पुण्डरीक का मर्ण वर्णन किया है और फिर प्रत्युज्जीवन दिखाया है—एवरेल-यह भेद करुण्विप्रलम्भ का है, यह त्रागे कहेंगे।

केचितु इति—कोई आचार्य इन दस कामदशाओं को इस प्रकार कहते हैं नहीं से पहले नयनानुराग, फिर चित्त की ग्रासिक, ग्रनन्तर सङ्कर्ष (पिलते की इच्छा ) इसके बाद निद्रानाश, उन्माद, मूच्छी श्रीर मर्ग्। श्रादी इति पहले ही का अनुराग वर्णन करना चाहिये, अनन्तर उसके रङ्गित चेष्टित देखकर पुरुष अनुराग निबद्ध करना चाहिये। इङ्गित पहले कह चुके हैं। उदाहरण रतावलो नाटिका में सागरिका श्रीर वत्सराज का अनुराग। यद्यपि पुरुवाहिता भी पहले हो सहस्र है -भी पहले हो सकता है, परन्तु उक्त प्रकार से वर्णन श्रधिक हृद्यक्षम होता नीलीति—पूर्वराग तीन प्रकार का होता है। नीलीराग, कुसुम्मराग और मिन्नी राग। न चेति —जो बाहरी चमकद्मक तो अधिक न दिखाये परन्तु हृद्यते की दूर न हो. वह किली---दूर न हो, वह 'नीलीराग' कहाता है। जैसे भगवान् श्रीरामचन्द्र श्रीर ही कुसुम्भरागं तत्प्राहुर्यद्वपैति च शोभते। मिल्लिष्टारागमाहुस्तद् यन्नापैत्यतिशोभते॥ १६७॥

अथ मानः— मानः कोषः स तु द्वेधा प्रणयेष्यांसमुद्भवः। द्वयोः प्रणयमानः स्यात्प्रमोदे सुमहत्यपि॥ १६८॥ प्रेम्णः कुटिलगामित्वात्कोपो यः कारणं विना।

द्वयोरिति नायकस्य नायिकायारच उभयोरच पणयमांनो वर्णनीयः। उदाहरणम्।

तत्र नायकस्य यथा-

1

1

51

B

M

1

'श्रिलिश्रपसुत्तत्र्यिगिनिश्यच्छ देसु सुहत्र्य मज्म श्रोत्रासम् । गण्डपरिजम्बणपुलङ्खङ्ग गा उपगो चिराइस्सम् ॥' नायिकाया यथा कुमारसंभवे संध्यावर्णनावसरे । उभयोर्थथा—

'प्राञ्चकुवित्राणं दोएणं वि त्रिलित्रमुत्ताएणं माण्ड्एणाणम् ।

णिचलिण्डद्वणीसासदिएणत्रपणाणं को मन्नो ॥'

अनुनयपर्यन्तासहत्वे त्वंस्य न विषलम्भभेदता, किंतु संभोगसंचार्याख्यमावत्वम्। यथा—

'भूमङ्गे रचितेऽपि दृष्टिरिधकं सोत्कर्यठमुद्रीच्ते

देवी का। कुसुम्मराग वह प्रेम होता है जो शोभित वहुत हो, पर जाता रहे। मिखिष्ठा राग उस भेम को कहते हैं जो जाय भी नहीं और शोभित भी खूब हो। मानं का लच्च ग मान इति कोप का नाम मान है। वह दो प्रकार का होता है। एक प्रण्य से उत्पन्न दूसरा ईन्यों से उत्पन्न। इगोरिति - प्रेम की उत्तरी ही चाल हुआ करती है, इसलिये दोनों के हृद्य में भरपूर प्रेम होने पर भी, विना ही कारण, जो एक दूसरे के ऊपर कोप है, उसे प्रण्यमान कहते हैं। नायक के प्रथमान का उदाहरण-श्रतिश्र इति—'श्रतीकप्रप्तप्त मिथ्यानिमीतिताच, देहि सुमग ममावकाशम् । गण्डचुम्बनपुलिकताङ्गं न पुनिश्चरियण्यामि' । स्रोते का बहाना करके योही श्राँलें मीचनेवाले 'महाशय' मुक्ते भी थोड़ी जगह दो। कपोलचुम्बन से पुलिकत अङ्गवाले 'महात्माजी' मैं फिर कभी देर न कहँगी। नायिका का मान जैसे कुमारसम्भव में सन्ध्यावर्णन के श्रवसर पर। दोनों के एक ही समय मान करने का उदाहरण जैसे — पणश्र इति — ''प्रण्यकुपितयोद्देयोरलीकप्रष्ठसयोमीनिनीः । निश्चल निश्चल निश्चल कर्णयोः को मल्जः । दोनों ही प्रण्य से कुणित हैं, दोनों ही प्रिक्त कर्णयोः को मल्जः। ही मिथ्याप्रसुप्त हैं और धीरे घीरे रोक रोक के लिये हुए परस्पर के निःश्वासी पर दोनों ही कान लगाये पड़े हैं। देखें इन दोनों में कौन बहादुरं है। अनुन्येति -यदि यह मान, श्रमुनय (खुशापद या मनाने) के समय तक न ठहर सके तो इसे विश्वस्म श्रङ्कार नहीं समक्षना, किन्तु 'सम्भोगसञ्जारी' नामक भाव जानना । जैसे -- भूमहे इति -- भृकुदी टेढ़ी करने पर भी दृष्टि अधिक उत्कराठापूर्ण

रुद्धायामि वाचि सिस्मितिमदं दग्धाननं जायते। कार्करयं गिमतेऽपि चेतिस तन् रोमाञ्चमालम्बते दृष्टे निर्वहर्णां भिवष्यति कथं मानस्य तस्मिञ्जने॥'

यथा वा-

'एकिसमञ्शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो-रन्योन्यस्य हृदि स्थितेऽप्यनुनये संरच्नतोगीरवम् ।

दंपत्योः शनकैरपाङ्गवलनान्मिश्रीभवचनुषो-

र्भग्नो मानकलिः सहासरभसन्यासक्तकएठप्रहः॥'

पत्युरन्यप्रियासङ्गे दृष्टेऽथानुमिते श्रुते ॥ १६६॥ ईंदर्यो मानो अवेत्स्त्रीणां तत्र त्वनुमितिस्त्रिषा। उत्स्वप्नायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनसंभवा॥ २००॥

तत्र दृष्टे यथा--

'विनयति सुदृशो दृशोः परागं
प्रण्यिनि कौसुममाननानिलेन ।
तद्दितयुवतेरभी दृण्यमदृणोदूर्यमपि रोषरजोभिरापुपूरे ॥'

संभोगचिह्वेनानुमिते यथा— 'नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन

हो जाती है। वाणी के रोक लेने पर भी 'जलगया' (यह स्त्रियों के कोपके सम की स्वामाविक गाली हैं) मुँह मुसकुराने लगता है। चित्त कड़ा कर लेने पर्य देह रोमाञ्चित होने लगती है, फिर भला उनके सामने आने पर मैं मान को कै निबाह सक्ँगी ? (जब सब सेना ही दूसरों से जा मिले तो सेनापित वेचा क्याकरे ?) दूसरा उदाहरण देते हैं — एकस्मिनिति — मन में अनुनय करने की र्व के होते हुए भी अपने अपने गौरव की रचा के हेतु मुँह फेरे हुए चुपचाप एक शय्या पर वेचैन पड़े हुए, पित पत्नी की धीरे २ कटा च्वी च्या के द्वारा, ब्रांबंब होते ही, मानकलह टूट गया श्रीर हासपूर्वक भट से कराठाश्लेष प्रारम्भ हुन पतिकी अन्य अङ्गना में आसिक्त के देखने पर या अनुमान कर लेने पर श्री किसी से सुनलेने पर स्त्रियों को 'ईर्ष्यामान' होता है। उसमें श्रवुमान तीत ती से होता है। १ स्वप्न में अन्य नायिका के सम्बन्ध की बातें बड़बड़ाते हैं। २ नायक में उसके सम्मोगिवहाँ को देखने से अथवा ३ अवानक नायक के से अन्य नायिका का नाम निकल जाने से। अन्यासङ्ग देखने पर ईन्ध्रीमान उदाहरण जैसे—विनयति इति—नायक को अन्य नायिका के नयनों से कुछी। को फाँक के कुलाने के को पूँक के हटाते देख दूसरी के दोनों नेत्र कोध की रज से एकदम मर् सम्मोग चिह्न से अनुमित का उदाहरण—नवेति—नवीन नखन्त के

स्थगयसि पुनरोष्टं पाणिना दन्तदष्टम् । प्रतिदिशमपरस्रीसङ्गशंसी विसर्प-नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम् ॥'

प्रमन्यत्र ।
साम भेदोऽथ दानं च नत्युपेचे रसान्तरम् ।
तद्भक्षाय पतिः क्रयोत्षडुपायानिति क्रमात् ॥ २०१ ॥
तत्र प्रियवचः सामः, भेदस्तत्सख्युपार्जनम् ।
दानं व्याजेन भूषादेः, पाद्योः पतनं नतिः ॥ २०२ ॥
सामादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेचावधीरणम् ।
रभसत्रासहर्षादेः कोपभ्रंशो रसान्तरम् ॥ २०३ ॥
यथा—'नो चादुश्रवणं कृतम्—' इत्यादि । अत्र सामादयः पञ्च सूचिताः ।

रसान्तरमहाम् ।

श्रय प्रवासः— प्रवासो भिन्नदेशित्वं कार्याच्छापाच संभ्रमात्। तत्राङ्गचेलमालिन्यमेकवेणीधरं शिरः॥ २०४॥ निःश्वासोच्छासहदितभूमिपातादि जायते।

किंच।

अङ्गेष्वसौष्ठवं तापः पार्युता कुशताऽहिनः॥ २०५॥

श्राङ्कत देह को वस्त्र से छिपाते हो और दन्तद् छ श्रोष्ठ को हाथ से द्वाते हो, परन्तु यह तो बतात्रो कि अन्याङ्गनासङ्गके स्चक चारों ओर फैलतेहुए इस नवीन परिमलगन्ध को काहे से रोकोगे ?। 'विमद्तिये परिमलो गन्धे जनमनोहरे' इत्यमरः। सामेति—साम, भेद, दान, नित, उपेदा श्रीर रसान्तर इन छः उपायों को मानमङ्ग करने के लिये पति यथाक्रम प्रहण करे। तत्रेति-प्रिय वचन का नाम बाम' है। नायिका की सखी को तोड़ लेने (अपनी ओर मिला लेने) को भेद' कहते हैं। किसी बहाने से भूषण आदि देने का नाम 'दान' है। पैरी पर गिरना 'नित' कहाता है। सामादिक चार उपायों के निष्फल होने पर उपाय छोड़कर बैठ रहने को उपेचा कहते हैं। घवराहट, भय, हर्ष आदि के कारण कोप दूर होजाने का नाम 'रसान्तर' है। जैसे 'नोचादु' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य। इसमें सामादि पांच दिखाये हैं। रसान्तर और कहीं उहा कर लेना। भवास इति—कार्यवश, शापवश, अथवा सम्भ्रम (भय) वश नायक के अन्य देश में चले जाने को 'प्रवास' कहते हैं। उसमें नायिकाओं के शरीर और वसों में मिलनता, सिर में एक वेशी (विशेष रीति से भूषा के साथ न गूथ कर साधारणतया सब बालों को लपेट कर एक चोटी बना लेना ) एवं निःश्वास, उन्द्वास, रोदन और भूमिपतन श्रादि होते हैं। म्हिषिति अङ्गोमें असीष्ठतः सन्ताप, पायडुता, दुर्बस्ता, सङ्चि, सधीरता, श्रधृतिः स्याद्नालम्बस्तन्मयोनमाद्मूच्छ्रेनाः।
मृतिश्चेति क्रमाज्ज्ञेया दश स्मरद्शा इह ॥ २०६॥
श्रमीष्ठवं मलापत्तिस्तापस्तु बिरहज्बरः।
श्रम्भविदेस्तुवैराग्यं सर्वत्रारागिताधृतिः॥ २०७॥
श्रमालम्बनता चापि शून्यता मनसः स्मृता।
तन्मयं तत्प्रकाशो हि बाह्याभ्यन्तरतस्तथा।

शेषं स्पष्टम् ।

एकदेशतो यथा मम तातपादानाम्—

'चिन्ताभिः स्तिमितं मनः, करतले लीना कपोलस्थली,

प्रत्यूषच्रादेशपाण्डु वदनं, रवासैकखिनोऽधरः। अम्भःशीकरपद्मिनीकिसलयैनीपैति तापः शमं

कोऽस्याः प्रार्थितदुर्लभोऽस्ति सहते दीनां दशामीदशीम् ॥'

भावी भवन्भूत इति त्रिधा स्थात्तत्र कार्यजः ॥ २०८॥ कार्यस्य बुद्धिपूर्वकत्वात्त्रैविध्यम् ।

तत्र भावी यथा मम—

'यामः सुन्दरि, याहि पान्थ, दियते शोकं वृथा मा कृथाः,

अस्थिरता, तन्मयता, उन्माद, मुच्छी श्रीर मरण ये दस (ग्यारह) कापदण प्रवास में नायक नायिकात्रों की होती हैं। इनमें मिलनता का नाम 'श्रमीष्ठां है। विरह्ण्यर को 'संताप' कहते हैं। सब वस्तुत्रों से वैराग्य होजाने को 'श्रवी कहते हैं। कहीं जी न लगने का नाम 'अधृति' है। मन की शून्यता 'अनालम्बन कहाती है श्रीर भीतर बाहर सब श्रोर प्रियतम (या प्रियतमा) के ही दी ब को 'तन्मयता' कहते हैं। उन्माद आदि सब स्पष्ट ही हैं। इनमें से कुछ दशा के उदाहरण में अपने पिता का बनाया पद्य देते हैं। चिन्तामिरिति—इसकी चिन्तात्रों के मारे निश्चल हो गया है। कपोलस्थल करतल ही में निलीन प है। मुख प्रातःकाल के चन्द्रमा के समान पार्डुवर्ण हो गया है। अधरोहरी निःश्वासों से मुरक्ताया हुत्रा है और इसका सन्ताप, न शीतल जल के की दूर होता है, न कमल के कोमल पल्लवों से कम होता है। न जाने कौन दुर्लभु इसका श्रमिलिषत है जो यह द्यनीय दशा देखकर भी नहीं पिघलती भावीति—उनमें से कार्यवश उत्पन्न हुआ प्रवास, भविष्यत्, वर्तमान श्रीती इन तीन भेदों में विभक्त होता है। कार्य, विचार पूर्वक किया जाता है, ब्रातप्त के कालों में हो सकता है। भावी प्रवास जैसे—याम इति—साहित्यद प्रेण की 'इति नामक संस्कृत टीका की आलोचना करते समय हमने अपने 'हिंदरालें नामक प्रबन्ध में इस पद्य की ज्याख्या की थी वहीं से उसे यहां अविकर्त करते हैं। याम: किसी परम आवश्यक कार्यवश प्राण्पिय परदेश गमन प्रस्तुत हैं। प्रियतमा को इस दुर्घटना से प्राणान्त कष्ट हो रहा है। सन्ता मनोव्यथा की अधिकता से पिघला हुआ अन्तः करण नेत्रों के द्वारा अधिक

शोकस्ते गमने कुतो मम, ततो बाष्पं कथं मुख्यसि । शीव्रं न व्रजसीति, मां गमयितुं कस्मादियं ते त्वरा, भूयानस्य सह त्वया जिगमिषोजीवस्य मे संभ्रमः ॥'

क्य में बराबर वह रहा है। इतने में प्रेमाधार ने बाहर से आकर अपने प्रेम भरे नयनों से प्राणेश्वरी को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हुए यात्रा के लिये बिदा माँगी—यागः सन्दिर, हे सुन्दिर, हम जाते हैं। इस पर प्रेयसी ने सालात् निषेध करना उचित नहीं समका। अप्रकृत की आशक्का से अपने को यात्रा का विष्क-कारक बनाना उचित नहीं समका। परन्तु प्राण्नाथ को प्रवास से रोकने के लिये व्यक्त्यमरी वचनावली से जो प्रश्नों का उत्तर दिया है वह निम्न प्रकार है। याहि पान्य—हे पथिक, जाओ। 'प्रिय' न कह कर 'पान्थ' कहना विशेष प्रेम नहीं होता, वह अपने गन्तव्य स्थान की ही धुन में रहता है, इसी प्रकार तुम भी पथिक के समान प्रेमशून्य हो, यह व्यक्त्य है। दियते शोकं ह्या मा क्याः—हे प्रिये, व्यर्थ शोक मत करो—शोकस्ते० हे पथिक, तुम्हारे जाने में मुक्ते शोक क्यों होगा? तो नाप्पं० यदि शोक नहीं है तो फिर ये ज़ार ज़ार आंसू क्यों बहा रही हो? शींव न०—तुम शीच नहीं जाते इस लिये। मा गमियतुं०—मुक्ते भेजने के लिए तुम्हें इतनी जलदी क्यों है? भूयानस्य०—तुम्हारे साथ ही साथ जाने को तयार वैठे हुए मेरे प्राणों की यह घबराहट है। जीवस्य=जीवनस्य शाणानामित्यर्थः।

तात्पर्य यह है कि ये आंसु शोक के नहीं, विलक्ष प्राग्यसंकर के हैं। तुम्हारे जाने के बाद ये प्राण्यक्षेक एक च्या भी नहीं उक सकेंगे। तुम्हारे गमन के साथ ही ये भी उड़ जायेंगे। इन्होंने भी तुम्हारी तरह जाने की पूरी तयारी कर ली है। भागेश्वर चले गये' इतना सुनते ही ये भी मुक्ते छोड़कर हवा हो जायेंगे। अभी तक ये शब्द सुनने में नहीं आये हैं। केवल यही सुन रही हूं कि जा रहे हैं - अब जाते हैं—थोड़ी देर है—इत्यादि। इसी उलमनमें पड़ेहुए मेरे प्राण झटपटा रहे हैं। कमी अपर को खिचते हैं। कभी फिर कुछ बैठ जाते हैं। प्राणी की इस उलमन के कारण में प्राणान्त कष्ट पा रही हूं श्रीर इसी से ये अश्रधारायें वह रही हैं। तुम्हारे वियोग में मैं एकपल भी जीने को तयार नहीं हूं। परन्तु मरने की अपेका मरने से पहले की यातनायें अत्यन्त असहा होती हैं। यह पहले सुना करती थी श्रीर इस समय स्थयम् अनुभव कर रही हूं। तुमसे जाने को मना करना बुरा है। इससे तुम्हारे गमन में अमङ्गल की आशङ्का है। इसलिये हे प्राणनाथ, तुम शीव जायो श्रीर मुक्ते इस प्राण्संकट से छुड़ाश्रो। तुम भी जाश्रो श्रीर तुम्हारी सम्पत्ति—ये मेरे प्राण्—भी जायें। प्राण् श्रीर प्राणेश्वर एक साथही प्रयाण करें हत्यादि।ये सब भाव चतुर्थ चरण से व्यक्षनावृत्ति के द्वारा बोधित होते हैं। वर्तमानका लिक् प्रवास का उदाहरण—प्रस्थानमिति--प्रियतम के गमन के यातुं निश्चितचेतिस पियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सित जीवित, प्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते ॥'
भूतो यथा—'चिन्ताभिः स्तिमितम्—'इत्यादि । शापाद्यथा—'तां जानीयाः
इत्यादि।संभ्रमोदिव्यमानुषनिर्घातोत्पातादिजः।यथा-—विक्रमोर्वश्यामुर्वशीपुरूत्वाः
अत्र पूर्वरागोक्तानामभिलाषादीनामत्रोक्तानां चाङ्गासौष्ठवादीनामपि दशानाः

भयेषामप्युभयत्र संभवेऽपि चिरंतनप्रसिद्धचा विविच्य प्रतिपादनम्।

ग्रथ करुणविपलम्भः—

यूनोरेकतरस्मिन्गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये। विमनायते यदैकस्तदा भवेत्करुणविश्रलम्भारुयः॥ २०६।

यथा कादम्बर्या पुण्डरीकमहारवेतावृत्तान्ते । पुनरलम्ये शरीरान्तरेण वा लम्ये तु करुणाख्य एव रसः ।

किचात्राकाशसरस्वतीभाषानन्तरमेव शृङ्कारः, संगमप्रत्याशया रतेरुद्भवात्। प्रात्रु करुण एव इत्यभियुक्ता मन्यन्ते । यचात्र 'संगमप्रत्याशानन्तरमपि भवतो कि

समय नायिका की अपने प्राणों के प्रति उक्ति है। कङ्कण सरक पड़े और तुमां प्रिय मित्र आँस् बरावर चल रहे हैं। धेर्य चण्मर भी नहीं टिका और वि अगाड़ी ही जाने को तयार है। प्रियतम के प्रतास का निश्चय करते हैं। सबके सब साथ ही चल पड़े हैं। फिर हे प्रियप्राण ! यदि तुम्हें भी जाना है तो अपने इन मित्रों का साथ क्यों छोड़ते हो ? तुम भी इनके साथ ही च दो। मूतकालिक वियोग जैसे—'चिन्ताभिः' इत्यादि पूर्वोंक्र पद्य। शारी प्रवास जैसे मेघदृत में 'तो जानीयाः' इत्यादि।

प्रवास का कारणभूत 'सम्म्रम' (घबराहर) कहीं देवताओं से, कहीं गर्ण से और कहीं दिशाओं में उत्पन्न, बिजली के सहश घोर शब्द आदि श्री उत्पातों से होता है। जैसे विक्रमोर्चशी में उर्वशी और पुरुरवा का।

मनेति चरापि पूर्व राग में कही हुई अभिलाष, चिन्ता आदिक और ब कही हुई 'अङ्गासीष्ठव' आदिक कामदृशायें दोनों जगह (पूर्व रागतधाप्रवा में) हो सकती हैं तथापि प्राचीनों के अनुसार पृथक् लिखी हैं।

त्रथ करण्विप्रवासम — पूनोरिति— नायक श्रीर नायिका में से एक के मर कर्षा पर नूसरा जो दुः खी होता है उस अवस्था को 'करण् विप्रवासभे' कहते। परन्तु यह तमी होता है जब परलोकगत व्यक्ति के इसी जन्म में इसी हैं। फिर मिलने की श्राशा हो। जैसे— 'काद म्बरी' में पुराइरीक श्रीर महाइनेता वृत्तान्त । यदि फिर मिलने की श्राशा दूट जाय श्रथवा जनमान्तर में मिली श्राशा हो तबतों करुण्रस ही होता है। इसमें दूसरा मत— किनेति— यहां प्रार्थित के मरणानन्तर श्राकाशवाणी के द्वारा उसके मिलने की श्राशा होने पर के श्रंकरित होने से श्रृङ्कारस होता है। श्राकाशवाणी से पहले करुण्यस हो स्यांकि तब तक शोक प्रधान है, रितनहीं, यह बात प्रामाणिक लोग माति। यह जो कोई कहते थे कि समागम की श्राशा के श्रनन्तर यहाँ भी श्रृङ्कार

बन्मशृङ्गारस्य प्रवासाख्यो भेद एवं इति केचिदाहुः, तदन्ये 'मरग्रारूपविशेष-संभवात्तद्भिनमेव' इति मन्यन्ते ।

अय संभोगः—
दर्शनस्पर्शनादिति निषेवेते विवासिनी ।
दर्शनस्पर्शनादिति निषेवेते विवासिनी ।
यत्रानुरकावन्योन्यं संभोगोऽयमुदाहृतः ॥ २१० ॥
आदिशब्दादन्योन्याधरपानचुम्बनादयः । यथा—'शून्यं वासगृहम्—'इत्यादि।
संख्यातुमशक्यत्या चुम्बनपरिरम्भणादिबहुभेदात् ।
त्र्यमेक एव धीरैः कथितः संभोगशृङ्कारः ॥ २११ ॥
तत्र स्यादृतुषद्कं चन्द्रादित्यो तथोद्यास्तमयः ।
जत्तकेविवनचिहारप्रभातमधुपानयामिनीप्रभृतिः ॥ २१२ ॥
त्रनुतेपनभूषाद्या वाच्यं शुचिमेध्यमन्यच ।

तथा च भरतः— 'यितिकचिल्लोके शुचि मेध्यमुञ्ज्वलं दर्शनीयं वा तत्सर्वं शृङ्कारेगोपमीयते ( उपयुज्यते च )' इति ।

किंच।

कथितरचतुर्विघोऽसावानन्तर्यात्तु पूर्वरागादेः॥ २१३॥

यदुक्तम्—

'न विना विमलम्भेन संभोगः पुष्टिमरनुते । कषायिते हि वस्नादौ भ्यानरागो विवर्धते ॥' इति ।

का 'प्रवास' नामक भेद है वह श्रौर लोग नहीं मानते, क्योंकि यहां मरणकप विशेष दशा हो जाती है, श्रतः यह प्रवास से भिन्न है।

दर्शनिति—एक दूसरे के प्रेम में परो नायक और नायिका जहां परस्पर दर्शन, रपर्शन आदि करते हैं वह सम्भोगश्रङ्गार कहाता है। उदाहरण—'श्रन्यम्' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य। संख्यातुमिति—चुम्बन, आलिङ्गन आदिक इसके अनन्त भेदों की गिनती नहीं हो सकती, अतः इसका 'सम्भोगश्रङ्गार' नामक एक ही भेद माना है। छहीं ऋतुओं का वर्णन, सूर्य और चन्द्रमा का वर्णन, उदय और अस्त का वर्णन एवं जलविहार, वनविहार, प्रभात, मद्यपान, रात्रिक्रीडा, चन्द्रनादि-नेपन, भूषग्रधारण तथा और जो कुछ स्वच्छ उज्ज्वल, प्राह्म वस्तु हैं उन सबका वर्णन श्रङ्गाररस में होता है। यही भरत मुनि ने कहा है-यरिकविदिति। कथित इति-यद्यपि श्रङ्कार के अवान्तर भेद असंख्य हैं, तथापि पूर्वराग, मान, प्रवास और इंग्या इनके श्रानन्तर्य के कारण यह चार प्रकार का होता है। कहा भी है न विनेति—विना वियोग के सम्भोगश्रुङ्गार परिपुष्ट नहीं होता। कषायित वस्नादि पर रंग अञ्झा चढ़ता है। प्रधान रंग में रंगने के पहले किसी दूसरी चीज़ में, जो उस रँग के अनुकूल हो, कपड़े के रँगने की चाल है -यह इसलिये किया जाता है कि प्रधान रँग अच्छा चढ़े और पक्का हो। बहुत से रँगों में रँगने से पहले अनार के छिलकों के काढ़े में कपड़े को भिगोते हैं। इसी को 'कषायित' करना कहते हैं। जिस प्रकार कषायित करने के पीछे रँग में स्वच्छता आजाती है—इसी प्रकार मान, ईर्ध्या, प्रवासादि जन्य वियोग के पीछे सम्मोग शक्तार में तत्र पूर्वरागानन्तरं संभोगो यथा कुमांरसंभवे पार्वतीपरमेश्वरयोः । प्रवासानिक संभोगो यथा मम तातपादानाम्—

'ह्मेमं ते ननु पदमलाहि—िकसम्रं खेमं महङ्गं दिढं, एताद्दकृशता कुतः—तुह पुणो पुट्टं सरीरं जदो। केनाहं पृथुलः पिये—पणइणिदिहस्स संमीलणात्, त्वतः सुम्रु न कापि मे—जइ इदं खेमं कुदो पुच्छ्नसि॥'

एवमन्यत्राप्यूह्मम्।

अथ हास्यः-

विकृताकारवाग्वेषचेष्ठादेः कुहकाद्भवेत्।
हास्यो हासस्थायिभावः रवेतः प्रमथदेवतः॥ २१४॥
विकृताकारवाक्चेष्ठं यमालोक्य हसेज्ञनः।
तद्ज्ञालम्बनं पाहुस्तचेष्ठोद्दीपनं मतम् ॥ २१५॥
अनुभावोऽविसंकोचवदनस्मेरताद्यः।
निद्रालस्यावहित्थाचा अत्र स्युव्यभिचारिणः॥ २१६॥
जयेष्ठानां स्मितहसितं मध्यानां विह्सितावहसितं च।
नीचानामपहसितं तथातिहसितं तदेष षड्भेदः॥ २१०॥

भी चमत्कार विशेष आ जाता है, यह तात्पर्य है। पूर्व राग के अनन सम्मोग का उदाहरण जैसे कुमारसम्भव में शिव पार्वती का।

प्रवास के अनन्तर सम्भोग में अपने पिता का उदाहरण देते हैं। इमिन्तार इस पद्य के अवतरण की पंक्ति में जीडा-व्यक्षक अश्लीलत्व है। वा प्रश्नोत्तरों में संस्कृतभाग पित का है और प्राकृतभाग पत्नी का।।। पर्मलाित्ता! (सुन्दर पलकों से युक्त नेत्रवाली) तुम कुशल से हो ! २ फां चम ममाङ्गं दृढम्' यह मेरा दुवल देह दृढ कुशल है। १ तुम इतनी कृश क्यों।। २ 'तब पुनः पुष्टं शरीरं यतः' तुम्हारा देह परिपुष्ट है इसिलये। १ हे प्रिये! में बारे से मोटा हूँ ! २ 'प्रणियनादेहस्य सम्मीलनात्' प्रयस्ती के आलिङ्गन से। १ हे सुष्टु तुम्हारे सिवा मेरी और कोई प्रयस्ती नहीं है। २ 'यदि इदं चेमं कृतः पृच्छाित । यह बात है तो फिर कुशल क्या पूछते हो ? मान के अनन्तर सम्भोग के प्रवाक्त 'एकिसिन् शयने' इत्यादि। इसी प्रकार ईर्ज्यादि के उदाहरण भी जान्ता

विकृतिति—विकृत आकार, वाणी, वेष तथा चेष्टा आदि के नाट्य से हास्मा का आविर्माव होता है। इसका स्थायीमाव 'हास' है। वर्ण शुक्क और अभिन्न देवता प्रमथ (शिवगण) हैं। जिसकी विकृत आकृति वाणी, वेष तथा हैं आदि को देखकर लोग हँसें वह यहां आलम्बन और उसकी चेष्टा आदि उहीं विमाव होते हैं। नयनों का मुकुलित होना और वदनका विकसित होना इस के के अनुमाव होते हैं और निद्रा, आलस्य, अवहित्था आदि इसके सञ्जारी होते।

हास्य के छः मेद बताते हैं—ज्येष्ठानामिति—बड़े आदमियों में 'स्मित के किताते हैं। मध्यम श्रेणी के लोगों में 'विहसित' श्रोर 'श्रवहसित' करते हैं। नीच पुरुषों में 'श्रपहसित' श्रोर 'श्रवहसित' होते हैं, श्रतः हत्तर्म

ईबद्धिकासिनयनं स्मितं स्यातस्पन्दिताधरम्। किचिल्लक्ष्यद्विजं तत्र हसितं कथितं बुधैः॥ २१८॥ मधुरस्वरं विहसितं सांसशिरःकम्पमवहसितम्। ग्रापहसितं सास्राचं विचित्राङ्गं [च] भवत्यतिहसितम्॥२१६॥

यथा—

गुरोगिरः पञ्च दिनान्यधीत्य वेदान्तशास्त्राणि दिनत्रयं च।

श्रमी समात्राय च तर्कवादान् समागताः कुक्कुटमिश्रपादाः॥'

अस्य लटकमेलकपमृतिषु परिपोषो द्रष्टव्यः।

ग्रम च—

यस्य हासः स चेत्कापि साचान्नैव निवध्यते ।

तथाप्येष विभावादिसामध्यदिपत्तभ्यते ॥ २२० ॥

श्रभेदेन विभावादिसाधारण्यात्प्रतीयते ।

सामाजिकस्ततो हास्यरसोऽयमनुभूयते ॥ २२१ ॥

कियाओं के भेद से हास्य भी छह भेदों में विभक्त होता है। जहाँ नेत्रों में कुछ विकास हो और ओछ ज़रा ज़रा फरकें वह 'स्मित' कहाता है। और यदि उक्क कियाओं के साथ दाँत भी कुछ २ दीखने लगें तो उसे 'हसित' कहते हैं। इन सबके साथ प्रधुर शब्द भी हो तो 'विहसित' होता है। और यदि कन्धे, सिर आदि में कपकपी भी हो तो वह अवहसित कहाता है। जिसमें आंंबों में पानी भी आ जाय वह 'अपहसित' और जिसमें इधर उधर हाथ पैर भी परके जाय वह 'अतिहसित' होता है।

रतक्वागीराजी ने लिखा है — इास्यरसस्थायिभावस्य इासस्य भेदानाइ—ज्येष्ठानामिति — आपने 'हिमत' आदि को स्थायीभाव 'हास' का भेद माना है, यह असंगत है, क्यों कि सभी स्थायीभाव वासना ऊप होने के कारण अन्तः करण या आत्मा में रहते हैं। शरीर में नहीं, और 'स्मित' आदि के इन लक्षणों से ही स्पष्ट है कि वे शरीर में रहते हैं, अतः ये इसनिकया के ही भेद हैं, हास (स्थायिभाव) के नहीं।

वदाहरण—ग्रोतिति—पिएडतों की सभा में वस्त्रादिकों का आडम्बर रचकर तिःगङ्क आते हुए किसी मुर्ख को देखकर किसी पिरहासित्रय पुरुष का वचन है। आगे से हट जाओ ! कुक्कुट मिश्रजी आ रहे हैं!! आपने प्रभाकर गुरु की सब विद्यायें ( मीमांसा ) पाँच दिन में ही चूस (पढ़) ली हैं और तीन दिन में सम्पूर्ण वेदान्त शास्त्रकों साफ कर दिया है। एवं आपने न्याय के समग्र तर्क वाद भी सूँघ रक्खे हैं। लटकमेलक आदि में हास्यरस की परिपृष्टि देख लेना। यस्येति—जैसे सीता आदि के विषय में रामादिनिष्ठरित का निरूपण करने को जिल्लामें पात्रोंका काव्यनाटकादिमें निवेशिकयाजाताहै और फिर उन अनुरागी पात्रों के साथ 'साधारण्यामिमान'से सामाजिकों को रसकी प्रतीति होती है, अकार यद्यपि कुक्कुट मिश्र आदि आलम्बन को देखकर हँ सनेवाले हासाअय

एवमन्येष्वपि रसेषु बोद्धव्यम् । अथ करुणः—

इष्टनाशादनिष्ठाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्। धीरैः कपोतवणेंऽयं कथितो यमदैवतः ॥ २२२॥ शोकोऽत्र स्थायिभावः स्याच्छोच्यमाखम्बनं मतम्। तस्य दाहादिकावस्था भवेदुदीपनं पुनः ॥ २२३॥ अनुभावा दैवनिन्दाभूपातकन्दिताद्यः। वैवर्णोच्छासनिःश्वासस्तम्भप्रखणनानि च॥ २२४॥ निर्वेदमोहापस्मारच्याधिग्लानिस्मृतिश्रमाः। विषादजडतोन्मादिचन्ताद्या व्यक्षिचारिणः॥ २२५॥

शोच्यं विनष्टबन्धुप्रभृति । यथा मम राघवविलासे—

'विपिने क जटा निबन्धनं तव चेदं क मनोहरं वपुः। अनयोर्घटना विधेः स्फुटं ननु खङ्गेन शिरीषकर्तनम्॥'

अत्र हि रामवनवासजनितशोकार्तस्य दशरथस्य दैवनिन्दा । एवं बन्धुिक्कि विभवनाशादावप्युदाहार्यम् । परिपोषस्तु महाभारते स्त्रीपर्वशि द्रष्टव्यः।

(रामादिवत्) किसी नायक का सालात् निबन्धन किसी काव्य श्रादि में। होता, केवल द्वास्य के श्रालम्बन श्रीर उद्दीपनादि ही उपन्यस्त किये जाते। तथापि विभावादि के सामध्ये से नायक श्रर्थापत्तिद्वारा उपलब्ध होता है। किर उसके साथ विभावादिकों के साधारएयाभिमान से सामाजिक है। हास्यरस का श्रनुभव करते हैं। श्रालम्बन उद्दीपन विभाव विना श्राभा नहीं बन सकते, श्रतः वे श्रपने सम्बन्धी नायक को श्रर्थापत्ति प्रमाण है। उपस्थापित करते हैं।

करण—इष्टनाशादिति—इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से करण्य भी भूत होता है। यह कपोतवर्ण होता है। इसके देवता यमराज हैं। हिं स्थायीमाव शोक होता है और विनष्ट बन्धु आदि शोचनीय व्यक्ति शाहित विमाव होते हैं एवम् उसका दाहकर्म आदिक उद्दीपन होता है। प्राप्ति निन्दा, भूषिपतन, रोदन, विवर्णता, उच्छास, निःश्वास, स्तम्म श्रीरम् इस रस में अनुमाव होते हैं। एवं निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, म्हाति, स्थि अम, विषाद, जडता, उन्माद और चिन्ता आदि इसके व्यमिचारी हैं।

उदाहरण—विषिने इति—कहाँ जङ्गल में जाके जटाओं का बाँधना, श्रीर तुम्हारा यह सुकुमार मनोहर देह ! विधि का इन दोनों को जोड़ना वैश्री जैसा तलवार से सिरस के कोमल फूल का काटना । अत्र हीति—इस पर्व में विनास के शोक से व्याकुल राजा दशरथ की की हुई दैवनिन्दा है। इसी प्रव विकास के शोक से व्याकुल राजा दशरथ की की हुई दैवनिन्दा है। इसी प्रव विकास के शोक से व्याकुल राजा दशरथ की की हुई दैवनिन्दा है। इसी प्रव

अस्य करण्यिपलम्भाद्रेदमाह— शोकस्थायितया भिन्नो विप्रलम्भाद्यं रसः। विप्रलम्भे रतिः स्थायी पुनः संभोगहेतुकः॥ २२६॥

श्रा रोद्रः निवासियायिभावो रक्तो रुद्राधिदैवतः।
रोद्रः क्रोधस्थायिभावो रक्तो रुद्राधिदैवतः।
श्रावस्थनमरिस्तत्र तचेष्ठोद्दीपनं मतम्॥ २२०॥
मुष्टिप्रहारपातनिकृतच्छेद्वावद्वारपौरचैव।
स्थामसंभ्रमाचैरस्योद्दीप्तिभवेत्पौढा॥ २२८॥
भूविभङ्गोष्ठनिद्श्यबाहुस्फोटनतर्जनाः।
श्रातमावद्वानकथनमायुधोत्चेपणानि च॥ २२६॥
उग्रतावेगरोमाश्चस्वद्वेपथवो मदः।
श्रात्मावास्तथाच्चेपकृरसंद्शीनाद्यः॥ २३०॥
मोहामषीद्यस्तत्र भावाः स्युव्धिभिचारिणः।

यथा-

'कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरु पातकं मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुष्टैः । नरकरिपुणा सार्धं तेषां सभीमिकरीटिना-मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम्॥'

अस्य युद्धवीराद्भेदमाह—

रकास्यनेत्रता चात्र भेदिनी युद्धवीरतः॥ २३१॥

के स्त्रीपर्व में देखनी। शोकस्थार्याति—शोक के स्थार्या होने के कारण यह रस, करणविप्रतम्म से भिन्न है। उसमें किर समागम की आशा बनी रहने के कारण

रित स्थायी होती हैं।
रेदिरस का वर्णन—रेद्र इति—रेद्रिरस में क्रोध स्थायीमाव होता है। इसका वर्ण लाल और देवता कद हैं। इसमें 'आलम्बन' शत्रु होता है और उसकी चेष्टायें 'उद्दीपन' होती हैं। मुक्का मारने, गिराने, बुरी तरह काटने, फाड़ देने, युद्ध करने के लिये बेताव होने आदि के वर्णन से रोद्ररस की खूब प्रदीप्ति होती है। भुक्किटिमक्क, ऑड चबाना, ताल ठोंकना, डाँटना, अपने पिछले कामों (वीरता) की बड़ाई करना, शख्य धुमाना, उप्रता, आवेग, रोमाञ्च, स्वेद, वेपशु और मद्ये इस रस के अनुमाव होते हैं। आक्षेप करना, क्रूरता से देखना, मोह और अमर्ष आदि इसके व्यभिचारी होते हैं। उदाहरण—क्तमिति—द्रोणाचार्य का वध्य धनकर कुद्ध अश्वत्थामा की उक्ति है—तुम्हारे जैसे जिन शख्यारी निर्मर्याद नरपशुओं ने यह महापातक (द्रोणचध) किया है अथवा इसमें अनुमित दी है यहा इसे देखा है उन सबके तथा श्रीकृष्ण, भीम, और अर्जुन के रुधिर, चर्बी और मांस से में आज दिशाओं की बिल देता हूँ। रक्तासिति—नेत्र और मुख का क्रीध के मारे लाल हो जाना इसी रस में होता है, वीररस में नहीं, क्योंकि वहाँ उत्साह ही स्थायी होता है। यही इन दोनों रसों का परस्पर भेद है।

अथ वीर:-

उत्तमप्रकृतिवीर उत्साहस्थायि भावकः। महेन्द्रदेवतो हेमवणीं प्रमुद्हितः॥ २३२॥ त्रातम्बनविभावास्तु विजेतव्याद्यो सताः। विजेतव्यादिचेष्टाचास्तस्योद्दीपनरूपिणः **अनुभावास्तु तन्न स्युः सहायान्वेषणाद्यः ॥ १३३॥** संचारिणस्तु धृतिमातिगर्वस्यृतितर्करोमाश्राः। स च दानधमेयुद्धैर्यया च समन्वितरचतुर्धा स्यात्॥ २३४। स च वीरो दानवीरो, धर्मवीरो, युद्धवीरो, दयावीरश्चेति चतुर्विधा।

'त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिन्यीजदानावधिः' इति ।

अत्र परशुरामस्य त्यागे उत्साहः स्थायिभावः संप्रदानभूतब्राह्मगौरालक विभावै: सरवाध्यवसायादिभिश्चोद्दीपनविभावैविभावितः सर्वस्वत्यागादिभित्तु रनुमावितो हर्षधृत्यादिभिः संचारिभिः पुष्टि नीतो दानवीरतां भजते।

धर्मवीरो यथा युधिष्ठिरः—

दानवीरो यथा परशुरामः

'राज्यं च वसु देहरच भार्या भातृसुतारच ये। यच लोके ममायतं तद्धर्माय सदोधतम्॥

वीररस का वर्णन-उत्तेति-उत्तम पात्र (रामादि ) में त्राश्रित वीत होता है। इसका स्थायीभाव उत्साह, देवता महेन्द्र और रँग सुवा सदश होता है। इसमें जीतने योग्य—रावणादि—न्नालम्बनविभाव होते श्रीर उनकी चेष्टा श्रादि उद्दीपनिविभाव होते हैं। युद्ध के सहायक (ध आदि यद्वा सैन्य आदि ) का अन्वेषणादि इसका अनुभाव है। धेर्यं मी गर्व, स्मृति, तर्क, रोमाञ्चादि इसके संचारीभाव हैं। दान, धर्म, द्या युद्ध के कारण यह (वीर) चार प्रकार का होता है। १ दानवीर, १६ वीर, ३ दयावीर श्रौर ४ युद्धवीर । उनमें से दानवीर जैसे परश्रंराम इति—सातौ समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का निष्कारण—विना किसी दृष्ट्रपत की प के—दान कर देना जिन परशुराम के 'त्याग' (दान) की सीमा है। अत्रीति त्याग में परश्रुराम का उत्साह, स्थायीभाव है। वह (स्थायी) दानपात्र वर्ष कप श्रातम्बनविभाव से तथा उनकी सत्त्रगुणपरायणता श्रादि उद्दीपनि से विभावित होकर और सर्वस्वपरित्यांग आदि अनुभावों से अर्डमार्ट होकर एवम् हर्षं वैर्यं श्रादि संवारीभावों से परिपोषित होकर दावित्र के स्वरूप में परिणत होता है। विभावन ग्रादि व्यापार का खर्वण पहिला चुके हैं। धर्मवीर जैसे युधिष्ठिर--राज्यं चेति-युधिष्ठिर की उक्ति है धन, शरीर, स्त्री, माई, पुत्र आदि जो कुछ भी मेरे अधीन हैं, वह स के लिये सदा उपस्थित हैं।

युद्धवीरो यथा श्रीरामचन्दः—

भी लङ्करेवर, दीयतां जनकजा, रामः स्वयं याचते,

कोऽयं ते मतिविश्रमः, स्मर नयं, नाद्यापि किचिद्गतम् ।

नैवं चेत्खरदूषगात्रिशिरसां कर्णठासृजा पङ्कितः

पत्री नैष सिहिष्यते मम धनुज्यीबन्धवन्धूकृतः ॥'

युद्धवीर जैसे श्रीरामचनद्रजी-मो लङ्केश्वर इति -श्रीरामचनद्रजी का श्रङ्गद के द्वारा रावण के पास भेजा हुआ सन्देश है। हे लङ्केश्वर! जनकनिन्दनी सीता को दे दो। देखो, रामचन्द्र स्वयं याचना कर रहे हैं!यह क्या तुम्हारी बुद्धि पर व्यामोह छाया हुआ है !! ज़रा नीति का स्मरण करो। अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। और यदि सीता नहीं दी, तो याद रक्खो, खर दूषण और त्रिशिरा के कएठकियर से आई यह बाण यदि मेरे धनुव की प्रत्यश्चा पर चढ़ गया तो फिर यह नहीं सहन करेगा। यहां 'लक्केश्वर' संबोधन से लक्का का ऐश्वर्ध और उसमें फैले हुए रावण के कुटुम्ब की याद दिलाई है। तालपे यह है कि यदि कुशल चाहते हो तो सीता दे दो, अन्यथा इन सवका धुआँ उड़ जायगा। सीता को 'बनकजा' कहने का तात्पर्य यह है कि तुम तो तमोगुणप्रधान राज्ञसनगरी के राजा महातामस राज्ञसराज हो, श्रीर सीता परम सात्विक ऋषिकरप वेदान्तिनिष्ठ जनकजी की पुत्री है। श्रातः तुम्हारा इसका जोड़ एकदम श्रनमिल है। खून और शराब के साथ गङ्गाजल का क्या मेल ? सिंह के साथ सृगी का क्या संग ? त्रातः तुम स्रीता दे दो। 'राप्त' पद यहाँ त्रर्थान्तर संक्रमितवाच्य है। 'स्वयम्' पद उसका सहायक है। जिसने अकेले ही चौदह हज़ार वीरों के पार्चे उड़ा दिये, एक ही वाण से जिसने खर, दूषण, त्रिशिरा, बालि आदि का विष्वंस कर दिया वही अलौकिक वीर, रघुकुलनन्दन 'राम' तुम्हारे दरवाज़े पर याचना करने आया है। फिर तुमने 'लङ्केश्वर' होकर भी यदि उसकी याचना पूरी न की तो तुम्हारा यश कलङ्कित हो जायगा, श्रतः सीता देदो। इस चरण में रामचन्द्र याचकों की कोटि में रावण के आगे खड़े दीवते हैं। परन्तु उनकी उक्तिसे विनयच्छन्न गर्व बड़ा सुन्दर मलकता है— बी धीरोदात्तत्व का पोषक है। अगले वाक्य में शिला दी है, अतः वेरावण के पित्रमण्डल में प्रतीत होते हैं। 'स्मर नयम्' इत्यादि से फटकार और 'नाचेत्यादि' से डाट बताई है। इससे वे उसके सिर पर गरजते हुए उससे भी ऊँचे प्रतीत होते हैं। यहाँ किन ने अत्यन्त की शल से काम लिया है। पूर्वार्ध में रावण को डिएटने के बाद उत्तरार्ध में नैवंचेत् के आगे यदि रामचन्द्र अपनी वीरता का व्यान न करें तो अर्थ ही पूरा नहीं होता और अपनी प्रशंसा का अतर मुँह से निकलते ही उनका धीरोदात्तनायकत्व कलङ्कित हुआ जाता है। इस कठिन अवसर को किन ने बड़ी चतुरता से निबाहा है। 'पत्री नैव सहिन्यते' कहकर अपनी करालता का पूरा परिचय दिया है। बाण जड़ है और रामचन्द्रजी के ही अधीन है अतः बाण की प्रशंसा भी उन्हीं की प्रशंसा है—इसतिये वाक्यार्थ परिपूर्ण होगया और उन्हाने अपने बाण की वीरता का वर्णन किया, अपना नहीं, अतः द्यावीरो यथा जीमूतवाहनः—
'शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।
तृप्तिं न पश्यामि तवापि तावित्कि भद्याणात्त्रं विरतो गरुत्मन् ॥'
एष्वपि विभावादयः पूर्वोदाहरणवदूद्याः ।
ग्रथ भयानकः—

भयानको अयस्थायिभावः कालाधिदैवतः।
स्त्रीनीचप्रकृतिः कृष्णो सतस्तत्त्वविशारदैः॥ २३४॥
यस्मादुत्पचते भीतिस्तद्त्रालस्वनं सतम्।
चेष्टा घोरतरास्तस्य भवेदुद्दीपनं पुनः॥ २३६॥
श्रनुभावोऽत्र वैवर्ण्यगद्गद्दस्वरभाषणम्।
प्रवयस्वेदरोमश्रिकम्पदिकप्रेच्णाद्यः॥ २३७॥
जुगुप्सावेगसंमोहसंत्रासग्लानिदीनताः।
शङ्कापस्मारसंम्रान्तिसृत्य्वाचा व्यभिचारिणः॥ २३६॥

यथा-'नष्टं वर्षवरै:-' इत्यादि ।

घीरोदात्तत्व भी अक्षुएण बना रहा। इसमें 'पिक्कल' शब्द से यह तात्यं। यह मत समभना कि अब वाण शिक्कि हो गया है। अभी इसमें लगा। खर, दूषणादि के गले का लोहू स्वाने भी नहीं पाया है। और यह के (उड़नेवाला) है किए 'मम धतुः ' मेरे धतुष की प्रत्यश्चा पर चढ़कर ए क्या स्वरूप होगा सो भी समभ लो। इसलिये कुशल इसी में है कि है दो। इत्यादि अनेक भाव बुद्धिमान् पाठक स्वयं विचार लें।

दयावीर जैसे जीमृतवाहन—सर्पों की वध्यशिला पर द्यावश शंबर् बदले बैठे हुए जीमृतवाहन को एकान्त में ले जाके बहुत कुछ अक्ष्मी कर खा लेने पर भी उनके अविकृत सौन्दर्य, आनन्दिनमन्न मन और म वदन को देखकर चिकत हुए गरुड़जी एक ओर हटकर विस्मयभरी ही इनकी और देखने लगे। तब उन्होंने यह पद्य (नागानन्दनाटक में) कहा शिरापृखेरिति—मेरी नाडियों के मुख से अब भी रुधिर वह रहा है। और देह में मांस भी शेष है। मैं देखता हूँ कि तुम अभी तृप्त भी नहीं हुए। फिर हे गरुड़, तुमने मुक्ते खाना क्यों बन्द कर दिया? इन उदाहर्यों। विभावादि की पूर्ववत् ऊहा कर लेना।

मयानक इति—भयानकरस का स्थायीभाव मय है। देवता काल, वर्ण श्रोर इसके आश्रयपात्र स्त्री तथा नीचपुरुष आदि होते हैं। जिस्ते उत्पन्न हो वह (सिहादि) इसमें 'आलम्बन' और उसकी चेष्टायें 'उत्ति सानी जाती हैं। विवर्णता, गद्गद भाषण, प्रलय (मूर्ज्जा), स्वेदः त्राक्ष कम्प और इधर उधर ताकना आदि इसके अनुभाव होते हैं। उपार्थ, मोह, जास, ग्लानि, दीनता, शङ्का, अपस्मार, सम्भ्रम तथा श्रुष्ठ इसके व्यमिचारीमाव होते हैं। उदाहरण—पूर्वोक्त 'नष्टं वर्षचरें: इत्यारि

अय वीमत्सः— जुगुप्सास्थायिभावस्तु बीमत्सः कथ्यते रसः। नीतवर्णो महाकालदेवतोऽपमुदाहृतः॥ २३६॥ दुर्गन्धमांस्किष्ठिरमेदांस्यालम्बनं मतम्। तत्रैव कृमिपाताचमुदीपनमुदाहृतम्॥ २४०॥ निष्ठीवनास्यवलननेत्रसंकोचनाद्यः। अनुभावास्तत्र मतास्तथा स्युव्यमिचारिणः॥ २४१॥ मोहोऽपस्मार आवेगो व्याधिश्च मरणाद्यः।

यथा——

'उत्कृत्योत्कृत्य कृति पथममथ पृथूच्छ्रोथस्यांसि मांसा
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिएडाद्यवयवसुलमान्युप्रपूतीनि जग्ष्वा ।

ग्रार्तः पर्यस्तनेत्रः पकटितदशनः प्रेतरङ्काः करङ्का
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमि क्रन्यमन्यप्रमत्ति ॥'

श्रयाद्भुतः— श्रम्भुतो विस्मयस्थायिमावो गन्धवेदैवतः ॥ २४२ ॥ पीतवेर्णो, वस्तु लोकातिगमालम्बनं मतम् । गुणानां तस्य महिमा भवेदुदीपनं पुनः ॥ २४३ ॥ स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाश्चगद्गदस्वरसंभ्रमाः। तथा नेत्रविकासाचा श्रमुभावाः प्रकीर्तिताः॥ २४४ ॥

अथ बीमत्स — जुण्सेति — वीमत्सरस का स्थायीमाव जुगुष्सा, वर्ण नील और देवता महाकाल हैं। दुर्गन्धयुक्त मांस, रुधिर, चर्बी आदि इसके आलम्बन होते हैं। और उन्हीं में की ड़े पड़ जाना आदि उद्दीपन होता है। थूकना, गुँह फेर लेना, आँख मीचना आदि इसके अनुभाव होते हैं; एवं मोह, आप-स्मार, आवेग, व्याधि और मरण आदि इसके व्यभिचारीमान होते हैं।

उदाहरण—उत्करोति—यह द्रिद्र प्रेत अपने अङ्क (गोद) में रक्ले हुए इस मुदें के देह (करङ्क) की चमड़ी उधेड़ २ कर पहले तो कन्धे, चूतड़, पीठ, पिडली आदि अवयतों के मोटे २ सूजे हुए, अतएव सुलम, दुर्गन्धयुक्त सहें मांस को खा चुका और उसके खाने पर भी भूख से आर्त (व्याकुल) आँखें पाड़े (मांस दूँदने के लिये) दाँत निकाले, (हड्डियों में से मांस खींचने के लिये) अब हड्डियों में चिपके और जोड़ों में घुसे (स्थपुटगत) मांस को मी विना किसी व्ययता के बड़े चाव से चवा रहा है। यहाँ शव तथा प्रेत आलम्बन है। दुर्गन्ध आदि उद्दीपन हैं। माधव (भालती माधव' के नायक) की ज्युप्ता स्थायीमाव है और उसकी इस उक्ति से अनुमित ग्लानि आदि सञ्चारीमाव है। इन सबसे इस पद्य में बीभत्सरस पुष्ट होता है।

श्रुत हति श्रव्या स्था क्षेत्र प्रधान वानित्तर प्रधान क्षेत्र वर्ण पीत है। श्रेति श्रित क्षेत्र का स्थायीमाव विस्मय, देवता गन्धव और वर्ण पीत है। श्रेति के वस्तु इसका 'श्रालम्बन' श्रीर उसके गुणों का वर्णन 'उद्दीपन' होता है। स्तम्म, स्वेद, रोमाञ्च, गद्गद्स्वर, सम्भ्रम और नेत्रविकास श्रादि इसके

## वितकीवेगसंभ्रान्तिहर्षाद्या व्यभिचारिणः।

यथा— 'दोर्द्गडाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दग्डात्रभङ्गोद्यत-धृंकारध्विनरार्यवालचरितप्रस्तावनाडिग्डिमः । द्राक्पर्यस्तकपालसंपुटिमलद्ब्रह्माग्डभाग्डोद्र-भ्राम्यित्पिण्डतचिण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यिति'॥

अथ शान्तः-

शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्भतः ॥ २४५ ॥ कुन्देन्दुसुन्द्रच्छायः श्रीनारायणदैवतः । अनित्यत्वादिनाऽशेषवस्तुनिःसारता तु या॥ २४६ ॥ परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बनिध्यते । परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बनिध्यते । पर्याश्रमहरिचेत्रतिर्थरम्यवनाद्यः ॥ २४७ ॥ महापुरुवसङ्गाद्यास्तस्योदीपनरूपिणः । रोमाञ्चाद्यास्वानुभावास्तथा स्युव्येभिचारिणः ॥ २४८ ॥ निवेदहर्षस्मरणमतिभूतद्याद्यः ।

अनुमाव होते हैं। वितर्क, आवेग, भ्रान्ति हर्ष आदि इसके व्यभिचारी होते हैं। उदाहरण—दोर्दग्डेति - जनकपुर में श्रीरामचन्द्रजी के धनुष तोड़ देने ॥ बहुत देर पीछे तक उस घनुभंक्ष के शब्द की गूंज को प्रतिध्वनित होते हु देखकर विस्मित हुए लक्ष्मण की उक्ति है—ग्रर्थ—भुजद्गड से उठाये गृह के धनुष के मंग होने से उत्पन्न हुई टंकारध्विन, जो आर्थ (श्रीरामचन्द्रजी) के बालचरित आरम्भ होने का डििएडम ( ढँढोरा ) स्वक्रप है, जिसके काल ब्रह्माएडकप पात्र के कपालसम्पुट=दोनों भाग, पहले भट से (द्राक्) प्रका होकर अव आपस में मिल रहे हैं और जिसकी पिएडीभूत प्रचएडता (ब्रह्माए सम्पुट के मिल जाने से अधिक अवसर न पाने के कारण) ब्रह्माग्ड के उर्ग में घूम रही है, वह घोर टंकारध्वनि अब भी नहीं थमती। इस पद्य में लक्ष्मण्ड विस्मय स्थायीमाव है। टंकारध्वित त्रालम्बन है। उसकी त्रिति प्राति उद्दीपन हैं। इस प्रकार महिमा का वर्णन श्रनुभाव है श्रीर इस वर्णन से श्रनी हर्ष आदि व्यभिचारी हैं। इन सबके द्वारा श्रद्भुतरस प्रकट होता है। ्शान्त इति—शान्तरसका स्थायीभाव शम, आश्रय उत्तमपात्र, वर्ष कृत्वा तथा चन्द्रमा आदि के समान सुन्द्र शुक्क और देवता भगवान सहमीतार्थ हैं। श्रनित्यत्व, दुःखमयत्व श्रादि ह्रप से सम्पूर्ण संसार की श्रसारता द्वान अथवा परमात्मा का स्वरूप इस रस में 'त्रालम्बन' होता है और आदिकों के पवित्र त्राक्षम, हरिद्वार त्रादि पवित्र तीर्थ, रमगीय प्रकारित तथा महात्माओं का संग आदि 'उद्दीपनिवसाव' होते हैं। रोमाश्च आदि स अनुमाव होते हैं। निर्वेद, हर्ष, स्मरण, मित, प्राणियों पर द्या प्राहि ही सञ्चारीमाव होते हैं।

वथाग्रथान्तरचरतस्तथा धृतजरत्कन्थालवस्याध्वगैः
सत्रासं च सकौतुकं च सदयं दृष्टस्य तैर्नागरैः ।
निर्वाजीकृतचित्सुधारसमुदा निद्रायमाणस्य मे
निःशङ्कः करटः कदा करपुटीभिक्तां विलुणिठष्यति ॥'
पृष्टिस्तु महाभारतादौ दृष्टव्या ।

निरहंकाररूपत्वादयावीरादिरेष नो ॥ २४६ ॥

द्यावीरादौ हि नागानन्दादौ जीमूतवाहनादेरन्तरा मलयवत्याद्यनुरागादेरन्ते च विद्या-धरचक्रवर्तित्वाद्याप्तदेर्शनादहंकारोपशमो न दृश्यते।शान्तस्तु सर्वाकारेगाहंकारपशमै-करूपत्वात्र तत्रान्तर्भावमर्हति। त्र्यतश्च नागानन्दादेः शान्तरसप्रधानत्वमपास्तम्। ननु

'न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा ।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः ॥'
इत्येवंरूपस्य शान्तस्य मोच्चावस्थायामेवात्मस्वरूपापत्तिलच्चणायां पादुर्भावात्तत्र
संचार्यादीनामभावात्कथं रसत्विमित्युच्यते—

उदाहरण—स्थान्तिरिति—हे भगवन्, वह कौन सा दिन होगा जब फटी
गुदड़ी का टुकड़ा लपेटे, गली में घूमते हुए तथा किसी नगरनिवासी से भयपूर्वक, किसी से कौत्हलपूर्वक श्रीर किसी से दयापूर्वक देखा गयामें, वास्तविक श्रात्मज्ञान के श्रमन्द श्रमृतरसमय श्रानन्द से निद्रायमाण (समाधिमग्न) होऊँगा श्रीर निःशङ्क कौश्रा मेरे हाथ पर रक्खी भिन्ना को विश्वासपूर्वक खायेगा। इस रस की पुष्टि महाभारत श्रादि में देखना। इस पद्य में यदि
निःशङ्कर पाठ हो तो इसकी रचना रसानुगुण हो जाय। शकार श्रीर ककार के
पूर्व श्राये श्रनेक विसगों से श्रुतिकटुत्व श्रा गयाहै, जो शान्तरस के प्रतिकृत है।

निरहन्नरिति—इसे द्याचीर नहीं कह सकते, क्योंकि वीरता में देह आदि का अभिमान अवश्य रहता है और शान्त में अहङ्कार का गन्ध भी नहीं होता, अतः किसी भी वीर में शान्त का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। दयावीरादी हिति—वागानन्दनाटक में द्यावीर जीमृतवाहन के हृद्य में उस समय भी मलयवती का प्रेम विद्यमान रहता है और अन्त में विद्याधरों के साम्राज्य की प्राप्ति देखी जाती है, अतः उनका देहाभिमान शान्त नहीं कहा जा सकता। शान्त नहीं होता है जिसका देहाद्यभिमान एकदम निमल हो चुका हो, अतः शान्तरस का वीररस में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। इसिलये नागानन्दादि को शान्तरस्त का वीररस में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। इसिलये नागानन्दादि को शान्तरस्त का वीररस में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। इसिलये नागानन्दादि को शान्तर

परन नं यतेति — "जिसमें न दुःख हो, न सुख हो, न कोई चिन्ताहो, न राग, वेष हों और न कोई इच्छा ही शेष हो, उसे मुनिजन शान्तरस कहते हैं" इसके अनुसार तो परमात्मस्वक्षण मुक्तिदशा में ही यथार्थ शान्तरस हो सकता है। परन्तु उस समय तुम्हारे इन सञ्चारी श्रादिकों का होना सम्भव नहीं। फिर तुम का व्यादि में विभाव, श्रमुंभाव, सञ्चारी श्रादिके द्वारा शान्तरस की निष्पत्ति

युक्तवियुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः। रसतामेति तदस्मिनसंचार्यादेः स्थितिरच न विरुद्धा ॥२१॥

यरचारिमन्सुखाभावोऽप्युक्तस्तस्य वैषयिकसुखपरत्वान्न विरोधः।

उक्तं हि-

'यच कामसुखं लोके यच दिव्यं महत्सुखम्। तृष्णाचयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥' 'सर्वाकारमहंकाररहितत्वं व्रजन्ति चेत्। अत्रान्तर्भावमहीित दयावीरादयस्तथा ॥

अविशब्दाद्धर्मवीरदानवीरदेवताविषयरतिमभृतयः । तत्र देवताविषया रतिर्यथा-

'कदा वाराणस्यामिह सुरधुनीरोधसि वसन् वसानः कौपीनं शिरसि निद्धानोऽञ्जलिपुटम्। अये गौरीनाथ, त्रिपुरहर, शंभो, त्रिनयन,

कैसे मानते हो ? (उत्तर) युक्तेति — युक्त, वियुक्त स्रीर युक्त-वियुक्त दशामैक स्थित 'शम' स्थायी ही शान्तरस के स्वरूप में परिगत होता है। मोइस का 'शम' नहीं, श्रतः उक्त शम में सञ्चारी श्रादि भावों की स्थिति विरुद्ध है। रूपादि विषयों से मन को हटा के किसी ध्यान में एकाग्र हुए योगी युक्त कहते हैं। जिसे त्रिणिमादि सिद्धियां योगबल से प्राप्त हैं श्रीर समा मावना करते ही सब जिज्ञासित वस्तुत्रों का ज्ञान जिसके अन्तः करण में मालि होने लगता है उसे वियुक्त कहते हैं। श्रीर जिसको यहांतक सिद्धि प्राप्त है। उसके चतुरादि बाह्य इन्द्रियगण, महत्त्व एवं उद्भूतरूप आदि प्रत्यत म के कारणों की अपेदान करके सब अतीन्द्रिय विषयों का सादातकार है सकते हैं, वह योगी 'युक्त-वियुक्त' कहाता है।

यर्वेति—शान्तदशा में सुख का अभाव जो कहा है उसका यह तात्पर्यही उस समय विषयजन्य सुख नहीं होता। यह बात नहीं है कि उस समय कि प्रकार का सुख होता ही नहीं। यही कहा है—यचेति—संसार में जो कार्य विषयजन्य सुख हैं और जो स्वर्गीय महासुख हैं वे सब मिलकर भी तृत्ती (शान्ति) से उत्पन्न सुख के सोलह र्श्नाश के बराबर नहीं हो सकते। यह स्पष्ट है कि श्रमावस्था में सुख अवश्य होता है। सर्वेति — द्यावीर भारि सब प्रकारके श्रहक्कार से शुन्य होजायँ तो इस शान्तरस में श्रन्तभूत होसकी यहाँ 'श्रादि' पद से धर्मवीर, दानवीर, देवताविषयक रति श्रादिका गरि

देवताविषयक रति का उदाहरण जैसे—कदेत्यादि—हे भगवन, विवि त्रायेंगे जब मैं काशी में गङ्गाके किनारे निवास करता हुआ, कीर्पान पहिले जोड़कर श्रक्षति सिर से लगाये हुए 'हे गौरीनाथ, हे त्रिपुरान्तक, है

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रसीदेति क्रोशनिमिषमिव नेष्यामि दिवसान् ॥' अय मुनीन्द्रसंमतो वत्सलः---

स्फुरं चमत्कारितया वत्सतं च रसं विदुः ।
स्थायी वत्सत्ताहने हः पुत्राचात्तम्यनं मतम् ॥ २५१ ॥
उद्दीपनानि तचेष्टा विचाशौर्यदयाद्यः ।
ब्रातिङ्गनाङ्गसंस्पर्शशिरम्चुम्बनमी त्रणम् ॥ २५२ ॥
पुत्रकानन्द्वाष्पाचा अनुभावाः प्रकीर्तिताः ।
संचारिणोऽनिष्टशङ्काहर्षगर्वादयो मताः ॥ २५३ ॥
पद्मगर्भेच्छविवेणो दैवतं लोकमातरः ।

यथा--

'यदाह धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयाम्बलम्ब्य चांगुलिम् । अमूच नम्रः प्रशिपातशिच्या पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥' एतेषां च रसानां परस्परविरोधमाह—

श्राचः करुण्बी अत्सरीद्रवीर भयानकैः ॥ २५४ ॥ भयानकेन करुणेनापि हास्यो विरोधभाक् । करुणो हास्यश्रङ्काररसाभ्यामपि ताद्दशः ॥ २५५ ॥ रौद्रस्तु हास्यश्रङ्कारभयानकरसेरपि । भयानकेन शान्तेन तथा वीररसः स्मृतः ॥ २५६ ॥

है त्रिनेत्र, हे भगवन् ! प्रसन्न होइये', इस प्रकार कहता हुआ अनेक दिनों को एक चण की तरह सुखमग्न होकर बिताऊंगा।

वात्सल्य रस —स्फुटमिति — प्रकट चमत्कारक होने के कारण कोई २ वत्सलरस मी मानते हैं। इसमें वात्सल्य स्नेह स्थायी होता है। पुत्रादि इसका आलम्बन और उसकी चेष्टा तथा विद्या, शूरता, द्या आदि उद्दीपन विभाव होते हैं। आलिक्षन, अक्षरपर्श, सिर चूमना, देखना, रोमाञ्च, आनन्दाश्च आदि इसके अजुमाव होते हैं। अनिष्ट की आशक्ष्मा, हर्ष, गर्च आदि सञ्चारी होते हैं। इसका वर्ण कमलगर्भके समान और ब्राह्मी आदिक मातायें इसकी अधिष्ठात्री देवियां हैं। उदाहरण—उनाचेति—वह बालक रघु, धाइके कहें हुए वचनों को तुरन्त कह देता, या। उसकी उँगली पकड़कर चलता था। और प्रणाम करनेको कहते ही नम्न हो जाताथा। इससे पिता (महाराज दिलीप) के आनन्द को परिवर्धित करताथा। इन रसों का परस्पर विरोध बताते हैं। आब इति—श्रृङ्गारस करुण, बीमत्स, रोज, वीर और मयानक रसों के साथ विरुद्ध होता है। हास्यरस, मयानक और करुण के साथ विरोध रखता है। हास्य और श्रुङ्गार के साथ करुण,हास्य श्रुङ्गार और मयानक के साथ दीरस, मयानक और अरुण के साथ विरोध रखता है। हास्य और श्रान्त के साथ वीररस,

शृङ्गारवीररौद्राख्यहास्यशान्ते भैयानकः। शान्तस्तु वीरशृङ्गाररौद्रहास्य भयानकैः॥ २५७॥ शृङ्गारेण तु बीभत्स इत्याख्याता विरोधिता। आवः शृङ्गारः। एषां च समावेशमकारा वच्यन्ते।

कुतोऽपि कारणात्कापि स्थिरतासुपयञ्चपि ॥ २४८॥ उन्मादादिन तु स्थायी न पात्रे स्थैयमिति यत्। यथा विक्रमोर्वस्यां चतुर्थेऽङ्के पुरूरवस उन्मादः ।

रसमावी तदाभासी भावस्य प्रशमोद्यौ ॥ २५६॥ सन्धः शबतता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः।

रसनधर्मयोगित्वाङ्कावादिष्वपि रसत्वमुपचारादित्यभिष्रायः। भावादय उच्यन्ते—

सश्चारिषः प्रधानानि देवादि विषया रतिः ॥ २६०॥ उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यक्षिष्ठीयते ।

'न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः । परस्परकृता सिद्धिरनयो रसभावयोः ॥'

इत्युक्तदिशा परमां लोचनया परमविश्रान्तिस्थाने न रसेन सहैव वर्तमाना आपराज्

श्रुक्तार, वीर, रौद्र, हस्य ग्रौर शान्त के साथ अयानकरस, वीर, श्रुक्ता, पे हास्य, भयानक के साथ शान्तरस श्रौर श्रुक्कार के साथ बीमत्सरस विरोध ए है। इन विरोधी रसों के साथ २ रहने का भी प्रकार ग्रागे कहेंगे। को प्राप्त के साथ २ रहने का भी प्रकार ग्रागे कहेंगे। को प्राप्त हों। किसी कारण से किसी पात्र विशेष में कुछ देर के लिये स्थिरता को प्राप्त हों। भी उन्माद ग्रादि सञ्चारीभाव स्थायी नहीं कहे जाते, क्यों कि वे किसी पा ग्राप्त हों। के स्थार नहीं हुग्रा करते। जैसे विक्रमोर्वशी के सौथे श्रुक्क में उन्माद खादन है। पर पुक्र द्या का उन्माद बहुत दूर तक स्थिर रहा है। पर ग्राह्म प्रमुक्त प्रकार में पुक्र द्या उन्मादी नहीं दिखाये हैं, ग्रातः वहाँ उन्माद को स्थान समझना।

रस, भाव, रसामास, भावामास, भावप्रश्म, भावोद्य, भावसिव मावश्वता ये सब ग्रास्वादित होने के कारण रस कहाते हैं। भाविति भी ग्रास्वादन कर रसनधर्म का सम्बन्ध होने के कारण 'रस' पद की से प्रयोग होता है, यह तात्पर्य है।

भावादिकों का स्वक्षंप बताते हैं। सबारिण इति—प्रधानता से प्रतीयमान दादि सञ्चारी तथा देवता गुरु श्रादि के विषय में श्रनुराग एवं साम श्रमाव से रसक्ष को श्रमास उद्बुद्धमात्र रित हास श्रादिक स्थायी विभाव के विना रस नहीं श्रीर रस के विना से नहीं श्रीर रस के विना से नहीं श्रीर रस के विना मी नहीं होते। इन रस श्रीर भावों की सिद्धि एक दूसरे पर निर्भर हैं विश्वा कथन के श्रनुसार यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो भावों की स्थिति विश्वान्तिया प्रधानरस के साथ ही प्रतीत होगी, तथाए जैसे मन्त्री मी

गतिवाहप्रवृत्तमृत्यवद्गपाततो यत्र प्राधान्येनाभिन्यका न्यभिचारिगो, देवमुनिगुरुनृपादिविषया च रतिरुद्बुद्धमात्रा, विभावादिभिरपरिपुष्टतया रसरूपतामनापद्यमानारच स्थायिनो भावा भावशब्दवाच्याः । तत्र न्यभिचारी यथा—'एवंवादिनि
देवषौं—' इत्यादि । त्रत्रत्यादि ।

देवत्रिषया रतिर्यथा मुकुन्दमालायाम्-

(दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तक, प्रकामम् । अवधीरितशारदारविन्दौ चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि ॥

मुनिविषया रतिर्यथा-

'विलोकनेनैव तवामुना मुने, कृतः कृताथोंऽस्मि निबर्हितांहसा । तथापि शुश्रूषुरहं गरीयसीर्गिरोऽथवा श्रेयसि केन तृप्यते ॥'
राजविषया रतिर्यथा मम—

'त्वद्वाजिराजिनिधू तधूलीपटलपङ्किलाम् । न धत्ते शिरसा गङ्गां भूरिभारिभया हरः॥'

एवमन्यत्।

उद्बुद्धमात्रः स्थायिभावो यथा— 'हरस्तु किंचित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।

विवाह में राजा प्रधान होने पर भी दूलह के पीछे २ चलता है इसी प्रकार कहीं २ सञ्चारीभाव भी रस की अपेद्धा आपाततः प्रधान प्रतीत हों तो उस पद्य या काव्य को 'भावप्रधान' कहते हैं और उस प्रकारके व्यमिचारी को 'भाव' कहते हैं। इसी प्रकार देवता, मुनि, गुरु और नृपादि विषयक रति (अनुराग) भी प्रधानव्या प्रवीक कोने पर 'भाव' कहता है। सौर 'कहता हुए। अर्थात विभान

प्रधानतया प्रतीत होने पर 'भाव' कहाती है। ग्रौर 'उद्बुद्धमात्र' ग्रर्थात् विभावादि सामग्री के श्रमाव से परिपुष्ट न होने के कारण रसक्ष्य को श्रप्राप्त हास,
कोधादि भी 'भाव' ही कहाते हैं। सञ्चारी का उदाहरण—पूर्वोक्न 'एवंनादिनि'
रत्यादि। इसमें 'श्रवहित्था' प्रधान है। देवताविषयक रित का उदाहरण—
युक्तत्माला में—दिवि वेति—में चाहे स्वर्ग में रहूँ, चाहे पृथ्वी पर श्रौर चाहे नरक
ही में रहूँ, परन्तु हे नरकान्तक! मुकुन्द, शरद्श्रातु के कमलों का तिरस्कार
करनेवाले (उनसे भी उत्तम) तुम्हारे चरणों का, मरण के समय भी, स्मरण
करता रहूँ।

मुनिविषयक रित जैसे—विलोकनेनित—व्यासजी के प्रति युधिष्ठिर की उक्ति है। हे मुने, यद्यपि पाप दूर करनेवाले आपके इस दर्शन ने ही मुसे सतार्थ कर दिया है, तथापि में आपकी गौरवयुक्त वाणी भी सुनना चाहता हूँ, अथवा कल्याण से किसकी तृप्ति होती है। राजविषयक रित जैसे—वहाजीति—हेराजन, आपके घोड़ों की पंक्ति से उठीहुई धृत्तिके कारण पङ्क्रयुक्त गङ्गा को बहुत भार के हर के मारे शिवजी सिरपर नहीं रखते। मतलब यह है कि आपके सैनिक घोड़े रतने हैं कि उनकी टापोंसे उठी धृत्तिने गङ्गा को कीचड़ बना दियाहै, जिससे गङ्गा का भार बहुत अधिक होगया है, अतपन उसे शिवजी सिरपर नहीं रख सकते। उद्बुद्धमात्र स्थायी का उद्ाहरण—हरस्त इति—हिमालय में कामदेव के माया

उमामुखे विम्बफलाधरोष्टे व्यापारयामास विलोचनानि॥' अत्र पार्वतीविषया भगवतो रतिः।

नन्कः प्रपानकरसविद्वभावादीन।मेकोऽत्राभासो रस इति तत्र संचाति पार्थक्याभावात्कथं प्राधान्येनाभिव्यिकिरित्युच्यते—

यथा मरिचलएडादेरेकि भावे प्रपानके ॥ २६१ ॥ उद्देश कस्यचित्कापि तथा संचारिणो रसे।

- अथ रसाभासभावाभासौ--

अनोचित्यप्रवृत्तत्व आभासो रसभावयोः ॥ २६२॥ अनौचित्यं चात्र रसानां भरतादिपणीतलच्गणानां सामग्रीरहितत्वे सत्येकदेशः गित्वोपलच्गणपरं बोध्यम् । तच बालन्युत्पत्तये एकदेशतो दर्श्यते—

उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च। बहुनायकविषयायां रतौ तथानु अयनिष्ठायाम् ॥ २६३॥ प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वद्यमपात्रित्यगादिगते। शृङ्गारेऽनौचित्यं रौद्रे गुर्वादिगतकोषे॥ २६४॥

फैलाने के बाद पूजा के लिये आई हुई वसन्तपुष्पालंकत पार्वती को देखा चन्द्रोदय के समय उमड़े हुए समुद्र की भाँति, शिवजी का धैर्य कुछ कि लित हो गया, और वह बिम्बफल के समान अधरोष्ठ से युक्त पार्वती के कि पर अपनी भाव भरी दृष्टि डालने लगे। इसमें पार्वतीविषयक शहरा रित प्रतीत होती है।

निनिति—प्रश्न —पहले यह कहा है कि प्रपानकरस की तरह श्रङ्गापिए
में विभावादिकों का मिलकर एक आस्वाद होता है। फिर जब स्ञ्चारीम
पृथक् रहता ही नहीं तो उसकी प्रधानता से प्रतीति कैसे हो सकेगी ! उन्तर्थि यथेति—जैसे प्रपानकरस में मिर्च खाँड आदि का एकीकरण (मेल) होते मी कभी २ किसी किसी (मिर्च आदि) की अधिकता हो जाती है, स्त्रां की भी इसी प्रकार कहीं कहीं, मिले रहने पर भी, प्रधानता प्रतीत होतीं।
श्रनोचित्येति—रस और भाव यदि अनौचित्य से प्रवृत्त हुए हों तो उन्हें में
कम रसामास और भावाभास कहते हैं। श्रनोचित्य बेति—'अनौचित्य' पहली प्रकर्मणीगित्व का उपलच्च जानना अर्थात् यह पद यहाँ लच्चणा से प्रकर्मणीगित्व का उपलच्च जानना अर्थात् यह पद यहाँ लच्चणा से प्रकर्मण सम्बन्ध का बोधक है। जहाँ भरत आदि से प्रणीत रस, भावादि के कि प्रकर्मण से सक्तत न हों, किन्तु विभावादि सामग्री की न्यूनता के कार्य प्रकर्म से हो सम्बन्ध रखते हों, वहाँ रस, भाव का 'अनौचित्य' जानना पक श्रेश से हो सम्बन्ध रखते हों, वहाँ रस, भाव का 'अनौचित्य' जानना के कार्य के सितित्त किसी अन्य पुरुष में यदि नायिका का अनुराग हो तो कि अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष में यदि नायिका का अनुराग हो तो कि अनौचित्य' जानना। एवम् गुरुपत्नी आदि में अथवा अनेक पुरुषों में से किसी एक से पुरुषों से स्वर्ण से से से किसी एक से स्वर्ण से पुरुषों से से किसी एक से से सित्य से साम से स्वर्ण से सित्य सित्य से सि

दोनों में से किसी एक में ही (दोनों में नहीं) किंवा प्रतिनायक अर्थाती के शतु में या नीचपात्र में यदि किसी की रित ( अनुराग ) विधित

शान्ते च हीननिष्ठे गुर्वीचालम्बने हास्ये। ब्रह्मवधागुत्साहेऽधमपात्रगते तथा वीरे॥ २६५॥ उत्तमपात्रगतत्वे अयानके ज्ञेयमेवमन्यत्र।

तत्र रतेरुपनायकिनिष्ठत्वे यथा मम—

स्वामी मुग्धतरो, वनं धनिमदं, बालाहमेकािकिनी,

ह्योग्गीमावृग्गुते तमालमिलनि च्छाया तमःसंतितः।

तन्मे सुन्दर! मुख्च कृष्ण, सहसा वर्त्मेति गोप्या गिरः

श्रुत्वा तां परिरभ्य मन्मथकलासक्तो हरिः पातु वः॥

बहुनायकनिष्ठत्वे यथा-

'कान्तास्त एव भुवनित्रतयेऽपि मन्ये येषां कृते सुतनु पाएडुरयं कपोलः ।'

अतुभयनिष्ठत्वे यथा--मालतीमाधने नन्दनस्य मालत्याम् ।

'पश्चादुमयनिष्ठत्वेऽपि प्रथममेकिनिष्ठत्वे रतेराभासत्वम्' इति श्रीमञ्जोचनकाराः । तत्रोदाहरणं यथा-रत्नावल्यां सागरिकाया अन्योन्यसंदर्शनात्माग्वत्सराजे रतिः।

प्रतिनायकनिष्ठत्वे यथा--इयप्रीववधे ह्यप्रीवस्य जलक्रीडावर्णने ।

वहां शृङ्गारस में अनौचित्य के कारण 'शृङ्गारामास' अथवा 'रसामास' जानना। इसी प्रकार यदि गुरु आदि पर क्रोध हो तो रौद्रस में अनौचित्य होता है। पवं नीच पुरुष में स्थित होने पर शान्त में, गुरु आदि आलम्बन हों तो हास्य में, ब्राह्मणवध आदि कुकमों में उत्साह होने पर अथवा नीच-पात्रस्थ उत्साह होने पर वीररस में और उत्तम पात्रगत होने पर भयानकरस में अनौचित्य होता है। इसी प्रकार और भी जानना।

रित के उपनायकिनिष्ठ होने में अपना बनाया उदाहरण देते हैं—स्वामीति— मेरा स्वामी नितांत मुढ़ है, यह वन सघन है, मैं बाला हूं, और अकेली हूं पवम् आवनुस के समान काला २ अन्धकार पृथ्वी की ढांके है। इसलिये हैं सुन्दर कृष्ण, भट से मेरा रास्ता छोड़ो, यह गोपी की बात सुनकर उसका

श्रातिङ्गन कर कामकता में लीन हरि श्रापकी रचा करें।

बहुनायकिनिष्ठ रित का उदाहरण —कान्ता इति —हे सुतनु, मेरी समक्त में तो वे ही पुरुष तीनों लोक में सुन्दर हैं जिनके लिये यह तुम्हारे कपोल विरह से पाग्डुवर्ण हुए हैं। अनुभयनिष्ठ रित का उदाहरण जैसे मालतीमाधव में

नन्दन का मालती में अनुराग।

प्रवादिति—''जहाँ आगे चलकर रित उभयनिष्ठ हो जाय, परन्तु पहले पक ही
में हो वहाँ भी जबतक रित पकिनष्ठ है तबतक रसामास ही है"यह ध्वन्यालोकलोचन के कर्ता श्रीमद्भिनवगुप्तपादाचार्य का मत है। इसका उदाहरण जैसे
'रलावली' में परस्पर दर्शन के अनन्तर सागरिका का वत्सराज में पहले प्रेम।
प्रतिनायकनिष्ठ रित का उदाहरण जैसे 'हयप्रीववध' में हयप्रीव की जलकीडा

अधमपात्रगतत्वे यथा---'जघनस्थलनद्भपत्रवल्ली गिरिमल्लीकुसुमानि कापि भिल्ली। अवित्य गिरौ पुरो निषएणा स्वकचानुत्कचयाञ्चकार भर्त्रा॥' तिर्यग्गतत्वे यथा-

भिक्कीमतङ्गीषु वनान्तरेषु वल्ल्यन्तरे वञ्जभमाह्नयन्तो । चब्रिदिपत्रीकलनादभङ्गीसंगीतमङ्गीकुरुते सम भृङ्गी ॥'

त्रादिशब्दात्तापसादयः।

रौद्राभासो वथा--

'रक्तोत्फुल्लविशाललोलनयनः कम्पोत्तराङ्गो मुहु-मु क्त्वा कर्णमपेतभी घृ तधनुर्वागा हरेः परयतः। त्र्याध्मातः कटुकोिक्तिभिः स्वमसकृदोर्विक्रमं कीर्तय-न्नंसास्फोटपटुपु धिष्ठिरमसौ हन्तुं प्रतिष्टोऽजु नः ॥'

भयानकाभासो यथा-'श्रशक्तुवन्सोढुमधीरलोचनः सहस्ररमेरिव यस्य दर्शनम्।

वर्णन के अवसर पर। नीचपात्रनिष्ठ रित का उदाहरण जैसे—जधनेति—ज स्थल पर लतात्रों से पत्तों को बाँघेहुए कोई भील की स्त्री कुटज के फूल चुन पहाड़ में पित के आगे बैठी हुई, उससे अपने केशों को अलंकत करा रही

तिर्यग्योनिगत रित में श्रङ्गाराभास का उदाहरण-महीति-ची अथवा कुटज रो रमणीय वनों के बीच लताओं के ऊपर अपने प्रियतमा पहोड़ में परिभ्रमण करता हुई किसी भ्रमरी ने रमणीय वीणा के स मघुर स्वर से गाना ( गूंजना ) प्रारम्भ किया। कारिका के 'तिर्यगादि' ह में 'श्रादि' पद से तापसादिनिष्ठ रति का ग्रह्ण है।

रौद्रामास का उदाहरण-रहेति-जिसके उभरे हुए विशाल और वर्ष कोध के मारे लाल होगये हैं, जिसका सिर बारबार कीप से किम्पत होत है, युधिष्ठिर के कटुवचनों द्वारा श्रपनी तथा श्रपने गाएडीव (धतुष) की सुनकर भड़का हुआ (आधात) वह अर्जुन, धनुष-बाण लिये हुए अर्नेक्स अपने मुजविक्रमों का कीर्तन करता हुआ, कर्ण को छोड़कर, श्रीकृष्ण के ताल टोंकता हुआ युधिष्ठिर के मारने को भएटा। अर्जुन की प्रतिकारी कोई मेरे गाएडीव की निन्दा करेगा उसे मार डालूँगा। एक बार युधि कर्ण से रण में परास्त होकर अर्जुन की और उसके गाएडीव की करना श्रारम्भ किया। उससे श्रर्जुन भभक उठे श्रीर उन्हें श्रपनी प्रति आगई। उसी समय का वर्णनं इस पद्य में किया है। यहाँ रौहामा प्योंकि पित्रकार को क्रिक्त क्योंकि पितृतुल्य बड़े भाई युधिष्ठिर पर श्रर्जुन का क्रोध करना श्रुवी भयानकाभास का उदाहरण-अशक्तुविति सूर्य के समान प्रदीति। र्शन करने में क्रांस्पर्ध

प्रविश्य हेमादिगुहागृहान्तरं निनाय विभ्यदिवसानि कौशिकः॥' क्षीनीचविषयमेव हि भयं रसप्रकृतिः। एवमन्यत्र। भावाभासो लज्जादिके तु वेश्यादिविषये स्यात्॥ २६६॥

स्पष्टम् ।

भावस्य शान्ताञ्जद्ये सन्धिमिश्रितयोः क्रमात्। भावस्य शान्तिइद्यः सन्धिः शवतता मता॥ २६७॥

क्रमेण यथा-

'सुतनु जिहिहि कोपं, पश्य पादानतं मां, न खलु तत्र कदाचित्कोप एवंत्रिधोऽभूत्। इति निगदति नाथे तिर्यगामीलिताच्या नयनजलमनल्पं मुक्तमुक्तं न किंचित्॥'

अत्र बाष्पमोचनेनेर्ध्याख्यसंचारिभावस्य शमः । 'चरणपतनपत्याख्यानात्प्रसादपराङ्मुखे निमृतिकतवाचारेत्युक्त्वा रुषा परुषीकृते । व्रजित रमणे निःश्वस्योचैः स्तनस्थितहस्तया नयनसलिलच्छना दृष्टिः सखीषु निवेशिता ॥'

गुफा के भीतर छिपकर डरते डरते दिन बिताता था। जैसे उरलू सूर्य से डर कर गुफाओं में छिपता है उसी प्रकार इन्द्र रावण से डरकर सुमेरू पर बिपता था। यहाँ इन्द्र और उल्लू का साम्य व्यक्षय है। 'कौशिक' शब्द श्लिष्ट है। इसमें भयानकाभास है, क्योंकि उत्तमपात्र (इन्द्र) में भय दिबलाया है। स्त्री, नीच आदि में ही भयानकरस की पुष्टि होती है। भावाभास इति —वेश्या त्रादि में यदि लजा श्रादि दीखें तो भावाभास होता है। मानस्येति—किसी भाव की शान्ति, उदय, सन्धि अथवा मिश्रण होने से वधाकम भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबत्तता कहाती है। कम से उदाहरण देते हैं। सतन इति—हे सुतन, क्रोध छोड़ो, देखों मैं तुम्हारे पैरों पर प्रणत हूँ, ऐसा कोप तो तुम्हें कभी नहीं हुआ था। स्वामी के रस प्रकार कहने पर, कुछ मीलित तिरछे नयनों से युक्त उस भामिनी ने श्रास् वो बहुत बहाये पर बोली कुछ नहीं। अत्रेति—इस पद्य में आँसू छोड़ने से रेप्योमाव की शान्ति दिखायी है, अतः यह भावशान्ति का उदाहरण है। चरणेति—चरणपतन (प्रणाम) का भी तिरस्कार करने से प्रसन्नता के विषय में निराश तथा 'हे प्रच्छन धूर्ताचार' इस शब्द को (नायिका के मुख से) सुनकर वर प्रियतम को लोटा जाते देख, छाती पर हाथ रखकर उस कामिनी ने गहरी

सौंस ली और त्राँस्भरी दृष्टि सिखयों की त्रोर डाली। यहां विषाद का उदयहै।

अत्र विषादस्योदयः । 'नयनयुगासेचनकं मानसवृत्त्यापि दुष्पापम् । रूपिमदं मदिराद्या मदयति हृद्यं दुनोति च मे ॥' अत्र हर्षविषादयोः सन्धः ।

'काकार्यं, शशलदमणः क च कुलं, भ्र्योऽपि दृश्येत सा, दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्। किं वद्यन्त्यपकल्मषाः कृतिधयः, स्वप्नेऽपि सा दुर्लमा, चेतः स्वास्थ्यमुपैहि, कः खलु युवा धन्योऽधरं पास्यति॥' अत्र वितकीत्सुक्यमितस्मरणशङ्कादैन्यधृतिचिन्तानां शबलता॥ इति साहित्यदपंथे रसादिनिरूपणो नाम तृतीयः परिच्छेदः।

नयनेति—नेत्रों को तृप्त करनेवाला श्रीर मन को भी दुर्लभ, (श्रीर की वात ही क्या) यह इस मस्त नेत्रवाली तरुणी का खुन्दर कर मेरे हृद्य है श्रानिन्दत भी करता है श्रीर दुःखी भी करता है। श्रातिरमणीय होते श्रानिन्दत करता है श्रीर श्राति दुर्लभ होने से दुःखी करता है। या है श्रीर श्रीर विषाद इन दोनों भावों की सन्धि है।

केति—अन्य अप्सराओं के साथ उर्वशी के स्वर्ग को चले जाने पर विषे त्किण्ठित राजा पुकरवा के मन में उठते हुए अनेक प्रकार के विवारों हु इस पद्य में यथाक्रम वर्णन है। अर्थ—१ कहाँ तो यह निषिद्ध आचरण (वेश्व जुराग) और कहाँ मेरा निर्मल चन्द्रवंश! २ क्या फिर भी कभी वह वि पड़ेगी? ३ औः! यह क्या? मैंने तो कामादि दोषों के द्वानेवाले शक्ष हैं। ४ ओहो, क्रोध में भी अतिकमनीय वह उसका मुख! ४ भला मेरे ह आचरण से निष्कल्मष तथा हरएक बात को परखनेवाले विद्वान लोग कि कहेंगे? ६ हाय! वह तो अब स्वम में भी दुर्लभ है। ७ हे चित्त, धीरज घर न जाने कौनं बड़भागी उसके अधरामृत का पान करेगा। इस पद्य में कि वाक्य से वितर्क, दूसरे से उत्कर्ण, तीसरे से मित, चोथ से स्मरण, पांवां शक्का, छुठे से दैन्य, सातवें से धैर्य और आठवें से चिन्ता प्रतीत होती है, कि अनेक सञ्चारी भावों के मिश्रण होने से यह पंद्य भावश्वलता का उदाहरण है।

इति विमलायां तृतीयः परिच्छेदः।

चतुर्थः परिच्छेदः ।

अय काव्यमेदमाह—
काव्यं ध्वनिर्शुणी सूतव्यङ्गयं चेति द्विधा मतम्।

वाच्यातिशयिनि व्यङ्गये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम् ॥ १॥ वाच्याद्धिकचमत्कारिणि व्यङ्गयार्थे ध्वन्यतेऽस्मिनिति व्युत्पत्त्या ध्वनिर्नामोत्तमं काव्यम् ।

भेदी ध्वनेरपि द्वानुद्धितौ तत्त्वणाभिधामूतौ। अविवित्तिवाच्योऽन्यो विवित्तिन्यपरवाच्यरच॥२॥

तत्राविविचितवाच्यो नाम लच्चणामूलो ध्वनिः। लच्चणामूलत्वादेवात्र वाच्यम-विविच्चतं वाधितस्वरूपम्। विविच्चतान्यपरवाच्यस्त्विमधामूनः। स्रत एवात्र वाच्यं विविच्चतम्। स्रन्यपरं व्यङ्गचनिष्ठम्। स्रत्र हि वाच्योऽर्थः स्वरूपं प्रकाशयन्नेव व्यङ्गचार्थस्य प्रकाशकः।

अथ चतुर्थः परिच्छेदः ।

मुरलीध्वनिपरिमोहितलोकः । लीलाहृतसुरमुनिजनशोकः ॥ १ ॥ तरिणसुतातटनीपविलासी । हरतु हरतु दुरितं व्रजवासी ॥ २ ॥

काव्य का लज्ञण आदि कह जुके। अब काव्य के मेद बताते हैं - कांव्यमितिकाव्य दो प्रकार के होते हैं। एक ध्विन, दूसरे गुणीभूत व्यक्त्य। 'ध्विन' पद में
जब अधिकरणार्थक प्रत्यय मानते हैं तो 'ध्वन्यतेऽस्मिनिति ध्विनः' यह उत्तम काव्य
का वाचक होता है और करणप्रधान मानने पर 'ध्वन्नं ध्विनः' व्यक्षनाशिक्त
का बोधक होता है एवं भावप्रधान मानने पर 'ध्वननं ध्विनः' रसादि की प्रतीति
का और कर्मप्रधान ध्वन्यते हित ध्विनः — एसादि व्यक्तय का वाचक होता है।

वाचेति—जिस काव्य में व्यङ्गय अर्थ वाच्य अर्थ की अपेका अधिक चमत्कारक हो उसे 'व्यनि' कहते हैं। वह उत्तम काव्य है। यहाँ 'व्यनि' पद अधिक रण-प्रधान है। मेदी इति—'व्यनि' के भी दो भेद होते हैं। एक लक्षणामुलक व्यनि, दूसरी अभिधामुलक व्यनि। इनमें से पहली को 'अविश्वितवाच्य' और दूसरी को 'विश्वितान्यपरवाच्य'भी कहते हैं। लक्षणामुलक होने के कारण ही इसमें वाच्य अर्थ 'अविविक्तित' अर्थात् वाधित रहता है, क्योंकि लक्षणा मुख्य अर्थ (वाच्य) के बाध में ही होती है, यह पहले कहा गया है।

विविद्यान्यपरवाच्य' ध्विन अभिधामुलक है, अतएव उसमें वाच्य (अभि-धेय) अर्थ विविद्यात होता है। यदि अभिधेय अर्थ विविद्यात न रहे तो वह ध्विन अभिधामुलक हो ही न सके। परन्तु विविद्यात होने पर भी यहां अभिधेय अर्थ 'अन्यपरक' अर्थात् व्यक्त्य अर्थ को प्रधानतया द्योतन करने में व्यापृत रहता है। अतएव इसे 'विविद्यान्यपरवाच्य' कहते हैं। अत्र हांति—इस ध्विन में वाच्य अर्थ अपने स्वक्रप का प्रकाश करता हुआ ही व्यक्त्य अर्थ का प्रकाश करता है। यथा प्रदीपो घटस्य । त्र्यभिधामूलस्य बहुविषयतया परचान्निर्देशः । त्र्राविवित्तवाच्यस्य भेदावाह-

अर्थान्तरं संक्रमितं वाच्येऽत्यन्तं तिरस्कृते। अविविचतवाच्योऽपि ध्वनिद्वैविध्यमृच्छति॥३॥

अविविद्याच्यो नाम ध्वनिरर्थान्तरसंक्रमितवाच्योऽत्यन्तितरस्कृतवाच्यो द्विविधः। यत्र स्वयमनुपयुज्यमानो मुख्योऽर्थः स्विवशेषरूपेऽर्थान्तरे परिणमीः मुख्यार्थस्य स्वविशेषरूपार्थान्तरसंक्रमितत्वादर्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वम् । यथा—

'कदली कदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः।
भुवनित्रतयेऽपि बिभिति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः॥'

अत्र द्वितीयकदल्यादिशब्दाः पौनरुक्त्यभिया सामान्यकदल्यादिह्रो क्र बाधिता जाड्यादिगुणविशिष्टकदल्यादिरूपमथ बोधयन्ति। जाड्याद्यतिशयरचन्त्र

यथेति-जैसे दीपक अपने स्वरूपको प्रकाशितं करता हुआही घटादि का प्रका होता है। अभिधामुलक ध्वनि का विषय बहुत है, अतः उसका पीछे उत्तेवहि और तत्त्वणामुलक का थोड़ा विषय है, अतः स्वीकटाइन्याय से इसे पहले कही

अविविद्याच्यध्वित के भेद् कहते हैं—अर्थान्तरामिति—अविविद्यातन ध्वनि भी दो प्रकार का है। पहला वाच्य के अर्थीन्तर में संक्रमित हों। 'ग्रयान्तरसंक्रमितवाच्य' श्रौर दूसरा चाच्य के श्रात्यन्त तिरस्कृत होने पर क्ष तिरस्कृतवाच्य'। यत्रेति—जहां शब्द का मुख्य अर्थ प्रकरण में स्वयं अनुपर्वता (बाधित) होने के कारण अपने विशेष स्वरूप अर्थान्तर में परिणत होत उसे 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' कहते हैं। यह अन्वर्थसंज्ञा है । उद्हार कदलीति—कदली कदली ही है श्रीर करम करम ही है, (हाथ की बोटी उँग पहुँचे तक हथेली के बाहरी भाग को करभ कहते हैं) हाथी की सँहभी की सुँड़ ही है। वस्तुतः इनमें से कोई भी उपमा देने योग्य नहीं है। स्वान सीता के ये दोनों ऊक (जंघायें) तीनो लोकों में अपना साहश्य नहीं रही प्रसन्नराघव नाटक में स्वयंत्रर के समय यह रावण की उक्ति है। अति दूसरी बार श्राये हुए 'कदली' श्रादि पद यदि मुख्य श्रर्थं का ही बोधन की तो पुनरुक्त दोष आ जाय, अतः वे मुख्यार्थ में बाधित होकर जाड्यगुणी कदली श्रादि का बोधन करते हैं, श्रतः श्रधीन्तर में संक्रमित हैं। करली कद्बी है इत्यादि अर्थ होता है। यहां प्रयोजनवती लच्चण है। जाइन गुणों की अधिकता व्यक्तय है। यही बच्चणा का प्रयोजन है।

तात्पर्य—िकसी के विशेष गुण को सूचन करने के लिए एक शब्द की ही बोलने की चाल है। जैसे किसी ने कहा कि कौ आ कौ आ ही है और बी को किल ही है। यहां दूसरी बार जो शब्द बोला गया है उसमें यह विशेषता न माने तो पुनरुक्त दोष हो जाय। दूसरे अनुभवसिद्ध विशेषता

यत्र पुनः स्वार्थं सर्वथां परित्यजन्नर्थान्तरे परिग्रामित तत्र मुख्यार्थस्यात्यन्तितर्-स्कृतत्वादत्यन्तितरस्कृतवाच्यत्वम् ।

यथा-

'नि:श्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते।'

अत्रान्धशब्दो मुख्यार्थे वाधितेऽप्रकाशरूपमर्थं वोधयति। अपकाशातिशयश्च व्यङ्गचः।

अपताप करना पड़े। उक्त वाक्यों में दूसरी वार बोले हुए उन्हीं पदों से साफ़ विशेषता प्रतीत होती है, अतः इस प्रकार के उदाहरणों में यह प्रक्रिया मानी जाती है कि दूसरे बार आए हुए 'कौआ' 'कोकिल' आदि पदों के मुख्य अर्थ का प्रकरण में कोई उपयोग नहीं है। यदि दूसरी बार बोले हुए कोकिल पद का भी वहीं अर्थ हो, जो पहले का है, तो दुवारा बोलना ही व्यर्थ है। उसका प्रकृत में कोई उपयोग नहीं, श्रतः 'कौत्रा कौत्रा ही है' यहां दूसरे 'कौत्रा' पद का 'कदुरटनपरिपाटीपदुरविविशिष्ट' (कांड कांड की कड़वी आवाज़ से कान फोड़नेवाला) यह अर्थ लक्ष्य है और 'कोकिल कोकिल ही है' यहां दूसरे कोकिल पद का 'क्लकाक्लीकोमलत्वविशिष्ट' (अधुर अधुर कुहक से कार्नो श्रीर मन को तृप्त करने-वाला) यह अर्थ लक्ष्य है। ये दोनों अर्थ मुख्यार्थ के ही विशेष स्वक्ष हैं। मुख्य अर्थ से अत्यन्त भिन्न नहीं हैं, अतः यहां अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य है। यदि यह कह दें कि 'की बा कहवा बोलता है' तो इस वाक्य से कीए में उतनी निकृष्टता नहीं प्रतीत होती जितनी यह कहनेसे होती है कि 'की आ की आ ही हैं'। 'और के किस मीठा बोलता है' इस वाक्य में भी वह उत्कृष्टता का बोधन नहीं है जो 'कोकिल कोकिल ही हैं इसं कथन में। इसी उत्कृष्टता और निकृष्टता का अतिशय जताने के तिये यहां तत्त्त्णा का आश्रय किया गया है। यही यहां व्यक्त्य प्रयोजन है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना।

यत पुनः — जहां शब्द अपने मुख्य अर्थ को सर्वथा छोड़ कर अर्थान्तर में परियत होता है वहां वाच्य के अत्यन्त तिरस्कृत होने के कारण 'अत्यन्तितिरकृतवाच्य'
ध्विन होती है। जैसे — निःश्वासेति — रिवणा हतसीमाग्यस्तुवारावृतमण्डलः — यह इस
प्रथ को पूर्वार्घ है। निश्वास से अन्धे (मिलन) दर्णण (आईने) के समान
चन्द्रमा प्रकाशित नहीं होता। अत्रेति — 'अन्ध' शब्द का अर्थ है लोचन-हीन
और लोचनों से हीन (वियुक्त) वहीं कहा जा सकता है जिसके या तो पहले
लोचन रहे हों या कम से कम उसमें लोचनों की योग्यता हो। जैसे मनुष्य,
प्रश आदि अन्धे कहे जाते हैं। परन्तु शीशे (दर्णण) के न तो कभी लोचन
थे और न उसमें उनकी योग्यता है, अतः उसे लोचनहीन या अन्धा कहना
नहीं बनता, इसिलये यहां 'अन्ध' पद का मुख्य अर्थ बाधित होने के कारण
उससे लच्चणा द्वारा 'अपकाश' रूप अर्थ बोधित होता है। जैसे अन्धे आदमी
के नेत्रों पर किसी वस्तु की छाया नहीं पड़ती अथवा जैसे उसे कोई वस्तु
प्रकाशित नहीं होती इसी प्रकार शीशे में भी किसी का प्रतिबन्ध नहीं पड़ने
पर उसे 'अन्धा' कहा जाता है। यह भी प्रयोजनवती लच्चणा है। यहां
अमकाशत्व का आधिक्य व्यङ्ग्य है। चही लच्चणा का प्रयोजन है।

अन्धत्वाप्रकाशत्वयोः सामान्यविशेषभावाभावानार्थान्तरसंक्रिमतवाच्यत्वम्। 'भम धम्मिश्र वीसत्थो सो सुगात्रो त्रज मारित्रो देगा। गोलाग्राइकच्छ्रकुडङ्गवासिगा दरित्र्यसीहेगा ॥'

अत्र 'भ्रम धार्मिक-' इत्यतो भ्रमग्रस्य विधिः पकृतेऽनुपयुःग्यमानत्या भ्रम निषेधे पर्यवस्यतीतिविपरीतलक्त्याशङ्का न कार्या। यत्र खलु विधिनिषेषातुला

अन्वत्वति - यह भ्वति 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' नहीं कही जा सह क्योंकि यहाँ 'अन्धत्व' श्रीर श्रप्रकाशत्व में व्याप्यव्यापकभाव न होते हे सामान्यविशेषमाव नहीं है। 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' ध्वति वहीं होते जहां मुख्यार्थ श्रीर लक्ष्यार्थ का खामान्य-विशेष-भाव हो। मुख्यार्थ मा हो और लक्ष्य अर्थ उसका व्याप्य होता हो।

अभिधामूलक ध्वनि से उक्त लच्चणामूलक अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यावि भेद दिखाने के लिये सन्दिग्ध उदाहरण देते हैं - भम इति- 'अम धार्मिक विक स शुनको उच मारितस्तेन । गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दससिहेन'। अर्थ-हे माता अब तुम बेखटके घूमा करो। उस कुत्ते को, जो तुम्हें तंग किया करता आज गोदावरी नदी के किनारे उस कुआ में रहनेवाले मस्त सिंह ने मारता यहां अभिधामुलक ध्वनि है। किसी कुलटा के संकेतकुआ में कोई मण फूल तोड़ने जाने लगे। इन्हें देख उसने अपना कुत्ता इनके पीछे हुलका परन्त ये उस कुत्ते के भूंसते रहने पर भी 'हटहट' 'पुच पुच' करें। गिरते पड़ते, लुड़खुड़ाते हुए ठीक उसी कुञ्ज तक पहुँच ही तो गये। ए वह बहुत तंग हुई और दूसरे दिन इनके सामने होकर उक्त पद्य कहने। इस पद्य में 'बेखटके घूमों' इस वाक्य से आपाततः भ्रमण का विधान में होता है, परन्तु इस प्रकरण के जानने के बाद और पद्य के सव वासी पर्यालोचना के अनन्तर वह उल्र जाता है, क्यों कि यहां यह प्रतीत हो कि कल तो वह कुत्ता ही था जिससे तुम इतने तंग हुए थे, प्रन्तु भाग कुख में पस्त सिंह बैठा है, जो देखते ही आपका नैवेदा लगा लेगा। श्रव उस रास्ते की श्रोर श्रांख उठाकर भी न देखना। यह भी न कि दो एक दिन में सिंह कहीं चला जायगा। वह वहीं का-विक कुख का—'निवासी' है। इसलिये अब आए उधर ताकें ही तहीं। ब प्रकरण का पर्यालोचन करने पर प्रतीत होता है। स्रोर बाच्य प्रथ व्यक्तय अर्थ में जाकर निषेत्र में परिणत हो जाती है।

इस पद्य में विपरीत लच्चणाम्लेक अत्यन्त तिरस्कृत्वाच्यक्ष्विति । दिखाके उसका निराकरण करते हैं — अत्रित — यहां भ्रम्ण की विधि अनुपयुक्त होने के कारण निषेध में परिणत होती है, इसिंविय प्रही बहु' इत्यादि की तरह विपरीत लज्ञणा है, यह मत समक्ता, क्योंकि तत्त्वणा वहीं होती है जहां त्रिधि अथवा निषेध बोलने के साथ है। विपरीत होकर क्लिक्ट विपरीत होकर निषेध यहा विधिक्षप में परिशात हो जाय। जैसे यत्र लुठन्तः स्नान्ति मानवाः' (बाह्, क्या भरा हुआ तालाब है, जहां आदि

मानावेथं निषेधविध्योः पर्यवस्यतस्तत्रैव तदवसरः। यत्र पुनः मकरणादिपर्यालोचनेन विधिनिषेधयोनिषेधविधी अवगम्येते तत्र ध्वनित्वमेव ।

तदुक्तम्— किचिद् बाध्यतया ख्यातिः, किचित्ख्यातस्य वाधनम् । पूर्वत्र लक्ष्णीय स्यादुत्तरत्रामिधैयं तु ॥'

अत्राद्ये मुख्यार्थस्यार्थान्तरे संक्रमशां प्रवेशः, न तु तिरोभावः। अत एवात्राजह-

स्वार्था बच्चा। द्वितीये तु स्वार्थस्यात्यन्तं तिरस्कृतत्वाज्ञहत्स्वार्था। विविद्यासिधयोऽपि द्विभेदः प्रथमं मतः।

असं लक्ष्यक्रमो यत्र व्यक्त्यो लक्ष्यक्रमंस्तथा ॥ ४॥

कर नहा रहे हैं ) यहां 'लोटकर नहाना' सुनते ही 'पूर्ण' शब्द अपूर्ण अर्थ में परिणत हो जाता है। पूर्णत्व की विधि पूर्णत्व के निषेध में परिणत हो जाती है। अथवा किसी ने कहा कि यदि यमयातनाओं से प्रेम है तो ईश्वर का मजन कभी न करना। यमयातनाओं से भला प्रेम किसे होगा ? अतः इस वाक्य में मजन का निषेध, विधिक्षप (ईश्वरभजन) में परिणत हो जाता है। यत्र पुनरिति—परन्तु जहां विधि या निषेध प्रकरणादि का पर्यालोचन करने के अनन्तर विपरीत अर्थ में परिणत हों (जैसे 'भम धिम्मअ' में) वहां अभिधा-मृतक ध्वनि ही मानी जाती है, लच्नणा नहीं।

उक्त बात में प्रमाण देते हैं —तदुक्त मिति—कि विदिति — कहीं 'बाध्य' अर्थात् विप-रीत अर्थ में पर्यवसान होकर पीछे 'ख्याति' अर्थात् अन्वयक्षान होता है और कहीं 'ख्यात' अर्थात् वाक्यार्थ में अन्वित पदार्थों का 'बाध' (विपरीत अर्थ में पर्यवसान) होता है। पहले पद्ध में 'लक्षणा' अर्थात् लक्षणामूलक ध्वनि होती है और दूसरे में 'अभिधा' अर्थात् अभिधामूलक ध्वनि होती है।

वात्परं यह है कि जहां मुख्य अर्थ का अन्वय या तात्पर्य बाधित होता है वहीं लच्चणा हो सकती है, अन्यत्र नहीं, अतः जिन वाक्यों में पदार्थों का सम्बन्ध अनुपपन्न होता है वहीं लच्चणा और लच्चणामूलक उक्त ध्वित होती है। और जहां पदों के मुख्य अर्थ का अन्वय हो जाने के अनन्तर किसी कारण से बाध की अतीति होती है वहां लच्चणा ही नहीं हो सकती - फिर लच्चणा मुलक ध्वित बहां कहां से आयेगी ? अतः ऐसे स्थलों - अप धार्मिक हत्यादिकों - में अभिधामुलक ध्वित ही जानना।

बनाये इति—यहां पहले (अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यं) में तो मुख्य अर्थ का अपने विशेषक्रप अर्थान्तर में संक्रमण अर्थात् प्रवेशमात्र होताहै, तिरोधान नहीं होता, अतपन यहां अजहत्स्वार्था लच्चणा होती है। और दूसरे ('अत्यन्त तिरस्कृतवाच्यं') में मुख्य अर्थ अत्यन्त तिरस्कृत होताहै, अतः वहां 'जहत्स्वार्था' लच्चणा होती है। अभिधाम् लक्ष क्वनि का निक्षपण करते हैं। विविवतिति - 'विविवतितान्य-परवाच्यं क्वनि भी प्रथम दो प्रकार का होता है—एक असंबद्धकमन्यक्षयं

विविद्यान्यपरवाच्योऽपि ध्वनिरसंलद्यक्रमन्यङ्गचः संलद्यक्रमन्यङ्गचरचेति द्विति

तत्राचो रस भावादिरेक एवात्र गण्यते। एकोऽपि भेदोऽनन्तत्वात्संख्येयस्तस्य नैव यत्॥ १॥

उक्तस्वरूपो भावादिरसंलद्यक्रमन्यङ्गचः । अत्र न्यङ्गचपतीतेर्विभावादिम्तीकि ग्यकत्वात्क्रमोऽवश्यमस्ति, किंतूत्पलपत्रशतन्यतिभेदवल्लाघवान्त्र संलद्यते। एषु ता च एकस्यापि मेदस्यानन्तत्वात्संख्यातुमशक्यत्वादसंलद्यक्रमव्यङ्ग चध्वनिर्नाम काल् भेदमेवोक्तम्। तथाहि-एकस्यैव शृङ्गारस्यैकोऽपि संभोगरूपो भेदः परस्पराहित धरपानचुम्बनादिमेदात्पत्येकंचविभावादिवैचित्र्यात्संख्यातुमशक्यः,का गणनासके

शब्दार्थी मयशक्तयुत्थे व्यङ्गयेऽनुस्वानसानि में। ध्वनिर्तद्यक्रमञ्यङ्गयस्त्रिविधः कथितो बुधैः॥६॥

(जिसमें व्यक्तय अर्थ का क्रम लिखत न हो सके) और दूसरा बच्यकमन्या तत्रेति इनमें से पहले (असंलक्ष्यक मध्यक्षय) के उदाहरण रस, माव आहि हैं। इन सबको एक ही मान लिया गया है, क्यों कि अनन्त होने के कारणा में से किसी एक के भी मेदों का पूरा पूरा परिगणन नहीं किया जा सकत उक्तेति - जिनका लज्जा पहले कह आये हैं वे भाव आदि असंलक्ष्यक मन्यकृष हैं। इन रस, मात्र त्रादिकों की प्रतीति, विभावादि -ज्ञान-पूर्वक ही होती है, म कार्य कारण के पौर्वापर्य का क्रम तो अवश्य रहता है, परन्तु वह अति हो जाने के कारण लंदित नहीं होता। जैसे सी कमल के पत्तों को नीचे अ रखकर सुई से छेदें तो एकदम सुई सबके पार हुई प्रतीत होगी। यद्यी ही कम से ही, एक एक करके, सब पत्तों में छेद किया है, परन्तु शीव्रत कारण प्रत्येक की क्रिया पृथक् २ प्रतीत नहीं होती। इसी प्रकार यहां भी जान

एषु रसादिषु—इन पूर्वोक्क निर्वेद आदि भावों और रसादिकों में से एक के भी अनन्त होने के कारण गिने नहीं जा सकते, अतः असंलक्ष्यक्रमन्यङ्ग का एक ही भेद मान लिया गया है। असंख्येयत्व दिखाते हैं — तथाहीति-कि वेति—श्रकेलें संमोग-श्रङ्गार ही के एक भेद में परस्पर श्रालिङ्गन, श्राप्त चुम्बन आदि अनेक मेद हैं। फिर उनमें भी विभावादि की अनन्त विविधा है, इसितये यह अकेला ही नहीं गिना जा सकता, सब रसी के भेटि

की तो बात ही क्या।

्लक्ष्यक्रमन्यक्रयध्वनि का निरूपण करते हैं —शब्दार्थेति—जिस प्रकार बजनेपर पहले एक ज़ोर का उनाका होने के बाद 'श्रवस्वान'=क्रम से बीरे उसकी मधुर प्रधुर गू ज सुनाई पड़ती रहती हैं। इसीप्रकार उनाके के वाच्य अर्थ के प्रतीत होने के अनन्तर जहां क्रम से व्यक्ष अर्थ प्रतीत होती वह काव्य 'संतक्ष्यक्रमव्यक्षयध्यति' कहाता है। उसके तीन भेद होते शब्दशक्तयुक्मव ध्वनि, जहां शब्द के सामध्ये से व्यक्तय अर्थ प्रतीत होता। इसरा अर्थ प्रकार दूसरा अर्थ शक्त्युद्भव ध्वनि जहां अर्थकी विशेषताके कारण व्यक्ष्मार्थ क्रमस्य लद्यत्वादेवानुरणन्रूपो यो व्यङ्ग चस्तस्य शब्दशक्त्युद्भवत्वेन, अर्थशक्त्युद्भ-वत्वेन शब्दार्थशक्त्युद्भवत्वेन च त्रैविध्यात्संलद्यक्रमव्यङ्गचनाम्नो ध्वनेः काव्यस्यापि हैविध्यम् ।

तत्र—
वस्त्वलंकाररूपत्वाच्छ्रच्दशक्त्युद्भवो द्विधा।

अलंकारशब्दस्य पृथगुपादानादनलंकारं वस्तुमात्रं गृह्यते । तत्र वस्तुरूपशब्द-शक्त्युद्भवो व्यङ्गयो यथा—

'पन्थित्र रा एत्थ सत्थरमित्थ मर्गा पत्थरत्थले गामे । उपगात्र पत्रोहरं पेक्खिऊण जइ वससि ता वसूसु ॥'

होता हो। श्रीर तीसरा उभयशक्तयुद्भव ध्वनि, जहां दोनों के सामर्थ्य से व्यक्तय का ज्ञान होता हो।

क्रमस्येति—व्यङ्गय अर्थ का क्रम लिचत होने के कारण ही इस ध्वित को श्रारणनहर्ग कहा है। 'अनुरणन' शब्द का अर्थ है पिछली ध्वित। श्राः पश्चात् रणनं ध्वितः। घंटे आदि को वजाने पर पहली आवाज़ के बाद जो मधुर ध्वित कुछ देर तक होती रहती है उसी को 'अनुरणन' 'अनुस्वान' आदि कहते हैं। जैसे इस अनुरणन में पहले की ठंकार के साथ पौर्वापर्य स्पष्ट प्रतीत होता है उसी प्रकार प्रकृत ध्विन में भी पहले होनेवाले वाच्य अर्थ के साथ पौर्वापर्य स्पष्ट भासित होता है। इसी पौर्वापर्य-क्रम के लक्ष्य होने के कारण यह ध्वित 'संलक्ष्यकम' अथवा 'अनुरणनरूप' कहाता है। रस की भांति इसका क्रम अलक्ष्य नहीं होता।

ī

जैसे घंटा बजाने पर ठना के के पीछे अनुस्वान प्रतीत होता है इसी प्रकार व्यक्त्य अर्थ वाच्य के पीछे प्रतीत होता है। जैसे ठना के की अपेचा अनुस्वान मधुर होता है वैसे ही व्यक्त्य भी वाच्य से मधुर होता है। और जैसे ठनाका करने के लिये पुरुष-व्यापार (घंटा ठोंकना) अपेचित है, अनुस्वान के लिये नहीं, वह स्वयं उसी शब्द से उत्पन्न हो जाता है, इसी प्रकार वाच्यार्थ के लिये पुरुष व्यापार (शब्दोच्चारण) अपेचित है, व्यक्त्य के लिये नहीं। इसी साम्य से व्यक्त्य को अनुस्वान के सहश कहा है। यह अनुस्वानक्तप व्यक्त्य अर्थ कहीं शब्द से, कहीं अर्थ से और कहीं दोनों से प्रतीत होता है, अतः इसके तीन मेद होते हैं। इसी के कारण इससे युक्त 'संलक्ष्यक्रमव्यक्त्य'नामक व्यक्तिवाय

(उत्तम काव्यं) के भी तीन भेद होते हैं।
तनेति—इनमें से शब्दशक्ति से उत्पन्न ध्वनि के भेद दिखाते हैं—निस्तिति—
शब्द की शक्ति से मंतीयमान व्यक्त्य दो प्रकार का होता है, पक वस्तुरूप और दूसरा श्रां । व्यक्त व्यक्त्र श्रां । व्यक्त व्यक्त श्रां । व्यक्त व्यक्त श्रां । हे पथिक, इस पहाड़ी गांव में संत्थर (विस्तर श्रां शांका) तो विल्कुल नहीं है। हां, यदि उठे हुए पयोधरों (स्तनी श्रां वाद्रां श्रां ) को देखकर ठहरना चाहते हो तो ठहर जाओ। यह पथिक

अत्र सत्थरादिशब्दशक्त्या यद्युपभोगच्चमोऽसि तदास्त्रेति वस्तु व्यज्यते। अवंकाररूपो यथा-- 'दुर्गालङ्कितविप्रहः-' इत्यादि ।

अत्र प्राकरिएकस्योमानाममहादेवीवल्लभभानुदेवनामनृपतेर्वर्णने द्वितीयार्पति तमप्राकरिएकस्य पार्वतीवल्लभस्य वर्णनमसंबद्धं मा प्रसाङ्कीदितीरवरमानुदेवयोह मानोपमेयभावः कल्प्यते।तदत्र 'उमावल्लम उमावल्लम इव' इत्युपमालंकारो व्यक्त यथा वा

'अमितः समितः पातैरुत्कर्षेहर्षद प्रभो। अहितः सहितः साधुयशोभिरसतामसि ॥'

अत्रामित इत्यादाविपशब्दाभावादिरोधाभासो व्यङ्गचः। व्यङ्गचस्यालंकार्यते ब्राह्मसम्अमसन्यायादलंकारत्वमुपचर्यते ।

के प्रति स्वयंदूती की उक्ति है। अनेति -यहां पहले यह अर्थ प्रतीत होता कि यहां बिस्तर आदिक तो है नहीं, हां, उमके हुए बादलों को देखकर है तैसे रात काटना ही चाहते हो तो ठहर जाश्रो। परन्तु पीछे 'सत्था' है 'पन्नोहर' पदों की शक्ति से यह अर्थ व्यक्त होता है कि परदारगमन कालि करनेवाले शास्त्रों की तो यहां कुछ चलती नहीं है। यदि उपमोग के के हो और उन्नतस्तनों को देखकर रुकना चाहते हो तो रुक जाओ। प्राह्मा 'सत्थर' शब्द शास्त्र और बिस्तर दोनों में शिलष्ट है।

् शब्दशक्ति से त्रलङ्काररूप व्यङ्गय जैसे —'दुर्गालंधित' इत्यादि पूर्वोहण अत्रेति-यहां उपानामक रानी के पति राजा भा तुदेवका वर्णन प्रकृत है,परन्तु ह मादि शब्दों से पावेतो-पति शङ्कर भी प्रतीत होते हैं। यह मप्रकृत मर्थमा न हो जाय, इसलिये इन दोनों (राजा और शिव) का उपमानीपमेग किएत किया जाता है, अतः यहां उमावल्लम (राजा) उमावल्लम (क के सहश है यह उपमालङ्कार व्यङ्गच है। दूसरा उदाहरण—शित 'समित्' अर्थात् युद्ध से अमित अर्थात् अपरिमितशक्तियुक्त और अपरि किये हुए उत्कर्षों से लोगों को हर्ष देनेवाले हे प्रमो, (राजन,) भाष यश से सहित (युक्त) और असज्जन पुरुषों को अहित हैं। यहां विरोध वाचक 'श्रिप' शब्द न होने के कारण 'श्रिमतः' 'समितः' श्रीर 'ब्रिहां' क्री विरोधांमास अलङ्कार व्यक्तच है। यद्यपि अलङ्कार वह होता है जो किसी भूषित करे। उपमा त्रादि रसको भूषित करते हैं। परन्तु व्यक्ष्य प्रति भूषित होते हैं। किसी अन्यं को भूषित नहीं करते। क्योंकि व्यक्ष्य प्रश्ना प्रधान माना जाता है। तथापि 'ब्राह्मणुश्रमणु' त्याय से व्यङ्गयद्शा में भी क्रिक्स स्थाप के व्यङ्गयद्शा में भी क्रिक्स स्थाप क्षेत्र का प्रयोग होता है। तथापि 'ब्राह्मणुश्रमणु' त्याय से व्यङ्गयद्शा में भी ङ्कार' पद का प्रयोग होता है । जैसे यदि कोई ब्राह्मण, जैन-सांघु (अम्बर्ण) जाय तो वह बाक्क - प जाय तो वह ब्राह्मण नहीं रहता, पर्न्तु पहली दशा के अनुसार इसे अमणकः' कह देते हैं। इसी प्रकार व्यङ्गय होने पर भी उपमादिकी क दृष्ट अलङ्कार पद का प्रयोग जानना। एक अवस्था में देखे हुए धर्म होते अवस्था में गौग प्रयोग करने पर 'ब्राह्मणश्रमणक' न्याय का अवस्र

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वस्तु बालंकृतिर्वापि द्विधार्थः संभवी स्वतः॥ ७॥ क्वेः प्रौढोकिसिद्धो वा तन्निबद्धस्य चिति षट्। बङ्भिस्तैवर्वज्यमानस्तु वस्त्वलंकाररूपकः ॥ = ॥ अर्थशक्तयुद्धवो व्यङ्गयो याति द्वादशभेदताम्।

स्वतःसंभवी, त्र्योचित्याद्वहिरपि संभाव्यमानः । पौढोक्त्या

वौचित्येन । तत्र ऋमेगा यथा-

'दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि, च्रामिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि वायेगास्य शिशोः पिता न त्रिरसाः कौपीरपः पास्यति। एकाकिन्यपि यामि सत्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलं नीरन्धांस्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदा नलप्रन्थयः॥

अनेन स्वतःसंभविना वस्तुमात्रे एौतत्मितिपादिकाया भाविपरपुरुषोपभोगजनख-

ज्ञतादिगोपनरूपं वस्तुमात्रं व्यज्यते ।

'दिशि मन्दायते तेजो दित्तग्रस्यां रवेरि । तस्यामेत्र रघोः पाएड्याः प्रतापं न विषेहिरे॥'

अर्थशक्त्युद्भव व्यङ्गध का निरूपण करते हैं - वस्तु वर्ष - पद । र्थ दो प्रकार के होते हैं। कुछ तो घट, पटादि वस्तुं-स्वरूप श्रीर कुछ उपमा श्रादि श्रलकार-स्वरूप। इन दोनों में कुछ स्वतःसम्भवी होते हैं — जो काव्य के अतिरिक्त बाहर (लोक में) भी देखे जा सकते हैं - जैसे घट पटादिक। श्रीर कुछ कवि की प्रौढोक्ति (उक्तिप्रागर्भ्य) से ही करिएत होते हैं, बाहर नहीं देखे जासकते— जैसे कौश्रों को सफ़ेद करनेवाली चिन्द्रका। लोक में किसी ने ऐसी चिन्द्रका नहीं देखी जिससे काला जीज़ सफ़ेद हो जाय परन्तु काव्यों में ऐसा वर्णन वहुत मिलता है-यथा-'कर्णे करवगङ्गया कु श्लयं कुर्वान्त कान्ता श्री इत्यादि। पवं कुछ नाटकादिक में कविकल्पित पात्रों की प्रौढोक्ति से कल्पित होते हैं, अतः इस प्रकार पदार्थों के छुद भेद होते हैं। इन छुदों से जो अर्थ वाक्स्य होता है वह भी कहीं वस्तु रूप होता है और कहीं अलङ्कार रूप। इसलिये अर्थ-शक्तयुद्भव व्यङ्गय के वारह भेद होते हैं। इस विषय पर विशेष विचार आगे चलकर—दशमकारिका के अन्त में -करेंगे।

कम से उदाहरण देते हैं—इ हिनिति—हे पड़ोसिन, ज़रा इधर इमारे घर को भोर भी नज़र रखना। इस लल्ला के बाप शायद कुएं का वे स्वाद पानी नहीं पियेंगे। मैं जलदी के मारे अकेली ही यहां से 'तमालाकुल' ( प्रावनूस के पेड़ी से ढकें ) स्रोत पर जाती हूँ। पुरानी नलों की निविड प्रन्थियाँ देड में बरींट ( चत ) करें तो करें। (पर जाऊँगी अवश्य!)। अनेनेति—यहां सव पदार्थ स्वतःसम्भवी (लोकप्रसिद्ध) हैं। उनसे कहनेवाली के शरीर में माबी पर-पुरुष के उपभोग से उत्पन्न होनेवाले नखन्तादि का गांपन (वस्तु) व्यक्त

होता है। यह भविष्यत् रित की गोपना है।

दिसीति—दिविण दिशा में जाने से (दिविणायन होने पर) सूर्य का भी तेज पाद हो जाता है। परन्तु उसी दिशा में पाएड्य देश के राजा सोगों से रघु का

अपनेन स्वतः संभविना वस्तुना रिवतेजसो रघुपतापोऽधिक इति व्यतिरेकालंकारो क्रं श्यापतन्तममुं दूरादूरीकृतपराक्रमः । वलोऽवलोक्रयामास मातङ्गमिव केसरी ॥'

बलोऽत्रलाक्यामास मातकामत्र कासरा ॥ अत्रोपमालंकारेण स्वतःसंभविना व्यत्रकार्येन बलदेवः च्राणेनैव वेणुदानि

न्यं करिष्यतं ति वस्तु व्यज्यते ।

'गाडकान्तदशनज्ञत्व्यथासंकटादरिवधूजनस्य यः । अग्रिवद्रुमदलान्यमोचयित्रदशन्युधि रुवा निजाधरम् ॥'

अत्र स्वतःसंमित्रना विरोधालंकारेगाधिरो निर्देष्टः शत्रवो न्यापादितास्क समुचयालंकारो न्यङ्गयः ।

'सज्जें सुरिहमासो ए दाव अप्पेइ जुअइजरालक्खमुहे । अहिरावसहआरमुहे रावपन्नवपत्तले अराङ्गस्स सरे ॥'

प्रताप नहीं सहा गया। यह रघु के दिनित्र तथ का वर्णन है। अनेनेति—एं। तेज से भी रघु का प्रताप बढ़कर है, यह व्यतिरेक अलङ्कार यहां स्वतःसम

वस्तु से प्रकाशित होता है।

आपतन्तामिति—उस वेणुदारी को दूर से अपनी ओर अपटता देख, वतारी भी सम्हलकर पराक्रम के साथ, उसे ऐसे देखा जैसे मत्त मातङ्ग (हाथी)। केसरी देखे। अत्रेति—यहां गजेन्द्र और मृगेन्द्र की उपमा ( अलंकार) से व वस्तुक्षप अर्थ व्यक्त होता है कि सिंह के समान बलभद्र, ज्ञा भर में वेणुण का विदारण कर डालेंगे। यहां व्यञ्जक अर्थ (उपमा अलंकार) स्वतः संमानी

स्वतः सम्भवी अलंकार से व्यक्तय अलंकार का उदाहरण देते हैं—गांगे रण में कोध से ओंठ चबाते हुए जिस राजा ने शत्रुनारियों के ओष्ठकप विदुत्त (मूंगे के दुकड़ें) को पित के प्रगाढ दन्तत्तत की व्यथा के संकट से हैं दिया। अत्रति—इस पद्य में "जो अपने ही ओंठ चबारहा है वह दूसरे केंद्र का दुःख कैसे दूर करेगा" यह स्वतः सम्भवी विरोधालंकार है। उसवे प्र औठ चबाये और उधर शत्रु मारे गये' यह समुच्यालङ्कार व्यक्तव है।

वस्ततः यह उदाहरण असंगत है। वाच्य अर्थ से व्यङ्गय अर्थ की क्र का प्रकरण चल रहा है। सब उदाहरण इसी प्रकार के हैं। इस प्रकरण के में स्वयं विश्वनाथजी ने लिखा है कि एवं वाच्यार्थस्य व्यञ्जकतं उदाहत्य की और व्यङ्गयार्थ की व्यञ्जकता के उदाहरण इसके आगे दिखाये हैं। अती भी वाच्य अलंकार से व्यङ्गय अतंकार की प्रतीति का उदाहरण देता की था, परन्तु प्रकृत पद्य में 'अपि' शब्द न होने से 'अमितः समितः' के विरोध अलंकार व्यङ्गय है, वाच्य नहीं। यदि 'निर्देशन् युधि' के स्वितिकेशिक

कियोडोक्ति-सिद्ध वस्तु से व्यक्त्य वस्तु का उदाहरण हो जाया नि गति सुरामिमासो न ताबदर्पगित युवतिजनलच्यमुखान् । श्रीमनवसङ्कारमुखानवपह्य श्रीमार्गः । युवति-समूह है लक्ष्य जिनका ऐसे मुखाँ (श्राप्रमार्गः) से गुम्म प्रमान पत्र वाले नये नये श्राप्तपुष्प (वीर) श्रादि, कामरेव अत्र वसन्तः शरकारः, कामो धन्त्री, युवतयो लद्यम्, पुष्पाणि शरा इति कविष्रौढोिकिसिद्धं वस्तु प्रकाशीभवन्मदनविजृम्भण्रूष् वस्तु व्यनिक । (रजनीषु विमलभानोः करजालेन प्रकाशितं वीर ।

धवलयति भुवनमण्डलमखिलं तव कीर्तिसंततिः सततम्॥

अत्र किमीढोिकिसिद्धेन वस्तुना कीर्तिसंततेश्चन्द्रकरजालाद्धिककालपकाश-कत्वेन व्यतिरेकालंकारो व्यङ्गचः ।

'दशाननिकरीटेम्यस्तत्त्त्त्यां रात्त्सिश्रयः । मिण्विच्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामश्रुबिन्दवः॥'

को वसन्त मास, केवल तथारही नहीं करता, बिहक कामदेव का अपंश भी कर रहा है। अनेति—इसमें असन्त बाण बनानेवाला है, कामदेव योद्धा है, युवतियां लक्ष्य हैं और फूल बाण हैं, यह वस्तु किव की प्रोढोक्ति से ही सिद्ध है। लोक में काम-देव, न कोई धनुर्धारी योद्धा दीखता है और न उसके चलते हुए बाण, अतः यह कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु है। इससे कामोद्दीपन-कालक्कप वस्तु व्यक्षित होती है।

प्रश्न—जब वसन्तं में शरकारत्व काम में धनुर्धारित्व युवतियों में लक्ष्यत्व श्रीर पुष्पों में बाणत्व का आरोप किया गया है तब यह रूपष्ट ही रूपक श्रतं-कार हो गया। फिर इसे वस्तु से वस्तु की व्यक्षना के उदाहरण में कैसे रक्सा ?

Şi

1

ď

उत्तर—मूल पद्य में शरकार, धनुर्धारी आदि पदों का उल्लेख नहीं है। 'धरिमासः शरान् सजयित, अनक्षस्य च अपैयित' इतना ही चर्णन है, जोिक चस्तुरूप ही है, अलंकार रूप नहीं। रूपक अलंकार व्यञ्जनाके द्वारा यहां प्रतीत होता है। जिसे विश्वनाथजी ने वृत्ति में 'वसन्तः शरकारः, कामो धन्वी' इत्यादि लिखा है। इसी व्यक्ष्य अलंकार के द्वारा यहां मदन विज्ञम्मण रूप वस्तु व्यक्त होती है। उसी के अमिप्राय से यह उदाहरण दिया है। यद्यपि इसे कवि-प्रोहोकिसिद्ध वस्तु से व्यक्षय अलंकार के उदाहरण में रखना चाहिये, परन्तु यहां चरम व्यक्षय वस्तुरूप ही है। वही प्रधान है, अतः उसी के अमिप्राय से यह उदाहरण जानना। विश्वनाथजीने जिस ढंग से उपपादन किया है, बह असंगत है। 'वसन्तः शरकारः, कामो धन्त्री' इत्यदिक वर्णन श्रेली से अलंकार ही प्रतीत् होता है, वस्तु नहीं।

कविमी० वस्तु से व्यक्तय अलकार का उदाहरण—रजनिवात —हे वीर, केवल रात्रि में ही चन्द्रमा की किरणों से प्रकाशित होनेवाले भुवनमण्डल को अब आपकी कोर्ति दिन रात शुभ्र कर रही है। अविति —यहां किविप्रोही कि सिद्ध वस्तु (कीर्ति कर्नृक प्रकाशन से) "कीर्ति, चन्द्रमा की प्रवेदा, अधिक समय

प्रकार करती है"—यह व्यतिरेकालङ्कार व्यक्त है।
किविनी श्रलंकार से व्यक्त वस्तु का उदाहरण — दशानंति — उस समय
रावण के मुकुटमिण्यों के बहाने राज्ञ सों की ज़हनी के श्रांस् पृथ्वी पर गिरे।
श्रीरामचन्द्र के जन्म के समय रावण के मुकुट से कुछ मिण्यों भूमि पर गिर
पड़ीं। मुकुट से मिण्यों का गिरना बड़ा अमंगल समभा जाता है, अतपव
महाक्षवि कालिदास ने यह कहा है कि वे मिण्यों नहीं गिरीं, किन्तु राज्ञ सों की
लिहमी के श्रांस् गिरे। राज्ञ सलक्ष्मी आगे चलकर नष्ट होगी, अतः वह रो रही है।

अत्र किविपौढोिक सिद्धेनायहुत्यलंकारेण भविष्यद्रान्तसश्रीविनाशरूपं वस्तु व्यक्तं धिमिल्ले नवमिल्लेकाःसमुद्रयो हस्ते सिताम्भोरुहं हारः कण्ठतटे पयोधरयुगे श्रीखण्डलेपो घनः। एकोऽपि त्रिक्तलिङ्गभृमितिलक त्वत्कीर्तिराशिर्ययौ नानामण्डनतां पुरन्दरपुरीवामश्रुवां विप्रहे॥'

अत्र कित्रपादोक्तिसिद्धेन रूपकालंकारेगा भूमिष्टोऽपि स्वर्गस्थानामुपकारं को पीति विभावनालंकारो व्यज्यते ।

श्रंति—यहां मिण के रूप का जिपाकर आंस् का स्वरूप दिखाने से क्षा हित आलङ्कार बना है। उससे राज्ञ सलक्ष्मी का आवी विनाश (वस्तुरा) स्चित होता है। राज्ञ सलक्ष्मी के आंस् कविकल्पित हैं, स्वतःसम्मवी गौ

किविप्रौढािक्तिसिद्ध त्रलङ्कार से व्यक्तय त्रात्रङ्कार का उदाहरण देते हैं - भीव इति—हे ते तक्षदेश के तिलक, (राजन,) त्रापकी त्रकेलों की तिरािश ल् नगरी की लवनात्रों के त्रांतक भूषणों के रूप में परिणत हो। गई। गुणे ह केशों में मिल्लिका के पुष्प वनी, हाथ में श्वेत कमल बनी, गलें में हार के स में परिणत हुई छोर कुचयुगल में सान्द्रचन्दनलेप के स्वरूप में प्रकटही अत्रेति—यहां कीर्ति में हारािक्त का आरोप करने से रूपकालङ्कार होता है। वह किविप्रौढािक्ति सिद्ध है। उससे 'तुम पृथ्वी पर रहते हुए भी स्वर्गनिवाित्रयों का आ करते हो यह 'विभावना' श्रलङ्कार व्यक्तय है।

वस्तुतः न यहां केवल क्ष्यक अतंकार व्यक्षक है और न विमास अलंकार व्यक्ष्य ही है। वास्तव में यहां 'क्ष्यक' 'विरोध' श्रीर 'विशेष'। तान अलंकारों का एकाश्रया उनुप्रवेशक्ष्य 'संकर' श्रलंकार है। क्ष्यं स्वर्ध ही है। 'एको अप नानामगडन नां यथी' इस अंश में एकत्व और श्रोक (नानाम्व) क्ष्य संख्याओं का विरोध है और 'श्रिप' शब्द उसका बावकों हसी प्रकार धिमारल, हस्त, क्ष्यठ श्रीर प्रयोधर इन श्रोक स्थानों में वहीं की तिं के रहने से 'एकं चाउनेकगोचरम्' यह विशेष श्रलंकार निच्यक होती इन तीनों श्रलंकारों के आश्रय (शब्द श्रीर श्रर्थ) यहां पृथक २व्यविश्वर है, प्रत्युत श्रीमक हैं, श्रतः यह एका अथानु प्रवेशक प्रसंकर श्रलंकार हुं श्रीर स्थान श्रीमक हैं, श्रतः यह एका अथानु प्रवेशक प्रसंकर श्रलंकार हुं श्रीर स्थान स्था

हेत के विना कार्य को उत्पत्ति होने पर 'विभावना' अलंकार होती परन्तु प्रकृत पद्य में उसकी कोई संगति नहीं बैठती यहां कार्य और कार्य दोनों ही —िवद्यमान हैं, कीर्ति कार्य है और मिल्लका आदि कार्य है और उसका कार्य (विभावना विश्व कार्य कार्य कार्य कार्य कार्य (विभावना विश्व कार्य का

शिखरिणि क नु नाम कियचिरं किमिभधानमसावकरोत्तपः।
सुमुखि, येन तवाधरपाटलं दशित विम्बफलं शुकशावकः॥'

अत्रानेन कविनिबद्धस्य कस्यचित्कामिनः पौढोिक्तिसिद्धेन वस्तुना तवाधरः

पुण्यातिशयलभ्य इति वस्तु प्रतीयते । 
सुभगे कोटिसंख्यत्वमुपेत्य मदनाशुगैः ।-

i

٩Ì

ği.

H

7

朝

भ्युभग कााटसस्यत्वमुपत्य मदनाशुगः ।-वसन्ते पञ्चता त्यक्ता पञ्चतासीद्वियोगिनाम् ॥'

इसके अतिरिक्त देवाङ्गनाओं के भूषण का कारण साजात् राजा नहीं है. अपितु उसकी कीर्ति है। कीर्ति ही नवमित्तका आदि के क्रंप में परिणत हुई है, स्वयं राजा नहीं। कीर्ति का दिगन्तगामित्व और लोकान्तरगमन काज्यमार्ग में सर्वसंमत है। इस दशा में कार्य-कारण की मिन्नदेशता भी नहीं कही जा सकती। इस प्रकार न तो यहां कारण का अभाव ही है न कार्य कारण की मिन्न देशता ही है और न इस भिन्न देशता से 'विभावना' अर्जकार की निश्वित्त ही संभव है, अतः 'भूभिष्ठोऽपि स्वर्गस्थानाप्पकार करं बीतिविभावनाऽसंकारो व्यव्यो यह विश्वनाध जी की व्याख्या सर्वथा असंगत है।

यदि यह कहा जाय कि कीर्ति धिमिल्ल में मिल्लिका कुसुम बनी, हाथ में कल्हार, कएठ में मुक्लाहार और पयोधरों में चन्दनलेप बनी, इस प्रकार एक हां कीर्ति के अनेकरूपों में पिरिशत होने का कोई कारण निर्दिष्ट नहीं है, अतः यह 'विभावना' अलंकार है, तो भी असंगत है। जब एक ही सुवर्ण के अनेक भूषण बन सकते हैं तो एक कीर्ति के अनेक आभरण बनने में क्या आपित हो सकती है।

काव्यमकाशकार ने इस विषय में जो उदाहरण दिया है वह बहुत श्रव्छा है—

"जा ठरं व इसन्ती कइवश्रणं मुद्रह बद्धाविणिवेसा। दावेइ अञ्चणमण्डलमण्णं विश्व जञ्चइ सा वाणीं॥" या स्थविरिमव इसन्ती कविबदनाम् मुद्रहबद्धविनिवेशा। दर्शयित अवन्मण्डलमन्यदिव जयित सा वाणी॥

अत्रोत्मेच्या, चमत्कारेककारणं नवं नवं जगत् अजड सनस्या निर्मिनिते इति व्यतिरेकः । "

कविनिबद्ध वक्षा की प्रौढोिक से लिख नस्तु के द्वारा व्यक्ष्य वस्तु का उदाहरण—शिखरिणांति— हे सुमुखि, इस तोते के बच्चे ने किस पर्वत पर कितने दिनों तक क्या तप किया है जो यह तुम्हारे आँठ के सहश लाल शिम्बक्त (किने के ) का स्वाद ले रहा है ? अत्रेति—यहां यह वक्षा, कविकिएतपात्र है। सिकी प्रौढोिक से लिख इस वस्तुसे यह व्यक्ष्य निकलता है कि तुम्हरा अधर अत्यन्त प्रयों से प्राप्य है। जब अधर के तुल्य वस्तु (बिम्बक्त ) का स्वाद लेने के लिये किसी खुदूर पर्वत पर बहुत काल तक घोर तपस्या करने की आवश्यकता है तो लास अधर के लिये कितना तप चाहिये, इसका तो कहना ही क्या है ?

किविनिवद्धवक्रभीढोक्तिसिद्ध वस्तु से व्यक्त्य अलंकार का उदाहरण—प्रमणे कित्र वस्तु से व्यक्त्य अलंकार का उदाहरण—प्रमणे कित्र कित्र वस्तु से काम के बाणों ने करोड़ों की संख्या प्राप्त करके पश्चता (पांच संख्या) छोड़ दी। और वियोगियों को पश्चता (मरण्) प्राप्त

अत्र कविनिवद्भवकृषीढोकिसिद्धेन कामशराणां कोटिसंख्यत्वपाप्या निक त्रियोगिमरगोन वस्तुना शराणां पश्चता शरान्त्रिमुच्य वियोगिनः श्रितेत्रेत्युमे लंकारो व्यज्यते।

'मल्लिकामुकुले चिएड, भाति गुजन्मधुत्रतः। प्रयाणे पञ्चवाणस्य शङ्कमापूरयनिव ॥

अत्र कविनिवद्भवकृपौढोिकिसिद्धेनोत्पेत्तालंकारेगा कामस्यायमुन्मादकः का पाप्तस्तत्कथं मानिनि मानं न मुश्चसीति वस्तु व्यज्यते ।

> 'महिलासहरूसभरिए तुह हि अए सुह अ सा अमाअन्ती। अणुदिरामगारगाकम्मा अङ्गं तराष्ट्रं पि तरापुर् ॥

हो गई। यहां वक्ता कविनिवद्ध है — उसकी यह प्रोढोक्ति है कि 'कामरेश' वाण आज कल पांच के स्थान में करोड़ों हो गये और इससे वियां गियो। गरण हुआ। इससे 'बाणों की पश्चता मानों वहां से इटकर वियोगियों में समा वहं। म 'उत्प्रेता' अलङ्कार व्यङ्गय है। 'पञ्चता' का अर्थ पांच संख्या भी होताहै हो मरण भी। कामदेव के बाणों में 'पञ्चता' संख्या रूप है और वियोगियों में 'पञ्च का अर्थ है मरण। ये दोनों एक नहीं हैं, अतः पहले यहां इन दोनों में ले मुलक अमेदाध्यवसाय होता है और उसी के आधार पर अन्त में श्लेषम्बर तिशयोक्ति के द्वारा मुलोक्त 'उत्प्रेच।' अलंकार व्यक्त होता है।

कविनिबद्धवक्ता की प्रौढोक्ति से सिद्ध अलङ्कार के द्वारा व्यक्ष्य अलङ्कार उदाहरण-मिलकेति—हे कोधशीले, चमेली की कली पर गूँजता हुआ समर्ग मालूप होता है मानों कामदेव की विजययात्रा का विजयशंख बजा रहा। अनेति —यहां कविनियद्वयक्ता की पौढाकि से उत्प्रेचालङ्कार बना है, उसते वस्तु व्यक्त होती है कि कामोन्माद का समय आ चुकाहै। हे मानिति, र्ष भी मान नहीं छोड़ती। यहां कोई यह सन्देह करते हैं कि मुकुल का भा पतला होता है और चुन्त में लगा हुआ भाग मोदा होता है। शंब जिस बी बजता है उसकी समता इसी मोटे भाग के साथ हो सकती है, परनु भ्रमर का मुख लगना संभव नहीं। और यदि भ्रमर बैठ जाय तो गुक्रन होता। वह उड़ने की दशा में ही होना है और उड़ता हुआ समर मुक् अप्रमाग पर ही रह सकता है जिसका शृङ्क वजनेवाले भाग के साम साम्य नहीं। इसका समाधान कोई करते हैं कि यहां 'मधुवत' गृह्य हो। प्राय हैं। उससे शराब (मधु) कि नशे, में मस्त होता प्रतीत होता है बी मस्ती में उत्तरा शङ्ख फूँकने लगना एवं जब उसमें से शब्द न निकति है। मुँह से ही शब्द करने लगना इत्यादिक कामोन्माद की बातें उपपन्न होता हैं। वस्तुतः यह शङ्का और समाधान—दोनों ही वितोदमात्र हैं। कविनि विवाद मात्र समाधान दोनो ही विवाद मात्र व प्रतिवाद कि विवाद मात्र व प्रतिवाद कि विवाद मात्र व प्रतिवाद कि विवाद मात्र व विवाद मात्र व विवाद मात्र व विवाद के वि

"महिलासहस्रभारिते तब हृदये सुमग, सा अमान्ती। श्रतिदिनमनन्यकर्मा अनं तहकमिति CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अत्रामाद्यन्तीति कविनिबद्धवकृषीढोिकसिद्धेन काव्यलिङ्गालंकारेण तनोस्त-भूकरणेऽपि तब हृदये न वर्तंत इति विशेषोक्त्यलंकारो व्यज्यते । न खलु कवेः किविनिबद्धस्येव रागाद्याविष्टता, अतः किविनिबद्धवकृषीढोिकः किविषौढोिक्तरेषिकं सह्दयचमत्कारकारिणीित पृथक्षपितपादिता ।

एषु चालंकृतिव्यातनस्थले रूपणोत्पेद्धणव्यतिरेचनादिमात्रस्य पाधान्यं सहृत्य-संवेद्यम्, न तु रूप्यादीनामित्यलंकृतेरेव मुख्यत्वम् ।

एकः शब्दार्थशक्युत्थे

उभयशक्त्युद्भवे व्यङ्गचे एको ध्वनेभेदः।

यथा--

E

dr

d

'हिममुक्तचन्द्ररुचिरः सपद्मको मदयन्द्रिजाञ्जनितमीनकेतनः।

हे सुन्दर, हज़ारों स्त्रियों से भरे हुए तुम्हारे हृदय में अवकाश न पाकर वह कामिनी और सब काम छोड़ कर दिन रात अपने दुर्बल देह को आज कल और भी दुर्बल बना रही है। अत्रेति—यहां 'अमाअन्ती' (न समा सकने के कारण) इस कविनियद्ध बक्ता की प्रौढोक्ति से सिद्ध काव्यलिङ्ग अलङ्कार के द्वारा 'देह दुर्बल करने पर भी तुम्हारे हृदय में नहीं समाती' यह विशेषोक्ति अलङ्कार व्यक्त होता है।

न खलु इति—कविकल्पित नायक आदि के समान कि तो स्वयम् अनु-रागांदि से युक्त होता नहीं, अतः कि की प्रौढोिक्त की अपेना कि विनिबद्ध यक्ता की प्रौढोिक्त अधिक चमत्कारक होती है, अतप्व उसे पृथक् कहा है। अन्यथा प्रौढोिक्त सिद्ध अर्थ को एक ही मान लेते। रसगङ्गाधर में पिएडतेन्द्र ने इस मत का खरुडन किया है।

एषु चेति—इन उदाहरणों में जहां अलङ्कार व्यक्तय है वहाँ रूपण, उत्पेत्तण, व्यितिरेचन आदि की प्रधानता सहदयों के अनुभवों से सिद्ध है और ये सब रूपक, उत्पेत्ता, व्यितिरेक आदि अलङ्कारों के निमित्त हैं, अतः उक्त स्थलों में अलङ्कारों का ही प्रधानता मानी जाती है, रूप्य वस्तुओं की नहीं।

एक इति—उभयशक्तयुद्भवध्वित का केवल एक ही भेद होता है। हिमेति —
माधव (श्रीकृष्ण अथवा वसन्त) कामिनीजन को आनन्ददायक हुए। 'हिममुक्तं 
रत्यादि विशेषण श्रीकृष्ण और वसन्त दोनों में शिलप्ट हैं, हिम (कुहरा-तुषार 
आदि) से मुक्त चन्द्रमा के समान सुन्दर श्रीकृष्ण अथवा हिममुक्त चन्द्रपासे 
रमणीय वसन्त, (जाड़े के बाद वसन्तमें चन्द्रमा निर्मल होजाताहै) 'सपद्यकः' 
पद्मा (लक्ष्मी) से युक्त (श्रीकृष्ण) अथवा क्यों से युक्त (वसन्त) हिजों 
(बाह्यणों) को आनन्द देते हुए (श्रीकृष्ण) अथवा (दिजों) कोकिलादि पित्रयों 
को आनन्द देता हुआ (वसन्त) मीनकेतन (प्रयुक्त अथवा काम) को पैदा

अभवत्पसादितसुरो महोत्सवः प्रमदाजनस्य स चिराय माधवः॥'

अत्र माधवः कृष्णो माधवो वसन्त इवेत्युपमालंकारो व्यङ्ग्यः। व्यङ्ग चमेदादेव व्यञ्जकानां काव्यानां मेदः।

तद्ष्टाद्शघा ध्वनिः॥१॥

अविविद्याच्योऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यरचेति विवि विवित्तान्यपरवाच्यस्तु असंलद्यक्रमन्यङ्ग चत्वेनैकः । संलद्यक्रमन्यङ्गग्वेत शब्दार्थोभयशिक्तमूलतया पञ्चदशेत्यष्टादशभेदो ध्वनिः । एषु च-

वाक्ये शब्दार्थशकत्युत्यस्तद्वन्ये पद्वाक्ययोः।

तत्रार्थान्तरसंक्रमितवाच्यो ध्वनिः पद्गतो यथा-

'धन्यः स एव तरुणो नयने तस्यैव नयने च। युवजनमोहनविद्या भवितेयं यस्य संमुखे सुमुखी ॥'

अत्र द्वितीयनयनशब्दो भाग्यवत्तादिगुणविशिष्टनयनपरः। वाक्यगतो यथा-

'त्वाम्सिम विच्म विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति ।

करनेवाला, सुर ( देवता ) अथवा सुरा ( मद्य ) को असन्न करनेवाला मि अनेति—इस पद्य में कृष्ण वसन्त के समान हैं, यह उपमा श्रलङ्कार व्यक्षी यहां कुञ्ज पद 'हिममुक्त' 'मीनकेतन' ऋ।दि बदले जा सकते हैं। इनके पर्क वाचक पद रख देने पर भो अर्थ नहीं बिगड़ता। और कुछ 'सुरा' 'हिज' ही नहीं बदले जा सकते । अतः यहां व्यक्त्य अर्थ की प्रतीति में शब्द और दोनों ही कारण हैं। श्रतएव यह ध्वनि उभयशक्त्युद्भव माना जाता है।

तदष्टादश्येति — अविविद्यात वाच्य के दों भेर कहे हैं। एक अर्थान्तरसंक्री वाच्य, दूसरा अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य । विविद्यतान्यपरवाच्य में असंतर्भ व्यक्तवका एक ही भेद होता है। ये तीन हुए। संतक्ष्यक्रमव्यक्तव में दोश म्लक, वारह अर्थम्लक और एक उमयम्लक इस प्रकार पन्द्रह मेर्ग

हैं। सव मिलकर अठारह ध्वनिभेद हुए।

वास्ये इति—उभयमुलकध्वनि केवल वाक्य में ही होता है, श्रीर शेव तथा वांक्य दोनों में होते हैं। उनमें अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वित गत उदाहरण जैसे—बन्यः इति—वही युवा धन्य होगा, और उसी के तेर् होंगे जिसके सामने युवकजनों की मोहनो यह तरुणी उपस्थित होगी। दूसरा नयनपद भाग्यवत्ता आदि गुणों से युक्त नेत्रों को लक्षा से बार्ष करता है। इसका वर्णन इसो परिच्छेद के आरम्भ में अर्थान्त संक्रितिवार ध्वनि के अवसर पर कर आये हैं। इस पद्य की विस्तृत विदेवना परिच्छेद में बाटानुशास की वयाख्या में देखना।

इसी ध्वनि का वाक्यगत उदाहरण—त्वामिस्म—अपने शिष्य के प्रति

आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विघेहि तत्॥

अत्र प्रतिपाद्यस्य संगुखीनत्वादेव लब्धे प्रतिपाद्यत्वे त्वामिति पुनर्वचनमन्यव्यावृत्ति-विशिष्टं त्वदर्थं लच्चयति । एवं वच्मीत्यनेनैव कर्तरि लब्धेऽस्मीति पुनर्वचनम्।तथा विदुषां समवाय इत्यनेनैव वक्तुःप्रतिपादने सिद्धे पुनर्वच्मीतिवचनमुपदिशामीति वचन-बिशेषरूपमर्थं लत्त्यति। एतानि च स्वातिशयं व्यक्षयन्ति। एतेन मम वचनं तवात्यन्तं हितं तदवरयमेवकर्तव्यमित्यभिपायः।तदेवमयंवाक्यगतोऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्योध्वनिः।

अत्यन्तितरस्कृतवाच्यः पदगतो यथा—'निःश्वासान्धः—' इत्यादि। वाक्यगतो यथा—'उपकृतं बहु तत्र-' इत्यादि । अन्येषां वाक्यगतत्वे उदाहृतम् । पद्गतत्वं यथा-

'लावएयं, तदसौ कान्तिस्तद्रूपं स वचःक्रमः। तदा सुधास्पदमभूदधुना तुं ज्वरो महान्॥'

(fi

đ

W.

M

F

अत्र लावएयादीनां तादृगनुभवैकगोचरताव्यञ्जकानां तदादिशब्दानामेव पाधा-न्यम् । अन्येषां तु तदुपकारित्वमेत्रेति तन्मूलक एव ध्वनिव्यपदेशः ।

उक्ति है—देख, मैं तुक्तसे कहता हूँ,—यहाँ विद्वानों की मएडली उपस्थित है, अतः अपनी बुद्धि को स्थिर करके (खुब समक्ष बुक्तकर) काम करना। अत्रेति— जिससे बात कहनी है वह सामने ही खड़ा है, फिर भी 'त्वाम्' कहने से 'त्वत्' पद का अर्थ (वही शिष्य) अन्यों से ब्यावृत्त (पृथक्) होकर लित्त होता है। मैं 'तुमसे' कहता हूँ जो 'तू' न तो अनुभवी है और न विशेषज्ञ है इत्यादि भाव बित होता है। उससे यह व्यङ्गय होता है कि 'तु के मेरी बात अवश्य माननी चाहिये'। इसी प्रकार 'विचम' पद के कहने से ही कर्ता का ज्ञान हो सकता था, फिर भी 'श्रहम्' का पर्याय 'श्रह्मि' कहने से वक्ता में हितचिन्ताकृत विशेषता लिसत होती है एवं 'विदुषां समवायः' इसीसे वक्ता का प्रतिपादन सिद्ध है फिर 'विदिम' कहने से 'उपदिशामि' (उपदेश करता हूँ) यह कथन की विशेषता बित होती है। इन सब लक्षणाओं से लिक्त अर्थों का अतिशय व्यक्तय है। ससे यह अभिपाय निकलता है कि मेरा उपदेश तेरे लिये अत्यन्त हितकर है, अतः तुमे वह अवश्य मानना चाहिये। इस प्रकार यह वास्यगत 'श्रयन्तिर-संक्रिमतवाच्य' ध्वनि का उदाहरण है, क्योंकि इसमें अनेक पदों में लक्तणा है। अत्यन्तितरस्कृतवाच्य का पद्गत उदाहरण जैसे पूर्वोक्न 'निश्वासान्घ' इत्यादि पद्य। श्रीर वाक्यगत जैसे—'उपकृतम्' इत्यादि। श्रीरों के वाक्यगत

उदाहरण त्रा चुके हैं। असंत्रहरणक्रमव्यक्तर्यः विने का पद्गत उदाहरण—लाव्यमेनते —वह लावएय! वह कान्ति ! वह रूप !! श्रीर वह वचनावली !!! उस समय (संयोग में ) तो ये सब अमृतवर्षी थे, परन्तु अब (वियोग में) अतिसंतापकारी हो गये हैं। अतेति यहां लावएयादि की अलौकिकता के द्योतक 'तत्' आदि शन्दों का ही पाशान्य है। अन्य शब्द उनके उपकारकमात्र हैं, अतः ध्वतित्वः व्यवहार उन्हीं CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तदुक्तं ध्वनिकृता— 'एकावयवसंस्थेन भूषगोनेव कामिनी। पदबोत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती॥'

एवं भावादिष्वप्यूह्मम् ।

'भुक्तिमुक्तिकृदेकान्तसमादेशनतत्परः ।

कस्य नानन्दनिष्यन्दं विदधाति सदागमः ॥'

अत्र सदागमशब्दः संनिहितमुपनायकं प्रति सच्छास्त्रार्थमभिधाय सतः पुरुषक

तत् आदि पदों के कारण होता है। इसीसे यह पदगत ध्वनि है। इसी

आदि पदों से यह व्यक्त होता है कि उसका लाव एय आदि केवल विक अनुमव से ही जाना जा सकता है। शंब्दादि से उसका निरूपण अगुन्त इस अपूर्वता व्यक्षन के द्वारा विलक्त विप्रतम्भ श्रङ्गार ध्वनित होता है। व यहां 'तत्' 'असी' 'तद्' 'सः' ये चार पद व्यक्षक हैं — और अनेक पदाँके वा होने पर वाक्यगत ध्वनि माना जाता है, पद्गत नहीं, तथापि इन सक्की म 'तद्'शब्द एकही है-श्रीर 'श्रद स्'शब्द - (श्रसी की प्रकृति) भी उसकाण मात्र है। भिन्न रूप से अर्थ का उपस्थापक नहीं, इस अभिपाय से इसे पार ध्वनि बताया है। यदि इसे एक ही पद में बनाना हो तो पद्य को यो करते चाहिये—'लावएयं तद्विलासिन्या लोलराजीव्च चुवः। तदा सुधास्पदमभूद्धुना तु ज्यो बा प्रश्न जब एक पद के व्यक्षक होने में अन्य भी उसके उपकारक हों। अकेला वही व्यक्षक नहीं होता, तो फिर उसे पद्गतध्वनि कैसे मानतेही तो अनेक पदों की सहायता चाहने के कार्या वाक्यगतध्वित होना चारि उत्तर-जहां प्रधानता से एकही पद व्यञ्जक हो वहां पद्गतध्वितिही जाती है। अन्य पद यदि व्यक्षक नहीं, केवल उपकारक हैं, तो वास्त नहीं मानी जायगी। यही ध्वनिकार ने भी कहा है - एकावयवेति - किसीप से द्योत्य (प्रकाश्य ) ध्वनि के द्वारा कवि की सम्पूर्ण वाणी उसी शोभित होती है जैसे किसी एक अंग (नासिका आदि) में पहिने हुए म कामिनी सुशोभित होती है। इससे यह स्पष्ट है कि अन्य पदों का सी होते पर भी एक ही पद व्यक्षक होता है। इसी प्रकार भावादिकी पदंगतध्वनि का उदाहरण जानना। ं शब्दशक्तिमुलक वस्तु-ध्वनि' का पद्गत उदाहरण दिखलाते हैं गूर्ण लोगों के सामने जन्मान लीगों के सामने उपनायक को आया देख कुलंटा ने सञ्छास की प्रा बहाने उसके प्रति अपना हर्ष प्रकाशित किया है। अर्थ-एका हा आज्ञा देने में तत्पर और भुक्ति (भोग) तथा मुक्ति (दुःखनाश) का स्वाम (स्वत्र स्वताश) का स्व सद्गिम (सञ्जास अथवा अञ्झे आदमी का आना ) किसे आनि करता। यहां सद्गामः पद् में सन् शोभनः आगमः शासम्, और 'सतः पुरुष अगिमनम् इत दो समासों के करते से उक्त दोनों अर्थ निकलते अविति यहाँ सद्गिम शृब्द अभिधा के द्वारा सञ्क्षाल परक अभिधा के द्वारा सञ्काल परक अभिधा के द्वारा सञ्काल परक

इति वस्तु व्यनिक्त । नतु सदागमः सदागम इवेति न कथमुपमाध्वनिः । सदागम-शब्दयोरुपमानोपमेयमावाविवच्चणात् । रहस्यस्य संगोपनार्थमेव हि द्रचथपदपति-पादनम् । प्रकरणादिपर्यालोचनेन च सच्छास्नाभिधानस्यासंबद्धत्वात् । 'अनन्यसाधारणधीर्धे ताखिलवसुन्धरः ।

राजते कोऽपि जगति स राजा पुरुषोत्तमः॥'

अत्र पुरुषोत्तमः पुरुषोत्तम इवेत्युपमाध्वनिः। अनयोः शब्दशिक्तम् वौसं लद्यक्रमभेदौ । 'सायं स्नानमुपासितं मलयजेनाङ्गं समालेपितं

यातोऽस्ताचलमौलिमम्बरमणिर्विस्रब्धमत्रागतिः ।

1

पश

या

郭州

ŞŦ:

(è

1

I

fi

PE

d

करने के अनन्तर पास खड़े हुए उपनायक के प्रति सत्पुरुषसमागमस्य अर्थ (वस्तु) का व्यञ्जन करता है।

प्रश्न-जैसे पूर्वोक्न 'दुर्गालङ्कितविष्रहः' इत्यादि प्रश्च में वाच्य श्रौर व्यङ्गय श्रणों का उपमानोपसेयमाय भी व्यङ्गय माना जाता है, वैसे यहां भी सदागम पद के वाच्य (सच्छास्त्र) श्रौर व्यङ्गय (सत्पुरुषसंग) श्रणों में उपमानोपसेय भाव को व्यङ्गय क्यों नहीं मानते ? यहां भी तो "सदागम (सच्छास्त्र) सदा-गम (सज्जनसंग) की तरह होता है' इस श्रर्थ से उपमा प्रतीत होती है।

उत्तर—यहाँ सदागम शब्द के इन दोनों अथौं में उपमानोपमेयभाव की विवता नहीं है। द्वर्थक पद तो केवल रहस्य के छिपाने के लिये बोल दिये गये हैं। प्रकरणादि की आलोचना के बाद सब्झास्न का कथन प्रकृत में एक दम असम्बद्ध हो जाता है। केवल दूसरा अर्थ ही उपयुक्त होता है। 'दुर्गा लिक्न दस्यादि पद्य में जैसे शिव की उपमा देने से प्रकृत राजा का महत्त्व बोधन अभीष्ट है, वैसे यहाँ कुछ नहीं। वाच्य अर्थ (सब्झास्त्र) तो यहां ज़रा देर के लिये घोखा सा देकर उह जाता है। असल मतलब उससे कुछ नहीं है।

शब्दशिक्तम् तक पद्गत अलङ्कारध्विन का उदाहरण देते हैं—जनन्येति—अलोकिक बुद्धि से युक्त, सम्पूर्ण पृथ्वी का धारण करनेवाला वह कोई पुरुषोचम राजा विराजित है। यहां, 'पुरुषोचम नामक राजा पुरुषोचम (विष्णु) के सहश है' यह उपमा ध्वनित होती है। ये दोनों ('भुक्ति॰'—'अनन्य॰') शब्दशक्तिम्लक संलक्ष्यक्रमव्यङ्गयःविन के भेद हैं।

अर्थशक्तिम् लक ध्वनियों के पद्गत उदाहरण देते हैं। स्वतः सम्भवी वस्तु से वस्तुध्विन का उदाहरण — सायभित्यादि — तू ने अभी सार्यकाल स्नान किया है। यरीर में शीतल चन्दन का लेप किया है। सूर्य अस्त हो गया है (धूप भी नहीं है) और आराम से (धीरे धीरे) तू यहां आई है। इस समय तेरी सुकु मारता अद्भुत है जो तू इतनी क्लान्त (मुरक्ताई सी) हो गई है और तेरे ये निर्निमेष नयन अति चञ्चल हो रहे हैं। यहां अर्थ स्वतः सम्भवी है। इससे यह वस्तु व्यक्तित होती है कि 'तू परपुरुष के सक्त से क्लान्त हुई है'। वह भी और पदों की अपेला 'अधुना' पद के अर्थ से अति स्पष्टरूप से प्रकाशित होती है, भतः यहां पद्गत ध्वनि हैं। इस समय तेरी सुकुमारता अद्भुत है जो पहले तो कमी नहीं दीख पड़ी। परन्तु इस समय तेरी सुकुमारता अद्भुत है जो पहले तो कमी नहीं दीख पड़ी। परन्तु इस समय स्नान करके, चन्दन लगा के, उंडक

आश्चर्यं तव सौकुमार्यमिमतः स्नान्तासि येनाधुना नेत्रद्वन्द्वममीलनव्यतिकरं शक्तोति ते नासितुम्॥

अप्र स्वतःसंमविना वस्तुना कृतपरपुरुषपरिचया स्नान्तासीति वस्तु व्यक्त तचाधुना सान्तासि, न तु पूर्व कदाचिदपि तवैवंविधः समो दृष्ट इति बोधयतीक पदस्यैत्रेतरपदार्थोत्कर्षादस्यैत्र पदान्तरापेच्तया वैशिष्टचम् ।

में धीरे २ ज़रा दूर आने में ही तू अत्यन्त थक गई और पसीना पतीन गई। सुकुमारता एक स्वाम।विक धर्म है जो सदा एकसा रहता है। जो सुकुमारता सदा न रहकर किसी खास समय में ही एकदम उवता करे वह 'श्रद्भुत' श्रवश्य है। इस प्रकार का श्रर्थ वोधन करता हुआ 'का पद प्रधानतया व्यञ्जक है। यहां 'अधुना' पद का सीकुमार्य के साथ क करने से व्यक्त्य की प्रतीति बहुत अच्छी होती है—'अधुना तव सीकुमार्गमा

न पूर्व कदाचिदप्यवं सौकुमार्य त्विय दष्टम्'.।

श्रीतर्कवागीराजी ने इस पद्य की व्याख्या इस प्रकार की है:—सायमित्यादे। ह पदार्थे प्रतिसंघानेन सायंतनस्नानस्य निमित्तान्तरानुसंघानप्रतिबन्धादविलम्बितमेव परपुरुवपरिष्क ययति । एवं मत्त्रयज्ञेनेत्यादिपरपुरुषसंभोगचिह्नगोपनम् । यात इति परपुरुषसंमोगप्रतिबन्धकः मावम् । विस्रव्यमित्यादि तद्देशे तत्कालिकनायकसत्त्वामावमधुनापदार्थप्रातेमंधानेनैव प्रतासं अत्रोपहास एव महावाक्यव्यङ्गयः । इस व्याख्या से ऋलंकार शास्त्र की अइताई तत्त्वार्थं समभने की अयोग्यता प्रकट होती है। आपका कहना है कि गण सङ्ग के सिवा, सार्यकाल के स्नान का और कोई कारण नहीं है। आप सा हैं कि न तो प्रकृत पद्य में किसी प्रहण पड़ने का वर्णन है स्रौर न किसीमा की चर्चा हैं। फिर यह सायंकाल नहाई क्यों ? बसं इसीसे मालूम होता इसने परपुरुवगमन् किया है। अब आपको यह कौन बताये कि यह गर्म ऋतु का वर्णन है और 'यातोस्ताचल॰' 'मलयजेनाङ्गम्' इत्यादि उसके स्पष्ट्रप्रमा शायद त्रापने गर्मियों में किसी को सायंकाल नहाते नहीं देखा। श्रीर क क्यों लगाया ? इसका उत्तर सुनिये — एवं मलयजेनेत्यादि परपुरुष मंभोगविद्गोल चन्दन थोपकर नखतत आदि परपुरुष के संमोगचिह छिपाये हैं। स्पति वर्णन का तात्पर्य श्राप बताते हैं कि परपुरुषसंभोग के प्रतिबन्धक प्रति अभावहै। विसन्वम् का भाव आप समसते हैं कि अब वहां परपुरुष है गीत जो उसे कोई एकड़ ले — अत्र प्य नायिका 'विस्नब्ध' यानी निश्चित

यदि यह मान भी लें कि तकवागीश जी ने इसे इतना धर्मशास प्रा कि परपुरुषगमन करके तुरन्त नहाने दाड़ जाती है और इतनी विकास है कि नजनत आदि के छिपाने के लिये चन्दन थोप लेती है तो कित इतनी 'क्लाल्न,' इतनी थकी और इतनी घबराई हुई क्यों है ? वसीता क्यों हो रही है ? यदि परपुरुषसङ्ग के अनन्तर स्नान और वन्द्रनी चुकी है तो फिर क्लान्ति और नेत्रचाञ्चल्य का क्या कार्य है वि को मगा के यह विस्नव्ध (निश्चिन्त ) हो चुकी है तो किर इसके चञ्चल क्यों हैं ? श्रापने इस पद्य में उपहास को व्यक्तय बताया है। गर्म CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

श्तद्रप्राप्तिमहादुःखिवलीनाशेषपातका ।
तिच्चन्ताविपुलाह्वादत्तीरणपुण्यचया तथा ॥'
श्चिन्तयन्ती जगत्स्ति परब्रह्मस्वरूपिरणम् ।
निरुच्छ्वासतया मुर्क्ति गतान्या गोपकन्यका ॥' ( युग्मकम् )
अत्राशेषचयपदप्रभावादनेकजन्मसहस्रभोग्यदुष्कृतसुकृतफलराशितादात्म्याध्यवसित-

यह नहीं मालूम कि इस कथन से आपही का उपहास हो गया! । वस्तुतः प्रकृतप्य में सूर्यास्त का ठएडा समय, सायंस्तान, चन्दनलेप आदि शीतल कारणों के अनन्तर कलम और नेत्रचाञ्चल्य देखने से ही व्यक्त्य अर्थ (परपुरुष सक्ष) की प्रतीति हुई है। संभोग के अनन्तर स्नान करने में तात्पर्य नहीं है। स्वतःसम्भवी अर्थ से अलङ्कारःचिन का पद्गत उदाहरण देते हैं—तदमाति क्षी कृष्णा की अप्राप्ति से उत्पन्न महादुःख के भोगने से जिसके अशेष (सबके सव) पातक विनष्ट हो गये हैं और उनका स्मरण करने से उत्पन्न हुए अत्यन्त आनन्द के उपभोग से जिसके पुरुषों का चय (समूह) विनष्ट हो गया है वह कोई गोपकत्या जगत् के जनक परब्रह्म के स्वकंप—श्रीकृष्ण—का ध्यान करती हुई निरुच्छास (श्वासरहित) होकर मुक्ति को प्राप्त हो गई । मुक्त होने के लिये पाप तथा पुरुष दोनों प्रकार के कमों का नाश होना चाहिये। यह तभी हो सकता है जब समाधिभावना के द्वारा परब्रह्म का ध्यान किया जाय। विना निद्ध्यासन आदि के मुक्ति नहीं हो सकती। यही योगशास्त्र की मर्यादा है। वे ही सब बातें उक्त दोनों पद्यों से गोपकत्या में दिखाई हैं।

10

į

18:

T.

W

IF

di

IN

F

11

d

यह किसी ऐसी गोपी का वर्णन है जो मुरलीमनोहर की मुरलीध्वित सुन के उनके दर्शनों के लिये छुटपटा रही है, पर घर के बड़े बूढ़े उसे जाने नहीं देते। जब वह श्रीशृष्ण बन्द्र के वियोग का ध्यान करती है, तभी दुः खों के सैकड़ों पहाड़ उसके हृद्य पर टूट पड़ते हैं। श्रीर जब भगवान के मिलने का स्मरण (बिन्ता) श्राता है तो श्रानम्द का समुद्र उमड़ उठता है। इसी सोच-विचार में बुत बनी वैठी है। श्वास का वेग धीमा पड़ गया श्रीर संसार से छूट गई। मुक्ति के लिये जिन साधनों की श्रावश्यकता होती है वे सब इसमें बताये हैं। 'वदमाप्ति' से सब पापों का नाश, 'तिचन्ता' से सब पुर्णों का इय 'चिन्तयन्ती' से श्रीशृष्ण कर पर बहा के ध्यान में निमन्तता श्रीर 'निरुक्षात' से समाधि-मावना की पराकाल पर बहा के ध्यान में निमन्तता श्रीर 'निरुक्षात' से समाधि-मावना की पराकाल पर बहा के ध्यान में निमन्तता श्रीर 'निरुक्षात' से समाधि-मावना की पराकाल कर समाधि-मावना

की पराकाष्टा का स्चन किया है।

प्रवेति—इस उदाहरण में 'अशेष' और 'चय' इन दोनों पदों से दो अतिशयोक्ति अलङ्कार प्रतीत होते हैं। भगवान के विरह्न का दुःख और उनके स्मरण
योक्ति अलङ्कार प्रतीत होते हैं। भगवान के विरह्न का दुःख और उनके स्मरण
का आहाद इन दोनों को, अनेक जन्मभोग्य पाप, पुरायों के फलों (सुख दुःखों)
के साथ अभिक्रक्रप से बोधन किया गया है। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण के
विरह्न से उत्पन्न महादुःखों से उसके 'अशेष' (सबके सब) पानक नष्ट होगये,
स्स कथन में अशेष पद से यह व्यक्त होता है कि अब कोई पातक शेष नहीं है।
जिन पानकों का फल हज़ारों प्रकार की योनियों में पड़कर कष्ट मोगना था

तया भगवद्भिरहदुःखचिन्ताह्मादयोः प्रत्यायनमित्यतिशयोक्तिद्भयमतीतिरशेषक द्वयद्योत्या । अत्र च व्यञ्जकस्य कविष्रौढोक्तिमन्तरेगापि संभवात्त्वतः संगिति · (प्रयन्त्यसंख्यपथगां त्वद्दानजलवाहिनीम् ।

देव त्रिपयगात्मानं गोपयत्युप्रमूर्धनि ॥'

इदं मम। अत्र पश्यन्तीति कविषौढोिकिसिद्धेन कांव्यलिङ्गालंकारेण नकेष्ट दातारस्तव सदशा इति व्यतिरेकालंकारोऽसंख्यपदद्योत्यः। एवमन्येष्वपर्यग्रीका संलद्यक्रमभेदेषदाहार्यम् ।

तदेवं ध्वनेः पूर्वोक्तेष्त्रष्टादशसु भेदेषु मध्ये शब्दार्थशक्त्युत्थो व्यङ्गगो नामा

श्रीर जो विना भोगे छूट भी नहीं सकते थे वे सबके सब श्राज विरहके दुःख' से वितीन होकर बह गये। यह विरद्द-महादुःख उन्हीं सब पापी कार फल है। और चिन्ताजन्य आहाद इसी प्रकार पुरायों का परिणाम है। श्रोक जन्म-भोग्य पाप-फल के साथ विरहदुःख का श्रभेदाध्यवसात करो पहली और अनेक जन्मों में भोग्य पुरायफत्त (सुख) के साथ विन्ताजन्य ग्रा का अमेदाध्यवसान करने से दूसरी ऋतिशयोक्ति व्यक्त होती है। 'ऋशेष'हे 'चय' पर्इनके प्रधान द्योतक हैं, श्रतः यहाँ पर्गत श्रतङ्कार-ध्वनि है। या की यहाँ व्यक्षक (वाक्यार्थ) कवि की प्रौढोिक्त के विना भी हो सकता है। इसम की विर्दिशी की दशा लोकसिद्ध है, अतः यहाँ वयञ्जक अर्थ स्वतः सम्मनी

पर्यन्यसंख्येति – हे राजन् ! तुम्हारे दानसंकल्पों के जल से उत्पन्न नहीं असंख्य मार्गों से बहती देखकर त्रिपयगा (केवल तीन मार्गों से चतनेवा गङ्गा अपने को शिवजी के सिर में खिपाती है। यह केवल त्रिपथगा है और की दानजनदो असंख्य पथगा है, अतः इससे वह लजित होती है। क्षी एक नदी दूसरी नदी को देखकर लिजात हो और फिर अपने को कहीं वि यह बात लोक सिद्ध नहीं है, अतः यहां अर्थ, कवियौढोक्ति सिद्ध ही है। पार्र यह हेतु गर्भ-विशेषण है। 'देखती हुई' अर्थात् देखने के कारण ( लजित्र बिपती है। इसी पदार्थगतहेतुता के कारण, कविपीढोक्तिसिंद कार्य अलङ्कार से "श्रापके समान कोई दातानहीं है"यह व्यतिरेक अलङ्कार की पद से व्यक्तय है। जहां किसी पद अथवा बाक्य का अर्थ दूसरे का मतीत होता हो वहां काञ्यलिङ अलङ्कार होता है। जहां उपमेय उपम अधिक हो वहां 'व्यतिरेक' होता है। इसी प्रकार और भी असंबह्यकारी ध्वनि के अर्थशिक्तम् लक उदाहरण जानना।

तदेवामिति इस प्रकार ध्वनि के अठारह भेद हुए। दो प्रकार की बद्या ध्वनि, एक अर्थोन्तर संक्रमितवाच्य (१), दूसरी अत्यन्त तिरस्कृत्वाची अभिषामलक्ष्यक्रि श्रमिधामृतकध्वनिमें श्रसंत्रध्यक्रमध्यक्रय का केवल एक भेद (३) श्रीति केम्प्रकृति के प्रकृति कंमव्यक्तय के शब्द मुलक दो भेद (४) अर्थमूलक बारह भेद (१७) ब्राह्म मुलक एक भेद (१८) इस प्रकार सब मिलकर अठारह भेद हुए। उस प्रकार सब मिलकर अठारह भेद हुए। उमयशक्तयुद्भवध्वित केवल वाक्य में ही होता है, श्रतः एक ही

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भवन कः। अन्ये पुनः सप्तदश वाक्ये पदे चेति चतुश्चिशदिति पञ्चित्रशद्भेदाः।
प्रवन्धेऽपि मतो धीरैरर्थशक्त्युद्भवो ध्वनिः॥ १०॥

प्रबन्धे महावाक्ये । अनन्तरोक्तद्वादशभेदोऽर्थशक्त्युत्थः । यथा महाभारते गृधगोमायुसंवादे—

14

1

ते

IF

1

Ì÷-

T.

all

हो।

II

(T

市

V

A.

18

N

श्चलं स्थित्वा रमशाने ऽस्मिन्गृध्रगोमायुसंकुले। कङ्कालबहले घोरे सर्वपािश्यमयंकरे॥ न चेह जीवितः कश्चित्कालधर्ममुपागतः। प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राशािनां गतिरीदृशी॥

होता है। शेष सत्रह पद श्रौर वाक्य दोनों में होने के कारण चौतीस तरह के होते हैं। श्रतः सब मिलकर पैंतीस भेद हुए।

प्रबन्धेअपीति—पीछे कहा हुआ बारह प्रकार का अर्थ शक्त्युद्भवध्वति प्रबन्ध में भी होता है। जैसे महाभारत के गृथुगोमायुसंवाद में। महाभारत, शान्तिपर्व के १४३ वें ऋघ्याय में गृध्र-गोमायुसंवाद है। युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा कि क्या कोई मरकर भी जीवित हुआ है ? तब उन्होंने यह प्राचीन कथा सुनाई कि 'नैमिष' ( नैमिषारएय ) में किसी ब्राह्मण का दुःखलब्ध सुत मर गया। उसे लेकर रोते-कलपते लोग श्मशान पहुँचे। उनका शब्द सुनकर कोई ग्रुध वहां पहुँचा। 'तेषां रुदितशब्देन गृष्टोऽभ्येत्य वचोऽन्रवीत्। एकात्मजिममं लोके त्यक्ता गच्छत मा निए। वर्त स्थिता इत्यादि दस श्लोकों में गृध्न ने ऐसा उपदेश दिया कि लोग उस बच्चे को छोड़कर चल दिये। उसी समय एक काला श्रुगाल बिक से निकलकर बोला कि मनुष्य जाति बड़ी निर्दय और स्नेह्यून्य होती है। <sup>च्वांतपत्रसवर्णस्तु त्रिलानिःसृत्य जम्बुकः । गच्छमानान् स्म तानाइ निर्मृणाः खलु मानुषाः ।</sup> श्रादित्योऽयं स्थितः इत्यादि चौद्द पद्यों में जम्बुक ने उन्हें ऐसी फटकार वताई कि सब लौट पड़े। फिर गुभ्र ने ऐसा वेदान्त बघारा कि सब चल दिये। श्रनन्तर फिर जम्बुकराजने ऐसी लानत-मलामतकी कि सब लौट पड़े। र्सी प्रकार कई बार चले और कईवार लौटे। गुत्र चाहता था कि सब लोग वधे को छोड़कर चलं जायँ तो मेरा काम बने। श्राल समभता था कि अमी थोड़ा दिन है। यदि ये लोग चले गये तो गिद्ध इसपर आ टूरेंगे और में मुंह ताकता रह जाऊंगा। श्रीर यदि ये कुछ देर टिके रहे तो रात्रि में गुध-राज की कुछ न चलेगी श्रीर मैं स्वच्छन्द भोजन करूंगा। श्रन्त में शिवजी वहां प्रकट हुए। उन्होंने बच्चे को जिला दिया और गुध्र-गोमायु को मी नुधा शान्ति का वरदान दिया। 'जीवितं सम कुमाराय प्रादाद वर्षशतानि वै। तथा गोमायुगृष्ठाम्यां प्राददन् बुद्धिनाशनम् । 'श्रवं स्थित्वा' इत्यादि गृघ् का वचन है अर्थ-गिद्ध, गीद् इ आदि अभद्र प्राणियों से विकट और चारों ओर पड़े कङ्कालों (अस्थिएकरों) से भीषण, सब प्राणियों को भयदायक इस श्मशान में बैठने का अंश्वे काम नहीं। आजतक कोई भी काल के कराल गाल में पड़कर जीता नहीं बना। नाहे प्रियहो, नाहे अप्रियहो, प्राणियों की यह दशा अनिवार्य है। एक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इति दिवा प्रभवतो गृधस्य रमशाने मृतं बालमुपादाय तिष्ठतां तं परित्यज्य गमनि 'आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत सांपतम्। बहुत्रिध्नो मुहूर्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥ अम् कनकवर्णीमं बालमप्राप्तयौवनम् । गृध्रत्राक्यात्कथं मूढास्त्यजध्वमविशङ्किताः ॥'

इति निशि समर्थस्य गोमायोदिवसे परित्यागोऽन्भिलिषत इति वाक्या द्योत्यते। अत्र स्वतःसंभवी व्यञ्जकः। एवमन्येष्वेकादशभेदेषूदाहार्यम्। एवं वाका

व्यञ्जकत्वे उदाहृतम्।

लद्यार्थस्य यथा- 'नि:शेषच्युतचन्दनम् इत्यादि । व्यङ्गचार्थस्य यग 'उत्र गिचल-' इत्यादि । अनयोः स्वतःसंभिवनोर्लद्यव्यङ्गचार्थीव्यञ्जनो। न्येष्वेकादशभेदेषूदाहार्यम् ।

दिन यह गति संभी को प्राप्त होती है। इति दिवा-मृत वालक को लेकर की त्रादिमयों का वहां से चला जाना, केवल दिनमें सपर्थ, गिद्धको त्रिमिलील गीद् इ की उक्ति—बादित्ये। अमे मूर्वो ! अभी सूर्य स्थित है। कुइ तो करो। यह मुदूर्त बहुत विघ्नों से युक्त हैं। शायद लड़का जी ही जाया सुवर्ण के समान सुन्दर गोरा २ बालक जिसके यौवन का विकास भी नहीं पाया था, उसे केवल गिद्ध के कहने से वेखटके कैसे छोड़ दोगे ! इति निर्मा ये वचन रात्रि में समर्थ गीद इ के हैं। उसे उनका छोड़कर चला जाना मा नहीं है। यह बात इन वाक्यों के समुदाय (प्रवन्ध ) से द्योतित होती यहां व्यञ्जक वाक्यार्थ स्वतःसम्भवी है। इसी प्रकार और ग्यारह भेवीरी उदाहरण जानना । ये सब उदाहरण वाच्यार्थ की व्यञ्जकता में हिंगे लक्ष्यार्थं की व्यञ्जकता की उदाहरण 'निःशेष' इत्यादि, श्रीर व्यक्ष्यार्थं की कता का पूर्वोक्त 'उत्र शिचल' इत्यादि जानना। इन दोनों में स्वतःसम वाच्यार्थों के लक्ष्य और व्यक्तय अर्थ व्यक्षक हैं। इसी प्रकार और गार्स के उदाहरण जानने।

श्रनयोरिति—श्रनयोरुदाहरणयोर्भध्ये स्वतःसंभविनोर्वाच्यार्थयोर्ये लच्यार्थव्यङ्गवार्थे ते व इत्यर्थः । 'निःशेषच्युत' श्रीर 'उश्र शिचल' इत्यादि पद्यों में वाच्य श्र्यं ह संभवी है। पहले में स्वतः संभवी वाच्यार्थ का लक्ष्य अर्थ व्यक्षकी दूसरे में स्वतः संभवी वाच्य श्रर्थ का व्यङ्गय श्रर्थ व्यञ्जक है। इतिहास हो चुका है। मध्यवा 'स्वतःसंभविनोः' इस षष्ठी का सम्बन्ध 'व्यक्ष्यां साथ है। स्वयं साथ है । स्वतः सम्मिवनोर्व्यक्तवार्ययोगों व्यञ्जको तो लह्यार्थव्यक्तवार्थों । पहले व्यक्त्य है 'रन्तुम्' और दूसरे में 'संकेतस्थानत्व'। ये दोनों स्वतःस्था इनमें से पहले का व्यक्ष क लक्ष्यार्थ है, श्रीर दूसरे का व्यक्ष के व्यक्ष है।

वस्तुतः —ये दोनों अर्थ असंगत हैं। स्वतः संभविद्य आहि की केवल व्यक्षक त्रर्थ में किया जाता है, अन्यत्र नहीं। पूर्वीक होती प्राधित वाच्य अर्थ व्यक्षक ही नहीं है तो उसके विषय में 'स्वतःसंभवीं भारति गरेषेगा करना ही बर्थ है ने इसी पुकार पूर्वों के वर्ष

## पदांशवर्णरचनापवन्धेष्वस्फुटकमः।

असंतद्यक्रमञ्यङ्गचो ध्वनिस्तत्र पदांशपकृतिमत्ययोपसर्गनिपातादिभेदादनेक-

विधः । यथा-

Ci.

31

di

ii

ir-

ii

ţ

di

H

i

P

Ħ

्चलापाङ्गां दृष्टि स्पृशसि बहुशो नेपथुमती रहस्याख्यायीय स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः। करं व्याधुन्वन्त्याः पिबसि रितसर्वस्वमधरं वयं तत्त्वान्त्रेषान्मधुकर, हस्तास्त्वं खलु कृती॥

विषय में भी 'स्वतःसंभविवत्व' आदि का अनुसन्धान व्यर्थ हैं। यह बात केवल व्यक्षक अर्थ में देखनी चाहिये, अतः प्रथम पद्य के लक्ष्यार्थ ('रन्तुम्') और द्वितीय पद्य के व्यक्षक अर्थ ('निर्जनत्व') में—जो कि 'संकेत-स्थानत्व' का व्यक्षक है—यह देखना चाहिये कि वह स्वतःसंभवी है अथवा कविकिएत। पर्वच मूल अन्य में षष्ठ चन्त पाठ असंगत हैं। प्रथमान्त पाठ होना चाहिये। स्वतःसंभविनौ लक्ष्यार्थव्यक्ष्यशैं व्यव्जवे ऐसा पाठ होना चाहिये।

प्रश्न — जब बाच्य, लक्ष्य और व्यङ्गय ये तीनो प्रकार के अर्थ व्यञ्जक होते हैं तब 'बस्तुवाऽलंकितिवीपि' इत्यादि कारिका में जो बारह मेद गिनाये हैं, उनके स्थान में छुत्तीस ( त्रिगुणित ) भेद कहने चाहिये थे ?

उत्तर-प्राचीनों का प्रथा के अनुसार अर्थत्वेन रूपेण तीनों प्रकार के अर्थों को एक ही मानकर केवल बारह भेद गिनाये हैं. अतः कोई दोष नहीं।

गरन—जिस प्रकार व्यक्षक अर्थ को स्वतःसिद्ध और प्रौढोक्किसिद्ध माना
है उसी प्रकार व्यक्षय अर्थ को भी मानना चाहिये। जैसे व्यक्षय और व्यक्षक
दोनों ही वस्तुक्षप और अलंकार क्षप माने जाते हैं, वैसे ही इन दोनों को
स्वतःसिद्ध और प्रौढोक्किसिद्ध भी मानना चाहिये। व्यक्षक अर्थ को दः
प्रकार का मानना और व्यक्षय को केवल दो प्रकार का—वस्तुक्षप और
अलंकार क्षप —मानना उचिन नहीं।

उत्त अर्थम् लक ध्वनि के जो बारह भेद 'घस्तु वा' इत्यादि कारिका में कहें वे प्राचीन आचार्यों की परम्परा के अनुसार जातना । इस प्रश्न के अनुसार विवेचना करने और वाच्य. लक्ष्य, व्यक्ष्य अर्थों की पृथक् पृथक् मानने पर ध्वनि के भेदों में अधिकता अवश्य होनी चाहिये।

पदांशिति—'अस्फुटकम' अर्थात् असंलक्ष्यक्रमन्यक्षयध्वित 'पदांश' अर्थात्
प्रकृति, प्रत्यय, उपस्या, निपात तथा वर्ण और रचना अदि में रहने से अनेक
प्रकार की होती हैं। जैसे—चलापानामिति – शकुनतला के रूपलावण्य पर मोहित,
किन्तु उसकी विशेष दशा (ब्राह्मणत्व, चित्रयत्व आदि) से अपरिचित
उप्यन्त की, शकुनतला के मुख्यमगडल पर धूम धूमकर गूंजते हुए भ्रमर के प्रति
उक्ति है। अर्थ — हे भ्रमर, त् चञ्चलकटाचों से युक्त किम्पतदृष्टि को बार वार
स्पर्श करता है। कान के पास जाकर मधुर गुआर से मानों कान में धीरे से
रहस्य निवेदन करता है। उड़ाने के लिये इधर उधर हाथ भिष्टकती हुई इस
जिल्ली के रितसर्वस्व अध्ररामृत का बार आर प्रान कर रहा है। हे मधुकर,

अत्र 'हताः' इति, न पुनः दुःस्तं प्राप्तवन्तः, इति हन्पकृतेः। 'मुहुरङ्गुलिसंवृताधरीष्टं प्रतिषेधात्तरविक्तवाभिरामम् । मुख्यंसविवर्ति पदमलाद्याः कथमप्युत्रमितं न चुम्बितं तु॥' अत्र 'तु' इति निपातस्यानुतापन्यस्त्रकत्वम् ।

'न्यकारो ह्यमेव मे यदरय:—' इत्यादौ 'श्ररयः' इति वहुवचनस्य, कि इत्येकवचनस्य, 'श्रत्रैव' इति सर्वनाम्नः 'निहन्ति' इति 'जीवति' इति च कि 'श्रहो' इत्यव्ययस्य, 'प्रामटिका' इति करूपतद्धितस्य, 'विलुएठन' इति ब्यूक्ति 'भूजैः' इति बहुवचनस्य व्यक्षकत्वम् ।

श्राहारे विरतिः समस्तविषयग्रामे निवृत्तिः परा नासाग्रे नयनं तदेतदपरं यचैकतानं मनः।

वस्तुतः तू ही चतुर है। हम तो 'तत्वान्वेषण' ( अर्थात् यह त्राह्मणीहै। चित्रया इसकी खोज) ही में मरे। यहां 'दुःखं माप्तवन्तः' के स्थान पर दिलां। कहने से दुःखातिशय व्यक्तय है। इसका व्यक्षक हन् घातु ( प्रकृति) मार्थ

मुहुरिति—गीतमी के साथ शकुन्तला के चले जाने पर अनुतप्त हुणा उक्ति है—बार २ उँगलियों से छिपाये हुए अधरोष्ठ से सुशामित, कि अत्तर (न) से व्याकुल, अतएव रमणीय, अपने कन्धे की ओर पुमाना उस सुन्दरनयनी का मुख, मैंने जैसे तैसे ऊपर उठाया, पर चुम्बा कर पाया। यहाँ 'तु' (तो) इस निपात से अनुताप व्यक्त होता है।

'न्यकार' इन्यादि पद्य में 'अरयः' इत्यादि के बहुवचनादि व्यक्षक है। के एक भी शत्रु का होना अनुचित है. बहुत शत्रु होना तो अत्यन्त ग्र है। यहाँ अनेक अरिगत सम्बन्धानीचित्यं व्यक्तय है। उससे कोघं यहाँ है। श्रीतर्कवागीराजीने यहां पर भी निर्वेद की कथा कही है। हम इसकी चना पहले परिच्छेद में कर आये हैं। 'तापंसः' के एक वचन से शहुगत प्रतीत होती है। 'तापस' शब्द से केवल कायक छ रूप तपस्या से ग्र बोधित होता है, उससे पुरुषार्थश्र्-यता प्रतीत होती है। अव अलोकिक तपःसिद्धिका अभाव प्रतीत होता है। 'अनैन' यहाँ सर्वनाम पद, सामने स्थित अपने राज्य की भूमि की और इशारा कर रहा है। भी अनीचित्य चोतन के द्वारा कोंच उपक्र होता है। वह क्ष्र मन (मेरे राज्य में ही) रहकर मेरा अपकार कर रहा है। यह अध्यन है। 'निइन्ति' और 'जीवति' के तिङ् प्रत्यय उन कियाओं की वर्तमानी करते हैं। उससे 'रावण के जीवनकाल में ही उसके प्रिय राह्म हैं। रहा है' यह बात श्रामम्भवनीयता की द्योतक है। 'श्रहों' श्रव्य श्री द्योतक है। 'प्रामिटिका' में शुद्धना का बोधक 'क' प्रत्यय रावण के स्चक है। 'बिलुएठन' में 'वि' उपसर्ग लूटकी स्वच्छन्द्रता का बोधक का बहुवबन अनादर का भाषक है। इस प्रकार यहाँ पदांशी में ब दूसरा उदादरण्ञशाहारे इति—किसी विरहिणी के प्रति नर्मस्बी

मौनं चेदिमिदं च शून्यमधुना यद्विश्वमाभाति ते. तद् ब्र्याः सिख योगिनी किमिस भोः किंवा वियोगिन्यसि॥'

अत्र तु 'आहारे' इति विषयसप्तम्याः, 'समस्त' इति 'परा' इति च विशेषणस्य, 'मौनं चेदम्' इति प्रत्ययपरामिशनः सर्वनाम्नः, 'आभाति' इत्युपसर्गस्य, 'सिखे' इति प्रणयस्मारणस्य, 'असि भोः' इति सोपहासोत्पासस्य, 'किंवा' इत्युत्तरपद्मदार्ढ्यसूच-कृस्य वाशब्दस्य, 'असि' इति वर्तमानोपदेशस्य तत्तद्विषयव्यञ्चकृत्वं सहृदयसंवेद्यम् ।

है। ब्राहार (भोजन) में तुक्ते अविच होगई है। तेरा मन सम्पूर्ण विषयों से एकदम हट गया है। दिए नाक के अग्रमाग में लगी रहती है। सबसे बढ़कर यह मन की एकाग्रता है। यह मीन है। श्रीर यह जो सब संसार तुक्ते इस समय श्रन्य सा भासित हो रहा है, सो हे सखी, बता तो सही, तू योगिनी (योगसाधन करनेवाली) है ? श्रथवा वियोगिनी है ?।

ai

न्त्र पि

II F

1

f

इस पद्य के 'श्राहारे' पद में विषय-सप्तमी, 'समस्त' श्रीर 'परा' ये दोनों विशेषण, 'भीन चेदम्' यहां पर उसी समय के 'प्रत्यय' ( श्रतुमव ) की श्रोर दशारा करने-वाला सर्वनाम 'इदं' पद, 'आमाति' यहाँ आङ् उपसर्ग, प्रेयका स्मारक 'सबि' यह सम्बोधन, 'असि मोः' यह उपहास के सहित उत्प्रास, 'किंबा' यहाँ पर दूसरे पन (वियोगिनीत्व ) को पुष्ट करनेवाला 'वा' शब्द और 'ब्रसि' इस पद का वर्त्तमान-काल इन सबका अपने २ विषयों को ध्वनित करना सहद्यों से ही झानव्य है। तालप्र- 'आहारे' इस विषय सप्तमी से सम्पूर्ण आहारविषयक विराग प्रतीत होता है। 'योगिनी' केवल उन आहारों से बचती है जो पनमें विकार पैदा करते है। शरीर-रत्ता के लिये सात्त्विक श्राहार तो वह करती ही है, परन्तु तू तो 'श्राहारमात्र से विरक्षं है' यह भाव इस विषयसप्तमी से ध्वनित होता है। 'समस्त' पदं से यह प्रतीत होता है कि योगिनी की धर्मीपयोगी विषयो (गङ्गास्नानादि ) से निवृत्ति नहीं होती, परन्तु तेरा मन तो सभी भने बुरे विषयों से हट गया है। योगिनी की विषयों से अत्यन्त निवृत्ति नहीं होती। गरीरयात्रा के निमित्त उसे बहुत से काम करने पड़ते हैं, परन्तु तेरी तो 'परा' (अत्यन्त ) निवृत्ति होगई है। योगिनी, केवल ध्यान के समय नाक के आगे दृष्टि लगाती है, परन्तु तेरी तो 'तदेतत्' (यह हर समय) नासाप्र-दृष्टि रहती है। 'त्रपा' जिसमें प्रेमी के सिवा (ब्रह्म अयवा विवतम के ब्रतिरिक्त) 'पर' (अन्य ) कोई नहीं भासित होता, ऐसा 'एकतान' (एकाप्र) एक खोर लगा हुआ ( निरुद्ध नहीं ) यह तेरा मन है। यह बात 'तदेतदपरम्' से स्फ्राट होती है। भरम् चयह पत्यत अनुभूयमान तेरा विक्रज्ञण मीन ! यह माव सर्वनाम से व्यक्त होता है। योगिनी को ब्रह्मझान के कारण संसार शून्य प्रतिमात होता है, परन्तु तुमे तो 'श्रामासित' ( मासित नहीं ) होता है। ब्रह्मझान के विना, वास्तविक श्रूत्यता का ज्ञानं न होने पर भी, 'सूनासा' प्रतीत होता है। 'सकि' कहने से अन्तरकता प्रतीत होती है। इससे यह व्यक्त होता है कि मुके तेशं सब हाल मालूप है। तेरा वह प्रण्यं (प्रेम) मुक्तसे खिपा नहीं है। यतपव 'वाते मोः' इस सम्बोधन से उपहास स्चित होता है और उत्तर पत्त ( वियोग-

वर्णरचनयोरुदाहरिष्यते। प्रबन्धे यथा - महाभारते शान्तः। रामायेगे कर्णाः मालतीमाधवरतावल्यादौ शृङ्गारः । एवमन्यत्र ।

तदेवमेकपञ्चाशद्भेदास्तस्य ध्वनेमेताः ॥ ११॥

दशा) की स्रोर स्रधिक इशारा करनेवाले 'किंवा' पद से उसकी विरहानस प्रतीत होती है।

वर्णरचनगोरिति वर्ण और रचना के उदाहरण अष्टम, नवम परिच्छेती। श्रायंते। प्रवन्धे इति—प्रचन्ध्र में, जैसे महाभारत में शान्त, रामायण में करुण क्र मालती माधत्र, रहावलां आदि में शृङ्गाररस समस्त प्रवन्ध का व्यङ्गवहै।

तदेवम्—इस प्रकार इस ध्वनि (उत्तम् काव्य) के ४१ इक्यावन मेद्रा हैं। पैतीस भेद पहते गिना चुके हैं — अर्थशब्द्युद्भव ध्वनि, प्रबन्ध में भी हो है, अतः उसके वाग्ह भेद और वहें। एवं असंकद्यक्रम व्यक्त के पदांश के रवना श्रीर प्रवन्धं इन चारों से व्यक्त होने के कारण चार भेद श्रीर वहे।। प्रकार पैतीस, बारइ श्रौर चार मिलकर ४१ इक्यावन भेद होते हैं।

'अविविज्ञित वाठयं नामक लज्ञणामुलक ध्वनि के दो भेद होते हैं। ए श्रर्थान्तर संक्रमित वाच्य श्रीर दूसरा श्रत्यन्त तिरस्कृतवाच्य। पद्गत श्रे वाक्यगत होने के कारण इन दोनों के चार भेद होते हैं।

ः श्रभिधामृतक ध्वनिः भी दो प्रकार का होता है। एक श्रसंतक्ष्यक्रममा श्रीर दूसरा संतक्ष्यक्रमन्यक्ष्य। रस, भाव त्रादि इसी प्रथम भेद के क्र र्गत होते हैं। यह पद, पदांश, त्राक्य, वर्ण, रचना और प्रबन्ध में रहता श्रतः इसके छः भेदं होते हैं।

संबक्ष्यक्रमव्यक्षय भवनि के तीन भेद माने जाते हैं। शब्दशक्रिया अर्थशिक्तमम्ब और उमयशिक्तप्रमव। इनमें से प्रथम (शब्दशिक्तप्रमव) प्रकार का होता है, १-वस्तुरूप और २--ग्रंलंकारकप। पद्गत भीरवाल

गत होने से इन दो के चार भेद हो जाते हैं।

अर्थशिक्षप्रमव के बारह भेद पहले गिना चुके हैं। पद्गत, बाक्षण श्रीर प्रबन्धगत होने के कारण इनके छत्तीस भेद होते हैं। इमयग्रिया केवल वास्य में ही होता है, अतः इसका एक ही भेद होता है। इस वार, जुः, चार, जुत्तीस श्रीर एक भेद् मिलकर इक्यावन भेद होते हैं।

केवल बाच्य अर्थ की गंग्ना के अनुसार अर्थशिक प्रमव व्यक्त के कि भेद गिनाये हैं। बाच्य, लक्ष्य और व्यङ्गय के भेद से यद्यपि अर्थ तीत प्र का होता है और इन तीनों से त्यङ्गय अर्थ की प्रतीति भी होती है। गर्म मूल में ही 'प्रवन्धेऽपि मतो धीरैर्थंशक्त्युद्भवो ध्वनिः' की व्याख्या के प्रव लक्ष्यार्थ और व्यङ्गशार्थ से उत्पन्न व्यङ्गश्य का उदाहरण देते हुँ की चुके हैं। इन तोनों अधौं के अनुसार यदि अर्थशक्तिप्रमव स्वित के के गणना की जाय तो छत्तीस के तिगुने एक सी आठ भेद होने वाहिये। य यहाँ अर्थत्व सामान्य से तीनों अर्थों को एक ही मानकर केवल इतीन

संकरेण त्रिरूपेण संस्ष्ट्या चैकरूपया। सकर्य । । (५३०४) शुद्धैरिषुवाणागिनसायकाः (५३५५)॥१२॥ शुद्धैः शुद्धमैदैरेकपञ्चाशता योजनेनेत्यर्थः।

दिङ्मात्रं त्दाहियते—

Ì

ar.

19

ग्रो

Ŗ

N.

ni.

H

P

51

P

'ग्रत्युन्नतस्तन्युगा तरलायताची द्वारि स्थिता तदुपयानमहोत्सवाय। सा पूर्णाकुम्भनवनीरजतोरणस्त्रक्-संभारमङ्गलमयतकृतं विधत्ते ॥

गंकरेगोति—दशम परिच्छेद में वश्यमाण तीन प्रकार का संकर श्रीर एक प्रकार की संसृष्टि इन चारों से परस्पर प्रत्येक का मेल होने के कार्य पांच इजार तीन सी चार भेद होते हैं। यहाँ वेद से चार, ख से शुन्य, ब्रांन से तीन, ब्रार शर से गांच संख्या का वीध होता है। इकाई के कम से (वाई ब्रोर से) श्रंकों के रखने का नियम है, अतः उक्र संख्या सिद्ध होती है। इसमें यदि शुद्ध भेदों की इक्यावन संख्या जाङ् दें तो इष्ट=पांच, बाण=पांच, श्रीन=तीन, सापक=पांच, अर्थात् पांच हजार तीन सौ पचपन होते हैं।

प्रश्न-पहले ध्वनियों के ४१ भेट गिनाये हैं। उनको तीन प्रकार के संकर श्रौर एक प्रकार की संसृष्टि (चार ) से गुगान करने पर दो सौ चार (२०४)

ही भेद होते हैं। फिर उक्तसंख्या कैसे सिद्ध होगी ?

उत्तर-पूर्वोक्त इक्यावन भेदों में से प्रथम भेद एक तो अपने सजातीय के साथ संस्ष्ट हो सकता है और ४० पचास विजातीयों के साथ भी संस्र्ट हो सकता है, इसिलये प्रथम भेद की संसुष्टि ४१ इक्यावन प्रकार की हुई। इसी प्रकार दूसा भेद एक सजातीय के साथ और उनंवास (४६) विजातीयों के साथ संस्षृ होता है, अतः उसके ४० पचास भेद होते हैं। पहले मेद के साथ इस मेद की संस्ष्टि पहले ही आ चुकी है, अतः उसे किर नहीं गिना जाता। इसी प्रकार तीसरा मेद एक सजातीय और अड़तालीस (४०) विजातीयों के साथ संस्छ होकर ४६ उनचास प्रकार का होता है। एवं चौथा भेद अहताबीस प्रकार का श्रीर पांचवां ४७ प्रकार का होता है। इसी क्रम से अन्त्यतक साधन करने पर अन्तिम भेद केवल सजातीय के साथ संस्छ होकर एक ही प्रकार का होता है। क्सकी विजातीय मेदों के साथ संस्धि पूर्व भेदों में आ चुकी, श्रतः फिर उसका परिगणन नहीं होता। इस प्रकार इन सबके जोड़ने से केवल संस्ष्टि के ही तेरह सी छुट्यीस (१३२६) भेद होते हैं। इसी प्रकार तीनों संकरों के तीनः हज़ार नी सी अठत्तर (३६७००) भेद होते हैं। इन सबको जोड़ने से पांचहज़ार तीन सी चार ( ५३०४ ) मेद होते हैं। इन्हें ग्रुद्ध ४१ इन्यावन मेदों के साथ मिलानं से मुलोक्त संख्या पांचहजार तीनसी पचपन (४३४४) सिद्ध होती है। रनमं से कुछ उदाहरण देते हैं अत्युशतीते—पीनस्तनों से सुशोभित, सुदीर्घ पतं च अल उपाहरण दत ह श्रत्युभतात — पानरता नियानमहोत्सव (परदेश सिकार्यना नेत्रीवाली वह कामिनी अपने जियतम के उपयानमहोत्सव (परदेश से आनेकी खरा।) में द्वार पर खड़ी हुई, माझलिक पूर्णकलश और नवीन कमली

अत्र स्तनावेत्र पूर्णाकुम्मौ, दृष्ट्य एव नवनीरजस्त्रज इति रूपकष्वनिरस्य

रेकाश्रयानुप्रवेशः संक्रः।

धिन्वन्त्यमूनि मदमूच्छ्रदिलिध्वनीनि धूताध्वनानहृदयानि मधोर्दिनानि । निस्तन्द्रचन्द्रवदनावदनारविन्द-सौरभ्यसौहृदसगर्वसमीरणानि ॥

अत्र निस्तन्द्रेत्यादिलच्यामूलध्वनीनां संसृष्टिः । अथ गुग्निभूतव्यङ्ग यम्-

श्रपरं तु गुणीभूतव्यङ्गयं वाच्याद् नुत्तमे व्यङ्गये। अपरं काव्यम् । अनुत्तमत्वं न्यूनतया साम्येन च संभवति ।

की बन्दनवार का काम, विना ही यह के, सम्पादन कर रही है। यंत्री-ग उसके 'स्तन ही पूण कुम्म हैं' श्रीर 'सुदीर्घ एवं चञ्चल नेत्रों की दिए ही का की नर्वानं बन्द नवार है' इन दी कंपक अलङ्कारों और शृक्षार्रस की वित ही आश्रय ( शब्द और अर्थ ) में श्रनुप्रविष्ट हैं, श्रतः यहां संकर है।

विन्वन्तीति—मद से मस्त भ्रमरों की संकारों से युक्त और पथिकों के इत्त कम्पित करनेवाले ये वसनंत ऋतु के दिन अत्यन्त आनिद्त करते हैं जि निस्तन्द्र चन्द्रमाके समान मुखवाली कामिनियों के मुखारविनद् की सुणन साथ मित्रता करने (उससे मित्रने) के कारण सगर्व (गर्वयुक्त=उत्कृष्ट) स (वायु) चल रहा है। अनेति -यहां 'निस्तन्द्र' इत्यादि लच्चणाम्लक वि की संसृष्टि है। 'निस्तन्द्र' पद का अर्थ है तन्द्रारहित और तन्द्राका अंघना-श्रातस्य । रहित श्रथवा वियुक्त उसी को कहा जाता है जिस्में होने की योग्यत। हो । पत्थर को 'आलस्यशून्य' कोई नहीं कहता की उसमें त्रालस्य की योग्यता ही नहीं, त्रातएव उसे त्रालसी भी नहीं की चन्द्रमा को (जो जड़ पदार्थ है) निस्तन्द्र या निरातस्य कहने में मुख वाधित होने के कारण लच्चणा से प्रकाशयुक्त होना बोधित होता है और का श्रतिशय व्यक्तय है। निस्म प्रकार श्रातस्य रहित पुरुष प्रकाशित हैं। उसी प्रकार वसन्त का चन्द्रमा भी पकाशित होता है। जाड़े के दिनी में इ तृषार, बादल त्रादि के कारण जैसे चन्द्रमा ऊंचता मा दीखता है, व वसन्त में विलकुल नहीं होती। उन दिनों वह अति स्वच्छ होताहै। सि वायु में मित्रता (मोहर् ) और गर्व भी नहीं हो सकते, न्योंकि वे भी के ही धर्म हैं. ग्रानः मित्रता से साहश्य ग्रीर गर्व से उत्कर्ष लिति। मित्र प्रायः स्टब्स की के स्वाहश्य ग्रीर गर्व से उत्कर्ष लिति। मित्र प्रायः सहश्र ही होता है और गर्व करनेवाला ग्रापने की उत्कर्णी है। यहाँ वाच्य और लक्ष्य अर्थ का व्याप्य-व्यापकभाव नहीं है. अर्थ विरस्कृतवाह्य प्राप्त तिरस्कृतवाच्य'स्वनिहै। इन तीनों लच्चणात्रों में, श्रतिशयबांचन व्यक्ष्य का

इस प्रकार उत्तम काव्य का निक्षपण करके अब मध्यम कार्य तो हैं—अपर लिति कर्य 

तत्र स्यादितराङ्गं काकाचित्रं च वाच्यसिद्धयङ्गम् ॥ १३॥ संदिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्यमस्फुटमगृदम् । स्यङ्ग्यमसुन्दरमेवं भेदास्तस्योदिता अष्टौ ॥ १४॥

इतरस्य रसादेरङ्गं रसादि व्यङ्गचम् ।

'श्रयं स रशनोत्कर्षां पीनस्तनविमर्दनः। नाभ्यूरुजघनस्पर्शां नीवीविस्नंसनः करः॥'

अत्र शृङ्गारः करुगास्याङ्गम् ।

ने ग

र्ग

जिल

त्र

H.

8

a

1

igi

di

ø

अर्थ के समान ही हो या उससे न्यून हो, उसे गुणीभूनव्यक्रय काव्य कहते हैं। इसमें व्यक्त्य, गुणीभूत अर्थात् अप्रधान होता है।

तनित - गुणां मृतव्यङ्गयं काव्य में व्यङ्गयं ऋर्यं, या तो श्रन्य (रसादि) का श्रङ्ग होता है, या का के से श्राचित्र होता है, श्रयना वाव्यार्थं का ही उपपादक (उसकी सिद्धि का श्रङ्गभूत) होता है, यद्धा वाव्यकी श्रपेत्ता उसकी प्रधानता में सन्देह रहता है, या वाव्यार्थं श्रीर व्यङ्गयार्थं की वरावर प्रधानता रहती है या व्यङ्गयं श्रथं श्रस्फुट रहता है श्रथवा गृढ रहता है किंवा श्रसुन्दर होता है, श्रतः इस मध्यम काव्य के श्राठ भेद होते हैं।

कम से उदाहरण देते हैं — अयं स इति — रण में कटे हुए भूरिश्रवा के हाथकों देखकर उसकी पत्नी का करुणापूर्ण कथन है। यह वह हाथ है जो रश्चना (कर- धनी) को खींचा करता था, पीनस्तनों का विमर्दन करता था, नामि, ऊठ, जघन का स्पर्श करता था, श्रीर नीवीवन्धन को खोलता था।

महामारत, स्त्रीपर्च, २४ वें अध्याय में गान्धारी ने श्रीकृष्ण से प्रकृत पद क्

''भार्या यूयम्बजस्येषा करसंमितसम्यमा। कृत्वोत्सङ्गे भुजं मर्तुः कृपणं परिदेवति ॥ १७ ॥ अयं स इन्ता श्रूराणां मित्राणाममयप्रदः। प्रदाता गोसहस्राणां इत्रियान्तकरः करः॥ १८ ॥''

यहां 'श्रयम्' पद से उस हाथ की नात्कालिक दशा की श्रोर निर्देश है श्रोर किः' पद से पहली उत्कृष्ट दशा का स्मरण है। इस समय श्रनाथ की तरह रण-भूमि की धूलि से मिलन तथा गिछ, गीदड़ श्रादि का लक्ष्यभूत 'यह' वही हाथ है जो कभी श्रनेक शरणागतों को श्रमय देने में समर्थ, शत्रुश्रों का दर्प चूर्ण करने में सशक्त और कामकला के श्रितिनगृह रहस्यों का ममंद्र था। यही श्रितम बात रशनोतकर्षण श्रादिकों का कामशास्त्रोक्ष कम दिखाकर स्वित की है। श्रेति—यहां समर्थमाण श्रुकार, श्रुस्यमान करण रस का श्रक्ष है।

पर्न — इस पद्य से श्राहार और करुण ये दोनों रस व्यक्षित होते हैं। करुण प्रधान है आर श्राहार उसका अह है। जिस प्रकार अपधान श्रुहार के कारण स्ते मध्यम काव्य (गुणीभूत व्यक्ष्य) माना जाता है उसी प्रकार प्रधान करुण

'मानोन्नतां प्रण्यिनीमनुनेतुकाम-स्त्वत्मैन्यसागररवोद्गतकर्णतापः । हा हा कथं नु भवतो रिपुराजधानी-प्रासादसंतितषु तिष्ठति कामिलोकः ॥'

रस के आधार पर इसे उत्तम काव्य क्यों नहीं माना जाता? 'प्रशानन है के समिति' इस न्याय के अनुसार प्रधान रस के अनुसार के अनुसार के बाहिये। व्यञ्जन के अनुसार हो के बाहिये। व्यञ्जन के अनुसार हो के हार होता है। फिर यहां अपधान व्यञ्जय शृङ्गर के अनुसार हो के बाह्य क्यों माना गया है ?

उत्तर—इस पद्य में आदि से अन्त तक शृहार रस के व्यञ्जन की हो सा विद्यमान है। करुण रस की प्रतीति का साधन केवल एक 'अयम्' पर् उस समय की अनुभ्यमान दशा का बोधक है। इस पद से मां साजात्का रस की प्रतीति नहीं होती. किन्तु तात्कालिक द्शा की श्रोर संकेतमात्री है। उस समय उस दाथ की क्या दशा थी और उससे कहण रस क्यों हुआ, इसके जानने का साधन इस पंच में कुछ नहीं हैं। वह उस प्रकरण से होता है। इस प्रकार इस पद्य कां व्यङ्गय शृङ्गार उस प्रकरण के व्यङ्ग्यका रस का त्राङ्ग है। यद्यपि प्रधानता उसी प्रकरण-व्यङ्गय करण की है, ल इस पद्य में उसके व्यक्त करने की कोई सामग्री नहीं है। इसमें जो का वह शङ्गार का ही व्यक्षक है, अतः इस पद्य का व्यङ्ग शङ्गार रस, प्रता व्यक्त्य प्रधान कठण रसंका अङ्गं है। इसी कारण इसकी मध्यम कार्या गणना होती है। गुणीभूतव्यं क्यं के अन्य उदाहरणी में भी जहां म व्यङ्गय की सामग्री ऋति न्यून हो और अप्रधान व्यङ्गय की सामग्री भ्रामी हो, इसी प्रकार समाधान जानना । बस्तुतः चरम विचार के अनन्तर म व्यक्तय के आधार पर गुणीभूत व्यक्तय भी उत्तम काव्य माना जाता है। वात आगे चलकर कहेंगे।

'प्रकारोऽयं ग्रुणीमृतन्यङ्गयोऽपि ध्वनिरूपताम् । धत्ते रसःदितात्पर्यपर्यालो वनया पुनः ॥ ४ ॥ इति ।

श्रीतर्भवागीशभीने यहां 'रसनोत्कर्षां' पाठ मानकर उसका एक अर्थ गर्हां दें कि 'घो-मांजकर या साइ-पोळ्ठकर मेरी छोटी घंटिकाओं को स्वव्व र वाला—सनां मम जुद्रविएटकामुंदर्भियतुं मार्जनादिना उत्कृष्टिकतुंम्। यह अङ्गानम्हां पहले तो 'रसना' का अर्थ जिह्वा या रसने न्द्रिय होता है, 'बद्रविंग नहीं। दूसरे 'आभूषणों का घोनेवाला' कहने से उसमें दानत्व प्रतीत है या श्रृङ्कार रस अभिव्यक्त होता है, इसे सहद्य लोग स्वयं विवार हो अतिरिक्त कामशास्त्रके उक्त कम में यह अर्थ विघातक होगा। इस अन्य पदों के अर्थ पर ध्यान देने से उक्त अर्थ की अप्रासिक्तिता स्वा भाव के अङ्गभूत रस का उदाहरण —मानोन्नतामिति हे राजन श्रृष्ठित और अर्थ अर्थ की अप्रासिक्तिता स्वा अरारियों में स्थित, मानवती प्रियतमा के मनाने को उत्करिवर्त और उस

अत्रौत्मुक्यत्राससंधिसंस्कृतस्य करुणस्य राजविषयरतावङ्गभावः । (जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्धितिधया वचो वदेहीति पतिपदमुदश्रु पलपितम् । कृतालङ्काभतुर्वदनपरिपाटीषुघटनाः मयातं रामत्वं कुशलवसुता न त्विधगता॥'

司

en :

N.

10

पत्

1

ब्याः

प्रि

M,

F

10

151

ist.

अत्र रामत्वं प्राप्तमित्यवचनेऽपि शब्दशक्तेरेव रामत्वमवगम्यते । वचनेन तु सादृश्यहेतुकतादारम्यारोपगामाविष्कुर्वता तद्गोपनमपाकृतम् । तेन वाच्ये सादृश्यं वाक्यार्थान्वयोपपादकतयाङ्गतां नीतम् ।

समुद्रतुल्य सेना का घोर गर्जन सुनकर सन्तप्त कामिवर्ग, -शिव शिव! - बड़ी द्यनीय दशा में पड़ा है। अनेति—यहां प्रियतमा के मनाने की इच्छा के वर्णन से 'ग्रीत्सुक्य', ग्रीर सेना का शब्द सुनकर सन्तप्त होने के कारण 'त्रास' सुचित होता है। इन दोनों भावों की सन्धि है। कामिवर्ग की द्यनीयता से अभिव्यक्त कव्य रस इस भावसन्धि से परिपुष्ट होता है। और वह कव्य, वर्र्यमान राज-विषयक रितमाच का अङ्ग है। जिस राजा की यह प्रशंसा है उसमें किव का अनुराग इस पद्य से प्रधानतया सूचित होता है। उक्त करण उसी का अङ्ग है। शब्दशक्तिमूलक ध्वनि की इतराङ्गता (वाच्या अङ्गता) का उदाहरण जनस्थाने इति—धन की लालसा में भटकते हुए असफलमनोर्थ किसी निर्विष्ण पुरुष की उक्ति है। 'मयेति'-मैने रामत्व तो प्राप्त कर लिया, परन्तु 'कुरावनस्ता' हाथ न आई। इस पद्य के प्रथम तीन चर्ण श्रीरामचन्द्र श्रीर वक्ता में शिलष्ट हैं। 'कुशलवसुत।' का वक्ता के पच्च में 'कुशल' ( अधिक ) 'वसु' ( घन् ) से युक्त होना (धनिकत्व) अर्थ है और श्रीरामचन्द्रजी के पच्च में 'कुश' और 'लव' हैं 'स्त' (पुत्र ) जिसके वह 'कुश-लव-सुता' (सीता ) अर्थ है। मतलब यह है कि रामचन्द्रजी ने जिन कार्यों को करके कुशलवस्ता (सीता) प्राप्त की थी मैंने भी काम तो चे सब किये, परन्तु 'कुशलबस्ता' (धनिकत्व) नसीब न हुई। उन्हीं कार्यों का वर्णन करते हैं—'जनस्थाने'—रामचनद्रजी कनक-मा ( सुवर्णमृग=मारीच ) की तृष्णा ( पाने की इच्छा ) से व्याकुल होकर जनस्थान' (दग्डकारग्य के एक देश) खर दूषग् की छावनी में घूमे थे और में कनक ( खुवर्ण) की मृगतृष्णा ( लोभ ) से व्याकुल होकर जनों के स्थानों में घूमा अर्थात् धन के लोम में फँसकर घर घर घूमा दर दर भटका। रामचन्द्रजी ने श्रांखों में श्रांस् लाकर प्रतिपद (क़दम क़दम पर) 'हे वैदेहि" ये शब्द कहे थे और मैंने भी उसी तरह लोगों से 'वै'=(निश्चय से ) 'देहि' (देदो) 'ऊछ तो देदो' यह कहा। रामचन्द्रजी ने 'लङ्काभर्ता' (रावण) की वदनपरिपाटी' (कराउसमूह) में 'इषुघटन' (बाग्रयोग) किया और मैंने भतां' (स्वामी) की 'वद्नपरिपाटी' (मुखरचनात्रों) पर—उसके इशारों पर पर 'अलम्' ( अञ्जी तरह ) 'घटना' (रचना) 'हां हुजूर' किया। यह सब तो हुआ, पर वह न हुआ जिसकी चाह थी। श्रतेति—यहां यदि 'रामलं प्राप्तम्' यह न कहें तो भी 'जनस्थाने' इत्यादि शब्दों की शक्ति से ही रामत्वरूप अर्थ प्रतीत होता है, परन्तु उसके कह देने पर साहश्यमूलक तादात्म्य (क) का आरोपं प्रकट करने से उसका गोपन् दूर हो गया।

यहां वक्ता ने अपने में रामत्व का आरोप किया है और यह आरोप का हेतुक' अर्थात् शब्द-साहश्यहेतुक है। केवल 'जनस्थाने भ्रान्तम्' खा शब्दों का ही साहश्य इस अमेदारोप (तादात्स्यारोप) का कारण है। साहश्य कुछ नहीं है। यदि यहां 'रामत्वमाप्तम्' न कहा जाता तो भी शक्त म्लक ध्वनि के द्वारा रामत्व की प्रतीति हो जाती। कह देने पर तादात्स्यारोप प्रकट हो गया, व्यङ्गय के समान गुप्त न रहा। इस द्वार तादात्स्यारोप का हेतुभूत जो साहश्य (शब्द-साहश्य) था वह रामत्वमा वाक्यार्थ का उपपादक होने के कारण वाक्य अर्थ का अङ्ग हो गया।

यदि 'रामत्वमासम्' न कहते तो प्रकरण के द्वारा प्रकृत वक्का में क्री शिक्त का नियन्त्रण हो जाने पर भी शब्द शिक्षिश्चलक व्यक्षना के द्वाराण की प्रतीति होती और अपकृत अर्थ की अस्व व्यक्षता निवारण करने के प्रकृत वक्का के साथ राम का उपमानोपमेयभाव भी प्रधानतया ध्वित के परन्तु 'रामत्वमासम्' कह देने पर वही व्यव्यमान शब्द मुलक साहक्षा वाच्य आरोप का उपपादक होने से अप्रधान हो गया। इस प्रयमें व्यक्षा (साहक्य) वाच्य अर्थ का अक्ष है। मूल की पंक्षिका अन्वय इस प्रकारी वाक्यार्थान्य योपपादकत्या, साहश्यं (गम्यं) वाच्ये (वाच्यार्थे) श्रव्भतां नीतम्।

श्रीतर्कवागीशजी ने 'बाच्ये' के स्थान में 'वाच्यम्' पाठ समक्ष कर इसे का का विशेषण माना है, परन्तु सादश्य यहां वाच्य नहीं है, व्यक्त्य है। 'वाच्यम्' का अर्थ किया है 'वाच्यव् कारिति प्रतीयमानम्'। यह असंगत है। सम 'वाच्य' शब्द में लच्चणा करने का न तो यहां कोई प्रयोजन है, न कि है। दशा में इस शब्द का उपादान व्यथ ही नहीं, प्रत्युत अनर्थावह मीहे। अतिरिक्त यहां व्यक्त्य सादश्य वाच्य की मांति सर्वसाधारण को म होनेवाला भी नहीं है। केवल शब्द-सादश्य हेतुक होने से व्याकरण में है व्युत्पन्न सहद्यों को ही प्रतीत हो सकने के योग्य है, अनः साधारण से मी गृढ है, इस लिये श्रीतर्कवागीशजी का कथन अज्ञानम्लक है। सादश्य वाच्ये अर्थ बन्तां नीतम्' यही अन्यकार का आश्रय है।

इसके श्रितिरिक्त यह मध्यम काव्य का प्रकरण है, श्रीर मध्यम कार्य होता है जब व्यक्तय श्रर्थ वाच्य से श्रनुत्तम हो। 'वाच्याद न तमे व्यक्त्यों अर्थ यदि किसी दूसरे वाच्य का श्रङ्ग हो तो वह काव्य ही नहीं हो हैं। व्यक्तय न होने पर यह प्रव्यकार उसे काव्य ही नहीं मानते। यदि प्रव्यक्तय साहश्य, वाक्यार्थ (वाच्य) का उपपाद क मात्र हो, तो मानरे अकरण में उदाहत ही नहीं हो सकता, श्रतः श्रीतक वागी श्रनी का सर्वया श्रसंगत है।

प्रश्न—'भया रामत्वमाप्तम्' यह कहने पर प्रश्न होगा कि 'क्यं रामत्वमाप्तम्' प्रश्न का समाधान 'जनस्थाने आन्तम्' इत्यादिक पदों से किया जायता प्रकार यहां व्यल्यमान साहश्य रामत्वप्राप्तिक प्रवाद की सिद्धि का क्रिं

काकाचिमं यथा-'मध्नामि कौरवशतं समरे न कोपा-द्व:शासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः। संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू संधि करोतु भवतां नृपतिः पर्णन ॥ अत्र मध्नाम्येवेत्यादिव्यङ्ग यं वाच्यस्य निषेधस्य सहभावेनैव स्थितम् । ·दीपयनरोदसीरन्ध्रमेष ज्वलति सर्वतः । प्रतापस्तव राजेन्द्र वैरिवंशदवानलः ॥

N.

nh:

1

重

Ale:

T à f

ir fi

4,1

वा

nt.

HE

ÌII

1

d

अत्रान्वयस्य वेगुत्वारोपगारूपो व्यङ्गचः पतापस्य दवानलत्वारोपसिद्धचङ्गम् ।

जब तक इस सादृश्य की प्रस्तुत न किया जाय तब तक प्रकृत वाच्य प्रथं की सिद्धि ही नहीं हो सकती, अतः इस पद्य को 'वाच्यसिद्ध्यक्रव्यक्रव' के उदा-हरण में रखना उचित था, 'वाच्याङ्गव्यङ्गय' का उदाहरण इसे क्यों कहा ? उत्तर—'रामत्वम् आसम्' इस कथन के पूर्व ही यहां ( 'जनस्थाने भ्रान्तम्' इत्यादि शब्दों से ही ) राग्षत्व की प्रतीति हो चुकी है। प्रकृत वाचक शब्दों ने तो और उलटे उसके 'गापन-कृतचारुत्व' को कम कर दिया है; अतः इसे 'वाच्यसिद्धयङ्गव्यङ्गव्य' नहीं कह सकते; क्योंकि यहां जो वाच्य है वह पहले ही व्यक्त हो चुका है । पहले से ही सिद्ध है । 'वैरिवंशद्वाउनलः' इस उदाहरण में व्यङ्गच, (वेगुत्व) राजा के प्रताप (वाच्य) में, द्वानलत्व की सिद्धि करता है, अतः वाच्यसिद्धश्वङ्ग है। यहां वह बात नहीं है।

काकु से आचित्र ध्वनि का उदाहरण—'मध्नामि'—यह कौरवों के आगे युधिष्टिर की स्रोर से किये हुए सन्धि के प्रस्ताव की सुनकर विगड़े मीमसेन की सहदेव के प्रति उक्ति है। मध्नाभीति—मैं रण में क्रोध से सी कीरवों को न मार्ह्मा। दुःशासन की छाती से रुधिर भी न पिर्क्रमा। ग्रीर गदा से दुर्योधन की टांगें (ऊक्त) भी न तो इंगा। मैं अपनी सभी प्रतिकार छोड़ दूंगा। तुम्हारे राजा, पण ( पांच प्रामों के लेने की शर्त ) पर सन्धि कर लें। यहां भीमसेन का अपने भाई सहदेव से 'तुम्हारे राजा' ( मेरे नहीं ) कहना, अत्यन्त कोधा-वेश का सूचन करता है। क्रोध में भर के विलव् ए कर्ठस्वर से यह कहना कि "मैं दुःशासन का रुधिर नहीं पिऊंगा" तुरन्त ही विपरीत अर्थ उपस्थित करता है और 'न पिबामि' इस निषेध के साथ ही यह अर्थ प्रतीत होता है कि तुम सब मले ही युधिष्ठिर को अपना राजा मानो, परन्तु कौरवों से सन्धि करने के कारण में उन्हें अब अपना नृपित नहीं समसता। में अपनी प्रतिकार कदापि न छोड़ूंगा। दुःशासन का रुधिर अवश्य पिऊंग और दुर्योधन की टाँगमी ज़रूर तोड़ू शा। अत्रीत —यहाँ 'मधनाम्येन' यह व्यक्त्य अर्थ, बाच्य

(निषेध) के साथ ही प्रतीत होता है। वाच्यसिद्ध्यङ्ग व्यङ्गय का उदाहरण - दीपर्यानीत-हे राजेन्द्र, पृथ्वी आर आ-कारा के मध्य में सर्वत्र प्रकाश करता हुआ वैरिवंश का द्वानलक्ष यह आपका मताप सब ठौर मदीं सहोरहा है। यहां प्रताप की द्वानल बताया है। द्वानलस 'हरस्तु किंचित्परिवृत्त-'इत्यादौ विलोचनव्यापारचुम्बनाभिलाषयोः पाधान्ये हो 'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये। जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथां दुर्मनायते॥'

जामदग्न्यश्च वा भित्रसम्बद्धाः जुनगानतः ॥

श्चित्र परशुरामो रत्तःकुलत्त्वयं करिष्यतीति व्यङ्गचस्य वाच्यस्य च समं पाधिक

'सन्धौ सर्वस्वहरणा विग्रहे पाणानिग्रहः । श्राह्मावदीननृपतौ न संधिर्न च विग्रहः ॥'

अत्राह्मावदीनाख्ये नृपतौ दानसामादिमन्तरेगा नान्यः पशमोपाय इति व्या

'अनेन लोकगुरुणा सतां धर्मोपदेशिना। अहं व्रतवती स्वैरमुक्तेन किमतः परम्॥'

अत्र प्रतीयमानोऽपि शाक्यमुनेस्तिर्यग्योषिति बलात्कारोपभोगः क्ष

का प्रताप में आरोप किया है। द्वानल जंगल में लगी अग्नि का नाम है, अतः तक जंगल की तरह कोई दाह्य वस्तु प्रताप के लिये निश्चित न होजाय तक प्रताप को द्वानल कहना उपपन्न नहीं होता। इसलिये बांस और कुल होती वासक शिलष्ट 'वंश' पद के प्रयोग से शत्रुकुल में वास के जंगल का स्वक्षण होता है। वह इस वास्य द्वानलत्य की सिद्धि का अङ्ग है। व्यञ्जना द्वारा आं हुआ शत्रुकुलका वंशत्य (बांस का कप) प्रताप में वास्य द्वानलत्य का साका

सन्दिग्धप्राधान्यव्यक्त्यं का उदाहरण — हरस्तु — इस पद्यमें नेत्रव्यापार की प्रधानताहै या चुम्बनाभिलाषं व्यक्तय है, इसमें सन्देह है। यह पहले त्राचुनी

ब्राह्मणेति — राज्ञसों के उपद्रव से कुद्ध परशुराम का रावण के प्रति सन्देशी ब्राह्मणों के उपर आक्रमण करने का परित्याग तुम्हारे ही कल्याण के लिंगे याद रक्खो, परशुराम भी तुम्हारे इसीलिये मित्र बने हैं। नहीं तो (यदि क्राह्मण भी तुमने आक्रमण शुक्त किया तो) वह (परशुराम) विगइ जायेंगे। वियक्षना से यह अर्थ प्रतीत होता है कि 'परशुराम राज्ञसों के कुल का पर्ध संस्कृत कर देंगे'। इस व्यक्षयं और उक्त वाच्यार्थ का इस पद्म में 'तुल्य-प्राह्मनें।

अस्फुट व्यक्तय कां उदाहर श्र—सन्धी इति सिन्ध करने में सर्वस्व द्विनता विप्रह (युद्ध) करने में प्राणी का भी निष्रह (नाश) होता है। प्रतारही साथ न सिन्ध हो सकती है, न विप्रह। अतिति—'श्रताउद्दीन के साथ सा दान के सिवा कोई उपाय नहीं चल सकता' यह बात यहां व्यक्ष्य है। प्रवार इतनी अस्फुट है कि बुद्धिमानों की समक्ष में भी जल्दी नहीं आती। की तो बात ही क्या।

अग्र विश्व का उदाहरण मनेन लोगों के गुरु कहलानेवाले रिया कि महाराज ने मुक्त वतवती (पितवता) को धृष्टतापूर्व के अब इसके आगे कहने से क्या ? अविति — इस पद्य में शाक्य मुनि का तिया के साथ बलपूर्व के उपभोग प्रतीत होता है। परन्तु वह बाउथ की तर्प के सुपर है। साधारण गैंवार आद्मी भी उसे कर समक सकता है।

'वाणीरकुडङ्गुडीणसउणिकोलाहलं सुणन्तीए। घरकम्मवावडाए वहुए सीश्रन्ति अङ्गाइं॥'

अत्र दत्तसंकेतः कश्चिल्लतागृहं पविष्ट इति व्यङ्गचात् 'सीदन्त्यङ्गानि' इति

वाच्यस्य चमत्कारः सहृदयसंवेद इत्यसुन्दरम्।

किंच यो दीपकतुल्ययोगितादिषूपमाचलंकारो व्यङ्गचः स गुण्भितव्यङ्गच एव।

काव्यस्य दीपकादिमुखेनैव चमत्कारविधायित्वात्।

तदुक्तं ध्वनिकृता-अलंकारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते। तत्परत्वं न काव्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः॥

यत्र च शब्दान्तरादिना गोपनकृतचारुत्वस्य विपर्यासः।

यथा-

4

To a

:31

वता

नो।

व्यष्ट

प्रताः

IS!

की

FI (

11-

वेरं

IF.

11

1

tì

'दृष्टचा केशव, गोपरागहतया किचित्र दृष्टं मया तेनात्र स्खलितासिम नाथ, पतितां कि नाम नालम्बसे। एकस्त्वं विषमेषुखिन्नमनसां सर्वाबलानां गति-

गोंप्यैवं गदितः सलेशमवताद्गोष्ठे हरिविश्चरम्॥

'अग्रव्यक्व' मध्यम काव्य है। उत्तम ध्वनि वही होती है जो न तो अग्रद हो श्रीर न श्रत्यन्त गूढ हो । यही कहा है नान्ध्रीपयोघर इवातितरां प्रकाशो नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगृदः । अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च करिचत्सोमाग्यमेति मरहटवधूकुचाभः ॥

असुन्दर व्यङ्गश्यका उद्गहरण् – वाणीर० ' वानीरकुन्जे द्वीनशकुनिको बाइसं शृगवन्त्याः। गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि"। अर्थ-वेत के कुञ्ज में से उड़े हुए पित्तयों का कोलाइल सुनकर घर के काममें लगी हुई वधू के ऋक शिथिल होते हैं। 'दत्तसंकेत कोई पुरुष लतागृह में पहुंच गया' यह यहां व्यङ्ग य है, उसकी अपेक्षा 'शीदन्यक्रानि' रसका वांच्यं अर्थं ही अधिक चमत्कारी है, अतः यह व्यक्त्य असुन्दर है।

किबेति—इसके सिवा दीपक तुल्ययोगिता आदि अलङ्कारों में जो उपमा (साहश्य ) श्रादि अलङ्कार व्यङ्गय रहते हैं उन्हें भी गुणीभूतव्यङ्गय सम-मेना। क्योंकि वहां काव्य का चमत्कार दीपक आदि के कारण ही होता है। तर्कामिति - यही ध्वनिकार ने कहा है - अलङ्कारेति - प्रस्तुत अलङ्कारों की अपेचा अन्य अलंकारों की प्रतीति होने पर भी जहां काव्य तत्परक अर्थात् प्रधानतया उसके तारपर्य में प्रवृत्त नहीं है, उसे ध्वनि का मार्ग न सम्भना। तारपर्य यह है कि दीपक आदि में यद्यपि उपमा आदि की प्रतीति होती है, परन्तु उनमें काव्य के तात्वर्यं का पर्यवसान नहीं होता। वे प्रधानतया उस काव्य के व्यक्तय नहीं होते, अतः वे ध्विन के उदाहरण नहीं हो सकते। गुणीभूतव्यक्त्य ही हो सकते हैं। यत्र चेति — छिपी हुई (वयङ्गयं) बात की रमगीयता जहां किसी दूसरे शब्द

वादि से कम हो जाय उसे भी गुणीभूतव्यक्तयही समभना। जैसे -हळा-स्वयं र्ती की उक्ति है। हे केशव, गौओं की (उनके खुरों से उड़ी) धूलि से कलु-षित दृष्टि होजाने के कारण मैंने कुछ नहीं देखा, इसितये यहां ( जंगल में ) भूल पड़ी हूँ है नाथ, दुः स में पतित ( भटकी हुई) मुझको क्यों नहीं सहारा देते! अत्र गोपरागादिशब्दानां गोपे राग इत्यादिव्यङ्ग वार्थानां सलेशिकिः स्फुटतयावभासः । सलेशमिति पदस्य परित्यागे ध्वनिरेव ।

किंच यत्र वस्त्वलंकाररसादिरूपव्यङ्गचानां रसाभ्यन्तरे गुर्गीभावस्तत्र मधान् एव काव्यव्यवहारः।

तदुक्तं तेनैव—

'प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्गचोऽपि ध्वनिरूपताम् । धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः ॥' इति ।

( मुक्ते रास्ता बता दो ) विषम स्थानों में पड़कर खिन्न होते हुए समीमा ( अथवा अबलाओं ) के तुम ही एक शरण हो। तुम दीनानाथ हो। सम्म गोष्ट में गोपी के द्वारा लेश (श्लेष) से प्रशंसित कृष्ण तुम्हारी सदा रहा हो अनेति—यहां जो अर्थ श्लेष से प्रतीत होता है उसे 'सलेशम्' पद ने ऋत्यन्त स् कर दिया, त्रतः गुणीभूतव्यङ्गय हो गया, क्योंकि व्यङ्गयत्रर्थ वाच्य दा होगया। यदि 'सलेशम्' पदको छोड़दें तो यह ध्वनि का ही उदाहरण हो। क्योंकि दूसरा व्यक्तय प्रर्थ प्रच्छन रह सकेगा। इसका दूसरा प्रर्थ गरी-कोई गोपी श्रीकृष्णजी के पास गोष्ठ (जहां गौवें खड़ी होती हैं) में गीं। वहां वह सामने ही खड़े थे, परन्तु उसे किसी दूसरे गोपाल का भूम हुआ। म पहले तो कुछ न बोली, परन्तु पास जाकर देखने पर जब भ्रम दूर हुआ। बड़ी संकुचित हुई। यह सोचने लगी कि मैंने इनका न तो कुछ शिष्टाचारित श्रीर न कोई प्रेम की बात हो कही । भ्रम में ही रही । कहीं इससे के प्रमश्रस्य न समभ लें। इसलिये श्लेष से अपनी निर्दोषता सिद्ध कर्णा प्रार्थना करने लगी कि हे केशव, मेरी दृष्टि गोप ( किसी और ग्वाले ) के (रंग अथवा स्रत शकल) से हत (भ्रान्त) होगई थी, इस कारण में इ नहीं देखा। ( आपही सामने खड़े हैं यह न समभ सकी ) इसिल्ये यहां स्वी हुई हूँ (भूल गई हूँ=पलती कर बैठी हूँ) अब पतित (आपके चरणी होती हूँ। हे नाथ, मुक्ते क्यों नहीं प्रहण करते। 'विषमेषु' (कामदेव) हे लि मनवाली सब अवलाओं के आप शरएय हैं।

किबेति—जहां वस्तु,अलङ्कार तथा रसादिक्षप व्यङ्गयों का प्रधान रसमें गुर्वाक होजाय, वहां प्रधानरस के कारण ही काव्यव्यवहार (उत्तम काव्यत्व) जान

तदुक्तमिति—यह ध्वनिकार ने ही कहा है—प्रकार इति—यह गुणीमूतव्यक्त काव्य भी प्रधान रसादिशिषयक तात्पर्य की आलोचना करने से ध्विति कि काव्य ) बनता है। तात्पर्य यह है कि जहां कहीं गुणीभूतव्यक्त्य प्रधानर अक्त होता है उसे ध्विन ही कहते हैं। प्रधानरस के कारण उसे उनम माना जाता है और जहां वह प्रधानरस का अक्त नहीं होता, केवल नगर के चुत्तान्तवर्णन का अक्त होता है, वहां उन्हीं अप्रधानध्वित्यों (गुणीमूतव्यक्ति कारण काव्यत्व (मध्यम) का व्यवहार होता है। प्रधानत्या तार्यक्ति

यत्र तु— (यत्रोन्मदानां प्रमदाजनानामभ्रं लिहः शोणमणीमयूखः। संध्याभ्रमं प्राप्नुवतामकाण्डेऽप्यनङ्गनेपथ्यविधि विधत्ते॥'

इत्यादौ रसादीनां नगरीवृत्तान्तादिवस्तुमात्रेऽङ्गत्वम् , तत्र तेषामतात्पर्यविषयत्वेऽपि तैरेव गुणीभूतः काव्यव्यवहारः । तदुक्तमस्मत्सगोत्रकविषण्डितमुख्यश्रीचण्डीदास-णादैः—'काव्यार्थस्याखण्डबुद्धित्रेचस्य तन्मयीभात्रेनास्वाददशायां गुणप्रधानभावाव-मासस्तावनानुभूयते, कालान्तरे तु अकरणादिपर्यालोचनया भवन्नप्यसौ न काव्य-व्यपदेशं व्याहन्तुमीशः, तस्यास्वादमात्रायत्तत्वात् ' इति ।

केचिचित्राख्यं तृतीयं काव्यभेदिमच्छुन्ति । तदाहुः—

'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमञ्यङ्गयं त्ववरं स्मृतम् ।'

इति, तन्न, यदि हि अन्यङ्गचत्त्रेन न्यङ्गचाभावस्तदा तस्य कान्यत्वमि नास्तीति प्रागेत्रोक्तम् । ईषद्रचङ्गत्त्रमिति चेत्, किं नामेषद्न्यङ्गचत्वम् । आस्वाद्यव्यङ्गचत्वम्, अनास्त्राद्यन्यङ्गचत्वं वा। आद्ये प्राचीनभेदयोरेवान्तःपातः । द्वितीये त्वकान्यत्वम् । यदि चानास्त्राद्यत्वं तदा चुद्रत्वमेव । चुद्रतायामनास्त्राद्यत्वात् ।

नहींने पर भी वे ध्वनि, काव्य-व्यवहार के प्रयोजक होते हैं। जैसे—यत्रोत्मदानाए— 'जिस नगरी के ऊँचे ऊँचे प्रासादों में जड़े लाल मिण्यों का गगनचुम्बी (प्राकाश-व्यापी) प्रकाश, यौतनमद से मस्त रमिण्यों को सन्ध्याकाल के विनाही सन्ध्या का भ्रम पैदा करके कामकलाओं से पूर्ण भूषणादि रचना में प्रवृत्त करता है'। यहां प्रतीयमान श्रङ्कार, नगरीवर्णन का श्रङ्क है, किसी प्रधानरस का श्रङ्क नहीं है। श्रम्थान व्यङ्गय से कैसे काव्यव्यवहार होता है, इस विषय में श्रपने पूर्वज चएडोदास का प्रमाण देते हैं—काव्यार्थस्थेति – काव्य का परमार्थ श्रखण्डबुद्धि (पक्षान) से संवेद्य होता है। तन्मयीभाव (तन्मय होने) के कारण श्रनेक पदार्थ भी एक जान में ही मासित होते हैं, श्रतः काव्यार्थ के श्रास्वाद के समय किसी की प्रधानता श्रीर श्रप्रधानता का श्रवुमव नहीं होता। श्रीर श्रास्वाद के श्रनन्तर प्रकरणादि की श्रालोचना करने पर यद्यपि प्रधानत्व और श्रमुधानत्व प्रतीत होता है, परन्तु वह पूर्व से प्रवृत्त काव्य-व्यवहार को नहीं रोक सकता, क्योंकि वह व्यवहार श्रास्वादमात्र से ही हो जाता है।

देस प्रकार ध्वित तथा गुणीभूत व्यङ्गय का वर्णन कर चुके। अब काव्य-प्रकाशकार के सम्मत 'चित्र' नामक तीसरे काव्य का खरडन करते हैं—के विति— कोई 'चित्र' नामक, काव्य का तीसरा भेद भी मानते हैं—जैसे शब्दावित्रम् इति "व्यङ्गयद्यार्थं से रहित अवर (अधम) काव्य दो प्रकार का होता है, एक शब्दचित्र, दूसरा अर्थचित्र।" तब—यह ठीक नहीं। 'अव्यङ्गयं पद से यदि यह तात्पर्यं है कि 'व्यङ्गयार्थं से एकदम शून्य हो', तब तो वह काव्य ही नहीं हो तदुक्तं ध्वनिकृता— 'प्रधानगुणभावाम्यां व्यङ्गचस्यैवं व्यवस्थिते । उमे काव्ये, ततोऽन्यचत्तचित्रमभिधीयते ॥' इति ।

इति साहित्यदर्पणे ध्वनिगुणीभूतव्यङ्गन्याख्यकाव्यभेदनिरूपणी नाम चतुर्थः परिष्

सकता यह बात पहले ही (प्रथम परिच्छेद में) कह चुके हैं। श्रीर है बिद् अर्थ में नञ्का प्रयोग मानकर 'अव्यक्ष्य' पद का अर्थ 'शित्या माना जाय तो प्रश्न यह है कि इस पद का क्या तात्पर्य है ? क्या आतः वस्तुके थोड़े व्यक्षय होने पर 'ईषद्व्यक्षयत्व' विविच्चित है ? अथवा अतार वस्तु के व्यक्षय होने पर ? यदि पहला पच्च मानो तब तो पहले दो है ('च्विन, गुग्रीभूतव्यक्षय) में ही इसका अन्तर्भाव हो सकता है, श्रीर दूसरा पच्च (अनास्वाद्यव्यक्षयत्व) मानो तो वह काव्य ही नहीं हो सक क्यों कि आस्वाद्य ही काव्य होता है। यदि अनास्वाद्य है तो चुद्र हो इस्ता होने पर ही अनास्वाद्यत्व हुआ करता है।

यही ध्वनिकार ने भी कहा है — प्रधानेति — इस प्रकार प्रधान श्रीर शर रूप से व्यक्त्य श्रर्थ के व्यवस्थित होने पर दो प्रकार के काव्य कहताते। श्रीर जो इनसे भिन्न हैं, उन्हें चित्र कहते हैं।

वस्तुतः प्रकृतकारिका से विश्वनाथजी के मत का समर्थन नहीं होता, प्रतिहार इनके विरुद्ध हैं। उसको अपने मत का उपष्टम्भक बताना अञ्चानमूली प्रकृतकारिका में प्रधानव्यङ्गय और गुणीभूतव्यङ्गय के अतिरिक्त कर्म वित्रकाव्य कहा है, काव्य से अतिरिक्त समस्त वस्तुओं को वित्र नहीं बतावी इसी से इसकी अगली कारिका में इसी चित्रकाव्य का विवरण किया है

'चित्रं शब्दार्थंमेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम् । तत्र किंचिच्छब्दचित्रं बाच्यचित्रमतः परम् ॥ ४३॥

काव्यप्रकाशकार ने इसी के अनुसार 'चित्रकाव्य' का वर्षन हैं।
प्रकृतकारिका के उत्तरार्ध का अर्थ है—ततः काव्यद्वयात् यत् अन्यत् का वर्षन कि के कथ्यते—यदि इस वाक्य में 'काव्यं' का सम्बन्ध न कियाजाय तो क काव्यों से अतिरिक्त संसारमें जो कुछ है वह सब 'चित्र' कहाने स्वोगा कि की बातचीत, बाज़ाक गालियां और ईट-पत्थर तक सब 'चित्र' कहाने स्व

इति विमलायां चतुर्थः परिच्छेदः समाप्तः।

पञ्चमः परिच्छेदः।

अय केयमभिनवा व्यञ्जनानाम वृत्तिरित्युच्यते-

## वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधातात्पर्येवक्षणाख्यानाम्। ब्रङ्गीकार्या तुर्या वृत्तिर्वोधे रसादीनाम् ॥ १॥

अथ पञ्चमः परिच्छेदः।

देवो देयादुदीतं दिविदवदवनचोतविद्योतमानो

भानोभ्राजिष्णुलीलालयविलयकलोत्केलिभालान्तरालः।

भ्राम्यद् मृतप्रभृताऽदृह् सितमिषतस्रासिताऽशेषभीति-

भ तेशो भक्तभृतिभवभवदवथुदावणः शूलपाणिः ॥ १ ॥

पहले कहा जा चुका है कि व्यक्त्य अर्थ काव्यव्यवहार का कारण है, और ध्यक्षयं वही है जो व्यञ्जनाशक्ति से बोधित हो, परनतु व्यञ्जनाशक्ति सर्वसम्मत नहीं है, उस पर अनेक आचार्यों का विवाद है, अतः अलङ्कार शास्त्र के सिद्धान्तानुसार व्यञ्जनाशिक्ष को सिद्ध करने श्रीर उसके ऊपर किये हुए श्रा-क्षेपों को दूर करने के लिये उत्थानिका करते हैं अथ केयमिति - यह व्यञ्जना नामक नयी वृत्ति क्यों मान रक्लो है ? इसका क्या प्रयोजन है ? उत्तर-वृतीनाम-अपना-अपना नियत अर्थ बोधन करके अभिधा, तात्पर्य और लज्ञ्या इन तीनों वृत्तियों के विरत होजाने के कारण रसादिकों के बोधन के लिये बौधी वृत्ति (ब्यञ्जना) मानना आवश्यक है। "शब्दबुद्धिकर्मणा वित्मय व्यापातामानः" अर्थात् शब्द, बुद्धि और कर्म इन तीनों का कोई व्यापार, विरत होकर, फिर नहीं उठ सकता', इसलिये 'देवदत्तो प्रामं गच्छति' इत्यादि स्थल में अभिधावृत्ति से पहले-पहल सब पदों के अर्थ अलग अलग उपस्थित होते हैं और फिर उसके विरत होने पर, तात्पर्यनामक वृत्ति के द्वारा उनका कर्तृत्व कर्मत्वादि कंप से अन्वय होकर एक वाक्यार्थ बनता है। यदि अभिधा के अनन्तर तात्पर्यवृत्ति अनुप-पन्न हो तो लक्त्या का आश्रयण किया जाता है। जैसे 'गङ्गायां घोषः' यहां 'गङ्गा' पद से प्रवाह श्रीर 'घोष' पद से श्रहीरों की 'कोपड़ियों का बोध, श्रमिधा के द्वारा होजाने पर तात्पर्य अनुपपन्न होता है, क्योंकि प्रवाह के ऊपर कुटीरों (मोपिइयों) का दोना असम्भव है, अतः गङ्गा पद के अर्थ (प्रवाह) का वाक्यार्थ में अधिकरणतारूप से सम्बन्ध अनुपपन है। इसितये 'गङ्गा' पद सामीच्य सम्बन्ध से अपने सम्बन्धी 'तट' को सन्त्या के द्वारा उपस्थित करता है। तद्नन्तर 'गहातटे घोषः' ऐसा अर्थ उपस्थित होता है। इस प्रकार अभिधाशकि सबसे पहले, अपना काम करती है और तात्पर्य बाधित होने पर दूसरे नम्बर पर लज्जा त्राती है। इसपकार तीसरे, श्रीर यदि तात्पर्य श्रानुपपन्न न हो तो रुसरे ही, नम्बर पर तात्पर्य वृत्ति वाक्यार्थं का ज्ञान कराती है। परन्तु रस, भाव श्रीद को भतीति वाक्यार्थ ज्ञान के भी पीछे होती है उस समय अभिधा, लज्ञ श्रीर कार्य श्रीर तात्पर्य ये तीनों वृत्तियां अपना अपना काम करके विस्त हो चुकती हैं। और विरत हुए शब्द-व्यापार का फिर उठना असम्मव है, अतः कोई चौथी

अभिधायाः संकेतितार्थमात्रबोधनविरताया न वस्त्वलंकाररसादिव्यक्ष्यवोक्षेत्र त्वम् । न च संकेतितो रसादिः । निह विभावोद्यभिधानमेव तदिमधानम् । तदैकरूप्यानक्षीकारात् । यत्र च स्वशब्देनाभिधानं तत्र प्रत्युत दोष प्वेति क्ष्य कचिच 'शृङ्गाररसोऽयम्' इत्यादौ स्वशब्देनाभिधानेऽपि न तत्प्रतीतिः

वृत्ति यदि न माना जाय तो रसादि का बोध किसके द्वारा होगा ! हा त्रीय (चतुर्थ) वृत्ति मानना परम आवश्यक है। उसीको व्यक्षना कही श्रामेशाया इति—ग्रामिधा केवल संकेतित अर्थ का बोधन करके विरत्हो है। त्रतः उसका वस्तु, श्रतङ्कार और रसादिका व्यक्त्य के बोधन में स नहीं ही सकता। न चाते -इसके अतिरिक्ष खरस काव्य में विभावादिक वर्णन होता है। उन विभावादिकों के वाचक पदों का रस में संकेत्या न्हीं। जिस प्रकार 'घट' पद का संकेत घड़े में गृहीत है-उस पद सेवा विना विलम्ब उपस्थित हो जाता है—इस प्रकार राम, सीता आदि पर-विभावादि के वाचक हैं — उनका संकेत, किसी रसादि में तो गृहीत है है। जो उनसे अभिधा के द्वारा शृङ्गारादि रस का वोध हो जाय। नहांते-विमावादि का अभिधान (वर्णन) ही रसादि का अभिधान कहा जासक क्यों कि रसादिक और विभावादिकों को एक नहीं प्राना जाता। स्मित् उनके विमावादि परस्पर भिन्न होते हैं। यत्र चेति—यद्यपि 'रस' श्रीर'ग श्रादि पद रसों में संकेतित हैं, परन्तु जहां २ रस की प्रतीति होती हैवा न तो रसादि पद ही मिलते हैं, न श्रुङ्गारादि ही। किन्तु इसके विपरीत कहीं 'रस' अथवा श्रङ्गार।दि पदों से अभिमत रस का अभिधान किया है उसे आगे चलकर दोषों में गिन।यंगे। कचिचेति — कहीं कहीं तो 'आक यह कह देने पर भी श्रङ्काररस की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि रसती प्रकाश है और त्रानन्दस्वरूप है। परन्तु त्रिमधावृत्ति से उत्पन्न इति स्वमकाश ही होता है और न आनन्दस्यरूप ही, अतः उक्क कारणें हे के शकि के द्वारा रस की प्रतीति होना असम्भव है।

जैसे वादी-संवादी और अनुवादी स्वरों का यथावत् आरोह क करने पर भैरव आदि राग व्यक्त होते हैं उसी प्रकार विभाव, अर्जा संवारी के यथावत् निक्रपण करने पर रस अभिव्यक्त होते हैं। जिल् बार-बार 'भैरव-भैरव' कहने पर भी, यदि उचित कम से स्वर्सितियां जाय तो, उक्त राग नहीं वन सकता, उसी प्रकार विभावादिकों का संनिवेश हुएविना, चाहें कोई बीसों वार 'रस-रस' या 'श्टू क्लार-श्रक्तारों चिल्लाया करे, रस कीव्यक्ति नहीं हो सकती। जैसे समुचित स्वर्सित पर, किसी राग का नाम न लेने पर भी उसकी साझात मूर्ति की पर, किसी राग का नाम न लेने पर भी उसकी साझात मूर्ति की समुचित संनिवेश होने पर, रस का सुस्पष्ट आस्वाद होने लाती राग के समान रस भी व्यक्तय ही है, अभिधेय नहीं।

स्वपकाशानन्दरूपत्वात् । त्र्यभिहितान्वयवादिभिरङ्गीकृता तात्पर्याख्या वृत्तिरिष संसर्गमात्रे परिज्ञीणा न व्यङ्गचवोधिनी ।

यच केचिदाहु:--'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधान्यापारः' इति, यच

धिनकेनोक्तम्— श्वात्पर्याव्यतिरेकाच व्यक्षकत्त्रस्य, न ध्वनिः । यात्रत्कार्यपसारित्वातात्पर्यं न तुलाधृतम् ॥' इति,

1

i

1

ìŧ

Ħ

Ţſ

N

ej i

d:

11

IF.

1

al

-

F

15

1

if

तयोहपरि 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' इति वादिभिरेव पातनीयो दण्डः। एवं च किमिति लच्चणाप्युपास्या । दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणापि तदर्थबोध-

श्रीमहितेति — श्रमिहितान्वयवादियों (कुमारित्तमष्ट प्रमृति मीमांसकों) की मानी हुई 'तात्पर्य' वृद्धि भी केवल संसर्ग (कर्तृत्व कर्मत्वादि) का बोधन करके परिचीण हो जाती है, श्रातः उससे भी व्यक्ष्य श्रार्थ के बोध होने की कोई श्राणा नहीं। यचेति — यह जा कोई कहते हैं कि 'श्रमिधाशिक्त का व्यापार बाण के व्यापार की तरह बड़े से बड़ा हो सकता है' श्राणां जिस प्रकार किसी श्रत्वान पुरुष का छोड़ा हुआ बाण श्रपने एक ही व्यापार से शत्र के कवच को तोड़कर, छाती को फाड़कर, उसके प्राणों का हरण करता है, इसी प्रकार ब्युत्पन्नमित पुरुषों से कहे हुए शब्द एक ही श्रमिधा व्यापार से संकेतित अर्थ को उपस्थित करके व्यक्षय श्रार्थ का भी बोधन कर देते हैं।

इसके अतिरिक्त धनिकने जो कहा था कि—तारागेंति—'व्यक्षकत्व' तारत्यंसे भिष्ठ कोई वस्तु नहीं, अतः 'ध्वनि' या व्यक्षनावृत्ति तार्त्पर्यवृत्ति से भिन्न कुछ नहीं है। तार्त्पर्य का प्रसार तो जहांतक चाई वहांतक हो सकता है। वह 'याक्रकार्यप्रसारी' होता है। जितना कार्य हो उतना ही तार्त्पर्य का प्रसार (फैलाव) हो सकता है। तार्त्पर्य, तराजू पर तोली हुई कोई वस्तु नहीं है, जिसके भट से घट जाने का सन्देह हो। अतः तार्त्पर्यवृत्ति से हो वाक्यार्थ का ज्ञान ग्रीर व्यक्षयार्थ का भान, दोनों हो सकते हैं। व्यञ्जन।वृत्ति के पृथक् मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

इन मतों का खएडन करते हैं — तयोशित — इन दोनों के ऊपर तो 'शब्दबढीत्यादि' न्याय के माननेवाले ही सोंटा फटकार देंगे। जब विरत होने पर फिर शब्द के उस व्यापार से काम ही नहीं हो सकता तो ''दीवंदीवंतर'' व्यापार कहके एक ही से अनेक बार काम लेना सम्भव नहीं। और न वाक्यार्थ-बोध के पीछे तात्पर्यवृत्ति से ही कुछ काम चल सकता है। बाण का दृष्टान्त यहां उक्त न्याय से ही अनाहत हो जाता है। ''तुलाधतम्'' का उपहास भी अकि खितकर है।

यदि कोई कहे कि 'हम इस न्याय को ही नहीं मानते' तो उसका समा-धान करते हैं—एवं चेति—यदि अभिधा के इस 'दीर्घ-दीर्घतर' व्यापार से ही व्यक्त्यार्थ का बोध मानते हो तो तुम्हें लज्ञणाशक्ति के मानने की भी क्या आवश्यकता है ? उसका मानना भी छोड़ दो । इस अभिधा के 'लम्बे लम्बे' (दीर्घ-दीर्घतर) व्यापार से ही लक्ष्यार्थ के बोधन का भी काम चला लेना। तुम्हारी एक ही शक्ति रबड़ की तरह फैल कर दीर्घ-दीर्घतर व्यापार कर सिद्धेः । किमिति च 'ब्राह्मण्, पुत्रस्ते जातः ।' 'कन्या ते गर्भिणी' हर्षशोकादीनामिप न वाच्यत्वम् ।

यत्पुनरुक्तं "पौरुषेयमपौरुषेयं च वाक्यं सर्वमेव कार्यपरम्, अतत्परले ज्या त्वादुनमत्त्वाक्यवत्, ततश्च काञ्यशब्दानां निरितशयसुखास्वादव्यतिरेक्षेणभीतः प्रतिपादकयोः प्रवृत्त्यौपयिकपयोजनानुपलब्धे निरतिशयसुखास्वाद एव कार्यके धार्यते । 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति न्यायात्'' इति ।

तत्र प्रष्टव्यम् — किमिदं तत्परत्वं नाम, तदर्थत्वं वा, तात्पर्यवृत्या तद्बोधनतः

होगी। इसके अतिरिक्त यदि शब्द सुनने के अनन्तर जो अर्थ प्रतीत होते श्रमिधा से ही बोधित मानते हो तो 'बाह्मण, पुत्रस्ते जातः' इसके सुनने के पीहे क हुआ हर्ष और 'कन्या ते गर्भिगीं इस वाक्य के सुनने के पीछे प्रनीत हुआ ह भी वाच्य क्यों न हो जायगा ? इस लिये "अभिधा के दीर्घ दीर्घतर वा से ही व्यङ्गवार्थ का बोध हो सकता है" यह मीमांस को का पत वीक नहीं जो अन्विताभिधानवादी मीमांसक लोग 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस ला बल से व्यक्त्य का अभिधा के द्वारा प्रतीत होना मानते हैं, उनका लिए करते हैं -यत्पुनिरिति-यह जो कहा है कि पौरुषेय हो या अपौरुषेय, समीक कार्यपरक होते हैं । यदि कार्यपरक न हों तो प्रमत्त-प्रलाप की तरह अतु हो जायँ। वाक्यों की उपादेयता तभी प्रतीत होती है जब वे किसी की बोधन में तत्पर हो । जिन वाक्यों का कुछ विधेय नहीं होता, जो किसी। का विशेषक्रप से बोधन नहीं करते, वे पागलों की बड़बड़ाहट की तरह होते हैं, अतः वर्तमान कालिक पुरुषों के अथवा मनु आदि महर्षियों के ली वाक्य एवम् वेदादि के अपौरुषेय वाक्य सभी कार्यपरक माने जाते हैं। वेद किसी विशेषता के बोधक समसे जाते हैं। ततश्चेति —इसित्ये काव्यश्य भी कार्यपरक मानना ही पड़ेगा। श्रीर काव्यों के प्रतिपाद्यों (श्रोताश्री) प्रतिपादकों (वक्तात्रों) की प्रवृत्ति का श्रीपायिक (फल) निरितिश्व स्वाद (अपूर्व ग्रानन्दानुभव) के सिवा और कुछ मिलता नहीं, इसिंगि वाक्यों का कार्य अथवा विधेय ही निरितशय सुखास्वाद माना जाता व क्योंकि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' यह नियम है। 'शब्द जिसका बोधक है तात्पर्य का बोध कराने के लिये प्रयुक्त हो-वहीं उस शब्द का अर्थ हैं। ातापर्य—यह है कि प्रत्येक पुरुष की प्रवृत्ति किसी फल की इंडड़ा है। है। काव्य के सुनने सुनाने में जिन लोगों की प्रवृत्ति है उसका यहि की जाय तो अपूर्व आनन्दानुभव के सिवा और कुछ नहीं मिलेगा, स्व काव्यवाक्यों का 'निरतिशय आनन्द के बोधन में तात्पर्य हैं', वहा चाहिये, क्योंकि उन्हीं शब्दों से वह उत्पन्न हुआ है। श्रीर जो जिस तात्पर्य हो वह उसी का अर्थ माना जाता है', यह नियम (यत्पर्वाणी) जा चुका है। अतः काव्यों का कार्य अथवा विधेय निर्दिश्य अपित ्रास मत का विकल्पों के द्वारा ख्राएडन करते हैं नित्र पृष्ट व्यक्त

ग्राबे न विवादः । व्यङ्गचत्वेऽपि तदर्थतानपायात् । द्वितीये तु—केयं तात्पर्याख्या वृतिः । ग्राभिहितान्वयवादिभिरङ्गीकृता, तदन्या वा । त्र्याचे दत्तमेवोत्तरम्।द्वितीये तु नाममात्रे विवादः । तन्मतेऽपि तुरीयवृत्तिसिद्धेः ।

नन्वस्तु युगपदेव तात्पर्यशक्तचा विभावादिसंसर्गस्य रसादेश्च मकाशनम्—इति चेत्, न। तयोर्हेतुफलभावाङ्गीकारात्।यदाह मुनिः—'विभावानुमावव्यभिचारि-

हो कि जिसमें शब्द का तात्वर्य हो वही शब्दार्थ है, यहां प्रष्टव्य यह है कि 'तत्प-रत्व' क्या वस्तु है ? अर्थात् इस उक्त नियम में 'तात्वर्य' शब्द से तुम्हारा क्या श्रमित्राय है ? क्या तात्पर्य का मतलब तद्रथत्व है ? श्रथवा तात्पर्य नामक वृत्ति से बोधित होना ? यदि पहला पच मानो तो कोई विवाद ही नहीं। क्योंकि व्यक्त्यहोने पर भी 'तद्र्थत्व' का ऋपाय नहीं होता। तद्र्थत्व का मतलब है, उस पद का अर्थ होना। इससे यह तो निकलता ही नहीं कि कौन सा वृत्ति से वह अर्थ होना चाहिये। चाहें किसी भी वृत्ति से निकता हुआ अर्थ उस शब्द का 'तदथे' कहला सकता है। इसलिये व्यक्षनाशक्ति के द्वारा प्रतीत हुआ निरतिशयानन्द भी यदि तदर्थ कहलाये तो कोई चति नहीं, क्योंकि इससे श्रालङ्कारिकों की मानी हुई व्यञ्जनावृत्ति का खएडन नहीं हो सकता, श्रतः इस पन्न में हमें विवाद करने की भी कोई आवश्यकता नहीं। दितीये तु-यदि दूसरा पच मानो तो यह बतलाओं कि यह तात्पर्यनामकवृत्ति कौनसी है ? क्या स्नि-हितान्वयवादी मीमांसकों की मानी हुई 'संसर्गमर्यादा' नामक सम्बन्धवोधक वृति है ? या कोई दूसरी ? इनमें से यदि पहला पच मानो तो इसका उत्तर पहले ही दिया जा चुका है कि तात्पर्यवृत्ति से पदार्थों का सम्बन्धमात्र बोधन होता है। उसके बाद वह परिचीण हो जाती है, अतः उससे फिर व्यङ्गय अर्थ का बोध कराना सम्भव नहीं। यदि उससे अतिरिक्त वृत्ति मानकर उसका नाम 'तात्पर्य-वृत्ति रखते हो, तब तो नाममात्र में विवाद रहा। पूर्वसम्मत श्रमिधा, लक्षणा श्रीर तात्पर्य के श्रतिरिक्त चौथी वृत्ति तो तुम्हारे मत में भी सिद्ध हो ही गई। भेद केवल इतना रहा कि हम चौथी वृत्तिको 'व्यञ्जन।' कहते हैं श्रौर तुम तीसरी तथा चौथी दोनों को तात्पर्यवृत्ति कहते हो। वस्तु तो त्रालग सिद्ध हो ही गई। नन्तस्त अञ्जा, अभिदितान्वयवादियों की सम्मत् तात्पर्यशक्ति से ही पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध (विभावादि का संसर्ग) और रसादि का झान यदि एक साथ ही प्रकाशित हो जाय तो क्या हानि है ? इस प्रकार चौथी वृत्ति भी नहीं माननी पड़ेगी और काम भी चल जायगा। केवल तात्पर्यवृत्ति से ही दोनों का प्रकाशन मान लेंगे। इसका खएडन करते हैं। इति चेत्र—यह नहीं हो सकता, क्योंकि विभावादि के संसर्ग को रस का कारण माना गया है और रस-कान को विभावादिक्षान का कार्य माना गया है। कार्य श्रीर कारण कभी एक साथ हो नहीं सकते। कारण पहले हुआ करता है और कार्य इसके पीछे, अतः एकवृत्ति से इन दोनों का एकसाथ ज्ञान नहीं हो सकता। इन दोनों का कार्य-कार्यमाव भरतमुनि ने कहा है 'विमाविति'—'विभाव, अनुभाव और सञ्चारियों

i

संयोगाद्रसनिष्पत्तः' इति। सहभात्रे च कुतः सन्येतरित्रपाणयोरित्र कार्यकारणम्ह पौर्जापर्यविपर्ययात् ।

पावापयानपना । पाङ्गायां घोषः' इत्यादौ तटाद्यर्थमात्रबोधत्रिरताया लक्त् गायारच कुतः क्षिक्र पावनत्वादिव्यङ्गयबोधकता । तेन तुरीया वृत्तिरुपास्यैवेति निर्विवादमेतत्।

किंच-

बोद्धस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम्। आश्रयविषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽस्थियेतो व्यङ्ग्यः॥२॥ वाच्यार्थव्यङ्गचार्थयोर्हि पदतदर्थमात्रज्ञाननिपुणौर्वैयाकरणैरपि सहदयैरेव चस्तेक

के संयोग से अर्थात् इन कारणों से रस की निष्पत्ति अर्थात् रसक्षणां सिद्ध होती हैं'। पहले सिद्ध किया है कि रस कार्य नहीं होता, अतः यहां के पर्य के कारण उन शब्दों का लाक्तिण क प्रयोग जानना। अथवा आवरणां कारण को उपचार से रस का कारण कह दिया है। सहमाने च-यदि कि वादि ज्ञान और रसज्ञान का सहभाव ( एक ही काल में उत्पन्न होना) म जाय तो कार्यकारसभाव नहीं बन सकता। एकसाथ निकले हुए किसी एवं बायं और दहिने सींग एक दूसरे के कार्य अथवा कारण नहीं हुआ करें जहां पौर्वापर्य हो वहीं कार्यकारणभाव होता है। उसके विपर्यय में नहीं। इससे यह सिद्ध हुत्रा कि तात्पर्यवृत्ति से व्यङ्गवार्थ का बोध नहीं होसल श्रव तत्त्रणा के द्वारा व्यङ्गवार्थबोध को श्रसंमवनीयता दिबाते। गङ्गायामिति—'गङ्गायां घोषः' इत्यादि स्थलों में लच्लाशक्ति केवल वर्षा रूप अर्थ का बोधन करके विरत हो जाती है, फिर उससे शीतत्व पार्व श्रादि व्यङ्गय का बोध नहीं हो सकता, इसलिये इस पूर्व प्रत्य से यह है हुत्रा कि अभिधा, तात्पर्य और लत्त्तणा इन तीनों वृत्तियों से व्यक्तवार्ध बोध नहीं हो सकता, त्रतः चौथी वृत्ति माननी ही पड़ेगी। त्रवश्य ही मान पड़ेगी। इसा का नाम व्यञ्जना है।

श्रव वाच्यार्थ से व्यङ्गयार्थ का श्रत्यन्त भेद दिखा के, उसके हार्रि श्रयों की बोधक वृत्तियों की भिन्नता सिद्ध करके, श्रभिधावृत्ति से व्यक्त मोद प्रतिपादन करते हैं। बोद्धिते—बोद्धा, स्वरूप, संख्या, निर्मित्त का मोद प्रतिपादन करते हैं। बोद्धिते—बोद्धा, स्वरूप, संख्या, निर्मित्त का मोद प्रतिपादन करते हैं। बोद्धित की भिन्नता के कारण व्यङ्ग व्यक्त व्यव्यार्थ (वाच्यार्थ) से भिन्न है। कम से इनका भेद दिखाते हैं—वाच्यार्थित वाच्यार्थ तो उन वैयाकरणों को भी ज्ञात हो जाता है जो केवल पर्वाच्यार्थ का ही साधारण ज्ञान रखते हैं,परन्तु व्यङ्गय श्रयं केवल सहत्यों के पासित होता है। वाच्यार्थ के वोद्धा (ज्ञाता) प्रखर वैयाकरण भी ही मासित होता है। वाच्यार्थ के वोद्धा (ज्ञाता) प्रखर वैयाकरण भी है विद्यार्थ होता है। यदि व्यङ्गयार्थ वाच्यार्थ से विद्यार्थ तो उसे वैयाकरण भी समक्त हो लेते।

बोद्धृमेदः। 'भम धिम्मञ्च-' इत्यादौ किचिद्वाच्ये विधिक्तपे निषेधक्तपतया, किचित् 'तिःशेषच्युतचन्दनम्-'इत्यादौ निषेधक्तपे विधिक्तपतया च स्वरूपमेदः। 'गतोऽस्त-मर्कः 'इत्यादौ च वाच्योऽर्थ एक एव पतीयते । व्यङ्ग चस्तु तद्बोद्धादिमेदात् किचित् 'कान्तमिमसर' इति, 'गात्रो निरुध्यन्ताम्' इति, 'नायकस्यायमागमनावसरः' इति, 'संतापोऽधुना नास्ति'इत्यादिक्तपेणानेक इति संख्यामेदः।वाच्यार्थःशब्दोच्चारणमात्रेण वेद्यः। एष तु तथाविधमितमानेर्मक्यादिनेति निमित्तमेदः। पतीतिमात्रकरणाचमत्कार-करणाचकार्यमेदः । केवलक्तपतया चमत्कारितया च मतीतिमेदः। पूर्वपश्चाद्वावेन च कालमेदः। शब्दाश्रयत्वेन शब्दतदेकदेशतदर्थवर्णसंघटनाश्रयत्वेन चाश्रयमेदः।

"अम वार्मिक" इत्यादि रुथलमें वाच्यार्थ विधिस्वरूप है, परन्तु व्यङ्गयार्थ निषेध-रूप है। एवं 'निःशेषच्युत' इत्यादि में वाच्यार्थ निषेधरूप है, परन्तु व्यङ्गयार्थ विधिरूप है, अतः वाच्यार्थ और व्यङ्गयार्थ के स्वरूप में भी भेद होता है।

"गताऽस्तमर्कः" इत्यादि में याच्य अर्थ सबको एक ही प्रतीत होता है, परन्तु व्यक्त्य अर्थ मिन्न भिन्न श्रोताओं को भिन्न भिन्न रूप से प्रतीत होते हैं, अतः वाच्यार्थ की अरेन्ना व्यक्त्वार्थ में संख्याभेद भी है। तथाहि—यदि दूती ने आकर नायिका से कहा कि 'गतोऽस्तमर्कः'तो वाच्य अर्थ तो यही होगा कि 'सूर्य अस्त होगया', परन्तु व्यक्त्वार्थ यह होगा कि 'नायक के समीप अभिसरण करों। यही वाक्य यहि किसी गोपाल ने अपने साथी से कहा तो वाच्य वही रहेगा, परन्तु व्यक्त्य यह होगा कि 'गौयें इकट्टी करो, अब चलने का समय हो गया।' यदि किसी कामका जी आदमी की स्त्री ने यह कहा तो, यह व्यक्त्य रहेगा कि 'अब स्वामी के आने का समय हैं'। यदि दिन की धूप से सन्तम्म किसी आदमी ने कहा तो यह प्रतीत होगा कि 'अब सन्ताप नहीं हैं'। यदि पढ़ते हुए ब्रह्मचारी से किसीने कहा तो यह व्यक्त होगा कि 'अब पढ़ना बन्द करो, सन्व्या-हवन का समय है'। यदि किसी डाकू ने अपने साथी से कहा तो स्वित होगा कि 'श्रस्त लेकर तयार होजाओं'। इन सब स्थानों पर वाच्य तो एक ही है, परन्तु उयक्त्य अनेक हैं, अतः संख्याभेद से वाच्य की अपेना व्यक्त्य भिन्न होता है।

वाच्यार्थं इति—वाच्य अर्थ केवल शब्द के उचारण से ही प्रतीत हो सकता है, परन्तु व्यक्तवार्थ समक्तने के लिये विशुद्ध (निर्मल) प्रतिभा की आवश्यकता

है, श्रतः निमित्तभेद के कारण भी वाच्य से व्यङ्गय मिन्न है।

मतीतीति—वाच्यार्थ से केवल वस्तु का ज्ञान होता है। परन्तु व्यक्त्य मार्थ से

वमत्कार उत्पन्न होता है, अतः इन दोनों के कार्य में भी भेद है।

पूर्वेति वाच्य अर्थ पढले प्रतीत होता है व्यक्त्य उसके पिछे, अतः इन दोनों

में काल का भी भेद है।
शब्दित — वाच्य केवल शब्दों में आश्रित रहता है, और व्यक्त्य, शब्द में,
शब्द के किसी एक देश में, अर्थ में, किसी वर्ण में, अथवा रचना में भी रह
सकता है, अतः इन दोनों के आश्रय भी भिन्न होते हैं।

'क्स्स व ग्रा होइ रोसो दहूगा पित्राए सन्वर्ण अहरम्। सन्भमरपडमग्घाइग्रा वारित्रवामे सहसु एग्हिम्॥'

इति सखीतत्कान्तविषयत्वेन विषयभेदः तस्मानाभिषेय एव व्यङ्ग्यः। किंच।

प्रागसत्वाद्रसादेनीं बोधिक लच्चणाभिषे।

कस्सवेति 'कस्य वा न भवति राषा दृष्टा त्रियायाः सत्रणमधरम् । सम्रमरपद्माप्रायिषि,क वामे सहस्वेदानीम्''। अर्थ-प्रिया का व्रणयुक्त श्रीष्ठ देखकर, मला किसके में चीम न होगा ? सभी को सन्देह हो सकता है। मैंने बहुतेरा मना किया। तुने एक न मानी और भ्रमरयुक्त कमल को स् व ही लिया। हे भ्रमरयुक्तपक्ष सू घनेवाली निवारितवामा, अव तू सहन कर। जो कुछ तेरे सिरपर एहें मोग। जब तू किसी का कहा मानती ही नहीं तो कोई क्या कर सकता यहाँ वाच्य अर्थ का विषय तो वही नायिका है, जिससे यह सखी उक्त वास कह रही है, श्रीर व्यङ्गच अर्थ का विषय उसका पति है, जिसे उसके क्रीं व्रण देखकर सन्देह हुआ है। सखी इस प्रकार बोल रही है मानों उसने नार को देखा ही नहीं। "त्रोष्ठ में जो वर्ण है वह भ्रमर के काटने से हुन्ना है, म पुरुष के सङ्ग से उत्पन्न नहीं हुआ।" यह अर्थ यहाँ व्यङ्ग्य है। परन्तु स विषय नायक ही है, क्यों कि उसीको यह बात बताने की आवश्यकता। नायिका तो खूब जानती है कि वर्ण कैसे हुआ है। श्रतः नायिका में के वाच्यार्थं ही उपयुक्त है और नायक में के बल व्यक्त वार्थं। इसलिये वाच्य और ना में विषयभेद भी होता है। इन सब उक्त भेदों के कारण वाच्यार्थ से व्यक्त की भिन्नता स्पष्ट है। श्रमिधेय ही व्यङ्गय नहीं हो सकता।

व्यक्षना वृत्ति माने विना रसादि का बोध नहीं हो सकता यह कहते निमान स्वात होते—शब्द व्यापार से पहले रसादिकों की सत्ता हो नहीं कि अतः लक्षणा और श्रमिधा रस की बोधक नहीं हो सकतीं। श्रमिधा लक्षणा से वही वस्तु बोधित हो सकती है जो पहले से विद्यमान हो। अते असे असका तट पहले ही से सिद्ध (विद्यमान) है, श्रतः 'गङ्गायां घोवः' गर्हें 'गङ्गा' पद श्रमिधा से प्रवाह को और कच्चणा से तट को बोधित करतीं श्रसिद्ध वस्तु में लच्चणा और श्रमिधा की गति नहीं होती। रसन (श्रास्विद्ध नहीं है। विद्यापार से मिन्न रस पद का प्रतिपाद्य कोई पदार्थ प्रमाणिसद्ध नहीं है। विद्यापार से मिन्न रस पद का प्रतिपाद्य कोई पदार्थ प्रमाणिसद्ध नहीं है।

बच्चणा और अभिधा शक्ति बोधित कर सके।
वस्तुतस्तु यह नियम नहीं है कि अभिधा से सिद्ध वस्तु को ही बोधी हो। 'घट करोति', 'ओदनं पचिति' इत्यादिक उदाहरणों में घट और बोहित से विद्यमान नहीं रहते, प्रत्युत किया-निष्पत्ति के अनन्तर सम्पन्न होते। कर्ता के व्यापार का विषय घट या ओदन नहीं होता, अपितु उत्ते वा मिश्र ने विद्यमान गोर तण्डुल आदि होते हैं, अतप्व श्रीवाचस्पति पिश्र ने विक्र कर्त्वभाषारों है कर्त्वभाषारों न प्रत्योचरः'। यदि रस को व्यापार (रसन) स्वक्रप मानें तो भी वह अभिधा और लद्या से अपितिपार विक्र ने विक्र न

किंच मुख्यार्थवाघस्य विरहादिप तच्णा॥३॥

न बोधिकां इति शेषः। नहि कोऽपि रसनात्मकव्यापाराद्भिन्नो रसादिपदप्रतिपादः

पदार्थः प्रमाणसिद्धोऽस्ति यमिमे लक्त्याभिधे बोधयेताम्।

किंच यत्र 'गङ्गायां घोषः' इत्यादावुपात्तशब्दार्थानां बुभूषन्नेवान्वयोऽनुपपत्त्या बाध्यते तत्रैव हि लच्चगायाः पवेशः।

यदुक्तं न्यायकुसुमाञ्जलावुदयनाचार्यैः—

<sup>'श्रतान्वयादनाकाङ्चं</sup> न वाक्यं ह्यन्यदिच्छति।

पदार्थान्वयवैधुर्यात्तदोत्तितेन संगतिः॥'

Fi

W

W.

d

न पुनः 'शून्यं वासगृहम्--' इत्यादौ मुख्यार्थबाधः । यदि च 'गङ्गायां घोषः'

नहीं होता। जब समस्त ब्यापारों का इन शक्तियों के द्वारा बीधन होता है, तो रसन व्यापार का वोध इनसे क्यों नहीं हो सकता ?

काब्यप्रकाशकार ने लिखा है—'वाचकानामधीपेता, व्यञ्जकानां तु न तदंपवलम्'— इसकी टीका करते हुए प्रदीपकार ने लिखा है—'वाचकस्य संकेतितार्थापेता, संकेतित एव सर्वेडिमिया प्रवर्तते नत्त्रेवं व्यञ्जकः' यह ठीक है। श्रमिधा श्रीर लच्चणा दोनों ही संकेतित अर्थ की अपेचा करती हैं, किन्तु उसका पहले से सिद्ध (विद्यमान) रहना त्रावश्यक नहीं। त्रभिधा के द्वारा रस्निद का बोध इसी कारण नहीं होता कि रस के व्यक्षक पदों का संकेत उस रस में नहीं होता। 'शुन्यं वासगृहम्' इत्यादिक शृब्द श्टङ्गार रस में संकेतित नहीं हैं। यहाँ 'प्रागसत्त्व' प्रयोजक नहीं है। 'गङ्गायां घोषं रचयति' इत्यादि उदाहरणों में लच्चणा मी

पागसत्'=श्रसिद्ध वस्तुं में प्रवृत्त होती है।

किंब प्रख्यार्थेति—इसके अतिरिक्क रसके प्रतीतिस्थलमें मुख्य अर्थ का बाध भी नियत नहीं। इस कारण भी लच्चणा के द्वारा रस की प्रतीति नहीं हो सकती। हैत्वन्तर कहते हैं-किश्व यत्रेति—गङ्गायां घोषः इत्यादि स्थल में जहाँ उन पदों के अथों का सम्बन्ध आएस में अनुपपन्न हो अनुपपत्ति के कारण जहां वाच्य अर्थ का सम्बन्ध ही न बन सकता हो —वहीं तत्त्वणा होती हैं। 'गङ्गा' पद का अर्थ प्रवाह) घोष पद के अर्थ (कुटीर) का अधिकरण नहीं हो सकता, अतः इन दोनों का अन्वय अनुपपन्न होने के कारण लच्चणा होती है। ऐसा ही न्याय उद्यमाञ्जलि में श्रीउद्यन।चार्य ने कहा है - श्रुतान्त्रयादिति - साक्षात् श्रुत पदों के अन्वय से निराकाङ्च होने पर वाक्य फिर श्रीर कुछ नहीं चाहता। श्रर्थात् यदि वाक्य में पड़े हुए पदों के अर्थ परस्पर सम्बन्ध करके वाक्यार्थ बोधन में समर्थ हों तो, फिर उस वाक्य में किसी अन्य अर्थ की आकाङ्ज्ञा नहीं रहती। और यदि पदार्थों का अन्वय 'विधुर' (अनुपपन्न) हो तो आक्षित अर्थात् शक्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ को साथ मिलाकर 'सङ्गति' अर्थात् अन्वय किया जाता है। इससे यह निकला कि अनुपपत्ति होने पर ही लच्च की गति होती है। परन्तु ं स्त्यम् वासगृहम् दृत्यादि पूर्वोक्त रस के उदाहरण में तो मुख्यार्थ का बाध है नहीं, फिर वहाँ लच्चणा कैसे होगी ?

यदि चेति - यदि यङ्गायां चाषः इत्यादि स्थल में शीतत्व पावतत्वादि प्रयोजन को

इत्यादौ प्रयोजनं लच्यं स्यात्, तीरस्य मुख्यार्थत्वं वाधितत्वं च स्यात्। तस्य बद्यतया प्रयोजनान्तरं, तस्यापि प्रयोजनान्तरमित्यनवस्थापातः।

न चापि पयोजनविशिष्ट एव तीरे लच्चा। विषयपयोजनयोर्युगपत्मतीत्मकः मात् । नीलांदिसंवेदनानन्तरमेव हि ज्ञातताया अनुव्यवसायस्य वा संभवः।

## नानुमानं रसादीनां व्यङ्गयानां बोधनत्त्मम्।

भी लक्ष्य (लच्चणाबोध्य) मानोगे तो तीर (तट) को गङ्गा पद का मुक मानना पहेगा और उसे अन्वय में बाधित भी मानना पहेगा, क्योंकि अर्थ के वाध में ही लच्ला होती है। परनतु यहाँ न तो गङ्गा पद का मुका 'तीर' है और न तीर का अन्वय ही बाधित है, अतः लक्त्या से प्रयोग ज्ञान नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त 'श्रयो जनवती' लज्ञणा किसीनि प्रयोजन को व्यक्त करने के लिये की जाती है - जैसे गङ्गा पद की तरमें करने से शीतत्वादि प्रयोजन व्यक्त होते हैं। यदि इन प्रयोजनों को मीह मानोगे तो इनसे फिर कुछ श्रौर प्रयोजन व्यक्त होना चाहिये। यदि उसक्र जन को भी लक्ष्य मानांगे तो उससे भी अन्य प्रयोजन ध्वनित होना चा इस प्रकार अनवस्था दोष आयेगा। जहाँ एक स्थान पर अवस्थिति न वहाँ अनवस्था दोष आता है।

जो लोग प्रयोजनसहित अर्थ का लच्चा से बोध मानते हैं उनके म निराकरण करते हैं—न चापि -प्रयोजन (शीतत्वादि) से विशिष्ट तीरमैं पद की लत्तणा होती है, यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि कारणीम्त म विषय (तीर) श्रीर उसके प्रयोजनी (शीतत्वादि) का झान एक सार्थ हो सकता। पहले लक्ष्यार्थ का ज्ञान होता है पीछे उसके प्रयोजन का एक ही शक्ति से एक ही काल में दोनों का ज्ञान नहीं हो सकता। इसीबा दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं—नीतादीति – मीमांसक लोग वस्तु के प्रत्यहाँ पर उसमें 'ज्ञातता' नामक धर्म की उत्पत्ति मानते हैं। यह ज्ञातता प्रवा का फल है, अतः उसके अनन्तर ही उत्पन्न होती है। नैयायिक लोग की पींछे अनुव्यवसाय मानते हैं। जैसे घटज्ञान के पींछे 'ज्ञातो घट!'(श लिया ) इत्याकारक ज्ञान उत्पन्न होता है—इसी को अनुव्यवसाय करी लोग ज्ञातता को नहीं मानते। इन दोनों ही मतों में कारणभूत प्रत्या पीछे ही फलीभून ज्ञान (ज्ञातता अथवा अनुव्यवसाय) माना जाती साथ नहीं, क्योंकि कार्यकारणभाव में पौर्वापर्य का नियम भावश्यका प्रकार कारणीभूत लक्ष्य त्रर्थ का ज्ञान श्रीर उसके फलस्व ह्या व्यक्त ज्ञान श्रीर उसके फलस्व ह्या व्यक्त ज्ञान जन) का ज्ञान एक काल में नहीं हो सकता।

व्यक्तिविवेक नामक अन्थ के कर्ता श्रीमहिमभट्ट ने व्यङ्ग व को अनुमान के अन्तर्गत बताया है और व्यञ्जनाशक्ति का अवस्ति। उनके प्रत का विस्तर्गत वताया है और व्यञ्जनाशक्ति का अवस्ति। उनके मत का निराकरण करते हैं — नातुमानमिति — अतुमान प्रशीत व्यामान पद्मधर्मताज्ञान श्रंथवा श्रज्जमिति से, रसादि कप व्यक्त श्रंथवा श्रज्जमिति से, रसादि कप व्यक्त श्रंथवा

## ब्राभासत्वेन हेतूनां स्मृतिन च रसादिषीः ॥ ४॥

8

gf,

1

t.

व्यक्तिविवेककारेण हि —- "यापि विभावादिम्यो रसादीनां पतीतिः सानुमान एवान्तर्भवितुमर्हित। विभावानुभावव्यभिचारिपतीतिर्हि रसादिप्रतीतेः साधनिष्यते। ते हिरत्यादीनां भावानां कारणकार्यसहकारिभूतास्ताननुमापयन्त एव रसादीनिष्पादयन्ति।

सकता। क्योंकि अनुमान में सत् हेतु चाहिये और व्यङ्गय अर्थको अनुमेय सिद्ध करते में जो हेतु दिये जाते हैं वे सब श्रामास श्रर्थात् हेत्वामास हैं। स्मृतिनंचिति— हेतुयों के असत् होने के कारण ही रसादि की प्रतीति को स्मृति मा नहीं कह सकते। व्यक्तिविवेककारके मत का उल्लेख करते हैं यापीति—'विभाव, अनुमाव श्रादि से जो रसादिकों की प्रतीति प्रानी है, वह भी अनुमान के ही अन्तर्गत हो सकती है, क्योंकि विमाय, अनुमाव और संवारियों की प्रतीति रसादिकों की प्रतीति का साधन मानी जाती है. श्रीर वे विभावादिक रत्यादि भावों के कारण, कार्य ग्रौर सहकारी होते हैं। साता ग्रादिक ग्रालम्बनविभाव ग्रौर उपवन चिन्द्रका आदि उद्दीपन विभाव रति के कारण माने जाते हैं। एवम मुवित्रेप कटाचादिक उसी रित या अंतुराग के कार्य होते हैं, और लजा हास ब्रादि संचारीभाव रित के सहकारी समभे जाते हैं। ये ही सब विभावादिक पूर्ववत्, शेषवत् श्रौर सामान्यतो हष्ट श्रजुमान के द्वारा रत्यादिकों का ज्ञान कराते हुए रसादिकों को निष्पन्न करते हैं। अनुमान के द्वारा प्रतीयमान वेही रत्यादिक आस्वाद स्वरूप को प्राप्त होकर रस कहलाने लगते हैं। ताल्प यह है कि काव्यों में विभाव, अनुभाव और संचारियों का वर्णन अवश्य रहता है श्रीर ये सब रित आदि के कारण कार्य अथवा सहकारी होते हैं - अतः जब कहीं सुन्दर स्वच्छ चिन्द्रका में राम के सीतादर्शन का वर्णन और कटाल भूविचेपादि का निरूपण प्यम् लजा, हास आदि का दर्शन या अवण होता है तो भटसे यह अनुमान होजाता है कि राग्न अथवा सीता के हदय में रित का उद्बोध हुआ है। अनुमान का प्रकार यह है "सीता, रामविषयकरातिमती, तास्मन विजवणित्मतकटाचवत्त्वात् , या नैवं सा नैवं, यथा मन्थरा''। अर्थात् सीता के हृद्य में राम के प्रति रित (अनुराग) उत्पन्न हुई है (यह प्रतिज्ञा है) क्यों कि राम को देख के इसने प्रेमभरी दृष्टि से मुसकराते हुए कटाच किया। (यह हेतु है) जिसे राम में रित नहीं है, वह इनकी स्त्रोर इस प्रकार नहीं देखती, जैसे मन्थरा। (यह दृष्टान्त है) इसिलये 'विलक्षण कटाकादि से युक्त होने के कारण सीता राम विषयक रित से युक्त हैं इत्यादि उपनय श्रीर निगमन के द्वारा पहले रत्यादि मार्वो का श्रनुमान होता है और फिर ये ही रत्यादिक उत्कृष्ट आ-स्वादकोटि में पहुँच के रसरूप में परिगत होजाते हैं।

पश्न-यदि यह मानते हो कि पहले रित ग्रादि का श्रनुमान होता है पीछे रिसादि की निष्पत्ति होती है तो इस प्रकार का कार्यकार ग्राम स्वीकार करने से कमसे ही कार्य होगा। पहले कारणादि की प्रतिति किर उससे रत्यादिका श्रनुमान और किर रसनिष्पत्ति होगी। परन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंक

त एव प्रतीयमाना आस्वादपदवीं गताः सन्तो रसा उच्यन्त इति अवस्ति तत्प्रतीतिक्रमः, केवलमाशुभावितया न लच्यते, यतोऽयमद्याप्यभिव्यितिक्रमः। यदुक्तम्, तत्र प्रष्टव्यम्—िक शब्दाभिनयसमिपतिविभावादिपत्ययानुमितरामितः रागादिज्ञानमेव रसत्वेनाभिमतं भवतः, तद्भावनया भावकैर्भाव्यमानः स्वप्रकाशः वा । आद्ये न विवादः । किंतु रामादिगतरागादिज्ञानं रससंज्ञया नोच्यतेऽस्थि इत्येव विशेषः । द्वितीयस्तु व्यापिग्रहणाभावाद्धेतोराभासत्याऽसिद्ध एव ।

रसादिकों को असंतक्ष्यक्रमव्यक्त्य माना है। इनमें क्रम संतक्ष्य नहीं चाहिये। महिममट्ट इसका उत्तर देते हैं। अवस्यम्भावीति — 'रसकी प्रतीति के तो अवश्य ही रहता है। परनतु शीघता के कारण वह संलक्ष्य (स्फुटतवाक्ष भूयमान) नहीं होता। अतएव इसे असंलद्धकम कहते हैं। यदि क्रम विद्वा होता तब तो इसे अक्रमन्यक्रय कहना चाहियेथा। अतः उक्र क्रम के एक भी अनुमान मानने में कोई चति नहीं, क्यों कि व्यञ्जना से रस बोध मानो भी तो रसकी अभिव्यक्तिका यही क्रम् मानते हैं कि पहले विभावादिसेता की प्रतीति होती है और फिर रस की निष्पत्ति होती है।" प्रन्थकारता का विकल्पों के द्वारा खएडन करते हैं। तत्र प्रष्टव्यमिति —यहाँ यह पूछना है कि श्रयवा श्रमिनय से बोधित विभावादिकों के ज्ञान के द्वारा जो रामादि गर श्रादि का श्रनुमान होता है, क्या उसी को श्राप रस मानते हैं ? या अ भावना के द्वारा सहदय पुरुषों के हृद्य में भावित स्वयंप्रकाश तथा श्राह स्वरूप किसी अलौकिक चमत्कार को ? आचे इति -यदि इनमें से पहला मानो तो हमारा कोई विवाद ही नहीं। भेद केवल इतना है कि हम के हृद्य में स्थित अनुरागादि के ज्ञान को रस नहीं मानते। अतः हमारास रस तुम्हारे उक्त कथन से भी, अनुमानगम्य नहीं सिद्ध हो सकता। विल यदि दूसरा पच मानो तो उसमें व्याप्तिग्रह नहीं होता, श्रतः हेतुकी श्रामा के कारण वह अनुमान से सिद्धनहीं हो सकता। तुमने जो हेतु दिया है वहन प्रद न दोने के कारण हैत्वामास है, अतः अलौकिक चमत्कारकपरसही अनुमान से गम्य नहीं हो सकता । तात्पर्य यह है कि राम और सीता की से तुम यही अनुमान कर सकते हो कि 'राम सीता में अनुरक्त हैं ग्रा कि 'सीता राम में अनुरक्त हैं।' परन्तु सीता में राम के अथवा राम में अनुराग को जान लेना मात्र तो हमारे मतमें रस है नहीं। हम तो सीतामें के अनुराग को जानने के पीछे भावना के बल से सहदयों के हरा विलक्ष चमत्कार उत्पन्न होता है - सहद्यों के हृद्य में स्थित, तम का जो अलौकिक आनन्द के रूप में परिशाम होता है—उसे रस उसका आपके उक्त अनुमान से कोई सम्बन्ध है ही नहीं।

यदि कही कि पहले अनुमान से कोई सम्बन्ध है ही नहीं।
यदि कही कि पहले अनुमान से राम में अनुराग का जान होगा।
दूसरे अनुमान से सहद्यों में रस का ज्ञान होगा। 'यत्र यत्र रामादिगाएं। तत्र रसित्पातः' जिस जिसने राम का अनुराग जाना है उस उसके हर्ष यबोक्तं तेनैव — 'यत्र यत्रैवं विधानां विभावानुभावसात्त्विकसं चारिगामिधानमिनयो वा तत्र तत्र शृङ्कारादिरसाविभीवः' इति सुप्रहैव व्याप्तिः पच्चधर्मता च।

तथा-

q

II.

ť

Ø,

ľ

ľ

1

'यार्थान्तराभिव्यक्तौ वः सामग्रीष्टा निवन्धनम् । सैवानुमितिपच्चे नो गमकत्वेन संमता ॥' इति ।

इदमपि नो न विरुद्धम् । नह्येत्रंविधा पतीतिरास्वाद्यत्वेनास्माकमिमता

रस का मान होता है। इस प्रकार की व्याप्ति का ज्ञान करने के पीछे यह अनुमान करों। कि 'अयं सामाजिकः शृङ्गारसनान् — रामादिगतानुरागृज्ञानवत्वात् सामाजिकान्तरवत्' इस सहद्य के हृद्य में शृङ्गार रस की उत्पत्ति हुई है (प्रतिज्ञा) क्यों कि इसने रामादि के अनुराग को जाना है (हेनु)। इस अनुमान से रस का ज्ञान होगा। यह मत वीक नहीं, क्यों कि इसमें व्याप्तिग्रह ही नहीं होता। धूम से विह्न का अनुमान सिलिये होता है कि धूम चिह्न के विना नहीं रहता। उसके साथ ही रहता है। परन्तु उक्त अनुरागज्ञान सदा रस के साथ नहीं रहता। पुराने वेदपाठी और वृद्धे पीमांसक लोग भी अविद्ये पादि से रामादिगत अनुराग का तो अनुमान कर लेते हैं, परन्तु उन वेचारों के शुष्क हृद्य में रस की वृद्ध भी नहीं पड़ती। यदि अनुरागज्ञान से ही रस हो जाता तो उनके हृद्य में भी होना चाहिये था। अतः उक्त व्याप्ति का अनुगम न होने के कारण यह हेतु व्यभिचारी है। इसलिये इससे रस का अनुमान नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त सहद्यों को अपने हृद्य में जो रसास्वाद होता है, उसे अनुमान द्वारा सिद्ध करना भी ठीक नहीं। यदि अपना ज्ञान अपने हीं को अनुमान द्वारा प्रतीत होगा तो फिर्र उसका प्रत्यत्त किसे होगा ? रस, ज्ञान-स्वरूप होता है और अपना ज्ञान अपने को सदा प्रत्यत्त ही होता है, इसिक्यें भी रस को अनुमेय कहना ठीक नहीं।

यच्चोक्तिमिति—श्रीर यह भी जो उन्हीं (मिहमभट्ट ) ने कहां है कि—यत यत्रेति— 'जहाँ जहाँ इस प्रकारके विभाव, श्रनुभाव, सात्त्विक श्रीर सञ्चारियों का कथन अथना श्रमिनय होता है वहाँ वहाँ श्रृंगारादि रसों का श्राविभीत्र होता है, इस प्रकार ज्याप्ति श्रीर पच्चर्मता सुगमही है"—श्रीर उनका यह कथन कि—यार्थीनोति—"तुम व्यञ्जनावादी लोग जिस सामग्री (विभावादि ) का दूसरे श्रथे की श्रमिक्यक्तिका कार्ण मानते हो उसीको हम श्रनुमिति पच्च में गमक श्रथीत् श्रनुप्रिति का साधक मानते हैं"। इस सबका खण्डन करते हैं—इदमपीति—यह बात भी हमारे विरुद्ध नहीं है। क्योंकि पूर्वोक्त व्याप्ति से विभावादि सामग्री के द्वारा नामादिगत श्रनुरागादि का ही झान हो सकता है। हमने वह झान रसक्त से श्रास्वाद्य माना ही नहीं है। हम तो केवल स्वप्रकाश में विश्रान्त श्रथीत् झानस्वक्ष श्रीर सान्द श्रानन्द से व्याप्त चमत्कार को रस मानते हैं। उसका उक्त प्रकार से किंतु—स्वपकाशमात्रविश्रान्तःसान्द्रानन्दनिर्भरः।तेनात्रसिषाधयिषितादर्थात्वीः साधनाद्धेतोराभासता ।

यच ''भम धिमम्ब्र-'' इत्यादौ प्रतीयमानं वस्तु, 'जलकेलितरलकरतलमुक्तपुनःपिहितराधिकावदनः। जगदवतु कोकयूनोर्विघटनसंघटनकौतुकी कृष्णः॥'

इत्यादौ च रूपकालंकारादयोऽनुमेया एव । तथाहि — अनुमानं नाम प्राप्त सपच्चसत्त्वविपच्चव्यावृत्तत्वविशिष्टा ज्ञिङ्गाञ्चिङ्गिनो ज्ञानम्। ततरच वाच्यादसंबद्धेः

अनुमान हो ही नहीं सकता। तेनात्रीत—इसलिये यहाँ जो सिद्ध करना कर्ष असमे अन्य वस्तु को सिद्ध कर बैठने के कारण हेतु आभासित है। हेतृ होता है जो अभीष्ट साध्य को सिद्ध कर सके। परन्तु उक्त अनुमान के हेतृ होता है जो अभीष्ट साध्य को सिद्ध कर सके। परन्तु उक्त अनुमान के हेतृ हो जिसका जन्म रस को अनुमान के अन्तर्गत सिद्ध करने के लिये हुआ पर सिद्ध को तो अनुमेय सिद्ध नहीं किया, किन्तु और ही वस्तु—(रामाहि अनुराग) को अनुमान से सिद्ध किया, अतः अर्थोन्तर का साधक होने के का यह हेतु नहीं, हेत्वामास है। 'विनायकं प्रकृतीणो रचयामास वानरम्'।

व्यक्तिविवेककार ने व्यक्तय वस्तु और व्यक्तय अलङ्कारों को भी अनुमा में अन्तर्भुत किया है। उस मत का उल्लेख करते हैं —पच्नेत्यादि —'म्रम्यानि इत्यादि पूर्वोक्त पद्यों में प्रतीयमान (व्यङ्गरा) वस्तु श्रीर 'जलकेलि' इत्यादिन में प्रतीयमान त्रलङ्कार भी त्रानुमेय ही हैं। सब अनुपानसे ही ज्ञात होसही उनके लिये अलग व्यञ्जनाशक्ति के मानने की कोई आवश्यकता नहीं। की जलकीडा के समय चञ्चल करतल से राधिका के मुख को बार-बार हों। श्रीर खोल के, चक्रवाक के जोड़े का वियोग श्रीर संयोग करने में बी श्रीकृष्ण संसार की रत्ना करें। इसमें रूपक त्रालङ्कार व्यक्ष्य है। इसमें उपमान का आरोप करने पर रूपक अलङ्कार होता है। इस पद्य का गर्म है कि जलकोड़ा के समय श्रीकृष्णजी जब राधिका के मुख को ढांक हैं तब चकर्वों का जोड़ा आपस में मिल जाता था और जब उसे खोत्री तभी चन्द्रोदय हुआ समक्तर वे दोनों वियुक्त हो जाते थे। राधि में चकवे वियुक्त हो जाते हैं और दिन में एक साथ रहते हैं। इस कंशन है का चन्द्रमा से अभेद प्रतीत होता है। अतएत रूपकालक्षार यहाँ व्यक्ष इसे अनुमान से सिद्ध करते हैं। तयाहि -पच् श्रीर सपचमें रहतेशले पर में न रहनेवाले हेतु से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। जैते विह्नमान् धूमात्" इस अनुपानमें धूम हेतु है वह पत्त (सिन्दाधसाध्यविद्वा में तो दोखता ही है श्रीर सपन् (निश्चितसाध्यवत्) महातस श्रीहि उसकी समा विकास उसकी सत्ता निश्चित है। एवम् विपत्त (निश्चित साध्यामाववत्) ताती। जिनमें क्रिक का कार्या के कि जिनमें अपिन का अभाव निश्चित है, उनमें हेतुभूत धूम नहीं रहती। की क्ष रूप हेतु पत्तसस्य, सपत्तसस्य हो, उनमे हेतुभूत धूम नहा रहता कर्मो हे हैं उससे जो बहि का नाम के किया विपत्तत्वावृत्तत्व इन तीनी धर्मी है है उससे जो विह्न का ज्ञान होता है उसे अनुमान कहते हैं। तत्र्वीत म

स्तावन प्रतीयते । अन्ययातिप्रसङ्गः स्यात् , इति बोध्यबोधकयोरर्थयोः करिचत्संब-व्योऽस्त्येव । ततरच बोधकोऽथों लिङ्गम्, बोध्यरच लिङ्गी । बोधकस्य चार्थस्य पद्य-सत्त्वं निबद्धमेव । सपद्यसत्त्वतिपद्यावृत्तत्वे अनिबद्धे अपि सामर्थ्यादवसेये। तस्मादत्र यद्वाच्यार्थाहिलङ्गरूपाहिलङ्गिनो व्यङ्गचार्थस्यावगमस्तदनुमानएव पर्यवस्यति" इति, तन्न तथा ह्यत्र "भम धिम्मअ—, इत्यादौ गृहे श्वनिवृत्त्याविहितं भ्रमणं गोदावरीतीरे

7

4

F

1

M.

F

ř

5

M

1

1

भी यह मानना ही पड़ेगा कि वाच्य अर्थ से असम्बद्ध अर्थ तो व्यक्त्य नहीं होता। यदि यह न माने तो अतिव्याप्ति होगी। चाहे जिस वाच्य से चाहे जो कुछ डयङ्गय निकलने लगेगा। कोई व्यवस्था ही न रहेगी। ततश्रीते—इसलिये बोध्य (व्यङ्गव) श्रीर वोधक (व्यञ्जक) श्रथों का श्रापस में कोई सम्बन्ध श्रवश्य मानना पहुंगा। अनपव बोधक अर्थ लिङ्ग (हेतु) और बोध्य अर्थ लिङ्गी (साध्य) सिद्ध हुआ। बोधकस्य चेति —'स्रमधार्मिक'यहां चैपरीत्य सम्बन्ध है। और बोधक (स्रमण-हर वाच्य अर्थ) का पद्म (धार्मिक) में सत्त्व तो कह ही दिया है। सरदासत्व श्रीर विपत्तव्यावृत्तत्व, यद्यपि कहे नहीं, परन्तु सामर्थ्य से जान लेने चाहियें। इस प्रकार हेतुभूत बोधक अर्थ में पत्तसत्त्व, संपत्तसत्त्व और विपत्तव्यावृत्तत्व वेतीनों धर्म सिद्ध हुए। अतः इस पद्यमें इन तीनों धर्मों से युक्त, भ्रमणविधिकप वाच्य अर्थ लिझ (हेतु) है। उससे भ्रमण्तिषेधका व्यक्त्य अर्थ जो यहाँ लिङ्गी श्रर्थात् साध्य है, उसका ज्ञान श्रनुमान ही सिद्ध होता है। जैसे 'पर्वतो-विहिमान् धूमात्' इस अनुमान में पूर्वोक्त प्रकार से पत्तसत्वादि तोनों धर्मों से युक्त हेतु अनुमापक होता है उसी प्रकार प्रकृत पद्यमें भी व्यङ्गश्र अनुमान-गम्यही है। अतः व्यञ्जनाशक्ति को अतिरिक्त मानने की कोई आवश्यकता नहीं। यहां सहदय पुरुष अनुमाता है। धार्मिक पुरुष पत्त है। गोदावरी के किनारे भ्रमण न करना साध्य है। कुत्ते की निवृत्ति के कारण जो भ्रमण में विश्वस्तता बतलाई है उससे भ्रमण में भी रुसम्बन्धित्व प्रतीत होता है। डरपोक भादमी ही कुत्ते आदि से घवराते हैं श्रीर जहाँ कुत्ते श्रादि मिलें उधर नहीं जाते। इसी मकार प्रकृत में भी यह कहने से कि "उस कुत्ते को गोदावरी तटवासी सिंह ने मार दिया, अब तुम विश्वस्त होकर घूमो" यह प्रतीत होता है कि घूमनेवाला डरपोक है। पहले कुत्ते के डरसे विश्वासपूर्वक नहीं घूमताथा। इसिलये भीरु-ममण' कप हेतु सिह्युक्त गोदावरी के किनारे भ्रमणाभाव का अनुमापक है। भीव पुरुषों का भ्रमण वहीं होताहै, जहां भयके कारणोंका झान न हो। गोदावरी के किनारे सिंह बैठा बतलाया है, अतः भीरु धार्मिक का वहां अभ्रमण अनुमित होता है। अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होता है—"वार्मिकः (पन्न) सिंहबद्रोदानरी-वीताऽअमणवान् (साध्य) भीरुअमणवत्वात् (हेतु) अन्यसीरुवत् " (हृष्टान्त)। अथवा-वार्मिक्अमणम् सिंह्वद्गोदा अरितीरिनिष्ठाऽमावप्र तयोगि, भीष्ठअमणत्वात्, भोष्ठदेवदत्त अमणवत् । "यद् यद् भीरुश्रमणं तत्तद्भयकारणानुपल्विधपूर्वकम्" इति व्याप्तिः। इसका खण्डन करते हैं। तक्षेत्यादि-यह जो तुम कहते हो कि प्रकृत पद्य में कुत्ते की निवृत्ति के कार्या, घर में भ्रमण के विधान से गोदावरी के तीर में अभ्रमण का अनुमान होता है, क्योंकि वहां सिंह बैठा है। यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि यह हेतु सिंहोपलब्धेरभ्रमणमनुमापयति" इति यद्रक्तव्यं तत्रानैकान्तिको हेतुः। गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन पियानुरागेण वा गमनस्य संभवात्। पुँरचल्या वचनं क णिकं न वेति संदिग्धासिद्धरच ।

अनैकान्तिक है। अतः यह हेतु नहीं हेत्वाभास है। जैसे धूम निश्चित्ता विह के साथ रहता है उस प्रकार यह हेतु अपने साध्य के साथ निश्चिता न रहने के कारण अनैकान्तिक अर्थात् व्यभिचारीहै। यहां भी रुभ्रमण हेतुहैं सिंह बैठा होने के कारण, गोदावरी के किनारे भ्रमणाभाव साध्यहै। भययुक्त स्थान पर भी ह का भ्रमण कभी होता ही न हो तब तो भी रुप्रमण के कारण गोदावरी के किनारे धार्मिक के भ्रमण का श्रमाव सिद्ध हो सकता परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। मीरोरपीति — भयगुक्क स्थानों पर भी गुरु क्क स्वामी की आज्ञा के कारण यद्वा किसी के प्रेम में पड़कर भीठ पुरुषे हा भ्रमण होता ही है। इसलिये उक्त हेतु इस साध्य का साधक नहीं हो सक्त यदि कही कि किसी प्रकार के आंपरकाल में भले ही संभव हो, परन्तु लेक वश भीवत्रों का भ्रमण ऐसे स्थानों में कभी नहीं होता, हम उसी का मुस करते हैं। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि—पुँश्चल्या इति—गोदावरी के किनारे बतानेवाली एक कुलटा है, कोई सत्यवादिनी नहीं, श्रतः उसका वचन की या नहीं इस प्रकार का सन्देह भी बना ही रहेगा। प्रमाणान्तर से तो वहां की सत्ता निश्चित है ही नहीं। केवल वचन से ही प्रतीत होती है। और कुलटा के वचन के प्रामाएय में सन्देह है, इसलिये यहां 'यद यद मीरुप्रवर्ग भैयकारणानुपत्तिवपूर्वकम् 'यहं व्याप्ति उक्त सन्देह के कारण तीर में संबंधित होती, क्योंकि तीरमें भयका कारण (सिंह) है या नहीं, इसी में सन्देह है। उक्क सन्दिग्ध व्याप्तिसे व्याप्य उक्कहेतु भी सन्दिग्ध होनेके कारण त्रसिद्ध

वस्तुतः — 'गृहे रवनिवृत्त्या विहितं अमणम्' यह महिमभट्टकृत व्याख्या भी श्रहंगती प्रथम तो 'अमधार्मिक' इत्यादि पद्य में 'गृहे' पद है ही नहीं, श्रीर विदि प्रकार इसका आक्षेप मान भी लें तो अर्थ असंगत हो जायगा। यह पूर्व घार्मिक के भ्रमण का विधान किसके घर में कर रही है ? अपने घरने धार्मिक के घर में ? अथवा किसी अन्य के घर में ? कोई पुंद्रांती अप में किसी धार्मिक को 'भ्रमण' (चेहल-क़दमी) करने को बुलाये, यह है। इस प्रकार के अर्थ की कल्पना करना साहित्यिक अझान की है। फिर क्या धार्मिक के ही घर में भ्रमण का विधान है ? तब ती बा उसे अपने ही घर में घूमने से रोकनेवाला ही कीन है ? किर उसके कि के) घर में कुत्ते का क्या काम ? यदि हो भी तो क्या उसकी अपनी ही उसे काटने दौड़ता था ? वहाँ श्वनिवृत्ति कैसी ? यदि किसी न घर में भ्रमण का विधान हो तो अनिधकार चेष्टा है। वस्तुतः नती में 'गृहे' पद पढ़ा है और न इसमें उसकी अपेदा ही है। इसमें असमान की टांक की अनुमान की टांग ही टूट जाती है। इसका अर्थ हम पहले लिख हैं

अतिकेलि—' इत्यत्र 'य आत्मदर्शनादर्शनाम्यां चक्रवाकविघटनसंघटनकारी स बन्द्र एव' इत्यनुमितिरेवेयमिति न वाच्यम् । उत्त्रासकादावनैकान्तिकत्वात्। 'एवंवि-बोऽर्य एवंविधार्थबोधक एवंविधार्थत्वात्,यन् वं तन् वम्' इत्यनुमानेऽप्यामासमानयो-ग्रह्मो हेतुः । 'एवंविधार्थत्वात्' इति हेतुना एवंविधानिष्टसाधनस्याप्युपपत्तेः ।

तथा 'दृष्टि हे प्रतिवेशिनि च गमिहाप्यस्मद्गृहे—'इत्यादौ नलप्रन्थीनां तन्तिख-नम् एकाकितया च स्रोतोगमनम् तस्याः परकामुकोपभोगस्य लिङ्गिनो लिङ्गिमित्य-च्यते । तचात्रैवाभिहितेन स्वकान्तस्नेहेनापि संभवतीत्यनैकान्तिको हेतः ।

n!

Ų.

q

To the

di

lÌ

i

di

9

d

इस प्रकार व्यक्तवयस्तु की अनुमेयता का खएडन करके व्यक्तव ऋलंकार की श्रुमानगम्यता का खएडन करते हैं - जनकेलि इति- 'जलकेलि' इत्यादि पद्यमें जीयह अनुमान किया है कि अपने दर्शन से चक्रवाकों का वियोग और अदर्शन से संयोग करा देने के कारण राधा का मुख चन्द्रमा प्रतीत होता है। (राषावदनम्, चन्द्रत्वप्रकारकस्वविशोष्यकवोधजनकम्,स्वदर्शनाऽदर्शनाभ्यांचक्रवाकविषटनसंघटनकारित्वात्,गगनस्य-व्यवन् इत्यनुमानाकारः ) यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जिसे देखकर चक्रवाक वियुक्त हो जायँ, श्रीर उसके न दीखने पर मिलें रहें, वह चन्द्रमा ही हो, यह नियम नहीं है। कोई डरानेवाला पुरुष या वाज़ आदि पत्नी भी ऐसा हो सकता है जिसे देवते ही चकई चकवे इधर उधर उड़कर वियुक्त हो जायँ और जब तक वह न दीखे तब तक मिले रहें। इसिलिये यह हेतु भी अनैकानितक है। एवंविध इति— "इस प्रकार की वस्तुं (पत्त ) इस प्रकार की वस्तु का बोधन करती है (साध्य ) इस प्रकार की वस्तु होने से" (हेतु ) ऐसा अनुमान करने में मी हैत्वामास ही होता है, क्योंकि यहां जो हेतु ( एवंविधार्थत्वात् ) है, उससे अनिष्ट अर्थ भी लिया जा सकता है। उसके शब्द ऐसे नहीं जो किसी विशेष वस्तुं का विशेष रूप से निर्देश कर सकें। सामान्यतः सभी और उसे लंगाया जा संकता है, अतः यह भी सत् हेतु नहीं है।

तथा दृष्टिम्—इसी प्रकार 'दृष्टि हे प्रतिवेशिनि' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में जो यह कहते हो कि ''नलग्रन्थियों के द्वारा देह में खरोंट पड़ते और अकेले नदी पर जाने से स्त पद्य के कहनेवाली का परपुरुषसंग अनुमित होता है। अकेले नदी पर जाना और वहां नत की गांठों से देह में खुरेंचें लगना ये दोनों हेतुभूत अर्थ हैं और परकामुकोपभोग उनका साध्य है। यहाँ इस प्रकार अनुमान का प्रयोग होगा— श्यम् परकामुकोपभागवती, एकाकितया स्रोतोगमने सति, तनू लिखनवत्त्वात् — कुलटान्तरवत्" यह भी डीक नहीं —तुम यह कहते हो कि अकेले नदी पर जाना परपुरुष के स्नेह से ही हो सकता है और देह में खरीं र उसके संग से ही पड़ सकते हैं—सो ठीक नहीं, क्योंकि इ.सी पद्य में नदी पर जाने का कारण स्वकान्तस्तेह बताया है। प्रतिव्रतास्त्री अपने प्रति के प्रेमवश उसकी सेवा या प्रसन्नता के लिये अकेली नदी पर जाकर जल लाये, यह बात असंभव नहीं। नदी पर जाना परपुरुष के भेम से ही हो सकता है, अपने पति के प्रेम से नहीं हो सकता, यह नहीं कहा जा सकता है, अपने पति के प्रमुख नहा के अपने साध्य के CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यच 'नि:शेषच्युतचन्दनम्-' इत्यादौ दूत्यास्तत्कामुकोपभोगोऽनुभीयते तिहि पाद्यया दूत्या, तत्कालसंनिहितैर्वान्यैः, तत्कान्यार्थभावनया वा सहद्यैः। श्रह विवादः । तृतीये तु तथाविधाभिप्रायविरहस्थले व्यभिचारः । ननु वक्त्राधनस्म कृतत्वेन विशेष्यो हेतुरिति न वाच्यम् । एवं विभव्याप्त्यनुसंधानस्यामावात्।

किचैवंविधानां काव्यानां कविपतिभामात्रजन्मनां प्रामाएयानावश्यकलेन सिंह सिद्धत्वं हेतोः। व्यक्तिवादिना चाधमगदसहायानामेवैषां पदार्थानां व्यक्षकत्कृ तेन च तत्कान्तस्याधमत्वं प्रामाणिकं न वेति कथमनुमानम्।

साथ सदा नहीं रहता, श्रतः उसकी व्याप्ति गृहीत नहीं हो सकती। गहिः पुरुष के प्रेम के विना अकेले नदी पर जाना असम्भव होता और नलप्रिका तनुनेखन भी असंभव होता तो यह व्याप्ति गृहीत हो सकती थी कि ना एकाकितया स्रोतोगमने सति तनू जिखनं तत्र तत्र परकामुकीपमागः।" परन्तु प्रकृत में गर हो सकता, श्रतः यह हेतु भी अनैकान्तिक हैं। यचेति - श्रीर 'निःशेषेता जों कहते हो कि दूती का उस का मुक के खाथ सम्मोग अनुमित होता। क्या उस पद्य की प्रतिपाद्य दूती को ऋनुमान होता है ? या उस समय पास हुए अन्य जन उस दूती के कामुकीपभीग का अनुमान कर लेते हैं ! प्रशा कान्यके अर्थकी भावना के द्वारा सहद्यों को यह अर्जुमान होताहै। पहते मतों में कोई विवाद नहीं। यह ठीक है कि चन्द्नच्यवन म्रादिक स्नाती से भी हो सकते हैं। केवल का मुकोपभोग में प्रतिनियत न होने के कारण ग्राहक और अनुमापक नहीं हो सकते, तथापि दूती और उसके क्या के पास खड़े हुए अन्य लोगों को अनेक विशेषतायें दीस सकती है। वह की उस समय की स्रत शकल या विशेष अवस्था को देखकर, इस प्रा अनेक विशेषतायें समक्त में आ सकती हैं, जो सम्भोग में ही प्रतिविध जिनका स्नानादि के कारण होता सम्भव न हो। दूनी को तो प्रत्यव श्रीर अनुमान भी हो सकता है, क्यों कि "श्रवना किनमि पदार्थमत्मित्सरोति (श्रीवात्तस्पति मिश्र)। पर्नतु यदि तीसरा पत्त मानौ तो जहाँ उसम्ब व्यङ्गच अभिप्रेत नहीं है, केवल यही अभिप्राय है कि, तू नहाते चली उसके पास न गई' वडाँ व्यमिचार होगा। इस प्रकारके शब्दोंसे सबस्य पेसा ही अर्थ बोधित हो, यह नियम तो है ही नहीं किर व्याप्तिप्रह कैते। निविति पदि कहो कि हम वक्ता आदि की अवस्था से अथवा वहीं

त्रादि की अवस्था से हेतु को विशेषित करेंगे। अर्थात् यह मानी वक्का इस प्रकार का मुँह बना के इन शब्दों को कहे अधवा वक्का आहि की इस सम्बद्धा कि आदि की इस अवस्था में यदि ये शब्द कहे जायँ तो इस प्रकार का क्प अर्थ अनुमित होता हैं, तो यह भी ठीक नहीं -क्योंकि इस प्रकार व्याप्ति का अनुसन्धान हो ही नहीं सकता। वक्ता या वक्त आहि की दशाय न तो शहर के --दशायं न तो शब्द से उपस्थित हो ती हैं श्रीर न हो ही सकती हैं। साथ हेतु को विशेषित करके व्याप्तिज्ञान कराना असम्भव है। दिनी

एतेनार्थापत्तिवेद्यत्वमपि व्यङ्गधानामपास्तम् । अर्थापत्तेरपि पूर्वसिद्धव्याप्तीच्छामुप-जीव्यैव प्रवृत्ते: । यथा — 'यो जीवति स कुत्राप्यविष्ठिते, जीवित चात्र गोष्ठधामिव-द्यमानरचैत्रः' इत्यादि ।

किंच वस्रविक्रयादौ तर्जनीतोलनेन दशसंख्यादिवत्सूचनबुद्धिवेद्योऽप्ययं न भवति।सूचनबुद्धेरि संकेतादिलौकिकपमाणसापेच् त्वेनानुमानपकारताङ्गीकारात्।

ग्रतिरिक्त इस प्रकार के काव्य, जो कि किवयों की अजीकिक प्रतिमा से ही उत्पन्न होते हैं, उनके लिये यह आवश्यक नहीं कि वे प्रामाणिक अर्थात् सदा वस्तुतस्य के अनुगामी ही हों। अतः उन काव्यों में कहे हेनुओं का प्रामाण्य भी सिद्ध्य है, इसलिये इस प्रकार के स्थलों में हेतु सिद्ध्यासिद्ध भी रहेगा। अतः उससे अनुमान नहीं हो सकता। व्यक्तिवादी (व्यक्षना माननेवाले) ने अप्रम' पद के साथ रहने से ही इन चन्दनच्यवन आदि वदार्थों का व्यक्षकत्व माना है, परन्तु किव के इस कथनमात्र से तो उसका कान्त अध्य हो नहीं सकता। उसका कान्त वस्तुतः अध्य है या नहीं यह सन्देह बना ही रहेगा। किर इस सिद्ध्य दशा के हेतु से अनुमान आप कैसे कर सकेंगे ?

एतेनेति—इस पूर्वसन्दर्भ से व्यङ्गय अथौं का अर्थापत्ति प्रमाग के द्वारा बोधित होना भी खिएडत होगया, क्योंकि अर्थापत्ति प्रमाण भी व्याप्तिज्ञान का आश्रय करके ही प्रवृत्त होता है और जहां व्यभिचार तथा सन्देह बने रहें बहाँ व्याप्ति-हान हो नहीं सकता, अतएव अर्थापत्ति प्रमाण भी वहाँ पैर नहीं रख सकता अ

अर्थापत्त प्रमाण का विषय दिखाते हैं यथेति जैसे 'जो जीता है वह कहीं अवश्य रहता है, चैत्र जीता तो है, परन्तु इस गोष्ठी में नहीं है।' यहाँ अर्थापत्ति से यह जात होता है कि "चैत्र इस गोष्ठी के बाहर कहीं हैं।' इस अर्थापत्ति में व्याप्तिज्ञान आवश्यक है — जीवितत्व किसी स्थान की अवस्थिति से व्याप्य है। जो जीवित है वह किसी स्थान पर अवश्य रहेगा। विना किसी स्थान पर रहे जीवित नहीं रह सकता। जैसे विना अनि के धूम नहीं रह सकता। इससे जीवित होना किसी स्थान पर स्थिति को बोधित करता है। चैत्र का गोष्ठी में न होना प्रत्यन्त सिद्ध है, अतः चैत्र का गोष्ठी के बाहर अवस्थान ज्ञात होता है। इस प्रकार व्याप्ति न होने पर अर्थापत्ति प्रमाण की गति नहीं होती, अतः व्यक्ष अर्थ अर्थायित्तिगम्य नहीं होता, क्योंकि वहाँ व्यक्तिचार और सन्देह आर्दि दोषों के कारण व्याप्तिग्रह नहीं हो सकता।

किश्वेति—कपड़े आदि बंचने के समय उंगली उठाने से जैसे दस संख्या का बोध होता है ऐसी सूचनबुद्धि से भी रस का ज्ञान नहीं हो सकता। सूचन बुद्धि भी लौकिक संकेत आदि की अपेचा करती है। जहाँ पहले से संकेत किया रहता है वहीं तर्जनी उठाने से दस का ज्ञान होता है। विना संकेत बान के सूचनबुद्धि की उत्पत्ति नहीं होती, अतः वह भी एक प्रकार का अनुमान हो है। रस जब अनुमानगम्य नहीं है तो इस प्रकार की बुद्धि का विषय की है। रस जब अनुमानगम्य नहीं है तो इस प्रकार की बुद्धि का

विषय भी नहीं हो सकता।

H

f

1

ı

U.

N

1

f

4

1

ľ

4

यच 'संस्कारजन्यत्वाद्रसादिबुद्धिः स्मृतिः' इति -केचित्, तत्रापिमत्यिमिक्कि नैकान्तिकतया हेतोराभासता ।

नेकान्तिकापा करार विकास के निकास के नि

तदेवमनुभवसिद्धस्य तत्तद्रसादिलक्षणार्थस्याशक्यापलापतया तत्तच्छुव्दावन्वकर्तः रेकानुविधायितया चानुमानादिपमाणावेद्यतया चाभिधादिवृत्तित्रयावोध्यत्या कृष्टे वृत्तिरुपास्यैवेति सिद्धम्।इयंच व्याप्त्याद्यनुसंधानं विनापि भवतीत्यखिलं निर्मत्वम्।

यचेति—'वासना नामक संस्कार से उत्पन्न होने के कारण रसका कान प्रकार की स्मृति है।' यह जो कोई कहते थे, वह भी ठीक नहीं, क्योंकि क्र भिक्षा में व्यभिचरित होने के कारण यह भी हेन्द्राभास है। जहां पहले हैं हुई वस्तु के सामने श्राने पर 'सोयं देवदक्तः' (यह वही देवदक्त हैं) ह्या क्षान होता है उसे प्रत्यभिक्षा कहते हैं इसमें 'सः' इतना श्रंश स्मृति का है के 'श्रयम्' श्रंश प्रत्यक्त का है। यह प्रत्यभिक्षा भी संस्कार से उत्पन्न होती है, पर स्मृति नहीं होती, श्रानः जो संस्कारजन्य हो वह स्मृति ही हो ऐसा कि नहीं रहा। क्योंकि स्मृतित्वक्रय साध्य के विना भी संस्कारजन्यतकार प्रत्यभिक्षा में रह गया, श्रातः यह श्रानुमान कि "रसकानं (पक्ष) स्मृतिः (सा संस्कारजन्यकानत्वात् (हेतु) स्मृत्यन्तरवत्" श्रानैकान्तिक होने के कारण दृष्ति गया। इस कारण रस को स्मृति भी नहीं कह सकते।

जो लोग प्रत्यभिज्ञा को स्मृतिजन्य मानते हैं, संस्कारजन्य नहीं मानते, जो मत में यह दोष नहीं है। जो लोग रसकी कारणभूत वासना को संस्कार की मानते हैं उन्हीं के मत में यह सन्देह उठता है—जो रस की वासना को संस्थि से अतिरिक्त मानते हैं उनके मत में कोई आश्रङ्का ही नहीं।

दुर्गाल दितिति—महिममट्ट ने यह जो कहा है कि "दुर्गाल दित इत्यादि शब्द श्री मूलक ध्वनि के उदाहरण में दूसरा अर्थ प्रतीत ही नहीं होता" सो तो अर्थ सिद्ध पदार्थ का अपलाप करनेवाल उन महाशय की 'गजनिमीलिका' है। जैसे हाथी को आगे पड़ी हुई वस्तु नहीं दीखती, इसी प्रकार यदि कोई प्रती वस्तु को भी न देखे तब यह ("गजनिमीलिका") कहा जाता है।

व्यक्षना के शास्त्रार्थ का उपसंहार करते हैं—तदेवम् इति—इस प्रकार वृत्ति अवश्य ही माननी पड़ेगी, यह सिद्ध हुआ। क्यों कि पहले तो अवश्य हिस्स प्रश्य का अपलाप नहीं हो सकता, इस कारण उसके कि करने को तुरीयवृत्ति मानना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त अतेक स्था जहां उन्हों शब्दों के उसी स्वरूप में अवस्थित रहने से उन उन अवों का होता है, अन्यथा नहीं होता, वहां चौथी वृत्ति के विना काम नहीं चल सकी जैसे 'स्रिंमिमांसं मनान् गुड़क्ते' 'रुचिक्कुर' इत्यादि। इन स्थलों में प्रकरणादिवश्य प्राथिति के नियन्त्रण होने पर भी, गोमांस भन्नण तथा अन्य अस्य प्रतिति, विना चौथी वृत्ति माने हो ही नहीं सकती। पर्व रसादिका अतिति, विना चौथी वृत्ति माने हो ही नहीं सकती। पर्व रसादिका अतिति, विना चौथी वृत्ति माने हो ही नहीं सकती। पर्व रसादिका अतिता, विना चौथी वृत्ति माने हो ही नहीं सकती। पर्व रसादिका अतिता, विना चौथी वृत्ति माने हो ही नहीं सकती। पर्व रसादिका अतिता, विना चौथी वृत्ति माने हो ही नहीं सकती। पर्व रसादिका अ

तिंकनामिकेयं वृत्तिरित्युच्यते—

सा चेयं व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्युच्यते बुधैः। रसव्यक्तौ पुनर्वृत्तिं रसनाख्यां परे विदुः॥ ॥॥

एतच विविच्योकः रसनिरूपगामस्ताव इति सर्वमवदातम् ॥

इति साहित्यदर्पेणे व्यञ्जनाव्यापारनिरूपणो नाम पव्चमः परिच्छेदः ।

श्रधं न तो श्रतुमान और अर्थापित श्रादि प्रमाणों से जाना जा सकता है श्रीर न श्रमिधा, लक्षणा, तारपर्य नाम की तीनों वृत्तियों में से किसी से बोधित हो सकता है, श्रतः चौथी वृत्ति माननी ही पड़ेगी, यह बात सिद्ध हो चुकी। यह वृत्ति व्याप्ति श्राद्धि के श्रतुसन्धान के विना भी प्रवृत्त होती है, इससे सब पूर्वोक्ष विषय स्वच्छ होगया।

इस वृत्ति का क्या नाम है ?—सा चेयमिति—विद्वानों ने इसका नाम 'व्यक्षना' माना है। कोई लोग रस्र की श्रिभिन्यक्ति के लिये 'रसना' नाम की पांचवीं वृत्ति मानते हैं। इस वात की विवेचना रसनिरूपण के समय हो चुकी है।

इति विमलार्थदिशिन्यां पञ्चमः परिच्छेदः समाप्तः।

## वष्टः परिच्छेदः।

एवं ध्वनिगुणीभूतव्यङ्गचत्वेन काव्यस्य भेदद्रयमुक्त्वा पुनद्देश्यश्रव्यत्वेन द्वयमाह—

दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्। दृश्यं तत्राभिनेयं

तस्य रूपकसंज्ञाहेतुमाह-

तद्र्यारोपात्तु स्पनम् ॥।।

तद् दृश्यं काव्यं नटे रामादिस्य रूपारोपाद्रृपक मित्युच्यते । कोऽसावभिनय इत्याह—

भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः स चतुर्विधः। आङ्गिको वाचिकरचैवसाहार्यः सान्विकस्तथा॥।।

न्तरङ्गादिभी रामयुधिष्ठिरादीनामवस्थानुकरगामभिनयः। रूपकस्य भेदानाह-

ा नाटकमथ प्रकरणं भाण्य्यायोगस्रमवकाराडिमाः।

षष्ठः परिच्छेदः।

ं स्रोतांसि वात्सल्यरसस्य शश्वत्समुत्सृजन्ती जनताहिताय। सा मिकिवित्तैकदयाविधेया पुनातु नेत्रबुतिरम्बिकायाः॥ १॥

श्रव षष्ठ परिच्छेद में नाटक, प्रकरण श्रादिक दश्य काव्यों का वर्णकी

के लिये उपक्रम करते हैं।

एवमिति - इस प्रकार ध्वनि श्रीर गुणोभूत व्यङ्गच इन दो भेदों में क को विभक्त कर चुके — त्र्य दृश्य त्रौर श्रव्य नामक दो भेदों में किर् प्रकार से विमाग करते हैं — दश्येति — पूर्वोक्त दोनों प्रकार के काव्य, श्री दो भागों में बांटे जाते हैं—एक दृश्य, दूसरे श्रव्य। उनमें से दृश्य वे ही जिनका अभिनय किया जा सके अर्थात् जो नाटक में खेले जा सके।

इसी दश्य काव्य को रूपक भी कदते हैं—उसका कारण बताते हैं-गीर् नट ( ग्रिमिनेता ) में रामादिक, ( नाटक के पात्रों का ) स्वरूप किया जाता है। नट, राम, सीता, लक्ष्मण आदि का रूप धारण करता सामाजिकों को उलमें 'श्रयं रामः' इत्यादि क आरोपात्मकज्ञान होता है, कप का आरोप होने के कारण इस दृश्य काव्य को रूपक भी कहते हैं।

अभिनय का लत्त्य—भनेदिति—अवस्था के अनुकर्ण की अभिन्य कि हैं। यह चार प्रकार का होता है—पहला आङ्गिक—जो अङ्ग (देह) है। जाय, दूसरा वाचिक जो वाणी से किया जाय, तीसरा आहार के वस ग्रादि से किया जाय श्रीर चौथा सारिवक—जो स्तम्भ, स्वेद, रामा पूर्वोक्त सात्त्वकभावों के द्वारा सम्पन्न किया जाय । नरेति व वचनादिकों से राम युधिष्ठिरादि की अवस्था का नट होग जी करते हैं उसे अभिनय कहते हैं।

कपक के भेद बताते हैं—नाटकमिति—ये दस (मुलोक्न नाटकािंद) किं CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ईहामृगाङ्कवीध्यः प्रहसनिमिति रूपकाणि दश ॥ ३॥

नाटिका त्रोटकं गोष्टी सहकं नाट्यरासकम्। किंच । प्रस्थानोद्धाप्यकाव्यानि प्रेङ्कणं रासकं तथा।। ४॥ संलापकं श्रीगादितं शिल्पकं च विलासिका। दुर्मेब्रिका प्रकरणी इद्वीशो भाणिकेति च ॥ ४॥ अष्टादश प्राहुक्यरूपकाणि मनीषिणः। विना विशेषं सर्वेषां लद्म नाटकवन्मतम्।। ६॥

सर्वेवां प्रकरणादिरूपकाणां नाटिकाद्युपरूपकाणां च ।

तत्र-नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्पश्चसंधिसमन्वितम्। विलासद्योदिगुण्यस्युक्तं नानाविभूतिभि।। ७॥ सुखदुः खससुद्गति नानारसनिरन्तरम्।

पश्चादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्तिताः॥ द॥ प्रक्यातवंशो राजिषधीरोदात्तः प्रतापवान्।

दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः॥ ६॥ 🦠

एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा।

N.

SF.

ĺÍ.

前

di

Mr.

अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भतः॥ १०॥

चत्वारः पश्च वा मुख्याः कार्यव्यापृतपूरुषाः।

गोपुच्छाग्रसमाग्रं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम् ॥ ११॥

लाते हैं। नारिकेति - ये मुलोक्त अठारह उपरूपक कहलाते हैं—इन सब रूपक और उपक्षपकों का लक्त्या,कुञ्ज विशेषतात्रों को छोड़कर,नाटक की तरह ही होताहै। नाटक का लक्त्या करते हैं —नाटकमिति – नाटक का वृत्त (कथा) ख्यात अर्थात् रामायणादि इतिहास में प्रसिद्ध होना चाहिये। जो कथा केवल कवि किएत है, इतिहास सिद्ध नहीं वह नाटक नहीं हो सकती। नाटक में विलास समृद्धि आदि गुण तथा अनेक प्रकार के पेश्वयों का वर्णन होना चाहिये। सुल श्रीर दुःख की उत्पत्ति दिखाई जाय श्रीर श्रनेक रसों से उसे पूर्ण होना चाहिये। इसमें पांच से लेकर दस तक शक्क होते हैं। पुराणादि प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न, धीरोवात्त, प्रतापी, गुणवान् कोई राजवि अधवा दिव्य या दिव्यादिव्य पुरुष नाटकका नायक होताहै। यहां 'धीरोदात्त' पद घीरोद्धत, घीरलितादिकाभी

उपलिच गहै। शुक्रार या वीर इनमें से कोई एक रस यहां प्रधान रहता है— अन्य सब रस अक्रमूत रहते हैं। इसे निर्वहण सन्धि में अत्यन्त अव्युत बनाता चाहिये। इसमें चार या पांच पुरुष प्रधान कार्य के साधन में ज्यापृत रहने वाहिये। श्रीर गौकी पूँछ के अग्रभाग के समात इसकी रचना होनी चाहिये।

ख्यातं रामायणादिप्रसिद्धं वृत्तम् । यथा—रामचिरतादि । संध्यो कर्षः नानाविभूतिभिर्यु क्रिमिति महासहायम् । सुखदुःखसमुद्भृतत्वं रामयुधिष्ठरादिष्ठः ध्विभिन्यक्तम् । राजर्षयो दुष्यन्तादयः । दिन्याः श्रीकृष्णादयः । दिन्यात्वः दिन्योऽप्यात्मिन नरामिमानी । यथा—श्रीरामचन्द्रः । 'गोपुच्छ्राभ्रमण्डं क्रमेणाङ्काः सूच्माः कर्तन्याः' इति केचित् । श्रन्ये त्वाहुः—'यण क्रिकेचिद् वाला ह्र्स्वाः केचिद्दीर्घास्तथेह कानिचित्कार्याणि मुखसंधौ स्किन्दित्यतिमुखे । एवमन्येष्विप कानिचित्कानिचित्' इति ।

प्रत्यक्षनेतृचरितो रसभावसमुज्जवतः।
भवेदगढशब्दार्थः तुद्रचूर्णकसंयुतः॥ १२॥
विच्छित्रावान्तरैकार्थः किंचित्सं लग्नबिन्दुकः।
युक्तो न बहुभिः कार्येबीजसंहृतिमान्न च॥ १३॥
नानाविधानसंयुक्तो नातिप्रचुरपद्यवान्।

ल्यातिमिति—'ख्यात' स्रर्थात्रामायगादि प्रसिद्ध वृत्त (चरित) जैसे श्रीरामस् जीकी कथा। सन्धियाँ आगे कहेंगे। 'नाना विभूतियुक्त' अर्थात् बड़े रसाम से युक्त हो। सुख दुःख की घटनायें श्रीरामादि के चरित्रों में स्पष्ट है। ए जैसे दुष्यन्तादिक। 'दिव्य'=श्रीकृष्णादिक। दिव्यादिव्य अर्थात् जो दिवा पर मी अपने को अदिव्य (मनुष्य) समझे-जैसे-श्रीरामादिक। गोज़ समात्रम्' इसका कोई तो यह अर्थ करते हैं कि नाटक में क्रमसे उत्तरीकर को छोटा बनाना चाहिये। अन्ये - श्रीर लोग इसका यह अर्थ करते हैं कि गौकी पूँछ में कुछ बाल छोटे होते हैं, कुछ बड़े, इसी प्रकार नाटक में इब मुखसिंध में ही समाप्त होजाने चाहियें - कुछ आगे चलकर, प्रतिमुख सींध इसी प्रकार कुछ और आगे पहुँचकर समाप्त होने चाहियें। वस्तुतः असमाप्रम्'का यह अर्थ है कि गौ की पूँ छ के अग्रमाग के समान नाटक का होता चाहिये। अर्थात् जैसे गौ की पूँछ के अग्रमाग में दोही पक बाहर बड़ा दीखता है इसी प्रकार नाटक के आरम्भ में भी एकाध व्यापक आरम्म होना चाहिये श्रीर जैसे गोपुच्छ के बालों की संख्या उत्तरी चर्वा स्थान पर समन्वित हो जाती है इसीप्रकार नाटककी बातों में भी होती की क्रमसे परिवृद्ध सब कथाओं का एक उपसंहार में समन्वय होना वारि अङ्क का लच्च करते हैं —प्रत्यहोति— अङ्क में नेता (नायक) का बिति होना चाहिये। रस और भाव पूर्ण हों। गूढार्थक शब्द न हों। छोटे हों (विना समास के गद्य) होने चाहियें। त्रङ्क में त्रवान्तर कार्य तो प्राह्म बाहिये, किन्तु बिन्दु (जिसका लक्ष्ण आगे कहेंगे) कुछ लगा रहता आ अर्थात् प्रधान कथा की समाप्ति न होनी चाहिये। बहुत कार्यों हे गु और बीज (इसका लज्जण भी आगे आयेगा) का उपसंहार नहीं। के संविधान हों, किन्तु पद्य बहुत न हों। इसमें सन्ध्यावनद्रनाहिक ब्रावश्यकानां कार्याणामविरोधाद्विनिर्मितः॥ १४॥
नानेकदिननिर्वर्यकथया संप्रयोजितः।
ब्रासन्नायकः पान्नेर्युतस्त्रिचतुरैस्तथा॥ १५॥
दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविष्ववः।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गो मृत्यू रतं तथा॥ १६॥
दन्तच्छेयं नखच्छेद्यमन्यद् व्रीडाकरं च यत्।
श्यनाधरपानादि नगराचवरोधनम्॥ १७॥
स्नानानुलेपने चैभिर्वर्जितो नातिविस्तरः।
देवीपरिजनादीनाममात्यवणिजामपि॥ १८॥
प्रत्यच्चित्रचरितैयुंको भावरसोद्भवैः।
ब्राम्तिष्कान्तिविख्वणपात्रोऽङ्क इति कीर्तितः॥ १६॥

बिन्द्वादयो वद्दयन्ते । आवश्यकं संध्यावन्दनादि ।

अङ्कपस्तावाद्गभीङ्गमाह—

तः व

1

4

I

di

THE STATE OF

418

N.

di

à

京

¥

P

श्रङ्कोद्रप्रविष्टो यो रङ्गद्वार।मुखादिमान्। श्रङ्कोऽपरः स गर्भोङ्कः सबीजः फलवानपि॥ २०॥ यथा बालरामायणे—रावणं पति कञ्चुकी।

कार्यों का विरोध न होना चाहिये। सन्ध्यादि के समय उनका उरलंघन नहीं होना चाहिये। एवं जो कथा अनेक दिनों में सिद्ध हुई हो उसे एक ही अङ्क में नहीं कहना चाहिये। नायक सदा सिम्नहित रहे और तीन चार पात्रों से युक्त हो।

यङ्ग में जो बातें प्रत्यत्त नहीं दिखानी चाहियें उनका निरूपण करते हैं—
देखी—दूर से ब्राह्मन, वध, युद्ध, राज्यविस्तव, देशविस्तवादि, विवाह, मोजन,
शाप, मलत्याग, मृत्यु, रमण, दन्तत्त्वत, नखत्तत तथा शयन, श्रधरपानादिक
बजाकारी कार्य पवं नगरादि का घिराव, स्नान, चन्दन।दिलेपन इनसे रहित
हा श्रीर श्रतिविस्तृत न हो।देवी (रानी) श्रीर उसके परिजन (नौकर चाकर)
पवं मन्त्री. वैश्य श्रादिकों के भावपूर्ण श्रीर रसपूर्ण चिरश्रों से युक्त होना चाहिये
पवं रसकी समाप्ति में सव पात्रों को निकल जाना चाहिये। 'विवाहो मोजनम्'
रत्यादिक कुछ श्रंशों का यहाँ भरतमुनि के श्रन्थ से विरोध पड़ता है—उनकी
कारिकायें इस प्रकार हैं—'क्रोधप्रमादशोकाः शापोत्सगींऽध्विवद्विद्वाहो। श्रद्शुतसंश्रयदर्शनमेड्र अत्यवजानिस्युः। युद्ध राज्यश्रंशो मरणं नगरोपरोश्वनं चैव। प्रत्यव्वाणि तु नाङ्के प्रवेशकैः संविधेयानि। ना० शा० १८ श्रवः।

अङ्क के प्रसंग से गर्भाङ्क का लक्षण करते हैं—अङ्कोदरेति - जो अङ्क के बीच में ही प्रविष्ट हो, जिसमें रंगद्वार और आमुख आदि (वश्यमाण्) अंग हों और जिसमें वोज तथा फल का स्पष्ट आमास होता हो उसे गर्भाङ्क कहते हैं। जैसे

'श्रवर्गी: पेयमनेकैट रयं दीर्घेश्च लोचनैर्बहुिस: । भवदर्थमिव निबद्धं नाट्यं सीतास्वयंवरणम् ॥' इत्यादिना विरचितः सीतास्त्रयंवरो नाम गर्भाङ्गः।

तत्र पूर्व पूर्वरङ्गः सभापूजा ततः परम्। कथनं कविमंज्ञादेनीटकस्याप्यथासुखम् ॥ २१॥

तत्रेति नाटके ।

यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविद्योपशान्तये। क्रशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥ २२॥ प्रत्याहारादिकान्यङ्गान्यस्य भ्र्यांसि यद्यपि। तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विद्यापशान्तये॥ २३॥

तस्याः स्वरूपमाह-श्राशीर्वचनसंयुका स्तुनिर्यस्मात्प्रयुज्यते । देवद्विजनगदीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता॥ २४॥ मङ्गल्यशङ्खचनद्राञ्जकोककैरवशंसिनी। पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत ॥ २५॥

अष्टपदा यथा अनर्घराघवे—'निष्पत्यूहम्—' इत्यादि । द्वादश्या

मम तातपादानां पुष्पमालायाम्-

बालरामायस में रावस के प्रति कञ्चुकी ने कहा — श्रवसैति — श्रवेत से पीने योग्य और अनेक विशाल नेत्रों से देखने योग्य सीतास्वर्णा मानों तुम्हारे ही लिये रचा गया है। क्योंकि अनेक (बीस बीस) का श्रनेक विशाल नेत्र तुम्हारे ही हैं। यह सीतास्वयंवर नामक गर्माह है।

नाटक के बनाने का प्रकार कहते हैं। तंत्रेति—नाटक में पहले पूर्व हैं। चाहिये। फिर समापूजा। इसके बाद किय श्रीर नाटक की संशा इसके अनन्तर 'श्रामुख' होना च।हिये।

यनाव्यति— नाट्य वस्तु ( अर्थ ) कें पूर्व, रंग ( नाट्यशाला ) के दूर करने के लिये नर्तक लोग जो कुछ करते हैं, उसे 'पूर्वरंग' कहते इसके प्रत्याद्वारादिक अनेक अंग हैं, तथापि इनमें से रंगस्थल के शान्ति के निये 'नान्दी' अवश्य करनी चाहिये।

नान्दी का लक्षण—श्राशीरिति—देवता, ब्राह्मण तथा राजादिकी र्वाद्युक्त स्तुति इससे की जाती है, श्रतः इसे नान्दी कहते हैं। इसहे बार्कित होते हैं न्दित होते हैं, अतः यह नान्दी है। इसमें मंगल्य वस्तु, शंब, वर्ष श्रीर कुमुदादिकों का वर्णन होना चाहिये। एवं इसमें बारह या श्रीहरी दियें। यहां एक स्टूटन के हियें। यहां पद शब्द से सुबन्त ति उन्त भी लिये जाते हैं और श्री थांश (पाद) का भी ग्रहण होता है। श्रष्टपदा नान्दी जैसे श्रामी 'निष्णत्यह' मिनाहिए का भी 'निष्पत्यूह' मित्यादि । यहां दो श्लोक होनेसे अष्टपदा (या अष्ट्रपाद) 'शिरसि धृतसुरापगे स्मरारा-वरुगामुखेन्दुरुचिगिरीन्द्रपुत्री। अथ चरगायुगानते स्वकान्ते स्मितसरसा भवतोऽस्तु सुतिहेतुः॥'

एवमन्यत्र । एतनान्दीति कस्यिचन्मतानुसारेगोक्तम् । वस्तुतस्तु पूर्वरक्नस्य रङ्गद्वाराभि-धानमङ्गम् इत्यन्ये ।

यदुक्तम्-

a

5 5

ni,

MI

in

are.

1

ild,

'यस्मादिभिनयो ह्यत्र प्राथम्यादवतार्यते । रङ्गद्वारमतो इयें वागङ्गाभिनयात्मकम् ॥' इति ।

उक्तमकारायारच नान्या रङ्गद्वारात्प्रथमं नटैरेव कर्तव्यतया न महर्षिणा निर्देशः

कृतः। कालिदासादिमहाकविपवन्धेषु च—

'वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी यस्मिनीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाच् ।।

बादशपदा नान्दी का उदाहरण —शिरसीति – गंगा को सिरपर रखने से सपत्नी विद्वेष के कारण पार्वती का मुख लाल हु ग्रा श्रीर नमस्कार करने से फिर

प्रसन्नता हुई। इसमें वारह पद हैं।

प्तनादीति—इन पूर्वोक्त पद्यों को किसी अन्य के मतानुसार नान्दी कह दिया है। वस्तुतः यह नान्दी नहीं है, किन्तु पूर्वरंग' का रंगद्वार नामक अंग है। इस मत में प्रमाण देते हैं—'यदुक्तम्'—यस्मादिति—इसमें सबसे प्रथम अमिनय अवतरित होता है, अतः वाचिक और आंगिक अभिनय से युक्त यह 'रंगद्वार' कहाता है। अभिनय का आरम्म होने के कारण ही यह संज्ञा है। किति—पूर्वोक्त लज्ञणवाली नान्दी तो इस रंगद्वार से भी पूर्व नटों के ही द्वारा की जाती है, अतः महर्षि ने यहां उसका विशेष लज्ञण नहीं किया। तात्पर्य यह है कि सब नत्क, विना किसी विशेष स्वक्षपरचना के, भिलकर जो मंगलार्थ स्तुति आदि करते हैं, वह नान्दी कहाती है। यह नटों का अपना कार्य है। समी नाटकों में समान है। किसी नाटककार किय को इसके लिये अपने नाटक में विशेष रचना करने की आवश्यकता नहीं, अतः यह नाटक का अंग नहीं। अतपव नाटकरचना के प्रकर्ण में भरत मुनि ने इसका निदेश नहीं किया।

इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त नान्दी का लक्षण यदि मानं तो 'वेदान्तेषु' इत्यादिक महाकि श्रोकालिदासादि के प्रबन्धों में अव्याप्ति होगी। वेदान्ति प्वति—वेदान्त में जिन्हें पृथ्वी और आकाश में व्याप्त एक पुरुष (एक मेनादिनीयं ब्रह्म) कहा गया है दिन शब्द जिनमें यथार्थ कर से अनुगत होता है और जिनको प्राणादि का नियमन करनेवाले मुमुक्त पुरुष हृद्य के भीतर दू दते हैं, स्थिर महियोग

अन्तर्यश्च मुमुन्तुभिनियमितपाणादिभिमृ ग्यते स स्थागुः स्थिरमिक्तयोगसुलमो निःश्रेयसायास्तु वः॥

एवमादिषु नान्दीलन्त्गायोगात् । उक्तं च — 'रङ्गद्वारमारम्य किनः इत्यादि । अत एव पाक्तनपुस्तकेषु 'नान्चन्ते सूत्रधारः' इत्यनन्तरमेव 'वेदाने इत्यादिश्लोकलिखनं दृश्यते । यच पश्चात् 'नान्चन्ते सूत्रधारः' इति लिखनं ह यमभिप्रायः — नान्यन्ते सूत्रधार इदं प्रयोजितवान्, इतःप्रमृति मया नाटकमु इति कवेरभिपायः सूचित इति ।

पूर्वरङ्गं विघायैव सूत्रधारो निवर्तते। प्रविश्य स्थापकस्तद्वत्काव्यमास्थापयेत्ततः ॥ २६॥ दिव्यमत्ये स तद्रुपो मिश्रमन्यतरस्तयोः।

सूचयेद्रस्तु बीनं वा मुखं पात्रमथापि वा ॥ २०॥ काव्यार्थस्य स्थापनात्स्थापकः। तद्वदितिसूत्रधारसदशगुणाकारः। इदानी कृ सम्यक्पयोगाभावादेक एव सूत्रधारः सर्वं प्रयोजयतीति व्यवहारः । स स्थाको वस्तु दिव्यो भूत्वा, मर्त्यं मर्त्यो भूत्वा, मिश्रं च दिव्यमर्त्ययोरन्यतरो भूता सून

से सुत्रभ वह भगवान् शङ्कर तुम्हारा कल्याण करें। इस पद्य में नालं प्वीक लत्त्य अनुगत नहीं होता। नयह अष्टपदा है,न द्वादशपदा। क्रा नान्दी नहीं, रंगद्वार है। श्रतएव कहा है कि —रक्वेति—रंगद्वार से लंकेकी नाटक की रचना करनी चाहिये। यहीं कारण है कि प्राचीन पुस्तकीं में हर स्त्रधारः र इस वाक्य के अनन्तर चेदान्ते विवत्यादि श्लोक लिखा मिलता है। ह स्पष्ट है कि यह नान्दी नहीं है—किन्तु नान्दी के अन्त्य में सूत्रधार ने ही है। यचेति—जहां उक्त वाक्य उक्त श्लोक के पीछे मिलता है वहां यह सा चाहिये कि 'नान्दी के पीछे सूत्रधार ने यह पद्य कहा' — अब यहां से मैं बा रचना प्रारम्भ करता हूँ। यह कवि का अभिप्राय स्चित किया है।

पूर्वरक्रमिति—सूत्रधार पूर्वरंग का विधान समाप्त करके चला जाती ( नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिषीयते । सूत्रं धार्यतीत्यथें सूत्रधारो निगद्यते ) उस् उसी के समान वेषवाला 'स्थापक' आता है, वह काव्य की गरि करता है। यदि वर्णनीय वस्तु दिव्य हो तो वह देवताकप होकर क्री मर्त्यलोक की वस्तु अभिनेय हो तो मनुष्य का कप धारण करके पर्व हो तो देवता या मनुष्य में से किसी एक का रूप घारण करके उसकी है। करता है। यह किसी करता है। यह 'स्थापक' वस्तु, बीज, मुख या पात्र की स्वता करती।

काव्यार्थस्येति — काव्य (नाटकादि) के अर्थ की स्थापना करने से हिंह कहते हैं। 'तद्वत्' का अर्थ है कि सूत्रधार के ही समान गुण और श्रीकर्ष पुरुष स्थापक होना चाहिये। इदानीमिति — आज कल पूर्वरङ्ग की ही है। वहाँ होता, अतः प्रकार के ही समान गुण आप तहीं होता, अतः एकदी सूत्रधार सब कुछ कर देता है। स्थापक के

बसु इतिवृत्तम्—यथोदात्तराघवे— श्रामो मूर्धिन निधाय काननमगान्मालामिवाज्ञां गुरो-स्तद्भक्त्या भरतेन राज्यमखिलं मात्रा सहैवोज्मितम्। तौ सुप्रीवविभीषणावनुगतौ नीतौ परामुत्रति प्रोत्सिक्ता दशकंधरपभृतयो ध्वस्ताः समस्ता द्विषः॥'

बीजं यथा रत्नावल्याम्—

'द्वीपादन्यस्मादिप मध्यादिप जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्।

ग्रानीय किटिति घटयित विधिरिभमतमभिमुखीभूतः॥'

अत्र हि समुद्रे पवहणामङ्गमग्नोत्थिताया रतावल्या अनुकूलदैवलालितो वत्सराजगृहपवेशो यौगंधरायणाव्यापारमारभ्य रतावलीप्राप्तौ बीजम् । मुखं रलेषादिना प्रस्तुतवृत्तान्तप्रतिपादको वाग्विशेषः । यथा—

श्लषादिना प्रस्तुतवृत्तान्तपातपादका वाग्वशेषः । यथा— 'त्र्यासादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः

प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तिः । उत्खाय गाढतमसं घनकालमुप्रं रामो दशास्यमिव संभृतबन्धुजीवः ॥'

4

sfit

T

IF

(g)

THE

ni

1

EN

がが

अर्थात् इतिहास की स्चना का उदाहरण जैसे उदात्तराघन में—राम इति—इस प्यमें सम्पूर्ण वृत्तान्त कह दियाहै। बीज का उदाहरण्—द्वांपादिति—यदि प्रारब्ध अनुकूल हो तो वह दूसरे द्वीप से, समुद्र के मध्य से श्रीर दिशाश्रों के श्रन्त्य से भी अमीष्ट वस्तु को लाकर उपस्थित कर देता है। अनेति—यहां जहाज़ दूर जाने पर भी समुद्र से निकली हुई रत्नावली का प्रारब्धवश वत्सराज के घर में श्राना श्रीर फिर यौगन्धरायण का व्यापारादिक यह सब रत्नावली की प्राप्तिका बीज है।

प्रश्निति - श्लेषादि के द्वारा प्रकृत कथा को सूचित करनेवाले वचनिवन्यास को मुख कहते हैं। जैसे — श्रासादितेति — यहां शरद् ऋतु का वर्णन किया गया है। उसको राम की उपमा दी गई है और वर्षाकाल को, जिसका शरद् ने घ्वंस किया है, रावण के तुल्य बताया गया है। शरद् में निर्मल चन्द्रमा का 'हास' (विकास ) होता है और रावण के पास निर्मल 'चन्द्रहास' नामक खड़ था जिसे रामने प्राप्त किया। शरद् की कान्ति भी विशुद्ध होती है और राम की भी कान्ति विशुद्ध थी। वर्षा में प्रगाह तम (श्रन्धकार) होता है और रामण में तमोगुण प्रगाह था। वर्षा, घनों (वाद लों) का काल (समय) है और रामण 'घन'(गहरे) 'काल' (कालेरंग का) था। शरद् में वन्धु जीव (गुलदु पहरिया) का फल जिलता है और राम ने बन्धु (लक्ष्मण) के जीव (जावन) को बचाया था। समें श्लेष के द्वारा प्रकृत कथा की सूचना दी गई है।

पात्रं यथा शाकुन्तले -'तवास्मि गीतरागेण हारिणा पसमं इत: । एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ॥'

रक्षं प्रसाद्य मधुरैः रखोकैः काव्यार्थसूचकैः। ह्रपकस्य कवेराख्यां गोत्राद्यपि स कीर्तयेत्।। २८॥ ऋतुं च कंचित्पायेण भारतीं वृत्तिमाश्रितः।

स स्थापकः । प्रायेगोति कचिद्दतोरकीर्तनमपि । यथा—रत्नावल्याम्।

भारतीवृत्तिस्तु-भारती संस्कृतपायो वाग्व्यापारो नराश्रयः॥ २६॥ संस्कृतबहुलो वाक्प्रधानो व्यापारो भारती।

तस्याः प्ररोचना वीथी तथा प्रहस्तनासुखे। श्रद्धान्यत्रोन्मुखीकारः प्रशंसातः प्रशेचना ॥ ३०॥

प्रस्तुताभिनयेषु प्रशंसातः श्रोतृगां प्रवृत्त्युन्मुखीकरगां परोचना । यथा रत्नावल्या-·श्रीहर्षो निपुर्णः कविः, परिषद्प्येषा गुराप्राहिराी,

लोके हारि च वत्सराजचरितं, नाट्ये च दत्ता वयम्। वस्त्वेकैकमपीह वाञ्चित्रतफलपासेः पदं, किं पुन-र्मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः॥'

वीथीप्रहसने वच्येते ।

नटी विदूषको वापि पारिपारिंचक एव वा।

पात्र की सूचना का उदाहर गु—तवेति—यहां स्थापक ने पात्र (दुषात) स्चना दी है। इस पद्य में 'सारङ्ग' शब्द हिरन श्रौर राग दोनों में शिला सारङ्गराग मध्याह में गाया जाता है और राजा दुष्यन्त भी मह्मा शिकार खेलते हुए सारङ्ग (हिएए) के पीछे दौड़ते हुए कराव मुनि के के पास पहुँचे थे। उसी समय का वर्णन कालिदास ने किया है, श्रतः है सारङ्ग राग में ही 'ईसीसिचुन्बिश्राई' इत्यादि पद्य गाया था। उसी बी कर 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के स्थापक ने यह पद्य कहा है।

रक्तमिति —वह स्थापक काव्यार्थ की सूचना करनेवाले मधुर श्लोकी है स्म मलन्न करके रूपक (प्रकृत नाटकादि) का नाम तथा कवि के नामगीवारि भी कीर्तन करता है एवं भारतीवृक्ति का आश्रय करके किसी ऋत का करता है। 'प्रायः' शब्द से यह अभिपाय है कि कहीं ऋतुवर्णन नहीं भी

भारतीवृत्ति का ल्लाण - भारती—संस्कृत बहुत वाग्र्यापार, जी तर् श्राष्ट्रयहो,नारीके नहीं,उसे भारती कहते हैं। यही भरतमुनिने कहाँ पार्वा पुरुषोपयोज्या बीविटिय रंग पुरुषोपयोच्या स्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता । स्वनामधेयैभरतः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेष

तस्या इति—भारती के चार श्रङ्ग होते हैं —प्ररोचना,वीथी,प्रहस्त होती प्रशंसा के द्वारा श्रोताश्रों को प्रकृत वस्तुकी श्रोर श्राक्षित करना प्रशेषि साता है। जैसे रहात्रकी से क्रिक्ट लाता है। जैसे रत्नावलीमें श्रीहर्ष इत्यादि। वीथी श्रीर प्रहसनका लक्षण श्री

नराति—जहां नरी, विद्यक आधुना पारिपार्धिवक सूत्रधार के ता

सूत्रघारेण सहिताः संलापं यत्र क्रवेते ॥ ३१ ॥ वित्रवीक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुनाच्चिपिभिर्मिथः। ब्रामुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा॥ ३२॥ सूत्रधारसदृशत्वात्स्थापकोऽपि सूत्रधार उच्यते । तस्यानुचरः पारिपार्श्विकः। तस्मालिचिद्नो नटः।

उद्घात्य (त) कः कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा। प्रवर्तकावलागिले पश्च प्रस्तावनाभिदाः ॥ ३३॥

त्री

ly)

पाइ

त्रां

ìf

ANI PAR

fi!

AF

AS

पदानि त्वगताथीनि तदर्थगतये नराः। योजयन्ति पदेश्नयैः स उद्घात्य (त) क उच्यते ॥३४॥

यथा मुद्राराक्त्से सूत्रधार:-

'क्रूरप्रहः सकेतुश्चन्द्रमसंपूर्णमण्डलमिदानीम्।

अभिभवितुमिच्छामि बलात्-'

इत्यनन्तरम्—'(नेपथ्ये) आः,क एष मिय जीवति चन्द्रगुप्तमिभवितुमिच्छ्रति'इति। अत्रान्यार्थवन्त्यपि पदानि हृदयस्थार्थगत्या अर्थान्तरे संक्रमय्य पात्रप्रवेशः।

कार्य के विषय में विचित्र वाक्यों से इस प्रकार बातचीत करें जिससे प्रस्तुत कथा का सूचन हो जाय उसे आमुख कहते हैं और उसी का नाम प्रस्तावना मी है। यहां स्त्रधार के तुल्य होने के कारण स्थापक को ही स्त्रधार कहा

है। उसका अनुचर पोरिपार्श्विक होता है।

उद्घातंति—प्रस्तावना के पांच भेद् होते हैं—उद्घातक, कथोद्घात, प्रयोगाति-शय, प्रवर्तक और अवलगित । पदानीति—अप्रतीतार्थक पदी के अर्थ की प्रतीति कराने के लिये जहां और पद लाथ में जोड़ दिये जायें उसे उद्घातक कहते हैं। जैसे मुद्रारात्तस में —कूरप्रह इत्यादि —यह सूत्रधार ने नटी से प्रह्रण पड़ने के विषय में कहा है कि 'क्र्यूब केतु यद्यपि पूर्णमग्डल चन्द्र का प्रामव करना चाहता हैं - इसी के आगे नेपथ्य से आवाज़ आई कि 'अरे यह कीन है जो मेरे जीते-जी चन्द्रगुप्तका अभिभव करना चाहता है। यहां सूत्रधार का तात्पर्य चन्द्रगुप्त से नहीं है - किन्तु उस अर्थ को प्रतीति कराने के लिये नेपथ्यगत चाण्क्य के वाक्य में चन्द्र के साथ 'गुप्त' पद और 'मिय स्थितं' इत्यादि पद बढ़ाकर पहले जो अर्थ अमतीत था उसकी प्रतीति कराई है। चाणक्य का वाक्य सुनने पर यह मालूम होता है कि उन्होंने स्त्रधार की उक्ति का यह बर्थ समभा है कि 'क्र्यूबर' (क्र आदमी अमात्यराच्छ) 'सकेतु' (मलयकेतु के साथ) असम्पूर्णमण्डल-(जिसका राज्यमग्डल सम्पूर्ण नहीं है) उस चन्द्र प्रर्थात् चन्द्रगुप्त का परा-मव करना चाहता है। अनेति—यहां यद्यपि सब पद अन्यार्थक हैं—सूत्रधार का अभिभाय चन्द्रग्रहण से हैं. चन्द्रगुप्त के निग्रह से नहीं, तथापि चाणक्य ने सूत्रधारस्य वाक्यं वा समादायार्थमस्य वा। भवेत्पात्रप्रवेशश्चेत्कथोद्घातः स उच्यते ॥ ३४॥

वाक्यं यथा रत्नावल्याम्—'द्वीपादन्यस्मादिप-' इत्यादि सूत्रधारेण पि ( नेपथ्ये ) एवमेतत् । कः संदेहः । द्वीपादन्यस्मादपि—' इत्यादि पिठला रायगप्रवेशः।

वाक्यार्थो यथा वेएयाम् —

'निर्वाणवैरदहनाः पशमादरीणां

नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन।

रक्तपसाधितभुवः चतविप्रहारच

स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः समृत्याः॥

इति सूत्रधारेण पठितस्य वाक्यस्यार्थं गृहीत्वा—'( नेपध्ये ) आः ह्याः वृथामङ्गलपाठक, कथं स्वस्था भवन्ति मिय जीवति धार्तराष्ट्राः।' ततः ह्य निष्क्रान्तौ भीमसेनस्य प्रवेशः ।

यदि प्रयोग एकस्मिन्प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते । तेन पात्रप्रवेशश्चेत्प्रयोगातिशयस्तदा ॥ ३६॥

यथा कुन्दमालायाम् — '(नेवथ्ये ।) इतं इतोऽत्रतरत्वार्या । सूत्रघारः नि खल्वार्याह्वानेन साहायकमित्र मे संपादयित । (विज्ञोक्य) कष्टमितकर्णं की

'लङ्क श्वरस्य भवने सुचिरं स्थितेति

रामेण लोकपरिवादभयाकुलेन ।

अपने हृदयस्थ अर्थ के अनुसार उन्हें दूसरे अर्थ में स्कान्त करके राष में प्रवेश किया है, श्रतः यह उद्घातक का उदाहरण है।

सूत्रधारस्येति — जहां सूत्रधार का वाक्य या वाक्यार्थ लेकर कोई पार्व करें उसे 'कथोव्घात' कहते हैं। जैसे—रत्नावली में —'द्वीपात' इसी को सूत्रधार के पढ़ने पर नेपथ्य से 'एवम्' इत्यादि कहते हुए श्रीरा को पढ़ते हुए यौगन्धरायण ने प्रवेश किया है।

वाक्यार्थं को लेकर जहां पात्र का प्रवेश है उसका उदाहरण संहार में — निवाणित्यादि — इस पद्य को सूत्रधार ने पढ़ा श्रीर उसी समा सुनकर क्रोधमें भरे भीमसेन यह कहते हुए आ धमके कि 'बाः दुगलिंग क्रिंग विकास क्रिंग क्रिंग है।

यदाति—यदि एकही प्रयोग में दूसरा प्रयोग प्रारम्भ हो जाय श्रीत द्धारा पात्र का प्रवेश हो तो उसे प्रयोगातिशय कहते हैं। जैसे कियो 'इतइतः' इत्यादि नेपथ्य की ग्रोर से सुनकर सूत्रधार ने कहा कि इत्यादि — लड्डेश्वरस्थेति — सूत्रधार नाटक के लिये नटी की बुला रहा है। समय उसते गर पर समय उसने यह पद्य कहकर सीता तथा लक्ष्मण का प्रवेश स्वित हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Ver

# निर्वासितां जनपदादिप गर्भगुर्वी सीतां वनाय परिकर्षति बद्दमणोऽयम्॥'

अत्र तृत्यम्योगार्थं स्वभायोह्वानिमञ्ज्ञता सूत्रधारेण 'सीतां वनाय परिकर्षति ह्यमणोऽयम्' इति सीतालदमण्योः प्रवेशं सूचियत्वा निष्क्रान्तेन स्वपयोगमितश-यान एव प्रयोगः प्रयोजितः ।

कालं प्रवृत्तमाश्रित्य सूत्रघृग्यत्र वर्णयेत्। तद्राश्रयस्य पात्रस्य प्रवेशस्तत्प्रवर्तकम् ॥ ३७॥

यथा—'आसादितपकट—' इत्यादि । '( ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो रामः।)

यत्रैकत्र समावेशात्कार्यमन्यत्मसाध्यते । प्रयोगे खलु तज्ज्ञेयं नाम्नावलगितं बुधैः ॥ ३८॥

यथा शाकुन्तले — सूत्रधारो नटीं प्रति । 'तवास्मि गीतरागेगा-' इत्यादि । ततो राज्ञः प्रवेशः ।

योज्यान्यत्र यथालाभं वीध्यङ्गानीतराएयपि ।

Į

神

15

ift'

(d)

98

16

(Falls

(3

All

1

अत्र आमुखे। उद्घात्य (त) कावलगितयोरितराणि वीध्यङ्गानि वद्यमाणानि। नखकुदृस्तु—

नेपथ्योक्तं श्रुतं यत्र त्वाकाशवचनं तथा ॥ ३६ ॥ समाश्रित्यापि कर्तव्यमामुखं नाटकादिषु । एषामामुखभेदानामेकं कंचित्प्रयोजयेत् ॥ ४० ॥ तेनार्थमथ पात्रं वा समाज्ञिप्यैव सूत्रधृक् । पस्तावनान्ते निर्भव्छेत्ततो वस्तु प्रयोजयेत् ॥ ४१ ॥

श्राप निकल गया। यहाँ अपने प्रयोग से उत्कृष्ट प्रयोग दिखाया है।
कालांगित — जहां स्त्रधार उपस्थित समय (श्रृत) का वर्णन करे आर उसीके
आश्रयसे पात्र का प्रवेश हो उसे 'प्रवर्तक' कहते हैं — जैसे 'आसादित' इत्यादि।
यहां इस पूर्वोक्त पद्ममें शरद्वर्णन के अनन्तर ही उसी रूपमें रामका प्रवेश करायाहै।
यत्रेति — जंहां पक प्रयोग में साहश्यादि के द्वारा समावेश करके किसी पात्र
का स्वन ('अन्यकार्य') सिद्ध किया जाय उसका नाम ' अवलित ' है जैसे
'अभिज्ञान शाकुन्तल' में — 'तवे' त्यादि के अनन्तर राजा का प्रवेश हुआ है।
योज्यानीति — इस प्रस्तावना या आमुख में अन्य वीध्यक्तों का भी यथासम्मव
प्रयोग करना चाहिये। नखकुट्ट ने कहा है कि नेपयोक्तिमिति — नेपध्य का वचन
धनकर अथवा आकाशमाधित सुनकर उनके आश्रय पर भी नाटकादिकों में
पात्र का प्रवेश कराना चाहिये। इन पूर्वोक्त प्रस्तावना के पांच भेदों में से
किसी एक का प्रयोग करना चाहिये। सूत्रधार उसी (प्रस्तावना) के द्वारा
मर्थ या पात्र की स्वना देकर प्रस्तावना के अन्त्य में निकल जाय।

वस्त्वितवृत्तम्-इदं पुनर्वस्तु बुपैद्विविधं परिकल्प्यते। आधिकारिकमेकं स्यात्वासाङ्गकमथापरम्॥ ४२॥ अधिकारः फले स्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः। तस्येतिवृत्तं कविभिराधिकारिकमुच्यते ॥ ४३॥ फले प्रधानफले । यथा बालरामायणे रामचरितम् । अस्यापकरणार्थं तु प्रासङ्गिकसितीष्यते।

अस्याधिकारिकेतिवृत्तस्य उपकरणिनिमित्तं यचरितं तत्प्रासिक्का सुग्रीवादिचरितम्।

पताकास्थानकं योज्यं सुविचार्येह वस्तुनि ॥ ४४॥ : इह नाट्ये।

यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिस्ति ह्वाऽन्यः प्रयुज्यते। भागन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत्॥ ४५॥

, तद्भेदानाह— सहसैवार्थसंपत्तिग्रंणवत्युपचारतः।

पताकास्थानकामिदं प्रथमं परिकीर्तितम् ॥ ४६॥ यथा रतावल्याम्—'वासवदत्तेयम्' इति राजा यदा तत्कएठपाशं मोर्चा

इसके अनन्तर नाट्यवस्तु का प्रयोग करना चाहिये।

इदामिति —यह वस्तु (इतिहास) दो प्रकार की होती है—एक क्र रिक—दूसरी प्रासङ्गिक । नाटक के प्रधान फन का स्वामित्व अधिकार्ग है और उस फल का मालिक अधिकारी कहा जाता है—उस अधिक कथा को आधिकारिक वस्तु कहते हैं। जैसे रामायण में रामबन्द्र आधिकारिक वस्तु है। श्रह्योति—इस प्रधान वस्तुके साधक इतिवृत्ती क्तिक' वस्तु कहते हैं। जैसे सुग्रीय का चरित रामचरित का उपकार पताकेति—नाटक में पताकास्थान का प्रयोग बहुत सोच-सम्बद्धाः चाहिये। यत्रेते—जहां प्रयोग करनेवाले पात्रको तो श्रम्य प्रयोग हो. किन्तु सादृश्यादि के कारण 'श्रागन्तुक' श्रर्थात् प्रतीयमान् प्राप्ति प्रतीयमान् प्राप्ति । पनत पदार्थ के द्वारा कोई दूसरा ही प्रयोग हो जाय, उसे पतार कहते हैं। इसके मेद कहते हैं—सहसेति - जडां उपचार के द्वारा भरे गुण्युक अर्थसम्पत्ति उत्पन्न हो वह प्रथम पताकास्थानक होता है। वली में — वासवक्षण वली में — वासवद्ता का रूप धारण करके सागरिका गई थी, किंगु मालूम हुआ कि रानी वासवदत्ता को मेरी बात का पता हुआ। प्राण्य करके सामित का पता हुआ। पाश्यन्ध करके मरने को तथार हो गई। उसी समय राजा वा स्थाप त्रीर उसे वास्वद्ता समभ कर जब उसके कर्ठपाश की धुर्मी CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तहुक्त्या सागरिकेयम् इति प्रत्यभिज्ञाय, कथम् पिया मे सागरिका, श्चिलमलमितमात्रं साहसेनामुना ते, त्वरितमिय विमुख्य त्वं लतापाशमेतम् । चिलतमिप निरोद्धं जीवितं जीवितेशे चारामिह मम कर्एठे बाहुपाशं निन्नेहि ॥'

्पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्तितम्॥ ४७॥

यथा वेगयाम्-

15

ভা

1

(FI

51

191

it

31

11.8

d

'रक्तपसाधितभुत्रः च्ततित्रप्रहारच

स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः समृत्याः ॥

अत्र रहादीनां रुधिरशरीरार्थहेतुकरलेषवशेन बीजार्थमतिपादनान्नेतृमक्तल-प्रतिपत्तौ सत्यां द्वितीयं पताकास्थानम् ।

अर्थोपचेपकं यत्तु लीनं सविनयं भवेत्। रिलष्टपत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमुच्यते॥ ४८॥

लीनमञ्यक्तार्थम्, रिलष्टेन संबन्धयोग्येनाभिमायान्तरप्रयुक्तेन पत्युत्तरेगोपेतम्, सविनयं विशेषनिरचयपाप्त्या सहितं संपाद्यते यत्ततृतीयं पताकास्थानम्।

उसकी कएउध्वित सुनकर पहिचान गये और 'क्यं प्रियामे सागरिका' इत्यादि बोलने लगे। यहाँ फलप्राप्तिकप अर्थसम्पत्ति हैं। यह पहले की अपेदा भी अधिक गुण-वती है। पहले वासवद्त्ता समस कर राजा का उपचार था—िकन्तु पीछे राजा की अत्यन्त अभीष्ट प्रियतमा सागरिका का समागमकप प्रयोगान्तर होगया।

वन इति—जहां अनेक बन्धों में आश्रित अतिशयं रिलष्ट ( श्लेषयुक्त ) वचन हो वहां दूसरा पताकास्थानक होता है—जैसे—रक्तिति—यहां स्त्रधार को तो यह अर्थ अभीष्ट है कि 'जिन्होंने पृथ्वी को अनुरक्त और प्रसाधित ( विजित ) कर लिया है और निश्रह (लड़ाई — भगड़ा ) जिनका चत ( नष्ट ) हो गया है ऐसे कौरव लोग अपने भृत्यों के साथ स्वस्थ हो जायें । किन्तु शब्दों के शिलष्ट होने के कारण दूसरा यह अर्थ भी प्रतीत होता है कि 'जिन्होंने रक्त अर्थात् अपने रुधिर से पृथ्वी को प्रसाधित ( रिजित ) कर दिया है और विश्रह (शरीर ) जिनके चत ( नष्ट ) हो गये हैं ऐसे कौरव लोग स्त्रस्थ ( स्वर्गस्थ ) होजायें। अति—यहां रक्त। दिक शब्दों का रुधिरादिक भी अर्थ है और शरीरादिक भी, अतः इस श्लेष से बीज मूत अर्थ ( कौरबों के नाश ) का प्रतिपादन होता है कौर इसे शलेष से बीज मूत अर्थ ( कौरबों के नाश ) का प्रतिपादन होता है कौर हम शलेष से बीज मूत अर्थ ( कौरबों के नाश ) का प्रतिपादन होता

है और नायक का मङ्गल प्रतीत होता है। जो किसी दूसरे अर्थ का 'उपसेपक', (सूचन करनेवाना) 'लीन' (अव्यक्तार्थक) और विनय (विशेष निश्चय) से युक्त वचन हो, जिसमें उत्तर भी श्लेषयुक्त ही

यथा वेएयां द्वितीयेऽङ्के 'कञ्चुकी'—देव, भग्नम् भग्नम् । राजा कुज्बुकी—भीमेन । राजा—कस्य । कुज्बुकी—भवतः । राजा कि प्रलपसि । कञ्चुकी—( समयम् । ) देव, ननु ब्रवीमि भगनं भीमेन भवतः । कि भिग् वृद्धापसद, कोऽयमद्य ते न्यामोहः। कञ्चुकी—देव,न न्यामोहः। 'भग्नं भीमेन भवतो महता रथकेतनम्।

पतितं किङ्किणीकाणबद्धाकन्दमिव चितौ ॥'

अत्र दुर्योधनोरुभङ्गरूपमस्तुतसंक्रान्तमथोपचेपणम् ।

द्रुचर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः। प्रधानार्थीन्तराचेपी पताकास्थानकं परम्॥ ४६॥

यथा रत्नावल्याम्-

'उद्दामोत्कलिकाविपाएडुररुचं पारव्धजृम्भां च्रा।-दायासं रवसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः। अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रवं परयन्कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम्॥

अत्र भाव्यर्थः सूचितः । एतानि चत्वारि पताकास्थानानि कक्किक कचिदमङ्गलार्थं सर्वसंधिषु भवन्ति । काव्यकर्तुरिच्छावशाद्भ्योस्योऽपि मार्न

दिया गया हो वह तीसरा पताकास्थानक होता है। जैसे वेशीसंहारे कन्द्रकीत्यादि — इस प्रश्नोत्तर से श्लेष के द्वारा दुर्योधन का भावी अव्य प्रस्तुत कार्य स्चित होता है।

द्रवर्ष इति—जहां सुन्दर श्लेषयुक्त द्वर्थिक वचनों का उपन्यास हो है प्रधान अर्थ की सूचना होती हो, वह तीसगा पताकास्थानक होता है रतावली में — उद्दामेति — राजा की उक्ति है -- आज में ग्रन्य कारित समान इस लता को देखतां हुआ देवी के मुख को क्रोध से सार् जंगा—श्रथीत् इस लता को देखते हुए मुक्ते देख कर देवी (रानी) कर् अपना मुख लाल कर लेगी। उद्दामेत्यादिक विशेषण लता ग्रीर कार्मिती में समानकप से शिलष्ट हैं। लता उद्दाम (प्रवृद्ध) कित्यों से सरी कारण विशेष पांडुरवर्ण होता है श्रीर कामिनी बढ़ी हुई उत्कर्ण होती है। होती है। तता में जूम्भा का अर्थ विकास है और कामिनी के पहने लेना। लता वायु के श्रविरल संचार से कम्पित होती है और कार्मिती लम्बे प्रवासीने कर्म लम्बे श्वासीसे त्रायास (खेद ) को विस्तृत करती है। लिता महीती व वृत्त के साथ वर्तमान है और कामिनी कामयुक्त होती है। इत्रीति कामयुक्त होती है। इत्रीति कामयुक्त होती है। होनेवाली बात सूचित की है। श्रागे राजा का सागरिका पर प्रवता वासवदत्ता का मुख कोप से लाल होना है। ये पताका स्थानक (बार्ग) संनिध में महलार्थन को प्रसे लाल होना है। ये पताका स्थानक (बार्ग) संनिध में मङ्गलार्थक और किसी में अमङ्गलार्थक होते हैं, किर्नु धनिभयों में सकते हैं, और अनेक बार भी हो सकते हैं CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ग्रुनः केनचिदुक्तम्—'मुखसंधिमारम्य संधिचतुष्टये क्रमेण भवन्ति' इति, तदन्ये न मन्यन्ते । एषामत्यन्तमुपादेयानामनियमेन सर्वत्रापि सर्वेषामपि भवितुं युक्तत्वात्।

यतस्यादनुचितं वस्तु नायकस्य रसस्य वा। विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्॥ ५०॥

अनुचितमितिवृत्तं यथा—रामस्य च्छ्रमना वालिवधः । तचोदात्तराघवे नोक्तमेव। वीरचरिते तु वाली रामवधार्थमागतो रामेण हत इत्यन्यथा कृतः ।

श्रङ्केदबद्धिनीया या वक्तव्यैव च संमता। या च स्याद्धर्षपर्यन्तं कथा दिनद्वयादिजा॥ ५१॥ श्रन्या च विस्तरा सूच्या सार्थोपचेपकैर्वुधैः। श्रङ्गेषु अदर्शनीया कथा युद्धादिकथा।

वर्षादृध्वं तु यद्वस्तु तत्स्याद्वर्षाद्धोभवम् ॥ ४२॥

उक्तं हि मुनिना-

P

मङ्गा विन

ni

5HF

原

1

Hei

a f

zř

नीर

I ST

36

H S

वती

71

Ni's

P

1)

'श्रङ्कच्छ्रेदे कार्यं मासकृतं वर्षसंचितं वापि । तत्सर्वं कर्तव्यं वर्षादूर्धं न तु कदाचित् ॥'

एवं च चतुर्दशवर्षव्यापिन्यपि रामवनवासे ये ये विराधवधादयः कथांशास्ते ते वर्षवर्षावयवदिनयुग्मादीनामेकतमेन सूचनीया न विरुद्धाः ।

यसुनः यह जो किसी ने कहा. था कि मुखसिन्ध से लेके चार सिन्धयों
में ये कम से होते हैं, अर्थात् प्रथम सिन्ध में पहला पताकास्थानक और
दितीय सिन्ध में दूसरा पताकास्थानक इत्यादि। इसे अन्य लोग नहीं मानते।
स्योंकि ये अत्यन्त उपादेय हैं। इनके विषय में कोई प्रतिवन्ध नहीं होना
चाहिये। सभी संधियों में आवश्यकतानुसार इन सबका होसकना उचित
है। इनमें कमके नियम का अडङ्गा लगाना अनुचित है।

यत्यादिति—जो रससम्बन्धी या नायकसम्बन्धी वस्तु अनुचित हो प्रथवा विरुद्ध हो, उसे नाटकादिकों में छोड़ देना चाहिये, या बदल देना चाहिये। अनुचित इतिहास जैसे रामचन्द्र का कपट से बालि को मारना। उदात्तराधव

में इसे छोड़ ही दिया और महावीरचरित में बदल दिया है।

शहे बिवति—जो कथा ( युद्धादि की ) श्रङ्क में दिखाने योग्य तो नहीं, किन्तु वतानी श्रावश्यक है, श्रथवा दो दिन से लेकर जो वर्ष पर्यन्त होनेवाली है एवम् सिके श्रतिरिक्त कोई श्रन्य कथा ( चाहे एक दिन निर्वर्त्य ही हो ) जो श्रति विस्तृत हो उसको भी वश्यमाण श्रथीं पत्ते पकों के द्वारा ही सूचित करना चाहिये। वर्षादिति—जो कथा वर्ष से श्रधिक समय की हो उसे वर्ष से कम की बना देना चाहिये—इसमें भरतमुनि का प्रमाण देते हैं—शह बेद इति—जो कथा मासभर की है या वर्षभर की है उसे श्रङ्क च्छेद ( विष्कम्भादि ) के द्वारा स्थित करना चाहिये। कथा को वर्ष से श्रधिक की कभी न करे। एवं चेति—इस मकार यद्यपि श्रीरामचन्द्रजी ने चौदह वर्ष के वनवास में विराधादिकों का वध किया था—किन्तु वे सब नाटक में वर्ष, मास, दिन, प्रहर श्रादि में ही

दिनावसाने कार्य यहिने नैवोपपद्यते। अर्थोपचेपकैर्वाच्यमङ्गच्छेदं विधाय तत्॥ ५३॥

के तेऽथोंपचेपका इत्याह—

अर्थोपक्षेपकाः पश्च विष्कम्भकप्रवेशकौ। चूलिकाङ्कावतारोऽध स्यादङ्कमुखिमत्यपि ॥ ५४॥ वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निद्शेकः। संचिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्गस्य दर्शितः॥ ११॥ मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां संप्रयोजितः। शुद्धः स्यात्स तु संकीर्णो नीचमध्यमकिएतः॥ १६॥ तत्र शुद्धो यथा-मालतीमाधवे रमशाने कपालकुएडला । संकीणों का

रामाभिनन्दे चपणककापालिकौ।

श्रध प्रवेशकः—

प्रवेशकोऽनुद्वात्तोकत्या नीचपात्रप्रयोजितः। अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा॥ ५७॥

अङ्कद्वयस्यान्तरिति प्रथमाङ्केऽस्य प्रतिषेधः।यथा--वेर्यामश्वत्थामाङ्केरात्तरिक् श्रथ चुलिका—

अन्तर्जवनिकासंस्थैः सूचनार्थस्य चूलिका।

दिखाये जाते हैं। दिनेति — जो कार्य दिन के अवसान में सम्पाद्य हो, दिनं हो सकता हो उसे भी अङ्कच्छेद करके सुचित करना चाहिये। अर्थोपक्षेपकों का निरूपण करते हैं —अर्थेति —अर्थ के उपक्षेपक पांची विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, श्रङ्कावतार श्रीर श्रङ्कमुख । वृतिति भूत

मविष्यत् कथात्रों का स्चक, कथा का संदोप करनेवाला ब्रह्म कहाता है। यह श्रङ्क के श्रादि में रहता है। जब एक ही मध्यमपात्र श्री मध्यमपात्र प्रयोग करते हैं तब इसे शुद्धविष्कम्भक कहते हैं ब्रीर गरि तथा मध्यम पात्रों द्वारा प्रयोग किया जाय तो इसे मिश्रविकामक कहीं राज्य का उन्हार

शुद्ध का उदाहरण मालतीमाधव के पश्चम श्रङ्क में कपालकुण्डला के संकी एँ जैसे रामाभिनन्द में चपणक श्रीर कापालिक के द्वारा।

प्रवेशक इति—प्रवेशक भी विष्कस्भक के सदश होता है, किन्तु इति। नीचपात्रों के द्वारा कराया जाता है और इसमें उक्तियां उदात ( इति ) ्णीय ) नहीं होतीं। यह दूसरे श्रङ्क के श्रागे किया जाता है, पहते श्रङ्क के श्रागे किया जाता है, पहते श्रङ्क के श्रागे किया जाता है, पहते श्रङ्क

जैसे — वेशीसंहार — के चौथे त्राङ्क में राज्य सो की जोड़ी। चृतिका—अन्तरिति—अविनका (पर्दे) के भीतर स्थित पात्री है। इर्ड वस्त की स्थान की हुई वस्तु की सूचना को चूलिका कहते हैं। जैसे महावीरबी CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यथा वीरचरिते चतुर्थाङ्कस्यादौ-( नेपथ्ये ) भो भो वैमानिकाः, प्रवर्तन्तां रङ्गमङ्गलानि' इत्यादि । 'रामेण परशुरामो जितः ।' इति नेपथ्ये पात्रैः सूचितम् ।

**प्रथाङ्कावतारः** श्रङ्कान्ते सुचितः पात्रैस्तदङ्कस्याविभागतः॥ ५८॥ यत्राङ्कोऽचनरत्येषोऽङ्कावतार इति स्मृतः।

यथा — अभिज्ञाने पञ्चमाङ्को पात्रैः सूचितः षष्ठाङ्कस्तदङ्कस्याङ्गविशेष इवावतीर्गाः। ग्रथाङ्कमुखम्-

यत्र स्यादङ्क एकस्मिन्नङ्कानां सूचनाखिला॥ ५६॥ तदङ्कमुखमित्याहुबीजार्थरुपापकं च तत्।

यथा—मालतीमाधवे पथमाङ्कादौ कामन्दक्यवलोकिते भूरिवसुपमृतीनां भावि-भूमिकानां परिचित्तकथाप्रवन्धस्य च पसङ्गात्संनिवेशं सूचितवत्यौ।

अङ्कान्तपात्रविङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात् ॥ ६०॥

अङ्गान्तपात्रैरङ्गान्ते पविष्टैः पात्रैः । यथा वीरचरिते द्वितीयाङ्गान्ते — '(पविश्य) सुमन्त्र:--भगवन्तौ वशिष्ठविश्वामित्रौ भवतः सभार्गवानाह्यतः । इतरे-क भगवन्तौ । सुमन्त्रः - महाराजदशरथस्यान्तिके । इतरे - तत्तत्रैव गच्छामः । इत्यङ्क-परिसमाप्तौ । '(ततः प्रविशन्त्युपविष्टा वशिष्ठविश्वामित्रपरशुरामाः।)'इत्यत्र पूर्वोङ्कान्त एव पविष्टेन सुमन्त्रपात्रेगा शतानन्दजनककथाविच्छेदे उत्तराङ्गमुखसूचनादङ्कास्यम् इति। एतच धनिकमतानुसारेगाोकम् । अन्ये तु-"अङ्कावतरगोनैवेदं गतार्थम्' इत्याहुः।

(नेपथ्य में) भो भो इत्यादि से यह सूचन किया है कि राम ने परशुराम को जीत लिया।

अङ्कावतार — अङ्कान्ते इति — पूर्व अङ्क के अन्त्य में उसी के पात्रों द्वारा सूचित किया गया जो अगला अङ्क अवतीर्ण होता है उसे अङ्कावतार कहते हैं - जैसे शाहुन्तल में पञ्चम अङ्क के अन्त्य में उसके पात्रों द्वारा स्वित किया हुआ षष्ठ अङ्ग पूर्व से अविमक्त ( उसका अङ्ग जैसा ) ही अवती ए हुआ है।

अङ्ग मुख — जहां एक ही अङ्ग में सब अङ्गों की अविकत स्वता की जाय श्रीर जो बीजमूत श्रर्थ का सूचक हो उसे श्रङ्क मुख कहते हैं। जैसे मालती-माध्य के प्रथम अङ्क के प्रारम्भ में ही कामन्द्र की और अवलोकिता ने अगली

सब बातों की स्चना दे दी है।

44-

मेथुरः

ni.

IF

तर

FIF

वव

R.

1681

15

110

अङ्गमुल का दूसरा लच्या—प्रङ्गान्तेति — प्रङ्क के प्रान्त में प्रविष्ट किसी पात्रके बारा विचित्रुम ( अतीत ) अङ्ग की अगली कथा का सूचन करने से अङ्गास्य होता है। जैसे महावीरचरित में द्वितीय श्रङ्क के श्रन्त्य में सुमन्त्र का प्रवेश। यहां पूर्व अङ्क के अन्त में प्रविष्ट सुमन्त्रक्ष पात्र ने अगले अङ्क की स्चना की है। एतंचे ते —यह धनिक के मतानुसार श्रङ्कास्य का तज्ञ जानना। और कींग तो कहते हैं कि श्रङ्कास्य श्रङ्कावतार के ही अन्तर्गत हो सकता है।

श्चपेचितं परित्यज्य नीरसं वस्तुविस्तरम्। यदा संदर्शयेच्छेषमामुखानन्तरं तदा ॥ ६१॥ कार्यो विष्कमभको नाट्य श्रामुखाचिप्रपात्रकः।

यथा—रत्नावल्यां यौगंधरायणप्रयोजितः । यदा तु सर सं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते ॥ ६२॥ त्रादावेव तदाङ्के स्यादामुखाचेपसंश्रयः ।

यथा-शाकुन्तले।

विष्कम्भकारीरपि नो वधो बाच्योऽधिकारिणः॥ ६३॥ अन्योन्येन तिरोधानं न कुर्याद्रसबस्तुनोः।

रसः शृङ्गारादिः । यदुक्तं धनिकेन-

'न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत्। रसं वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलंकारलच्लाः॥' इति।

बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च ॥ ६४॥ अर्थप्रकृतयः पश्च ज्ञात्वा योज्या यथाविधि।

अर्थपकृतयः प्रयोजनसिद्धिहेतवः ।

तत्र बीजम्-

श्रहपमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति ॥ ६५ ॥ फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तद्भिधीयते ।

यथा— रत्नाव ल्यां वत्सराजस्य रत्नावलीपाप्ति हेतुर्दैवानुकू ल्यलालितो यौगंधाल व्यापारः। यथावा—वेएयां द्रौपदीकेशसंयमनहेतुर्भीमसेनक्रोधोपचितोयुधिष्ठिरोत्स

श्रोंचतिमिति—जो वस्तु श्रवश्य वक्तव्य है, किन्तु नीरस है, उसे छोड़ के से सरस को दिखाना है तो श्रामुख के श्रनन्तर ही विष्कम्भक कर देना चारि श्रोर इसके पात्रों की सूचना श्रामुख में ही कर देनी चाहिये। जैसे रहाकी यौगन्धरायणकृत। यदेति—यदि प्रारम्भ से ही सरस वस्तु प्रवृत्त हो आप श्रामुख से श्राचित्र श्रङ्क के श्रादि में ही विष्कम्भक करना। जैसे शाक्ति विष्कम्भिक करना। जैसे शाक्ति विष्कम्भिक करना। जैसे शाक्ति

विष्क्रमीति—विष्क्रम्भकादि के द्वारा भी प्रधानपुरुष का वध नहीं की चाहिये। एवं रस और वस्तु का स्पष्ट निद्श्न होना चाहिये—एक हुनी विगोदित करोरे

तिरोहित न होने पाय। यही धनिक ने कहा है—न चेति।
वीजमिति—वीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी ग्रौर कार्य ये पाँच, ग्रथं (प्रयोजनी
प्रकृति (साधनोपाय) हैं। इन्हें यथाविधि प्रयोग करना चाहिये। जलमानी
प्रकृति (साधनोपाय) हैं। इन्हें यथाविधि प्रयोग करना चाहिये। जलमानी
जिसका पहले श्रत्यरूप कथन किया जाय, किन्तु विस्तार एसका ग्रुतेक रो
जिसका पहले श्रत्यरूप कथन किया जाय, किन्तु विस्तार एसका ग्रुतेक रो
हो, उसे वीज कहते हैं—यह फलसिद्धि का प्रथम हेतु होता है। जैसे रही
में श्रतुकूल दैव से युक्त यौगन्धरायण का व्यापार, श्रथवा वेणीसंहार में हैं।
के केशसंयमन का हेतुभूत, भीमसेन के कोध से युक्त, युधिष्ठिर का उत्सा

## अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम् ॥ ६६ ॥

यथा—रत्नावल्यामनङ्गपूजापरिसमाप्तौ कथार्थविच्छेदे सित 'उदयनस्येन्दोरिवो-द्वीत्तते इतिसागरिका श्रुत्वा '(सहर्षम्।) कघं एसो सो उदश्रणणरिन्दो' इत्यादिरवान्तरार्थहेतुः।

ड्यापि प्रासङ्गिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते।

यथा—रामचरिते सुग्रीवादेः, वेएयां भीमादेः, शाकुन्तले विदूषकस्य चरितम् ।

पताकानायकस्य स्यान्न स्वकीयं फलान्तरम् ॥ ६७॥ । गर्भे संघी विसर्शे वा निर्वाहस्तस्य जायते।

यथा—सुग्रीवादे राज्यपाप्त्यादि । यतु मुनिनोक्तम्—
'त्रा गर्भादा विमर्शाद्वा पताका विनिवर्तते ।' इति ।

तत्र 'पताकेति पताकानायकफलम् । निर्वहणापर्यन्तमपि पताकायाः प्रवृत्तिदर्श-नात्' इति व्याख्यातमभिनवगुप्तपादैः ।

प्रासङ्गिकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता ॥ ६८॥ यथा—कुलपत्यङ्के रावणाजटायुसंवादः ।

प्रकरीनायकस्य स्यान्न स्वकीयं फलान्तरम्। अपेचितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः॥ ६६॥ समापनं तु यत्सिद्धौ तत्कार्यमिति संमतम्।

अवान्तर कथा के विच्छिन्न होने पर भी प्रधान कथा के अविच्छेद का जो निमित्त है उसे बिन्दु कहते हैं। जैसे रत्नावली में अनक्षपूजा की समाप्ति में कथा पूरी हो चुकी थी, किन्तु 'उद्यनस्ये' त्यादि पद्य को सुनकर—'ए, यही वह राजा उद्यन हैं'—यह सागरिका का सहर्ष कथन कथा के अविच्छेद का हेतु हैं। व्यापीति—जो प्रासक्षिक कथा दूर तक व्याप्त हो उसे पतान कहते हैं। जैसे रामा-यण में सुग्रीव की कथा, वेणी संहार में भी मसेन की और शकुन्तला में विद्यक की।

पताकेति—पताका-नायक का श्रपना कोई भिन्न फल नहीं होता—प्रधान नायक के फल को सिद्ध करने के लिये ही उसकी समस्त चेष्टायं होती हैं। गर्भ या विमर्श सन्धि में उसका निर्वाह कर दिया जाता है। जैसे सुग्रीव की राज्यप्राप्ति।

यज्ञ-भरतमुनि ने जो यह कहा है कि-श्रागर्भादिति - 'गर्भसन्धि में या विमर्श-सन्धि में पताका समाप्त हो जाती है' यहाँ पनाका शब्द से पताकानायक का फल विविद्यत है—पताका तो कहीं २ निर्वहणसन्धिपर्यन्त भी चलती है—यह ब्याख्या श्रीमान् श्रमिनवगुप्तपाद।चार्य ने की है।

प्राविष्ठकिमिति—प्रसङ्गागत तथा एकदेशस्थित चरित को प्रकृत कहते हैं — जैसे इलपत्यङ्क में रावण और जरायु का संवाद। प्रकृरीनायक का अपना कोई फिलान्तर प्रधान नहीं होता।

श्रेपेदितमिति—जो प्रधान साध्य है, सब उपायों का आरम्भ जिसके लिये किया गया है, जिसकी सिद्धि के लिये सब 'समापन' (सामग्री) इकट्ठा हुआ है उसे कार्य कहते हैं। जैसे रामचरित में रावणवधा यथा---रामचरिते रावणवधः ।

अवस्थाः पश्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः॥ 🕠 श्रारम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः।

तत्र-भवेदारम्भ औत्सुक्यं यन्सुख्यफलसिद्धये॥७१॥ यथा—रतावल्यां रतावल्यन्तःपुरनिवेशार्थं यौगंधरायणस्यौत्सुन्यम्। नायकनायिकादीनामप्यौत्सुक्यमाकरेषु बोद्धव्यम् ।

प्रयत्नस्तु फलावाष्ट्री व्यापारो ऽतित्वरान्वितः।

यथा रतावल्याम्—'तह वि ग्रा अतिथ अएगो दंसगावाओति जधातधाका हित्र जधासमीहिदं करइस्सम्' इत्यादिना प्रतिपादितो रत्नावल्यारिकालेक दिर्वत्सराजसंगमोपायः । यथा च रामचरिते समुद्रबन्धनादिः ।

उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसंभवः॥ । ।।। ्यथा—रह्नावल्यां तृतीयेऽङ्को वेषपरिवर्तनाभिसरणादेः संगमोपायाद्यसः लत्त्रणापायशङ्कया चानिर्धारितैकान्तसंगमरूपफलपाप्तिः प्रत्याशा । एवम्का

अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिस्तु निश्चिता।

अपायाभावात्रिर्धारितैकान्तफलपाप्तिः । यथा रत्नावल्याम् — '**रा**जा—र प्रसादनं त्यक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि' इति देवीलच्यापायस्य प्राहं निवारणानियतफलमाप्तिः सूचिता ।

अवस्था इति—फल के इच्छुक पुरुषों के द्वारा आरम्भ किये गये कार्य की अवस्थायें होती हैं — आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागा। में से — मनेदिति — मुख्य फलकी सिद्धिके लिये जो श्रीत्सुक्य है उसे शास हाते जैसे रत्नावलीनाटिकामें कुमारी रत्नावलीको श्रन्तः पुरमें रखनेके लिये वीर्ण रायण की उत्कर्णा। इसी प्रकार नायक, नायिकादि का श्रौत्सुक्य मी आहे प्रयत इति—फलप्राप्ति के लिये ग्रत्यन्त त्वरायुक्त व्यापार को यह कही

जैसे रत्नावली में — तह बीति — 'तथापि नाहित अन्यो दशैनोपाय इति यथा तथा है यथासमीहितं करिष्यामि' इत्यादि के द्वारा रत्नावली का चित्रलेखन। यह

उपायेति — जहां प्राप्ति की आशा, उपाय तथा अपाय की आशहा और है। के लिये त्वरान्वित व्यापार (यत्न) है। हो, किन्तु प्राप्ति की संभावना हो, उस अवस्था को प्राप्ता कहते हैं। रत्नावली (३ श्रङ्क ) में वेषपरिवर्त और श्रमिसरणादिक तो संगम हैं, किन्तु वासवद्त्ताक्षप अपाय (प्रतिबन्धक) की आश्रही अतः समागमरूप फल की प्राप्ति अनिश्चित होने से प्राप्तवाशा है।

अपायेति—ग्रपाय के दूर हो जाने से जो निश्चित प्राप्ति हैं इते हैं कहते हैं। जैसे रत्नावली में —राजेत्यादि।

सावस्था फलयोगः स्याद्यः समग्रफलोद्यः॥ ७३॥

यथा—रत्नावल्यां रत्नावलीलाभरचक्रवर्तित्वलच्याफलान्तरलामसहितः। एवमन्यत्र।

यथासंख्यमवस्थाभिराभिर्योगात्तु पश्चभिः।

पश्चधैवेतिवृत्तस्य भागाः स्युः, पश्च संधयः॥ ७४॥

तन्नच्याम।ह— अन्तरैकार्थसंबन्धः संधिरेकान्वये सति।

एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकपयोजनसंबन्धः संधिः। त्रदेवानाह —

मुखं प्रतिखुखं गर्भो विमर्श उपसंहृतिः॥ ७५॥ इति पश्चास्य अदाः स्युः ऋमान्नच्रणमुच्यते। यथोद्देशं बच्चणमाह—

यत्र बीजसञ्जत्पत्तिनीनार्थरससंभवा ॥ ७६ ॥ प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्तितम्।

यथा—रहावल्यां प्रथमेऽङ्को।
फलप्रधानोपायस्य मुखसंधिनिवेशिनः॥ ७७॥
कद्यालद्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखं च तत्।

T.

f

यथा—रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्को वत्सराजसागरिकासमागमहेतोरनुरागबीजस्य मथमाङ्कोपिक्तिसस्य सुसंगता-विद्षकाभ्यां ज्ञायमानतया किंचिक्नद्यस्य वासवदत्तया चित्रफलकवृत्तान्तेन किञ्चिद्वन्नीयमानस्योद्देशरूप उद्भेदः।

सेति—जहां सम्पूर्ण फल की प्राप्ति हो जाय उस अवस्था को फलगोग या फलागम कहते हैं। जैसे रत्नावली में चक्रवर्तित्व के साथ रत्नावली का लाम।

यथासंख्यमिति—इन्हीं पांच अवस्थाओं के सम्बन्ध से इतिहास के पांच
विमाग होने पर यथासंख्य से पाँच सन्धियाँ होती हैं।

सिन्धयों के लच्या—प्रन्तरित - एक प्रयोजन में श्रन्वित श्रथों के श्रवान्तर सम्बन्ध को सिन्ध कहते हैं। उसके भेद दिखाते हैं—प्रविभिति—मुख, प्रति-सुब, गर्भ, विमर्श श्रीर निर्वह्या ये सिन्धयों के पांच भेद होते हैं। मुख - यंत्रित - जहां श्रनेक श्रर्थ श्रीर श्रनेक रसों के व्यक्षक बीज (श्रर्थप्रकृतिविशेष) की प्रारम्भ नामक द्शा के साथ संयोग से उत्पत्ति हो उसे प्रवस्ति कहते हैं। जैसे रज्ञावली के प्रथम श्रद्ध में।

प्रतिमुख—प्रश्नित - मुखसिन्ध में निवेशित फलप्रधान उपाय का कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य उद्भेद (विकास) जहां हो उसे प्रतिपृष्ठसिक कहते हैं। जैसे खावली में वत्सराज और सागरिका (रत्नावली) के समागम का हेतु, इन दोनों का परस्पर प्रेम, जो प्रथम श्रङ्क में स्वित कर दिया है, उसे सुसंगता और विद्यक ने जान लिया, श्रतः वह (श्रनुराग) कुछ लक्ष्य हुआ और वास-वदत्ता ने चित्र के वृत्तान्त से कुछ-कुछ ऊहा की, श्रतः श्रलक्ष्यता भी रही।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्धिन्नस्य किंचन ॥ ७६॥ गर्भी यत्र समुद्भेदो हासान्वेषणवानमुहुः।

फलस्य गर्भीकरणाद्रभीः । यथा रतावल्यां द्वितीयेऽक्के -सुसंगता अदिक्खणा दाणि सि तुमं जा एवं भिट्टिणा हत्थेण गहिदा वि कोवं स पूर्वा इत्यादौ समुद्भेदः । पुनर्वासवदत्तापवेशे हासः । तृतीयेऽङ्के — 'तद्वार्तान्वेष्णामः क्यं चिरयति वसन्तकः र इत्यन्वेषराम् । विदूषकः — ही ही मोः, कोल रज्जलम्भेणावि ्ण तादिसो पिश्रवश्रम्सस्स परितोसो जादिसो मम संश्राहः पियवत्र्यणं सुणित्र्य भविस्सदि' इत्यादावुद्भेदः । पुनरि वासवदत्ताप्रत्यिम्बार हासः । सागरिकायाः संकेतस्थानगमने उन्त्रेषणम् । पुनर्लतापाशकरणे उद्गेरः। अथ विमर्श:-

यत्र मुख्यक्तोपाय उद्भिन्नो गर्भनोऽधिकः॥ ७६॥ शापाचैः सान्तरायश्च स विसर्श इति स्मृतः।

यथा शाकुन्तले चतुर्थोङ्कादौ- 'स्न स्रुगः - पित्रंवदे, जइ वि गर्य विवाहेण णिव्वृत्तकल्लाणा पित्रमही सउन्तला त्र्यणुरूवमतुभाइणी संबं निन्वुदं मे हिश्रश्रम्, तह वि एत्तिश्रं चिन्तिणिज्जम्' इत्यत श्रारम्य सामा पित्ताच्छुकुन्तलाप्रत्यभिज्ञानात्प्रागर्थसंचयः शकुन्तलात्रिस्मरण्रूपविध्नाविक्रि

अथ निर्वहराम्-

बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्॥ द०॥

गर्भ-फोति-पूर्वसन्धियों में कुछ कुछ प्रकट हुए फलप्रधान उपाय हार हास श्रीर श्रन्वेषण से युक्त बार बार विकास हो उसे गर्भसन्धि कहते हैं। को भीतर रखने के कारण इसे गर्भ कहते हैं। जैसे रत्नावली के द्विनीय म 'साबि, अदिचिया इदानीमिस त्वम् या एवं मत्री हस्तेन गृहीतापि कोपं न गुञ्चसि' इस सुसंग की उक्ति में उद्भेद है। उसी समय व।सवदत्ता के प्रवेश होने से इस है है। तृतीय श्रङ्क में 'तद्वातें' त्यादि राजा की उक्ति से श्रन्वेषण स्वित्रं ग है। एवम् ही ही — 'ब्राश्चर्य मोः, कौशाम्बीराज्यलाभनापि न तादृशः प्रियवयस्वस्य वि यादशा मम सकाशात् त्रियवचनं श्रुत्वा माविष्यति' इस विदूषक की उक्ति में फिर की है। फिर भी वासवदत्ता जान गई, श्रतः हास हुश्रा है। सागरिका के स्थान में जाने से अन्वेषण और लतापाश बनाने में उसी अनुराग का की इया है।

विमर्श — यत्रेति — जहां 'मुख्यफल का उपाय गर्भ सन्धि की अपेडा और उद्भिन्न हो, किन्तु शापादि के कारण अन्तराय (विद्न ) युक्त हो उसे विक्र कहते हैं। जैसे शाकुन्तल में अनस्या—प्रियंवदे, यद्यी गान्धर्वेण विवाहन विवाहन त्रियसखी राकुतन्ता अनुरूपमर्तृभागिनी संवृत्तेति निवृत्तम् म इदयम्, तथापि एताविकति यहां से लेकर सप्तम श्रङ्क में दिखाये हुए श्रकुन्तला के प्रत्यभिक्षान्वर्यन्ति कथा है वह सब शरून्य है कथा है वह सब शकुन्तला के विस्मर्णक्रप विद्न से आलिक्ति (युक्र)

निवंहण—गीजेति—बीज से युक्त, मुखादि सन्धियों में बिखरे रूप

एकार्धमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्।

यथा वेरायाम् — 'कञ्चुकी — ( उपसृत्य सहर्षम् ) महाराज, वर्षसे । अयं खलु भीमसेनो दुर्योधनच्तजारुणीकृतसर्वशरीरो दुर्लच्यन्यिकः' इत्यादिना द्रौपदीकेशसंयमनादिमुखसन्ध्यादिबीजानां निजनिजस्थानोपित्तप्तानामेकार्थयोजनम्। यथावा-शाकुन्तले सप्तमाङ्के शकुन्तलाभिज्ञानादुत्तरोऽर्थराशिः। एषामङ्गान्याह-

उपच्चेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम् ॥ ८१॥ युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना। उद्भदः करणं भेद एतान्यङ्गानि वै मुखे ॥ ८२ ॥

यथोदेशं लच्यामाह

f

À

Ä

काव्यार्थस्य समुत्पत्तिरुपच्चेप इति स्मृतः। काव्यार्थ इतिवृत्तलक्त् गापरतुताभिधेयः । यथा वेष्याम् — भीमः —

'लाजागृहानलं-विषात्र-सभापवेशै:

पाणेषु वित्तनिचयेषु च नः पहत्य।

आकृष्य पाएडववधूपरिधानकेशान्

स्वस्था भवन्ति मिय जीवति धार्तराष्ट्राः ॥'

स्मुत्पन्नार्थवाहुल्यं ज्ञेयः परिकरः पुनः ॥ ८३ ॥ यथा तत्रैव-

'मर्द्धं यद्दैरं मम खलु शिशोरेव कुरुभि-्रने तत्रायों हेतुर्न भवति किरीटी न च युवाम्। जरासंधस्योर:स्थलमिव विरूढं पुनरपि

कु धा भीमः संधि विघटयति यूर्य घटयत ॥'

जहां एक प्रधान प्रयो तन में यथावत् समन्वय साधित किया जाय उसे निवंहण वित्व कहते हैं। जैसे वेणीसंहार में कंडकी—इत्यादि सन्दर्भ में मुखादि सन्धियों में अपने अपने स्थानों पर उपित्तप्त द्रीपदी के केशसंयमनादि हुए बीजों को पक अर्थ में संयोजित किया है। अथवा शाकुन्तल के सप्तम अङ्क में शकुन्तला के परिज्ञान के पीछे की सम्पूर्ण कथा निर्वहरण सन्धि का उदाहरण है।

रन सिन्धयों के श्रङ्ग बतलाते हैं—उपनेप इति—उपनेप, परिकर, परिन्यास स्यादिक बारह मुखसन्धि के अङ्ग होते हैं। कान्यार्थेति—कान्यार्थ अर्थात् इति-हासक्ष प्रकृत अर्थ—जो प्रस्तुत अभिधेय है—उसकी उत्पत्ति को उपचेप कहते हैं। जैसे वेणीसंहार में — लाविति—इस पद्य में भीमसेन ने पिछली घटना के

वर्णन के साथ भविष्यत् और प्रस्तुतद्शा का भी सूचन किया है। सम्पनित — उत्पन्न अर्थ की बहुतता का नाम परिकर है — जैसे वहीं प्रहेब-भित्यादि—समसाते हुए सहदेव के प्रति कुछ हुए भीमसेन की यह उक्ति है।

#### तन्निष्पत्तिः परिन्यासः

यथा तत्रैव-

·चब्रद्भुज़भ्रमितचएडगदाभिघात-संच्रितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य। स्त्यानावनद्भघनशोणितशोणपाणि-

रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः॥'

नामेतिवृत्तलच्यास्य काव्याभिधेयस्य संद्वेपेगाोपचेपगमा **अत्रोपद्योपो** परिकरस्तस्यैव बहुलीकरणम् । परिन्यासस्ततोऽपि निश्चयापत्तिक्रपतयापितो न्यसनम् इत्येषां भेदः। एतानि चाङ्गानि उक्तेनैव पौर्वापर्येगा भवन्ति। अङ्गाला त्वन्यथापि ।

गुणाख्यानं विलोभनम्।

यथा तत्रैव—'द्रौपदी— गाध, किं दुक्करं तुए परिकुविदेगा।' यथा वा चन्द्रकलायां चन्द्रकलावर्णाने--'सेयम्, तारुएयस्य विलासः-' इत्यादि। खुव न्तलादिषु 'प्रीवाभङ्गाभिरामं-' इत्यादि मृगादिगुरावर्गानं तद् बीजार्थसंक्याक संध्यङ्गम् । एवमङ्गान्तराग्णामध्यूह्यम् ।

संप्रधारणमथीनां युक्तिः

यथा - वेंग्यां सहदेवो भीमं प्रति - 'आर्य, कि महाराजसंदेशोऽपम्ब इवार्येण गृहीत: ।' इत्यतः प्रभृति यावद्गीमवचनम् ।

> 'युष्मान्ह पयति क्रोधाल्लोके शत्रुकुलच्चयः। न लज्जयित दाराणां सभायां केशकर्षणम् ॥' इति ।

प्राप्तिः सुखागमः॥ <sup>द४॥</sup>

तानिष्पत्तिति—उत्पन्न अर्थ की सिद्धि को परिन्यास कहते हैं। यथा-क्नि यह भी वहीं का पद्य है। अत्रेति—इनमें से इतिहासक्य काव्य के वर्णनीय का संत्रेप से निर्देश करना उपचेप कहलाता है - और उसीका विस्तार कहा जाता है—एवं इससे भी अधिक निश्चयक्तप में उसी बात की हैं। स्थिर करना परिन्यास कहाता है। यही इनका भेद है। ये अह इसी ही होते हैं। और अङ्ग भिन्नकम से भी हो सकते हैं।

ग्रेणेति—गुग्रकथन का नाम विलोभन है —जैसे—द्रीपर्दा-'नाथ कि दुर्बा कुपितेन'। जालाल (— परिकृषितेन'। त्रथवा 'चन्द्रकता' में सेयम्—इत्यादि । शकुनतता में ग्रीवामित पद्य से जो मृग का वर्णन किया है उसका बीजभूत अर्थ से कुछ सम्बन्ध अतः वह सिन्ध का अङ्ग नहीं है। इसी प्रकार अन्य अङ्गों में भी जातनी मिति - अर्थों के निर्धारण करने को शुक्ति कहते हैं — जैसे वेणीसंहार और भीम का संवाद 'श्रार्य' इत्यादिं। प्राप्तिरिति—सुख के श्रागमन की प्राप्ति CC-0. Mumukshu Bhawan Varangsi Callestin

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यथा तत्रैव—'मध्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्—' इत्यादि । 'द्रौपदी— (भुष्वा सहर्षम् ) गाध, अस्सुदपुन्तं क्खु एदं वश्रग्रम्, ता पुणो पुणो भगा।' बीजस्यागमनं यत्तु तत्समाधानमुच्यते।

यथा तत्रैव—( नेपथ्ये ) मो भो विराटद्रुपदमभृतयः, श्रूयताम्— ध्यत्सत्यत्रतभङ्गभीरुमनसा यत्नेन मन्दीकृतं यद्विस्मर्तुमपीहितं शमवता शान्ति कुलस्येच्छ्रता।

याद्रस्मतुमपाहित शमवता शान्त कुलस्येच्छ्रता तद्बूतारिणसंभृतं नृपसुताकेशाम्बराकर्षणैः

क्रोधज्योतिरिदं महत्कुरुवने यौधिष्ठिरं जम्भते॥'

अत्र 'स्वस्था भवन्ति मिय जीवित-' इत्यादि बीजस्य प्रधाननायकाभिमतत्वेन सम्यगाहितत्वात्समाधानम् ।

सुख्दुःखकृतौ योऽर्थस्तद्विघानमिति स्मृतम्॥ ८५॥ यथा बालचरिते—

'उत्साहातिशयं वत्स तव बाल्यं च प्रयतः।

मम हर्षविषादाभ्यामाक्रान्तं युगपन्मनः॥'

यथा वा मम प्रभावत्याम्-'नयनयुगासेचनकम्'--इत्यादि ।

कुतूहलोत्तरा वाचः प्रोक्ता तु परिभावना ।

यथा—वेषयां द्रौपदी युद्धं स्यान वेति संशयाना तूर्यशब्दानन्तरम् 'णाघ, किं दाणि एसो पलत्रजलहरत्थणिदमन्थरो खरो खरो समरदुन्दुभि ताडी स्रदि।'

बीजार्थस्य प्ररोहः स्यादुद्भेदः

d

यथा तत्रैव — द्रौपदी — गाध, पुगो वि तए समासासइदन्वा।

हैं—जैसे भीमसेन की 'मध्नामि' इत्यादि उक्ति को सुनकर द्रौपदी का सहषे यह कहना कि—णधित—'नाथ अश्रुतपूर्व खल्वेतद्वचनं, तत्युनः पुनर्भण'। बीजस्पेति— बीज के आगमन को समाधान कहते हैं। जैसे वेणीसंहार में—यत्सत्यत्यादि—पहले 'संस्था भवन्ति मिय जीवति' इस भीमसेन की उक्ति में जिस बीज की स्थापना की थी वही यहां प्रधान नायक (युधिष्ठिर) के द्वारा अभिमत हो गया, अतः यह 'स्वरूपन के कि विकास की स्थापन के अपनित्र के कि विकास की स्थापना स्थापन स्थ

यह 'समाधान' है। बीज के सम्यक् श्राधान को 'समाधान' कहते हैं।

एखेति—सुख दुःख से मिश्रित श्रर्थ को 'विधान' कहते हैं—जैसे—बालचिरत

में—उत्साहत्यादि। कुत्रहलेति—कौत्रहलयुक्त बातों को परिमावना कहते हैं। जैसे

वेणीसंदार में—पहले द्रौपदी को यह सन्देह था कि युद्ध होगा या नहीं—

उसके अनन्तर रण्दुन्दुमि का शब्द सुनकर उसने मोमसेन से कहा कि—

पाध—नाथ, किमिदानीमेष प्रलयजलधरस्तिनतमांसलः इगे इगे समरदुन्दुमिस्ताब्यते।

वीजभूत अर्थ के प्रशेष्ठ को उद्धेद कहते हैं—जैसे वहीं द्रौपदी—पाध—

'नाथ पुनरिं त्या समाश्वासियतव्या'—इसे सुनकर मीमसेन का यह कथन कि—

भीमः— 'भूयः परिभवक्लान्तिलंजाविधुरिताननम् । श्रुनिःशेषितकौरव्यं न परयसि वृकोदरम् ॥'

करणं पुनः ॥ द्या

प्रकृतार्थसमारमभः

यथा तत्रैव — 'देवि, गच्छामो वयमिदानीं कुरुकुलत्त्याय।' इति। सेदः संहत भेदनम्।

यथा तत्रैव—'अत एवाद्य प्रमृति भिन्नोऽहं भवद्भचः।' केचितु भेरा

अथ प्रतिमुखाङ्गानि—

विलासः परिसर्पश्च विधुतं तापनं तथा ॥ द०॥
नर्म नर्मगुतिश्चैव तथा प्रगमनं पुनः ।
विरोधश्च प्रतिमुखे तथा स्थात्पर्युपासनम् ॥ द्द॥
पुद्रपं वज्रमुपन्यासो वर्षसंहार इत्यपि ।

तत्र—
समीहा रित भोगार्था विलास इति कथ्यते ॥ दश् ॥
रितलक्षणस्य भावस्य यो हेतुस्तो भोगो विषयः प्रमदा पुरुषो वा तदर्श गर्वे
विलासः । यथा शाकुन्तले—

'कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनायासि। अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयपार्थना कुरुते॥'

इष्टनष्टानुसरणं परिसर्पश्च कथ्यते।

यथा शाकुन्तले — 'राजा — भवितव्यमत्र तया । तथा हि —

भूय इति—यहाँ बीजभूत अर्थ प्ररूढ हो गया है। प्रकृत कार्य के आरम्म का करण है। जैसे वहीं —भीमसेन की उक्ति। देवि इत्यादि। भेद इति — मिले हुन भेदन को भेद कहते हैं — जैसे वहीं भीम की उक्ति — 'अत एवे' त्यादि। प्रोत्साहन को 'भेद' मानते हैं।

प्रतिमुख सन्धि के अझाँ का निक्रपण करते हैं — विलास इत्यादि — विलास सर्प, विधुत, तपन, नर्म, नर्मद्युति, प्रगमन, विरोध, पर्युपासन, प्रण, उपन्यास और वर्णसंहार ये तेरह प्रतिमुख सन्धि के अझ होते हैं। स्वीति नामक भाव का हेतुभूत जो भोग (विषय) अर्थात् स्त्री या पुरुष वस्ते समीहा (चेष्टा या अभिलाष) को विलास कहते हैं। जैसे शाकुन्तत में समीहा (चेष्टा या अभिलाष) को विलास कहते हैं। जैसे शाकुन्तत में समीहा दुष्यन्त का शकुन्तलाविषयक अभिलाष प्रतीत होता है। इंदिन स्थान वियुक्त इष्ट वस्तु के अन्वेषण को परिसर्प कहते हैं। जैसे शाकुन्त राजा—भवितव्यमिति—इस. लताकुक्ष में शकुन्तला होनी चाहिये

श्चिम्युनता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात्परचात् । द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपङ्क्तिर्द्दश्यतेऽभिनवा॥'

कृतस्यानुनयस्यादौ विधुनं त्वपरिग्रहः॥ १०॥

यथा तत्रैव—'त्र्यलं वो त्र्यन्ते उरविरहपज्जुस्सुएण राएसिणा उबरुद्धेण।'केचितु विधुतं स्यादरतिः' इति वदन्ति ।

उपायादर्शनं यत्तु तापनं नाम तद्भवेत्। य्या रतावल्याम्—'स्वागरिका—

दुल्लहज्यागुरात्रो लजा गुरुई परत्रसो अपा। पियसहि विसम् पेम्मं मरगां शरगां ग्विर एक्सम्॥

परिहासवचो नर्स

यथा रतावल्याम्—'सुरंगता — सिंह, जस्स किदे तुमं आश्रदा सो अश्रं दे पुरदो चिद्वदि । सागरिका—( साम्यस्यम् ) कस्स किदे श्रद्धं आश्रदा । सुसंगता—श्रद्धं अएए।संकिदेश । सं चित्तफलश्रस्स ।'

द्यतिस्तु परिहासजा ॥ ६१ ॥

नर्मद्यतिः

यथा तत्रैव — 'सुसंगता — सहि, अदिक्खणा दाणि सितुमं जा एवां भिष्टणा हत्यावलिक्वदावि कोवं ण मुक्कसि । सागरिका — (स्त्रूमक्वमं पिद्वहस्य ।) सुसंगदे, दाणि विकीलिदं न विरमिस। 'केचित्त-'दोषस्याच्छादनं हास्यं नर्मबुतिः इति वदन्ति।

श्रमुनति -इसके द्वार पर स्वच्छ बालुका में ऐसे पैरों के चिह्न हैं जो अगले हिस्से में तो उठे हुए हैं किन्तु पिछले भाग में कुछ नीचे गड़े हुए हैं। ये उसी के पैरहैं। नितम्ब के भार से पिछले श्रंश में पैरों के चिह्न गहरे हैं। यहाँ विछड़ी हुई शकुन्तला का अन्वेषण है। इस पद्य में नितम्ब के अर्थ में जघन शब्द का प्रयोग किया है प्रमामितम्बः स्नी कट्याः श्रोणिस्तु जघनं पुरः'। कृतस्येति—कियेहुए श्रनुनय का परिग्रह (स्वी-कार) न करना 'विधुत' कहाता है। जैसे वहीं — 'अलं — अलं वामन्तः पुरविरहपर्युत्युकेन राजिंगा उपरदेन' यह शकुन्तला का वचन है। प्राकृत में द्विचचन नहीं होता, अतः दो सिखयों के लिये भी बहुवचन (वो) का प्रयोग किया है। केचितु -कोई अरित को 'विधुत' कहते हैं। उपायित —उपाय के न पाने को 'तापन' कहते हैं। जैसे प्लानली में सागिरका की उक्ति—'दुलड़ोत —दुर्नमजनातुरागो लक्षा गुर्वी परवश चारंगा। त्रियमांति, विषमः प्रेमा मरणं शरणं केवलमेकम् ।' परिद्वास को नर्म कहते हैं - जैसे रहा-विकास समिता की उक्ति—सहि—'सिंख यस्य कृते त्वमागता सोडयं ते प्रतस्तिष्ठाते'। साग-रिका-कस्स -कस्य कृतंऽइमागता? सुसंगता - अलं - अलग्रन्थशाद्दितन नव चित्रफ्नकस्य। इतितित-परिद्वास से उत्पन्न द्युत को नर्मद्यति कहते हैं—जैसे वहीं—सुसंगता की उक्ति सहि सिंख, श्रदिवाणा इदानीमिंस त्वम् या एवं सत्री इस्तावलाम्बतारि कार्ये न भूताता यहाँ परिद्वास इतना उत्कृष्ट होगया कि सागरिका कुछ किन्तित, सस्मित श्रीर संकुचित होकर अस्या के साथ भींड चढ़ाकर बोली कि सुसंगद-दसंगत, खानीमिषि कौडिताल विरमिस । केचितु —कोई दोष के छिपानेवाले हास्य को नर्मसुति

### प्रगमनं वाक्यं स्यादुत्तरोत्तरम्।

यथा विक्रमोर्वश्याम्- 'उर्वशी - जन्म दु जन्म दु महारान्नो । राजानाम जितं यस्य त्वया जय उदीर्यते ।' इत्यादि ।

विरोधो व्यसनप्राप्तिः

यथा चएडकौशिके — 'राजा — नून मसमी दयकारि ए। मया अन्धेनेव सुर्ण खाकलापो ज्वलनः पद्भवां समाक्रान्तः।'

ऋद्धस्यानुनयः पुनः॥ १२।

स्यात्पर्युपासनं

यथा रत्नावल्याम्—विदूषकः—'भो, मा कुप्य। एसा हि कद्रतीका गदा।' इत्यादि।

पुष्पं विशेषवचनं मतम्।

यथा तत्रैव — (राजा इस्ते गृहीस्वा स्पर्श नाटयित ।) विद्वकः — भोकः एसा अपुन्वा सिरी तए समासादिदा । राजा — वयस्य, सत्यम् । श्रीरेषा, पाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पञ्चवः । कृतोऽन्यथा स्वत्येष स्वेदच्छुग्रामृतदवः ॥'

प्रत्यचिनिष्टुरं वज्रम्

यथा तत्रैव — 'राजा — कथिमहस्थो ऽहं त्वया ज्ञातः । सुसंगता-केव्वलं तुमं समं चित्तफलएण । ता जाव गदुत्र्य देवीए णिवेदश्सम्।' उपन्यासः प्रसादनम् ॥ १॥

यथा तत्रैव — 'सुसंगता — भट्टुण त्र्यलं सङ्काए । मए वि भिर्धिष देश की लिदं ज्जेव एदिहिं। ता किं कएगाभरगोगा । अदो वि मे गरुआ ह

मानते हैं। प्रगमनिमिति—उत्तरोत्तर उत्कृष्ट वाक्य होने को प्रगमन कहते हैं। विक्रमोर्वशी में-उर्वशी ने कहा-जयतु जयतु महाराजः—इस पर राजा पूर्ण कहा—मयेत्यादि—यह प्रगमन है। दुः खप्राप्ति का नाम विरोध है। जैते कोशिक में राजा की उक्ति नुनिमत्यादि—ग्रन्धे की तरह मैंने, विना विशेष कती हुई ग्रग्नि पर पैर रख दिया। कुद्धस्पेति—कुद्ध के ग्रन्त्य को पर्याप्ति हैं। जैते रज्ञावली में विद्षक की उक्ति—मो मो मा कुत्य—एवा हि हिंदी हैं। जैते रज्ञावली में विद्षक की उक्ति—मो मो मा कुत्य—एवा हि हिंदी गता। विशेष ग्रनुरागादि उत्पन्न करनेवाले वचन को पुष्प कहते हैं। जैते राजा रज्ञावली के हाथ का स्पर्श करके हिंदी हुए ग्रीर विद्र्षक का व्यस्ति—मो वयस्य एवा प्रपृत्ता श्रोस्त्रया समाप्तादिता—इत्यादि। निष्टुर वक्ति कहते हैं—जैसे क्थामत्यादि—सुसंगता—न केवलं त्वं समं चित्रफलकेन वर्ष कहते हैं। जैसे क्यामत्यादि—सुसंगता—न केवलं त्वं समं चित्रफलकेन वर्ष किये निवेदियन्यामि। उपिति—प्रसन्न करने को उपन्यास कहते हैं। जैसे का निवेदियन्यामि। उपिति—प्रसन्न करने को उपन्यास कहते हैं। जैसे का निवेदियन्यामि। उपिति—प्रसन्न करने को उपन्यास कहते हैं। जैसे का निवेदियन्यामि। उपिति—प्रसन्न करने को उपन्यास कहते हैं। जैसे का निवेदियन्यामि। उपिति—प्रसन्न करने को उपन्यास कहते हैं। जैसे का निवेदियन्यामि। उपिति—प्रसन्न करने को उपन्यास कहते हैं। जैसे का निवेदियन्यामि। उपिति—प्रसन्न करने को उपन्यास कहते हैं। जैसे का निवेदियन्यामि। उपिति—प्रसन्न करने को उपन्यास कहते हैं। जैसे का निवेदियन्यामि। उपिति—प्रसन्न करने को उपन्यास कहते हैं। जैसे का निवेदियन्यामि। उपनि क्यामि स्वयं स

एसो, जं तए आहं एत्थ आलिहिदत्ति कुबिदा मे पिश्रसही साअरिआ। एसा जेव पसादीआदु।' केचित्तु — 'उपपत्तिकृतो हार्थ उपन्यासः स कीर्तितः।' इति बदन्ति। उदाहरन्ति च, तत्रैव — 'अदिमुहरा क्खु सा गब्भदासी' इति।

चातुर्वगर्योपगमनं वर्णसंहार इब्यते।

यथा महावीरचरिते तृतीयेऽङ्के —
'परिषदियमृषीग्णामेष वीरो युधाजित्

सह नृपतिरमात्यैलोंमपादश्च वृद्धः ।

अयमविरतयज्ञो ब्रह्मवादी पुराणः

प्रभुरपि जनकानामङ्ग भो याचकास्ते॥'

इत्यन्न ऋषिच्तत्त्रादीनां वर्णानां मेलनम्।

अभिनवगुप्तपादास्तु—'वर्णशब्देन पात्राण्युपलच्यन्ते । संहारो मेलनम्' इति व्याचन्तते । उदाहरन्ति च रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्को—'अदो वि मे अअं गुरुअरो पसादो—' इत्यादेरारम्य 'णं हत्थे गेणिहिअ पसादेहि एम् । राजा—कासौ कासौ ।' इत्यादि ।

तिक कर्णाभरणेन । श्रतोपि मे गुरुतरः प्रसाद एषः, यत्त्वंयाऽर्मत्राविधितेति कृपिता मे प्रियसखी सागरिका—एषेव प्रसाधताम् । श्रर्थ — महाराज, कर्णभूषण को रहने दीजिये। स्वामिनी की कृपा से मैं इनसे बहुतेरा खेल चुकी हूं। मेरे ऊपर सबसे बड़ी कृपा यह होगी, जो श्राप मेरी इस प्रियसखी सागरिका को प्रसन्न कर देंगे। मैंने इस चित्रफलक में इसकी तसवीर बना दी, इस कारण यह मेरे ऊपर रुष्ट हो गई है।

कोई उपन्यास का यह लच्चण करते हैं कि — उपपर्चाति — किसी अर्थ को युक्तियुक्त करना उपन्यास कहाता है। इसके उदाहरण में भी वे रतावली ही के इस
वाक्य को देते हैं — श्रिद — श्रितमुखरा खलु सा गर्भदासी। चातुर्वर्ग्येति — श्राह्मणादिक
वारों वणों के समागम को वर्णसंहार कहते हैं — जैसे महावीरचरित के तीसरे
अङ्क में — परिविदिति — यह श्रुषियों की सभा है और यह वीरयुधाजित् ( भरत
के मामा) हैं। यह मिन्त्रियों सिहत वृद्ध राजा रोमपाद हैं और सदा यज्ञ करनेवाले श्रितशाचीन ब्रह्मज्ञानी ये महाराज जनक हैं। हे परश्रुराम, देखी ये सब तुम
से याचना करते हैं। प्रार्थना करते हैं। क्रोध दूर करो और बालक रामचन्द्र के

साथ मत अटको । यहां ऋषि, स्त्रिय आदिकों का मेल हैं।
अभिनवेति—श्रीमान् अभिनवगुप्तपादाचार्य का यह मत है कि 'वर्णसंहार' पद
में वर्णशब्द से नाटक के पात्र लित होते हैं, अतः पात्रों के मेल को वर्णशहार
कहते हैं—उनका उदाहरण भी रत्नावली के दूसरे अङ्क का 'अतोऽपि मे ग्रक्तरः
भवादः' यहां से लेके—णं इत्सं—'नग्र इस्ते गृहीत्वां प्रसादय एनाएं इत्यादि सन्दर्भ है।
यहां राज्यादि से लेके—णं इत्सं—'नग्र इस्ते गृहीत्वां प्रसादय एनाएं इत्यादि सन्दर्भ है।

यहां राजा, विदूषक, सागरिका और सुसंगता का मेलन है।

अय गर्भाङ्गानि— अभूनाहरणं मार्गो रूपोदाहरणे कमः॥ १४॥ संग्रहश्चातुमानं च प्रार्थना चिप्तिरेव च। त्रो (ता) टकाधिवलोद्वेगा गर्भे स्युर्विद्रवस्तथा॥ १५॥ तत्र व्याजाश्रयं वाक्यमभूताहरणं मतम्। यथा अरवत्थामाङ्गे —

'अश्वत्थामा हत इति पृथासूनुना स्पष्टमुक्त्वा स्वैरं शेषे गज इति पुनर्वाहृतं सत्यवाचा । तच्छ्रुत्वासौ दियततनयः प्रत्ययात्तस्य राज्ञः शस्त्राययाजौ नयनसलिलं चापि तुल्यं मुमोच॥'

तत्वार्थकथनं मार्गः

यथा चएडकौशिके—-'राजा--भगवन्, 'गृह्यतामजितमिदं भार्यातनयविक्रयात्। शेषस्यार्थे करिष्यामि चएडालेऽप्यात्मविकयम् ॥'

रूपं वाक्यं वितर्भवत्॥ १६॥

यथा रतावल्याम्—'राजा-'मनः प्रकृत्यैव चलं दुर्लद्यं च तथापि मे । कामेनैतत्कथं विद्धं समं सर्वै: शिलीमुखै: ॥' उदाहरणमुत्कषेयुक्तं वचनमुच्यते ।

अब गर्भसन्धि के अङ्ग कहते हैं — अभूतेति - अभूताहरण, मार्ग, हण, व हरण कम, संग्रह, अनुमान, प्रार्थना, चिसि, त्रोटक, अधिवल, उद्देगी विद्रव ये तेरह गर्भसन्धि के अङ्ग होते हैं। तत्रेति—कपटयुक्त वचन को प इरण कहते हैं । जैसे वेणीसंहार में — अर्वत्थामेत्यादि — सत्यवादी पूर्ण (युधिष्ठिर) ने 'अश्वत्यामा मारा गया' इतना तो स्पष्ट कहा और भन 'हाथी' यह शब्द धीरे से कर दिया । यह सुनकर, उनका विश्वात की पुत्रिय द्रोणाचार्य ने रण में आंत् श्रीर शस्त्र एकसाथ छोड़े। यहां गुर्वी ने कपट्युक्त वचन कहा है।

तत्वित —यथार्थ बात कहना मार्ग कहाता है। जैसे चएडकीशिकार राजा हरिश्चन्द्र का वचन विश्वामित्र के प्रति—गृद्यतामिति है भारत श्रीर पुत्र को बेंचकर जो कुछ यह धन मिला है उसे लीजिये। श्रीर हैं। न हजिये। श्रेष्ट प्रन किला है उसे लीजिये। न हुजिये। शेष धन के लिये में अपने को चाएडाल के हाथ भी बंच हैं। रूपिति—विशेष उर्दे रूपमिति—विशेष तर्फयुक्त वचन को रूप कहते हैं, जैसे रहावितीया राजा की उक्ति—मन इति—मन तो स्वमाव से ही अति उद्या और ही फिर काम ने एक तम स्वर कर कर का स्वमाव से ही अति उद्या फिर काम ने एकद्म सब बाणों से इसे कैसे वेध दिया !! उदाहरणिवित

यथा अरवत्थामाङ्को-

'यो यः शस्त्रं विभित्ते स्वभुजगुरुमदः पाएडवीनां चमूनां, यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा। यो यस्तत्कर्मसान्ती, चरति मिय रहे यश्च यश्च प्रतीपः क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमिह जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्॥'

मावतत्त्रीपलविधस्तु ऋमः स्यात्

यथा शाकुन्तले — 'राजा — स्थाने खलु विस्मृतनिमेषेण चलुषा पियामव-लोकयामि । तथाहि ।

'उन्नमितैकभृ्लतमाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः।
पुलकाञ्चितेन कथयति मय्यनुरागं कपोलेन॥'

संग्रहः पुनः ॥ ६७ ॥

सामदानार्थसंपन्नः

To The

FI

di

T

and the

1

18

यथा रतावल्याम्—'राजा—साधु वयस्य,इदं ते पारितोषिकम्। (इति कटकंददाति।)'
तिङ्गादूहोऽनुमानता।

यथा जानकीराघत्रे नाटके—'रामः— 'लीलागतैरिप तरङ्गयतो धरित्री-मालोकनैर्नमयतो जगतां शिरांसि ।

युक्त वचन को उदाहरण कहते हैं—जैसे वेणीसंहार के अश्वत्थामाङ्क में अश्व-त्थामा की उक्ति—यो यः—पाएडवों की सेना में भुजवल से दर्षित जो जो शक्ष-धारों है और पाञ्चाल (द्रुपदः) के वंश में जो भी है,—बचा हो, बुड्ढा हो, वाहे गर्म में स्थिन हो और जिस जिसने उस कर्म (द्रोणवध) में सलाह दी है या उसे देखा है एवं युद्ध में जो कं।ई भी मेरे सामने आयेगा,—वह चाहे स्वयं यमराज ही क्यों न हों, आज कोधान्ध में उन सबका अन्त कर दूंगा।

भावति—िकसी के भाव ( निर्विकातिमके चित्रे मानः प्रथमिविकिया ) का यथार्थ झान भाम करना 'कम' कहाता है । जैसे शाकुन्नल में स्थाने इति बड़े ठीक मीके पर प्रिया को निर्निमेष (इकटक) दृष्टि से देख रहा हूं। उन्नितिति मेरे लिये खोक के पद बनाती हुई इस कामिनी का यह मुखारिवन्द, जिसकी एक रेकिटी (विचार करते समय) कुछ ऊपर उठी है ग्रीर करोल पर रोमाञ्च हो रहा है ।

हो रहा है, मुभने इस के अनुराग को सूचिन कर रहा है।

संमह इति—साम और दान से सम्पन्न अर्थ को संमह कहते हैं। जैसे

राजावली में —साधुः। लिङ्गादिति —िकसी हेतु से कुछ जह करना बनुमान कहाता
है। जैसे जानकीराध्य में राम की उक्ति—जीविनि—सलीलगमन (उद्धन नहीं)
से भी पृथ्वी को किम्पत करना और दृष्टिपात से ही लोगों के सिर नीचे कर

तस्यानुमापयति काञ्चनकान्तिगौर्-कायस्य सूर्यतनयत्वमधृष्यतां च ॥'

रतिहर्षीत्सवानां तु प्रार्थनं प्रार्थना भवेत्॥ ६८॥

यथा रतावल्याम्—'प्रिये सागरिके,

'शीतांशुमु खमुत्पले तव दशौ पद्मानुकारौ करौ

रम्भास्तम्मनिमं तथोरुयुगलं बाहू मृणालोपमौ।

इत्याह्नादकराखिलाङ्गि रभसानिःशङ्कमालिङ्गच मा-

मङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराएये हा हि निर्वापय ॥'

इदं च पार्थनाख्यमङ्गम्, यन्मते निर्वहरा भ्तावसरत्वात्पशस्तिनामाङ्गं तन्मतातुसारेगोक्तम् । अन्यथा पञ्चषष्टिसंख्यत्वपसङ्गात् ।

रहर्रयार्थस्य तूद्भेदः क्षिप्तिः स्यात्

यथाश्वत्थामाङ्के-'एकस्यैव विपाकोऽयं दारुगो मुवि वर्तते । केशप्रहे द्वितीयेऽस्मिन्नूनं निःशेषिताः प्रजाः॥'

त्रो (तो ) दकं पुर

संरब्धवाक्र

यथा चगडकौशिके—'कौशिकः-ग्राः, पुनः कथमद्यापि न संमूताः स्वर्णदिका त्र**चिवलमभिसंघिच्छुलेन** यः॥ १६।

देना उस सुवर्णसदृश गौर बालक के सूर्यवंशी होने श्रौर दुर्दम होने के हैं। राति॰ -रित, हर्ष और उत्सवों के लिये अभ्यर्थना को प्रार्थना करते जैसे रताथ—शीतांगु॰ —हे प्रिये, तुम्हारा मुख चन्द्रमा है, नयन नीवन्न हाथ कमल के तुल्य हैं, ऊरुद्वय रम्भास्तम्भ के समान है और बाहू मुडीही हैं इस प्रकार तुम्हारे सभी अङ्ग शान्ति और श्रानन्द के दाता हैं। है भी आश्रो, शीघ्र श्रालिङ्गन करके मेरे कामताप से तप्त श्राही की शान्त की चेति यह प्रार्थना नामक श्रङ्ग उनके मतानुसार यहां गिनाया है, जी गतार्थं (भूतावसर) हो जाने के कारण, निर्वहणसन्धि में प्रशस्ति विक को नहीं मानते। जो लोग प्रशस्ति मानते हैं वे इसे नहीं मानते। सिन्ध्यों के श्रङ्ग पैंसठ हो जायेंगे । नाट्यशास्त्रानुसार पांची सिन्धि चौंसठ ही अङ्ग होने चाहियें।

रहस्येति —रहस्य के भेद को विंप्ति कहते हैं। जैसे वेणी० में प्रसीति कहते हैं। जैसे वेणी० में प्रसीति कार्या है। (द्रीपदी के) केशग्रह का तो पृथ्वी पर यह दाठ्य परिणाम हुआ है। इस दूसरे (द्रोणाचर्य के ) इस दूसरे (दोणाचार्य के) केशग्रह से तो प्रजा का समृत नाग है। त्रोटकमिति—ग्राधीर नागर्य त्रोटकांमति—प्रधीरतापूर्ण वचन को त्रोटक कहते हैं। जैसे चं की मार्थ भवीति छुत से किसी का अनुसन्धान करना ध्रविवर्ष कहताता। CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collecti

यथा रत्नावल्याम् — 'काश्चनमाला — भद्दिणि, इयं सा चित्तसालिश्चा। बसन्त-अस्स सएएां करोमि।' इत्यादि।

वृपादिजनिता भीतिरुद्वेगः परिकीर्तितः।

यथा वेएयाम्—

प्राप्तावेकरथारूढ़ौ पृच्छन्तौ त्वामितस्ततः। स'कर्णारिः स च क्रूरो वृककर्मा वृकोदरः॥'

शङ्काभयत्रासकृतः संभ्रमो विद्रवो मतः॥ १००॥

'कालान्तककरालास्यं क्रोधोद्भूतं दशाननम्। विलोक्य वानरानीके संभ्रमः कोऽप्यजायत॥'

अथ विमर्शाङ्गानि-

Ť

t

N

可

衸

dil

151

1

श्चपवादोऽथ संफेटो व्यवसायो द्रवो चुतिः। शिक्तः प्रसङ्गः खेदश्च प्रतिषेघो विरोधनम्॥१०१॥ प्ररोचना विसर्थे स्यादादानं छादनं तथा। दोषप्रख्यापवादः स्यात्

यथा वेष्याम्—'युधिष्ठिरः—पाञ्चालक, —किचदासादिता तस्य दुरात्मनः कौरव्यापसदस्य पदवी । पाञ्चालकः —न केवलं पदवी, स एव दुरात्मा देवीकेश-पाशस्पर्शपातकप्रधानहेतुरुपलब्धः ।'

संफेटो रोषभाषणम् ॥ १०२॥

यथा तत्रैव—'राजा—अरे रे मरुत्तनय, वृद्धस्य राज्ञः पुरतो निन्दितमप्यात्म-कर्म रलाघसे । शृशु रे,

रत्नावली में काञ्चनमाला की उक्ति—महिणि—'स्वामिनि, इयं सा वित्रशाला—वसन्तकस्य संबो करोमि' इत्यादि —यदां छल से राजा श्रीर विदूषक पकड़े गये हैं।

व्येति—राजा श्रादि से उत्पन्न भय को उद्देग कहते हैं। जैसे वेणीसंदार में — शासा॰—हे राजन्, एक रथ पर बैठे हुए, इधर उधर श्रापको पूछते हुए दोनों श्रापहुँचे। दुर्योधन— कौन कौन ?.....सूत—स इति—वह कर्ण का धातक शर्जुन श्रीर दुःशासन की द्याती फाड़नेवाला क्रूर मेड़िया मीमसेन। शहेति—राज्ञा, भय श्रीर त्रास से उत्पन्न संग्रम (प्रवशहर) को विद्रव कहते हैं। जैसे—राज्ञानकिति—।

विमर्शसनिध के अङ्ग — अपवाद इति — अपवाद, संफेट, व्यवसाय, द्रव, सुति, यिक्त, प्रसङ्ग, खेद, प्रतिषेध, विरोधन, प्ररोचना, आदान और खादन ये तेरह विमर्श के अङ्ग होते हैं। दोष कथन का नाम अपवाद है। जैसे वे॰सं॰में युधि॰ पादालकेस्यादि। संफेट इति — क्रोध मरे वचन को संफेट कहते हैं। जैसे वहीं — अरे मोम, वृद्ध राजा (धृतराष्ट्र) के सामने द्र क्या अपने निक्दनीय

'कृष्टा केशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य राइस्तयोवीं
प्रत्यक्षं भूपतीनां मम भुवनपतेराइया चूतदासी।
तिस्मन्वैरानुबन्धे वद किमपकृतं तैर्हता ये नरेन्द्रा
बाह्वोवींर्यातिभारद्रविणगुरुमदं मामजित्वैव दर्पः ॥'
'भीमः—(सक्रोधम्।) त्र्याः पाप । राजा—त्र्याः पाप ।' इत्यादि।
च्यवसायश्च विज्ञयः प्रतिज्ञाहेतुसंभवः।
यथा तत्रैत्र—'भीमः—
'चूरिंगताशेषकौरव्यः क्रीबो दुःशासनासृजा।
भङ्का दुर्योधनस्योवोंर्भामोऽयं शिरसा नतः ॥'

द्वो गुरुव्यतिक्रान्तिः शोकावेगादिसंभवा॥१०१
यथा तत्रैव—'युधिष्ठिरः—भगवन् कृष्णाप्रज सुमद्राभ्रातः,
ज्ञातिपीतिर्मनसि. न कृता, चित्रयाणां न धर्मों,
रूढं सख्यं तदिष गणितं नानुजस्यार्जुनेन।
तुल्यः कामं भवतु भवतः शिष्ययोः स्नेहबन्धः
कोऽयं पन्था यदिस विमुखो मन्दभाग्ये मिय लम्॥

कार्य की प्रशंसा करता है ? अरे मूर्ज, सुन — कृष्टेति — बीच समा में राजाबी सामने मुक्त भुवनेश्वर की आज्ञा से तुक्त पशु की और तेरे इस मार्ष (अर्जु न) की और उस राजा (युधिष्ठिर) और उन दोनों (नकुल, सहदेव) मार्या (द्रीपदी) के केश खेंचे गये ! उस वैर में मला बना तो सही, उन देवें राजाओं ने क्या बिगाड़ा था, जिन्हें तूने मारा है ? अरे, पौरुवरहा से स्मा दुर्योधन को विना जीते ही इतना घमएड करता है ? भीम — (क्रोध में मार्ष आ: पाप, राजा—आ: पाप इत्यादि।

ंग्वसाय इति —प्रतिज्ञा और हेतु से संभूत अर्थ को न्यवसाय कहते हैं के वहीं -भीमसेन—वृशितित —सब कौरवों को जिसने चूर्ण कर डाला है, हुआ के रुधिर से जो मत्त है और दुर्योधन की जंघाओं को जो तोड़नेवाला (ब्रावेश वह भीम आप (धृतराष्ट्र) को सिर से प्रणाम करना है। भीमसेन ने हुलें के ऊरु तोड़ने की प्रतिज्ञा की थी—उसका साधक (हेतु) अरोव की व्याप करना है। जिसने और सबको मार डाला, वह इसे कब छोड़नेवाली करना है। जिसने और सबको मार डाला, वह इसे कब छोड़नेवाली करना है।

वित्त शोक आवेग आदि के कारण गुरुओं का अतिक्रम करते ही कहते हैं। जैसे वहीं युधिष्ठिर —भगवन् इति —हे भगवन्, हे इन्लाप्र ज, हे प्रातः, — ज्ञातीति — आपने बान्ध जो (सुन्लादिकों) को प्रीतिका ध्यान नहीं वित्रों के धर्म की परवाद नहीं की। अपने छोटे भाई की मित्रता, जो अर्ध साथ चिर प्रकृढ थी, उसकी ओर भी ध्यान नहीं दिया। दोनी शिषां हुयों घन) पर आपका प्रेम भले ही समान हो, किन्तु मुक्त मन्द्रभाग्य के क्षा

तर्जनोद्वेजने प्रोक्ता चुतिः

यथा तत्रैव दुर्योधनं प्रति भीमेनोक्तम्—

(जन्मेन्दोर्विमले कुले व्यपदिशस्यद्यापि धत्से गदां

मां दुःशासनकोष्णशोणितमधुक्तीबं रिपुं मन्यसे । दर्पान्धो मधुकैटमद्विषि हरावप्युद्धतं चेष्टसे

द्यान्या नयुपाटनाष्ट्राय हरायन्युद्धत चष्टस

त्रासान्मे नृपशो विहाय समरं पङ्के ऽधुना लीयसे॥'

शक्तिः पुनर्भवेत्।

#### विरोधस्य प्रशमनं

यथा तत्रैव---

'कुर्वन्त्वाप्ता हतानां रणशिरिस जना विद्वसाहेहभारा-नश्रून्मिश्रं कथंचिद्दतु जलममी बान्धवा बान्धवेभ्यः। मार्गन्तां ज्ञातिदेहान्हतनरगहने खिष्डतान्गृधकङ्कै-रस्तं भास्वान्पयातः सह रिपुमिरयं संहियन्तां बलानि॥'

प्रसङ्गो गुरुकीतनम् ॥ १०४॥

यथा मृच्छ्रकटिकायां—'चाराडालः - एसो क्खु सागलदत्तस्स सुत्रो अजिवि-स्पदत्तस्स गित्तित्रो चालुदत्तो वावादितुं वज्कष्टागां गिज्जइ । एदेग किल गणित्रा वसन्तसेगा सुत्र्यगणोहेगा वावादिदत्ति ।

चारुदत्तः—

i in

) =

11

III (i)

if

18

A

d

<sup>५</sup>मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं य-त्सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात् ।

मेर डर के मारे कीच में छिपा पड़ा है।

शिक्तिरिति—विरोध के शमन को शिक्त कहते हैं। जैसे—कुर्वन्तिति—आसपुरुष,
रण में मरे अपने सम्बन्धियों के शरीरों को जलायें, बान्धव लोग अपने मृतबान्धवों को आंस् मिली जलाञ्जलि किसी तरह देवें। गिद्ध और कङ्कों से नोचे
हुए अपने बन्धुजनों के शरीरों को लोग मुद्रों से मरे रण में से, जैसे बने दूंढ
लें। इस समय स्थें और शत्रु दोनों अस्त हो गये। सेनाओं को इकट्टा करो।

श्मित्र इति—गुरुओं के वर्णन को प्रमन्न कहते हैं। जैसे मुच्छकटिक में चएडाल
की लिक

की उक्ति प्रति को नर्यान को प्रसन्न कहते हैं। जैसे मृज्ञ्चकाटक म चएडाय की उक्ति एसो 'एव खलु सागरदत्तस्य सुत प्रायं विश्वदत्तस्य पौत्रश्चाहदत्तो ज्यापादियतुं वध्यस्था-नं नीयते। एतेन किल गियका वसन्तसेना सुवर्यालोमेन ज्यापादिता'। मखेति स्तिकड़ों यह करने से पवित्र मेरा गोत्र जो सभा में ब्रह्मवादी ब्राह्मणों के द्वारा उचारित

मम निधनदशायां वर्तमानस्य पापै-स्तदसदृशमनुष्यैघु ष्यते घोषणायाम् ॥' इत्यनेन चारुदत्तवधाम्युदयानुकूलपसङ्गाद् गुरुकीर्तनमिति प्रसङ्गः। मनरचेष्टाममुत्पन्नः अमः खेद इति स्मृतः।

मनःसमुत्पन्नो यथा मालतीमाधवे---'दलति हृदयं गाढोद्देगो, द्विधा न तु भिद्यते बहति विकलः कायो मोहं, न मुञ्जति चेतनाम्। ज्यलयति तनुमन्तर्दाहः, करोति न भस्मसा-त्पहरति विधिर्मर्मच्छेदी, न कुन्ति जीवितम्॥

एवं चेष्टासमुत्पनोऽपि ।

ईप्सितार्थप्रतीघातः प्रतिषेघ इतीष्यते ॥ १०५॥ यथा मम प्रभावत्यां विदूषकां पति पद्युम्नः — 'सखे, कथिमह त्वमेकाकी क क नु पुनः पियसखीजनानुगम्यमाना प्रियतमा मे प्रभावती । विद्वकः - न वइगा त्रात्रारित्र कहिं वि गादा। प्रशुक्तः—(दीर्वे निश्वस्य।) 'हा पूर्णचन्द्रमुखि मत्तचकोरनेत्रे

मामानताङ्कि परिहाय कुतो गतासि । गच्छ त्वमद्य ननु जीवित तूर्गामेव दैवं कदर्थनपरं कृतकृत्यमस्तु ॥'

कार्यात्ययोपगमनं विरोधनमिति स्मृतम्। यथा वेएयाम्—'युधिष्ठिरः—

होता था वह आज मेरे मरन के समय पापवश बुरे आदिमियों ( बाही के द्वारा घोषणा पर कहा जाता है। यहां चारुद्त का वध और गा अभ्युद्य प्रसङ्ग में गुरुकीर्त्तन होने से यह 'प्रसङ्ग' नामक अङ्ग है। मन होते —मानसिक या शारीरिक व्यापार से उत्पन्न श्रम को हेर्द करि मन से उत्पन्न खेद का उदाहरण जैसे मालतीमाधव में —दलतीति—प्रगाहती युक्त हृद्य, दुखी होताहै, किन्तु फट नहीं जाता, विकल शरीर मोह (ह में फँसता है, किन्तु चैतन्य को सदा के लिये नहीं छोड़ देता; अन्य सन्ताप देह को द्ग्ध करता रहता है, किन्तु भस्म नहीं कर देता है। दुर्वेव मर्मवेश्वक प्रहार तो करता है, पर प्राण नहीं ले लेता। शारीरिक श्रम का भी उदाहरण जानना।

र्रिभितेति—ग्रमीष्ट वस्तु के प्रतीघात ( विच्छेद ) को प्रतिदेव कार्या गावतोमें-संखे इत्याञ्चि प्रभावतोमें - सखे इत्यादि — विदूषक: — असर-असरपतिना आकार्य कृत्रापिका कार्य के अत्यय ( किन्न ) कार्य के ग्रत्यय (विद्न ) का उपगमन (ज्ञापन) 'विरोधन' कार्य जैसे वे० सं० में —

जैसे वे॰ सं॰ में -

श्तीर्णे भीष्ममहोदधी, कथमपि द्रोणानले निवृते
कर्णाशीविषभोगिनि पशमिते, शल्ये च याते दिवम् ।
भीमेन पियसाहसेन रभसादल्पावशेषे जये
सर्वे जीवितसंशयं वयममी वाचा समारोपिताः ॥'
प्रशेचना तु विज्ञेपा संहारार्थप्रदर्शिनी ॥ १०६॥

यथा वेएयाम्—'पाश्चालकः—अहं देवेन चक्रपाणिना सहितः (इत्युपक्रम्य)

कृतं सन्देहेन ।

'पूर्यन्तां सिललेन रत्नकलशा राज्याभिषेकाय ते,

कृष्णात्यन्तिचरोज्मिते तु कवरीवन्धे करोतु ज्ञ्णम् ।

रामे शातकुठारभास्वरकरे ज्ञत्त्रद्भुमोच्छेदिनि,

क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कृतः संशयः ॥'

कार्यसंग्रह आदानं

eg (

यथा वेष्याम्—'भो भोः स्यमन्तपञ्चकसंचारिणः,
नाहं रचो, न भूतो, रिपुरुधिरजलाह्नादिताङ्गः प्रकामं
निस्तीर्णोरुपतिज्ञाजलनिधिगहनः क्रोधनः चित्रयोऽस्मि ।
भो भो राजन्यवीराः समरशिखिशिखाभुक्तशेषाः, कृतं वस्त्रासेनानेन, लीनैईतकरितुरगान्तिईतैरास्यते यत् ॥'
अत्र समस्तिरिपुवधकार्यस्य संगृहीतत्वादादानम् ।

तदाहुरछादनं पुनः।

ते जैति—भीष्मकप महासागर पार कर लिया और द्रोणकप भयानक अग्नि, जैसे तैसे शान्त कर दिया, कर्णकप विषधर भी मार डाला गया और शल्य भी स्वर्ग चला गया। अब विजय थोड़ा ही शेष रहा था कि साहसी भीम ने अपनी बात से हम सबको प्राणसंशय में डाल दिया।

प्रश्चिनिति—अर्थ के उपसंद्वार को दिखाना प्रश्चिना कहाता है। जैसे वे॰ सं॰ में पाञ्चालक—प्रदं देवेनेत्यादि ।—पूर्यन्ता मिति—हे युधिष्ठिर, आपके राज्याभिषेक के लिये रजकत्वश भरे जायँ और द्रौपदी बहुत दिनों से छोड़े हुए अपने केश-गुम्फन का उत्सव करे। क्तियों के उच्छेदक परशुराम और क्रोधान्ध भीम के रण में पहुँचने पर फिर विजय में सन्देद ही क्या है ?

कार्यति—कार्य के संग्रह को बादान कहते हैं। जैसे वे० सं० में—नाहं रहः—में राज्ञस नहीं हूं, भूत नहीं हूं, किन्तु रात्रु के रुधिरजलसे ब्राह्मादितः, पूर्ण महा-मित्र को ची चित्रय हूं। समरारिन की ज्वाला से बचे हुए हे राजालोगो, हरो मत, मरे हुए हाथी घोड़ों के नीचे क्यों दुबकते हो? बनेति—यहां सम्पूर्ण शत्रु को का वध संगृहीत किया है. अतः यह 'आदान' है। तदाहुतिति—अपने कार्य की सिद्धि

कार्यार्थमपमानादेः सहनं खलु यद्भवेत्॥ १०७॥ यथा तत्रैव--'अर्जुनः-अर्थः,

'अपियाणि करोत्येष वाचा, शक्तो न कर्मणा। हतभातृशतो दुःखी प्रलापैरस्य का व्यथा॥'

अय निर्वहणाङ्गानि— संधिर्विबोधो प्रथनं निर्णयः परिभाषणम्। कृतिः प्रसाद आनन्दः समयोऽप्युपग्रहनम्॥१०६॥ भाषणं पूर्ववाक्यं च काट्यसंहार एव च। प्रशस्तिरिति संहारे ज्ञेयान्यङ्गानि नामतः॥१०६॥

तत्र—

बीजोपगमनं संधिः

यथा वेएयाम्—'भीमः—भवति यज्ञवेदिसंभवे, स्मरति भवतीयन्मयोक्तम् चक्रद्भुज-' इत्यादि । अनेन मुखे चिप्तबीजस्य पुनरुपगमनमिति संधिः। विविधः कार्यमार्गणमः।

यथा तत्रैव—'भीमः मुञ्जतु मामार्यः चर्णमेकम् । युधिष्ठिरः—िकेकः विशिष्टम् । भीमः—सुमहदवशिष्टम् । समापयामि तावदनेन सुयोधनशोणिते । पाणिना पाञ्चाल्या दुःशासनावकृष्टं केशहस्तम् । युधिष्ठिरः—गञ्चतु भा अनुभवतु तपस्विनी वेणीसंहारम्' इति । अनेन केशसंयमनकार्यस्यान्वेषणादिवोः

उपन्यासस्तु कार्याणां ग्रथनं

यथा तत्रैव—'भीमः—पाञ्चालि, न खलु मिय जीवित संहर्तव्या दुःशानि विलुलिता वेणिरात्मपाणिभ्याम् । तिष्ठ, स्वयमेवाहं संहरामि' इति । क्रिं कार्यस्योपच्चेपाद्ग्रथनम् ।

के लिये अपमानादि के सहन करने को, बादन कहते हैं। जैसे वे॰ संभी अर्जुन की उक्ति भीम के प्रति—श्रिथेति—हे आर्य, यह वाणीमात्र से कि कर रहा है—कार्य से तो हमारा कुछ अप्रिय कर नहीं सकता। इसके सीम मारे गये हैं, दुःखी है, इसकी बकताद से आप क्यों विचित्त होते हैं।

निर्वहणसन्धि—प्रान्धिति —सन्धि, विबोध, प्रथन, निर्णय, परिभाष्ण मिसाद, श्रानन्द, समय, उपगृहन, भाषण, पूर्ववाक्य, कार्यसंहर प्रशस्त ये चौद्द निर्वहणसन्धि के श्रङ्ग होते हैं। बीजेति — बीजभूत प्रयहित प्रशस्त ये चौद्द निर्वहणसन्धि के श्रङ्ग होते हैं। बीजेति — बीजभूत प्रयहित प्रशस्त को सन्धि कहते हैं। जैसे वे० सं० भीम—भवित हत्यादि। बीजे यहां मुख-सन्धि में कहे हुए बीज का फिर से उपगमन किया है। यहां मुख-सन्धि में कहे हुए बीज का फिर से उपगमन किया है। सन्धिनामक श्रङ्ग है। कार्य के श्रन्वेषण को विबोध कहते हैं — जैसे — प्रश्न को यहां केश-संयमनद्भप कार्य का श्रन्वेषण है। कार्यों के प्रधन को कहते हैं। जैसे —पाधालीति —यहां कार्य का उपन्तेष किया है।

# निर्णयः पुनः ॥ ११०॥

अनु भूत। धेकथनं

यथा तत्रैव—'भीमः—देव अजातशत्रो, अद्यापि दुर्योधनहतकः। मयाहि तस्य दुरात्मनः

भूमौ शिप्तं शरीरं, निहितमिदमसृक् चन्दनामं निजाङ्गे, लद्दमीरार्ये निषिक्ता चतुरुदिधपयःसीमया सार्धमुर्ग्या। भृत्या मित्राणि योधाः कुरुकुलमनुजा दग्धमेतद्रणाग्नौ, नामैकं यद् त्रवीषि चितिप तद्युना धार्तराष्ट्रस्य शेषम्॥

वद्नित परिभाषणम्।

परिवादकृतं वाक्यं

I

4-

W.

H.

ोव

IF

ìé

P

यथा शाकुन्तले — 'राजा — आर्ये, अथ सा तत्रभवती किमाख्यस्य राजर्षेः पत्नी। तापसी — को तस्य धम्मदारपरिष्टाइणो णामं गेरिहस्सदि।'

लब्धार्थशमनं कृतिः ॥ १११ ॥

यथा वेण्याम् — 'क्कुडणः — एते भगवन्तो व्यासवाल्मीकिपभृतयोऽभिषेकं धारयन्तिस्तिष्ठन्ति' इति । अनेन पातराज्याभिषेकमङ्गलैः स्थिरीकरणं कृतिः ।

गुश्रूषादिः प्रसादः स्याद्

यया तत्रैव भीमेन द्रौपद्याः केशसंयमनम्

श्रानन्दो चाञ्छितागमः।

यथा तत्रैव — 'द्रौपद्री — विसुमरिदं एदं वावारं गाधस्स पसादेग पुणो वि सिक्खिस्सम् ।'

निर्णय इति—अनुभूत अर्थ के कथन को निर्णय कहते हैं। जैसे भीम—देवे-त्यादि—भूमी—हे देव, मैंने उस दुरात्मा (दुर्योधन) का शरीर भूमि में फॅक दिया और यह लाल चन्दन के तुल्य उसका रुधिर अपने देह में लगा लिया। चतुःसमुद्रान्त पृथ्वी और उसकी लक्ष्मी आपको अर्पण कर दी। उसके मृत्य, मित्र योधा और सम्पूर्ण कुरुवंश—रणागिन में भस्म कर दिये। अब तो उस दुष्ट का केवल नाम ही बचा है जो आप ले रहे हो।

निन्दायुक्त वाक्य को परिमाषण कहते हैं। जैसे शाकुन्तल में राजा—आर्ये रियादि। तापसी—को तस्सेति —कस्तस्य धर्मदारपरित्यागिनो नाम प्रहांष्यति। लब्बेति — प्राप्त किये अथाँ के द्वारा शोकादि के शमन को कृति कहते हैं (लब्बेर्यैः शमनं गोकादेः) जैसे वे० सं० में कृष्ण —एते — इति —यहां राज्याभिषेक की प्राप्त से रियरता स्चित की है। गुश्रूषा आदि को प्रसाद कहते हैं। जैसे भीम का द्रौपदी के केश बांधना। धानन्त इति — अभी छ वस्तु की प्राप्ति को आनन्त कहते हैं। जैसे मौपदी —विस्मृतमेतं व्यापारं नाधस्य प्रसादन पुनरपि शिक्षिये।

समयो दुःखनियां एं यथा रतात्रल्याम् — 'वासवद्ता- (रतावर्जामा जिङ्गच) समस्सस विशे समस्सस।' तद्भवेदुपग्रहनम्॥ ११२॥

यत्स्याद् झुत संप्राप्तिः

यथा मम प्रभावत्यां नारददर्शनात्पद्युम्न ऊर्ध्वमवलोक्य--'दधद्विद्यु क्लोखामिव कुसुममालां परिमल-भ्रमद्भुङ्गश्रेगाध्विनिभिरुपगीतां तत इतः।

दिगन्तं ज्योतिर्भिस्तुहिनकरगौरैर्धवलय-नितः कैला्साद्रिः पतित वियतः कि पुनरिदम्॥

सामदानादि भाषण्य।

यथा चएडकौशिके-- 'धर्मः - तदेहि, धर्मलोक्तमधितिष्ठ।' पूर्ववाक्यं तु विज्ञेयं यथोकार्थोपदर्शनम्॥ ११३॥ यथा वेएयाम् — 'भीमः — बुद्धिमितके, क सा भानुमती। परिमक्तु हैं

पाण्डवदारान्।'

वरप्रदानसंप्राप्तिः काव्यसंहार इष्यते । यथा सर्वत्र—'किं ते भ्यः पियमुपकरोमि।' इति।

चुपदेशादिशान्तिस्तु प्रशस्तिरभिधीयते ॥ ११४॥

यथा मभावत्याम्-

'राजानः सुतनिर्विशेषमधुना पश्यन्तु नित्यं प्रजा जीयासुः सदसद्वित्रेकपटवः सन्तो गुण्पप्राहिणः।

समय इति — दुःख निकल जाने को समय कहते हैं। जैसे रत्नावली में वर्ष दत्ता—समस्तिति—समाश्विसिहि मिगिनि, समाश्विसिहि। तदिति—अद्भुत वस् प्राप्तिको उपग्रहन कहते हैं। जैसे प्रभावती में नारद को देखकर प्रमुख दशदिति – गन्ध से प्रस्त भूमर जिसके चारों श्रोर घूम रहे हैं, विद्युत्के उस माला को धारण किये हुए और श्वेत किरणों से दिशाश्रों की क्ष हुए क्या यह कैलास पर्वत इस स्रोर स्रा रहा है ? फिर यह है क्या !। साम, दान ग्रादि को सावण कहते हैं। जैसे चएडकौशिक में धर्म आश्रो धर्मलोक में विराजो। पूर्वोक्त श्रर्थ के उपदर्शन को पूर्वनिष्की जैसे वेश्वर की प्राप्त की प्र जैसे वे॰सं॰ में भीम—बुद्धिमितके, कहाँ है वह भातुमिती ? (हुर्योधित की प्रकार के प्रकार के स्वाहित की स्वाहित क अब पाएडवों की पत्नी (द्रौपदी) का पराभव करे! वरदान की प्राप्ति काव्यसंहार है। कैसे करी काल्यसंहार है। जैसे सभी नाटकों में होता है। तृपेति—तृप भीर है। शान्ति को प्रशस्ति कहते हैं। जैसे प्रभावती में न्यान इति प्रव सन्तान की तरह प्रजा को देखें। गुण्याही विवेकी पुरुष उन्नत हो। सस्यस्वर्णसमृद्धयः समधिकाः सन्तु चमामण्डले भ्यादन्यभिचारिणी त्रिजगतो भक्तिरच नारायणे॥

अत्र चोपसंहारप्रशस्त्योरन्त एतेन क्रमेणैव स्थितिः। 'इह च मुखसंधौ उपच प्रमुक्तरपरिन्यासयुक्तयुद्धेदसमाधानानां, प्रतिमुखे च परिसर्पणप्रगमनवन्नोपन्यास-पुष्पाणां, गर्भेऽभूताहरणमार्गत्रो(तो)टकाधिवलचेपाणां, विमर्शेऽपवादशिकव्यवसाय-प्रतिचतादानानां प्राधान्यम्। अन्येषां च यथासंभवं स्थितिः' इति केचित्।

चतुः षष्टिविधं ह्येनदङ्गं प्रोक्तं मनीषिभिः। कुर्याद्वियते तस्य संधाविष निवेशनम्॥ ११५॥ रसानुगुणनां वीच्य रसस्यैव हि सुख्यता।

यथा वेग्रीसंहारे तृतीयाङ्के दुर्योधनकर्णयोर्महत्संमधारणम् । एवमन्यदिष । यतु हृद्रादिभिः 'नियम एव' इत्युक्तं तल्लद्दयविरुद्धम् ।

इष्टार्थर बनाश्चर्यका भो वृत्तान्तविस्तरः ॥ ११६ ॥ रागपाप्तिः प्रयोगस्य गोप्यानां गोपनं तथा। प्रकाशनं प्रकाश्यानामङ्गानां षड्विषं फलम् ॥ ११७ ॥ श्रङ्गहीनो नरो यद्वज्ञैवारम्भन्तमो भवेत्। श्रङ्गहीनं तथा काव्यं न प्रयोगाय युज्यते ॥ ११८ ॥

धन धान्य बढ़े और सबकी मिक्क भगवान् नारायण में हो। धनेति यहां अन्त में उपसंहार और प्रशस्ति की स्थिति इसी क्रम से होती है।

रह नेति—इन श्रङ्गों में से मुखसिन्ध में उपन्तेप,परिकर,परिन्यास,युक्ति,उन्हेर श्रीर समाधान की प्रधानता होती है। प्रतिमुख में परिसर्पण शगमन, वज, उपन्यास और पुष्प की, गर्भ में श्रभूताहरण, मार्ग, त्रोटक, श्रधिवल श्रीर चेप की, विमर्श में श्रपवाद्शिक्त, उपवसाय, प्ररोचना श्रीर श्रादान की प्रधानता होती है। श्रीर शेष श्रङ्गों की, यथासम्भव स्थिति होती है, यह कोई लोग मानते हैं।

चतुःषष्टीति—इन चौसठ श्रङ्गों में से रस के अनुसार अन्य सिंघ के अङ्गों का अन्यत्र भी निवेश हो सकता है, क्योंकि रस की ही प्रधानता मानी गई है। जैसे वे०सं० के तीसरे श्रङ्क में मुखसिन्ध का श्रङ्गभूत सम्प्रधारण (संप्रधारण-मर्थानां गुक्तः) कर्ण और दुर्योधन की बातचीत में दिखाया है। इसी प्रकार और भी जानना।

यन कदर। दिकों ने इन श्रङ्गों के विषय में जो यह कहा है कि 'नियम एव' अर्थात् ये सब यथास्थान नियत होने चाहियें सो तक्ष्य के विरुद्ध है। डर्ग-

इरणों में इसके विपरीत देखा जाता है। अक्नों का फल बताते हैं —इष्टेति—अभीष्ट वस्तु की रचना, आइचर्य (चमत्कार) की माप्ति, कथा का विस्तार, अनुराग की उत्पत्ति, प्रयोग के गोपनीय अंशों का गोपन और प्रकाशनीयों का प्रकाशन यह छुद्द प्रकार का अक्नों का फल होता है। जैसे अक्नदीन मनुष्य काम करने योग्य नहीं होता इसी प्रकार अक्नदीन काव्य संपादयेतां संध्यक्तं नायकप्रतिनायकौ । तद्भावे पताकाचास्तद्भावे तथेतरत् ॥ ११६ ॥ प्रायेण प्रधानपुरुषप्रयोज्यानि संध्यङ्गानि भवन्ति । किंतु पत्तेपादित्रयं की

ल्पमात्रसमुद्दिष्टत्वादमधानपुरुषमयोजितमेव साधु ।

रसव्यक्तिमपेद्येषामङ्गानां संनिवेशनम्।

न तु केवलया शास्त्रस्थितिसंपादनेच्छ्या ॥ १२०॥ तथा च यद्वेषयां दुर्योधनस्य भानुमत्या सह विपलम्भो दर्शितः, तत्ताहरोक्षः ऽत्यन्तमनुचितम् ।

अविरुद्धं तु यद् वृत्तं रसादिव्यक्तयेऽधिकम्। तद्प्यन्यथयेद्धीमान्न वदेद्वा कदाचन ॥ १२१॥

अनयोरुदाहरणं सत्पबन्धेष्वभिव्यक्तमेव । अथ वृत्तयः—

शृक्षारे कैशिकी, बीरे सान्वत्यारभटी पुनः।
रसे रौद्रे च बीभत्से, वृत्तिः सर्वत्र भारती॥ १२२॥
चतस्रो वृत्तयो ह्येताः सर्वनाट्यस्य मातृकाः।
स्युनीयकादिव्यापारविशेषा नाटकादिषु॥ १२३॥

प्रयोग के योग्य नहीं होता। सिन्ध के अङ्गों का नायक और प्रतिनायक समान करें। उनके अभाव में पताकानायक और उनके अभाव में अन्य सम्पादन के प्रायेणोंते—सिन्ध के अङ्ग प्रायः प्रधानपुरुषों के द्वारा प्रयोग करने योगों हैं, किन्तु प्रचेप, परिकर और परिन्यास इन तीनों में बीजभूत अर्थ अन्य अल्प रहता है, अतः इनका अपधानपुरुषों के द्वारा ही प्रयोग ठीक रहती रसिति—इन अङ्गों की स्थापना रसव्यक्ति के अनुसार ही होनी चाहिये। हैं। रसिति—इन अङ्गों की स्थापना रसव्यक्ति के अनुसार ही होनी चाहिये। हैं। यास्त्र की मर्यादा बतलाने के लिये नहीं। जो लोग प्रतिमासम्पन्न कि वाहिये। अङ्गों का यथाकम पालन करके कुछ लिख दें तो वह नाटक त्राये सकेगा। और सत्कवियों को भी रस के अनुसार ही अङ्गों का निवेध का चाहिये। अङ्गों के निवेश के अनुसार सदा रसव्यक्ति न हो सकेगी।

श्रिवरद्विमिति—जो वृत्तान्त श्रिवरुद्ध श्रधीत् इतिहास से विरुद्ध तहीं अपित है —िकन्तु रसादि की व्यक्षना में वह श्रधिक पड़ता है, श्रवावर्षी या प्रतिकृत पड़ता है, —युद्धिमान् किव को चाहिये कि उसे भी बद्दी वितक्कित उसे कहे ही नहीं। इसके उदाहरण—महावीरचरिताहि में प्रतिकृत श्रव विकर्ण — र

तत्र कैशिकी-

या श्वद्यानेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंकुवा पुष्कवतृत्यगीता। कामोपभागप्रभवोपचारा सा कैशिकी चारु विलासयुका ॥१२४॥ नर्भ च नर्भस्फूर्जों नर्भस्फोटोऽथ नर्भगर्भरच। चत्वार्यङ्गान्यस्या

तत्र—

वैद्ग्ध्यक्रीडितं नर्म ॥ १२५ ॥ इष्टजनावर्जनकृत्तचापि त्रिविधं मतम्।

विहितं शुद्धहास्येन सश्रुङ्गारभयेन च॥ १२६॥

तत्र केवलहास्येन विहितं यथा रत्नावल्याम् 'वासवदत्ता-( फलकमुद्दिरव सहासम्।) एसा वि अवरा तव समीवे जधा लिहिदा एदं कि अजवसन्तस्स विष्णाणम् ।

शृङ्गारहास्येन यथा शाकुन्तले—राजानं प्रति 'शकुन्तला—असंतुद्वो उर्ण किं करिस्सदि । राजा-इदम् । ( इति व्यवसितः । शकुन्तका वक्त्रं ढौकते । )

सभयहास्येन यथा रत्नावल्याम् — त्रालेख्यदर्शनावसरे 'सुसंगता — जाखिदो गए एसो वुत्तन्तो समं चित्तफलएए। ता देवीए गढुअ निवेदइस्सम्।'

एतद्वाक्यसंबन्धि नर्मोदाहृतम् । एवं वेषचेष्टासंबन्ध्यपि । नर्मस्फूर्जः सुखारम्भो भयान्तो नवसंगमः।

कादि में वृत्ति कहते हैं। कैशिकी-या श्वच्येति - जो मनोरक्षक नेपथ्य (नायकादि की वेषरचना ) से विशेष चमत्कारिणी हो, स्त्रीगण से व्याप्त तथा नृत्य, गीत से परिपूर्ण हो, एवं जिसका उपचार कामसुलमोग का उत्पादक हो अर्थात् जिसके अङ्गों से श्रङ्गाररस की व्यक्ति होती हो वह रमगीय विलासों से युक्त वृत्ति कैशिकी कहाती है। नर्मेति—इसके चार श्रङ्ग होते हैं—नर्म, नर्मस्पूर्ज, नर्मस्फोट और नर्मगर्भ। उनमें चतुरतापूर्ण कीडा का नाम नर्म है। इससे प्रमीजनों का चित्त आकर्षित होता है। यह तीन प्रकार का होता है। एक केवल हास्य के द्वारा चिहित, दूसरा श्टकारयुक्त हास्य के द्वारा और तीसरा भययुक्त हास्य के द्वारा विहित । उनमें केवल हास्य से विहित नर्भ जैसे रहा-वली में वासवदत्ता की उक्ति एसा वि-एवापि अपरा तव समीपे यथा विखिता, प्रतिक्रमार्थवसन्तस्य विज्ञानम् । श्रृङ्गार्युक्त हास्य से जैसे शाकुन्तल में शकुन्तला— वसंतुही असंतुष्टः पुनः किं करिष्यति ? इत्यादि । मययुक्त हास्य जैसे रत्नावली में-स्तंगता जाति है । के कार्रव्यात : इत्यादि । सम्बुत्त पान निवेदियिष्यामि । क्षित्र जाति । तद्देव्ये गत्वा निवेदियिष्यामि । क्षित्र क्ष प्रविति यह वाक्यसम्बन्धी नर्म का उदाहरण है—इसी प्रकार वेष और वेष्टामस्बन्धी नर्म का भी उदाहरण जानना।

नर्मसूर्ण रिति—-श्रारम्भ में सुखकर श्रीर श्रन्त्य में भयदायक नवीनसमागम की

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यथा मालविकायाम् — संकेतमभिसृतायां 'नायकः — विसृज सुन्दरि संगमसाध्वसं ननु चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे । परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितं मिय ॥'

मालविका महा, देवीए भएगा अप्पणो त्रि पित्रं कउं ण पारेमि।'इलाहि। अथ नर्मस्फोटः —

नर्मस्कोटो भावलेशैः सुचितालपरसो सतः॥ १२७॥

यथा मालतीमाधवे-

'गमनमलसं शून्या दृष्टिः शरीरमसौष्ठवं श्वसितमधिकं किं न्वेतत्स्यात्किमन्यदितोऽथवा । भ्रमति भुवने कन्दर्पाज्ञा विकारि च यौवनं लिलतमधुरास्ते ते भावाः चिपन्ति च धीरताम् ॥'

अलसगमनादिभिर्भावलेशैर्माधवस्य मालत्यामनुरागः स्तोकः प्रकाशितः।

नर्मगर्भी व्यवहृतिनेतुः प्रच्छन्नवर्तिनः।

यथा तत्रैव सखीरूपधारिणा माधवेन मालत्या मरणव्यवसायवारणम्। अथ सात्त्वती—

सान्वती बहुला सन्वशीर्यत्यागद्यार्जवैः ॥ १२८॥ सहषी क्षुद्रश्रङ्कारा विशोका साङ्कुता तथा । उत्थापकोऽथ सांघात्यः संलापः परिवर्तकः ॥ १२६॥ विशेषा इति चत्वारः सान्वत्याः परिकीर्तिताः । उत्तेजनकरी शत्रोवीगुत्थापक उच्यते ॥ १३०॥

नमंस्क्रुनं कहते हैं। जैसे मालविकानिमित्र में संकेतस्थान में श्रिमसृत मार्व विका के प्रति राजा की उक्ति—विस्जेति—इसके उत्तर में 'मालविका' महा—मर्तः, देव्या मयेन श्रात्मनोपि प्रियं कर्तुं न पारयामि।

नमंस्तोर इति—थोड़े थोड़े प्रकाशितभावों से जिसमें कुछ कुछ शृंगारित स्वित हो उसे नमंस्तोर कहते हैं। जैसे मालतीमाधव में—गमनिति—गो श्रवस गमनादिक भावलेशों से माधव का मालती में किंचित अर्गी स्वित होता है।

नर्मगर्म इति—प्रच्छन्न रूप से वर्तमान नायक के व्यवहार को नर्मगर्म करते।
यथेति—जैसे वहीं सखी के स्थानापन्न माधव का मालती को मर्गाव्यवस्थि
रोकना। सास्त्रतीति—सस्त्व, (बल) शूरता, दान, द्या, ऋजुता और हर्ष ते अ
यत्किञ्चत् श्रङ्गारवाली, शोकरहित अद्भृत रस्युक्त वृत्ति को सार्विती कर्ते।
इसके चार अङ्ग हैं—उत्थापक सांधात्यक संत्राप्त और परिवर्तक। इसके चार अङ्ग हैं—उत्थापक सांधात्यक संत्राप्त और परिवर्तक। इसके उत्थापक सांधात्यक संत्राप्त अपनिवर्तक। इसके चार अङ्ग हैं—अत्थापक सांधात्यक संत्राप्त अपनिवर्तक। इसके चार अञ्चलक सांधात्यक सांधात्य

यथा महावीरचरिते—

'आनन्दाय च विस्मयाय च मया दृष्टोऽसि दुःखाय वा - वैतृष्यं तु कुतोऽद्य संप्रति मम त्वइर्शने चतुषः। यन्माङ्गल्यसुखस्य नास्मि विषयः किं वा बहुव्याहृतै-रिस्मिन्विस्मृतजामदग्न्यविजये बाह्रौ धनुर्जुम्भताम्॥

मन्त्रार्थदेवशकत्यादेः सांघात्यः संघभेदनम्।

मन्त्रशक्त्या यथा मुद्राराच्त्से राच्त्ससहायानां चार्याक्येन स्वबुद्ध्या मेदनम्। अर्थ-शक्त्यापि तत्रैव । दैवशक्त्या यथा रामायणे रावणाद्विभीषणस्य मेदः।

संबापः स्याद्गभीरोक्तिनीनाभावसमाश्रया॥ १३१॥

यथा वीरचरिते— 'रामः— अयं सयः किल सपरिवारकार्त्तिकेयविजयावर्जितेन भगवता नीललोहितेन परिवर्त्सरसहस्रान्तेवासिने तुम्यं प्रसादीकृतः परशुः। परशुरामः --राम दाशरथे, सृ एवायमाचार्यपादानां प्रियः परशुः ।' इत्यादि ।

प्रारव्यादन्यकार्याणां करणं परिवर्तकः।

यथा वेएयाम्—'भीक्षः—सहदेव, गच्छ त्वं गुरुमनुवर्तस्व। अहमप्यस्नागारं गिवरयायुधसहायो भवामीति । ऋथवा ऋामन्त्रयितव्यैव मया पाञ्चाली' इति । श्रथारभटी-

मायेन्द्रजालसंग्रामकोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः॥ १३२॥ संयुक्ता वधबन्धाचैरुद्धतारभटी मता। वस्तुत्थापनसंफेटौ संचित्रिरवपातनम् ॥ १३३॥

को उत्तेजन देनेवाली वाणी को उत्थापक कहते हैं। जैसे — महाबीरचरित में भीतामचन्द्र के प्रति 'श्रानन्दाय च विस्मयाय च' इत्यादिक परशुराम की उक्ति। भनेति पन्त्रशक्ति, अर्थशक्ति और दैवशक्ति आदि से किसी समुद्राय के भीड़ने को सांघात्य कहते हैं। मन्त्रशक्ति श्रीर श्रर्थशक्ति से जैसे मुद्राराज्ञस में विस के सहायकों का चाण्क्य की बुद्धि के द्वारा भेदन। दैवशक्ति से जैसे पियण में रावण से विभीषण का विरोध। संवाप इति—प्रनेक भावों की प्राथय-भूत गमीरोक्ति को संवाप कहते हैं। जैसे महावीर चरित में राम की उक्ति— भाषित अञ्जा! यह वह पर्यु है, जो गर्गोसहित कार्त्तिकेय को जीत लेने से अष्डा!यह वह परशु है, जो गर्णासाहत कारिए। को दिया था। पित्राम शङ्कर ने हज़ारों वर्ष के पुराने विद्यार्थी (स्नाप) को दिया था। रियाम हों, राम, दाशरथे, यह वही गुरुजी महाराज का परशु है।

पाल्यादिति—आरब्ध कार्य से अन्य कार्य के करते की परिवर्तक कहते हैं। वैषे वें सं भाम सहदेवेत्यादि —यहां 'श्रयवा' से कार्य बदल दिया। श्रारमटी कि भागाति—माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उत्प्रान्त चेष्टायं, वध और भाषात माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उत्प्राप्त के सी चार अक्र से संयुक्त उद्धत वृत्ति को श्रारमटी कहते हैं। इसके सी चार अक्र CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इति भेदास्तु चत्वार आरभट्याः प्रकीर्तिताः। मायाद्यत्थापितं वस्तु वस्तूत्थापनसुच्यते ॥ १३४॥

यथोदात्तराघव

'जीयन्ते जियनोऽपि सान्द्रतिमिरत्रातैर्वियद्वचापिमि-र्भास्वन्तः सकला खेरपि कराः कस्मादकस्मादमी। एते चोप्रकबन्धकएठंरुधिरैराध्मायमानोदरा मुञ्चन्त्याननकन्दरानलमुचस्तीत्रान् रवान् फरवाः ॥' इत्याहि।

संफेटस्तु समाघातः कुद्धसत्वरयोद्धयोः।

यथा मालत्यां माधवाघोरघएटयोः ।

संचित्रा वस्तुरचना शिल्पैरितरथापि वा ॥ १३५॥ संचितिः स्यानिवृत्तौ च नेतुर्नेत्रन्तरग्रहः।

यथोदयन्चरिते कलिञ्जहस्तिपयोगः । द्वितीयं यथा वालिनिवृत्त्या सुप्रीवः। य वा परशुरामस्यौद्धत्यनिवृत्त्या शान्तत्वापादानम् — 'पुण्या ब्राह्मण्जातिः — 'हि।

प्रवेशत्रासनिष्कान्तिहर्षे विद्रवसं अवस् ॥ १३६॥ अवपातन मित्यु कं

यथा कृत्यराव् ए षष्ठे अङ्के-- ( प्रविश्य खङ्गहस्तः पुरुषः । )' इत्यतः प्रकृति निष्क्रमग्रापर्यन्तम्।

पूर्वमुक्तैव भारती।

होते हैं - वस्त्त्यांपन, सम्फेट, संचित्रि श्रीर अवपातन। माया श्रादिक है उत्पन्न को गई वस्तु को वस्तुत्थापन कहते हैं। जैसे उदात्तराघव में — जीयने -अरे,यह क्या ? चारो ओर आकाश में फैलते हुए अन्धकारने प्रचएड मार्तएड की किरणों को ढांक लिया ! श्रीर इधर ये नरमुएडोंका रुधिर पीपीकर पेट फुलाएँ। (तृप्त) फेरव (शृगाल जाति) आग उगलते हुए घोर विराव (शब्द) कर रहें। सम्भेट इति - क्रोंघ में भरे त्वरायुक्त पुरुषों के संघर्ष को सम्भेट कहते हैं। जैते मालतीमाधव में माधव श्रीर श्रवीरघंट का युद्ध। संविधेति—शिल्प श्रयवा करि णान्तर से संचिप्तवस्तुरचनाको 'संचिप्ति' कहते हैं — श्रौर एक नायककी निवृति में दूसरे नायक की श्रंथवा नायक (प्रधानपुरुष) के किसी एक धर्म की वृत्ति होने पर उसमें दूसरे धर्म की उपस्थित होने पर भी संदिति होती है। जैसे उद्यनचरितमें काठके हाथीके द्वारा घोखा देकर राजा उद्यनकी वहीं गया। यह शिल्प के द्वारा संविप्तवस्तुरचना का उदाहरण है। दूसरा श हरण जैसे वाली की निवृत्ति होने पर सुग्रीव का राज्यलाभ । यहां पक नाम ( व्यक्ति ) की निवृत्ति हुई है । धर्मनिवृत्ति का उदाहरण—जैसे पर्युता स्रोद्धत्य की निवृत्ति होकर शान्ति की स्थापना—पुण्या इत्यादि—। अवेशोति—प्रवेश, त्रास, निष्क्रमण, हर्ष श्रीर विद्रव की उत्पत्ति की श्रवणत

ग्रय नाट्योक्तयः--

A

म्रश्नाव्यं खलु यद्वस्तु तिद्द् स्वगतं मतम् ॥ १३७॥ सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्तद्भवेदपवारितम्। रहस्यं तु यद्वव्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते ॥१३८॥ त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम्। मन्योन्यामन्त्रणं यत्स्यात्तज्ञनान्ते जनान्तिकम् ॥ १३६॥ किं व्रवीषीति यन्नाट्यं विना पात्रं प्रयुज्यते। श्रुत्वेवानुक्रमप्यर्थं तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥ १४०॥

यः कश्चिद्धो यस्माद्गोपनीयस्तस्यान्तरत ऊर्ध्वसर्वागुलि नामितानामिकं त्रिपताकलचाणं करं कृत्वान्येन सह यन्मन्त्र्यते तज्जनान्तिकम् । परावृत्यान्यस्य ह्रस्यकथनमपवारितम् । शोषं स्पष्टम् ।

दत्तां सिद्धां च सेनां च वेश्यानां नाम दर्शयेत्। दत्तप्रायाणि वणिजां चेटचेट्योस्तथा पुनः॥ १४१॥ वसन्तादिषु वर्ण्यस्य वस्तुनो नाम यद्भवेत्।

वेरया यथा वसन्तसेनादिः।विशाग्विष्णुदत्तादिः।चेटः कलहंसादिः।चेटीमन्दारिकादिः।

अब नाटक की उक्तियों के भेद बतलाते हैं — अशान्यमिति — जो बात सुनाने योग्य नहीं होती उसे स्वगत कहते हैं। नाटक में जिस उक्ति के साथ 'स्वगतम्' लिखा रहता है उसे वह पात्र अपने मन में ही कहता है, दूसरे पात्र से नहीं— किन्तु इस प्रकार कहता है कि सामाजिक सुन लें। जो कथा सबको सुनाने योग्य हो उसे 'प्रकाश' कहते हैं। तद्भवेदिति—जो बात किसी एक से जिपाकर दूसरे पात्र से, फिर कर, कहनी हो उसे 'अपवारित' कहते हैं। त्रिपताकेति— 'तिपताक' करसे दूसरों को बचाके कथा के बीच में ही जो दो ब्रादमी ब्रापस में कुछ बातचीत करने लगते हैं उसे 'जनान्तिक' कहते हैं। पताक और त्रिपताक का तचाया — 'प्रसारिताः समाः सर्वा यस्याङ्ग्रल्यो भवन्ति हि । कुश्चितश्च तयाङ्ग्रष्टः स पताक इति खतः'। सब उंगलियाँ मिली हुई फैली हों और अंग्ठा कुञ्चित हो ऐसे हाथको 'पताक' श्रीर 'पताके तु यदा वकानामिकात्वङ्गु विभवेत्। त्रिपताकः स विह्नयः । पताक में यदि अनामिका टेड़ी हो तो त्रिपताक कहलाता है। किं ब्रवीवि—दूसरे किसी पात्र के विना ही, विन कही बात को ही सुना सा करके 'क्या कहते हो' यह वाक्य बोल कर जो कोई पात्र अपनी बात कहता है उसे 'ब्राकाशमापित' कहते हैं। यः करिचिदिति—जो बात जिससे छिपानी है उसके बीच में पूर्वोक्न 'त्रिपताक' हाथ करके दूसरे आदमी से जो बातचीत करना है वह जननितक, और घूमकर रूसरे आदमी से गुप्त बात कहना अपवासित कहाता है। दत्तामिति—वेश्याओं के नाम नाटकों हैं — नीटकों में दत्ताशब्दान्त, सिद्धाशब्दान्त श्रीर सेनाशब्दान्त रखने चाहिये। वैश्यों केनामक के नाम अधिकांश दत्तराब्दानत होने चाहियें और वसन्तादि ऋतुओं में वर्णनीय किला के विकाश दत्तराब्दान्त होने चाहिय ग्रार वसन्ताप के विश्वा जैसे विश्वा जैसे विश्वा के नाम से चेट तथा चेटियों का व्यवहार करना चाहिये। वेश्वा जैसे विक्तिती। विश्विक् — विष्णुद्ति। चेट — कलहंस और चेटी जैसे मन्दारिका। CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri नाम कार्थं नाटकस्य गिमतार्थप्रकाशकम् ॥ १४२॥

यथा रामाम्युदयादिः।

नायिकानायकारूयानात्संज्ञा प्रकरणादिषु।

यथा मालतीमाधवादिः ।

नाटिकासद्दकादीनां नायिका भिर्विशेष एम् ॥ १४३॥ यथा रत्नावली-कपूरमञ्जयीदिः।

प्रायेण एयन्तकः साधिर्गमेः स्थाने प्रयुज्यते । यथा शाकुन्तले—ऋषी, 'गच्छावः' इत्यर्थे 'साधयावस्तावत्' ।

राजा स्वामीति देवेति भृत्यैभेद्देति चाधमैः ॥ १४४॥ राजिभिर्वयस्येति तथा विद्वकेण च। राजिकत्यृषिभिर्वाच्यः सोऽपत्यप्रत्ययेन च॥ १४५॥ स्वेच्छ्या नामभिर्विप्रैर्विप्र आर्येति चेतरैः। वयस्येत्यथवा नाम्ना बाच्यो राज्ञा विद्वकः॥ १४६॥

वाच्यौ नटी सूत्रघारावार्यनाम्ना परस्परम् ।

नामेति—जो बात नाटक में प्रधानता से निहें इय हो उसका प्रकाशक ही नाटक का नाम रखना चाहिये—जैसे रामाभ्युद्य । इसमें श्रीरामचन्द्रजी का अभ्युद्य प्रतिपाद्य है।श्रीतर्कवागीशजी ने 'गर्भित' पद का अर्थ गर्भ 'सिन्ध में उक्त'—किया है । 'गर्भितो—गर्भसिन्धना स्वितो योऽर्थस्तस्रकाशक्य'। नायिकोते—नायिका और नायक के नाम से प्रकरणादिकों की संज्ञा बनानी चाहिये। जैसे 'मालतीमाध्य' श्रादि।

नाटिकेति—नाटिका श्रीर सहकादि के नामों को उनकी नायिका के नाम से विशेषित करना चाहिये। जैसे 'रत्नावली नाटिका'—'कपूरमञ्जरी सहके इत्यादि। प्रायेणेति—गम् धातु के झर्थ में प्रायः शिप्रत्ययान्त 'साध्' धातु की प्रयोग (नाटकों में) होता है। जैसे श्रमिज्ञानशाकुन्तल में ऋषियों ने 'गण्डान'

के स्थान में 'साध्यावः' प्रयोग किया है।

नाटक में पात्रों के परस्पर व्यवहार में प्रयोज नीय शब्दों का निर्देश करते हैं—
राजेति—राजा को नाटकों में प्रधान श्रेणी के मृत्यवर्ग 'स्वामी' अथवा देव शब्द से सम्बोधन करें और निवली श्रेणी के मृत्य वसे 'महा' कह कर सम्बोधि करें। एवं राजिंध और विदूषक वसे 'वयस्य' कहकर पुकारें और ऋषिलीय उसे 'राजन' कहकर या अणादिक अपत्यार्थक प्रत्यय लगाकर—जैते गैरिक दाशरथे इत्यादि —वोलें। ब्राह्मण लोग आपस में चाहें अपत्य प्रत्ययान्त शब्द से व्यवहार करें चाहें नाम लेकर। जैसे 'कौशिक,' 'विश्वामित्र' इत्यादि अन्य लोग (चित्रयादि) ब्राह्मणों को 'आर्य' कहकर सम्बोधन करें। राजि अन्य लोग (चित्रयादि) ब्राह्मणों को 'आर्य' कहकर सम्बोधन करें। राजि विदूषक को 'वयस्य' कहकर पुकारे या नाम लेकर। नटी और सूत्रवा परस्पर आर्य और आर्य शब्द से व्यवहार करें।

सूत्रधारं बदेझाव इति वै पारिपारिवकः ॥ १४७॥ सूत्रघारो मारिषेति हर्गडे इत्यधमैः समाः। वयस्येत्युत्तमे ईहो मध्येरार्येति चात्रजः॥ १४८॥ भगवन्निति वसव्याः सर्वेदेविषितिक्षितः। बदेद्राज्ञीं च चेटीं च अवतीति विदूषकः ॥ १४६॥ श्रायुष्मन् रथिनं स्तो वृद्धं तातेति चेतरः। बत्स पुत्रकतातेति नाम्ना गोत्रेण वा सुतः॥ १५०॥ शिष्योऽनुजश्च बक्तव्योऽमात्य त्रार्येति चाधमैः। विप्रैरयममात्येति सचिवेति च भएयते॥ १५१॥ साधो इति तपस्वी च प्रशान्तश्चीच्यते वुधैः। सुगृहीताश्रिधः पूज्यः शिष्याचैर्विनिगयते ॥ १४२॥ उपाध्यायेति चाचार्यो महाराजेति भूपतिः। स्वामीति, युवराजस्तु कुमारो भर्तृदारकः॥ १५३॥ भद्रसौम्यमुखेत्येवमधमैस्तु कुमारकः। वाच्या प्रकृति भी राज्ञः कुमारी भर्तदारिका॥ १४४॥ पतिर्यथा तथा वाच्या ज्येष्ठमध्याधमैः स्त्रियः।

पारिपार्श्विक ( स्त्रधार का सहायक नट ) स्त्रधार को 'भाव' कहकर और स्त्रधार उसे 'मारिष' कहकर व्यवहार करे। नीची श्रेणीके लोग ग्रापसमें 'हएडें' कहकर, उत्तम श्रेणी के लोग अपने समान कोटि के पुरुषों को 'वयस्य' कहकर और मध्यम श्रेणी के लोग 'हंहों' कहकर परस्पर सम्बोधन करें। गरेति—बड़े भाई को सब लोग 'आर्य' कहकर पुकारें। देवता, ऋषि और संन्यासी लोगों को सब श्रेणी के इतर लोग 'भगवन्' कहकर सम्बोधित करें। विदूषक, रानी और चेटी को 'भवती' कहे। रथी को सारधी 'श्रायु-भन्' कहे। वृद्ध पुरुषों को जवान श्रीर बालक 'तात' कहें। शिष्य, छोटे माई श्रीर पुत्र की चटस, पुत्रक, तात इन शब्दों से अधवा नाम से या गोत्रप्रत्यय से सम्बोधित करें। श्रधम श्रेणी के लोग श्रमात्य को 'श्रार्य' करें श्रीर बाह्मण इसे 'श्रामात्य' या 'सचिव' कहें। बुध श्रर्थात् उत्तम श्रेणी के क्षींग तपोनिष्ठ और शान्तिनिष्ठ पुरुषों को 'साघो' कहकर पुकारते हैं। शिषादिक, अपने पूज्य अर्थात् गुरु को या आचार्य को 'भगवन्' इत्यादि ध्राहीत शब्दों से अथवा 'सुगृहीतनामधेय' इत्यादि पदों से सम्बोधित करते हैं और राजा को 'महाराज' या 'स्वामी' शब्द से पुकारते हैं। एवं युवः राज को 'कार राजा को 'महाराज' या 'स्वामी' शब्द से उपार्थ राजकुमार को 'कुमार' शब्द से निर्दिष्ट करते हैं। छोटी श्रेणी के लोग राजकुमार को 'मत्' तारक' भार शब्द से निर्दिष्ट करते हैं। छोटा श्रणा क ला है। राजकुमारी कीराजा के नी की राजा के नौकर चाकर 'मतृ' दारिका' कहें। ज्येष्ठ, मध्यम तथा अधम पुरुष श्रियों को उसी प्रकार सम्बोधित करें जैसे उनके प्रतियों को करते हैं। जैसे
CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हत्तेति सहशी, प्रेष्या हक्को, वेश्याज्जुका तथा ॥ १५५॥ कुट्टन्यम्बेत्यनुगतैः पूज्या च जरती जनैः । आमन्त्रणेश्च पाषण्डा वाच्याः स्वसमयागतैः ॥ १५६॥ शकाद्यश्च संभाष्या भद्रदत्तादिनामिभः । यस्य यत्कर्म शिरुपं वा विद्या वा जातिरेव वा ॥ १५०॥ तेनैव नाम्ना वाच्योऽसी ज्ञेयाश्चान्ये यथोचितम् । अय भाषाविभागः—

पुरुषाणामनीचानां संस्कृतं स्यात्कृतात्मनाम् ॥ १४८॥ सौरसेनी प्रयोक्तव्या तादृशीनां च योषिताम् । श्रासामेव तु गाथासु महाराष्ट्रीं प्रयोजयेत् ॥ १५६॥ श्रत्रोक्ता मागघी भाषा राजान्तःपुरचारिणाम् । चेटानां राजपुत्राणां श्रेष्ठानां चार्धमागघी॥ १६०॥ प्राच्या विदूषकादीनां, घूर्तानां स्याद्वन्तिजा। योधनागरिकादीनां दाचिणात्या हि दीव्यताम्॥ १६१॥ शबराणां शकादीनां शावरीं संप्रयोजयेत्।

मृषियों को मगवान् कहते हैं तो मृषिपित्तयों को 'मगवती' कहें इत्यादि। सखी को 'हला' शब्द से, दासी को 'हला' कहकर, देश्याको अञ्जुका और कुटनी को अम्बा कहकर व्यवहार करें। इसी प्रकार प्राननीय वृद्ध स्त्री को मौ लोग 'अम्बा' कहकर पुकारें। पाखराडी लोग अपने अपने समय (आचार) के अजुसार सम्बोधित करने चाहियें, जैसे 'कापालिक' 'चपणक' इत्यादि। वेदिवरोधी कापालिक प्रमृतिमतों को पाखराडमत कहते हैं और उनके अज्यायिओं को पाखराडी। 'पा' शब्द का अर्थ है वेदों की रचा—उसका जो खराडन करें वे पाखराड या पाखराडी कहाते हैं। शकादि जाति के लोगों के नाम मद्र, दत्त इत्यादि शब्दों को अन्त्य में लगाकर बनाने चाहियें। जिसका जो कर्म (सैन्यसंचालन, मोजनिर्माणादि) हो, जो शिल्प (भूषण, चित्रतिर्माणादि) हो, जो शिल्प (भूषण, चित्रतिर्माणादि) हो, जो विद्या (व्याकरणादि) हो या जो जो जाति हो उसीसे उसकी व्यवहार करना चाहिये। इसके अतिरिक्त और भी यथायोग्य जानना।

अव भाषाओं का विभाग करते हैं—पुरुषणणामिति—उत्तम तथा मध्यम (अतीव) श्रेणी के पिएडत पुरुषों की भाषा, नाटकों में, संस्कृत होनी चाहिये। श्रोर ही श्रेणी की स्थियों की भाषा सौरसेनी (प्राकृत का भेद्) होनी चाहिये, किन्तु गाथा (छन्द) में इनका भाषा महाराष्ट्री प्राकृत होती है। रनवास में रहतेवाले वामनादिकों की भाषा मागधी होती है। चेट, राजकुमार और सेठ लोग श्राप्त मागधी बोलते हैं। विदूषकादिक प्राच्या (गौडदेशीय) प्राकृत श्रीर धूर्त लोग अवन्तिजा बोलते हैं। वीरयोद्धा, नागरिक श्रीर जुआरियों की भाषा हाति श्राह्म श्रीर खुत लोग अवन्तिजा बोलते हैं। वीरयोद्धा, नागरिक श्रीर जुआरियों की भाषा हाति शाल्या (वैदर्भी) होती है। शबर श्रीर शकादि की उक्तियों में शाबरी भाषा की

बाह्वीक आषोदि चियानां द्राविडी द्राविडादिषु ॥ १६२॥ ब्राभीरेषु तथाभीरी चारडाखी पुक्रमादिषु। ब्रामीरी शाबरी चापि काष्ट्रपात्रोपजीविषु॥ १६३॥ तथैवाङ्गारकारादौ पैशाची स्यात्पिशाचवाक्। वेटीनामप्यनीचानामपि स्यात्सौरसेनिका ॥ १६४॥ बालानां षगडकानां च नीचग्रहविचारिणाम्। उन्मत्तानामातुराणां सैव स्यात्संस्कृतं कचित्॥ १६५॥ एरवर्षेण प्रमत्तस्य दारिद्रयोपदुतस्य च। भित्तुवल्कघरादीनां प्राकृतं संप्रयोजयेत्॥ १६६॥ संस्कृतं संप्रयोक्तव्यं लिङ्गिनीषूत्तमासु च। देवीमन्त्रिसुतावेश्यास्वपि कैश्चित्तथोदितम्॥ १६७॥ ग्रदेश्यं नीचपात्रं तु तदेश्यं तस्य भाषितम्। कार्यतश्चोत्तमादीनों कार्यो भाषाविपर्ययः॥ १६८॥ योषित्सचीबालवेश्याकितवाप्सरसां तथा। वैदग्ध्यार्थं प्रदातव्यं संस्कृतं चान्तरान्तरा॥ १६६॥.

एपामुदाहरणान्याकरेषु बोद्धव्यानि । भाषालच्यानि मम तातपादानां भाषार्यावे ।

षर्त्रिंशञ्जच्णान्यत्र, नाट्यालंकृतयस्तथा। त्रयस्त्रिंशत्प्रयोज्यानि वीध्यङ्गानि त्रयोदश्।। १७०॥

श्योग किया जाता है। उत्तरदेशनिवासियों की बाह्वीक भाषा और द्रविडादि रंगनिवासियों की द्राविडी भाषा होती है। ग्रहीरों की भाषा ग्रामीरी और वाएडाल (पुकस) अ।दिकों की चाएडाली होती है। काष्ट्रपात्र (नौका आदि) वेजीविका करनेवाले मल्लाह आदिकों की भाषा आभीरी अथवा शाबरी होती । अङ्गारकार (लुहार) आदिकों की भाषा पैशाची होती है। जो उत्तम या गयम दासियां हों उनकी भी सौरसेनी भाषा होती है। बालकों, नपुंसकों, वैवयहों (बालग्रह त्रादिकों ) का विचार करनेवालों, उन्मत्तों ग्रीर श्रातुर उल्पा की भी यही भाषा होती है, किन्तु कहीं कहीं संस्कृत भी होती है। क्षिके जो लोग ऐश्वर्य में मस्त हैं या जो द्रिद्रता से उपहत हैं एवं जो मिश्रुक तथा वरुकलधारी (तापस) हैं उनकी माषा प्राकृत होनी चाहिये। उत्तम के कार्य के कार्य (तापस) है उनका माषा प्राष्ट्रण वार्या के कार्य कार्य की संस्कृत भाषा होती है। कोई कार्ड रानी, मन्त्रिकन्या शेर वेश्यादिकों की साथा भी संस्कृत बताते हैं। जो पात्र जिस देश का है उसकी भाषा भी संस्कृत बताते हैं। जा पान मादि पुरुषों है भाषा भी उसी देश की होनी चाहिये। कार्यवश उसमादि पुरुषों भे भाषा वद्त भी देश की होनी चाहिये। कायवरा प्राप्त प्रौर भिनाषा वद्त भी देनी चाहिये। रानी, सखी, बालक, वेश्या, धूर्त प्रौर पिताओं की भाषा में, इनकी चतुरता स्चित करने के लिये, प्राकृत के बीच विमें, संस्कृत भी दे सकते हैं। इनके उदाहरण नाटकों में स्पष्ट हैं। क्षितिति नाटक में रसपोष के श्रानुसार छत्तीस लहास, तंतीस बाद्या-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लास्याङ्गानि द्श यथालाभं रसव्यपेच्या।

यथालामं प्रयोज्यानीति संबन्धः । अत्रेति नाटके ।

तत्र लच्यानि-

भूषणाचरसंघातौ शोभोदाहरणं तथा ॥ १७१॥ हेतुसंशयदृष्टान्तास्तुल्यतर्कः पदोचयः। निद्रश्नाभिप्रायौ च प्राप्तिर्विचार एवं च ॥ १७२॥ दिष्टोपदिष्टे च गुणातिपातातिशयौ तथा। विशेषण्निककी च सिद्धिर्श्वशाविष्यया ॥ १७३॥ दाक्षिण्यानुनयौ मालाधीपात्तिगईणं तथा। पृच्छा प्रसिद्धिः सारूप्यं संचेपो गुणकीर्तनम् ॥ १७४॥ लेशों मनोरथोऽनुक्तसिद्धिः प्रियवचस्तथा। **लच्**णानि

तत्र-

गुणैः सालंकारैयोंगस्तु भूषणम् ॥ १७५॥

'ब्राह्मिपन्त्यरविन्दानि मुग्धे तव मुखश्रियम्। कोषदग्डसमग्रागां किमेषामस्ति दुष्करम् ॥'

वर्णनाच्रसंघातश्चित्रार्थेरच्रेर्मितैः।

यथा शाकुन्तले- 'राजा-कचित्सखीं वो नातिबाधते शरीरसंतापः। प्रिण वदा-संपदं लधोसहो उत्रसमं गमिस्सदि।

लंकार, तेरह वीध्यङ्ग श्रीर दस लास्याङ्गी का यथासम्भव प्रयोग करना चाहिं। उनमें से पहले छत्तीस लक्षण गिनाते हैं - भूषणेति - भूषण से प्रियवचनतः ३६ वहण होते हैं। क्रम से इनके लक्षण और उदाहरण देते हैं - उपीति-त्रलंकार सहित गुर्गों के योग को मूष्ण कहते हैं — जैसे बाविपन्तीति—हे मुर्गे कमल तेरी मुखश्री का त्राचिप (हरण्) करते हैं। ये कोष (वीजकोष) श्रीरहरू (मृणाल) से पूर्ण हैं—इनके लिये दुष्कर क्या है। जैसे कीव (खडाना) औ देंगड (सैन्य) से युक्त राजा लोग दूसरों का सम्पत्ति का हरण करते हैं, वैसे ये कमल, कोष श्रीर दर्खसे पूर्ण होने के कारण, यदि तुम्हारी मुख्श्री को हरी करें तो आश्चर्य क्या ? तात्पर्य यह है कि कमलों में जो कुछ शोभाहै वह उमी मुख से चुराई हुई, या लूटी हुई है। कमलों का चोरी करना असम्भव है, क्र उपवा में पर्यवसान होने से यहाँ निद्रश्ना है। उत्तरार्घ से पूर्वार्घ के वर्ष समर्थन किया है, श्रतः श्रर्थान्तरन्यास श्रीर श्री, कोष, दगडपदी के हुगी होने से श्लेषालङ्कार भी है। इन अलंकारों का प्राधुर्य और प्रसाद नाम गुणों दे, साथ उक्त पद्य में संयोग है, श्रतः यह भूषण का उदाहरण है। , वर्णनेति विचित्र प्रर्थवाले परिमित प्रतरों से की गई वर्णना की भगति

# सिद्धैरथैं: समं यत्राप्रसिद्धोऽर्थः प्रकाशते ॥ १७६॥ रित्तष्टरतक्षणचित्रार्था सा शोभेत्यभिधीयते।

श्वा—
(सद्वंशसंभवः शुद्धः कोटिदोऽपि गुणान्वितः।
कामं धनुरिव क्रूरो वर्जनीयः सतां प्रमुः॥'
यत्र तुल्यार्थयुक्तेन वाक्येनाभिप्रदर्शनात्॥ १७७॥
साध्यतेऽभिमतश्चार्थस्तदुद्दाहरणं मतम्।

यथा-

'श्रनुयान्त्या जनातीतं कान्तं साधु त्वया कृतम्।
का दिनश्रीर्विनार्केण का निशा शशिना विना॥'
हेतुर्वाक्यं सम्मास्त्रोक्तिमिष्टकृद्धेतुदर्शनात्॥ १७८॥
यथा वेण्यां भीमं प्रति 'स्टेटी—एवं मए भिणदं भाणुमदि, तुझाणं अमुक्केसु
केसेसु कहं देवीए केसा संजिमश्रन्तित्ति ।'

संशयोऽज्ञाततत्त्वस्य वाक्ये स्याचद्निरचयः।

यथा ययातिविजये—

'इयं स्वर्गाधिनाथस्य लद्द्मीः, किं यद्यक्तन्यका। किं चास्य विषयस्यैव देवता, किमु पार्वती॥' हष्टान्तो यस्तु पद्यार्थसाधनाय निद्रशनम्॥ १७६॥

कहते हैं। जैसे शाकुन्तल में 'राजा' इत्यादि। सिद्धिरिति—प्रसिद्ध अर्थ के साथ कहां अप्रसिद्ध अर्थ प्रकाशित किया जाय, उस शिलष्ट, मसृष और विचित्र अर्थ-वाली रचना को शोभा कहते हैं। जैसे—सहरोति—क्रूर्स्वामी, चाहे अच्छे वंश (क्रल) में उत्पन्न, शुद्ध, (निष्कपट) कोटिद, (करोड़ोंका दाता) और गुण्युक्त भी हो,तथापि सज्जनोंको चाहिये कि उसे उस अनुष की तरह छोड़ दें जो अच्छी विति के वंश (बांस) में उत्पन्न, शुद्ध (की ड़े आदिसे अद्युट) कोटिद (किनारों पर मुड़ा हुआ या करोड़ों आदिमयों को काटनेवाला) और गुण (प्रत्यश्चा) से शुक्त होने पर भी क्रूरता (आति कठोरता) के कारण छोड़ दिया जाता है। यहां मसिद्ध धनुष के साथ अप्रसिद्ध क्रूर जन का वर्णन श्लोष द्वारा किया है। यहां मसिद्ध धनुष के साथ अप्रसिद्ध क्रूर जन का वर्णन श्लोष द्वारा किया है। यहां मसिद्ध धनुष के साथ अप्रसिद्ध क्रूर जन का वर्णन श्लोष द्वारा किया है। यहां मसिद्ध धनुष के साथ अप्रसिद्ध क्रूर जन का वर्णन श्लोष द्वारा किया है। यहां मसिद्ध धनुष के साथ अप्रसिद्ध क्रूर जन का वर्णन श्लोष द्वारा किया है। यहां मसिद्ध धनुष के साथ अप्रसिद्ध क्रूर जन का वर्णन श्लोष द्वारा किया है। वैति कहते हैं। जैसे अनुपान्त्येत्यादि। हेतुरिति—संक्षेप से कहा हुआ वाक्य जहां हित्स करते हैं। जैसे वेटी० — एवं मए—एवं मया भित्रतं भानुमित, युक्माकममुक्तेषु कर्थ देव्याः केशाः संयम्यन्ते। संशय इति अद्वात वस्तु के आनिश्चय को का करते हैं। जैसे इसामित्रकार अस्ति हो। केशाः संयम्यन्ते। हिर्म इति अद्वात वस्तु के साधन करने विवाद करते हैं। जैसे इसामित्रकार अस्ति हो। जैसे इसामित्रकार अद्वात वस्तु के साधन करने

यथा वेएयाम्—'सहद्वः—ग्रार्य, उचितमेवैतत्तस्या यतो दुर्योधनक्षत्रं हि सा' इत्यादि ।

तुल्यतको यद्धेन तर्कः प्रकृतिगामिना।
यथा तत्रैव—

'प्रायेगीव हि दृश्यन्ते कामं स्वप्ताः शुभाशुभाः । शतसंख्या पुनरियं सानुजं स्पृशतीव माम् ॥'

संचयोऽर्थानुरूपो यः पदानां स पदोचयः॥ १८०॥

यथा शाकुन्तले-

'श्रधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिग्गौ बाहू। कुसुमिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम्॥'

अत्र पदपदार्थयोः सौकुमार्यं सदशमेव ।

यत्रार्थानां प्रसिद्धानां क्रियते परिकीर्तनम् । परपद्मव्युदासार्थं तिमदर्शनमुच्यते ॥ १८१॥

यथा—

'चात्रधर्मोचितैर्धर्मेरलं शत्रुवधे चृपाः । किंतु वालिनि रामेण मुक्तो बाणः पराङ्मुखे ॥'

अभिप्रायस्तु साद्दरयाद्भृतार्थस्य कर्पना ।

यथा शाकुन्तले—

'इदं किलान्याजमनोहरं वपुस्तपः चमं साधियतुं य इच्छति । ध्रुवं स नीलोत्पलपत्त्रधारया समिल्लतां छेत्तुमृषिन्यवस्यति ॥'

पाप्तिः केनचिद्शेन किंचियत्रानुमीयते ॥ १८२ ॥

यथा मम प्रभावत्याम्—'अनेन खलु सर्वतरचरता चक्रिरीकेणावर्यं विद्धि। भविष्यति पियतमा मे प्रभावती।'

के लिये हेतु के निद्रश्न को दृष्टान्त—कहते हैं। जैसे वे० सं० में सहदेष—शर्थे।
तुल्येति — प्रकृत पदार्थ के द्वारा तर्क करने को तुल्यतर्क कहते हैं। जैसे प्रायेवी।
संचय इति—अर्थ के अनुरूप पदों के गुम्फन को पदोचय कहते हैं। जैसे प्रावृत्यों
में अध्र इति—यहां पद और अर्थ दोनों ही में समान सुकुमारता है। यत्रेति जा
दूसरे के पत्त का खगुडन करने के लिये प्रसिद्ध वस्तु का निरूपण किया जा
उसे निद्रशन कहते हैं। जैसे — चात्रेति — यहां उत्तरार्ध में 'किन्तु' पद हेत्वर्थकी
अभीति — साहश्य के कारण असम्भव वस्तु की कल्पना करने को 'अभिन्य कहते हैं। जैसे इदिमिति — यहां 'जैसे नीलकमल के पत्ते से सिधाओं के देखें
कटना असंभव है वैसेही कमलतुल्य कोमल कलेवरवाली शकुन्तला का किया
तपस्या करना असम्भव है'' यह अभिप्रायहै। प्राप्तिरिति — किसी एक अंग से जी
दूसरे अंग का अनुमान हो उसे अपिता कहते हैं। प्राप्तिरिति — किसी एक अंग से जी
दूसरे अंग का अनुमान हो उसे अपिता कहते हैं है। असे वहती में — अनेति। विचारो युक्तिवाकयैर्यद्प्रत्यत्तार्थसाधनम्।

य्यामम चन्द्रकलायाम्-'राजा-नूनिमयमन्तः पिहितमदनविकारा वर्तते।यतः-'हसित परितोषरहितं निरीच्यमाणापि नेचते किंचित्। सख्यामुदाहरन्त्यामसमञ्जसमुत्तरं दत्ते॥'

देशकालस्वरूपेण वर्णना दिष्टमुच्यते॥ १८३॥

यथा वेएयाम् —सहदेवः

'यद्वैद्युतिमव ज्योतिरार्ये क्रुद्धेऽद्य संभृतम्। तत्मावृडिव कृष्णेयं नूनं संवर्धयिष्यति ॥'

उपदिष्टं मनोहारि वाक्यं शास्त्रानुसारतः।

यथा शाकुन्तले-

'शुश्रुषस्य गुरून्कुरु पियसखीवृत्ति सप्तिजने भर्त्विपकृतापि रोषणातया मा सम प्रतीपं गमः। भूयिष्टं भव दिच्या परिजने भाग्येष्वनुत्सेिकनी यान्त्येवं गृहिगािपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥ गुणातिपातः कार्यं यद्विपरीतं गुणान्त्रति॥ १८४॥

यथा मम चन्द्रकलायां चन्द्रं प्रति-

'जइ संहरिजइ तमो घेप्पइ सम्रलेहिं ते पाम्रो। वसिस सिरे पसुबइग्गो तहिव ह इत्थी अ जीअगं हरिस ॥'

यः सामान्यगुणोद्रेकः स गुणातिशयो मतः।

यथा तत्रैव—'राजा—( चन्द्रकलाया मुखं निर्दिश्य ।)

'त्र्रसावन्तरचंब्र्चद्विकचनवनीलाब्जयुगल-

उपरि । स्तलस्फूर्जत्कम्बुर्विलसद् लिसंघात

विचार इति— युक्तियुत वाक्यों से अप्रत्यच् अर्थ के साधन को विचार कहते हैं। रोति देशकाला जुरूप वर्णन को दिष्ट कहते हैं। उपदिष्टमिति —शास्त्राजुरूल, भाहर वाक्य को उपिद्ध कहते हैं। जैसे शाकुन्तल में शकुन्तला के प्रति महर्षि भाव का उपाद् छ कहते हैं। जैसे शाकुन्त ल मराअपाद को ग्रणातिपात कार्य को ग्रणातिपात कहते हैं। जैसे चन्द्र कलानादिका में —जइ — 'विद संहियते तमी गृह्यते सक्तै स्ते पादः। विति शिरित पशुपतेस्तथापि हा, श्रिया जीवनं इरसि"। यहां स्त्रीजीवनहरण्डण कार्यः वहत चन्द्रमा के उक्त गुणों के विपरीत है।

विपरीत हैं। निस्ति प्रणों के विपरीत हैं। निस्ति कहते हैं। जैसे 'चन्द्रकला' कि निस्ति कहते हैं। जैसे 'चन्द्रकला' भेशाता (चन्द्रकला का मुख देखकर) असाविति हे सुमुखि, यह लोकोत्तर अस्मा (भूक) तुमने कहां पाया ? जिसके मध्य में जिले हुए को नील पित (नेत्र) तुमने कहां पाया ? जिसके मध्य म । पाया डे प्रौर उपर उसोभित हैं, नीचे शंख (ग्रीवा) विराजमान है प्रौर उपर CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विना दोषासङ्ग' सततपरिपूर्णाखिलकलः कुतः प्राप्तरचन्द्रो. विगलितकलङ्कः सुमुखि ते ॥' सिद्धानथीन्बद्वनुकत्वा विशेषोक्तिर्विशेषणम् ॥ १८५॥

यथा—

'तृष्णापहारी विमलो द्विजावासो जनिषयः । हदः पद्माकरः किंतु बुधस्त्वं स जलाशयः ॥' पूर्वसिद्धार्थकथनं निरुक्तिरिति क्षीर्त्थते ।

यथा वेएयाम्-

'निहताशेषकौरव्यः चीबो दुःशासनासृजा । भड्का दुर्योधनस्योवोंभीमोऽयं शिरसा नतः॥' बहूनां कीर्तनं सिद्धिरिभग्रेताथेसिद्धये ॥ १८६॥

यथा--

'यद्वीर्यं कूर्मराजस्य यरच शेषस्य विक्रमः । पृथिव्या रच्चणो राजन्ने कत्र त्विय तिस्थतम् ॥'

दशादीनां भवेद् भ्रंशो वाच्यादन्यतरद्वचः।

वेण्याम्—कञ्चिकनं प्रति 'दुर्योधनः—

सहमृत्यगणं सबान्धवं सहमित्त्रं ससुतं सहानुजम् । स्वबसेन निहन्ति संयुगे न चिरात्पाण्डुसुतः सुयोधनम् ॥

विचारस्यान्यथाभावः संदेहात्तु विपर्ययः॥ १८७॥

भ्रमरों का समृद्द (केश) विद्यमान है। एवं विना ही दोषासङ्ग (रांत्रिक सङ्ग दोषों के सङ्ग) के जो सब कलाओं से पूर्ण है और कलङ्क से रहित है। विद्वावित प्रसिद्ध अनेक वस्तुओं का कथन करके फिर कुछ विशेषता (किसी प्रकृषे दिखलाने को विशेषोंकि कहते हैं। जैसे—तृष्णित—हे राजन, यद्यपि तड़ा में तुम्हारे ही समान लोगों की तृष्णा को दूर करता है, विमल है, द्विजों (पित्रिणे) का आवास है, जनोंको प्रिय है और पद्मों (कमलों) का आकर भी है, किन्तु आ खुध हैं, और वह जलाशय (जडाशय) है। यहां राजा के पत्ममें 'तृष्णां का अभिलाव, मलका अर्थ पाप, द्विजका ब्राह्मण, पद्मका रत्नादि एवं आकर का अभिलाव, मलका अर्थ पाप, द्विजका ब्राह्मण, पद्मका रत्नादि एवं आकर का निहतेति। अभिमत वस्तुकी सिद्धिके लिये अनेकों का कथन करना विद्विक कहते हैं। जैसे वे० संग विद्विति। अभिमत वस्तुकी सिद्धिके लिये अनेकों का कथन करना विद्वित कहति है। जैसे वे० संग अर्थ का कथन करना श्रंश कहाताहें — जैसे वे०सं०में तुर्योधन — सहिति—यहाण स्था का कथन करना श्रंश कहाताहें — जैसे वे०सं०में तुर्योधन — सहिति—यहाण स्था का अभिमत से विपति संग स्था का कथन करना श्रंश कहाताहें — जैसे वे०सं०में तुर्योधन — सहिति—यहाण स्था का अभिमत से विपति संग कि स्था का अभिमत से विपति संग करना अभि करना अभिमत से विपति संग करना अभि करना अभिमत से विपति संग करना श्रंश कहाताहें — जैसे वे०सं०में तुर्योधन — सहिति—यहाण संग करना अभि करना अभि करना करना कि स्था अभिमत से विपति संग करना अभि करना अभि करना करना कि स्था अभिमत से विपति संग करना अभि करना अभिमत से विपति संग करना अभि करना अभिमत से विपति संग करना से स्था करना करना सित्रिण से स्था करना से स्था करना से स्था करना सित्रिण से स्था करना से सित्रिण से सित्रिण से स्था करना करना सित्रिण से सित्रिण सित्रिण सित्रिण से सित्रिण से सित्रिण से सित्रिण से सित्रिण सित्रिण सित्रिण सित्रिण से सित्रिण सित्रिण

व्या प्रात्वा लोकमदातारं संतोषे यैः कृता मितः ।
त्विय राजनि ते राजन तथा व्यवसायिनः ॥'
दाित्वरयं चेष्टया वाचा परिचत्तानुवर्तनम् ।

वाचा यथा— 'प्रसाधय पुरीं लङ्कां राजा त्वं हि विभीषणा । आर्येगानुगृहीतस्य न विष्नः सिद्धिमन्तरा॥'

एवं चेष्टयापि ।

वाक्यैः स्निर्धेरनुनयो भवेदर्थस्य साधनम् ॥ १८८॥
यथा वेएयाम् — अरवत्थामानं प्रति कृपः — दिव्यास्त्रप्रामकोविदे भारद्वाजतुल्यपराक्रमे किं न संभाव्यते त्विय ।'

माला स्याचद् अष्टार्थ नैकार्थप्रतिपादनम्।

यथा शाकुन्तले—'राजा—

कि शीकरैः क्लमविमर्दिभिरार्द्रवातं संचारयामि निलनीदलतालवृन्तम्। अङ्के निवेश्य चरणावृत पद्मताम्रौ संवाहयामि करभोरु यथासुखं ते॥'

अर्थापत्तिर्यद्न्यार्थोऽर्थान्तरोक्तेः प्रतीयते ॥ १८६॥

यथा वेण्याम्—द्रोणोऽश्वत्थामानं राज्येऽभिषेक्षुमिच्छ्रतीति कथयन्तं कर्णंपति राजा—साधु अङ्गराज, साधु । कथमन्यथा

दत्त्वामयं सोऽतिरथो वध्यमानं किरीटिना । सिन्धुराजमुपेच्रोत नैवं चेत्कथमन्यथा ॥'

दूषणोद्घोषणायां तु भत्सेना गईणं तु तत्।

यया तत्रैव—कर्णं प्रति 'श्ररवत्थामा—

पानिस्पिति—चेष्टा और वाणी के द्वारा किसी के चित्त को प्रसन्न करना
पानिस्प कहाता है। वाणीसे जैसे —प्रसाधयेति। वाक्यैरिति—स्नेहपूर्ण वाक्योंसे कार्यसाधन करने को अनुनय कहते हैं। जैसे वे० सं० में अश्वत्थामा के प्रति कृप०।
मावेति—अपना अभीष्ट सिद्ध करने के लिये अनेक अर्थों (कार्यों) के कथनको
पान कहते हैं। जैसे शाकुन्तल में राजा की उक्ति शकुन्तला के प्रति—किमीति।
पौति—किसी अर्थ के कथन से जहां अन्य अर्थ की प्रतीति हो उसे अर्थापित
करते हैं। जैसे वे० सं० में कर्णा की इस उक्ति के पीछे कि 'द्रोणाचार्य अश्वत्थामा
को राजा बनाना चाहते हैं दुर्योधनका यह कहना कि साधु इत्यादि। दृष्योति—
दोषोद्धादन के समय की मर्सना को गईण कहते हैं। जैसे वहीं कर्ण के प्रति

निर्वीर्यं गुरुशापमाधितवशातिक में तवेवायुधं
संप्रत्येव मयाद्विहाय समरं प्राप्तोऽस्मि किं त्वं यथा।
जातोऽहं स्तुतिवंशकीर्तनिवदां किं सारथीनां कुले
जुद्रारातिकृतािषयं प्रतिकरोम्यस्तेणं नास्त्रेण यत्॥'
अभ्यर्थनापरैविक्यैः पृच्छार्थान्वेषणं सतस्॥ १६०॥

स्यथेनापरवाक्यः प्रच्छायान्ययः प्राप्त । १६० ॥ यथा तत्रैव—'सुन्द्रकः—अञ्जा, स्रवि गाम सार्धिदुदिस्रो दिहो तुहोहि

महाराश्रो दुज्जोधणो गा वेति।'

प्रसिद्धिलोंकसिद्धार्थेरुत्कृष्टेरर्थसाधनम् ।

यथा विक्रमोर्वश्याम्—'राजा—

सूर्याचन्द्रमसौ यस्य मातामहिपतामहौ । स्वयं कृतः पतिर्द्धाभ्यामुर्वश्या च भुवा च यः ॥'

सारूप्यमनुरूपस्य सारूप्यात्चो अवर्धनम् ॥ १६१ ॥

यथा वेएयाम् — दुर्योधनभ्रान्त्या भीमं प्रति युधिष्टिरः — दुरात्मन्, दुर्योधन-इतक-'इत्यादि ।

संचेपो यत्तु संचेपादातमान्यार्थे प्रयुज्यते।

यथा मम चन्द्रकलायाम् — 'र।जा — पिये, 'श्रङ्गानि खेद्रयसि कि शिरीषकुसुमपरिपेलवानि मुधा। ( श्रारमानं निर्दिग्य।) श्रथमीहितकुसुमानां संपादियता तवास्ति दासजनः॥'

गुणानां कीर्त्तनं यत्तु तदेव गुणकितिनम् ॥ १६२॥

यथा तत्रैव---

'नेत्रे खञ्जनगञ्जने सरसिजमत्यर्थि'--इत्यादि । स खेशो, भएयते वाक्यं यत्सादृश्यपुरःसरम्।

अश्वत्थामा की उक्ति—निर्वार्थमिति । अभ्यर्थनेति— प्रार्थनापरक वाक्यों से बात का अन्वेषण करना पृच्छा कहलाता है । जैसे वहीं सुन्दरक—अन्जा—'आयां, की नाम सार्थिदितीयो हुए युष्मामिर्महाराजो दुर्योधना न वेति''। प्राप्तिद्धिरिति— लोकप्रसिद्ध उत्हर पदार्थों के द्वारा वस्तुपरिचय कराने का नाम प्रसिद्धि है । जैसे विक्रमोर्च श्री स्थाति—। सारूप्यमिति—अनुकूल वस्तु की सक्तपता के कारण चित्तत्वोभ की वृद्धि को सारूप्य कहते हैं । जैसे वे० सं० में दुर्योधन के धोखे से भीम के प्रति युधि की उक्ति—दुरातम इति । संवेप इति—थोड़े में आतमसमर्पण कर देने का नाम संवेप है । जैसे चन्द्रकला में राजा—अगानीत्यादि—। ग्रणानामिति—गुणों के वर्ण को ग्रणकीतंन कहते हैं । स इति—समानता दिखलाते हुए जो कथन किया जी

यथा वेएयाम्—'राजा— व्हते जरित गाङ्गेये पुरस्कृत्य शिखरिडनम्। या रलाघा पाएडुपुत्राणां सैवास्माकं भविष्यति॥ मनोरथस्त्वभिप्रायस्योक्तिभँङ्गयन्तरेण यत्॥ १६३॥

रतिकेलिकलः किचिदेष मन्मथमन्थरः। प्रय सुभ्रु समालम्भात्कादम्बरचुम्बति पियाम्॥' विशेषार्थीहविस्तारोऽनुकासिद्धिरुद्यिते।

यथा—'गृहवृत्त्वाटिकायाम्—

'दृरयेते तन्वि यावेतौ चारुचन्द्रमसं प्रति। पां कल्याणनामानावुमौ तिष्यपुनर्वसू॥' स्यात्प्रमाण्यितुं पूज्यं प्रियोक्तिईर्षभाषणम्॥ १६४॥

यथा शाकुन्तले-'उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं घनोदयः पाक्तदनन्तरं पयः। निमित्तनैमित्तिकयोरयं विधिस्तव प्रसादस्य पुरस्तु संपदः॥ श्रथ नाट्यालंकारा:-

त्राशीर।ऋन्द्कपटाच्मागर्वीद्यमाश्रयाः। उत्पासनस्प्रहाचो भपश्चात्तापोपपत्तयः ॥ १६५ ॥ श्राशंसाध्यवसायौ च विसपीं सेवसंज्ञितौ। उत्तेजनं परीवादो नीतिरर्थविशेषणम् ॥ १६६ ॥ पोत्साहनं च साहाय्यमिमानोऽनुवर्तनम्। उत्कृतिनं तथा याच्या परिहारो निवेदनम् ॥ १६७ ॥ भवतेनारुयानयुक्तिप्रहर्षाश्चोपदेशनम्। इति नाट्यालंकृतयो नाट्यभूषणहेतवः॥ १६८॥

वितेश कहते हैं। जैसे वे० सं० में राजा—इते इति। मनोत्य इति—दूसरे ढङ्ग से भागी अभिप्राय प्रकाश करने को मनोरथ कहते हैं। जैसे—र्रातकेर्बाति। 'समा-हिं। विशेष प्राविद्यन है। कृष्ण पंखवाले हंस को कार्य कर हैं। जैसे— भी कि कि प्रार्थ की उन्हां के विस्तार को अनुक्रासींद्र कहते हैं। जैसे— भी विश्वामित्रजी के साथ राम लक्ष्मण को देखकर सीता के प्रति सखी भे वह उक्ति है। स्यादिति—पूजनीय व्यक्ति में आद्रातिशय दिखाने के लिये विवास है। स्यादिति—पूजनीय व्यक्ति में आदरीतिश्व । प्राप्त के उदेतीत्यादि। के निकार के उदेतीत्यादि। के निकार के निकार के निकार के निकार भ नात्मा की उक्ति को हर्षमाषण कहते हैं। जैसे शाकुरतण से तेकर

## **ग्राशीरिष्टजनाशंसा**

यथा शाकुन्तले—

'ययातेरिव शर्मिष्ठा पत्युर्बहुमता भव । पुत्रं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि ॥'

### त्राक्रन्दः प्रलिपतं शुचा।

यथा वेएयाम्—'कञ्चकी—हा देवि कुन्ति, राजभवन्पताके-' इत्यादि। कपटं मायया यत्र रूपमन्यद्विभाव्यते ॥ १६६॥

यथा कुलपत्यङ्के-

'मृगरूपं परित्यज्य विधाय कपटं वपुः । नीयते रच्नसा तेन लद्मगाो युधि संशयम् ॥'

## , अनुमा सा परिभवः स्वरूपोऽपि न विषद्यते।

यथा शाकुन्तले — 'राजा — भोः सत्यवादिन् , त्र्यभ्युपगतं तावदस्माभिः। हि पुनरिमामतिसंधाय लम्यते । शार्क्सरवः — विनिपातः – इत्यादि ।

#### गर्वोऽवलेपजं वाक्यं

यथा तत्रैव—'राजा—ममापि नाम सत्त्वैरिभभूयंन्ते गृहाः ।' कार्यस्यारम्भ उद्यमः ॥ २००॥

यथा कुम्भाङ्गे — 'रावणः —

परयामि शोकविवशोऽन्तकमेव तावत्।

ग्रहणं गुणवत्कार्यहेतोराश्रय उच्यते।

यथा विमीषण्निर्मर्त्सनाङ्के—'विमीषण: -राममेवांश्रयामि ।' इति ।

उत्पासनं तूपहासो योऽसाधौ साधुमानिनि ॥ २०१॥

उपदेशनपर्यन्त तंतीस नाट्यालङ्कार होते हैं। श्राशीरिष्टेति—प्रियजनों के शर्म वाद को श्राशाः कहते हैं। जैसे शाकुन्तल में—ययातेरिवेति—राजा ययाति श्रे शर्मिष्ठां के सहश तू पित की बहुमत (सम्मानित) हो श्रोर जैसे उसने प्राप्त प्राप्त को पाया पेसे तू भी सम्नाटपुत्र को पाये। श्राक्रन्द शित्र प्राप्त के विकाप करना श्राक्रन्द कहाताहै। जैसे वे० सं० में कञ्जुकी—हा देविश्वार के पिटिमिति—जहां माया के कारण श्रीर का श्रीर स्वक्षप भासित हो, उसे कि कहते हैं। जैसे—गृगेति। श्रवमेति—ज़रा से श्रपमान को भी न सहना श्रमा का ता है। जैसे—गृगेति। श्रवमेति—ज़रा से श्रपमान को भी न सहना श्रमा का वाव है। जैसे—शाकुन्तल में राजा—मोः हित। 'श्रितसन्धाय'—(श्रीक्षा का ग्रं हिति—श्रमण्ड से निकले वाक्यको गर्व कहते हैं। जैसे वहीं राजा—गर्व का ग्रं स्वित—श्रमण्ड से निकले वाक्यको गर्व कहते हैं। जैसे वहीं राजा—गर्व का ग्रं स्वित—कार्य के श्रारम्भ को उद्यम कहते हैं। जैसे रावण—पश्यामाति। अद्योगि अत्स्व श्रम् का प्रदेश करना श्राश्रय कहाताहै। जैसे विमीवि उत्स्व ग्राप्त के हेतु का श्रहण करना श्राश्रय कहाताहै। जैसे विमीवि उत्स्व ग्राप्त को सजजन माननेवाले श्रसज्जन के उपहास की ग्रामिति। अस्ति को सजजन माननेवाले श्रसज्जन के उपहास की ग्रामिति। अस्ति का स्व का सजजन माननेवाले श्रसज्जन के उपहास की ग्रामिति। अस्ति का सजजन सामनेवाले श्रसज्जन के उपहास की ग्रामिति। अस्ति का सजजन सामनेवाले श्रसज्जन के उपहास की ग्रामिति। अस्ति का सजजन सामनेवाले श्रसज्जन के उपहास की ग्रामिति। अस्ति का स्व स्व का स्व स्व सामनेवाले श्रसज्जन के उपहास की ग्रामिति। अस्ति का स्व स्व स्व स्व स्व सामनेवाले श्रसज्जन के उपहास की ग्रामिति। अस्ति सामनेवाले श्रसज्जन के स्व प्र सामनेवाले सामनेवाले सामनेवाले श्रसज्जन के स्व सामनेवाले स

व्या शाकुन्तले (शाकुरव: -राजन्, अथ पुन: पूर्ववृत्तान्तमन्यसङ्गाद्ध-म्रातो भवान् । तत्कथमधर्मभीरोर्दारपरित्यागः-' इत्यादि । ब्राकांचा रमणीयत्वाद्वस्तुनो या स्पृहा तु सा।

य्या तत्रैव—'राजा— चारुणा स्फुरितेनायमपरिचतकोमतः। पिपासतो ममानुज्ञां ददातीव प्रियाधरः॥'

ब्रिधिचेपवचःकारी चोभः प्रोक्तः स एव तु॥ २०२॥

यथा

**'त्वया तपस्विचायडाल प्रच्छन्नवधवर्तिना**। न केवलं हतो वाली स्वात्मा च परलोकत: ॥

मोहाबधीरितार्थस्य पश्चात्तापः स एव तु।

यथानुतापाङ्के-- 'रामः-

किं देव्या न विचु स्वितोऽस्मि बहुशो मिथ्याभिशप्तस्तदा' इति ।

उपपत्तिर्मता हेतोरूपन्यासोऽर्थसिद्धये ॥ २०३॥ यथा वध्यशिलायाम्-

'म्रियते म्रियमागो या त्विय जीवति जीवति। तां यदीच्छुसि जीवन्तीं रत्तात्मानं ममासुभिः॥

त्राशंसनं स्यादाशंसा

यथा रमशाने -- 'माधवः-

तत्परयेयमनङ्गमङ्गलगृहं भूयोऽपि तस्या मुखम्' इति । प्रतिज्ञाध्यवसायकः ।

यथा मम प्रभावत्याम्— वज्रनाभः

'अस्य वद्यः च्रागेनैव निर्मध्य गदयानया। लीलयोनमूलयाम्येष भुवनद्वयमद्य वः ॥'

विसर्पो यत्समार्च्धं कमानिष्टक लपदम्॥ २०४॥

काते हैं। जैसे शाकुन्तल में शाङ्ग रच-'राजनित्यादि'। आकांचति-अतिरमणीयता है हार्य वस्तु की आकांद्या को स्पृहा कहते हैं। जैसे आ० में चाहणेति। भिति शाहोपयुक्त वचन कहलानेवाले चित्तविद्योस को बाम कहते हैं। जैसे — मित्री मोहिति पहले अज्ञानवश किसी वस्तु की अवज्ञा करके पीछे अनुतस कि को प्रचाराप कहते हैं। जैसे श्रीराम—'कि देव्या' इति । उपेति - अर्थसिखि कियो हे के कि कियों में कियों के किया कियों कियों िलिये हेतु के उपन्यास को उपपत्ति कहते हैं। जैसे 'वध्यशिला' में 'च्रियते' लिए हैं के उपन्यास को उपपत्ति कहते हैं। जैसे 'वध्यशिला' में 'च्रियते' लिए हो हो है। जस व निर्मास को उपपत्ति कहते हैं। जस व निर्माण की कार्यादि । जारा कहते हैं। जैसे माध्य की किए हो है । जैसे माध्य की किए हो है । जैसे प्रभावती में विषश्येय' मित्यादि उक्ति। प्रतिज्ञा को अध्यवसाय कहते हैं - जैसे प्रभावती में भितासकी अस्येत्यादि उक्ति। अतिका को अध्यवसाय कहत है कर्मको विसर्प कहती कार्यदर्शनमुद्धेख

यथा शाकुन्तले—राजानं प्रति 'तापसो—सिमदाहरणाय प्रस्थितावावाम्। इह चास्मद्गुरोः साधिदैवत इवं शकुन्तलयानुमालिनीतीरमाश्रमो दृश्यते। न चेद्व कार्यातिपातः, प्रविश्य गृह्यतामितिथिसत्कारः' इति ।

### उत्तेजनिमतीष्यते । स्वकार्यसिद्धयेऽन्यस्य प्रेरणाय कठोरवाक् ॥ २०५॥

यथा--

'इन्द्रजिच्चएडवीयोंऽसि नाम्नैव बलवानसि । धिग्धिक्पच्छन्नरूपेण युध्यसेऽस्मद्रयाकुलः ॥ '

भत्सना तु परीवादो

यथा सुन्दराङ्क — 'दुर्योधनः — धिग्धिक् सूत, किं कृतवानिस । वत्सस्य मे प्रकृतिदुर्लिलतस्य पापः

पापं विधास्यति—' इत्यादि ।

नीतिः शास्त्रेण वर्तनम्।

यथा शाकुन्तले—'दुष्यन्तः—विनीतवेषप्रवेश्यानि तपोवनानि ।' इति।
 उक्तस्यार्थस्य यत्तु स्यादुत्कीर्तनमनेकथा ॥ २०६॥
 उपालम्भविशेषेण तत्स्याद्रथीविशेषणम् ।

यथा शाकुन्तले राजानं प्रति 'शाङ्करवः — आः, कथमिदं नाम, किमुप्त्यतः मिति । ननु भवानेव नितरां लोकवृत्तान्तनिष्णातः ।

 'सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां

जनोऽन्यथा भतृ मतीं विशङ्कते।

अतः समीपे परिगोतुरिष्यते

प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुमि: ॥'

व्रोत्साहनं स्यादुतसाहगिरा कस्यापि योजनम्॥ २०७॥

यथा वालरामायगो---

कालरात्रिकरालेयं, स्नीति कि विचिकित्सिस ।

तज्जगित्रतयं त्रातुं तात ताडय ताडकाम्।।'

साहारयं संकटे यतस्यातसानुकूरयं परस्य च।

यथा वेषयाम् --कृपं मति 'अश्वत्थामा--त्वमि तावदाइः पार्ववर्ती भव'।

कृपः--वाञ्छाम्यहमद्य प्रतिकर्तु म्-' इत्यादि ।

श्रमिमानः स एव स्यात्

यथा तत्रैव—'दुर्योधनः—

मातः किमप्यसदृशं कृपगां वचस्ते' इत्यादि ।

प्रश्रयाद्नुवर्तनम् ॥ २०८ ॥

अनुवृत्तिः

यथा शाकुन्तले—'राजां—( शकुन्ततां प्रति । ) अपि, तपो वर्धते । अपि, तपो वर्धते । अनिस्या—दाणि अदिधिविसेसलाहेगा' इत्यादि ।

भूतकार्याख्यानमुत्कीर्तनं मतम्।

यथा बालरामायगो—

'अत्रासीत्फिर्यापाशबन्धनविधिः शक्त्या भवेदेवरे गाढं वक्तसि ताडिते हनुमतां द्रोग्राद्रिरत्राहृतः ।' इत्यादि ।

याच्या तु कापि याच्या या स्वयं दूतमुखेन वा॥ २०६॥

क्ष्णिमिति— पितृकुल में अधिक रहनेवाली सधवा स्त्रीको, चाहे वह सती ही हो, लोग कुछ सन्देह की दृष्टि से देखने लगते हैं। ग्रातः स्त्री के बन्धुवर्ग उसे उसके पित के समीप रखना ही उचित समभते हैं। चाहे वह पित को प्रिय हो या श्रीमय। श्रांत्साइन मिति— किसी को उत्साहित करना श्रोत्साइन कहाता है। जैसे पामवन्द्र के प्रति विश्वामित्र की उक्ति— 'कालेति'। संकट के समय दूसरे के ग्रुकुल शावरण को साहाय्य कहते हैं। ग्रहं कार को अभिमान कहते हैं। विनयपूर्वक अनुगमन को अनुवृत्ति कहते हैं। जैसे शाकुनतल में राजा की उक्ति के पीछे अन्ध्या का यह कथन—दाणि— 'इदानीमितिथिविशेषलाभेन'। अतीत कार्य के कथन को लोग कहते हैं। स्वयं या दूत के द्वारा कुछ माँगने को याच्या कहते हैं। जैसे

यथा-

'अद्यापि देहि वैदेहीं दयालुरत्विय राघव:। शिरोभिः कन्दुकक्रीडां कि कारयसि वानरान्॥'

परिहार इति प्रोक्तः कृतानुचितमार्जनम्।

यथा--

'प्रागाप्रयागादुःर्खात उक्तवानस्म्यनच्तरम् । तत्च्तमस्य विभो, किं च सुग्रीवस्ते समर्पितः॥'

अवधीरितकर्तव्यकथनं तु निवेदनस् ॥ २१०॥

यथा राघवाभ्युद्ये -- 'लच्मणः -- त्र्यार्य, समुद्राभ्यर्थनया गन्तुमुद्यतोऽसि । तिकामेतत् ।'

प्रवर्तनं तु कार्यस्य यत्स्यात्साधुप्रवर्तनस् ।

यथा वेण्याम्—'राजा--कञ्च किन्, देवस्य देवकीनन्दनस्य बहुमानाद्वतस्य भीमसेनस्य विजयमङ्गलाय प्रवर्तन्तां तत्रोचिताः समारम्भाः ।'

म्राख्यानं पूर्ववृत्तोिकः

यथा तत्रैव--

'देशः सोऽयमरातिशोगितजलैर्यस्मिन्हदाः पूरिताः' इत्यादि ।

युक्तिरथीवधारणम् ॥ २११॥

यथा तत्रैव-

'यदि समरमपास्य नास्ति मृत्यो-भयमिति युक्तमितोऽन्यतः प्रयातुम् । अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः किमिति मुधा मलिनं यशः कुरुध्वे ॥'

अंगद के द्वारा रावण के प्रति राम की उक्त 'श्रद्यापी'त्यादि। किये हुए अरं चित कार्य के परिमार्जन (सफ़ाई) को परिहार कहते हैं। जैसे—प्राणिति—हे प्रमें मरण दुःख से कातर होकर मैंने श्रापको कुछ अनुचित अत्तर कहे हैं, वर्त तमा कीजिये और मेरा छोटा माई यह सुग्रीव श्रापके श्रपण है। अनिमर्ण या अवज्ञात कार्य के कथन को निवेदन कहते हैं। श्रायंति—यहां लक्ष्मण को पसन्द नहीं है कि श्रीरामचन्द्रजी समुद्र की प्रार्थना करें। काम का अव्वीता पसन्द नहीं है कि श्रीरामचन्द्रजी समुद्र की प्रार्थना करें। काम का अव्वीता अवृत्त करना प्रवर्तन कहाता है। जैसे 'कंचुिकन' इत्यादि। पूर्व इतिहास वस्त काल्यान कहाता है—जैसे वे० संव में अश्वत्थामा की उक्ति 'देश' इत्यादि। कथन आल्यान कहाता है—जैसे वे० संव में अश्वत्थामा की उक्ति 'देश' इत्यादि। वस्तु के निश्चय करने को युक्ति कहते हैं। जैसे—यदीति—यदि समर से भाग वस्त के कि स्त प्रवर्ग कराते हो। असे अश्वत्थामा की उक्ति 'देश' इत्यादि। पर मरने का डर नहीं हो, तच तो भागना ठीक है, किन्तु यदि एक दिन गरी अवश्य है, तो किर समर से भाग कर कीर्ति को क्यों कराह्नित करते हो। अवश्य है, तो किर समर से भाग कर कीर्ति को क्यों कराह्नित करते हो।

## प्रहर्षः प्रमदाधिक्यं

यथा शाकुन्तले — 'राजा — नित्किमिदानीमात्मानं पूर्णमनोरथं नामिनन्दामि। शिचा स्यादुपदेशनम्।

यथातत्रैव—'सिंहि, ए। जुत्तं त्र्यस्समवासिए। जग्रस्स त्र्यकिदसकारं त्र्यदिधिविसेसं विकास सन्द्रन्ददो गमराम् ।'

एषां च बच्च गानाट्यालं काराणां सामान्यत एकरूपत्वेऽिप भेदेन व्यपदेशो गृहु बि-कापवाहेगा। एषु च केषांचिद् गुणालं कारभावसंध्यङ्गविशेषान्तर्भावेऽिप नाटके पयततः कर्तव्यत्वात्ति हिशेषोक्तिः ।

एतानि च-

'पश्चसंघि चतुईति चतुःषष्टग्रङ्गसंयुतम् ।

षट्त्रिंशल्लच्याोपेतमलंकारोपशोभितम् ॥

महारसं महाभोगमुदःत्तरचनान्वितम् ॥

महापुरुषसत्कारं साध्वाचारं जनिषयम् ॥

सुरिलष्टसंघियोगं च सुप्रयोगं सुखाश्रयम् ॥

मृदुशब्दाभिधानं च कविः कुर्यातु नाटकम् ॥

इति मुनिनोक्तत्वानाटकेऽवरयं कर्तव्यान्येव । वीध्यङ्गानि वद्यन्ते ।

आनन्दाधिक्य का नाम प्रहर्व है। शिचा देने को उपदेशन कहते हैं। जैसे शाकुन्तल में 'सहि, गा'-'सखि न युक्तमाश्रमत्रासिनी जनस्य श्रकृतसत्कारमतिथिविशेषम् विकाला स्वच्छन्दती गरंनम्—। एषां चेति— पूर्वोक्त छत्तीस सन्त श्रीर तेतीस गट्यालंकार, यद्यपि साधारणतया एक ही हैं, तथापि प्राचीन परम्परा-असार हमने भी पृथक् पृथक् कथन कियाहै । जैसे बैलगाड़ी लीक लीक चला करती है। जिधर से एक गई है उसी चुएएमार्ग से बन्य भी जाती है। पीछे जानेवाली प्रायः दूसरा सरल मार्ग निकालने का उद्योग—सम्भव हो तो भी— वहीं करती, इसी प्रकार विशेष विचार न करके परम्परानुसार जो काम किया श्राप उसे 'गडुलिकाप्रवाह' कहते हैं। एषु चेति - इनमें से कई, गुण, श्लंकार, भाव और सन्धियों के अन्तभू तही सकते हैं, तथापि नाटकों में इनकी अवस्य कर्तव्यता बताने के लिये विशेषता से पृथक् कथन किया है। ये सब नाटकों में अवश्य करने चाहियें। यही बात मरतमुनि ने भी कही है—पञ्चेति— पांच सिन्धयों से, चार वृत्तियों से, चौंसट ग्रङ्गों से तथा ब्रुतीस लच्चणों से युक्त अलंकारों (पूर्वोक्त नाट्यालंकारों) से सुशोभित, अतिसरस, उत्कृष्ट भोगों (मार्वो) के (मार्ग) से युक्त, चमत्कार पूर्ण रचना से पूरित, महापुरुषों के सत्कार से इस का आश्रय और कोमल शब्दों से समन्वित नाटक कवि को बनाना शाहिये। इससे स्पष्ट है कि लज्ञ् और अलंकारों की रचना आवश्यक है। लास्याङ्गान्याह—

गेयपदं स्थितपाठ्यमासीनं पुष्पगिष्डिका ॥ २१२॥ प्रच्छेदकिक्षगृढं च सैन्धवाख्यं द्विगृढकम् । उत्तमोत्तमकं चान्यदुक्तप्रत्युक्तमेव च ॥ २१३॥ बास्ये दशविधं ह्येतदङ्गमुक्तं मनीषिभिः।

तत्र—

तन्त्री भारडं पुरस्कृत्योपविष्टस्यासने पुरः ॥ २१४॥ शुष्कं गानं गेयपदं

यथा—गौरीगृहे वीणां वादयन्ती 'मलयवती— 'उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरवुते मम हि गौरि । अभिवाञ्चितं प्रसिध्यतु भगवति युष्मत्प्रसादेन ॥'

स्थितपाट्यं तदुच्यते।

मदनोत्तापिता यत्र पठिति प्राकृतं स्थिता ॥ २१५ ॥

अभिनवगुप्तपादास्त्वाहुः—'उपलच्च्यां चैतत् । क्रोधोद्भ्रान्तस्यापि पाकृतपठनं स्थितपाठ्यम्' इति ।

निखिलातोचरहितं शोकचिन्तान्विताबला।
अप्रसाधितगात्रं यदासीनासीनमेव तत्॥ २१६॥
आतोचमिश्रितं गेयं छुन्दांसि विविधानि च।
श्रीपुंसयोर्विपर्यासचोष्टितं पुष्पगिरङ्का॥ २१७॥
अन्यासक्तं पतिं महवा प्रेमविष्छेदमन्युना।
वीणापुरःसरं गानं स्त्रियाः प्रच्छेदको मतः॥ २१८॥

वीध्यक्त आगे कहेंगे। लास्याक्तों का निक्षपण करते हैं—गेयपदामिति—हास्य के दस अक्त होते हैं। उनमें से—वीणा, तानपूरा (तन्त्रीमाएड) आदि को आगेर कर, आसन पर वैठे हुए पुरुष या स्त्री के शुष्कगानको गेयपद कहते हैं। श्यिति—मदन से संतप्त नायिका वैठकर जो प्राष्ट्रत पाठ करती है उसे श्यितपाल्य कहते हैं। अभिनवगुप्तपादाचार्य का मत है कि यह उपलक्षणमात्र है। क्रुद्ध और मार्क स्त्री पुरुषों का प्राष्ट्रतपठन भी श्यितपाल्य कहाता है। शोक और चिन्ता से अक्त अभूषिताक्ती कामिनी, किसी बाजे के विना, वैठकर जो गाती है उसे आशि कहते हैं। बाजे के साथ जहां गाना हो, छंद अनेक प्रकार के हों, स्त्री पुरुषों की वेष्टायें विपर्यस्त हों अर्थात् स्त्रियां पुरुषों का और पुरुष स्त्रियों का अभिनय करते हों उसे पुष्पाणिडका कहते हैं। पति को अन्य नायिका में आसक्त जानकर प्रेमविच्छेद के अनुताप से वीणा के साथ जो स्त्री का गाना है उसे प्रकार के प्रमान के स्त्री का अपना से आसक्त जानकर प्रमाविच्छेद के अनुताप से वीणा के साथ जो स्त्री का गाना है उसे प्रवेश

स्त्रीवेषघारिणां पुंसां नाट्यं रत्तच्णं त्रिगृहकम्। यथा मालत्याम्— 'मकरन्दः -- एषोऽस्मि मालतीसंवृत्तः ।' कश्चन भ्रष्टसंकेतः सुच्यक्तकर्णान्वितः॥ २१६॥ प्राकृतं वचनं वाक्ति यत्र तत्सैन्धवं मतम्। करणं वीणादिकिया।

चतुरस्रपदं गीतं सुखप्रतिसुखान्वितम् ॥ २२०॥ द्विग्ढं रसभावास्त्रमुत्तमोत्तमकं पुनः। कोपप्रसादजमधिचेपयुक्तं रसोत्तरम्॥ २२१॥ हाबहेलान्वितं चित्रश्लोकबन्धमनोहरम्। उक्तिप्रत्युक्तिसंयुक्तं सोपालम्भमलीकवत्॥ २२२॥ विवासान्वितगीतार्थमुक्तप्रत्युक्तमुच्यते।

स्पष्टान्युदाहरगानि ।

एतदेव यदा सर्वैः पताकास्थानकैर्युतम् ॥ २२३॥ अङ्गेश्च दशभिधीरा महानाटकमूचिरे।

एतदेव नाटकम् । यथा--- त्रालरामायगाम् ।

अथ प्रकरणम्-

भवेत्मकरणे वृत्तं लौकिकं कविकरिपतम् ॥ २२४॥ शृङ्गारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा विष्क् । सापायधर्मकामार्थपरो धीरप्रशान्तकः ॥ २२५॥

कहते हैं। स्त्री के वेषको धारण किये हुए पुरुषों का श्लक्ष्णनाट्य त्रिगृदक कहाता है। जैसे मालतीमाधव में मकरन्द मालती बना था। जहाँ कोई म्रष्टसंकेत किर पुरुपष्ट वीणात्रादि करण (साधन) के साथ प्राकृत गीतिकागान करे. वह सेन्वन कहलाता है। चतुरस्रेति — जिसमें सब पद चोरस श्रीर सुन्दर हों, मुख शितिमुद्ध (सिन्ध्यां) विद्यमान हो, रस श्रीर भाव सुसम्पन्न हों उस गीत को हिए कहते हैं। कोप और प्रसन्नता से उत्पन्न, आद्येप से युक्त, रसपूर्ण, हैंव और हैला (पूर्वोक्त) से संयुक्त, विचित्र पद्यरचना से मनोहर गान को कातिम्ह कहते हैं। उक्ति प्रत्युक्ति से युक्त, उपालम्म के सहित अलीक (अप्रिय है। प्रिक्ष, ) े क्लि प्रत्युक्ति से युक्त, उपालम्म के सहित अलीक (अप्रिय गिमिथ्या) के समान प्रतीत होनेवाला, विलासपूर्ण अर्थ से सुसम्पन्न गान किएक कहलाता है। एतदेवेति—यही नाटक यदि सम्पूर्ण पताकास्थानकों के बातरामा-वेशीर दशों श्रङ्गों से युक्त हो तो उसे महानाटक कहते हैं। जैसे बालरामा-भा अक्षा से युक्त हो तो उसे महानाटक कहत है. विशेष का त्वारा—भवेदिति—'प्रकरण' में कथा लौकिक, कविकरिपत वित्र हित्रहास प्रसिद्ध नहीं होती। इसमें प्रधान रस शङ्कार होता है भीर नायक प्रसिद्ध नहीं होती। इसमें प्रधान रक्ष का विकार्य

विप्रनायकं यथा मृच्छ्रकटिकम् । अमात्यनायकं मालतीमाधवम् । विग्रिङ्नाकः

पुष्पभूषितम् ।

नायिका कुलजा कापि, वेश्या कापि, द्वयं कचित्। तेन भेदास्त्रयस्तस्य तत्र भेद्स्तृतीयकः ॥ २२६॥ कितवयूतकारादिविटचेटकसंकुलः।

कुलंस्री पुष्पभूषिते । वेश्या तु रङ्गवृत्ते । द्वे अपि मृच्छ्रकटिके । अस्य नाटक प्रकृतित्वाच्छ्रेषं नाटकवत्।

अथ भागाः-

भाणः स्याद्धर्तेचरितो नानावस्थान्तरात्मकः ॥ २२७॥ एकाङ्क एक एवात्र निपुणः पण्डिलो विटः। रक्के प्रकाशयेत्स्वेनानुभूतमितरेण वा ॥ २२८॥ संबोधनोक्तिप्रत्युक्ती क्रुर्योदाकाशभाषितैः। सूचयेद्वीरशृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यवर्णनैः ॥ २२६ ॥ तत्रेतिवृत्तमुत्पायं वृत्तिः प्रायेण भारती। मुखनिर्वहणे संघी लास्याङ्गानि द्शापि च॥ २३०॥

अत्राकाशभाषितरूपपरवचनमपि स्वयमेवानुवदन्नुत्तरपत्युत्तरे कुर्यात्। शृक्षाः वीररसौ च सौभाग्यशौर्यवर्णनया सूचयेत्। पायेण भारती कापि कैशिक्यपि इति र्भवति । लास्याङ्गानि गेयप्दादीनि । उदाहर्गां लीलामधुकरः ।

धर्म, अर्थ और काम में तत्पर, धीरप्रशान्त होता है। ब्राह्मण नायक जैसे मृज कटिक में, अमात्य 'मालतीमाधव' में, और वैश्य नायक 'पुष्पभूषित' में।प्रकर्ष में कहीं तो कुलकन्या ही नायिका होती है, कहीं चेश्या, और कहीं दोनी होती है—ग्रतः इसके तीन भेद होते हैं। इनमें तीसरा भेद धूर्त, जुग्रारी, विट, चेटारि से व्याप्त होता है। कुलस्त्री 'पुष्पभूषित' में न। यिका है, वेश्या 'रङ्गवृत्तं में, और दोनों 'मुञ्जुकटिक' में हैं। पहले यह कह जुके हैं कि 'विना विशेषं सर्वेषों हरी नाटकवन्मतम्', श्रतः प्रकर्ण में श्रनुक्त सब बातें नाटक के समान जानना। त्रथ भाण निरूपण—माण इति—धूर्तों के चरित से युक्त अनेक अवस्था से व्याप्त और एक ही श्रङ्क का भाण होता है। इसमें अकेला विट जो विष श्रीर पंडित होता है—रङ्ग में श्रपनी श्रनुभूत या श्रीरों की श्रनुभूत बार्ली । मकाशित करता है। सम्बोधन और उक्ति-प्रत्युक्ति, 'श्राकाशभाषित' के ही होती हैं। सौभाग्य और शौर्य के वर्णन से वीर और श्रङ्गाररस का स्वति के जाता है। यहां कथा किएत होती है और वृत्ति प्रायः भारती (कहीर केशी) होती है। इसमें मूल की कि होती है। इसमें मुख और निर्वहण सन्धियां होती हैं। तथा दसी होते हैं। लास्पाङ्ग=गेयपदादिक श्रमी कहे हैं। उदाहरण जैसे लीलामहरू

ह्यातेतिवृत्तो व्यायोगः स्वल्पस्त्रीजनसंयुतः। ह्यातात् है । स्वीतिम्यां नरेबेहुभिराश्रितः ॥ २३१ ॥ एकाङ्कश्च भवेदस्त्रीनिमित्तसमरोद्यः। केशिकीवृत्तिरहितः प्रख्यातस्त्त्र नायकः ॥ २३२॥ राजिंषरथ दिन्यो वा भवेदीरोद्धतश्च सः। हास्यशृङ्गारशान्तेभ्य इतरेऽत्राङ्गिनो रसाः॥ २३३॥ यथा सौगन्धिकाहरणम्।

अथ समवकार:-

वृतं समवकारे तु ख्यातं देवासुराश्रयम्। संघयो निर्विमशीस्तु त्रयोऽङ्कास्तत्र चादिमे ॥ २३४॥ संघी द्वावन्त्ययोस्तद्वदेक एको भवेत्पुनः। नायका द्वादशोदान्ताः प्रख्याता देवमानवाः ॥ २३५॥ पतं पृथकपृथकतेषां वीर मुख्योऽखिलो रसः। वृत्तयो मन्द्कैशिक्यो नात्र बिन्दुप्रवेशकौ ॥ २३६॥ वीध्यङ्गानि च तत्र स्युर्यथाला मं त्रयोदश। गायत्र्युिषङ्मुखान्यत्र च्छन्दांसि विविधानि च ॥ २३७॥ त्रिशृङ्गारस्त्रिकपटः कार्यश्रायं त्रिविद्रवः। वस्तु द्वाद्शनालीभिर्निष्पाचं प्रथमाङ्कगम्॥ २३८॥

व्यायोग —व्यायोग में कथा इतिहास प्रसिद्ध होती है। स्त्रियां थोड़ी होती विमर्श सिन्धयों से हीन तथा बहुत पुरुषों से म्राभित होता हिसमें अङ्क एक ही होता है और युद्ध स्त्री के कारण नहीं होता। कैशिकी कृति इसमें नहीं होती। इसका नायक प्रख्यात धीरोद्धत राजि अथवा विय पुरुष होता है। हास्य, श्रुङ्गार, शांत इनसे श्रन्य कोई रस यहां प्रधान होता है। जैसे 'सौगन्धिकाहरणं'।

समबकार में देवता और श्रासुरों के सम्बन्ध की इतिहास पुराणादि प्रसिद्ध भ्या निबद्ध की जाती है। विमर्श के अतिरिक्त चार सन्धि एवं तीन अक्र कि है। उनमें से प्रथम अङ्क में दो सन्धियां और दूसरे, तीसरे अङ्कों में एक क सन्धि होती है। बारह उदात्त (धीरोदात्त ) नायक, देवता और मनुष्य गढ़ां निवद्ध होते हैं। उन सब (नायकों) का फल पृथक होता है। जैसे प्रमुद्रमन्थन में विष्णु आदि को लक्ष्मी आदि को प्राप्ति हुई है। इसमें वीरस विष्य होता है, और सब गौरा। वृत्तियां, कैशिकी को छोड़कर अन्य होती है। विन्दु और प्रवेशक नहीं होते। किन्तु यथासम्भव तेरह वीध्यक्ष होते है। गायत्री, उदिशाक् आदि अनेक प्रकार के छुन्द होते हैं। तीन प्रकार का विद्रव भार (वक्ष्यमाणा) तीन प्रकार का कपट और तीन प्रकार का विद्रव (शहा भयाविकत सम्म्रम) इसमें दोना चाहिये। प्रथम अङ्क की कथा विशे होनी चाहिये जो बारह नाड़ियों में सम्पादित हुई हो।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

# द्वितीयेऽङ्के चतस्रिमद्राभ्यामङ्के तृतीयके।

नालिका घटिकाद्रयमुच्यते । बिन्दुपवेशकौ च नाटकोक्तावपि नेह विधातन्यौ।

धमर्थिकामैस्त्रिविधः श्रुङ्गारः, कपटः पुनः ॥ २३६॥ स्वाभाविकः कृत्रिमरच दैवजोः विद्रवः पुनः। अवेतनैश्चेतनैश्च चेतनाचेतनैः कृतः ॥ २४०॥

तत्र शास्त्राविरोघेनकृतोधर्मश्रङ्गारः। ऋर्थलाभार्थकः ल्पितोऽर्थश्रङ्गारः। प्रहसनश्रङ्गारः कामशृङ्गारः।तत्रकामशृङ्गारः पथमाङ्ग एव। अन्ययोस्तु न नियम इत्याहुः। चेतना चेतना गजादयः।समवकीर्यन्ते बहवोऽर्थात्र्यस्मिनिति समवकारः।यथा-समुद्रमथनम्। अथ डिमः

मायेन्द्रजालसंप्रामकोधोद्भ्रान्ताद्चिष्टिनैः। उपरागैश्च भूपिष्ठो डिमः ख्यातेतिवृत्तकः ॥ २४१ ॥ अङ्गी रौद्ररसस्तत्र सर्वेऽङ्गानि रसाः पुनः। चत्वारोऽङ्का मता नेह विष्कम्भकप्रवेशकौ ॥ २४२॥ नायका देवगन्धर्वयत्तरत्त्रोमहोरगाः। भूनवेनपिशाचाचाः षोडशात्यन्तमुद्धनाः॥ २४३॥ वृत्तयः कैशिकीहीना निर्विमशीश्च संघयः।

दूसरे श्रङ्क की कथा चार नाड़ी में श्रीर तीसरे की दो नाड़ी की हो। दो घड़ी की एक नाड़ी होतो है। धर्मेते—श्रुहार तीन प्रकार का होता है धर्मशृहार अर्थश्रहार और कामश्रहार। स्वामाविक, कृत्रिम और दैवज यह तीन प्रकार का कपट होता है। चेतन अचेतन और चेतनाचेतनों से किया हुआ तीन प्रकार का विद्व होता है। इनमें शास्त्र की मर्थादा का उल्लंघन न करके जा प्रवृत्त है उसे धर्मश्रुङ्गार कहते हैं। जो धन के लिये प्रवृत्त हो वह अर्थश्रुङ्गार और जी कामके ही अनुगुण हो वह कामश्रुकार कहाता है। कामश्रुकार इसके प्रथम अह में ही होता है मोर श्रन्य श्रङ्गारों के लिये कुछ नियम नहीं है। जो कुछ चेता श्रीर कुछ श्रचेतन हो उन्हें चेतनाचेतन कहते हैं — जैसे हाथी श्रादि। एवं वेतन मनुष्यादि और अचेतन अगिन आदि को विद्रवकारक जानना। जिसमें वि प्रकार के अर्थ समवकी ए निबद्ध हों उसे समवकार कहते हैं। जैसे समुद्रमाणा अथ डिमः — गायेति — जिसकी कथा इतिहासप्रसिद्ध हो, वह माया, इत्रुजा

संप्राम, क्रोध और उन्मत्तादिकों की चेष्टाओं तथा उपरागों (सूर्य चन्द्रप्रहण) के वृत्त से व्याप्तरूपक डिम कहाता है। इसमें रौद्ररस अर्झा होता है और ही अङ्ग होते हैं। अङ्ग चार होते हैं। विष्कम्भक और प्रवेशक नहीं होते। देवती गन्धर्व, यत्त, राज्ञस, महोरग, भूत, प्रेत, पिशाच श्रादिक श्रत्यन्त उद्धत सीहा गायक इसमें को के के कि नायक इसमें होते हैं। कैशिकी को छोड़का सन्य विकाश रिया शास्त, हार

द्वीह्याः स्युः षड्साः शान्तहास्यशृङ्गारवर्जिताः ॥ २४४ ॥ अत्रोदाहरणं च 'त्रियुरदाहः' इति महर्षिः ।

अयेहासृग:--

ईहामृगो मिश्रवृत्तरचतुरङ्कः प्रकीर्तितः।

मुखप्रतिमुखे संघी तत्र निर्वहणं तथा॥ २४५॥

नरिद्वाविष्यमौ नायकप्रतिनायकौ।

ह्यातौ घीरोद्धतावन्यो गृहभावाद्युक्तकृत्॥ २४६॥

दिव्यक्षिप्रमानिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः।

शृङ्गाराभासमप्यस्य किंचित्किचित्पद्र्शयेत्॥ २४७॥

पताकानायका दिव्या मत्यो वापि द्रशोद्धताः।

गृद्धमानीय संरम्भं परं व्याजान्निवर्तते॥ २४८॥

महात्मानो वधप्राप्ता श्रपि वध्याः स्युरन्न नो।

एकाङ्को देव एवान्न नेतित्याहुः परे पुनः॥ २४६॥

दिव्यक्षीहेतुकं युद्धं नायकाः षडितीतरे।

मिश्रं ख्याताख्यातम् । अन्यः प्रतिनायकः । पताकानायकास्तु नायकप्रतिगयकयोर्मिलिता दश । नायको मृगवदलभ्यां नायिकामत्र ईहते वाञ्छ्रतीतीहामृगः।
ग्या—कुसुमशेखरिवजयादिः ।

श्रीर श्रृहार को छोड़ कर दीस छः रस इसमें होते हैं। इसका उदाहरण 'त्रिपुरदार' है, यह भरतमुनि ने कहा है। ईहामृग—जिसकी कथा मिश्रित अर्थात् कुछ 
पितहासिक और कुछ किएत हो जिसमें चार अङ्क और मुख, प्रतिमुख निर्वहण 
पेतीन सन्धियां हों उसे ईहामृग कहते हैं। इसमें नायक और प्रतिनायक, प्रसिद्ध 
पीरोड़त मजुष्य अथवा देवता होते हैं। 'अन्य' अर्थात् प्रतिनायक प्रच्छक 
पीति से पापाचरण करता है। इसमें अनासक किसी दिव्य नारी को अपहार 
(रित्य) आहि के द्वारा चाहते हुए प्रतिनायक का श्रृहाराभास भी कुछ कुछ 
देवाना चाहिये। दिव्य अथवा मजुष्य दस उद्धत पुरुष पताका के नायक होते 
पाने वह दल जाता है। महात्मा लोग वधाई होने पर भी इसमें मारे नहीं 
पाने वह दल जाता है। महात्मा लोग वधाई होने पर भी इसमें मारे नहीं 
पाने वह दल जाता है। महात्मा लोग वधाई होने पर भी इसमें मारे नहीं 
पाने कि अलिख होने पर भी इसमें नहीं दिखाया जाता। इसमें अङ्क एक ही 
पाने कि कहता है कि यहां एक देवता ही नायक होता है, परन्तु अन्यों का 
के प्रत्य अलिख काते हैं और दित्य स्त्री के कारण युद्ध होता है। इसमें सुग 
СС-0. Митик Враман Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अयाङ्कः—
उत्सृष्टिकाङ्क एकाङ्को नेतारः प्राकृता नराः ॥ २५०॥
रसोऽत्र करुणः स्थायी बहुस्त्रीपरिदेवितम् ।
प्रव्यातमितिवृत्तं च कविर्वुद्ध्या प्रपश्चयेत् ॥ २५१॥
भाणवत्संधिवृत्त्यङ्गान्यस्मिञ्जयपराजयौ ।
युद्धं च बाचा कर्तव्यं निर्वेदबचनं बहु ॥ २५२॥

इमं च केचित् 'नाटकाबन्तःपात्यङ्कपरिच्छेदार्थमुत्सृष्टिकाङ्कनामानम्' आहुः। अन्ये तु—'उत्क्रान्ता विलोमरूपा सृष्टिर्यत्रेत्युत्सृष्टिकाङ्कः।' यथा——शर्मिष्ठाययातिः। अथ वीथी—

वीध्यामेको भवेदङ्गः कश्चिदेकोऽत्र कल्प्यते । त्राकाशभाषितैककैश्चित्रां प्रत्युक्तिमाश्चितः ॥ २५३॥ सूचयेद्भूरिश्चङ्गारं किंचिद्द्रपान् रसान्प्रति । मुखनिर्वहणे संघी अर्थप्रकृतयोऽखिलाः ॥ २५४॥

असत्प्रलापव्याहारमृद्(मार्द्)वानि चतानि तु ॥ २५६॥
तत्रोद्घात्यकावलगिते पस्तावनापस्तावे सोदाहरणं लिखते।

 प्रिणो वाक्यमसङ्गतं प्रपश्चो हास्यकृत्मतः।

विक्रमोर्वश्याम्—वलभीस्थविद्षकचेट्योरन्योन्यवचनम्।

विक्रमोर्वश्याम्—वलभीस्थविद्षकचेट्योरन्योन्यवचनम्।

विक्रमोर्वश्याम् अतिसाम्यतः।। २५७॥

य्या तत्रैव—राजा— सर्वितिभृतां नाथ, दृष्टा सर्वोङ्गसुन्दरी। रामा रम्ये वनान्तेऽस्मिन्मया विरहिता त्वया॥'

(नेपध्ये तथैव प्रतिशब्दः।) राजा—कथं दृष्टेत्याह।'

अत्र प्रश्नवाक्यमेवोत्तरत्वेन योजितम् । 'नटादित्रितयविषयमेवेदम्'इति करिचत्। वियाभैरिययेवांक्यैर्विलोभ्य च्छुलना छुलम् ।

यथा वेएयाम्—'भी सार्जुनौ—

कर्ता द्व्तच्छलानां, जतुमयशरगादिपनः, सोऽभिमानी राजा दुःशासनादेगु हरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम्।

कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः, पाएडवा यस्य दासाः

कास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत, न रुषा, द्रष्टुमम्यागतौ स्वः ॥

श्रन्ये त्वाहुरछुतं किंचित्कार्यमुद्दिरय कस्यचित् ॥ २५६॥ उदीर्यते यद्वचनं बश्चनाहास्यरोषकृत्। वाकेतिहास्यसंबन्धो द्वित्रिप्रत्युकितो भवेत्॥ २५६॥

दित्रीत्युपलं च्याम् । यथा-

'भिन्नो मांसनिषेवणां प्रकुरुषे, किं तेन मद्यं विना न्यां मद्यं चापि तव पियं प्रियमहो वाराङ्गनामिः सह।

के प्रकरण में उदाहरण सहित दिखा दिये हैं। निय इति—परस्पर के हास्यकारी असहाक्य को प्रपन्न कहते हैं। शब्दों की समानता के कारण अनेक अथों की क्ल्पना करना निगत कहाता है। जैसे विक्रमोर्वशी में—संगति—यहां राजा की कि में 'मया' का सम्बन्ध 'विरहिता' के साथ है और 'त्वया' का 'हष्टा' के साथ। किन्तु पर्वत की प्रतिध्वनि से इसी पद्य को सुनकर उसने शब्दयोजना को उत्तर कर यह अर्थ समभा कि 'त्वया विरहिता—मया हप्टा'। यहां प्रकार कर यह अर्थ समभा कि 'त्वया विरहिता—मया हप्टा'। यहां प्रकार को ही उत्तर समभ लिया गया है। कोई (दशक्रपक्कार) कहता है कि यह 'त्रिगत' नट नटी और पारिपार्श्विक के ही करने का है। प्रिय सहश्य अभिय वाक्यों से किसी को छलना छल कहताता है। जैसे वे० सं० में—कर्तियादि। क्ष्मीलिति—इसरे आचार्य कहते हैं कि 'किसी के किसी कार्य को लक्ष्य करके वेजा, हास्य अथवा रोषकारी वचन बोलना छल कहाता है'। वाक्रितिति—जहां यो तीन उक्ति अत्युक्तियों से हास्य प्रकट हो उसे बाक्रीब कहते हैं। 'दो तीन' यह उपकृत्य है। इससे अधिक होने पर भी यही होता है। जैसे-भिनो हत्यादि।

वेश्याप्यर्थरुचिः कुतस्तव धनं, द्यूतेन चौर्येण वा चौर्यद्यूतपरिप्रहोऽपि भवतो, नष्टस्य कान्या गतिः॥' केचित्—'प्रक्रान्तवाक्यस्य साकांच्यत्येव निवृत्तिर्वाक्केलिः' इत्याहुः। अन्ये च 'अनेकस्य प्रश्नस्यैकमुत्तरम्।'

अन्योन्यवाक्याधिक्योक्तिः स्पर्धयाधिबलं मतम्। यथा मम प्रभावत्याम्—'बज्जनाभः—

'अस्य वत्तः त्तृ होनैव निर्मध्य गदयानया । लीलयोन्मूलयाम्येष भुवनद्वयमद्य वः ॥'

प्रद्युम्नः - अरं रे असुरापसद्, अलममुना बहुपलापेन । मम खलु-

कोदयडनिर्गलितकायडसमूहपातैः । आस्तां समस्तदितिजचतजोचितेयं

चोिणः च्योन पिशिताशनलोमनीयाः॥'

गर्रं प्रस्तुतसंबन्धि भिन्नार्थं सत्वरं वचः ॥ २६०॥

यथा वेएयाम्—'राजा—

अध्यासितुं तव चिराज्जघनस्थलस्य पर्याप्तमेव करभोरु ममोरुयुग्मम् ॥'

अनन्तरम् ((प्रविश्य ) कंचुकी—देव, भग्नं भग्नं—' इत्यादि । अत्र रथकेतनभङ्गार्थं वचनमूरुभङ्गार्थे संबद्घे संबद्घम् ।

व्याख्यानं स्वरसोक्तस्यान्यथावस्यन्दितं भवेत्।

तथा छलितरामे—'सीता—जाद, काल्लं क्खु अत्रोज्काएण गन्तव्वम्, तरि

कोई कहते हैं कि श्रारम्म किया हुश्चा वाक्य यदि साकांत्त ही समाप्त हो जाय तो वाकेलि होती है। दूसरों का मत है कि श्रानंक प्रश्नों का यदि एक ही उत्तर हो तो यह होती है। श्रन्योन्येति—स्पर्धा के कारण एक दूसरे से वढ़-चढ़कर यदि वाक्य बोलें तो उसे श्रविवल कहते हैं। जैसे प्रभावती में—बज्जनाम-अर्थेति स्सके श्रनन्तर प्रद्युम्न का 'श्ररे रे' इत्यादि वाक्य श्रोर भी तीत्र है। प्रकृत अर्थ से सम्बन्ध रखनेवाला त्वरायुक्त श्रन्यार्थक वाक्य गण्ड कहाता है। जैसे के संवर्भ राजा ने रानी से कहा कि 'तुम्हारे बैठने को मेरा अव्युग्म पर्याप्त हैं स्सीके श्रनन्तर तुरन्त श्राकर घवराये हुए कंचुकी ने कहा कि "महाराज हैं स्सीके श्रनन्तर तुरन्त श्राकर घवराये हुए कंचुकी ने कहा कि "महाराज हैं प्रया-दूट गया"। यह कंचुकी की उक्ति यद्यपि भिन्नार्थक है—इसका सम्बन्ध रखकी क्वा के मंग से हैं, तथापि प्रकृत अरु के भंग से सम्बद्ध हो जाती है।

अपनी स्वामाविक उक्ति का अन्यथा व्याख्यान करना अवस्यनिदत कहाता है। जैसे -- इिलतराम में सीता-जाद--''जात कल्यं खलु उपाध्यायेन गन्तव्यम् - तत्र स्रामी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हो राष्ट्रा विराएगा पर्णियद्वा । लवः — अथ किमावाम्यां राजोपजीविम्यां मविहार्ग । सीता — जाद, सो क्खु तुम्हार्गां पिदा । लवः — किमावयो रघुपतिः
हिना। सीता — (साशङ्कम् । ) मा अपर्णिधा संकद्भम् । ए। क्खु तुम्हार्गम्, सञ्चलाए
देवे पुह्वीएति ।'

प्रहेलिकेव हास्येन युक्ता अवति नालिका ॥ २६१॥ संवरणकार्युत्तरं प्रहेलिका।

यथारतावल्याम्—'सुसंगता—सहि, जस्स किदे तुमं आश्रदा सो इध ज्जेव विद्वि सागरिका—कस्स किदे अहं आश्रदा। सुसंगता— एवं क्खु चित्त-प्रतिभस्स ।' अत्र त्वं राज्ञः कृते आगतेत्यर्थः संतृतः ।

ग्रसत्प्रतापो यद्वाक्यमसंबद्धं तथोत्तरम्। ग्रगृह्वतोऽपि मुर्खस्य पुरो यच हितं वचः॥ २६२॥

तत्रावं यथा मम प्रभावत्याम् — प्रास्तु उन्नः — (सहकारविश्वीमविलोक्य सानन्द्रम्।) श्रहो, कथिमहैव

'श्रिलकुलमञ्जुलकेशी परिमलबहुला रसावहा तन्वी। किसलयपेशलपाणिः कोकिलकलभाषिणी प्रियतमा मे॥' प्वमसंबद्घोत्तरेऽपि। तृतीयं यथा वेण्यां दुर्योधनं प्रति गान्धारीवाक्यम्। व्याहारो यत्परस्यार्थे हास्यक्षोभकरं वचः।

विवेन प्रणिवतन्यः"। लवः — अधेति । सीता — जाद — "जात स खलु युवयोः पिता"। विवात सीता के मुख से स्वभावतः निकल गई, परन्तु लव के यह कहने पर कि किमावयोः वह कुछ सशङ्क हो गईं। उन्हें सन्देह हो गया कि अब तक जो बात महर्षि वाल्मीकि ने अत्यन्त गोष्य रक्खी है वह कहीं फूट न जाय, अतः अपनी उक्ति का अर्थान्तर करके बोलीं कि मा अर्णधा—"मा अन्यथा शहेथाम्, न खलु अयोदि, सक्लाया अपि पृथिन्या इति"।

हास्ययुक्त 'प्रहेलिका' को ही नालिका कहते हैं। गोपनकारी उत्तर को प्रहेलिका कहते हैं। जैसे रत्नावली में सुसंगता—सिंह—"सिंख, यस्य कृते त्वमागता सोऽत्रैव-वित्रें। सागरिका—कस्स—"कस्य कृतेऽहमागता ?" सुसंगता—णं—"नतु खलु नित्रक्तस्य।"। अत्रेति—त् राजा के लिये आई है, यह बात यहां स्त्रिपाई गई मिन्निति—जो वाक्य अथवा जो उत्तर असंबद्ध है अथवा न समसते हुए कि आगे जो हितकथन है उसे असत्प्रलाम कहते हैं। पहले का उदाहरण—का अयोजन सिन्ध का वे० सं० में दुर्योधन के प्रति गान्धारी का उपदेश। दूसरे वित्रक करने के लिये जो हास्य और जो सकारी वचन हैं, उन्हें व्याहार

यथा मालविकारिनमित्त्रे—ं( लास्यप्रयोगावसाने मालविका निर्गन्तुमिच्छ्ति।) विद्षक:--मा दाव उवदेससुद्धा गमिस्सिस । (इत्युपक्रमेख) गणदासः (विद्यकं प्रति।) अपर्यं, उच्यतां यस्त्वया क्रममेदो लच्चितः। विद्यकः न्यदमं बम्भगापूत्रा भोदि । सा इमाए लिख्वदा। ( मालविका स्मयते ।) इत्यादिना नायकत्य विशुद्धनायिकादर्शनपयुक्तेन हासत्तोभकारिणा वचसा व्याहारः।

दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युर्खदवं हि तत्।। २६३॥

क्रमेगा यथा-

'प्रियजीवितंता क्रौर्यं नि:स्नेहत्वं कृतघ्नता । भूयस्त्वदर्शनादेव ममैते गुणतां गताः ॥' 'तस्यास्तद्रूपसौन्दर्यं भूषितं यौवनश्रिया। सुखैकायतनं जातं दुःखायैव ममाधुना ॥'

एतानि चाङ्गानि नाटकादिषु संभवन्त्यपि वीध्यामवश्यं विधेयानि। स्पष्टतया नाटका-दिषु विनिविष्टान्यपीहोदाहृतानि । वीथीव नानारसानां चात्र मालारूपतया स्थित-त्वाद्वीथीयम् । यथा---मालविका ।

अथ प्रहसनम्

भाणवत्संधिसंध्यङ्गलास्याङ्गाङ्केविनिर्मितम्। मवेत्प्रहसनं वृत्तं निन्धानां कविकि लिपतम् ॥ २६४॥

अत्र नार्मटी, नापि विष्कम्भकपवेशकौ ।

कहते हैं। जैसे -मार मि० में - चिदूषक -मादाव - 'मा तावत् उपदेशशुद्धा गमिष्यिं" यहां से लेके-पढमं-"प्रथमं बाह्मणपूजा मवति, सा अनया लंघिता" इत्यादिक हास्य और चोमकारी वचनों से विदूषक ने राजा को विशुद्ध नायिका का दर्शन कराने के तिये व्याहार किया है। दोषा इति—जहाँ दोष गुण हो जायें या गुण दोष बन जायें उसे मृदव कहते हैं। जैसे — प्रियजीविततेति — तुम्हारे वियोग में प्राण न छोड़ते कारण उत्पन्न हुएमेरे प्रियजीवितत्व,कूरता,स्नेहगून्यता श्रीर कृतव्नता श्रादिक दोष आज फिर तुम्हारा दर्शन होते से गुण होगये। यदि ये न होते तो मर जी पर फिर तुम्हारा दर्शन मुक्ते कैसे होता ? यहां दोष भी गुण हो गये हैं। ही इति—यहां विरह के कारण सन्तापकारी होने से नायिका के सीन्द्यीदिक गु भी दोष हो गये हैं। एतानीति —ये श्रंग नाटकादिकों में भी हो सकते हैं, एत वीथीमें इनकी अगर्य विधेयता सूचन करने के लिये यहां स्पष्टता से उद्याहरी दिये हैं। जैसे दुकान (वीथी) में अने क रतादि स्थित होते हैं, उसी प्रकार अनि रसों के यथाकम स्थित होने से इसे वीथी कहते हैं। भाषेति — भाष के समात सि सन्ध्यक्त, लास्याक्त श्रीर श्रङ्कों के द्वारा सम्पादित, निन्दनीय पुरुषों की कि किएत वृत्तान्त प्रहसन कहलाता है। इसमें न आरभटी होती है, न विकास

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ब्रङ्गीहास्यरसस्तत्र बीथ्यङ्गानां स्थितिने वा।

तप्तिभगवद्विप्रभृतिष्वत्रं नायकः ॥ २६५ ॥ एको यत्र भवेदृष्टो हास्यं तच्छुद्रमुच्यते ।

ग्गा--कन्दपेकीलः । ग्राश्रित्य कंचन जनं संकीर्णमिति तद्विदुः ॥ २६६ ॥

या--धूर्तचरितम्। वृत्तं बहूनां धृष्टानां संकीणि केचिद्चिरे। तत्पुनभवति द्रथङ्कसथवैकाङ्कानिर्मितम्॥ २६७॥ या--लटकमेलकादिः।

मुनिस्त्वाह—

धेर्याचेटनपुंसकविटधूर्ता बन्धकी च यत्र स्यः । अविकृतवेषपरिच्छदचेष्टितकरणं तु संकीर्णम् ॥' इति । विकृतं तु विदुर्यच्य षयहकञ्चुकितापसाः । सुजङ्गचारणभटप्रभृतेर्वेषवाग्युताः ॥ २६८ ॥

र तु संकीर्योनैव गतार्थमिति मुनिना पृथं ब्नोक्तम् । अथोपरूपकारिए । तत्र—

नारिका क्लप्तवृत्ता स्यात्स्त्रीप्राया चतुरङ्किका।
प्रक्यातो घीरलालितस्तत्र स्यान्नायको चपः॥ २६६॥
स्याद्नतःपुरसंबद्धां संगीतव्यापृताथवा।
नवानुरागा कन्यात्र नायिका चपवंशजा॥ २७०॥

गौर न प्रवेशक ! श्रङ्गीति—इसमें हास्यरस प्रधान रहताहै । वीश्यक्त कहीं होते हैं, क्षांनहीं मी होते । इनमें—तपस्वीति—जहां तपस्वी, संन्यासी, ब्राह्मण आदिकों में के कोई पक घृष्ट नायक हो, वह शुद्ध हास्य जानना । जैसे कन्दपंके लि। आश्रत्येति—किसी अधृष्ट पुरुष का आश्रय (नायकत्वेन) होने से संकीर्ण हास्य होता है । क्षित्र कोई बहुत घृष्टों के चिरत को संकीर्ण कहते हैं । इस प्रहसन में एक या के शो हैं । जैसे लटकमेलकादि । भरत मुनि ने तो संकीर्ण का यह तव्य का हो वह संकीर्ण कहते हैं । जैसे लटकमेलकादि । भरत मुनि ने तो संकीर्ण का यह तव्य का हो वह संकीर्ण हसन होता है'। विकृतिमिति—जहां नपुंसक, कं जुकी और तापस कित महसन होता है'। विकृतिमिति—जहां नपुंसक, कं जुकी और तापस कित महसन होता है। वह संकीर्ण के ही अन्तर्गत है, अतः इसे मुनि ने पृथक् विकृति । नाटिकेति—नाटिका की कथा कविकतिपत होती है। इसमें अधिकांश निवास से सम्बन्ध रखनेवाली या गानेवाली राजवंश की कोई नवानुरागवती

संप्रवर्तेत नेतास्यां देव्यास्त्रासेन शङ्कितः।
देवी भवेत्पुनरुर्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥ २७१॥
पदे पदे मानवती तद्वशः संगमो द्वयोः।
वृत्तिः स्यात्केशिकी स्वरूपिकमर्शाः संघयः पुनः॥ २७२॥
द्वयोर्गायिकानायकयोः। यथा—रत्नावली-विद्वशालमित्रकादिः।
स्रथ त्रोटकम्—

सप्ताष्ट्रनवपश्चाङ्कं दिव्यमानुषसंश्रयम्। त्रोटकं नाम तत्प्राहुः प्रत्यङ्कं सविद्षकम्॥ २७३॥

प्रत्यङ्कसविद्वुषकत्वादत्र शृङ्गारोऽङ्गी । सप्ताङ्कं यथा—स्तम्भितरम्भम् । पञ्चाङ्कं यथा—विक्रमोर्वशी ।

अय गोष्ठी—

प्राकृतैर्नवभिः पुंभिदेशभिवीष्यलंकृता ।
नोदात्तवचना गोष्ठी कैशिकीवृत्तिशालिनी ॥ २७४॥
हीना गर्भविमशिभ्यां पश्चषड्योषिदन्विता ।
कामश्रृङ्गारसंयुक्ता स्यादेकाङ्कविनिर्मिता ॥ २७५॥
यथा—रैवतमदनिका ।

था—स्वतमदानका श्रथ सदृकम्—

सद्दर्भ प्राकृताशेषपाठ्यं स्वाद्यवेशकम् । न च विष्कम्भकोऽप्यत्र प्रचुरश्चाद्भुतो रसः॥ २७६॥ स्रङ्का जवनिकाख्याः स्युः स्याद्यन्यन्नाटिकासमम्।

वधा—कपूरमलरी।

बधानायकं नाव्यरासकम्

वहात्तनायकं नद्धत्पीठमद्रीपनायकम्।

हास्योऽङ्गयत्र सश्चङ्गारो नारी वासकसाजिका॥ २७८॥

मुखनिर्वहणे संघी लास्याङ्गानि द्शापि च।

केवित्प्रतिमुखं संघिमिह नेच्छन्ति केवलम्॥ २७६॥

तत्र संधिद्धयवती यथा—नर्मवती। संधिचतुष्टयवती यथा—विलासवती।

बध्य प्रस्थानकम्—

प्रस्थाने नायको दास्रो हीनः स्यादुपनायकः।
दासी च नायिका वृत्तिः कैशिकी भारती तथा॥ २८०॥
सुरापानसमायोगादुदिष्टार्थस्य संहृतिः।
सङ्गो द्वौ वयतावादिर्विवासो बहुवस्तथा॥ २८१॥

यथा—शृङ्गारतिलकम् । अयोज्ञाप्यम्—

उदात्तनायकं दिव्यवृत्तमेकाङ्कभूषितम्। शिल्पकाङ्गेर्युतं हास्यश्रुङ्गारकरुणै रसैः॥ २८२॥ उज्जाप्यं बहुसंग्राममस्रगीतमनोहरम्। वतस्रो नायिकास्तत्र त्रयोऽङ्का इति केचन॥ २८३॥

शिल्पकाङ्गानि वद्यमागानि । यथा—देवीमहादेवम् ।

वैसे कर्र रमखरी। नाव्यासक में एक ही श्रङ्क होता है। लय श्रोर ताल बहुत होते हैं। नायक उदात्त होताहै। पीठमर्द उपनायक होताहै। श्रङ्कार सहित हास्यरस अक्षी होता है। नायिका वासकसज्जा होती है। इसमें मुख श्रोर निर्वहण सिध्या गार्स लास्याङ्ग होते हैं। कोई इसमें प्रतिमुख के श्रतिरिक्त चारों सिध्या गानते हैं। दो सिध्याला उदाहरण नर्मवती—श्रोर चार सिध्याला—विलासवती। प्रत्थान में नायक दास होता है—उससे हीन उपनायक होता है। सिधी नायिका होती है। केशिकी श्रोर मारती वृत्ति होती है। सुरापान के सिथान होती है। केशिकी श्रोर मारती वृत्ति होती है। सुरापान के सिथान बहुत होता है। उल्लाप्य का लक्षण—उदावेति—जिसमें नायक वितास बहुत होता है। उल्लाप्य का लक्षण—उदावेति—जिसमें नायक वितास हो, कथा दिव्य हो, श्रङ्क एक हो, शिल्पक (वश्यमाण उपक्पक) सेश्व एवं हास्य, श्रङ्कार श्रीर करुण्यस हो उसे उद्याप्य कहते हैं। इसमें किलाम बहुत होता है। श्रङ्कार श्रीर करुण्यस हो उसे उद्याप्य कहते हैं। इसमें किलाम बहुत होता है। श्रङ्कार श्रीर करुण्यस हो उसे उद्याप्य कहते हैं। इसमें किलाम बहुत होता है। श्रङ्कार श्रीर करुण्यस हो उसे उद्याप्य कहते हैं। इसमें किलाम बहुत होता है। श्रङ्कार श्रीर करुण्यस हो उसे उद्याप्य कहते हैं किलाम वहत होता है। श्रङ्कार श्रीर करुण्यस हो उसे उद्याप्य कहते हैं कि

अथ कान्यम्— कान्यमारभरीहीनमेकाङ्कं हास्यसंज्ञतम् । स्वग्रहमात्राद्विपदिकाभग्नतात्वैरतंकृतम् ॥ २८४॥ वर्णमात्राद्वगणिकायुतं श्रुङ्कारभाषितम् । नेता स्त्री चाप्युदात्तात्र संघी आयो तथान्तिमः॥ २८५॥ यथा—यद्वोदयः।

अथ प्रेह्मग्रम्—

गर्भावमर्शरहितं प्रेङ्खणं हीननायकम् । श्रस्त्रश्वारमेकाङ्कमविष्कम्भप्रवेशकम् ॥ २८६ ॥ नियुद्धसम्फेटयुतं सर्ववृत्तिसमाश्रितम् । नेपथ्ये गीयते नान्दी तथा तत्र प्ररोचना ॥ २८७ ॥

यथा-वालिवधः।

अथ रासकम्—

रासकं पश्चपात्रं स्यान्मुखिनर्बह्णान्वितम् । भाषाविभाषाभृयिष्ठं भारतीकैशिकीयुतम् ॥ २८८ ॥ श्रसूत्रधारमेकाङ्कं सवीध्यक्कं कलान्वितम् । रिलष्टनान्दीयुतं ख्यातनायिकं सूर्खनायकम् ॥ २८६ ॥ उदात्तभावविन्याससंश्रितं चोत्तरोत्तरम् । इह प्रतिमुखं संधिमपि केचित्प्रचत्त्ते ॥ २६० ॥ यथा—मेनकाहितम् ।

इसमें तीन अङ्क हाते हैं। जैसे 'देवी महादेव'। काव्यनामक उपक्षकका लहण आरमटी वृत्तिसे रहित, एक अङ्कवाला, हास्यरससे व्याप्त, खएडमात्रा, हिएिं का और मग्नताल नामक गीतों से पूर्ण, वर्णमात्रा और छुगिणकाख्य छुन्हों से युक्त, श्रङ्कारमाधित से मनोहर उपक्षपक्ष काव्य कहाता है। इसमें नायक और नायिका दोनों उदात्त होते हैं तथा मुख, प्रतिमुख एवं निर्वहण सन्धि होती हैं। जैसे—यादवोदय। गर्भेति—जिसमें नायक हीन हो, गर्भ और विमर्श सन्धियां हों, उसे श्रेहण कहते हैं। इसमें स्त्रधार, विष्कम्मक और प्रवेशक नहीं होते. और एक अङ्क होता है। युद्ध, सम्केट और सब वृत्तियां होती हैं। नान्ही और प्ररोचना नेपथ्य में पढ़ो जाती हैं। जैसे—वालिवध। रासक में पांचपात्र होते हैं। मुख और निर्वहण सन्धियाँ होती हैं। यह माषा और विभाषा (प्राकृतमेव) से युद्ध और कलाओं से युद्ध होती हैं। यह माषा और विभाषा (प्राकृतमेव) से व्याप्त, भारती कैशिकी वृत्तियों से युद्ध, स्त्रधार से रहित, एक अङ्कवाली वीध्यक्तों और कलाओं से युद्ध होता है। इसमें नान्दी शिलघ होती हैं। नायिक मुख होता है। यह उत्तरोत्तर उद्दात्तमावों से युद्ध होते। हैं। नायिक भी सहस्त और नायक मुख होता है। यह उत्तरोत्तर उद्दात्तमावों से युद्ध होते। हैं। कोई इसमें प्रतिमुख सन्धि भी मानते हैं। जैसे 'मनकाहिते।

ग्रथ संलापकम्— संवापकेऽङ्कारचत्वारस्त्रयो वा, नायकः पुनः। वाषगढः स्याद्रसस्तत्र शृङ्गारकरुणेतरः ॥ २६१ ॥ भवेयुः पुरसंरोधच्छुलसंग्रामविद्रवाः। नतत्र वृत्तिर्भवति भारती न च कैशिकी॥ २६२॥ यथा-मायाकापालिकम्।

अथ श्रीगदितम्-

प्र<mark>क्यातवृत्तमेकाङ्कं</mark> प्रख्यातोदात्तनायकम्। प्रसिद्धनागिकं गर्भविसश्रीभ्यां विवर्जितम्।। २६३॥ भारतीवृत्तिबहुलं श्रीतिशब्देन संकुलम्। मतं श्रीगदितं नास विद्वद्भिरुपरूपकम् ॥ २६४ ॥ यथा — क्रीडारसातलम् ।

श्रीरासीना श्रीगदिते गायेतिकश्चित्पठेद्पि। एकाङ्को आरतीप्राय इति केचित्प्रचत्तते॥ २६५॥

जशमुदाहरगाम्। अय शिल्पकम्-

> चत्वारः शिरुपकेऽङ्काः स्युरचतस्रो वृत्तयस्तथा। त्रशान्तहास्यारच रसा नायको ब्राह्मणो मतः॥ २६६॥ वर्णनाऽत्र रमशानादेहीनः स्यादुपनायकः। सप्तविंशतिरङ्गानि भवन्त्येतस्य तानि तु॥ २६७॥ यागंसातर्कसंदेइतापोद्वेगप्रसक्तयः।

कि वाचार अङ्क होते हैं, नायक पांखएडी होता है। शृङ्गार और करुण से भिष्ठ रस होता है। इसमें नगरनिरोध, छुल्युक्त संग्राम श्रौर विद्रव होते हैं, कितुमारती श्रार कैशिकीवृत्ति नहीं होती। जैसे 'मायाकापालिक'। श्रीगदित भिक्ष से संयुक्त, प्रख्यात नायिकावाला, एक श्रद्ध ल उत्तर नाता है। इसमें भा श्रीतिकारी, प्रख्यात नायिकावाला उपस्पक श्रीगदित कहाता है। इसमें भा भी प्रमान कायिकावाला उपस्पक अगापा पर्या प्रधिकता वैदिती है। - भा कार्य करके नटी वेदिती है। कोई कहते हैं कि श्रीगदित में तक्ष्मी का रूप धारण करके नटी हैं। इत्या की कहते हैं कि श्रीगदित में तक्ष्मा का अप नार्प है। इत्या की स्थार पढ़ती है एवं मारतीवृत्ति प्रधान एक शक्क होता है। इत्या गाती है और पढ़ती है एवं भारतीवृक्ति प्रथाण उस स्वा भारतीवार शिल्पक्' में चार श्रङ्क होते हैं और चारों वृत्तियां होती हैं। शातिहास्यवितित रस और ब्राह्मण नायक होता है। इसमें श्मशानादि का वर्णन होता है और दीन पुरुष उपनायक होता है। इसम रमरा आई होते हैं। क्षि सत्ताईस अक होते हैं। मिनाते हैं आरांसेति आशांसा १ तर्क २ सन्देह ३ ताप ४ उद्देग ४ प्रसक्त

प्रयत्नप्रथनोत्कएठावहित्थाप्रतिपत्तयः ॥ २६८॥ विवासावस्यवाष्पाणि प्रहर्षारवाससूहताः। साधनानुगमोच्छासविस्मयप्राप्तयस्तथा ॥ २६६॥ लाभविस्मृतिसम्फेटा वैशारचं प्रबोधनम्। चमत्कृतिरचेत्यमीषां स्पष्टत्वाञ्चस्म नोच्यते ॥ ३००॥ सम्फेटप्रथनयोः पूर्वभुक्तत्वादेव लद्दम सिद्धम् । यथा कननकवतीमाधवः।

अथ विलासिका

शृङ्गारबहु लेकाङ्का दशलास्याङ्गसंयुता। विद्वकविदाभ्यां च पीठमदेन भूषिता ॥ ३०१॥ हीना गर्भविमशिभ्यां संधिभ्यां हीननायका। स्वरुपयृत्ता सुनेपथ्या विख्याता स्ना विलासिका ॥ ३०२॥ केचित्तत्र विलासिकास्थाने विनायिकेति पठन्ति । तस्यास्तु 'दुर्मेब्लिकायामनः

र्भावः' इत्यन्ये ।

अय दुर्मक्षिका-

दुर्मेब्बी चतुरङ्गा स्यात्कैशिकी आरतीयुता। अगर्भी नागरनरा न्यूननायक भूषिता ॥ ३०३॥ त्रिनातिः प्रथमोऽङ्कोऽस्यां विटकीडामयो भवेत्। पश्चना विद्वितीयोऽङ्को विद्वक्रविवासवान् ॥ ३०४॥ षरणालिकस्तृतीयस्तु पीठमद्विलासवान्। चतुर्थो दशनातिः स्याद्ङ्गः क्रीडितनागरः॥ ३०५॥

( श्रासिक ) ६ प्रयत्न ७ प्रथन ८ उत्कर्ता ६ श्रविहत्था १० प्रतिपिति !! विलास १२ त्रालस्य १३ वाष्प १४ प्रहर्ष १४ त्राश्वास १६ मूढता १७ साधना जुगा १८ उच्छास १६ विस्मय २० प्राप्ति २१ लाभ २२ विस्मृति २३ सम्फेट अ वैशारच २४ प्रबोधन २६ श्रोर २७ चमत्कृति । इनमें से सम्फेट श्रीर प्रवा (? बबहित्या) का लच्च ए कह चुके हैं। शेषों का लच्च उनके नाम से ही हगर है। उदाहरण-जैसे 'कनकवतीमाधव'।

श्रथ विलासिका—श्रङ्गारबहुत एकश्रङ्क्वाली, दस तास्याङ्गे से युक्त, विदूर्ण विट श्रीर पीठमर्द से सुभूषित, गर्भ श्रीर विमर्शसन्धियों से रहित, हीतर्र नायक से युक्त, थोड़ी कथावाली और सुन्दर वेषादियुक्त विलासिका होती दुर्मंत्रों में चार श्रङ्क होते हैं। कैशिकी और भारती वृत्ति होती है। इसमें स्वीति विकास के कि सिन्ध नहीं होती। नर सब नागरिक (चतुर) होते हैं, किन्तु नायक होती। जातिक किन्तु नायक होती। जातिक किन्तु नायक होती। जाति का (न्यून) पुरुष होता है। प्रथम श्रङ्क इसमें तीन नाली (इं. इंडी) का और विट को कीना के न का और विट की कीडा से पूर्ण होता है। प्रथम श्रङ्क इसमें तीन नाती (वि होती) का और विट की कीडा से पूर्ण होता है। दूसरा श्रङ्क पांच नाती (१० होती) का और विदयक की की को को की का और विद्षक की कीडा से युक्त होता है। दूसरा श्रङ्क पांच नाली (हिंदी) की पीठमर्द के विलास से रहा है। तीसरा श्रङ्क ही नाली की पीठमर्द के विलास से रहा है। पीठमद् के तिलास से सुक होता है। तीसरा अङ्ग छ नाम शिता है। ग्या-बिन्दु मती । अथ प्रकरिएका-नारिकैव प्रकरणी सार्थवाहादिनायका। समानवंशजा नेतु भेवे चत्र च नायिका॥ ३०६॥

मृग्यमुदाहरणम् । अय हल्लीश:-

इह्वीश एक एवाङ्कः सप्ताष्टी दश वा स्त्रियः। वागुदात्तैकपुरुषः कैशिकीवृत्तिरुज्जवला। मुलान्तिमौ तथा सन्धी बहुताललयस्थितिः॥ ३०७॥

प्रधा-केलिरैवतकम् । अथ मागिका-

भाणिका रलद्णनेपथ्या सुखानिवेहणान्विता। कैशिकीभारतीवृत्तियुक्तैकाङ्कविनिार्मिता॥ ३०८॥ उदात्तनायिका सन्द्युरुषात्राङ्गसप्तकम्। उपन्यासोऽथ विन्यास्रो विबोधः साध्वसं तथा॥ ३०१॥ समर्पणं निवृत्तिरच संहार इति सप्तमः। उपन्यासः प्रसङ्गेन अवेत्कार्यस्य कीर्तनम् ॥ ३१०॥ निर्वेदवाक्यव्युत्पत्तिर्विन्यास इति स स्मृतः। भ्रान्तिनाशो विबोधः स्यान्मिथ्याख्यानं तु साध्वसम्॥३११॥ सोपाज्यम्भवचः कोपपीडयेह समर्पणम्। निद्र्शनस्योपन्यासो निवृत्तिरिति कथ्यते ॥ ३१२ ॥

क्षिनागरिक पुरुषों की क्रीडा होती है। जैसे बिन्दुमती। प्रकरिएका—जिसमें विक तो सेट श्रादिक (व्यापारी) हो श्रीर नायिका उसकी सजातीय हो अत्वादिका को ही प्रकरणी कहते हैं। इसीश में श्रङ्क एकही होता है। सात श्राट शहस सियाँ रहती हैं। उदात्त वचन बोलनेवाला एक पुरुष और उज्जवल शिको वृत्ति होती है। इसमें मुख श्रीर निर्वहण सन्धियां होती हैं एवं गारे में कात, तथ वहुत होते हैं। जैसे 'के तिरैवतक'। माणिका में नेपथ्य (वेषादि-ष्ता) सन्दरहोता है, मुख और निर्वहण सन्ध्रिकेशिकी और भारती वृत्ति, प्रमुक्त अक होता है। नायिका उदात्त होती है श्रोर नायक मन्द्र। इसमें सात कि होते हैं। नायिका उदात्त होती है आर नायक स्वीति हैं। उनके नाम—उपन्यास, विन्यास, विबोध, साध्वस, समर्पण, विद्यास, विन्यास, विन्यास, विवाध, तार्यास कहाता है। किसी प्रसङ्ग से कार्य का कथन करना उपन्यांस कहाता है। विद्राण वाक्यों का विस्तार करना विन्यास, भ्रान्ति दूर होना विशेष, मिथ्या का कार्या का विस्तार करना विन्यास, भ्रान्ति दूर होना विशेष, मिथ्या भा करना विस्तार करना विन्यास, भ्रान्ति दूर हाना विस्तार करना विन्यास, भ्रान्ति दूर हाना विस्तार ) युक्त कि कहना करना स्थापनस श्रीर कोप या पीडा के कारण उपालम्म (शिकायत ) युक्त कि कहिना समर्पण कहाता है। दृष्टान्त निरूपण को निवृत्ति और कार्यसमाप्ति को

## संहार इति च प्राहुर्यत्कार्यस्य समापनम्।

स्पष्टान्युदाहरणानि । यथा—कामदत्ता । एतेषां सर्वेषां नाटकप्रकृतिकत्वेऽपि यथौचित्यं यथालामं नाटकोक्तविशेषपरिष्रहः। यत्र च नाटकोक्तस्यापि पुनरुपादानं तत्र तत्सद्भावस्य नियमः ।

अय अञ्यकाञ्यानि—

अव्यं श्रोतव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं द्विधा ॥ ३१३॥

तत्र पद्यमयान्याह—

छुन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम् । द्वाभ्यां तु युग्मकं संदानितकं जिभिरिष्यते ॥ ३१४॥ कतापकं चतुर्भिरच पश्चभिः कुलकं मतम्।

तत्र मुक्तकं यथा मम-

'सान्द्रानन्दमनन्तमन्ययमजं यद्योगिनोऽपि च्चणं साद्यात्कर्तु मुपासते प्रतिमुद्धध्यानैकतानाः परम् । धन्यास्ता मधुरापुरीयुवतयस्तद् ब्रह्म याः कौतुका-दालिङ्गन्ति समालपन्ति शतधा कर्षन्ति चुम्बन्ति च॥'

युग्मकं यथा मम-

'िक करोषि करोपान्ते कान्ते गएडस्थंलीिममाम् । प्रगायपवर्षो कान्ते नैकान्तेनोिचताः क्रुधः ॥ इति यावत्कुरङ्गाचीं वक्तुमीहामहे वयम् । तावदाविरम्चूते मधुरो मधुपध्वनिः ॥'

संदार कहते हैं। जैसे कामदत्ता। एतेषामिति—इन सब रूपक, उपक्रपकों की प्रकृति
यद्यि नाटक हो है, तथापि श्रौचित्य के श्रनुसार यथासंभव नाटक के श्रहें
का समावेश इनमें करना चाहिये। श्रौर जहां नाटकोक्त श्रङ्गों का फिरक्ष
किया है वहां उन श्रङ्गों की श्रवश्यकर्तव्यता जानना। उसमें वे श्रङ्ग श्रवश् होने चाहियें।

अब अव्यक्ताव्यों का निक्षण्य करते हैं। अव्यमिति—जो केवल सुने जा सके जिनका अभिनय न हो सके—वे गद्य और पद्य दो प्रकार के अव्यक्तव्य—होते हैं। अन्द हिंति छुन्दों में लिखे काव्य को पद्य कहते हैं। वह यदि मुक्त—दूसरे के निर्णेष हो तो प्रक्षक और यदि दो इलोकों में वाक्यपूर्ति होती हो तो अक कहाता है। एवं तीन पद्या का सन्दानितक अथवा विशेषक, चार का कलाफ और पांच अथवा इनसे अधिक का कुलक होता है। मुक्तक का उदाहरण—पार्ति जिस सान्द्रानन्द ब्रह्म का ध्यान योगी लोग बड़े एका प्र चित्त होकर जैते की जिस सान्द्रानन्द ब्रह्म का ध्यान योगी लोग बड़े एका प्र चित्त होकर जैते की कमी कर पाते हैं उसी को मथुरा की कियां खेल-खेल में आलिइन करती हैं। उससे बातें करती हैं, उसे खेंचे खेंचे फिरती हैं और चुम्बन भी करती हैं। उपमक—जैसे—कि करोधित—'एकान्तेन कुषः नोविताः'। एक दम की हा करते रहना ठीक नहीं। इसी प्रकार और उदाहरण भी जानना।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एवमन्यान्यपि । सर्गवन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ॥ ३१४॥ सर्द्रशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः। एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ॥ ३१६॥ शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते। ब्रङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसंघयः॥ ३१७॥ इतिहासीद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्। बत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्॥ ३१८॥ बादौ नमस्त्रियाशिको वस्तुनिर्देश एव वा। कविन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्॥ ३१६॥ एकवृत्तमयैः पर्चेरवद्यानेऽन्यवृत्तकैः। नातिस्वल्पा नातिद्धिः सर्गा अष्टाधिका इह ॥ ३२०॥ नानावृत्तमयः कापि सर्गः करचन दरयते। सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्॥ ३२१॥ संध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः। पातमध्याह्मसृगयाशैलर्तुवनसागराः॥ ३२२॥ संभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः। रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयाद्यः॥ ३२३॥ वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह।

क्षेति जिसमें सगों का निबन्धन हो वह महाकान्य कहाता है। इसमें एक देवता वासहंश चित्रय—जिसमें भीरोदात्तत्वादि गुण हो—नायक होताहै। कहीं एक विके स्टुलीन अनेक भूप भी नायक होते हैं। श्रृङ्गार, वीर और शान्त में से की एकरस अकी होता है। अन्यरस गौण होते हैं। सब नाटकसन्धियां रहती है। क्या ऐतिहासिक या लोकमें प्रसिद्ध सज्जनसम्बन्धिनी होती है। धर्म, अर्थ, काम, मोहा इस चतुर्वर्ग में से एक उसका फल होताहै। श्रारम्भ में श्राशीर्वाद, मिस्तार या वर्ग्य वस्तु का निर्देश होता है। कहीं खलों की निन्दा श्रीर सज्जनी भागुणवर्षान होता है। इसमें न बहुत छोटे, न बहुत बड़े श्राट से श्रधिक सर्ग क्षिहै। इसमें न बहुत छोटे, न बहुत बड़े श्राट से श्रधिक सर्ग होते हैं। उनमें मत्येक में एक ही छुन्द होता है, किन्तु अन्तिम पद्य (सर्ग का) भिष्ठ होता है। कहीं कहीं सर्ग में अनेक छन्द भी मिलते हैं। सर्ग के कृत में आती कथा की स्वना होनी चाहिये। इसमें सन्ध्या, स्थं, चन्द्रमा, रित्र, प्रश्ला कथा की स्चना होनी चाहिय। इसम सान्या, प्रें पर्वत ऋतु (क्ष्में) क्ष्में प्रकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह, मुगया (शिकार), पर्वत ऋतु (वर्षे), वन, समुद्र, संभोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संप्राम, यात्रा, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संप्राम, यात्रा, विवाह, सन्त्र, पुत्र श्रीर श्रम्युद्य श्रादि का यथासम्भव साङ्गोपाङ वर्णन होना कवेर्यृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा॥ ३२४॥ नामास्य, सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु।

सन्ध्यङ्गानि यथालाभमत्र विधेयानि । 'त्र्यवसाने अन्यवृत्तकौः' इति बहुवचनम् विविद्याति । सङ्गोपाङ्गा इति जलकेलिमधुपानादयः । यथा—-रधुवंश-शिशुपाल वध-नैषधादयः । यथा वा मम—-राधवविलासादिः ।

त्रस्मित्रार्थे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः ॥ ३२५॥

अस्मिन्महाकाव्ये । यथा---महाभारतम् ।

प्राकृतैर्निर्मितं तस्मिन्सर्गा आरवाससंज्ञकाः । छन्द्रसा स्कन्धकेनैतत्कचिद्गतिनकैरपि ॥ ३२६॥

यथा—सेतुबन्धः। यथा वा मम—कुवलयाश्वचितिम्।
अपभ्रंशनिबद्धेऽस्मिन्सर्गाः कुड्बकाभिधाः।
तथापभ्रंशयोग्यानि च्छन्दांसि विविधान्यपि॥ ३२७॥

यथा--कर्णपराक्रमः।

भाषाविभाषानियमात्काव्यं खर्गसमुतिथतम्। एकार्थप्रवर्षेः पद्यैः सन्धिसामग्रथवर्जितम्॥ ३२८॥

यथा-मिन्नाटनम्, आर्याविनासरच ।

खरडकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च। यथा—मेधदूतादिः।

कोषः रलोकसमूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षकः॥ ३२६॥

चाहिये। इसका नाम किव के नाम से (जैसे माघ) या चिरत्र के नाम से (जैसे रुप्तंश) होंगें (जैसे कुमारसंभव) अथवा चिरत्रनायक के नाम से (जैसे रुप्तंश) होंगें चाहिये। कहीं इनके अतिरिक्त भी नाम होता है—जैसे भिट्ट। सर्ग की वर्ष नीय कथा से सर्ग का नाम रक्खा जाता है—सन्ध्यङ्गानीति—सन्धियों के आ यहां यथासम्भव रखने चाहियें। अवसाने—यहां बहुचचन की विवद्यां नहीं हैं यदि एक या दो भिन्न वृत्त हों तो भी कोई हर्ज नहीं। जलकीडा, मधुपानाहिक साङ्गोपाङ्ग होने चाहियें। महाकाव्य के उदाहरण जैसे रघुवंशादिक।

परिमांति — आर्ष ( ऋषिप्रणीत ) काव्य में सगों का नाम 'श्राव्यान' होता। जैसे महाभारत में। शक्तिरिति — प्राकृत काव्यों में सगों का नाम आर्वास होता। जैसे महाभारत में। शक्तिरिति — प्राकृत काव्यों में सगों का नाम आर्वास होता। इसमें स्कन्धक या कहीं गिलतिक छुन्द होते हैं। जैसे सेतुबन्ध। अपभं ग्राप्त के काव्यों में सगों का नाम कुडवक होता है और छुन्द भी अपभं श के योग्य अर्थ भकारके होते हैं। जैसे कर्णपराक्रम। माषेति — संस्कृत, प्राकृतादि भाषा या बार्धि भकारके होते हैं। जैसे कर्णपराक्रम। माषेति — संस्कृत, प्राकृतादि भाषा या बार्धि आदि विभाषा के नियमानुसार वनाया गया एक कथा का निरूपक, पर्वबंदित कार्य मय प्रनथ—जिसमें सब सन्धियां न हों—काव्य कहलाता है। ह्यादेति कार्य पर अर्थ का अनुसरण करने बाला हुए ह्याहिता होता है। जैसे में धर्त । की प्राप्त अर्थ का अनुसरण करने बाला हुए ह्याहिता होता है। जैसे में धर्त । की प्राप्त अर्थ का अनुसरण करने बाला हुए ह्याहिता होता है। उसे में में धर्त । की प्राप्त करने बाला हुए होता है। उसे में में धर्त । की प्राप्त करने बाला हुए हें हिंदि होता है। उसे में में प्राप्त करने बाला हुए होता है। इसे में में प्राप्त करने बाला हुए होता है। इसे में महत्त । की प्राप्त करने बाला हुए होता है। इसे में महत्त । की प्राप्त करने बाला है। होता है। इसे में महत्त । की प्राप्त करने बाला हुए होता है। इसे में महत्त । की प्राप्त करने बाला हुए होता है। इसे में महत्त । की प्राप्त करने बाला हुए होता है। होता है। हो से में महत्त । की प्राप्त करने वाला है। होता होता है। होत

The second

व्रज्याक्रमेण रचितः स एवातिमनोर्मः।

मुजातीयानामेकत्र संनिवेशो त्रज्या । यथा—मुक्तावल्यादिः ।

अय गद्यकाव्यानि । तत्र गद्यम्-

वृत्तग्रह्योजिक्सनं गद्यं सुक्तकं वृत्तग्रिष च॥ ३३०॥ भवेदुत्किताप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम्। ब्राचं समासरहिलं वृत्तभागयुतं परम् ॥ ३३१ ॥ ब्रत्यद्दीर्घसमासादयं तुर्यं चाल्पसमासकम्।

मुक्तकं यथा-- 'गुरुर्वचिस पृथुरुरसि-' इत्यादि।

वृत्तगन्धि यथा मम--- 'समरकएडूलनिबिडभुजदएडकुएडलीकृतकोदएड-शिक्षिनीटंकारोज्जागरितवैरिनगर--' इत्यादि ।

म्मत्र 'कुएडलीकृतकोदएड-' इत्यनुष्टुब्वृत्तस्य पादः, 'समरकएडूल' इति च प्रथमान्तरद्वयरहितस्तस्यैव पादः

वलालिकाप्रायं यथां ममैव--- 'त्र्याणिसविसुमरणिसिदसरविसर्विदलिदसमर-परिगदपवरपरबल-' इत्यादि ।

चूर्णकं यथा मम-'गुरारत्नसागर, जगदेकनागर, कामिनीमदन जनरञ्जन' इत्यादि।

कथायां सरसं वस्तु गचैरेव विनिर्मितम् ॥ ३३२॥ कविद्रत्र भवेदायी कचिद्रकत्रापवक्त्रके।

त्रादौ पद्यैनमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम् ॥ ३३३ ॥

यया—कादम्बर्यादिः।

### श्राख्यायिका कथावत्स्यात्कवेर्वशानुकीर्तनम्।

पत्पर निरपेष श्लोकसमृह को कोष कहते हैं। यह यदि 'वज्या' (वर्णमाला) किम से बने तो अतिसुन्दर होता है। वस्तुतः कोष का यह लच्चण ठीक विश्वावितावली त्रादि पद्यसंग्रहों में यह त्रातिन्याप्त है। सजातीयों के एक स्थान में सिन्नवेश को वज्या कहते हैं।

भव गद्यकाच्यों का निरूपण करते हैं। वृत्तेति—गद्य चार प्रकार का होता है किंक, वृत्तगिन्ध, उत्कलिकाप्राय श्रीर चूर्णक। पहला समासरिहत होता है। सिरे में पद्य के श्रंश पड़े रहते हैं। तीसरे में दीर्घ समास और चौथे में छोटे-के समास होते हैं। मुक्तक का उदाहरण—गुरुं। वृत्तगन्धिका-समरेति—यहाँ अपुण्का अंश अन्तःपतित है। उत्कलिकाप्राय का उदाहरण—अभिमेति— भितिशाविस्मरिनिशितशरिवसरिवदिलितसमरपरिगतप्रवरपरवतः''। चूर्णक का उदाहरण— शिविक्षित निर्मा वस्तु गर्धों के द्वारा ही बनायी जाती है। इसमें कहीं २ भिक्षार कहीं वक्त्र तथा अपवक्त छन्द हात है। असे काद्म्बरी। किलादिकों का चरित निबद्ध होता है। जैसे काद्म्बरी। भार खलादिकों का चरित निबद्ध हाता हु। असे सिमान होती है। इसमें कविवंशवर्णन होता है, श्रौर अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं कचित्कचित्॥ ३३४॥ कथांशानां व्यवच्छेद आरवास इति बध्यते। आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित्॥ ३३५॥ अन्यापदेशेनारवासमुखे भाव्यर्थसूचनम्।

यथा-हर्षचरितादिः।

'अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्' इति दण्डचाचार्यवचनात्केचित् 'आख्यायिका नायकेनैव निबद्धव्या' इत्याहुः, तद्युक्तम् । आख्यानाद्यस्य कथाख्यायिकयोरेवान्तर्भावान्त पृथगुक्ताः । यदुक्तं दण्डिनैव—

'अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषारचाख्यानजातयः ।' इति ।

एषामुदाहरग्गम्--पञ्चतन्त्रादि ।

अथ गद्यपद्यमयानि-

गचप्रमयं काव्यं चम्पूरित्याभिधीयते । रे देशा

यथा—देशराजचरितम्।

गचपचमयी राजस्तुतिर्विरुद्युच्यते । वात क्रमक .....

यथा-विरुदमिणमाला।

करम्भकं तु भाषाभिर्विविधाभिर्विनिर्मितम् ॥ ३३७॥

यथा मम-षोडशभाषामयी प्रशस्तिरतावली ।

एवमन्येऽपि मेदा उद्देशमात्रप्रसिद्धत्वादुक्तभेदानतिक्रमाच न पृथालिताः॥
इति साहित्यदर्पंगे दश्यश्रव्यकाव्यनिरूपगो नाम षष्टः परिच्छेदः।

अन्यं कियों का वृत्तान्त तथा पद्य भी कहीं कहीं रहते हैं। यहां कथाभागों का नाम आश्वास रक्खा जाता है। आर्या, वक्त्र या अपवक्त्र छुन्द के खारा अन्यों से आश्वास के आरम्भ में अगली कथाकी सूचना की जाती है। जैसे हर्षवित 'आख्यायिका की कथा नायक के मुख से ही निवद्ध होनी चाहिये'यह कि ही मतहैं—सो ठीक नहीं, क्यों कि आचार्य द्रगड़ी ने यह कहा है कि अप वित्यम ही 'आख्यायिका में भी अन्य लोगों के वचन होते हैं—केवल नायक ही के नहीं अतः इस विषय में कोई नियम नहीं है"। आख्यानादिक कथा आख्यायिका के ही ,अन्तर्भृत हैं। यह भी द्रगड़ी ने 'ही कहा है—अतेति। हा अप्तार्थिका के ही ,अन्तर्भृत हैं। यह भी द्रगड़ी ने 'ही कहा है — अतेति। हा उप्तार्थिका के ही । गद्याय्य राजस्तुति का नाम विद्य है। विविध भाषाओं के वम्यू कहते हैं। गद्याय्य राजस्तुति का नाम विद्य है। विविध भाषाओं के विभिन्न करम्भक कहलाता है। काव्यों के अन्य सब भेद इन्हीं के अन्तर्भत जाना

इति विमलायां वष्टः परिच्छेदः।

# साहित्यदर्पगो।

सप्तमः परिच्छेदः।

STORE .

्ह हि प्रथमतः काव्ये दोषगुणरीत्यलङ्काराणामवस्थितिक्रमो दर्शितः। सम्प्रति के हिल्लो स्थितिक्रमो दर्शितः। सम्प्रति के हिल्लो स्थितिक्रमो दिशितः। सम्प्रति के हिल्लो स्थितिक्रमो हिल्लो स्थितिक्रमो दिशितः। सम्प्रति के हिल्लो हिल्ल

#### रसापकर्षका दोषाः

ब्रस्यार्थः पागेव स्कुटीकृतः ।

स्मितप्रभाभिः प्रभवन्ति यस्य कटाक्तविक्तेपवशान्मिषन्ति । जगन्ति यन्ति भ्रुकुटीविलासेऽप्यमन्दमानन्दमहं तमीडे ॥ १ ॥

स र्गिते—प्रथम परिच्छेद में काव्य-लत्त्रण के अवसर पर दोष, गुण, रीति श्रीर अलंकारों की स्थिति का क्रम कहा है। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' इस कारिका में काव्य का ल त्वण कहा है ऋौर 'दोषास्तस्यापकषकाः। उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता ग्रणालंकाररीतयः' ए में दोषादिकों के क्रम का भी निर्देश है। पिछले प्रन्थ में काव्य का स्वरूप शिर्वस के सब भेद कहे जा चुके। अब दोषों का वर्णन क्रमप्राप्त है, अतः पति दोषों का सामान्य लच्चण करते हैं-रसापेति-रस के अपकर्ष अर्थात् रस की विच्छेद के जो कारण हैं वे दोष कहाते हैं। 'दूषयित काव्यमिति दोषः' विकाय को दूषित करे वह दोष )—इस व्युत्पत्ति के अनुसार श्रुति क्षितादिकों को दोष कहते हैं। 'रस्यते इति रसः' (जो आस्वाद्यमान हो वह रस) कित्त शब्द की ब्युत्पित्ति प्रथम परिच्छेद में कही है। उस के अनुसार यहां अगुन्द सेरस के अतिरिक्त रसामास, भाव और भावामास भी गृहीत होते हैं। सिका अपकर्ष तीन प्रकार से होता है -एक तो रस की प्रतीति अर्थात् आसाद के रक जाने से, दूसरे रस की उत्क्रप्टता की विधातक किसी वस्तु है बीच में पड़ जाने से, दूसरे रस की उत्क्रप्टता का विवास करनेवाले कारणों के किन्तु के के किन्तु किन्तु के किन्तु के किन्तु के किन्तु के किन्तु के किन्तु के किन्तु किन्तु के किन्तु मित्र होने से। इन में से कोई लच्चण जिस्म में मिले वही दोष कहाता है। मन भूतिदुष्टत्व, श्रपुष्टार्थत्व श्रादिकों में उक्र लत्त्य नहीं संगत होताः भिक्षित दुष्टत्व, अपुष्टार्थत्व आदिको में उक्क लवल गर्ने किताहिक । अति दुष्टत्व ) केवल शब्द में रहता है और कोई (अपु-भिषादिक) केवल श्रर्थ में। रस के साथ किसी का सम्बन्ध नहीं है। इस का हित्ते हैं अक्षित अर्थ में। रस के साथ किसी का सम्बन्ध गढ़ा है। इस का अर्थ पहले ही ( प्रथम परिच्छेद में ) स्पष्ट कर के हैं। श्रुतिदुष्टत्वादिक दोष शब्द और अर्थ के द्वारा काव्य के आत्मस्वरूप क्षिका अपकर्ष करते हैं यह बात वहां कही है।

तद्विशेषानाह-

ते पुनः पश्चधा मताः।

पदे तदंशे वाक्ये ऽर्थे संभवन्ति रसेऽपि यत्॥ १॥

स्पष्टम् ।

तत्र

दुःश्रवित्रविघाऽरलीलाऽनुचितार्थोऽप्रयुक्तताः। ग्राम्याऽप्रतीतसंदिग्धनेयाथीनिहतार्थताः ॥ २॥ अवाचकत्वं क्लिष्ठत्वं बिरुद्धमतिकारिता । अविमृष्टविषेषांशभावश्च पद्वाक्ययोः॥३॥ दोषाः, केचिद्भवन्त्येषु पदांशेऽपि, पदे परे। निर्धकाऽसमर्थत्वे च्युतसंस्कारता तथा॥ ४॥

परुषवर्णातया श्रुतिदुःखावहत्वं दुः अवत्वम् यथा-

'कार्तार्थं यातु तन्वङ्गी कदाऽनङ्गवशंवदा।'

तिद्विशेषानिति—दोषों के भेद कहते हैं ——ते पुनिति—पद, पदांश, वाक्य, क्र श्रीर रस में रहने के कारण दोष पांच प्रकार के माने गये हैं। दुः अवेति—दुः वत्व, तीन प्रकार की अश्लीलता, अनुचितार्थत्व, अप्रयुक्तत्व, प्राम्यत्व, अग्री तत्व, सन्दिग्धत्व, नेयार्थत्व, निहतार्थत्व, त्रवाचकत्व, क्लिष्टत्व, विरुद्धाति कारित्व और पद्गत तथा वाक्यगत अविमृष्ट्विधेयांशत्य ये सब दोष है। ह में से कुछ दोष (श्रुतिक दुत्वादिक) पदांशों में भी रहते हैं श्रीर श्रिष्ठकांग हो पदों में ('श्रिपि' शब्द से ) रहते हैं, किन्तु निरर्थकत्व, श्रसमर्थत्व औ च्युतसंस्कारत्व ये तीन दोष केचल पदों में ही रहते हैं, पदांशों में की यथाकम इनके लज्ञण श्रीर उदाहरण दिखाते हैं-पर्वित-कठोर श्रवर हैं के कारण जो शब्द कानों में खटके उसे 'दुःश्रव' या 'श्रुतिकड़्' कहते हैं की 'कार्तार्थ्य'। त, थ, र के संयोग से इस शब्द में कठोरता आई है । इस प्रविकार के शब्दों के प्रयोग से काव्य में उत्पन्न हुए दोष को दुःश्रवत्व, श्रुतिकर्ष या श्रुतिदुष्टत्व कहते हैं।

परन—'कार्तार्थ्यं' शब्द के पिछुते दो अत्रों में रेफ का संयोग है। वा असर [का] तो कोमल ही है। तो फिर समस्त पद श्रुतिक है के प्र पद का एक श्रंश दृषित है, श्रतः इसे पदांशदोष मानना चाहिये, पहहोपनी उत्तर-जैसे बाक्य में नोज उत्तर-जैसे वाक्य में दो तीन पदों के दूषित होने पर समस्त वाक्याती ना जाता है, इसी पुरुष्ट प्रसार के दूषित होने पर

माना जाता है, इसी प्रकार पद में भी अधिकांश के दूषित होने पर पर

ग्ररतीत्तत्वं त्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलव्यञ्जकत्वात् त्रिविधम् ।

श्वारिविजये राजन् साधनं सुमहत्तव।'
श्वारिविजये राजन् साधनं सुमहत्तव।'
श्वारिविजये राजन् साधनं सुमहत्तव।'
श्वार्यसार शनैर्वायुर्विनाशे तिन्व ते तदा।'
श्वार्यसाय-वायु-विनाशशब्दा अरलीलाः।
श्वार्यसाय-वायु-विनाशशब्दा अरलीलाः।
श्वार्यसाय-वायु-विनाशशब्दा अरलीलाः।
श्वार्यसाय-वायु-विनाश्वार्यस्य स्वार्यस्य स्वार्यस्यस्यस्य स्वार्यस्यस्य स्वार्यस्यस्यस्यस्यस्यस्यस्यस्यस

गाना जाता है। जहां स्राधा या उससे कम स्रंश दूषित हो वहां पदांश दोष गाना जाता है। 'दुःश्रवत्व' दोष शब्द को दूषित करता हुआ शृंगारादि कोमल रहीं की उत्कृष्टता का विघातक होता है। स्रतएव यह कोमल रसों में ही दोष है। गीर रौद्रादिक उग्र रसों में इस का होना गुण है। इसी कारण यह दोष स्रनित्य गाना गया है।

यर्तीतलिमिति—जो श्रसभ्य श्रर्थ का व्यञ्जन करे उसे श्रश्लील कहते हैं। बबा, घृणा श्रोर श्रमङ्गल का व्यञ्जक होने से 'श्रश्लीलत्व' तीन प्रकार का होता है। क्रमेणेति—क्रम से उदाहरण देते हैं। हसेति—हे राजन्, मदान्ध रातुओं को विजय करने में तुम्हारा 'साधन' (सेना) बहुत बड़ा है। यहां 'साधन' गद से लिङ्गरूप लजाजनक अर्थ व्यक्त होता है। यह लजाजनक अर्लीलत्व का उदाहरण है। प्रससारेति — हे तिन्व, तब तुम्हारे 'विनाश' (श्रदर्शन=चले जाने) के समय 'वायु' धीरे से चली। यहां 'वायु' शब्द अपानवायु का स्चक होने से वृणाका और 'विनाश' शब्द मरण का वोधक होने से श्रमङ्गल का व्यक्षक है। लमें यथाक्रम जुगुप्सा-व्यञ्जक श्रीर श्रमङ्गल-व्यञ्जक श्रश्लीलत्व है। ग्रा इति— (किए यह में पशुभूत शूरलोग अमरत्व (देवत्व) को प्राप्त होते हैं। यहां शूरों में पृष्ठ की समानता बतलाने से उनकी कातरता प्रतीत होती है। यज्ञीय पृष्ठ भी भाँति विवश हो कर मरना कायरों का काम है, शूरों का नहीं, अतः यहां णि शब्द में 'त्रजुचितार्थत्व' दोष है। अप्रयुक्तेति—व्याकरण, कोषादिकों में उस भि से प्रसिद्ध होने पर भी यदि कविसम्प्रदाय (काव्यों) में उस शब्द का भादर (अप्रयोग) हुत्रा हो तो उसे 'श्रप्रयुक्त' कहते हैं श्रीर उस शब्द के भोग करने पर अप्रयुक्तत्व दोष होता है। उदाहरण—मातीति—'पद्म' शब्द मधुषक लिङ्क में ही प्रसिद्ध है पुंक्षिङ्ग में नहीं, अतः 'वा पुंसि पद्म निवनम्' इस भीपके होने पर भी यहां अप्रयुक्तत्व दोष है। वस्तुतः 'पद्मान् हिमे प्रावृषि खडारीयान्' अत्र पद्मशब्दः पुंलिङ्गः । ग्राम्यत्वं यथा—

'कटिस्ते हरते मनः।'

अत्र कटिशब्दो प्राम्यः ।

अप्रतीतत्वमेकदेशमात्रपसिद्धत्वम् । यथा— 'योगेन दलिताशयः।'

अत्र योगशास्त्र एव वासनार्थ आशयशब्दः ।

इत्यादि स्थलों पर श्रीहर्षादि महाकवियों ने पद्मशब्द का पुंसिङ्ग में प्रयोग किया है, श्रतः यहां 'दैवत' शब्द का पुंसिङ्ग में उदाहरण देना चाहिये। 'दैनतोऽल पिशाचो रावसोऽधना'। यहां 'दैवतम्' चाहिये। काव्य प्रकाश में इस दोष का गही उदाहरण दिया है।

प्रान्यत्विमिति-शब्द तीन प्रकार के होते हैं नागर, उपनागर और प्राम्य । जो शब्द चतुर पुरुषों में व्यवहृत नहीं होते, केवल गँवारों में ही बोले जाते हैं उन्हें प्राम्य कहते हैं। किटिरिति-यहां 'किटि' शब्द प्राम्य है। 'श्रोणि' 'नितम्ब' श्रादिक नागर कहाते हैं। अप्रतातत्विमिति-जो किसी एकदेश में ही प्रसिद्ध हो उस शब्द को 'अप्रतीत' कहते हैं। योगेनेति-योग श्रर्थात् समाधि के बल से 'श्राशय' श्र्यात् वासना नामक संस्कारों को जिसने विनष्ट (दिलत) किया है—(वह योगी ब्रह्मनिर्वाण पाता है) इत्यादि

शुम अथवा अशुम कर्मों से उत्पन्न हुए वासना नामक संस्कार को 'श्राश्यं शब्द से योगशास्त्र में हो व्यवहृत किया है। 'श्राशेरते फलपाकपर्यन्तमन्तःकार्य इत्याशया धर्मादयः'—सुख अथवा दुःखह्नप फल के देने तक जो अन्तःकरण में विद्यमान रहें-फल पाक के अनन्तर नष्ट हों-उन्हें 'श्राशय' कहते हैं।

यहां 'योग' का अर्थ समाधि है। यह 'योग' शब्द 'युज' समाधी-से बना है 'युजिर्' योगे (धातु) से नहीं । अतएव व्यासभाष्य (योगदर्शन) के आरम्भ में लिखा है। 'योगः समाधिः' समाधि का अर्थ है चित्त की वृतिषी का रोकना। 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' यो० द० समाधिपाद-२ सू०। इस भाष्य पर अर्थ वाचरपति मिश्र ने लिखा है-''युज्समाधी इत्यस्माद व्युत्पन्नः समाध्यर्थों, नतु गृति योगे इत्यस्मात्संयोगार्थं इत्यर्थः''-

श्रीतक्वागीशजी ने 'योग' का अर्थ किया है 'अकृति पुरुष का अर्थ किन्तन'—यह अर्थ उक्त प्रमाणों से विरुद्ध है। प्रकृति और पुरुष का अमेद योग का नहीं, वेदान्त का सिद्धान्त है। योगशास्त्र में प्रकृति कि पदार्थ है। उसका पुरुष के साथ 'अभेद चिन्तन' करना मिथ्या झान होगा। मिथ्या झान मोत्त का साधक नहीं हो सकता, अतएव वह 'आश्र्य बासनाओं का विनाश कमी नहीं कर सकता। दूसरे 'अमेद' का अर्थ है भेदार्गि किन्तु अभाव के चिन्तन से मोत्त की प्राप्ति नहीं होती, आत्मा के चिन्तन से हैं

(ब्राशी:परम्परां वन्द्यां कर्षो कृत्वा कृपां कुरु।' अत्र बन्धामिति कि बन्दीभूतायामुत वन्दनीयामिति संदेहः। विषयोजनामावादशिककृतं लच्यार्थमकाशनम्। यथा-

'कमले चरणाघातं मुखं सुमुखि तेऽकरोत्।'

अत्र चरणाघातेन निर्जितत्वं लच्यम् ।

तिहतार्थत्वमुभयार्थस्य शब्दस्यामसिद्धेऽर्थे प्रयोगः । यथा—

'यमुनाशम्बरमम्बरं व्यतानीत्।'

ग्रम्बरगब्दो दैत्ये प्रसिद्धः । इह तु जले निहतार्थः । 'गीतेषु कर्णमादत्ते'

होती है। इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग करने से 'अप्रतीतत्व' दोष होता है। आशीरिति—यहां 'वन्द्यां' पद् सन्दिग्ध है। 'बन्दी' शब्द का सप्तमी में भी यह क्ष हो सकता है और 'वन्या' शब्द का द्वितीया विमक्ति में भी हो सकता है। ससन्देह के कारण यहाँ 'सन्दिग्धत्व' दोष है । श्लेषादि में बकार और वकार की अभिन्नता इस सन्देह का कारण है। 'वन्दा' शब्द में वकार है श्रीर 'बन्दी' शब्द में पवर्गीय बकार है।

नेयार्थलमिति लच्चणा के प्रकरण में यह कह चुके हैं कि रूढि या प्रयोजन के कारण लच्या होती है। यदि इन हेतुओं के बिना कोई लाचियिक शब्द का प्रयोग करे तो 'नेयार्थत्व' दोष होता है। कवि की अशक्ति अर्थात् व्युत्पत्तिहर सामर्थ्य के अभाव से लक्ष्य अर्थ का प्रकाशन (प्रकट होना) नेयार्थत्व कहाता है। उदाहरण-कमले इति - हे सुमुखि, तुम्हारे मुख ने कमल में लात मारी। कोति—यहां 'चरणाघात' शब्द से जीत लेना लक्ष्य है। तात्पर्य यह है कि लात मारने के लिये लात का होता आवश्यक है। लात वही मारेगा जिसके बात हो। मुख में लात नहीं होती, अतः मुख्य अर्थ यहां बाधित है, इसकारण बात मारने से जीत लेना लद्याय है, परन्तु यहां इस लद्या का हेतु न कि है, न कोई व्यङ्ग्य प्रयोजन, अतः इस लवणा से कवि की अध्युत्पन्नता मकर होती है। निहतेति - प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध दोनों अर्थों के वाचक शब्द का अमित्र प्रयं में प्रयोग करने से 'निहतार्थत्व' दोष होता है। जैसे-यमुनेति-यहिए 'नीरहीराम्बुशम्बरम्' इत्यादि कोष में 'शम्बर' शब्द जल के पर्यायों में भी श्राया है, परन्तु काव्यों में उसका प्रयोग शम्बर नामक असुर के लिये ही होता है, जल के लिये यह शब्द अप्रसिद्ध है, अतः उक्त उदाहरण में यह रोप हैं, क्योंकि यहां जल के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है। अप्रयुक्तत्व कार्यक शब्द में होता है श्रीर निहतार्थत्व श्रनेकार्थक शब्द में।

अत्राङ् पूर्वो दाञ -धातुर्दानार्थेऽवाचकः । यथा वा—

'दिनं में त्विय संपाते ध्वान्तच्छ्रनापि यामिनी।'

अत्र दिनमिति प्रकाशमयार्थेऽवाचकम् ।

क्लिष्टत्वमर्थपतीतेर्व्यवहितत्वम् । यथा-

'ज्ञीरोदजावसतिजन्मभुवः पसन्नाः।'

अत्र ज्ञीरोदजा लद्दमीस्तस्या वसतिः प्रश्नं तस्य जन्मभुवो जलानि । 'भूतयेऽस्तु भवानीशः'

अत्र भवानीशशब्दो भवान्याः पत्यन्तर्भतीतिकारित्वाद्धिकद्धमितकृत्। अविमृष्ट-विधेयांशत्वं यथा—

'स्वर्गग्रामिटकाविलुएठनवृथोच्छूनैः किमेभिभु जैः।' अत्र वृथात्वं विश्वेयम्, तच समासे गुणीभावादनुवाद्यत्वपतीतिकृत्। यथा वा—

'रचांस्यपि पुरः स्थातुमलं रामानुजस्य मे ।'

आङ्पूर्वक 'दा'धातु का अर्थ लेना है, देना नहीं, अतः 'आद से' पद में अवाचकत दोष है। 'आद से 'पद, देनेका वाचक नहीं है। दूसरा उदाहरण-दिनमिति-अतेति-अत्यादि-अत्य

नित्तष्टलिमिति-ग्रिभिधेय ग्रर्थ की प्रतीति (ज्ञान) में व्यवधान (क्कावर) का होना 'नित्तष्टत्व' दोष कहाता है। चारोदेति—यहां 'च्लिरिद' का ग्रथं है चीरसागर-उसकी कन्या (च्लिरोद जा) लक्ष्मी-उसकी 'वसित'=(निवास स्थान) कमल-उसकी (कमल की) जन्मभूमि=जल प्रसन्न (स्वच्छ) हुज्ञा यहां केवल जल की स्वच्छता बतानी है उसके लिये इतने शब्द बोलकर क्लिश्त पैदाकर दी है। भूतये इति—भवानी (भव=शिव की पत्नी) के ईश=पित कल्या करें। यहां 'भवानीश' शब्द से पार्वती का कोई दूसरा पित प्रतीत होता है, ग्रतः यहां 'विरुद्धमितकारिता' दोष है, क्योंकि यह पद विरुद्धमित (बुंबि) पैदा करता है।

चित्रपृष्टिति जहां विधेय श्रंश का विमर्श (प्रधानक्षप से परामर्श) न हो वर्ष 'श्रविमृष्टविधेयांशत्व' दोष होता है। स्वर्गेति इस वाक्य में वृधात्व विधेष है जसे समास में डालकर उपसर्जन कर दिया है। तत्पुरुषं समास में उत्तर पद का श्रर्थ प्रधान रहता है, श्रतः यहां वृधात्व श्रप्रधान होनया है। प्रत्येष वाक्य में विधेय का प्रधानता के साथ निर्देश होना चाहिए। दूसरा उदाहरण

अत्र रामस्येति वाच्यम् । यथा वा—
'श्रासमुद्रचितीशानाम्'
अत्राऽऽसमुद्रमिति वाच्यम् । यथा वा—
'यत्र ते पतित सुभ्रु कटाच्ः षष्ठवागा इव पञ्चशरस्य।'

अत्र षष्ठ इवेत्युत्मेच्यम् । यथा वा— 'अमुक्ता भवता नाथ मुहूर्तमि सा पुरा ।' अत्रामुक्तेत्यत्र नञः पसज्यमितिषेधत्वमिति विधेयत्वमेवोचितम् ।

लांति—'में रामानुज हूं—क्या मेरे सामने राज्ञस ठहर सकेंने' ? यहां वस्ता को राम के सम्बन्ध से ही अपने में विशेषता बतानी है, परन्तु सम्बन्ध शवक षष्ठी विभक्ति का लोप होगया है और रामशब्द को समास में अलकर उस की प्रधानता दवा दी गई है, अतः उक्त वाक्य में विधेया-विगर्शया 'अविमृष्टविधेयांशत्व' नामक दोष है। यहां 'रामस्य' यह पद्पूषक् रहना चाहिये और 'में राम का अनुज ( छोटा भाई ) हूं' ऐसा अर्थ होना चाहिये। यह युद्ध के समय वीर लक्ष्मण की उक्ति है।

श्रन्य उदाहरण—श्रासमुद्रिति —यहाँ राज्यका समुद्रपर्यन्त होना विधेय है श्रतः श्रासमुद्रम्'पद का सपास नहीं करना चाहियेथा। श्रोर उदाहरण—यत्र ते इति— इत वाक्य में षष्ठत्व उत्प्रेक्ष्य है वही विधेय है श्रतः 'षष्ठ इव' यह श्रसमस्त (विना समास के) बोलना चाहियेथा। 'बाण्' के साथ 'षष्ठ' का समास कर देने से उस की प्रधानता जाती रही।

विषेय ही रखना चाहिये और उसके साथ समास न करके 'न मुक्ता' ऐसा श्वित पढ़िय हो रखना चाहिये और उसके साथ समास न करके 'न मुक्ता' ऐसा श्वक पढ़ रखना चाहिये। 'नज़' दो प्रकार के होते हैं, एक पर्युदास, स्मा प्रसच्य। पर्युदास से तिद्धक्ततत्सहश (निषेध्य से भिन्न होने ए भी निषेध्य के सहश) पदार्थ का बोध होता है। यह नज़ उत्तर ए के साथ समबद्ध रहता है, अतएव इसके साथ समास होता है असे 'अव्याह्मण् शब्द। इस शब्द से ब्राह्मण् जाति से भिन्न किंतु उसके साथ पैर वाला—चित्रयश्चादि—प्रतीत होता है। 'अव्याह्मण् को बाबों ऐसा कहने से मिट्टी का ढेला कोई नहीं लाता—क्योंकि ब्राह्मण् से भिन्न किंतु असे कहने से मिट्टी का ढेला कोई नहीं लाता—क्योंकि ब्राह्मण् से भिन्न किंतु असे किंतु के सहश्च नहीं है। यही निम्नकारिका में भिन्न वह (ढेला) ब्राह्मण् के सहश्च नहीं है। यही निम्नकारिका में भिन्न को समाख्यातो पर्युदासप्रसज्ज्यको । पर्युदासः सहग्राही प्रसज्ज्यस्तु निषेषकृत'। यह किया के साथ उसका असे किया के साथ सम्बद्ध रहता है, अतः दूसरे पदों के साथ इसका समास नहीं हुआ करता। इस में प्रधानतया निषेध ही विधीयमान रहता है।

यदाहु:-'अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता । प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सहं यत्र नञ्॥'

यथा-

'नवजलधर: संनद्घोऽयं न दप्तनिशाचर:।'

उक्तोदाहरणे तु तत्पुरुवसमासे गुणीभावे नवः पर्वदासतया निषेक्ष

विधेयतयानवगमः । यदाहुः-

'मधानत्वं विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽपधानता । पर्युदासः स विज्ञेयो, यत्रोत्तरपदेन नञ्॥'

तेन

'जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः । अगृष्नुराददे सोऽर्थानसक्तः सुखमन्वसूत्॥'

अत्राडत्रस्तताद्यनूद्याऽऽत्मगोपनाद्येव विश्वेयमिति नवः पयु दासतया गुणीभावो युन्तः। ननु 'अश्राद्धभोजी ब्राह्मणः' 'असूर्यम्पश्या राजदाराः' इत्यादिवत् 'अमुक्तां

'त्रमुक्ता' इत्यादि पद्य में निषेध ही विधेय है अतः यहां भी 'न' के साथ समास नहीं होना चाहिये था। समास करने से निषेध की प्रधानतया प्रतीति नहीं होती, त्रतः यहां 'विधेयाविमर्श' दोष है।

अप्राधान्यभिति —जहां विषयंश में अप्रधानता हो और प्रतिषेधांश में प्रधानता हो वहां प्रसन्ज्यप्रतिषेध (नञ्) होता है ऐसे स्थल में नञ्का सम्बन्ध किया के साथ रहता है। जैसे-नवज्ञचथरहति-यहां प्रसन्ज्य प्रतिषेध है, प्रतप्र 'न इप्तिशाचरः' में समास नहीं किया, किन्तु-उक्तोदाहरण ( ग्रमुक्रेत्यादि ) व तत्पुरुष समास करके नञ्को उपसर्जन बना दिया, अतः यहां पर्युदाः सत्व की प्रतीति होती है, निषेध का प्रधानक्र से मान नहीं होता।

प्रधानत्विमिति—जहां विध्यंश में प्रधानता हो और प्रतिषेधांश में अप्रधानत हो, उस नञ्को पर्युदास समक्षना चाहिये। इस का सम्बन्ध उत्तराह के साथ होता है, जैसे—इगोपेति—यह राजा दिलीप का वर्णन है। गृही लोमी को कहते हैं । अत्रेति—यहां अत्रस्तत्व, अनातुरत्व, अगृष्तुत्व और असक्तत्व को अनुवाद ( उद्देश्य ) — करके आत्मगोपन, धर्मसेवन अर्थाद्वा श्रीर सुखानुभव विधेय है, श्रतः नञ् पर्युदास है, प्रस<sup>त्त्व</sup> नहीं, हि कारण समास में उस का उपसर्जन करना उचित ही हुन्ना है।

निनाते-प्रश्न-जैसे 'त्रश्राद्धमोजी त्राह्मणः' श्रीर 'त्रसूर्यम्पश्या राजदाराः' इत्यादिकी वे तेषेधार्थक तक के प्रतिषेघार्थक नञ्के साथ समास होता है उसी प्रकार 'श्रमुक्ता' इस पर

क्ष्मिषि प्रसन्यपतिषेधो भंत्रतीति चेत्, न । अत्रापि यदि मोजनादिरूपिक्रयां-क्षिमाप वर्षः स्यात्तदैव तत्र पसज्यमितिषेधत्रं वक्तुं शक्यम्। न च तथा। श्री प्रधानेन तद्भोज्यर्थेन कर्त्रशेनैव नजः संबन्धात्। यदाहुः—

'श्राद्धभोजनशीलो हि यतः कर्ता पतीयते। न तद्गोजनमात्रं तु कर्तरीनेर्विधानतः ॥' इति ।

'अमुक्ता' इत्यत्र तु क्रिययैत्र सह संबन्ध इति दोष एव । एते च क्लिष्टत्वादयः समासगता एव पददोत्राः ।

बाक्ये दु:श्रवत्वं यथा---

'स्मार्त्यन्धः कदा लप्स्ये कार्तार्थ्यं विरहे तव।' 'कृतमृहत्तरन्यार्थे किविवन्ति समरनुते ॥'

ग्रत्र जुगुप्साव्यञ्जिकाश्लीलता ।

भीपसम्बद्धार्यविषेधार्थक नञ्के साथ समास मान लें तो क्या हानि है ? उत्तर-क दशानों में प्रसन्ज्यप्रतिषेध नहीं है यदि भोजन, दर्शन आदि कियांशों के गयनम् का सम्बन्ध होता हो तो इनमें प्रसज्ज्यप्रतिषेध कहा जा संकता है। किलु ऐसा नहीं है। 'प्रधाने नहि सम्बन्धाः' 'गुणानाक्व परार्थत्वादसम्बन्धः' इत्यादि वायके अवसार यहां कर्ना (प्रत्ययार्थ) के साथ नज्का सम्बन्ध होता है, स्यंकि यहां वही प्रधान है। 'प्रकृतिप्रत्ययों सहार्थे मूतस्तयोः प्रत्ययार्थः प्रधानम्' अर्थात् महित और प्रत्यय मिल कर अर्थ देते हैं किन्तु उन में प्रत्यय का अर्थ प्रधान पताहै। 'अश्राद्धमोजी' और 'असूर्यम्पश्या' में प्रत्ययार्थ होने के कारण क्वी प्रधान है। इस में प्रप्राण देते हैं — श्राद्धेति-'श्रश्राद्धभोजी' इस पद से श्री क्षेत्र कि प्रतीति होती है, केवल मोजन की प्रतीति नहीं वि, क्योंकि यहां इनि ('सुप्यजातौ शिनिस्ताच्छीरथे' इस सूत्र से ताच्छी-लिकि प्रत्यय कर्ता अर्थ में होता है। अपुक्तेति—'अमुक्तेंत्यादि शिंक उदाहरण में तो किया के ही साथ नञ्का सम्बन्ध है, अतः वहां

भी वेति-विल्हास्त, विरुद्धमितकारितव श्रीर विधेयाविमर्श ये पद्दोष समास विश्व मित्र क्षित्र क्षेत्र क्षेत्र का स्वाप्त का स्वा भिराति' नमन्मय वेदना से अन्धा हुआ मैं कब 'कार्तार्थ' न्कृतार्थता को मिक्रहेंगा। यहां 'समरातिं' 'कार्ताध्यें' और 'लब्स्यें' इत अनेक पदीं में किशोर महाप्राण वर्णों का संयोग होने से वाक्यगत दुःश्रवत्व द्रोष है। भी अन्य के अर्थ में जिसने 'प्रवृत्ति' की है अर्थात् जो किव अन्य कियों के कि अर्थ में जिसने 'प्रवृत्ति' की है अर्थात् जो किव अन्य कियों के भेष के अर्थ में जिसने 'प्रवृत्ति' की है अर्थात् जो काव अन्य स्वाप्ति अर्थ को चुराता है वह 'वान्त' (वमन) खाता है। अनेति -यहां मृणाः अध्यको चुराता है वह 'वान्त' (वमन) खाता ह । जनाव क्रिक्त अध्यक्ति अध्यक्ति है। 'प्रवृत्ति' शब्द पुरीषोत्सर्ग का व्यञ्जक है और 'वान्त'

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'उद्यत्कमललौहित्यैर्वक्राभिभू वितातनुः।'

अंत्र कमललौहित्यं पद्मरागः । वक्राभिर्वामाभिः । इति नेयार्थता । धिम्मल्लस्य न कस्य प्रेच्य निकामं कुरङ्गशावाद्याः । रज्यत्यपूर्ववन्धव्युत्पत्तेर्मानसं शोभाम् ॥'

अत्र धिमिल्लस्य शोभां पेदय कस्य मानसं न रज्यतीति सम्बन्धः क्लिष्टः। 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यत्' इति । अत्र चायमेव न्यक्कार इति न्यकारल विधेयत्वं विविद्यतम् । तच शब्दरचनावैपरीत्येन गुणीभृतम् । रचना च पदद्वल विपरीतेति वाक्यदोषः ।

'त्र्यानन्दयति ते नेत्रे योऽसौ सुभ्नु समागतः ।'

इत्यादिषु 'यत्तदोर्नित्यः संबन्धः' इति न्यायादुपक्रान्तस्य यच्छ्रब्दस्य निराक्षाङ् इत्वप्रतिपत्तये तच्छ्रब्दसमानार्थतया प्रतिपाद्यमाना इदमेतददःशब्दा विधेया ए

का अशन अत्यन्त घृणाव्यञ्जक है, अतः यह वाक्यगत दोष है। उचिति-'वका'-वामा अर्थात् सुन्दरियों ने 'उद्यत्'=प्रकाशमान, 'कमल'=पद्म, 'लौहित्य'=एव (पद्मराग=लालरतन) से अपने शरीर को भूषित किया। यहां 'पद्म' शब्द हे कमल लक्ष्य है और 'लौहित्य' शब्द से राग लक्ष्य है एवम् 'वका' शब्द सेवान ल्ज्णीय है। किन्तु इन लज्जाओं का कारण न रुढि है, न प्रयोजन, ग्रह यहां पूर्ववत् नेयार्थता दीष है। स्रानेक पदों में होने के कारण यह वाक्यात है। वाक्यगतं किलप्टत्व का उदाहरंग्-धार्मिल्लस्यति - जिसकी 'वन्धन्युत्पित अर्थात् रचनाचातुरी या गूंथने की कला अद्भुत है उस धम्मिल्ल (वंगी हुई चोटी ) की शोभा देख कर किसका मन अनुरक्त नहीं होता। यहां की पदों का - जो दूर दूर हैं - सम्बन्ध क्लेश से करना पड़ता है। 'धिमालस' सुव से पहले हैं परन्तु उसका सम्बन्ध सब से पीछे पढ़े हुए 'शोभाम' पर के साथ है। एवम् इस 'शोमाम्' का 'प्रेक्ष्य' के साथ, 'मानसम्' का 'त' के श्रीर 'न' का 'रउज्यति' के साथ दूरान्वय है । न्यक्कारहति-इस पहाँ न्यकार विधेय है और 'श्रयमेव' उद्देश्य है। 'श्रतुवाद्यमतुक्तवेव व विधेयपुर्वापेव। नंश्रलन्थास्पदं किन्नित्कुत्रचित् प्रतितिष्ठति' (उद्देश्य को विना कहे विधेय न बोबे विना त्राश्रय के कोई वस्तु कहीं नहीं ठहरती ) इस न्याय के त्रवसार परि उद्देश्य और पीछे विधेय बोलना चाहिये। तच्चेति—वह उद्देश्य विधेयमा उक्त पद्य में उक्त शब्दों की रचना के वैपरीत्य (उलट जाने) अर्थात् विधेय और तीने करें विधेय और पीछे उद्देश्य के पढ़ने से विधेय की प्रधानता प्रतीत नहीं होती।
यहां रचना को क्यों के पढ़ने से विधेय की प्रधानता प्रतीत नहीं होती। यहां रचना दो पदों की बिगड़ो है, अतः यह वाक्यदोष है। दूसरा है। इसरा है। हरण—आनन्द्रयतीति —यत्तदोरिति—'यत्' श्रोर 'तत्' शब्द का बित्य सम्बन्ध ही, एक के विना करान है, एक के विना दूसरा साकाङ्त रहता है, इस न्याय के अनुसार पद्य में प्रकृत 'यत' शहर की पद्य में प्रकृत 'यत्' शब्द की आकाङ्त रहता है, इस न्याय के अवुला प्रम समानार्थक (इस.) 'पान्य' समानार्थक प्रान्त का त्राकाङ्वा पूरी करने के लिये तर्व समानार्थक का कार्य का त्राकाङ्क का कार्य का कार्य का कार्य का कार्य कार्य का का कार्य का का कार्य का का कार्य का का कार्य का का कार्य का मिल् युक्ताः। अत्र तु यच्छ्रब्दिनकटस्थतया अनुवाद्यत्वमतीतिकृत्। तच्छ्रब्दस्यापि वार्य व प्रसिद्धपरामिशत्वमात्रम् । यथा-

थः स ते नयनानन्दकरः सुभु स आगतः।' यन्त्रबद्वयवधानेन स्थितास्तु निराकाङ्क्तवमवगमयन्ति । यथा-'ग्रानन्दयति ते नेत्रे योऽधुनासौ समागतः ॥'

एवमिदमादिशब्दोपादानेऽपि । यत्रं च यत्तदोरेकस्याऽऽर्थत्वं संभवति, तत्रैकस्यो-गहानेऽपि निराकाङ्क्त्वमतीतिरिति न क्तिः। तथाहि यच्छ्रब्दस्योत्तरवाक्यगत-क्षेतोपादाने सामर्थ्यात् पूर्ववाक्ये तच्छ्रव्दस्याऽऽर्थत्वम् । यथा— 'आत्मा जानाति यत्पापम्'

एवम्

'यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदत्ते । भास्त्रन्ति रत्नानि महौषधीरच-इत्यादाविप ।

किन्तु प्रकृतपद्य में 'यत्' शब्द के समीप में स्थित होने के कारण 'अदस्' (असी) शब्द से विधेयता का भान नहीं होता, त्रानुवाद्यत्व (उद्देश्यता) की ग्वीति होती है। इसी प्रकार 'तत्' शब्द भी यदि 'यत्' शब्द के समीप में ही ल्यत होतो केवल प्रसिद्धि का चोधक होता है, विधेयता का बोधक नहीं होता। वैसे-यः स इति-इस उदाहरण में पहला 'तत्' शब्द (सः) केवल प्रसिद्धि का परामर्श करता है। यच्छन्देति—'यत्' शब्द से यदि कुछ व्यवधान देकर वदादिक ग्राब्द स्थित हों तो निराकाङ्चता का बोधन करते हैं। जैसे-भानन्दयति-इस वाक्य में 'अबुना' पद से व्यवहित होने के कारण 'अदस्' गर् (असी) से आकाङ्वा शान्त होजाती है। इसी प्रकार 'इदम्' आदि गर्नों में भी जानना। यत्रवेति - श्रीर जहां 'यत्' 'तत्' शब्दों में से किसी एक का अधित-अर्थ के वल से आल्प-हो सकता हो वहां केवल एक का प्रहरण कितं पर भी आकाइ ता शान्त हो जाती है, अतः वहां कोई चति नहीं होती। भाषि जहां उत्तर ( अगते ) वाक्य में यत् शब्द का प्रहण होता है वहाँ विवास्य में तत् शब्द अर्थ के बल से लभ्य हो सकता है। जैसे-ब्रात्मेति— दियही जानता है, जो पाप है'। यहां अगले वाक्य में 'यत' (जो) शब्द है कि 'ते पूर्व में 'तत्' शब्द कहा नहीं, वह अर्थ है, अतः यह अर्थ होता कि-'जो पाप है उसे आतमा (आन्तः करण) जानता है। एवमिति—इसी भार 'यं सर्वशैलाः' इत्यादिक उत्तर वाक्यों में 'यत' शब्द होने के कारण विश्वाक्य 'सवश्वेताः' इत्यादिक उत्तर वाक्यो में 'यत् राष्ट् वर्षेत्र में 'तत् शब्द न होने पर भी तच्छ्रब्दस्य प्रकान्तप्रसिद्धानुभूतार्थत्वे यच्छ्रब्दस्यार्थत्वम् ।

क्रमेगा यथा-

'स हत्वा वालिनं वीरस्तत्पदे चिरकाङ्क्ति । धातोः स्थान इवादेशं सुप्रीवं संन्यवेशयत् ॥' 'स वः शशिकलामौलिस्तादात्म्यायोपकल्प्यताम् ।' 'तामिन्दुसुन्दरमुखीं इदि चिन्तयामि ।'

यत्र च यच्छ्रब्दिनकटस्थितानामपीदमादिशब्दानां भिन्नलिङ्गविमिक्तलं तत्रापि निराकाङ्क्तवमेव । क्रमेण यथा—

'विभाति मृगशावाद्यी येदं भुवनभूषग्राम् ।'
'इन्दुर्विभाति यस्तेन दग्धाः पथिकयोषितः ।'
किचिदनुपात्तयोर्द्वयोरिप सामर्थ्यादवगमः । यथा—
'न मे शमयिता कोऽपि भारस्येत्युर्धि मा शुचः ।
नन्दस्य भवने कोऽपि बालोऽस्त्यद्भुतपौरुषः ॥'
अत्र योऽस्ति, स ते भारस्य शमयितेति बुध्यते ।

वह 'श्रार्थं' है। तच्छव्दस्यति—प्रकान्त (प्रकरण से प्राप्त) प्रसिद्ध और पूर्वात भूत वस्तुओं के लिये जहां तत् शब्द श्राता है वहां यत् शब्द श्रार्थ होता है—कम से उदाहरण देते हैं—सहति-उस वीर (श्रीरामचन्द्र) ने वाली की मारकर बहुत दिनों से श्रीमलियत उस के राज्य में सुप्रीव को, धातु के स्थान में श्रादेश की तरह, प्रतिष्ठित किया । यहां श्रीरामचन्द्रजी की प्रकरण चल रहा है। तत् शब्द (सः) प्रकान्तवाचक है श्रतः 'यत्' शब्द श्रार्थ है। एवं-स व इति-यहां 'तत्' शब्द से लोकप्रसिद्ध शशिकलापीलि (शिष्ठ) का श्रीमधान होने के कारण 'यत्' शब्द श्रार्थ है।

तामिति-इस में पूर्वानुभूत कामिनी का तत् शब्द से परामर्श किया है।
यत्रचेति-जहां यत् शब्द के समीपस्य होने पर भी इदमादि शब्दों के लिं
श्रौर विमक्तियां भिन्न होती हैं वहां निराकाङ्कता ही होती है। जैसे कि श्रित है। यहां 'या' के साथ ही विधेय 'इदम्' पढ़ा है, किन्तु उस का लिङ्ग भिन्न है।
यहां 'या' के साथ ही विधेय 'इदम्' पढ़ा है, किन्तु उस का लिङ्ग भिन्न है।
श्रतः उस से उद्देश्यता की प्रतीति नहीं होती, एवम् उत्तरार्ध में 'या' के
श्रतः उस से उद्देश्यता की प्रतीति नहीं होती, एवम् उत्तरार्ध में 'या' के
श्रतः उस से उद्देश्यता की प्रतीति नहीं होती, एवम् उत्तरार्ध में 'या' के
श्राय ही मिन्न विमक्तिवाला 'तेन' पद् है, यहां कोई दोष नहीं है। कि विधित कहीं 'यत्' श्रौर 'तत्' दोनों का श्रर्थ के सामर्थ्य से श्रवगम (इति) है।
है। न मे इति—मेरे दुःख भार को दूर करनेवाला कोई नहीं, यह समम्मर्थ
है। न मे इति—मेरे दुःख भार को दूर करनेवाला कोई नहीं, यह समम्मर्थ
है। न मे इति—मेरे दुःख भार को दूर करनेवाला कोई नहीं, यह समम्मर्थ
है। न मे इति—नन्द के घर में 'जो' (यः) बालक है 'वह' (सः) से
भार का शमन करेगा, यह बात यहां प्रतीत होती है। प्रहण न होते पर में
'यत्' श्रौर 'तत्' दोनों श्रर्थ के सामर्थ्य से श्रवगत होते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'यद्यद्विरहदुःखं में तत्को वाऽपहरिष्यति।'

इत्यत्रैको यच्छ्रव्दः साकाङ्च इति न वाच्यम् । तथाहि—यद्यदित्यनेन केन-विद्वेण स्थितं सर्वीत्मकं वस्तु विविच्यतम् । तथाभूतस्य तस्य तच्छ्रव्देन परामर्शः । ल्वमन्येषामपि वाक्यगतत्वेनोदाहरणं बोध्यम् ।

पदांशे श्रुतिकटुत्वं यथा-

'तद् गच्छ सिद्ध्यै, कुरु देवकार्यम् ।' 'धातुमत्तां गिरिर्धत्ते।'

अत्र मत्ताशब्दः चीबार्थे निहतः। 'वर्ण्यते किं महासेनो विजेयो यस्य तारकः।'

अत्र विजेय इति कृत्यपत्ययः क्रपत्ययार्थेऽवाचकः।

'पािगः पल्लवपेलवः।'

पेलवशब्दस्याद्यात्तरे अपरलीले ।

'संग्रामे निहताः शूरा वचीबाण्त्वमागताः।'

पक्त - यद्यदिति - मुक्ते जो जो विरह का दुःख है उसे कौन दूर करेगा --स वास्य में उद्देश्य में यत् शब्द दी बार आया है, किन्तु आगे 'तत्' शब्द पक ही है, अतः एक यत् शब्द साकाङ्च है, उसके लिये एक और तत् गन्द चाहिये। उत्तर-इति न वाच्यम्—ऐसा न कदो, क्यांकि यहां पूर्व वाक्य में प्रत्यत्' शब्दों से वीप्सा के द्वारा सम्पूर्ण दुःखों की विवद्ता है उसी सक्ष से उत्तर वाक्य के 'तत्' शब्द ने उनका परामर्श किया है, अतः कोई साकाइत नहीं है। इसी प्रकार अन्य दोषों का भी वाक्य में उदाहरण जानना। पदांश में श्रुतिकटुत्व का उदाहरण —तद्गच्छेति—यहां 'सिड्ये' पद का पक श्रंश 'द्धे' श्रुतिकटु है । धातुमत्तास्—अत्रेति—'मत्ता' शब्द प्रमत्त (मस्त) की के लिये प्रसिद्ध है, यहां उसका तद्वतारूप अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग है, शतः निहतार्थता दोष है। 'धातुमत्ता' पद के एक श्रंश--'मत्ता'-के दूषित होते से यह पदांशदोष है—'वीबार्थे प्रसिद्धः— इह तु तहत्तार्थे निहतः'— इस प्रकार इस पंक्ति की योजना करनी चाहिये। चीब म्रर्थ प्रसिद्ध है, म्रतः उसमें निहतार्थता नहीं हो सकती, इसिलये यथाश्रुत योजना ठीक नहीं है। वर्णते-वहां 'विजेयः' पद में क्र प्रत्यय के अर्थ में यत् ('अचो यत्') प्रत्यय का भोग किया है, अतः पदांशगत 'त्रवाचकत्व' है। पाणिरिति—'पेलव' शब्द के पहले दो अतः पदांशगत 'श्रवाचकत्व हा ना स्ति है। संप्रामे— क्यों अत्तरों से लज्जाव्यक्षक श्रश्लीलता प्रकट होती है। संप्रामे— वेदोताण शब्द में 'वचस्' शब्द का 'गिर्' शब्द के लिये लज्ञणा से प्रयोग किया है। गीर्वाण (देवता) के बोधन में तात्पर्य है, परन्तु कृढि अथवा भवोजन के न होने से लच्चणा यहां नहीं हो सकती, अतः पदांशगत 'नेयार्थता' अत्र वचःशब्दस्य गीःशब्दवाचकत्वे नेयार्थत्वम् । तथा तत्रैव वाणस्थाने शरेति पाठे । अत्र पदद्भयमपि न परिवृत्तिसहम् । जलब्यादौ तूत्तरपदम् । वहः वानलादौ पूर्वपदम् । एवमन्येपि यथासंभवं पदांशदोत्रा क्रेयाः । निर्धकत्वादोत्रां त्रयाणां च पदमात्रगतत्वेनैव लद्द्ये संभवः । क्रमतो यथा— (मुञ्च मानं हि मानिनि ।'

स्रत्र हिशब्दो वृत्तिपूरणमात्रपयोजनः।

'कुञ्जं हिन्त कृशोदरी।'

स्रत्र हन्तीति गमनार्थे पठितमपि न तत्र समर्थम्।

'गाएडीवी कनकशिलानिमं सुजाभ्या
माजध्ने विषमविलोचनस्य वत्तः।'

'ब्राङो यमहनः', 'स्वाङ्गकर्मकाच' इत्यनुशासनवलादाङ्पूर्वस्य हनः स्वाङ्ग-

दोष है। तथेति -इसी प्रकार यदि उक्त शब्द में 'बाए के स्थान में 'शर' ए दें तो भी यही दोष होगा। अत्र पदद्रयम् —इस 'गीर्वाण' शब्द में दोनों पर परिवर्तन नहीं सह सकते - इनमें से काई भी वदला नहीं जा सकता। 'जलिं आदि शब्दों में उत्तरपद (धि) में परिवर्त्तन नहीं हो सकता। पूर्वपद -जल -के स्थान में चांहे जो कु इ पर्याय रख सकते हैं- 'जलिं-'वारिधि'—'पयोधि' त्रादि बना सकते हैं, किन्तु उत्तरपद को वद्लका यदि 'जलधान' श्रादि बना दें तो समुद्र का वाचक न रहेगा। वाडवेति-'वाडवानल' त्रादि पदों में पूर्व पद (वडवा या वाडव) नहीं बदलाजा सकता एवम्—इसी प्रकार अन्य पदांशदोष भी जानना । निरर्थकत्वादीते—निर्थ-कत्व, असमर्थत्व और च्युतसंस्कारता इन तीन दोषों का उदाहरण पद ही संभव है, पदांश या वाक्य में इनका उदाहरण नहीं मिल सकता। कमेणेति—निरर्थकत्वादिकों का क्रम से उदाहरण—गुन्नेति—यहां 'हिं पर निरर्थंक है। केवल छुन्द के अत्र पूरे करने के लिये उसे रख दिया है। कुन्जमिति—यहां गमन रूप अर्थ में 'हन्' धातु का प्रयोग किया है, परन्तु स अर्थ में यह श्रसमर्थ है। यद्यपि व्याकरण में 'इन् हिंसागत्योः' लिखा है—हिंसी श्रीर गति दोनों हन् धातु के अर्थ वताये हैं -- परन्तु 'पद्धति' श्रादि कुर्व प्रयोगों के अतिरिक्त इस अर्थ में उक्त धातु का प्रयोग नहीं होता। 'इति' ही 'गच्छति' के अर्थ में सर्वथा अप्रयुक्त है, अतः यहां 'असमर्थत्व' होष है। 'गाएडीवीति'—ग्रर्जुन ने किरातवेषधारी शङ्कर के स्वर्णशिलासहश वदःस्था को दोनों नाको के को दोनों हाथों से आहत किया । आङ:इति — आहमनेपद का विधान करि वाले 'श्राङो यमहनः' इस स्त्र में 'स्वाङ्गकर्मकाच' इस स्त्र का सम्बद्ध ( अनुवृत्ति ) है, अतः श्राङ्ग्यंक हन् धातु से श्राहमनेपद् तभी होता। जव उस का कर्ष जव उस का कर्म स्वाङ्ग (मारनेवाले का अपना अङ्ग ) हो, किन्तु

क्रिक्त्यैवात्मनेपदं नियमितम् । इह तु तल्लिक्वतमिति व्याकरणलक्षणहीनत्वात्

म्बूतंस्कारत्वम् ।
वन्त्र 'म्राजध्ने' इति पदस्य स्वतो न दुष्टता, ऋषि तु पदान्तरापेक्षयैव इत्यस्य
वन्त्र 'म्राजध्ने' इति पदस्य स्वतो न दुष्टता, ऋषि तु पदान्तरापेक्षयैव इत्यस्य
वन्त्रिकानुविधायित्वं हेतुः । इह तु दोषस्य 'आजध्ने' इति पदमात्रस्यैवान्वयव्यतिविविधायित्वम् । पदान्तराणां परिवर्त्तनेऽपि तस्य तादवस्थ्यात्, इति पददोष एव ।
विविधायित्वम् । पदान्तराणां परिवर्त्तनेऽपि तस्य तादवस्थ्यात्, इति पददोष एव ।
विविधायित्वम् परिवृत्ताविष न दोषः, तथा हन्मकृतेरपीति न पदांशदोषः ।
विविधायः द्वं 'पद्मः' इत्यत्राप्रयुक्तत्वस्य पदगतत्वं वोध्यम् । एवं प्राकृतादिव्याकरणक्वण-

हाताविष च्युतसंस्कारत्वमूह्यम् । इह तु शब्दानां सर्वथा प्रयोगाभावेऽसमर्थत्वम् । विरत्तप्रयोगे निहतार्थत्वम् । निहतार्थत्वमनेकार्थशब्दविषयम् । अप्रतीतत्वं त्वेकार्थस्यापि शब्दस्य सार्वित्रकप्रयोग-

वेसा नहीं हैं। हन् धातु के रूप—'ग्राजध्ने'-का कर्म शङ्कर का वद्यःस्थल है और गारनेवाले श्रर्जुन हैं, श्रतः व्याकरण के नियम से विरुद्ध होने के कारण यहां '<mark>ज्युतसंस्कारता' दोष है</mark> । व्याकरणानुसार यहां 'श्राजघान' होना चाहिये । विविति—प्रश्न-'त्राजघने' यह पद स्वयं तो दुष्ट नहीं है। व्याकरण के त्रानुसार सिकी सिद्धि होती ही है। इसके साथ दूसरे पद —'विषमविलोचनस्य वद्यः'— केहोने से यह दूषित होगया है, अतः दो पदों का दोष होने के कारण इसे वाक्य-दोष क्यों न माना जाय ? उत्तर —मैत्रिमिति —ऐसा मत कहो —शन्द अथवा यर्गे गुण, दोष त्रीर त्र तंकारों की स्थित का निर्णय पूर्वोक्त 'त्रन्वयव्यतिरेक' के द्वारा होता है। जो दोष जिस शब्द के रखने पर बना रहे और उसके हटा देने षेहर जाय वह उसी शब्द का दोष माना जाता है। एवं जिस अर्थ की सत्ता में नो दोष वना रहे श्रीर उस अर्थ के अभाव में निवृत्त हो जाय वह उस अर्थ का दीप माना जाता है। प्रकृत में यह दोष 'श्राजध्ने' इस पद से ही सम्बद्ध है, भौकि यहां यदि और पदों को बदल कर उनके पर्यायवाचक रख दिये जाय वो यह दोष वैसा ही बना रहेगा, किन्तु यदि 'ब्राजध्ने' को हटाकर इसका पर्याय रख दें तो उक्क दोष नहीं रहता, श्रतः इसी पद के साथ सम्बन्ध रखने के कारण यह पग्दोष है। तथेति-जैसे यहां आत्मनेपद को बदल देने से दोष नहीं विवाहसी प्रकार हन् धातु के बदलने पर भी नहीं रहता, श्रतएव इसे पदांशदोष भीनहीं कह सकते। एवं पड़ा-इसी प्रकार 'पद्मः' इत्यादि में पूर्वोक्त 'श्रप्रयुक्तत्व' दीप को पददोष जानना। प्राकृत आदि के शब्दों में भी उनके व्याकरणों का विरोध होने पर इसी प्रकार 'च्युतसंस्कारता' दोष जानना चाहिये। कई दोषों के परस्पर भेद को स्पष्ट करते हैं-इहतु - जिस शब्द का जिस अर्थ में सर्वथा भयोगाभाव है अर्थात् जो शब्द जिस अर्थ में कभी प्रयुक्त नहीं होता करावित को शब्द जिस अर्थ में कभी प्रयुक्त नहीं की उसका उस अर्थ में प्रयोग करने से असमर्थत्व दोष होता है। के प्रका उस अर्थ में प्रयोग करने स अलमप्रत है। विख्ति-जिस शब्द

विरहः । अप्रयुक्तत्वमेकार्थशब्दविषयम् । असमर्थत्वमनेकार्थशब्दविषयम् । असमर्थत्व हन्त्यादयो गमनार्थे पठिताः । अत्राचकत्वे दिनादयः प्रकाशमयाद्ये न त्येति प्रस्परभेदः । एवं पददोषसजातीया वाक्यदोषा उक्ताः, संपति तद्विजातीया उच्यन्ते।

वर्णीनां प्रतिकूलत्वं, लुप्ताऽऽहतविसर्गते। अधिकन्यूनकथित्पद्ताहतवृत्तताः ॥ ५॥ पतत्प्रकर्षता, संधौ विश्लेषाऽश्लीलकष्टताः। अर्धान्तरैकपदता समाप्तपुनरात्तता ॥ ६॥ ग्रभवन्मतसंबन्धाऽऋषाऽमतपरार्थताः। वाच्यस्यानभिधानं च अग्नप्रक्रमता तथा।॥ ७॥ त्यागः प्रसिद्धेरस्थाने न्यासः पद्समासयोः। संकीर्णता गिभतता दोषाः स्युवीक्यमात्रगाः॥ ।॥

वर्णानां रसानुगुण्यविपरीतत्वं प्रतिकृत्तत्वम् । यथा मम-

का जिस अर्थ में प्रयोग विरल (कहीं २ केवल श्लेषादि में ही) होता हो उसका उसी (विरत्तप्रयोगविषय) अर्थ में प्रयोग करने से 'निहतार्थत्व'दोष होता है। 'निहतार्थत्व' अनेकार्थक शब्दों में ही हो सकता है, किन्तु अपती तत्व दोष वहां होता है जहां शब्द चाहे एकार्थक हो चाहे अनेकार्यक किलु उसका उस अर्थ में प्रयोग सर्वत्र न होता हो। जैसे 'त्राशय' शब्द वासनाके लिये योगशास्त्र में ही आता है। अप्रयुक्तत्विमिति —अप्रयुक्तत्व पकार्थक शब्दों में होता है। त्रसमर्थत्वभिति-'त्रसमर्थत्व' दोष त्रानेकार्थक शब्दों में होता है। सर्वे उदाहरण 'हन्' धातु आदि हैं जो व्याकरण में गमन आदि अयों में पही है (परन्तु 'पद्धति' आदि कुछ शब्दों के अतिरिक्ष गमन अर्थ में इसका प्रयोग नहीं होता। 'गच्छति' के अर्थ में 'हिन्त' का प्रयोग कहीं नहीं होता) किन् अवाचकत्व के उदाहरण 'दिन' आदि शब्द हैं जो प्रकाशमय आदि अ<sup>शी के</sup> लिये कहीं नहीं पढ़े हैं। यही इन दोषों का परस्पर भेद है।

इस प्रकार पददोषों के सजातीय वाक्यदोष दिखाने के अनन्तर अव उन से विजातीय वाक्यदोष दिखाते हैं। वर्णांनामिति—प्रतिकृतवर्णत्व, लुप्तविसर्गत श्राहतविसर्गत्व, श्रिकपद्त्व, न्यूनपद्त्व, कथितपद्त्व, हतवृत्त्व, पत त्प्रकर्षत्व, सन्धिविश्लेष, सन्ध्यश्लीलत्व, सन्धिकष्टत्व, अर्धान्तरैकपहत्व समाप्तपुनरात्तत्व, अभवन्मतसम्बन्धत्व, अक्रमत्व, अमतपरार्थत्व, वाच्याव मिश्रान, मग्नप्रक्रमत्व, प्रसिद्धित्याग, श्रह्थानस्थपद्त्व, श्रह्थानस्थसमास्त संकीयत्व और गर्भितत्व ये दोष केवल वाक्यों में होते हैं, पहादिकी

नहीं होते।

पत्येक दोष का लक्त्य और उदाहरण दिखाते हैं-वर्णानामिति—रस दो प्रकार के होते हैं-कोमल और प्रदीप्त। इनमें यथा योग्य कोमल और कठोर वर्ष के रचना होनी चाहिये।यदि वर्णों की रचना रस के विपरीत हो अर्थात कोमल

भ्रोवद्द उल्लह्ड सत्र्यणे किहिपि मोट्टात्र्यइ गो परिहट्टइ। हिम्रएग फिट्टइ लजाइ खुटइ दिहीए सा ॥'

अत्र टकाराः शृङ्गाररसपरिपन्थिनः केवलं शिक्तपदर्शनाय निबद्धाः। लां वैकद्वित्रचतुः प्रयोगे न ताद्वप्रसमङ्ग इति न दोषः । 'गता निशा इमा बाले।'

अत्र तुप्ताविसगीः।

ब्राहता स्रोत्वं पाप्ता विसर्गा यत्र । यथा-'धीरो बरो नरो याति' इति। 'पल्लवाकृतिरक्तोष्टी।'

अत्राकृतिपदमधिकम्। एवम्---'सदाशिवं नौमि पिनाकपाणिम्।'

इति विशेषग्रमधिकम् ।

वंक्ठोर श्रौर प्रदीप्त रस में कोमल वर्णों की रचना करने से प्रतिकूलवर्णत्व नामक रोप होता है। उदाहरण —ग्रोवट्टइ—''श्रववर्तपति उल्लोठयति शयने कर्बापि मोष्टयति नो पीपते। इत्येन स्फिष्टयति लखया खुट्टयति धृतेः सा" यह नायक के प्रति दूती की उक्ति ितुम्हारे वियोग में वह करवटें बदल रही है-पलङ्ग पर कभी हाथ पैर पटकती भोहायित करती है। (तन्हावभाविते चित्ते वस्त्रभस्य कथादिषु। मोट्टायित-मितिमाहुः कर्णकराङ्कयनादिकम्) किसी कार्य में परिघटित (संलग्न) नहीं होती-विकाजी (हदय) दूरा जाता है-वह लज्जा के कारण धैर्य से च्युत हो रही है। मोति यहाँ कोमल रस (श्रुङ्गार) में उसके विरोधी कठोर वर्ण हमने (सा-क्षित्पंशकार ने) केवल अपनी कविताशक्ति के दिखाने के लिये जान बुक कार्षि दिये हैं। गुण्संप्रह के समान उत्कृष्ट दोषों को इकट्ठा करना भी कवित्व गित का परिचायक है। इन प्रतिकृत वर्णों का दो एक वार यदि कहीं प्रयोग हो विष्तो उतना रसभक्त नहीं होता, श्रतः वहां दोष भी नहां होता। श्रनेक वार की दो दो संयुक्त रकार उक्तपद्य में श्रत्यन्त दोषाधायक हैं। उक्त पद्य में विश-क्षिम्प्रह्मार अत्यन्त कोमल—रस है। उसमें इन कठोर वर्णों की रचना से भीतकुलन्तर्शत्व दोष हुआ है। गताइति-इस वाक्य में सर्वत्र विसर्गों का लोप हो-को से 'खुतिविस्तर्गत्व' दोष है। गताइति-इस वाक्य में सवत्र ।परान्त आर्थ है स्रो-का के का अ भार के क्य में परिणत होना। जहां अनेक विसर्ग ओकार के क्य में परिणत कि पार्वित होना। जहां अनेक विसर्ग आकार क रूप पहिले पहां शिक्षि के पार्वित यहां शिक्षि के पार्वित विसर्गत्व' दोष होता है। जैसे — धीरो — । पहवित यहां भारति पर अधिक है। 'पस्तवरक्तोष्ट्री' ही कहना चाहिये। सदाशिवम् यहां जित्रा पद अधिक है। 'पज्ञवरक्तोष्ठी' ही कहना चाहिय । जित्रक का विशेषण अधिक है। नमस्कार के प्रकरण में पिनाक का ंकुर्या हरस्यापि पिनाकपाणेः इति । अत्र तु पिनाकपाणिपदं त्रिशेषप्रतिपत्त्यर्थमुपात्तमिति युक्तमेव।

यथा वा

(वाचमुबाच कौत्सः।'

श्रत्र वाचिमत्यधिकम् । उवाचेत्यनेनैव गतार्थत्वात् । किचित्तु विशेषणदानार्थं तत्पयोगो युज्यते । यथा— 'उवाच मधुरां वाचम्' इति ।

केचित्त्वाहु:—यत्र विशेषणस्यापि क्रियाविशेषणत्वं संभवति तत्रापि तत्र्योगे न घटते । यथा—

> 'उवाच मधुरं धीमान्' इति । 'यदि मय्यपिता दृष्टिः कि ममेन्द्रतया तदा।'

अत्र प्रथमे त्वयेति पदं न्यूनम् । 'रतिलीलाश्रमं भिन्ते सलीलमनिलो वहन् ।'

लीलाशब्दः पुनरुक्तः । एवम्— 'जन्नुविसं धृतविकासिविसमसूनाः ।'

नहीं अपितु मक्तवत्सलता त्रादि का वर्णन होना चाहिये। कुर्यामित-इसप्रा कामदेव ने अपनी बीरता स्चित करने के लिये -! 'क्रुगी हतस्यापि पिनाक्षारे भैंगेन्युति के ममः धनिवनोऽन्ये'—'पिनाकपाणि' विशेषणः दियाः है। यह ठीक है। 'अधिकपदत्व' का दूसरा उदाहरण देते हैं —वाचिमिति —यहां 'वाचम्' अभि है। 'उवाच' कहना ही पर्याप्त है। वाणी के अतिरिक्त और कोई क्या बोलेग कहीं कहीं विशेषण देने के लिये अधिक पद्का प्रयोग आवश्यक हैं। हैं। जैसे उनाचेति-यहां 'वांचम्' के विना मधुराम् यह विशेषण नहीं ब्रासकती वाणी की मंघुरता बताने के लिये 'मधुराम्' विशेषण आवश्यक है और ही लिये 'वाचम्' यह विशेष्य आवश्यकहै, अतः यहां उक्त दोष नहींहै। केविनु कि का तो यह मत् है कि जहां विशेषण को क्रिया-विशेषण बनाया जा सके व भी अधिक पद का प्रयोग नहीं करना चाहिये। जैसे उक्त वाक्य यो बोली संकता है— उवाज मधुरम् — अतः यहां भी 'वाचम्' की आवश्यकता ॥ न्यूनंपदत्वका उद्गहरण देते हैं -यदीति -यहाँ, प्रथम चरण में त्वा त्यून है। पुनवक्त का उदाहरण —रतिजीविति — दो वार आने से लिला यहां पुनक्रक है। इसी का नाम 'कथितपदत्व' है। कथितपदत्व का दूसरा उदाहरण—ज्युति यहां दूसरी बार विस कि स्थान पर सर्वनाम (तत् शब्द ) का ही प्रयोग होता चाहिये।

कृत विसश्ब्दस्य धृतप्रिस्फुटतत्मसूना इति सर्वनाम्नैव प्रामशों युक्तः । इतकृतं वह्नणानुसरणेऽप्यश्रव्यं, रसाननुगुणमप्राप्तगुरुभावान्तलघु च । क्रमेण यथा—
कृतं वह्नणानुसरणेऽप्यश्रव्यं, रसाननुगुणमप्राप्तगुरुभावान्तलघु च । क्रमेण यथा—
कृतं सततमेतस्या हृदयं भिन्ते मनोभवः कृपितः ।'
कृत्यं मिय मानिनि मा कुरु मानम् ।'

्द्रं वृत्तं हास्यरसस्यैवानुकूलम् ।

गो

1

ġ.

U

ß

1

ंविकसितसहकारभारहारिपरिमल एष समागतो वसन्तः।' ग्लादान्ते लघोरिप गुरुभाव उक्तस्तत्सर्वत्र द्वितीयचतुर्थपादविषयम्। प्रथमत्-त्विष्पादविषयं तु वसन्तितिलकादेरेव । स्प्रत्र 'प्रमुदितसौरभ स्थागतो वसन्तः' इति ग्रि युक्तः। यथा वा—

श्वन्यास्ता गुण्यरत्नरोह्णभुवो धन्या मृदन्यैव सा संभाराः खलु तेऽन्य एव विधिना यैरेष सृष्टो युवा। श्रीमत्कान्तिजुषां द्विषां करतलात्स्वीणां नितम्बस्थलाद् दृष्टे यत्र पतन्ति मृदमनसामस्राणि वस्नाणि च॥'

अत्र वस्नाणि चेति बन्धस्य रलथत्वश्रुतिः । 'वस्नाण्यपि' इति पाठे तु दार्ब्य-भिति न दोषः । 'इदमप्राप्तगुरुभावान्तलघु' इति कान्यपकाशकारः । वस्तुतस्तु 'वन्णानुसरणेऽप्यश्रन्यम्' इत्यन्ये ।

विति—जो छन्द लव्या के अनुसार होने पर भी सुनने में ठीक न लगे और बो इन्द रस के विपरीत हो, अथवा जिस के अन्त में ऐसा लघु हो जो गुरुत्व कोगामन हो सके ये तीन प्रकार के हतवृत्त होते हैं। क्रम से उदाहरण इन्तेति। श्रीति यह छुन्द हास्यरस के ही अनु रूप है। किसी मानिनी के मानापनोदन के समय इस का काम नहीं। विकितिति—यदां प्रथम चरण के अन्त में लघु-वर्ष ('हारि' के 'रि') को गुरुत्व नहीं होसंकता। यत्पादेति—छुन्दः शास्त्र में पाद के मित्र लघु वर्ण को भी गुरु मान लेने की जो व्यवस्था है वह केवल ब्रितीय श्रीर चतुर्य पाद के लिये है। प्रथम और तृतीय चरणों में तो केवल वसन्त-जिल्लारि छन्दों के लिये ही है। यहां 'प्रमुद्तित' इत्यादि पाठ करने से संयोग के आदिम वर्ण को गुरुत्व हो सकता है। दूसरा उदाहरण—श्रन्याइति गुणरत्नी की उत्पन्न करनेवाली वह कोई और ही पृथ्वी है, वह धन्य मृत्तिका दूसरी ही श्रीर वें साधन (संमार) विलद्मण ही हैं जिन से विधाताने इस युवक को जाया है जिस के देखते ही मन के मोहितं (भय से या काम से ) कित के देखते ही मन के माहित । पार्च के नितम्बस्यल है कि कित्र शत्र हो के हाथ से शस्त्र श्रीर कामिनियों के नितम्बस्यल ते विश्व गिरने (खिसकने) लगते हैं। अत्रिति—यहां 'वस्त्राणिच' इस में कि शिथित हो गया है। यदि 'वस्त्रार्यिप' बनादिया जाय तो ठीक रहे। क्षिकायमकाशकार ने 'अप्राप्तगुरुत्भावान्तलघुत्व' का उदाहरण माना है।

भोज्ज्वलञ्ज्वलनञ्चालाविकटोरुसटाच्छ्रट: । रवासिचप्तकुलदमामृत्पातु वो नरकेसरी॥'

अत्र क्रमेणानुपासप्रकर्षः पतितः।

'द् लिते उत्पले एते अविणी अमलाङ्गि ते।'

एवंविधसंधिविश्तेषस्यासकृत्पयोग एव दोषः। अनुशासनमुल्लङ्घ वृत्तमङ्ग

मात्रेण संधिविश्लेषस्य तु सकृदपि । यथा-

'वासवाशामुखे भाति इन्दुश्चन्दनविन्दुवत्।' 'चलएडामरचेष्टितः' इति ।

अत्र संधौ जुगुप्सान्यञ्जकमरतीलत्वम् । 'उर्व्यसावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्ववस्थितिः।'

अत्र संधौ कष्टत्वम्।

'इन्दुर्विभाति कपूरगौरर्धवलयन्करः। जगन्मा कुरु तन्विङ्ग मानं पादानते पिये॥' अत्र जगदिति पथमार्घे पठितुमुचितम्।

वस्तुतः यह छन्द के अनुसार होने पर भी अश्रव्य है। 'वस्तुतस्तु' इत्यादिक विश्वनाथजी की यह पङ्कि शिथिल है। यदि यह इनका अपना मत है. तब तो इसमें 'इत्यन्ये' नहीं कहना चाहिये श्रौर यदि यह दूसरों का धी मत है, इनका नहीं, तव इसमें 'बस्तुतः' लिखना अनुचित है। प्रोज्ज्वलादिति —इस पद्य में अनुपार कम से गिरने लगा है श्रीर श्रन्त में विल्कुल गिर गया है। वस्तुतः यहां दोष नहीं प्रत्युत गुण है। क्रोध से भरे भयानक नृसिंह के वर्णन में विकट बन्ध श्रीर चतुर्ण चरण में आशीर्वाद के समय कोमल बन्ध बनाना उचित ही हुआ है। यदिया 'पातुवो' के स्थान में 'भात्यसौ' कर दें तो यह इस दोष का उदाहरणी जायगा। दिलते इति—एवांविधेति—इस प्रकार प्रगृह्यसंज्ञा आदि के कारण किया हुआ सन्धिमङ्ग अनेक वार श्राने पर दोष होता है, किन्तु व्याकरण के विस् केवल छन्दोभङ्ग दूर करनेके लिये एक वार किया हुआ सन्धिभङ्गभी दोवाप्रविक होजाता है। केटे होजाता है। जैसे—वासवेति। चलएडेति—यहां चलन्, श्रीर डामर पदी की स्वि करने से जुगुप्सा या बीडा की व्यञ्जक अश्लीलता प्रतीत होती है। अपन भाषामें 'त्तरहा' शब्द पुरीष का वाचक है। उनीति—यह वह पृथ्वी है जहाँ मा स्थलके श्रन्त्य में रमणीय श्रवस्थिति वाली वृत्तपङ्क्षि (तर्वाली) है। बर् सन्धि करने से कटोरता आगई है।

क्द्रिति इस पद्य में जगत् का सम्बन्ध पूर्वार्ध के साथ है, वहीं र्से प्रि चाहिये। दूसरे अर्धमें एक पदके चले जानेसे यह 'अर्थान्तरैकपदत्व' दोवका हरी 'नाशयन्तो घनध्वान्तं तापयन्तो वियोगिनः। पतन्ति शशिनः पादा भासयन्तः चमातलम् ॥

अत्र चतुर्थपादो वाक्यसमाप्ताविप पुनरात्तः।

अभवन्मतसंबन्धो यथा—

था जयश्रीर्मनोजस्य यया जगदलंकृतम् । यामेगाचीं विना पागा विफला मे कुतोऽच सा॥'

अत्र यच्छ्रब्दिनिर्दिष्टानां वाक्यानां परस्परिनरपेत्तत्वात्तरेकान्तःपातिनैणाज्ञोश-द्यान्येषां संबंधः कत्रेरिममतो नोपपद्यत एव ।

'यां विनामी वृथा पाणा एणाची सा कुतोऽब में।'

इति तच्छुब्दनिर्दिष्टवाक्यान्तः पातित्वे तु सर्वैरिप यच्छुब्दनिर्दिष्टवाक्यैः संब-यो घटते । यथा वा-

'ईच्से यत्कराचेण तदा धन्वी मनोभवः।'

हरण है। नाशयन्त इति—यहाँ 'पतन्ति शशिनः पादाः'इस तीसरे चरण में वाक्य की समाप्तिहो जाने पर फिर चतुर्थ पाद में एक विशेष ए उठायाहै। इसके साथ अन्वय करते के लिये समाप्त वाक्य में से विशेष्यवाचक पदको फिर्से उठाना पड़ेगा, वतः यहाँ 'समाप्तपुनरात्तत्व' दोष है। किसी वाक्य में निराकां वरूपसे अन्वित हुए विशेष्यवाचक पदको अन्य विशेषण के साथ अन्वय करने के लिये फिर से <sup>रहाने पर</sup>समाप्तपुनरात्तत्व दोष होता है।

जहाँ कविका अभिमत-संबन्ध ( अन्वय ) न बन सके वहाँ 'अमवन्मतसम्बन्ध' दोष होता है। जैसे या इति — जो कामदेव की विजयलक्ष्मी है, जिससे यह संसार सुभूषित है और जिस मृगनयनी (एणाज्ञो) के बिना ये मेरे प्राण वर्ष हैं वह आज मुक्ते कहाँ से मिले ! अत्रेति —यत् और तत् शृंदों का नित्य सम्बन्ध होता है—(यत्तदोर्नित्यः सम्बन्धः) ग्रतः यत् शब्द से युक्त वाक्यों का तब्बुब्द घटित ( युक्त ) वाक्य के साथ सम्बन्ध हो सकता है क्योंकि ये दोनों परस्पर साकांत् रहते हैं। एक के साथ दूसरे का आकांता सदा बनी हिती हैं, किन्तु दो यच्छ ब्द घटित वाक्यों का, निराकां व होने के कारण, आपस भे सम्बन्ध नहीं हो सकता। प्रकृत पद्य में पूर्वार्ध के दो वाक्यों में 'प्रशासी' शब्द का सम्बन्ध कि को श्रिमित है, किन्तु बनता नहीं। क्योंकि तृतीय वाक्य जिस में प्राक्ती पद है वह यच्छ्रब्द घटित होने के कारण पूर्वोक्त दोनों वाक्यों में निर्माकां त्र है। यदि इस पद्य को यां विनाडमी इत्यादि क्र पसे पढ़ दें तो 'प्याक्ती'शब्द विष्कृष्द (सा)घटित वाक्यके अन्तर्गत होजाने से उक्रवाक्यों के साथ सम्बद्ध हो किताहै। दूसरा उदाहरण—ईचसे इति-यहाँ यत् पद का कालवाचक 'तदा' पद के त्राप सम्बन्ध नहीं बनता, क्योंकि यत्से काल की प्रतीति नहीं होती यदि यहाँ

अत्र यदित्यस्य तदेत्यनेन संबन्धो न घटते । 'ईचांसे चेत्' इति तु युक्तः पाठः यथा वा-

'ज्योत्स्नाचयः पयःपूरस्तारकाः कैरवािण च । राजित व्योमकासारराजहंसः सुधाकरः॥'

अत्र व्योमकासारशब्दस्य समासे गुणीभावात्तदर्थस्य न सर्वैः संयोगः । विशेषा-विमर्शे यदेवाविमृष्टं तदेव दुष्टम् । इह तुं प्रधानस्य कासारपदार्थस्य पाधान्येना-मतीतेः सर्वोऽपि पयःपूरादिपदार्यस्तदङ्गतया न मतीयते, इति सर्ववाक्यार्थविरोधा-वभासः इत्युभयोर्भेदः ।

ंश्चनेन च्छिन्दता सातुः कर्एठं परशुना तव। बद्धस्पर्द्धः कृपाणोऽयं लज्जते मम भागेव ॥'

अत्र भागविनिन्दायां प्रयुक्तस्य मातृकाएठच्छ्रेदनस्य परशुना सह संबन्धो न युक्त इति पाच्याः । परशुनिन्दामुखेन भार्गवनिन्दाधिक्यमेव वैदग्ध्यं द्योतंयतीत्याधुनिकाः।

थत्'के स्थान पर 'चेत्' लगादें तो सम्बन्ध होसकता है। ग्रन्य उदाहरण-ज्योत्स्नेति —चन्द्रिका स्वच्छ जल है श्रीर तारे कुमुद हैं तथा श्राकाशरूपी कासार (तालाव) में चन्द्रमा राजहंस है। यहाँ व्योमरूप कासार का संबन्ध चंद्रिकारूप जल और तारकारूप कुमुद्दों के साथ कवि को अभिमत है, किन्तु उसका राजहंस के साथ समास करदेने से अब उतने अंश का उक्र परों के साथ सम्बन्ध असम्भव है। समास में गुणीभूत अंश किसी दूसरे परार्थ के साथ स्वतन्त्रता से सम्बन्ध नहीं कर सकता। यदि यहाँ 'व्योमकासारी पाठ कर दें तो कोई दोष नहीं रहता।

्रविषेरेंति - विधेयाविमर्श दोष में जिस श्रंशका प्रधानता से परामर्शनहीं होता वहीं दृषित होता है किन्तु यहाँ 'कासार' शब्द का अर्थ (तालाब) जो सबने प्रधान है, समास के भीतर पड़जाने के कारण प्रधानता से प्रतीत नहीं होता श्रतएव 'पयः पूरः' श्रादिक सव पदार्थ (जो उस के श्रंग हैं ) श्रंग नहीं प्रतीत होते-इस से सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ में विरोध (दोष) मासित होता है, यही ह दोनों का भेद है। अनेनेति -हे परशुराम (भागव) माता का कएठ काटनेवाते दुस्ति इस कुंठार के साथ स्पर्धा करने में मेरा यह खड़ लिजत होता है। मेरे स अनुपम क्रपाण (खड्गं) की स्त्रोधाती, मातृधाती, तुम्हारे इस प्रश्च क्रिकी स्पर्धा ही क्या १ यहां माता के कएठ का छेट्न परशुराम की निन्दा के लिये की गया है, परश की निन्दा के लिये नहीं, अतः परशु के साथ उसकी सम्ब करना उचित नहीं है, यह प्राचीनों का मत है। आधुनिक आवार्य कहते हैं। परशु की निन्दा के तरह कर् परशु की निन्दा के द्वारा यहां परशुराम की अत्यन्त निन्दा प्रतीत होती है। अप्राचित्र का कार्य करें परशुराम की अत्यन्त निन्दा प्रतीत होती है। अतः इस प्रकार का कथन कवि की निपुणता का द्योतक है, दोवाधायक ही

अक्रमता यथा

भमय एव करोति बलावलं प्रिणगदन्त इतीव शरीरिगाम्।

शरिद हंसरवाः परुषीकृतस्वरमयूरमयू रमगाीयताम् ॥'

अत्र परामृश्यमानवाक्यानन्तरमेत्रेतिशब्दोपयोगो युज्यते, न तु प्रिणगदन्त इत्य-

ननास् । एवम्-

1

ृद्धं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमपार्थनया कपालिनः।

कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमदी॥'

। अत्र त्वमित्यनन्तरमेव चकारो युक्तः।

अमतपरार्थता यथा-

'राममन्मथशरेगा ताडिता—' इत्यादि । 💮

अत्र शृङ्गाररसस्य व्यञ्जको द्वितीयोऽर्थः पकृतरसितरोधित्वादिनेष्टः।

वाच्यस्यान भिधानं यथा-

'व्यतिक्रमलवं कं मे वीच्य वामाचि कुप्यसि।'

ः अत्र ब्यतिक्रमलवमपीत्यपिरवश्यं वक्तब्यो नोक्तः । न्यूनपद्त्वे वाचकपदस्यैव

अक्रमता का उदाहरण-समय इति संसार में समयही सब को सबल और दुर्वल बनाता है, यह बतलाते हुए मयूरों के स्वरों को परुष (श्ररमणीय) करने वाले हंसों के शब्द शरद् ऋतु में रमणीयता को प्राप्त हुए।यहाँ समय एव करोति बताबतम् इस वाक्य के अर्थ का 'इति' शब्द से परामर्श किया गया है, अतः क्षि परामृश्यमान वाक्य के अनन्तर इति पद आना चाहिये। वहाँ न रखकर 'प्रीगिद्न्तः' के आगे उसे रख़ने से यहाँ अक्रमतादोष हुआ है। इसी प्रकार-म्पान-कपालपाणि शङ्कर के समागम की अभिलाष रखने वाली दो वस्तुय क्षि समय शोचनीय हैं एक तो वह (प्रसिद्ध ) चन्द्रमा की कला और दूसरी क्षेत्रलोचन चिन्द्रका तुम (पार्वती)। शिवजी के साथ पाणिप्रहण की उत्करता में बोर तपस्या करती हुई पार्वती के प्रति वटुक वेष में छिपे हुए परीक्षार्थी मा कर्मा के हैं। अति यहाँ 'त्वम्' पद के आगे 'च' शब्द रखना चाहिये मा स्योंकि उसी का चन्द्रकला के साथ समुचय दिखाना है, लोक का नहीं। क्षेत्री अनिष्ट अर्थान्तर प्रतीत होता हो वहाँ 'अमतपरार्थता' नामक दोष वित्र है। जैसे 'तमित-यहाँ श्रंगाररसः प्रतीत होता है, वह प्रकृत (बीमत्सः) भिका विरोधी होने के कार्या अनिष्ट है। वाज्यानिसम्रात का उदाहरस्य — विकास होने के कार्या अनिष्ट हैं। वाच्यावास वास्ति । न्यूनपदत्वेहति न्यून-विकास के अपि 'शब्द अवश्य कहना च(हिये था। न्यूनपदत्वेहति न्यून-पत्त दोष में वाचक पदः की ही न्यू नता लीजाती है और 'अपि' शब्द बाचक वि, योतक है। पहार-आहार-संहार-विहार और परिहार आदि सब्दों में 'म' शादिक उपसर्ग प्रकृतधात्वर्धनिष्ठ विशेषता के ही चौतक होते हैं, 'स्वतन्त्ररूप विशेष अर्थ के वाचक नहीं होते। यद्यपि व्याकरण के वियमानुसार

न्यूनता विवित्तता । अपेस्तु न तथात्वमित्यनयोर्भेदः । एवमन्यत्रापि । यथा वा-

सभी सुवन्त और तिङम्त पद कहाते हैं, परन्तु 'सुप्तिङन्तं पदम्' यह नियम था करण में ही ब्रादरणीय हो सकता है, सर्वत्र नहीं। साहित्य में पद का लहा है- 'वर्णाः पदं प्रयोगाहीनिः नितेकार्थबोधकाः' । इसके अनुसार पद् उसे कहते हैं बो स्वतन्त्ररूप से प्रयोग के योग्य अनिस्वत एक अर्थ का अभिधान करता हो। 'श्रिपि' श्रादिक शब्दों में यह विशेषता नहीं होती, श्रतः वे स्वतन्त्र का हे मुख्य पद नहीं माने जाते हैं और इसी कारण उनके अभाव में 'न्यूनपदत्त' नामक दोष भी नहीं माना जाता। यही इन दोनों दोषों का परस्पर मेदहै। एवमन्यत्रापीति-इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी जानना । इसी कारण प्रकृत उदाहरण-'व्यतिक्रमलवम्'-्त्रथवा इसी प्रकार के अन्य उदाहरणों में 'वाच्यान भिधान' दोष माना जाता है।

वस्तुतः विश्वनाथजी का यह कथन असंगत है। यदि यह मान लिया जाय कि केवल द्योतक शब्दों की न्यूनता में ही 'वाच्यानिभधान' दोष होता है वाचक पदों की न्यूनता में यह नहीं होता, तो इस दोष का दूसरा उदाहरए-जो स्वयं विश्वनाथजी ने दियां है - असंगत हो जायगा । 'नरणानतकाला।' इस वाक्य में विश्वनाथजी ने 'श्रिसि' पद का न्यूनता के कारण 'वाच्यातः भिधान' दोष वताया है, परन्तु 'ऋसि' क्रिया है, इसका वाचक होना निर्हि वाद है। फिर इस वाचक पद के अभाव में यह दोष कैसे हुआ! गी विश्वनाथजी के शब्दों में ही कहा जाय तो इनका यह कथन 'स्ववचनविरोध से भी विरुद्ध है, काब्यप्रकाशकार ने इसी दोष के उदाहरण में लिखा है-

'ग्रप्राकृतस्य चरितातिशयेश्च दृष्टेरत्यद् भुतेरपह्तंस्य तथापि नाऽऽस्था'

'ग्रत्र—-ग्रपहृतोस्मि—-इत्यपहृतत्त्रस्य विधिर्त्राच्यः'

इस उदाहरण में 'त्रस्मि' की न्यूनता में यही दोष माना है। 'त्रस्मि' किया वाचक ही है, द्योतक नहीं, अतः यह कहना असंगत है कि केवल द्योतक प

की न्यूनता में यह दोष होता है।

वस्तुतः 'न्यूनपदत्व' दोष वहाँ होता है जहाँ किसी पद की न्यूनता है स्रौर उसके रख देने मात्र से दोष दूर हो जाय । परन्तु 'वाच्यानिभिधान' हो वहाँ होता है जहाँ किसी न्यूनता के कारण वाच्य अर्थ के उपन्यास की शैंबी कहने का ढंग —दूषित होगयाहो। इसमें किसी पद के रख देने मात्र से की नहीं चलता, त्रिपतु अन्य प्रस्तुत पदों में भी परिवर्तन करना ब्रावश्वी 'श्रस्मि' पद रह देते हैं होता है। काव्यप्रकाश के उक्त उदाहरण में केवल काम नहीं चल सकता। वहाँ 'अपहतस्य' को बदल कर 'अपहतः' यह भी बना। पडता है। सम्मान पड़ता है। काव्यप्रकाश का दूसरा उदाहरण है:--

'एषोऽहमदितनयामुखपद्मजन्मा प्राप्तः सुरासुरमनीरथदूरवर्ती'.

इसमें भी 'त्रपि' शब्द रखने के साथ ही 'मनोरथानाम्' बनाना भी ग्रावश्वकी

#### 'चरगानतकान्तायास्तन्त्र कोपस्तथापि ते।'

अत्र चरणानतकान्तासीति वाच्यम् ।

भानप्रक्रमता यथा-

(एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यै रात्रगः पत्यभाषत ।

अत्र वचधातुना प्रक्रान्तं प्रतिवचनमि तेनैव वक्तुमुचितम् तेन 'रावणः प्रत्य-वोचत' इति पाठो युक्तः । एवं च सित न कथितपदत्वदोषः । तस्योद्देश्यपित-विदेशव्यितिरिक्तविषयकत्वात् । इह हि वचनप्रतिवचनयोरुद्देश्यपितिनिर्देशत्वम् ।

र्सी का तीसरा उदाहरण है—

ľ

ţ

'कमपराधलवं मम पश्यसि त्य जसि मानिनि दासजनं यतः'

'अत्र-अपराधस्य लवमपि-इति वाच्यम्'

यहां भी 'श्रुपि' शब्द रखने के साथ ही समास को छोड़कर 'श्रपराघस्य' यह पृथक् पद रखना श्रावश्यक है ।

विश्वनाथजी ने भी इसी पद्य को तोड़-मरोड़कर अपना उदाहरण बनाया है,
गरनु यह उनकी समभ में नहीं आया कि यहां समास का त्याग करना भी
आवश्यक है। इसके अतिरिक्त 'अपराधलनं कं में नीह्य नामानि कुप्पति' इसमें यदि
केवल 'अपि' शुब्द रखकर उसे अप्रधान किया—'नीह्य'—के साथ जोड़ दिया
जाय तो यह नाक्य और भी शिथिल तथा निसंधुल हो जायगा। कान्यप्रकाश
बाउदाहरण ही ठीक है। उसमें प्रधान किया—'पश्यित'—के साथ 'अपि' का
सम्बन्ध होता है और समास छोड़कर—'अपराधस्य लनम्'—पाठ बनाया है। दूसरा
विहरण-चरणेति—यहाँ 'असि' अवश्य कहना चाहियेथा। 'चरणानतकान्तासि'
पेता पढ़ना चाहिये।

जिसका जिस कम से प्रारम्भ किया है उसका अन्त तक उसी कम से निर्वाह करना चाहिये। यदि इस कम का भंग हो तो 'मन्नक्रमता' दोष होता है। वेसे-एगमित-यहाँ 'उक्कः' में वच् धातु से प्रक्रम किया है, अतः प्रतिवचन में भी उसी धातु का कप देना चाहिये, माष् धातु का नहीं। 'एवपुक्तो मन्त्रिपुल्ये क्षि प्रत्योवत' ऐसा होना उचित है। इस प्रकार करने से यहां कथितपदत्व तोष नहीं होगा, क्योंकि वह वहीं होता है जहाँ 'उद्देश्य-प्रतिनिर्देशमाव' न तो। यहां तो वचन और प्रतिवचन का 'उद्देश्यप्रतिनिर्देशमाव' है। उद्देश्य-प्रतिनिर्देशमाव तीन प्रकार का होता है—एक वह जहाँ किसी एक विधेय विदेशमाव तीन प्रकार का होता है—एक वह जहाँ किसी एक विधेय विदेशमाव तीन प्रकार का होता है—एक वह जहाँ किसी एक विधेय के हिस्सक्प से अन्वित पदार्थ को दूसरे विधेय में उद्देशक्प से अन्वित को नामत्व (रक्षवर्णत्व) विधान किया है। उद्दयकालिक ताम्रत्वविधि में किता' उद्देशय हुआ है। फिर वही अस्तकालिक ताम्रत्वविधि के बिवता' उद्देशय हुआ है। फिर वही अस्तकालिक ताम्रत्वविधि के बीतकवागीशजी ने लिखा है, एकविधेयार्थमुहिष्टस्य विधेयान्तरे प्रतिनिर्देश हरेकः

यथा--

'उदिति सविता ताम्रस्ताम एवास्तमेति च।'

इत्यत्र हि यदि पदान्तरेगा स एवार्थः प्रतिपाद्यते तदान्योऽ इव प्रतिभासमानः प्रतीति स्थगयति । यथा वा—

यथा-उदेतीति— अत्रोदयकालीनताम्रत्यविधावुद्दिष्टस्य सवितुरस्तमयकालीनताम्रत्यविधावुद्देशका
प्रतिनिदेशः । किन्तु यह उपपादन म्रसंगत है । यदि यहां ताम्रत्य को विधेय के
मन्तर्गत माने श्रीर उद्देश्य केवल 'सविता' हो, तो इस उपपादन के श्रुतात 'सविता' पद की पुनरुक्ति निर्दोष मानी जा सकती है, परन्तु वह इस पद्य में है ही नहीं । यहां तो 'ताम्र' की पुनरुक्ति है । उसका समर्थन इस उपपादन से नहीं हो सकता, श्रतः यहां 'ताम्रः' को उद्देश्य कोटि के ही श्रन्तर्गत मानवा चाहिये, विधेय कोटि के श्रन्तर्गत नहीं ।

दूसरावह जहाँ किसी एक को उद्देश्य करके विहित पदार्थ का, फिर दूसरे उद्देश्य के लिये विधान किया जाय। जैसे एवमुक्त इत्यादि। यहाँ पहले मंत्रियं को उद्देश्य करके वचन का विधान है, फिर रावण को उद्देश्य करके उसी (वचन) का पुनर्विधानया प्रतिनिदेंश है। एको देशेन विहित स्यो देश्य निर्देश करके उसी (वचन) का पुनर्विधानया प्रतिनिदेंश है। एको देशेन विहित पदार्थ अन्य विधेय का उद्देश्य हो जाय जैसे 'मिता भूः पत्यापां स च पितरपां यो जनशतम्'। यहाँ पहले पृथिवी के उद्देश्य करके 'अपांपति'=समुद्र का विधान (मानकर्तृत्वेन) है, अनन्तर उसी का योजनशतविध में उद्देश्य तया सम्बन्ध किया है। 'एको देशेन विहितर विधेयान्तरे उद्देश्यतया प्रतिनिदेशें इति तृतीयः। यथा—मिता भूः पत्याऽपां स च पितरी योजनशतम् इति —अत्र पृथिव्युदेशेन विहितस्याऽपां पत्युर्यो जनशतविधा वृद्देश्यत्या प्रतिनिदेशें यह मत भी श्रीतर्कवाणीशाजी का है, परन्तु यहां भी समन्वय असंगत है। प्रकृत वाक्य में अपांपतिकर्तृक, भूकर्मक, मानिक्रया विधेय है। कर्ता क्या विधेय नहीं हुआ करता और कर्म कभी उद्देश्य नहीं होता, अतः पृथिवी के उद्देश्य और 'अपांपति' को विधेय बताना असंगत है। वस्तुतः यह उद्दी होता, अतः पृथिवी के उद्देश्य और 'अपांपति' को विधेय बताना असंगत है। वस्तुतः यह उद्दी हरण भी प्रथम लक्तण के ही अन्तर्गत है।

चएडीदास ने उद्देश्यप्रतीनिद्रशामाव का अर्थ किया है-'उद्देशोज्यः मण् प्रतिनिदेश्यः प्रतीतिमान्थर्यपरिहारार्थं पुनरिमधेयो यत्र सः'। उद्देश्यप्रतिनिद्देशभाव प्रकार शब्द का दूसरी बार प्रयोग करना दोषाधायक नहीं होता। इस बार को मुलकार उदाहरण देकर पुष्ट करते हैं—उदेतीति—यहां यदि उत्तर वाल्यों को मुलकार उदाहरण देकर पुष्ट करते हैं—उदेतीति—यहां यदि उत्तर वाल्यों को पदार्थं है ती वहीं पदार्थं है ती वहीं पदार्थं है ती वहीं पदार्थं है तो वह

ते हिमालयमामन्त्रय पुनः पेदय च शूलिनम्। सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः॥'

अत्र 'अस्मै' इतीदमा प्रकान्तस्य तेनैव तत्समानाभ्यामेतददःशब्दाभ्यां वा परामशों क्तो न तच्छुब्देन । यथा वा-

**'**उदन्विच्छना सुः स च पतिरपां योजनशतम्।'

🛘 अत्र 'मिता भुः पत्यापां स च पतिरपाम् ' इति युक्तः पाठः। एवम्— 'यशोऽधिगंन्तुं सुखलिप्संया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्तितुं वा। निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेत्राङ्कमुपैति सिद्धिः॥

अत्र 'सुखमीहितुम्' इत्युचितम् । अत्राद्ययोः प्रकृतिविषयः प्रक्रमभेदः । तृतीये र्षायविषयः, चतुर्थे पत्ययविषयः । एवमन्यत्रापि ।

#### प्रसिद्धित्यागा यथा-

'घोरो वारिमुचां रवः।' अत्र मेघानां गर्जितमेव पसिद्धम् । यदाहु:-'मञ्जीरादिषु रिणतपायं पित्तषु तु कूजितपभृति । स्तनितमितादि सुरते मेघादिषु गर्जितममुखम्॥ इत्यादि।

गतिपदिकरूप सर्वनाम का भग्नप्रक्रमत्व दिखाते हैं। ते इति-यहाँ तीसरे बर्ग में 'इदम्' शब्द से हिमाचल का निर्देश किया है, अतः चतुर्थ चरण में मी उसी शब्द से या उस के समानार्थक 'एतद्' और 'अदस' (१) शब्द वे उस का परामर्शं करना चाहिये था, तत् शब्द से ('तब्रिसृष्टाः' में ) नहीं। बस्तात्त 'अदस्' शब्द तत् शब्द का समानार्थक है—'इदम्' का नहीं। अन्य उदाहरण-उदन्वदिति-यहां पहले 'उदन्वत्' शब्द से समुद्र का निर्देश क्या, फिर उसीका 'अवांपतिः' शब्द से प्रतिनिद्श किया है, अतः भागकमत्व है। 'मिताभूः' इत्यादि पाठ करने से यह दोष हट जाता है। वहां असर्वनाम प्रातिपदिक का क्रमभंग है। प्रत्यय के क्रमभंग का उदा-रिया वित्त वित्त का क्रममण हा अत्यय है और अन्त्य में भी (श्रीतंवितितुम्) वही है, अतः वीच में भी 'सुखमीहितुम्' ऐसा होना चाहिये। कित्यों करते दो उदाहर्गों (पवमुक्तः ग्रीर सिद्धं चास्मै) में कितेयों का कम भिन्न हुन्ना है। 'उदन्वत्' में पर्याय का, एवं प्रकृत प्रमेशतय का कमभेद है। इसी प्रकार अन्य भी जानना। मितिहि के त्याग का उदाहरण—घोर इति—मेघों के शब्द को 'रव' नहीं भते। 'गर्जित'— 'स्तिनित'— श्रादि कहते हैं। रव तो मण्डूकों का होता है। भाकत'—'स्तनित'—आदि कहते हैं। रवता मएडूपा के कहते मिक्हाहै—मझीरेति—मंभीरादि के शब्दों को 'रिएत' आदि शब्दों से कहते

अस्थानस्थपद्ता यथा-

'तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात्पतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम्। अयत्नवालव्यजनीवभुवृह्सा नभोलङ्कनलोलप्ताः॥' अत्र तदीयपदात्पूर्वं गङ्गामित्यस्य पाठो युक्तः । एतम्---'हितान यः संशृ्याते स कि प्रभुः।'

अत्र संश्रगुत इत्यतः पूर्वं ननः स्थितिरुचिता ।

अत्र च पद्मात्रस्यास्थाने निवेशेऽपि सर्वमेव वाक्यं विविच्चितार्थमत्याको मन्थरमिति वाक्यदोषता । एवमन्यत्रापि । इह केऽप्याहुः — पदशब्देन वाचकाने प्रायो निगद्यते, न च नञो वाचकता, निर्विवादात्स्वातन्त्रयेणार्थबोधनिवाहात इति यथा—'द्वयं गतम्—' इत्यादौ त्विमत्यनन्तरं चकारानुपादानादक्रमा तथात्रापीति ।

अस्थानस्थसमासता यथा-

अवापि स्तनशैलदुर्गिवषमे सीमन्तिनीनां हृदि स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः।

हैं पित्तयों के शब्द के लिए 'कूजित' आदि शब्द आते हैं। सुरत के शब्द क 'मिण्ति' त्रादि से निर्देश होता है और मेघ, सिहादिकों के लिए गर्जितादि

शब्दों का प्रयोग होता है।

श्रुतुचित स्थान में किसी पद को रखने से श्रस्थानस्थपदत्व हो<mark>ग</mark> होता है। जैसे-तीर्थे इति-यहां 'तदीय' शब्द में तत्पद से गङ्गा का परामा किया है, अतः उस से पूर्व गङ्गा पद को अवश्य आजाना चाहिए, क्योंकि सर्वनाम से पूर्व का परामर्श होता है। हितादिति-यहां 'संश्रु खुते' के साथ नर् का सम्बन्ध है, अतः उसी के पूर्व उसे रहना चाहिए। अत्र चेति-यधी यहां एक ही पद श्रस्थान में स्थित है, तथापि उससे सम्पूर्ण वार् अपने अर्थ के बोधन में शिथिल होगया है, स्रतः यह वाक्यदीव है। इह केडपीति-कोई कहते हैं कि पद शब्द से यहां वात्रक पदों का ही प्रश् श्रीर नञ्जो सब लोग वाचक मानते नहीं। यह बिना विवाद के स्वतंत्री से ग्रर्थबोधक नहीं माना जाता, श्रतः 'द्वर्यं गर्तं' इस पद्य के 'च' गर्वं तरह प्रकृत पद्य में 'न' शब्द के अस्थान में स्थित होने पर भी अक्रमत्वर्ग होता है, अस्थानस्थपदत्व नहीं।

अस्थान में समास करने का उदाहरण-त्रवेति-चन्द्रमा उद्य के सम्ब होता है। उसके उद्य होने पर खिले हुए कुमुदों में से दिन भर के बर्द की है। गण पंक्ति बांध कर जिल्लों है गण पंक्ति बांघ कर निकलते हैं। इसी स्वरूप पर प्रकृत पद्य में उत्पेदी की रूपक की रचना की गई है।

अर्थ-अवभी (कामदेव के प्रधान सेनापित 'चन्द्र' के उद्य होते पर भी

प्रीवद्दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्त्त्णात्पुल्लत्कैरवकोषनिःसरदिलश्रेणीकृपाणं शशी ॥'
स्त्र कोपिन उक्तौ समासो न कृतः, क्रेन्नेक्तौ कृतः ।
वाक्यान्तरपदानां वाक्यान्तरेऽनुपत्रेशः संकोर्णत्वम् । यथा—
चन्द्रं मुञ्च कुरङ्गान्ति पश्य मानं नभोऽङ्गने ।'

अत्र नभोड्गने चन्द्रं पश्य मानं गुञ्चेति युक्तम् । क्लिष्टत्वमेकवाक्यविषयम् इत्यस्माद्भिनम् ।

बाक्यान्तरे वाक्यान्तरानुभवेशो गिभितता यथा— 'रमणे चरणभान्ते पणितभवणेऽधुना। बदामि सिख ते तत्त्वं कदाचिकोचिताः क्रुधः॥'

अर्थदोषानाह—

त्रपुष्टदुष्कमग्राम्यव्याहताऽरतीत्रकाताः। ग्रनवीकृतनिर्हेतुपकाशितविरुद्धताः॥ ६॥ संदिग्धपुनरुक्तत्वे ख्यातिविद्याविरुद्धते। साकाङ्चता सहचरभिन्नतास्थानयुक्तता॥ १०॥

स्तरक्ष पर्वतों से दुर्ग श्रीर विषम कामिनियों के द्वर में यह मान (हमारा गृष्ठ) रहना चाहता है। इसी कोध के मारे मानो लाल हुश्रा यह चन्द्रमा दूर कि 'कर' (किरण रूप हाथ) फैलाकर खिलते हुए कुमुदों के 'कोष' किलीकर म्यान) से भ्रमर पङ्क्रिक्ष तलवार खेंचता है। अवेति-यहां खाँध में कोधी चन्द्रमा की उक्ति है वहां तो समास किया नहीं श्रीर उत्तरार्ध में जहां किव की उक्ति है वहां कठोरता-द्योतक लम्बा समास किया किया वहां भ्रतः यहां 'श्रस्थानस्थसमासत्व' दोष है।

वान्यान्तरित—दूसरे वाक्य के पद यदि दूसरे वाक्य में घुस पड़ें तो 'स-इतित्व' दोष होता है। जैसे-'चन्द्रमिति'—यहां 'चन्द्र' का सम्बन्ध 'पश्य' के साथ है और 'सुक्च' का 'मानम्' के साथ। श्रेति—यहां 'नभोङ्गने' इत्यादि पाठ ठीक

है। क्लिह्स्व एक ही वाक्य में होता है, ग्रतः वह इस से भिन्न है।
एक वाक्य में यदि दूसरा वाक्य (पूर्ण) घुस पड़े तो गर्भितत्व दोष होता
है। केले सम्में इति यहां 'वदामि सिख ते तत्त्वम्' यह वाक्यान्तर बीच में

अर्थं के दोष दिखाते हैं। अपुष्टेति-अपुष्टत्व, दुष्क्रमत्व, ग्राम्यत्व, व्याहतत्व, भाषीतत्व, कष्टत्व, अनवीकृतत्व, निहेंतुत्व, प्रकाशितविरुद्धत्व, सन्दिग्धत्व,

अविशेषे विशेषश्चानियमे नियमस्तथा। तयोर्विपर्ययौ विध्यनुवादायुक्तते तथा॥ ११॥ निर्मुक्तपुनक्कतत्वमर्थदोषाः प्रकीर्तिताः।

तद्विपर्ययो विशेषेऽविशेषो नियमेऽनियमः । अत्रापुष्टत्वं मुख्यानुपकारित्वम्।यग्र-'विलोक्य वितते व्योम्नि विधुं मुञ्च रुषं पिये।'

अत्र विततशब्दो मानत्यागं प्रति न किंचिदुपकुरुते । अधिकपदत्वे पदार्थान्यः पतीतेः समकालमेव बाधपतिमासः, इह तु परचादिति विशेषः ।

दुष्कमना यथा-

'देहि में वाजिनं राजन् गजेन्द्रं वा मदालसम्।' श्रत्र गजेन्द्रस्य प्रथमं याचनमुचितम्। 'स्विपिहि त्वं समीपे में स्विपम्येवाधुना पिये।'

अत्रार्थो ग्राम्यः।

कस्यचित्मागुत्कर्षमपकर्षं वाभिधाय परचा तदन्यपितपादनं ठ्याह्तत्वम् ।यथा⊸ 'हरन्ति हृदयं यूनां न नवेन्दुकलादयः । वीद्यते यैरियं तन्वी लोकलोचनचन्द्रिका ॥' अत्र येषामिन्दुकला नानन्दहेतुस्तेषामेवानन्दाय तन्ब्यारचन्द्रिकात्वारोपः।

पुनरुक्तत्व, ख्यातिविरुद्धत्व, विद्याविरुद्धत्व, साकाङ्कत्व, सहचरमिन्नत्व, अस्थानयुक्तत्व, श्रविशेष में विशेष, श्रनियम में नियम, विशेष में श्रविशेष, कि यम में अनियम, विध्ययुक्तत्व, अनुवादायुक्तत्व और निर्मुक्तपुनरुक्तत्व ये सा अर्थ के दोष होते हैं। अनेति—जहां कोई पदार्थ मुख्य अर्थ का उपकारी व हो वहां 'अपुष्टत्व' नामक अर्थ दोष होता है — जैसे — विलोक्येति—यहां 'वितर' शब्द मानत्याग में उपकारी नहीं है। जैसे उद्दीपक होने के कारण चन्द्रीर 'मानत्याग' का हेतु है वैसे श्राकाश का विस्तार उपयोगी नहीं। श्रिधिकपहत में पदार्थ के अन्वय के साथ ही बाध का ज्ञान हो जाता है किन्तु यहां अन्व के पीछे बाध की प्रतीति होती है। जहां वस्तुत्रों का कम बिगड़ता हो बी दुष्कमत्व दोष होता है जैसे-देहीति-यहां हाथी को पहले मांगना चाहिये। दाता के सौकर्य के लिये, या अपना सन्तोष प्रकट करने के लिये दूसी विकल्प किया गया है। जो घोड़ा नहीं दे सकता वह हाथी कैसे दे सकेगा स्विपिशीति—यहां अर्थ आस्य है। पहले किसी वस्तु का उत्कर्ष या अपनी दिखा कर अनन्तर उसके विपरीत कथन करने से व्याहतत्व दोष होता है। जैसे इस्तीति किन को प जैसे-इन्तीति-जिन लोगों को चन्द्रमा की नूतन कला आनन्द नहीं देती इती को आनन्दित करने के को आनिन्द्रत करने के लिए यहां प्रकृत कामिनी में चिन्द्रकात्व की श्रीति

<sup>(हु-तुमेव</sup> प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिगाः। यथाशु जायते पातो न तथा पुनरुन्नति: ॥'

भ्रतायों ऽरतीलः। 'वर्षत्येतदहर्पतिर्न तु घनो धामस्थमच्छ्रं पयः

सत्यं सा सवितुः सुता सुरसरित्पूरो यया प्लावितः। व्यासस्योक्तिषु त्रिश्वसित्यपि न कः, श्रद्धा न कस्य श्रुतौ,

न प्रत्येति तथापि मुग्धहरिएा भास्वन्मरीचिष्वपः॥'

अत्र यस्मात्सूर्याद् वृष्टेर्यमुनायारच प्रभवस्तस्मात्तयोर्जलमपि सूर्यप्रभवम् । ततरच र्म्मितीचीनां जलप्रत्ययहेतुत्वमुचितम्, तथापि मृगी भ्रान्तत्वात्तत्र जलप्रत्ययं न कोति। अयमप्रस्तुतोऽप्यर्थो दुर्वोधः, दूरे चारमात्मस्तुतार्थवोध इति कष्टार्थंत्वम्।

'सदा चरति खे भानुः सदा वहति मारुतः। सदा धत्ते भुवं शेषः सदा धीरोऽविकत्थनः॥'

अत्र सदेत्यनवीकृतम् । अत्रास्य पदस्य पर्यायान्तरे गोपादाने ऽपि यदि गायिद्विच्छित्यन्तरं तदास्य दोषस्य सद्भात्र इति कथितपदत्वाद्भेदः।

नवीकृतत्वं यथा-

क्या है, अतः अर्थ व्याहत है । इन्तामिति —जो मारने को ही प्रवृत्त है,— प्रकड़ा हुआ है और छिद्रान्त्रेषण करता रहता है ऐसे क्रूर का जितनी बली पतन होता है उतनी जलदी फिर उन्नति नहीं होती। यहां शिश्नकप काच्यक्जक अश्लील अर्थ अतीत होता है। वर्षतीति — 'अपनीकिरणों द्वारा वीं हुए और अपने धाम (अन्तरिक्त या किरणों) में स्थित स्वच्छ जल की वर्षा सूर्य करता है, मेघ नहीं करता। श्रीर वह यमुना भी सूर्य की को है जो गंगा को आप्लाचित करती है—' व्यास की इन बातों पर किसे विस्तास नहीं ? श्रीर श्रुति में किसकी श्रद्धा नहीं ? परन्तु फिर मी मूड विश्व की किर्णों में जल का विश्वास नहीं करती।

कात जब यमुना और वर्षा दोनों सूर्य से ही उत्पन्न हुई हैं तो उनका विमी सूर्य से हो उत्पन्न हुआ होगा। इसलिये सूर्य की किरणों में जल का हितास कर ही है, तो भी भ्रान्त होने के कारण हरिणी उनमें जल का मितास नहीं करती। यह अप्रस्तुत अर्थ भी यहां दुर्वोध है—उससे, मुग्धा विषक्ष करता। यह अप्रस्तुत श्रथ भा यहा दुवाव द कि है। श्रवास पर अविश्वास रूप प्रस्तुत श्रथ की व्यक्षना तो दूर की कि है। अतः यहां कष्टार्थत्व दोष है। सदेति — यहां चारों चरणों में 'सदा' पि एहा है। उसमें कोई नवीनता नहीं हुई, श्रतः यहां अनवीकतत्व दोष शिक्षा उसमें कोई नवीनता नहीं हुई, श्रतः यह। अपनार्क्षा पर्याय एखदें विकास स्थाप स्याप स्थाप स्याप स्थाप स्य

'भानुः सकृबुक्ततुरङ्ग एव रात्रिदिवं गन्धवहः प्रयाति।
विभित्ति शेषः सततं धरित्रीं षष्टांशवृत्तेरिप धर्म एषः॥'
'गृहीतं येनासीः परिभवभयानोचितमपि
प्रभावाँ बस्यासून खलु तव करिचन विषयः।
परित्यक्तं तेन त्वमिस सुतशोकान तु भयाद्विमोद्त्ये शस्त्र त्वामहमपि यते स्वस्ति भवते॥'
अत्र द्वितीयशस्त्रमोचने हेतुनोंक्त इति निहंतुत्वम्।
'कुमारस्ते नराधीश, श्रियं समिधगच्छतु।'
अत्र 'त्वं म्रियस्व' इति विरुद्धार्थमकाशनात्मकाशिताविरुद्धत्वम्।
'अचला अवला वा स्युः सेन्या ब्रूत मनीषिणः।'
अत्र पकरणाभावाच्छान्तश्रङ्गारिणोः को वक्तेति निश्चयाभावात्संदिरधत्वम्।

तो कथितपद्त्वद्ोष इट जाता है, किन्तु यहाँ 'सदा' पदके पर्याय रख है पर भी यदि कोई चमत्कार न हो तो अनवीकृतत्व बना ही रहता है। गरी इन दोनों का परस्पर भेद है। यहां मूल में 'अन्यत्' पद अधिक है। 'विच्छित्यन्तरम्' से ही अन्यत्व का ज्ञान हो जाता है। ( अन्या विच्छितिः विच्छित्यनास्) उससे अधिक की यहां आवश्यकता नहीं है। नवीकृतत्व पैदाकरके उक्र दोष कैसे हटाया जा सकता है इसका उदाहरण दिखाते हैं-मानुरिति-यहां तीन चरणों में बातका स्वरूप बदल दिया है। निहेंतुत्व का उदाहरण-गृहीत्यित-द्रोणाचार्य की मृत्यु का समाचार सुनने पर अश्वत्यामा की उक्ति है। शस्त्र ! ब्राह्मण्धमं के योग्य न होने पर भी जिन पिता ने तुम्हें परामव के भय से प्रहण किया था, श्रौर जिनके प्रताप से तुम्हारी गति कहीं भी हो नहीं थी (सभीपर तुम्हारी धाक बैठी हुई थी) उन पिताजी ने तुम्हें पु शोक से (पुत्र मरण की भूठी खबर सुनकर) छोड़ा, भय से नहीं बोड़ा। शस्त्र, श्रव में भी तुम्हें छोड़ता हूँ। जाते हुए ('यते'=गच्छते। तुम्री कल्याण हो। घत्रेति—यहां अश्वत्यामा के रास्त्र छोड़ने का कोई कारण बताया, श्रतः यह 'निहेंतुत्व नामक' श्रर्थ दोष है। जैसे द्रोणाविके शस्त्रत्याग का कारण पुत्रशोक बताया था वैसे ही अश्वत्थामा के शक्ती त्याग का भी कोई कारण वताना चाहिए था। कुमार इति —हे राजरी जाति कुमार राज्यलक्ष्मी पार्ये । यहां 'तुम मर जात्रो' यह विरुद्ध प्रार्थि होता है, क्योंकि स्टूस के लिए स्टूस की होता है, क्योंकि राजा के जीते जी कुमार को राज्यलक्ष्मी मिल नहीं सकी।
अतः यहां 'प्रकारिक कि अतः यहां 'प्रकाशितविरुद्धत्व' दोष है। अवला इति —हे बुद्धिमात् की वताओं कि पर्वत होते हैं । बताओं कि पर्वत श्रीर स्त्रियों में कीन सेवनीय है ? यहां प्रकर्ण कोई है नहीं शरूर करें कोई है नहीं, अतः यह निर्णय करना कठिन है कि वहां शान्त है

'सहसा विद्धीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्। वृगाते हि विमृश्यकारिगां गुगालुब्धाः स्वयमेव संपदः॥' अत्र हितीयार्धे व्यतिरेकेण हितीयपादस्यैवार्थ इति पुनस्कता।

प्रसिद्धिविरुद्धता यथा---

'ततश्चचार समरे शितशूलधरो हरि:।'

अत्र हरे: शूलं लोकेऽपसिद्धम् । यथा वा-**ं**पादाघातादशोकस्ते संजाताङ्कुरकएटकः।'

अत्र पादाघातादशोकेषु पुष्पमेव जायत इति प्रसिद्धं न त्वङ्कुर इति कविसमय-

स्यातिविरुद्धता ।

'अधरे करजवातं मृगावयाः।'

अत्र शृङ्गारशास्त्रविरुद्धत्वाद्भियाचिरुद्धता । एवमन्यशास्त्रविरुद्धत्वमपि ।

'ऐशस्य धनुषो भङ्गं चत्रस्य च समुन्नतिम्। बारतं च कथं नाम मृष्यते भागवोऽधुना॥

का बीरतमुपेचितुमितिसाकाङ्च्ता ।

'सज्जनो दुर्गतौ मग्नः कामिनी गलितस्तनी। खलः पूज्यः समज्यायां तापाय मम चेतसः॥'

अत्र सजनः कामिनी च शोभनौ तत्सहचरः खलोऽशोभन इतिं सहचर-मिन्नत्वम् ।

रहारी। इसकारण अर्थ में सन्दिग्धत्व दोष है। सहसा-यहां उत्तरार्थ में बितीय पाद का अर्थ ही न्यतिरेक से निर्दिष्ट किया है। 'अविवेक से श्रापित श्राती हैं इस दूसरे चरण का विपरीत श्रर्थ यह होगा कि 'विवेक है सम्पत्ति होती हैं'। यहाँ उत्तरार्ध में कहा है, अतः यहां 'अर्थपुनरुक्ति' रोपहै। प्रसिद्धिविरुद्धत्व का उदाहरण—ततइति—श्रनन्तर समर में शुभ्रश्रल भिष्ठ हुए विष्णु घूमने लगे। विष्णु का शूल घारण करना प्रसिद्ध नहीं है। विष्णु भाषक और शङ्कर का त्रिशूल प्रसिद्ध है। यहां लौकिक प्रसिद्धि का विरोध है। विविधारित समित्र के पादाघात से अशोक में पुष्पोद्गम होना ही कवि-संप्रदाय भितिस है, श्रङ्कुर निकलना नहीं।यहां कविसमय की प्रसिद्धि का विरोध है। भाषि यहां कामशास्त्र का विरोध है। अधर में दन्तज्ञत का विधान कामशास्त्र भेहैं, 'नस्त्वत' का नहीं। यह विद्या विरुद्ध है। इसी प्रकार श्रन्य शास्त्रों के विरोध भावता का नहीं। यह विद्या विरुद्ध हैं। इसा प्रकार अपने प्रवित्तुम्'पद की भावता । ऐशस्येति-यहां 'स्त्रीरत्नम्' के स्रागे 'उपेचितुम्'पद की शाहिता होते से साकाङ्क्ता दोष है। सहचरिमन्नता का उदाहरस - सञ्ज पहां सजान और कामिनी शोभन हैं किन्तु उनके साथ पढ़ा हुआ सत

'त्राज्ञा शक्रशिखामिणप्रणियनी, शास्त्राणि चत्तुर्नवं, भिक्तम् तपतौ पिनाकिनि, पदं लङ्कोति दिव्या पुरी। उत्पत्तिदु हिणान्वये च तदहो नेद्यवरो लभ्यते, स्याचेदेव न रावणः, क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः॥ अत्र न रावण इत्येतावतैव समाप्यम् । 'हीरकाणां निघेरस्य सिन्धोः किं वर्णयामहे ।' अत्र रहानां निधेरित्यविशेष एव वाच्यः । 'आवर्त एव नाभिस्ते नेत्रे नीलसरोरुहे। भङ्गाश्च वलयस्तेन त्वं लावएयाम्बुवापिका ॥' अत्रावर्त एवेति नियमो न वाच्यः । 'यान्ति नीलनिचोलिन्यो रजनीष्त्रभिसारिकाः।' अत्र तमिस्रास्विति रजनीविशेषो वाच्यः। 'श्रापातसुरसे मोगे निमग्नाः किं न कुर्वते।' अत्र आपात एवेति नियमो वाच्यः।

<mark>अशोभन है। 'श्रस्थानयुक्</mark>रत्व' का उदाहरण्—श्राक्केति—सीतास्वयंवर में लक्ष्मण के प्रति श्रीरामचन्द्रजी की उक्ति है—इस (रावण) की श्राहा इन्द्रकी मुकुरमिण्यों तक पहुँचनेवाली है अर्थात् इन्द्र भी इसकी आहा का पालन करने को विवश हैं। सब शास्त्र इसके नवीन चत्तु हैं अर्थात् यह समस्त शास्त्रों का क्षाता है। शिव में इस की भक्ति है। रहने का स्थान दिव्य लक्कापुरी है और उत्पत्ति ब्रह्माजी के वंश में है। यदि यह 'रावण' ( संसार को दुःख देकर क्लाने वाला ) न होता तो वस्तुतः ऐसा वर मिलना कठिन था, परन्तु सब में सब गु कहां होते हैं? रावण के प्रति उपेचा दिखाना इस पद्य में श्रमीष्ट हैं, श्रतः 'स्याबेदें। न रावणः' यहीं पर समाप्त कर देना चाहिये। अगला अंश अस्थान में प्रयुक्त है। उस से रावण की उपेत्रणीयता कम होजाती है। हीरकाणामिति—समुद्र के लि सामान्य से रत्ननिधि ही कहना चाहिये। यहां 'हीरकाणाम्' यह ग्रविशेष विशेष कहा है। वस्तुतस्तु 'हीरकाणाम्' कहना अयुक्त है, क्योंकि हीरे समुद्री नहीं होते, खान से निकला करते हैं, श्रतः यह यहां पर 'श्रविशेषे विशेषः' का उर्वा हरण असंगतहै। इसके स्थानपर 'चिद्रुमाणां निधेः' पाठ होनेसे यह उदाहरण की होसकता है, क्योंकि मूंगे समुद्र में ही उत्पन्न होते हैं। आवर्त एवेति-यहां एवं गर से नियम करना श्रमुचित है। यान्तीति—इस में कृष्णा मिसारिकाश्रों का वर्णनी श्रम करना श्रमुचित है। यान्तीति—इस में कृष्णा मिसारिकाश्रों का वर्णनी अतः काली रात्रिका वाचक 'तिमिस्रा' आदि शब्द बोलना आहिये। विशेष के क्यान में विशेष के स्थान में सामान्यवाचक 'रजनी' शब्द बोला है। बापाति वार्षिन वार्ष वार्षिन वार्ष वा नियम करना चाहिये। 'श्रापात एव' बोलना ठीक है। बस्तुतख् समार के मीतर 'एव' शब्द की कोई आवश्यकता नहीं है। जिल तन् वाच्यस्यानिभधाने 'व्यतिक्रमलवम्' इत्यादावपेरभावः, इह चैवकारस्येति क्रियोर्भेदः। अत्राह—'नियमस्य वचनमेव पृथग्भृतं नियमपरिवृत्तेर्विषयः' इति, क्रियोर्भेदः। अत्राह्यः शब्दार्थदोषतायां नियामकाभावात्। तत्का गतिरिति चेत्, क्रियतिक्रमलवम्' इत्यादौ शब्दोचारणानन्तरमेव दोषमितिभासः। इह त्वर्थमत्यया-वन्तर्मिति भेदः। एवं च शब्दपरिवृत्तिसहत्वासहत्वाभ्यां पूर्वेरादृतोऽपि शब्दार्थ-वेषविभाग एवं पर्यवस्यति—यो दोषः शब्दपरिवृत्त्यसहः स शब्ददोष एव। यश्च क्रियत्वमाग एवं पर्यवस्यति—यो दोषः शब्ददोषः। यश्चार्थमतीतपूर्वबोध्यः सोऽपि शब्ददोषः। यश्चार्थमतीत्यनन्तरं बोध्यः सोऽ-

'श्रापातरमणीयम्' का 'श्रापाते एव रमणीयम्' यह श्रर्थ होता है उसी प्रकार 'श्रापातसुरसे' का भी हो सकता है। इसके श्रतिरिक्त समासयुक्त पद मैं 'एव' का जोड़ना भी श्रसंभव है, श्रतः 'श्रापाते स्रते मोगे' इस व्यस्त प्रयोग में ही यह इस दोष का उदाहरण हो सकता है, समस्त प्रयोग में नहीं।

निति-प्रश्न चाच्यानिभिधान के पूर्वोक्त उदाहरण 'व्यतिक्रमलवम्' इतादि पद्य में 'श्रिपि' शब्द का श्रभाव है श्रौर यहां 'एव' शब्द का श्रभाव है। फिर इन दोनों दोषों को एक ही क्यों न माना जाय ? शब्द की कमी दोनों जगह एक सी है। इनमें भेद क्या है ?

यहां कोई समाधान करता है कि—नियमस्येति—जहां नियमवाचक शब्द का अभाव हो वहां नियमपरिवृत्ति नामक दोष होता है और अन्यत्र 'वाच्यान-मिषान' दोष होता है। तनेति-इसका खराडन करते हैं-तथासत्यपीति-यह बात मान लेने पर भी वाच्यानिभिधान को शब्ददोष और नियमपरिवृत्ति को अर्थ-रोष मानने का कोई कारण नहीं रहता। जब केवल इतना ही भेद मानते हो तो दोनों एकसे उहरेंगे एक शब्दगत और दूसरा अर्थगत कैसे होगा?

कागितिरिति—अच्छा तो फिर क्या उपाय है? अपने मत से समाधान करते हैं—गितिकमेति—'वाच्यानिसधान' में शब्दोश्चारण के अनन्तर ही दोष की मतीति होजाती है और प्रकृत दोष में अर्थक्षान के अनन्तर दोष का ज्ञान होता है। यही इन दोनों का भेद है। एवं चेति—प्राचीन आचार्यों ने शब्द और अर्थ के दोषों का विभाग इस प्रकार माना है कि जो दोष शब्द के परि-वर्तन को न सहन करे अर्थात् उसी शब्द के साथ रहे—उसका पर्याय यदि उसके त्यान पर रखदिया जाय तो वह दोष न रहे—वह शब्ददोष होता है और जो तोष किसी भी पर्याय के बदलने पर न हटे वह अर्थदोष होता है। यह विभाग अव इस क्य में परिणत होता है कि जो दोष शब्द के परिवर्तन को नहीं सहन करता अर्थात् उस शब्द के बदल देने से वह दोष नहीं रहता तो उसे शब्दोष मानना चाहिये। और जो पदार्थों के अन्वयञ्चान से पहले ही प्रतीत हो जाय उसे भी शब्द का ही दोष मानना चाहिये। किन्तु जो दोष अर्थज्ञान के अनन्तर भासित हो वह अर्थदोष होता है। इसी प्रकार अनियमपरिवृत्ति (अनियम में नियम='आवर्त एव नामिस्ते' इत्यादि) अर्थदोष का अधिकपदत्व

र्थाश्रय इति। एवं चानियमपरिवृत्तित्वादेरप्यधिकपदत्वादेर्भेदो बोद्धव्यः। अमतपरार्थने तु 'राममन्मथशरेगा'—इत्यादौ नियमेन वाक्यव्यापित्वाभिपायाद्वाक्यदोषता। अर्लीह त्यादौ तु न नियमेन वाक्यव्यापित्वम् । <sup>(ग्रानिद्तस्त्रपद्मोऽसौ परपद्मान्हनिष्यति।</sup> अत्र परपत्तं हत्त्रा स्वपत्तमानन्दयिष्यतीति विधेयम्।

'चएडीशचूडाभरणाः चन्द्र लोकतमोपहः। विरहिमाणहरण कदर्थय न मां वृथा ॥'

अत्र विरहिए उक्तौ तृतीयपादस्यार्थो नानुवाद्यः। 'लग्नं रागाइताङ्गचा सुददमिंह ययैवासियध्यारिकएठे मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दष्टा पतन्ती । तत्सकोऽयं न किंचिद्गण्यति विदितं तेऽस्तु तेनारिम दत्ता भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद् गदितुमिति गतेत्राम्बुधि यस्य कार्तिः॥

नामक शब्ददोष से भेद जानना। 'श्रमतपरार्थत्व' नामक दोष यंग्रिप परार्थ ज्ञानके अनन्तर मासित होता है तथापि वह नियम से वाक्य में ही रहता है। 'राममन्मय' इत्यादि वाक्यों में ही उसका स्थिति रहती है। इसी कारण उसे वाक्यदोषं माना है। अर्थं दोष नहीं माना। अश्लीलत्यादिक ऐसे नहीं होते जो केवल वाक्य में ही रहें। त्रानन्दितोति-यहां विधि श्रयुक्त है। परपत्त का इन किये विना स्वपत्त का आनिन्द्त करना संभव नहीं, अतः 'यरपत्तं निहत्येष सर्प नन्दियण्यति' इस प्रकार विधि करनी चाहिये। चएडीशोति—यह विरही की उर्कि है। चन्द्रमा से कदर्थन न करने—दुःख न देने—की प्रार्थना है, परन्तु उसकी हैविशेषण दिया है 'विरिहमाण हरण' !!! ऋतः यहां 'श्रववादायुक्तत्व' दोषहैं। अनुवाद में तृतीय चरण नहीं होना चाहिये। जो विरहियों के प्राणी की हरा करता है उससे कोई विरही श्रपनी प्राण्यता की भिन्ना कैसे मांग सकता है। लग्निमिति—''जो तलवार राग (रुधिर का रंग या अनुराग) से युक्त होकर शुक्र के गले लगी थी और अन्य लोगों ने जिसे मातङ्गों (हाथिओं या चाएडाली) भी ऊपर गिरते देखा है, उसीमें सक्त (ग्रासक्त या तत्पर) होकर यह राजा मेरी हैं। परवाह नहां करता, —तुम्हें मालूम रहे—उसने मुक्ते भृत्यों (मन्त्री श्रादिकी है) अवीन कर रक्खा है"-मानो लक्ष्मी की आज्ञा से यह सन्देश सुनाते के लिया। राजा की कोर्टि ---ि रेजा लक्ष्मी की आज्ञा से यह सन्देश सुनाते के लिया। राजा की कीर्ति लक्ष्मी के पिता समुद्र के पास पहुँची है। ताप्य किली राजा की कीर्ति समुद्रपर्यन्त पहुँची है। उसपर किन उत्प्रेक्ष करते हैं कि ता तलवार पर आसक्त होकर उसी का हो रहा है, अतः लक्ष्मी को सपतीती उत्पन्न हुआ है की नार् उत्पन्न हुत्रा है और उसने इसकी कीर्ति को त्रपने पिता के पास उर्के यत करने भेटा है कि यंत करने भेजा है, जिसमें तलवार (सपत्ती) की बुराई, राजी की अत्र विदितं तेऽस्त्वत्यनेन समापितमपि वचनं तेनेत्यादिना पुनरुपात्तम्।

अय रसदोषानाह— रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसंचारिणोरिप ॥ १२ ॥ परिपन्थिरसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रहः । ब्राच्यः कल्पितः कृच्छादनुभावविभावयोः ॥ १३ ॥ ब्रक्षाण्डे प्रथनच्छेदौ तथा दीप्तिः पुनः पुनः । ब्रिक्षनोऽननुसंधानमनङ्गस्य च कीर्तनम् ॥ १४ ॥ ब्रिक्षतिरङ्गस्य प्रकृतीनां विपर्थयः ।

अर्थानीचित्यमन्यच्य दोषा रसगता मताः ॥ १५॥

सस्य स्वशब्दो रसशब्दः शृङ्गारादिशब्दश्च । क्रमेण यथा— 'तामुद्वीच्य कुरङ्गाचीं रसो नः कोऽप्यजायत ।'

'चन्द्रमण्डलमालोक्य शृङ्गारे मग्नमन्तरम् ॥'

स्यायिमावस्य स्वशब्दवाच्यत्वं यथा---

'अजायत रतिस्तंस्यास्त्वयि लोचनगोचरे।'

व्यभिचारिगाः स्वशब्द्वाच्यत्वं यथा--

वहीं और त्रपनी दुर्दशा का हाल है। त्रत्रेति—यहां 'विदितंतेऽस्तु' इतने तक वाक्य पूरा होचुका था उसे 'तेन' इत्यादि से फिर उठाया है, त्रातः 'निर्मुक्तपुनरुक्तत्त' प्रथवा 'समाप्तपुनरात्तत्व' दोष है।

मंगीत-अब रस के दोषों का परिगणन करते हैं-सस्येति-किसी रस का उस के बावक पद से अर्थात् सामान्यवाचक 'रस' शब्द से या विशेषवाचक स्वारादि शब्द से कथन करना, एवं स्थायिभाव और संचारिभावों का उनके बावक पदां से अभिधान करना, विरोधी रस के अङ्गभूत विभाव अनुभावादि को का वर्णन करना, विभाव और अनुभाव का कितनता से आद्येप हो सकना, सि का अस्थान (अनुचित स्थान) में विस्तार या विच्छेद करना, बार बार की दीप करना, प्रधान को भुलादेना, जो अङ्ग नहीं है उसका वर्णन करना, अन्य स्थान को अतिविस्तृत करना, प्रकृतियों का विप्रयोस (उत्तर पुत्वर) किता, अर्थ अथवा अन्य किसी के औचित्य को मङ्ग करना—ये सब सि केरोष कहाते हैं। सस्येति—रस का स्वशब्द रस शब्द (सामान्य) है और स्वारादि से रस का कथन किया है और उत्तरार्ध में विशेषवाचक स्थङार से उसका कथन किया है और उत्तरार्ध में विशेषवाचक स्थङार से उसका कथन किया है, अतः यह 'स्वशब्द वाच्यत्व' नामक रस दोष है। स्वायिभाव के स्वशब्द वाच्यत्व का उदाहरण देते हैं-ब्रजायति—यहां 'रित'

'जाता लजावती मुग्धा पियस्य परिचुम्बने ।' अत्र प्रथमे पादे 'आसीन्मुकुलिताची सा' इति लज्जाया अनुभावमुखेन क्येने युक्तः पाठः।

मानं मा कुरु तन्त्रिङ्ग ज्ञात्वा यौवनमस्थिरम्। अत्रयौवनास्थैर्यनिवेदनं श्रङ्गाररसस्य परिपन्थिनः शान्तरसस्याङ्गं शान्तस्यैव व विभाव इति शृङ्गारं तत्परिप्रहो न युक्तः।

> 'धवलयति शिशिररोचिषि भुवनतलं लोकलोचनानन्दे। ईवित्वप्तकटाचा स्मेरमुखी सा निरीच्यतां तन्वी॥'

अत्र रसस्योदीपनालम्बनविभावावनुभावपर्यवसायिनौ स्थिताविति कष्टकल्पना। 'परिहरित रितं मितं लुनीते स्खलतितरां परिवर्तते च भूयः। इति वत विषमा दशास्य देहं परिभवति प्रसमं किमत्र कुर्मः॥'

शब्द से स्थायी का कथन है। जातेति यहां लज्जारूप संचारीभाव का 'स्वग्य वाच्यत्व' है। यहां प्रथम चरण में 'मुकुलिताची' पढ़कर श्रनुभाव के ब्राप लुजा का वर्णन करना उचित है।

मानिभिति-यौवन का ऋस्थिरता का कथन श्टङ्गार रस के विरोधी शान्तरस का ब्रङ्ग है, उसीका यह उद्दीपन विभाव है, ब्रतः श्रङ्गार रस में उसका कथन उचित नहीं। अनुमाव के कष्ट से आद्याति होने का उदाहरण - धन्तपतांति-लोक (जगत्) के लोचनों को आनिन्दत करने वाला चन्द्रमा जब अपनी किर्णों से भूमएडल को घवल (श्वेत) कर रहा है उस समय कुछ कटात विते करती हुई स्मितमुखी उस सुन्दरी को देखो। अत्रेति -यहां शृङ्गारस का उती 'श्र गुभावपर्यवसायीं पन विभाव चन्द्रमा और त्रालम्बन विभाव नायिका कराते हैं। मनुमारं हैं पर्शात् अनुमान की कठिनता से कल्पना पर्यवसाययतः प्रकरणाद्यनुसन्धानानन्तरं विलम्बेन बोधयत इत्यनुभावपर्यवसायिनौ । उर पद्य में चन्द्रमा उद्दीपन विभाव है और नायिका आलम्बनविभाव है-पर्ल नायक के रितकार्य ( श्रनुभाव ) का सूचक कोई पद नहीं है । उसका ग्रही किंदिनता से करना पड़ता है। नायिका के कटा विचेप और स्मित यही रित के कार्य हैं किन्तु नायक का स्पष्ट वर्णन न होने के कारण यह कहना कि है कि वे रित के कार्य हैं या स्वामाविक वितासमात्र । वक्रा यहां नायक हैं। कोई तरस्य करें कोई तटस्थ, यह भी पता नहीं चलता। यदि नायक है तो 'निरीह्यताम् हैं। से कहता है ? यदि वक्षा कोई श्रीर है तो जिससे कह रहा है वह नायक है। या कोई रास्ते वक्षा कोई श्रीर है तो जिससे कह रहा है वह नायक है। या कोई रास्ते चलता ? इसकी बात को सुनकर उसके हृद्य में रित का से बात की सुनकर उसके हृद्य में रित का से बात की सुनकर उसके हृद्य में रित का से बात की सुनकर उसके हृद्य में रित का से बात की सुनकर उसके हृद्य में रित का से बात की सुनकर उसके हृद्य में रित का से बात की सुनकर उसके हृद्य में रित का से बात की सुनकर उसके हृद्य में रित का से बात की सुनकर उसके हृद्य में रित का से बात की सुनकर उसके हृद्य में रित का से बात की सुनकर उसके हृद्य में रित का से बात की सुनकर उसके हृद्य में रित का से बात की सुनकर उसके हिन्द्य में रित का से बात की सुनकर उसके हिन्द्य में रित का से बात की सुनकर उसके हिन्द्य में रित का से बात की सुनकर उसके हिन्द्य में रित का से बात की सुनकर उसके हिन्द्य में रित का से बात की सुनकर उसके हिन्द्य में रित का से बात की सुनकर उसके हिन्द्य में रित का से बात की सुनकर उसके हिन्द्य में रित का से बात की सुनकर उसके हिन्द्य में रित का से बात की सुनकर उसके हिन्द्य में रित का से बात की सुनकर उसके हिन्द्य में रित का से बात की सुनकर उसके हिन्द्य में रित का से बात की सुनकर उसके हिन्द्य में रित का से बात की सुनकर उसके हिन्द्य में रित का से बात की सुनकर उसके हिन्द्य में रित का से बात की सुनकर उसके हिन्द्य में रित का से बात की सुनकर उसके हिन्द्य में रित का से बात की सुनकर उसके हिन्द्य में रित का से बात की सुनकर उसके हिन्द्य में रित का से बात की सुनकर उसके हैं से बात की सुनकर उसके से बात की सुनकर से हुआ भी या नहीं ? इत्यादिक जटिलता के कारण यहां श्रतुभावीं की कहाँगी है। से होती है।

विमानकी कष्ट कल्पना का उदाहरण-परिहरति—अनेति—किसी वर्ष में

अतरितपरिहारादीनां करुगादाविप संभवात्कामिनीरूपो विभावः कृच्छादाचेव्यः। अविष्टुं प्रथनं यथा—नेगािसंहारे द्वितीयेऽङ्को पवर्तमानानेकवीरसंच्ये काले द्वार्यमस्य भानुमत्या सह शृङ्गारमथनम् ।

केंदो यथा—वीरचरिते राघवभार्गवयोधीराधिरूढेऽन्योन्यसंरम्भे कङ्करणमोच-

नय गच्छामीति राघवस्योक्तिः।

पुनःपुनर्दितिर्यथा—कुमारसंभवे रतिविलापे।

अक्षिनोऽननुसंधानं यथा---रतावल्यां चतुर्थेऽङ्को वाभ्रव्यागमने सागरिकाया विस्पृतिः ।

यनङ्गस्य कीर्तनं यथा-- कपूरमञ्जर्या राजनायिकयोः स्वयं कृतं वसन्तस्य वर्णन-मनादृत्य बन्दिवरिंगतस्य प्रशंसनम् ।

**बहुस्यातिविस्तृतिर्यथा—किराते सुराङ्गनाविलासादिः।** 

पक्रतयो दिन्या अदिन्या दिन्यादिन्याश्चेति । तेषां धीरोदात्तादिता।तेषामप्यत्त-गाधममध्यमन्त्रम् । तेषु च यो यथाभूतस्तस्यायथावर्णने पकृतिविपर्ययो दोषः ।

(अनुराग) का परिहार, प्रति ( बुद्धि ) का भ्रंश, देहका डगमगाना, करवरें व्वतना, श्रादि दशा जो इस पद्य में कही है, वह करु एस में भी हो सकती है, शतः स्क्रार और करुण के इन साधारण अनुभावों से वर्णनीय रमणी को कामिनी या विरिहिणी समभाना कठिन है। श्रेकाएडे प्रथनिमति—श्रकाएड में रस काविस्तार जैसे 'वेणीसंहार' के दूसरे श्रङ्कमें जब श्रानेक कौरव वीरों का नाश हो ए। या उस समय दुर्योधन का भाजुमती (रानी) के साथ श्रंगार कथा का विस्तार किया है। बेद इति — अस्थान में विच्छेद जैसे 'महावीरचरित' में व राम और परश्रुराम दोनों का जोश (संरम्म) पूरे वेग से उमड़ रहा गाउसी समय रामचन्द्र के मुख से यह कहलाना कि 'कङ्कण खुलवाने जाता श्विति।यहां संरम्भ को अचानक विचित्रुन्न करिया है। वस्तुतस्तु महा-वीरवरित में श्रीरामचन्द्रजीने उक्त वाक्य नहीं कहा है, किन्तु कञ्चुकीने श्राकर पता जनक से यह कहा है कि 'देव्यः कक्क्षणमोचनाय मिलिता राजन्तरः प्रेप्यताम्' बार शहरीप्ति जैसे 'कुमारसंभव' के रितिविलाए में। श्रङ्गी (प्रधान) का अनु-विमात् (विस्मृति) जैसे 'रत्नावली' नाटिका में बाभ्रव्यका सागरिका को भूलजाना। का की तेन जैसे 'कर्पूरमञ्जरी' (सट्टक) में राजा श्रीर नायिका ने अपने किये वसन्तवर्णन का अनाद्र करके बन्दी के वर्णन की प्रशंसा की है। का विस्तार जैसे 'किरात' के आठवें सर्ग में अन्सराओं का विलास कि भेहातयां तीन प्रकार की होती हैं। दिन्य, आए ज्या कर सम्बन्धि और मित्र भी पहले कहे हैं। उनमें भी उत्तमत्व, मध्य-भारतात्त आदि भेद भी पहले कहे हैं। उनम ना उसके स्वरूप के अधिमत्व होता है। इनमें से जो जैसी प्रकृति है उसके स्वरूप के यथा-धीरोदात्तस्य रामस्य धीरोद्धतवच्छद्मना वालिवधः । यथा वा-कुमारसंभवे उत्तमदेवतयोः पार्वतीपरमेश्वरयोः संभोगश्च ङ्कारवर्णानम् । 'इदं पित्रोः संभोगन्गीन मिवात्यन्तमनुचितम्' इत्याहुः । अन्यदनौचित्यं देशकालादीनामन्यथा यद्दर्णनम्। तथा सति हि काव्यस्यासत्यताप्रतिभासेन विनेयानामुन्मुखीकारासंभवः ।

एभ्यः पृथगलंकारदोषाणां नैव संभवः ॥

एम्य उक्तदोषेम्यः । तथा हि उपमायामसादृश्यासंभवयोरुपमानस्य जाहि प्रमाणगतन्यूनत्वाधिकत्वयोर्थान्तरन्यासे उत्प्रेन्तितार्थसमर्थने चानुचितार्थतम्। क्रमेण यथा—

'प्रध्नामि कान्यशशिनं विततार्थरशिमम् ।'
'प्रज्वलजलधारावनिपतन्ति शरास्तव ।'
'चएडाल इव राजासौ संप्रामेऽधिकसाहसः ।'
'कपूरखएड इव राजित चन्द्रविम्बम् '
'हरवनीलकएठोऽयं विराजित शिखावलः'
'स्तनावद्रिसमानौ ते '

श्रमुक्तप वर्णन न होने से प्रकृतिविपर्यय दोष होता है। जैसे घीरोदात्त नायक श्रीरामचन्द्रजी का धीरोद्धतकी भाँति कपट से वाली का वध करना। अथव 'कुमारसंभव' में उत्तम देवता श्रीपार्वती श्रीर महादेव का संभोग श्रुकार वर्ष करना। इसके विषय में प्राचीन आचार्य (मम्मट) कहते हैं कि माता पिता के संभोगवर्णन के समान यह वर्णन अत्यन्त अनुचित है। अन्यदिति—इस है श्रतिरिक्त देश, काल श्रादि के विरुद्ध वर्णन को भी अनौचित्य के श्रन्तर्गत जानना । क्योंकि उससे काव्य की असत्यता प्रतीत होने के कारण राजकुमार **ब्रादि विनेय (शिल्ल्णीय) पुरुषों का चित्त उधर ब्राह्य नहीं हो सकता** एम्यइति—इन दोषों से पृथक् अलङ्कार दोष नहीं हो सकते इन दोषी है अन्तर्गत ही होते हैं। उपमायामिति -जहां उपमा में असाहश्य अर्थात सामार धर्म की अप्रसिद्धि और असम्भव अर्थात् उपमान की अप्रसिद्धि हो प्राप्त उपमान में जाति या प्रमाण की न्यूनता या अधिकता विद्यमात हो वहां हो 'अर्थान्तरन्यास' 'अलङ्कार में :यदि उत्प्रेतित अर्थ का समर्थन किया होते वहां भी 'अनुचितार्थत्व' दोष जानना। क्रम से उदाहरण-प्रधामीति-कार्य भी चन्द्रमा का साहश्य प्रसिद्धन होने के कार्ण यहां श्रमुचितार्थत्व दोष है। श्रम दिति-यहां उपमानभूत जलती हुई जल की धारायें अप्रसिद्ध हैं। वर्णा विकास यहां उपमान (चएडाल) में जातिगत न्यूनता है। कर्पूहित-यहां अपान (कपूर-खएड) प्रमाण से न्यून है। इरवदिति यहां उपमान में जातिक आधिक्य है। किर्नारिक अधिक्य है । तिर्यग्योनि ( मयूर ) का उपमान महेश्वर को इनी हैं अनुचितार्थत्वतोल है। निर्यग्योनि ( मयूर ) का उपमान महेश्वर को इनी हैं अनुचितार्थत्वदोष है। स्तनाविति-यहां जिपमान में प्रमाण से आधिकी

विवाकराद्रचिति यो गुहासु लीनं दिवा भीतिमवान्धकारम्। हुद्देऽपि क्नं शरगां प्रपन्ने ममत्वमुचैः शिरसामतीव ॥' एवमादिष्येचितार्थस्यासंस्ततयैव प्रतिभासनं स्वरूपमित्यनुचितमेव तत्समर्थनम् । यमकस्य पादत्रयगतस्यापयुक्तत्वं दोषः । यथा-'सहसाभिजनै: स्निग्धै: सह सा कुञ्जमन्दिरम्। उदिते रजनीनाथे सहसा याति सुन्दरी॥' उत्मेद्धायां यथाशब्दस्योत्मेद्धाद्योतकत्वेऽवाचकत्वम् । यथा-'एष मूर्तो यथा धर्मः चितिपो रचति चितिम्।' एवमनुपासे वृत्तिविरुद्धस्य पतिकूलवर्णात्वम् । यथा— 'स्रोवदृइ उल्लदृइ'—इत्यादौ । उपमायां च साधारणाधर्मस्याधिकन्यूनत्वयोरिधकपदत्वं न्यूनपदत्वं च। क्रमेणोदाहरराम्-

'नयन ज्योतिषां भाति शंभुभू तिसितद्युतिः। विद्युतेव शरन्मेघो नीलवारिदखएडधृक् ॥' अत्र भगवतो नीलकएठत्वस्यामितपादनाचतुर्थपादोऽधिकः ।

क्षिक्यादिति — जो हिमालय दिन में मानों सूर्य से डर कर अपनी गुहाओं में छिपे हुए अन्धकार की रत्ता करता है। बड़े लोग अपने शरणागत चुद्र पुरुष पर मी अत्यन्त ममता दिखाते हैं। एवमादिष्त्रिति—उत्प्रेचित पदार्थ ग्रसत्यरूप से प्रतीत श्रा करता है - अतः प्रकृत पद्य में अन्धकार का भय उत्प्रेतित होने के कारण असत्य प्रतीत होता है-इस कारण उसका समर्थन करने के लिए उत्तरार्घ की वित है। समर्थन सत्य पदार्थ का किया जाता है, किन्तु यहां असत्य पदार्थ का समर्थन किया है।

मक्लोत-यमक यदि तीन ही चरणों में हो चौथे चरण में न हो तो वहां अभयुक्तत्व दोष जानना। जैसे-सहसेति । उत्प्रेचायामिति-उत्प्रेचा में यदि 'यथा' का प्रयोग हो तो अवाचकत्वदोष होता है। जैसे — एव इति। एवमिति—इसी कार अनुमास में 'वृत्तिविरुद्धत्त्व' अर्थात् विरोधी रस के अनुगुण वर्णों की खाको 'प्रतिकृत्ववर्णस्व' के अन्तर्गत समक्षना। जैसे—'श्रोवहर् इत्यादिक में भार रस के विरोधी वीर रस के अनुगुण कठोर वर्णों का रचना है। भाषाचीति उपमा में साधारण धर्म के त्रिधिक होने पर त्रिधकपदत्व कीर व्यापन में साधारण धर्म के श्राधक हाल पर विकास देते कि कि पर न्यूनपद्त्व दोष जानना । क्रम से उदाहरण देते रिविधित स्मा से अक्ल शङ्कर भगवान् तृतीय नेत्र की ज्योति से ऐसे सुशोमित कि है जैसे छोटे से नीले बादल के टुकड़े से युक्त, बिजली से अलंकत क्षि भेल छोटे से नीले बादल के टुकड़े संयुक्त, विकला है । क्योंकि का काला बादल । यहाँ चतुर्थ चरण अधिक है । क्योंकि 'कमलालिङ्गितस्तारहारहारी मुरं द्विपन्। विद्युद्धि सूषितो नीलजीमूत इव राजते ॥'

अत्रोपमानस्य सवलाकत्वं वाच्यम् ।

अस्यामेवोपमानोपमेययोर्लिङ्गवचनभेदस्य कालपुरुषविध्यादिभेदस्य च भान

पक्रमत्वम् । क्रमेगोदाहरग्गम्-

'सुधेव विमलश्चन्द्रः।' 'ज्योत्स्ना इव सिता कीर्तिः।' 'काप्यभिख्या तयोरासीद् त्रजतोः शुद्धवेषयोः। हिमनिमु क्तयोयोंगे चित्राचन्द्रमसोरिय ॥'

अत्र तथाभूतचित्राचन्द्रमसोः शोभा न खल्यासीत्, अपि तु सर्वदापि भवति।

'लतेव राजसे तनिव ।'

अत्र लता राजते, त्वं तु राजसे ।

उपमेय में नीलकएठ का कथन नहीं है। विभूति से स्वेत शङ्कर शरद् ऋतु है स्वेत वादल के समान हुए श्रौर तृतीय नेत्र विजली के समान। श्रव रहा-'नीलवारिद्खएड'-उसके लिए उपमेय में कुछ नहीं है। यदि शङ्कर के नीले कएठ का उल्लेख कर दें तो सादृश्य ठीक हो जाय। यहाँ 'धृक्' में कुल चिन्तनीय है। किन् प्रत्यय श्रीर कुत्व 'दधूक्' में ही होते हैं। 'धृष्' घातु हे 'घृट्' त्रीर 'घृ' धातु से 'घृत्' रूप वन सकता है।

न्यूनत्व का उदाहरण-कमलेति-लक्ष्मी से आलिङ्गित और मुङ्गाहार हे विभूषित भगवान् विष्णु, विद्युत् से युक्त नीलमेघ के सहश दीखते हैं। यहां उपमान (मेघ) में वलाका श्रीर कहनी चाहिए, क्योंकि उसके विना मुझ हार का कोई उपमान नहीं है, अतएव यहां न्यूनपदत्व के अन्तर्गत यह आ क्कार दोष है। अस्यामेबेति-एवम् यदि उपमा में उपमान श्रीर उपमेय के लि में या वचनों में भेद हो अथवा वर्तमान आदि काल में, यद्या प्रथम, महान श्रादि पुरुषोमें कि वा विध्यादिक श्रथों में भेद हो तो मनप्रक्रमती दोष जानना। क्रम से उदाहरण — सुधित — यहां स्त्रीलिंग 'सुधा' का उपार्व (चन्द्र) पुंलिंग हैं, श्रतः उपमानोपमेयका लिंगमेद होने से भानप्रकार्ति हो। को स्वानिकारिकारी दोष है। ज्योत्नाइति -यहां उपमान बहुवचन श्रीर उपमेय एकवचन है। कालमेर ब उदाहरण-कापीति-वसिष्ठ मुनि के आश्रम को जाते हुए सुभूषित सुद्धि। श्रीर दिलीए को को प्राप्त श्रीर दिलीप की शोमा, शीत ऋतु के कुहरे से निर्मुक वित्रा (तहा) श्रीर चन्द्रमां के समान श्रात ऋतु के कुहरे से निमुक्त चित्रा सम्बद्धा विकास का समान अनिर्वचनीय थी । यहां भूतकाल का समान अनिर्वचनीय थी । यहां भूतकाल का साम उपमान के साथ नहीं हो सकता। चित्रा श्रीर चन्द्रमा की शोभा श्रीर वैसी ही होती है। यहां कालभेद है। लतेति-यहां मध्यम पुरुष का सम्ब

भित्रं जीवतु ते सूनुर्मार्कएडेयमुनिर्यथा।<sup>2</sup> <sub>गत्र मार्कण्डेयमुनिर्जीवत्येव । न खल्वेतदस्य जीवित्यनेन विधेयम् ।</sub> हृ तु यत्र लिङ्गवचनभेदेऽपि न साधारणधर्मस्यान्यथाभावस्तत्र न दोषः। क्रमेणोदाहरणम्-

'मुखं चन्द्र इवाभाति।'

'तद्रेशोऽसदशोऽन्याभिः स्रीभिर्मधुरतामृतः। द्धते स्म परां शोभां तदीया विभ्रमा इव ॥'

पूर्वोदाहरखेषूपमानोपमेययोरेकस्यैव साधारखधर्मेखान्वयसिद्धेः प्रकान्तस्यार्थस्य सुटोऽनिर्वाहः । एवमनुपासे वैफल्यस्यापुष्टार्थत्वम् । यथा---

> 'श्रनगुरग्गन्मग्गिमेखलमविरलशिञ्जानमञ्जूमञ्जीरम्। परिसरणमरुणचरणे रणरणकमकारणं कुरुते ॥

उपमानमूत लता के साथ नहीं होसकता। चिरमिति—यहां चिरञ्जीव होने का शागीर्वाद मार्कएडेय मुनि में अिक श्चित्कर और असम्बद्ध है। वे तो चिरंजीवा हैही। उन्हें इस आशीर्वाद से क्या ? यहां विधिमेद है।

ाल-उपमा में जहां लिङ्गमेद और यचनभेद होने पर भी साधारण धर्म में प्रत्ययात्व न हो अर्थात् वह एक रूप से उपमान और उपमेय के साथ सम्बन्ध करसके वहां यह दोष नहीं माना जाता। जैसे — पुखमिति – यहां भान (शोभा) बाधारगधर्म है, उसकी वाचक 'श्राभाति' किया है-इसका सम्बन्ध उपमेय (मुख) श्रीर उपमान (चन्द्र) दोनों के साथ समान रूप् से होजाता है। कितु 'सुधेव विमलक्ष्वत्द्रः' यहां विमलत्व साधारण धर्म है। उसका वाचक मितः पुल्लिङ्ग है, अतः उसका सम्बन्ध उपमेय (चन्द्रः) के साथ हो अत्याह उपमान (सुत्रा) के साथ नहीं, क्योंकि यह स्त्रीलिङ्ग है। इसके लिये विम्ला होना चाहिये। वचनभेद् में दोषाभाव का उदाहरण-तदेश इति-यहां विक् भू घातु से क्र प्रत्यय माने तो 'मृतः' एकवचन हो सकता है और विकित प्रत्यय माने तो बहुवचन भी हो सकता है। एवं 'द्धते' को यदि 'र्घ धारणे' का रूप मानें तो एक वचन और यदि 'डुधाअ' का रूप मानें तो वहीं वहुवचन हो सकता है, अतः यहां वेशहप उपमेय के एकवचनान्त होने शेर उपमान हासकता है, अतः यहां वेश हप उपमथ क रेस पर भी कोई के विस्तान के बहुवचनानत होने से वचनभेद होने पर भी कोई होत्त्वर्ष है। पूर्वति — 'सुधेव' से लेकर 'चिरंजीवतु' तक के पूर्वोदाहरणों में आधारणकर्ष भाषार्षधर्मं का अन्यय उपमान और उपमेय में से किसी एकही के साथ होता होते के साथ नहीं, श्रंतः वहां प्रकान्त का श्रनिवीह स्फुट होने से अग्नप्रक्रमत्व विष्या विषय नहीं, श्रातः वहां प्रकान्त का श्रानवीह स्फुट हान स् के प्रमिति - इसी प्रकार श्रानुपास में वैफल्य होने से श्रपुष्टार्थत्व होता है। के प्रति प्रकार श्रामाते - इसी प्रकार श्रामुप्रास में वैफल्य हान स अधुटा के सिक्स कोई रस नहीं, श्रामात्र है, श्रातः रसपोपक न होने

एवं समासोक्तौ साधारणविशेषण्यशात्परार्थस्य मतीतावपि पुनस्तस्य शब्देनी. पादानस्यापस्तुतप्रशंसायां व्यञ्जनयैव पस्तुतार्थावगतेः शब्देन तदिमधानस्य व पुनरुक्तत्वम् । क्रमेगाोदाहरगाम्-

'अनुरागवन्तमि लोचनयोर्दधतं वपुः सुखमतापकरम्। निरकासयद्रविमपेतवसुं वियदालयादपरदिग्गिका॥'

अत्रापरदिगित्येतावतैव तस्या गिणकात्वं पतीयते । 'ब्राहूतेषु विहङ्गमेषु मशको नायान्पुरो वार्यते मध्ये वा धुरि वा वसंस्तृ ग्णमिश्चित्ते मग्णीनां धुरम्। खुद्योतोऽपि न कम्पते पचलितुं मध्येऽपि तेजस्विनां प्रभुमिवानामृष्टतत्त्वान्तरम्॥' **धिक्सामान्यमचेतसं** 

अत्राचेतसः प्रभोरभिधानमनुचितम् । एवमनुपासे प्रसिद्धचभावस्य स्यातिविरुद्धत्वम् । यथा-

से वह विफल है। एवमिति-इसी प्रकार समासोक्ति में साधारण विशेषणों के वलसे व्यज्यमान अर्थका यदि वाचक शब्दोंसे कथन करें अथवा अपस्तुतप्रशंसाने व्यक्षना से जो प्रस्तुत ऋर्थ प्रतीत होता हो उसको वाचक शब्दों से अभिधा करें तो पुनरुक्तत्व दोष जानना। क्रमसे उदाहरण्-श्रतुरागेति-यहां 'श्रपरिद् इतने से ही, समासोक्ति के बलसे, पश्चिमदिशा का वेश्यात्व प्रतीत होता है, किर उसके लिये गणिका शब्द का प्रयोग करने से पुनरुक्ति दोष है। आहूते विति-श्रहाती प्रमुके समान 'सामान्य' अर्थात् जातिको धिकार है,जो विशेष गुणों का विवार करके, भले बुरोंमें 'सब धान बारह पसेरी' की लोकोक्ति-को चरितार्थंकरताहै देखो, यदि विहरूमों (पखेरुश्रों) को बुलाया जाय तो सामान्य के बंत से मध्य भी बीच में श्राकूदेगा, क्योंकि विहङ्गमत्व जाति तो उसमें भी है, वहभी श्राकार चारी और पंखधारी है। इस के सिवा और किसी गुण की तो अपेदा स्क (सामान्य को) है नहीं, जिस का फल यह होता है कि कोकिल, चातक, हैं। मयूर, वाज़ और शिकरों के बीच में मच्छुड़ मियाँ भी, खम ठोंककर, आबहें हैं। एवं तृणमिण भी मिण्यों के बीच इसी मिण्तव जाति के कारण गिना जाता है। श्रीर तो श्रीर, जब तेजस्वियों की गणना होती है तो तारे, चन्द्रमा श्रीर स्वीति वीच नाम किया है बीच नाम लिखाने से खद्योत भी नहीं उरता, क्योंकि तेजस्वित्वजाति तो अस्मिति के स्थान क में भी है। उसकी दुम में भी ज़रासा तेज-चाहे श्रंधेरे में ही सही-वमकता है। यहां श्राप्य कराते है। यहां श्रप्रस्तुतप्रशंसालंकार है। श्रप्रस्तुत सामान्य के इस मनोहर है। प्रस्तुत किसी श्रास्ट्रेक्ट प्रस्तुत किसी अविवेकी प्रभु का पता व्यक्ष्नावृत्ति दे देती है, किर उस के कि 'अचेत्सं प्रभुम्' का अभिधान अनुचित है। एविमिति—इसी प्रकार अनुमान चकर में आकर एकि करि चंकर में आकर यदि अप्रसिद्ध पदार्थ का वर्णन किया हो तो क्यांतिविका CC-0. Mumukshu Bhawan Vorce

विष्ठाविष्ठिततां चक्री गोत्रं गोत्रभिदुच्छितम्। वृषं वृषमकेतुरच पायच्छनस्य भूभुजः ॥

उस्तदोषाणां च क्वचिददोषत्वं क्वचिद् गुणत्वमित्याह—

वक्तरि क्रोधसंयुक्ते तथा वाच्ये समुद्धते। रौद्रादौ तु रसेऽत्यन्तं दुःश्रवत्वं गुणो भवेत्॥ १६॥

एषु चास्वादस्वरूपविशेषात्मकमुख्यगुरामकर्षोपकारित्वाद् गुरा इति व्यपदेशो

भारतः । ऋमेगा यथा---

'तिहिच्छेदकृशस्य कण्ठलुठितपाणस्य मे निर्दयं

क्रूरः पञ्चशरः शरैरतिशितैर्भिन्दन्मनो निर्भरम्।

शम्भोभ् तकृपाविधेयमनसः पोदामनेत्रानल-

ज्त्रालाजालकरालितः पुनरसावास्तां समस्तात्मना ॥' अत्र शृङ्गारे कुपितो वक्ता ।

<mark>'मूर्घन्यात्रूयमानध्यनदमरधुनीलोलकल्लोलजालो</mark>—

द्भूताम्भः चोददम्भात्पसभमिनभः चिप्तनच्त्रवच्म् ।

दोप जानना । जैसे — पकेति – यहां अनुप्रास के आधार पर ही चक्री (विष्यु) से वकवर्तित्व श्रीर गोत्रभित् (इन्द्र) से ऊँचा गोत्र दिसवाया है। पुराणादिकों में वहीं इन वस्तुओं के देने में उक्त देवताओं की प्रसिद्धि नहीं है। उक्तदोषाणामिति-पूर्वोक्त दोष, कहीं दोषत्व नहीं पैदा करते श्रीर कहीं तो गुण होजाते हैं। श्रव उन्हीं स्थलों का निर्देश करते हैं। वक्षरीति-वक्का यदि क्रोध में भरा हो या श्यं-जिस का वर्णन है-समुद्धत हो अथवा रौद्र, वीर, बीमत्सादिक रस हो वोदुः भवत्व (श्रुतिकटुत्व) गुण हो जाता है। एषुचेति —मुख्य गुण (माधुर्यादिक) रत के हो स्वरूप-विशेष होते हैं श्रीर रस श्रात्मरूप है, श्रतः यद्यपि शब्दमात्र में हिनेवाले दुःश्रवत्व को मुख्य रीति से गुण नहीं कह सकते, तथापि आस्वाद अयोत् रस के स्वक्रय-विशेषात्मक जो मुख्य गुण् (माधुर्यादि ) उन के किये हुए रसप्रकर्ष के उपकारी होने से अर्थात् उस रसप्रकर्ष के अनुकूल होनेसे हैं अवत्वादिकों में गौणरीति (लज्जा) से गुणशब्द का प्रयोग जानना। गुण-क्रिमक्षणंपकारित्वरूप उपचार से यहां लच्चणा होती है। तिंद्रिच्छेदेति-में उस के वियोग से करा हूं—मेरे प्राण गलेतक आ पहुँचे हैं-फिर भी यह क्रू काम, बड़ी विद्यता से, अत्यन्त ती खे वाणों के द्वारा, मेरे हृद्य को बेध रहा है। दुःखी मिषियों पर दया करनेवाले भगवान् शङ्कर के नेत्रानल की प्रचएड ज्वालाओं से यह कर के निवाल की प्रचएड भे पह दुष्ट, ईश्वर करे, फिर से विलकुल भस्म होजाय। अत्रेति—यहां यद्यपि विम्बर्सिश्वार कोमलरस है तथापि वक्ता काम के ऊपर कुपित होगया है. का अतिकदुत्व यहां गुण है।

समुद्धतवाच्यमें श्रुतिकटुत्व यहा गुण ह । अतिकटुत्वका उदाहरण – मूर्घेति – सिर पर घूमती हुई और

ऊर्ध्वन्यस्ताङ्घिद्यडभ्रमिभररभसोद्यन्नभस्वत्पवेग-भ्रान्तब्रह्माग्डखग्डं पवितरतु शिवं शाम्भवं ताग्डवं वः ॥ अत्रोद्धतताएडवं वाच्यम् । इमे पद्ये मम । रौद्रादिरसेतु तद्-द्वितयापेत्त्यापि दुःश्रवत्वमत्यन्तं गुणः यथा-

'उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिम्-' इत्यादि । अत्र वीभत्सो रसः। सुरतारम्भगोष्ठयादावरलीलत्वं तथा पुनः।

तथा पुनरिति गुगा एव । यथा-

'करिहस्तेन संवाधे पविश्यान्तर्विलोडिते। उपसर्पन्ध्वजः पुंसः साधनान्तर्विराजते ॥'

अत्र हि सुरतारम्भगोष्ठयां 'द्वयर्थें: पदै: पिशुनयेच रहस्यवस्तु' इति काम-शास्त्रस्थितिः । त्र्यादिशव्दाच्छ्रमक्यापमृतिषु बोद्भव्यम् ।

स्यातामदोषौ रलेषादौं निहताथाप्रयुक्तते ॥ १७॥

यथा—

पर्वतभेदि पवित्रं जैत्रं नरकस्य वहुमतङ्गहनम्। हरिमित्र हरिमित्र हरिमित्र सुरसरिदम्भः पतन्त्रमत ॥'

शब्द करती हुई गङ्गा की चक्रवज्ञ तरङ्गमालाश्रों से चारों श्रोर ब्रिटके हुए जल कणों के बहाने मानों लाखों तारे आकाश की ओर जिसमें फेंके जारहे हैं और ऊपर उठाये हुए पैर के घूमने से उत्पन्न महावेगवान वायु के चकर में पहकर ब्रह्माएड जिसमें घूमने लगा है, वह शङ्कर का ताएडवनृत्य तुम्हें मङ्गलदायक है। यहाँ उद्धतताएडव वाच्यहै, अतः दुः अवत्व गुणहै, दोष नहीं। रौद्रादिक दीमरसी में दुःश्रवत्व इन दोनों से अधिक गुण होता है। जैसे पूर्वोक्न उत्कृत्येत्यादि पर में।इस में वामत्सरस है। सरतेति-जहां कामगोष्टा हो वहाँ अश्लीलत्व गुण होता है। जैसे - करिइसोति - संवाध अर्थात् दुष्प्रवेश सेना को पहले हाथियों ने अपनी स्डों से विलोडित (निर्मिथत) किया फिर उसमें घुसता हुआ पुरुष (वीर) का ध्वज (रथकी पताका) साधन (सेना) के मीतर सुशोभित होता है। दूसरे पत्त में तर्जन्यन'मिकायुक्ते मध्यमा पृष्ठतो यदि । करिइस्त इति प्रोक्तः कामगा विशारदैः । संवाध = योनि । ध्वज = पुंच्यञ्जन । साधन=स्रीव्यञ्जन यत्रहीति — सुरतारम्भागेष्ठी में ''द्रवर्धक पदों से गुप्त वस्तुकी प्रकाशित करना यह काए-भारत करने यह काम-शास्त्र का नियम है। आदि शब्द से शानित आदि की क्या का प्रति शादि की क्या का प्रति शादि की क्या की का प्रति शादि की क्या की स्वाप की का प्रहण है। जैसे 'रम्भाशकसंत्राद' में शुक्रदेवजी की अतेक उक्षिणी। स्यातामिति-अलेखाकिकों ने स्यातामिति-श्लोषादिकों में निहतार्थत्व और अप्रयुक्तत्व को दोष नहीं मानाजाती जैसे -पर्वतेति-हिर्देश कर्म जैसे —पर्वतिति-हरि (इन्द्र, विष्णु श्रीर सिंह) के समान गिरते हुए गङ्गाई विष नमस्कार करो। गङ्गाजल पर्वत (हिमालय) को भेदन करके निकलता है, पश्चिम है, नरक को जीतनेवाला है (पापहारी है) बहुत ऋषि मुनियों से सम्मत (पूजि अत्रेन्द्रपच्चे प्रित्रशब्दो निहतार्थः । सिंहपच्चे मतङ्गशब्दो मातङ्गार्थेऽपयुक्तः ।
गुणः स्याद्रप्रतीतत्वं ज्ञत्वं चेद्रकृवाच्ययोः ।

वथा-

'त्वामामनन्ति पकृति पुरुषार्थमवर्तिनीम् । तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः॥'

#### स्वयं वापि परामर्शे

अप्रतीतत्वं गुण इत्यनुपज्यते । यथा—

'युक्तः कलाभिस्तमसां विवृद्ध्ये चीणश्च ताभिः चतये य एषाम् ।

शुद्धं निरालम्बपदावलम्बं तमात्मचन्द्रं परिशीलयामि ॥'

है और गम्भीर (गहन) है। इन्द्र भी पर्वतों को भेदन करनेवाले हैं-इन्हों ने पर्वतों के पंख काटे हैं, ऐसा पुराणों में प्रसिद्ध है। 'पवि' (वज्र ) से 'त्र' ला करनेवाले हैं अथवा वज धारण करनेवाले हैं। नरों के बहमत हैं और गहन=दुर्जय हैं। विष्णु पर्वत (गोवर्धन) के उखाड़नेवाले हैं श्रौर पवित्र= गापनाशन हैं। नरकासुर को जीतनेवाले हैं, बहुमत अर्थात् बहुपूजित हैं होर गहन=दु होंय हैं, समाधिगम्य हैं। एवं सिंह भी पर्वतों को अथवा पर्वत-सदश कठोर करिकुम्भों को भेदन करनेवाला है। 'मृगायां च मृगेन्द्रोऽहम्' इस गीतावचन के अनुसार भगवान् का अंश होने के कारण पवित्र है। नरकों कित्सतयाकातर नरों) का जेता है। वहुत से मतंगों (हाथियों) का हनन करने वाला है। अत्रिति — इस में इन्द्र के पक्त में पवित्र शब्द निहतार्थ है और सिंह के वत्में मतङ्ग शब्द मार्तंग के लिये अप्रयुक्त है, किन्तु श्लेष के कारण यहां दोष वीं। उपरित-वक्ता और वाच्य (श्रोता) यदि दोनों ज्ञाता हों तो अप्रतीतत्व गुण होता है। जैसे-त्वामिति-यद्यपि प्रकृति और पुरुष ग्राब्द सांख्य, योग में ही मित्र हैं, तथापि इस संवाद में देवता और भगवान विष्णु इन दोनों के अभिज्ञ होते से दोष नहीं है। स्वयभिति - अपने आप जहां परामर्श हो वहां भी अप्रतीतत्व ए होता है। जैसे युक्तइति-में उस अपूर्व आत्मरूप चन्द्रमा का परिशीलन करता हैं बो कलाओं (उपनिषद् में कहीं हुई पृथिव्यादि कलाओं) से युक्त होने पर तो अधिकार (अज्ञान) को बढ़ाता है और उनसे चींग (रहित) होने पर तम (अज्ञान विच्यकार)को दूर करता है, जो शुद्ध (निष्कलंक) है श्रौर श्रालम्बपद में श्रवल-मित नहीं है, सबका आश्रयहै, आश्रित किसी का नहीं। यहाँ आत्मरूप चन्द्रमाका कित चन्द्रमासे व्यतिरेक स्चित किया है। लोकिक चन्द्रमा कलायुक्त होने पर अधिकार को दूर करता है श्रीर चीण होने पर नहीं करता, किन्तु श्रात्मक्ष भेत्रा इससे विल्कुल उल्टा है। यह कलायुक्त होने पर अन्धकार को बढ़ाता है शेर वीणकल होने पर उसका नाश करता है। प्रवम् लौकिक चन्द्रमा कलङ्क्युक्र कि से अग्रुद्ध है परन्तु वह ग्रुद्ध=निष्कलङ्क है। यह श्रालम्बपद विष्णुपद= शकाश में आलिक्चित रहता है, किन्तु वह (ग्रात्मचन्द्र) श्रालम्बपद से निर्गत िकिसी का आश्रित नहीं। इसी वैलत्त्एय को स्चित करने के लिये 'तम्'

कथितं च पदं पुनः ॥ १८॥ विहितस्यानुवाद्यत्वे विषादे विस्मये कुधि। दैन्वेऽथ बाटानुप्रासेऽनुकम्पायां प्रसादने ॥ १६॥ अर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये हर्षेऽवधारणे।

गण इत्येव । यथा-'उदेति सविता ताम्रः—' इत्यादि । अत्र विहितानुवादः । 'हन्त हन्त, गतः कान्तो वसन्ते सखि नागतः।' अत्र विषादः। ·चित्रं चित्रमनाकाशे कथं सुमुखि चन्द्रमाः।' अत्र विस्मयः। 'सुनयने नयने निधेहि—' इति । अत्र लाटानुपासः । 'नयने तस्यैव नयने च।'

इत्यादात्रयन्तिरसंक्रमितवाच्यो ध्वनिः । एवमन्यत्र ।

संदिग्धत्वं तथा व्याजस्तुतिपर्यवसायि चेत्॥ २०॥

गुगा इत्येव । यथा-

'पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेपपरिजनं देव ।

(अपूर्व=बुद्धिस्थम्)पद दिया है। श्रीतर्कवागीशजीने इस पद्यको लौकिक चन्द्रम में भी लगाया है-''कलामिः चीयस्तमसां निवृद्धये, तामिर्युक्तश्च एवां तमसां इतये" । इस मतमें एक तो इस पद्यका प्रधान चमत्कार (त्रात्मचन्द्र का त्रालौकिकत्व स्वन) ना होता है। इसी के लिए कविका सब प्रयत्न है। दूसरे 'युक्तः' को 'जतये' के सायलगाने से 'दूरान्त्रय' ग्रौर 'संकीर्णत्व' दोष ग्राते हैं, ग्रतः यह ग्रर्थ ग्रस्ताः सिक होने से त्याज्य है । कथितं चेति — जहां पूर्वविहित का अनुवाद करन हो या विषाद, विस्मय, क्रोध, दैन्य, लाटानुप्रास, श्रनुकम्पा, प्रसादन (किसी को प्रसन्न करना), 'श्रर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य' ध्वनि, हुर्पश्रीर अवधारण (निश्चय) हो वहां कथितपदत्वदोष नहीं होता, गुण होता है। जैसे उदेतीति—यहां विहित का अनुवाद है। पहले वाक्य में ताम्रत्व की विधि है और दूसरे वाक्य में अस्तगमन रूप विधि का उद्देश्य बनाने के लिये उसी ताम्रत्व का अनुवाद किया है। श्रीतर्कवागीशजी ने पूर्वीक्र 'उद्देश्यप्रि निर्देश' के प्रकरण में जो इस पद्य का समन्वय दिखाया है, वह इस मूल प्रवि विरुद्ध है। इसके अनुसार यह पद्य 'उद्देश्यप्रतिनिर्देश' के पूर्वोक्त तृतीय मेर के अन्तर्गत हो सकता है, प्रथम भेद के अन्तर्गत नहीं। इन्तेति—यहां विषा है। चित्रमिति—यहां विस्मय है। सुनयने—यहां लाटानुप्रास है। नयने शति अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य ध्वनि है । सन्दिग्धत्वभिति—यदि व्याजस्ति पर्यवसान होता हो तो सन्दिग्धत्व गुण होता है । जैसे न्युकी पर किसी भिन्न की नि यह किसी मिचुक की उक्ति है। हे राजन् ! इस समय मेरा और आपका है। एक समान हो रहा है। एक समान हो रहा है। आपके घरमें पृथु = बड़े २ 'कार्तस्वर'= सुवर्ण के विलसत्करेणुगहनं संप्रति सममावयोः सदनम्॥'

#### वैयाकरणमुख्ये तु प्रतिपाचेऽथ वक्तरि। कष्टत्वं दुःश्रत्वं वा

गुणं इत्येव । यथा---

'द्रीधीवेवीट्समः कश्चिद्गुणवृद्ध्योरभाजनम् । किप्पत्ययनिभः कश्चिचत्र संनिहिते न ते ॥'

अत्रार्थः कष्टः । वैयाकरण्थः वक्ता । एवमस्य प्रतिपाद्यत्वेऽपि ।

है और मेरा घर 'पृथुक'=वच्चों के 'आर्तस्वर' (भूख से रोने) का आस्पद (पात्र) होरहा है, अतः दोनों ही 'पृथुकार्तस्वरपात्र' हैं। एवं मेरा और आपका घर 'पृथितनिःशेष परिजन' है। आपके घरमें निःशेष=सब परिजन भूषित=भूषण पृक्ष हैं और मेरे घर सब लोग 'भू+उषित'=पृथ्वी पर पड़े हैं। आपका घर विशेष शोमित (विलसत्) करेणुओं=हथिनियों से 'गहन'=भरा है और मेरा घर विलस्तक (विले सीदन्तीति विलसदः त एव विलस्तकः) बिलमें रहने वाले चूहे आदिकों की रेणु=मिट्टी से भरा है। अतःदोनों 'विलसत्करेणुगहन' हैं। श्लेष के कारण यहां व और व का भेद नहीं माना गया है। इसमें यद्यपि पृथुक इत्यादि विशेषण संदिग्ध हैं तथापि व्याजस्तुति अलङ्कार के कारण यह गुण है। प्रारम्भ में राजा की प्रशंसा प्रतीत होती है परन्तु अन्त्य में निन्दा व्यङ्गय है। को राजा अपने राज्य के निवासी ऐसे दरिद्रों की खबर नहीं लेता वह विद्वनीय ही है।

गण होते हैं। जैसे-दांधी-कोई पुरुष दीधी हुं, वेवी हुं धात और इट् प्रत्य के साल होते हैं । जैसे-दांधी-कोई पुरुष दीधी हुं, वेवी हुं धात और इट् प्रत्य के साल होते हैं जो गुण और वृद्धि के पात्र नहीं होते। जैसे इनमें गुण और वृद्धि नहीं होती (दीधीवेवीटाम्) इस सूत्र से निषेध हो जाता है इसीप्रकार बहुत से मनुष्य रिगादा कि एया दि गुण और वृद्धि = समृद्धि के पात्र नहीं होते। और कोई तो कि प्रात्य के सहश होते हैं, जहाँ वे (गुण-वृद्धि) पास तक नहीं फटकते। जैसे कि प्रात्य जिस किसी धातु अथवा प्रातिपदिक के सिन्निहित होता है उसी के श्रा दृद्धि को रोक देता है उसीप्रकार कई पुरुष ऐसे होते हैं, जिनके सिन्निहोंने से, उनके पास बैठने वालों तक की गुण वृद्धि नष्ट होजाती है। उन कियं तो बात ही क्या ? वे तो किप् प्रत्यय की तरह सर्वथा नष्ट ही ठहरे। विशेष (कष्टत्व) गुण होगया है। इसी प्रकार वैयाकरण के बोध्य (अ)ता) किएर भी कष्टत्व गुण होता है। देयाकरण श्रोता होने पर दुःश्रत्व की गुणता

'अत्रास्मार्षमुपाध्याय त्वामहं न कदाचन।' अत्र दुःश्रवत्वम् । वैयाकरणो वाच्यः । एवमस्य वक्तृत्वेऽि । ग्राम्यत्वमधमोक्तिषु॥ २१॥

गुगा इत्येव । यथा मम---'एसो ससहरिबम्बो दीसइ हेर्ऋंगवीणिपिएडो व्व। एदे अस्ससमोहा पडन्ति आसासु दुद्धधार व्य ॥' इयं विदूषकोिकः।

निर्हेतुता तु रुपाते ऽर्थे दोषतां नैव गच्छति।

यथा-

'संप्रति संध्यासमयश्रक्रद्धन्द्वानि विघटयति ।' कवीनां समये ख्याते गुणः ख्यातविरुद्धता॥ २२॥

कविसमयख्यातानि च-

मालिन्यं व्योम्नि पापे, यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीत्यां रक्तो च क्रोधरागौ, सरिदुद्धिगतं पङ्कजेन्दीवरादि। तोयाधारेऽखिलेऽपि प्रसरति च मरालादिकः पक्षिसंघो ज्योतस्ना पेया चकोरैर्जल घरसमये मानसं यान्ति हंसाः १३॥ पादाघातादशोकं विकसति बकुतं योषितामास्यमधै-

का उदाहरण देते हैं — अत्रास्मार्षम् — 'अस्मार्षम् 'का दुःश्रवत्व यहां गुण है होष नहीं। गाम्यत्विभिति—अधम पुरुषों की उक्ति में ग्राम्यत्व गुण होता है यथा पुरुषो "पतत् शशघरविम्बं दश्यते हैयङ्गवीनिपरडमिव। एते श्रंशुसम्हाःपतन्त्याशि दुग्घधारा इव" यह चन्द्रमा मक्बनका गोला सा मालूम पड़ता है श्रीर ये इसने किर्णें दूध की सी धारं गिर रहीं हैं। यह विदूषक की उक्ति है। विहेंतुतेति यह वस्तु प्रसिद्ध हो तो निहें तुता को दाष नहीं माना जाता। जैसे-सम्प्रति-सन्धार समय चक्रवाकों का वियोग प्रसिद्ध ही है। कत्रीवामिति-कवि सम्प्रदाय में जोबा प्रसिद्ध हैं उनमें 'ख्यातिविरुद्धता' गुण होती है।कवि सम्प्रदायकी कुछ प्रसिद्धि । वतलाते हैं। मालिन्यमिति—आकाश और पाप यद्यपि क्रपरहित वस्तु हैं किन्तु की सम्प्रदाय में ये मिलन (काले)प्रसिद्ध हैं। यश, हास और कीर्तिकी श्वेत कहीं। श्रादि रंग के कमलों का वर्णन करते हैं। यद्यपि चलते पानी में श्रीर खार्का समार समझ समार का का वर्णन करते हैं। यद्यपि चलते पानी में श्रीर खार्की समुद्र में इन का होना असम्भव है। सम्पूर्ण जलाशयों में हंसादि पहियोका करते है। सम्पूर्ण जलाशयों में हंसादि पहियोका करते हैं। होता है। चकोरों का चिन्द्रकापान ग्रीर वर्षाकाल में हंसी का मानस्रोवा के चलाजाना एवम कारिका के चलाजाना प्रवम् कामिनियों के पदाघात से अशोकका पुष्पित होता और अ र्यूनामङ्गेषु हाराः, स्फुटित च हृद्यं विषयोगस्य तापैः।
नीवी रोलम्बमाला धनुरथ विशिखाः कौसुमाः पुष्पकेतोभिन्नं स्यादस्य बाणैर्युवजनहृद्यं स्त्रीकटाचेण तद्वत्॥२४॥

ब्रह्म्यम्भोजं, निशायां विकसति कुसुदं, चिन्द्रका शुक्लपचे, मेघध्वानेषु सत्यं अवति च शिलिनां नाष्यशोके फलं स्पात्।

त्र स्याज्जाती वसन्ते न च कुसुमफले गन्धसारद्रुमाणा-मित्याद्युन्नेयमन्यत्कविसमयगतं सत्कवीनां प्रवन्धे ॥२५॥

एषामुदाहरगान्याकरेपु स्पष्टानि ।

धनुज्यादिषु शब्देषु शब्दास्तु धनुराद्यः। ब्राह्दत्वादिबोधाय

यथा--

'पूरिते रोदसी ध्वानैर्धनुर्ज्यास्फालनोद्भवै:।'

अत्र ज्याशब्देनापि गतार्थत्त्रे धनुःशब्देन ज्याया धनुष्यायत्तीकरणं बोध्यते । त्र आदिशब्दात् 'भाति कर्णात्रतंसस्ते ।' अत्र कर्णस्थितत्त्वबोधनाय कर्णशब्दः । एवं अवणकुण्डल, शिरःशेखरप्रभृतिः ।

एवं निरुपपदो मालाशब्द: पुष्पस्रजमेवाभिधत्त इति स्थितावपि 'पुष्पमाला

मुबवासित मद्य के द्वारा बकुल (मौलसिरी) का पुष्पित होना माना जाता है। युवा और युवितयों के अङ्गों में हारों का होना और वियोग के सन्ताप से उन के हत्य का फटना वर्णित होता है। कामदेव के धनुष की प्रत्यश्चा भ्रमरों की कि मानी जाती है और उसके धनुष-वाण फूलों के होते हैं, एवम् उसके वर्षों से और स्त्रियों के कटा जों से युवक जनों के हृद्य विद्व होते हैं। कमल कि में और कुमुद रात में खिलते हैं। शुक्ल पद्म में चाँद नी होती है श्रीर मेघों के गरजने पर मोरों का नाच होता है। त्रशोक का फल नहीं होता और वमेली वसन्त ऋतु में नहीं फूलती, एवम् चन्दन के पेड़ों पर म्ब पूर्व नहीं होते इत्यादिक बातें सत्कवियों के निबन्धों में देखकर बात सत्कावया प्रविच्यादिक बात सत्कावया पर्याप्त यद्यपि **धनुष्** भी भी केन्य विद्याहरण आकर ग्रन्थों में स्पष्ट हैं। धनुष्येति ज्या यद्यपि **धनुष्** भी भी केन्य विद्याहरण आकर ग्रन्थों में स्पष्ट हैं। धनुष्येति ज्या यद्याको की ही होती है तथापि 'धनुज्यी' जहाँ पर बोलते हैं, वहाँ 'धनुष' पद ज्याको भी काम करी हुई बतलाता है जैसे पूरितेर्त । अत्रेति-यहाँ यद्यपि 'ज्या' शब्द से भी काम चल सकता था, किंतु धनुष पर चढ़ा होना 'धनुष्यी' शब्द से बोधित होता है। मातीत्यादि-यहाँ कर्ण पद से आभूषण का कान में स्थित होना प्रतीत शिताहै। अन्यथा अवतंस ही पर्याप्त था, क्योंकि कान के ही भूषण को 'अवतं-भे करते हैं। इसी प्रकार 'श्रवण कुएडल' 'शिरः शेखरादि' पद जानना। एक्स् भे करते हैं। इसी प्रकार 'श्रवण कुएडल' 'शिरः शेखरादि' पद जानना। एक्स् पि विश्व प्रकार 'श्रवण कुएडल' 'शिरः शबराप पर् विविक्ष केवल 'माला' शब्द हो तो उस से फूलों की ही माला प्रतीत होती विभाति ते ।' अत्र पुष्पशब्द उत्कृष्टपुष्पबुद्धचे । एवं मुक्ताहार इत्यत्र मुक्ताशब्दे नान्यरत्नामिश्रितत्वम् । प्रयोक्तव्याः स्थिता अमी॥ २६॥

धनुज्यीदयः सत्काव्यस्थिता एव निबद्धव्याः, न त्वस्थिता जघनकाञ्चीकाः

कङ्गगादयः।

उक्तावानन्दमग्नादेः स्यान्न्यूनपद्ता गुणः।

यथा-'गाढालिङ्गनवामनीकृतकुचपोद्भिन्नरोमोद्गमा सान्द्रस्नेहरसातिरेकविगलच्छ्रीमन्नितम्बाम्बरा । मा मा मानद माति मामलिमिति चामाच्रोल्लापिनी सुप्ता कि नु मृता नु कि मनसि में लीना विलीना नु किम्॥ अत्र पीडयेति न्यूनम् ।

#### क्वचित्र दोषो न गुणः

न्यूनपदत्वमित्येव । यथा-'तिष्ठेत्कोपवशात्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति स्वर्गायोत्पतिंता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः। तां हतुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्जातेति कोऽयं विधिः॥' अत्र प्रभाविपिहितेति भवेदिति चेत्यनन्तरं नैतद्यत इति पदानि न्यूनानि। एवं

है तथापि 'पुष्पमाला' पद् में पुष्पशब्द पुष्पों की उत्कृष्टता का बोधन करताहै। इसी प्रकार 'हार' शब्द से मोतियों का ही हार बोधित होता है, तथापिजी 'मुक्ताहार' कहें वहाँ अन्य रत्नों से अमिश्रित होना प्रतीत होता है। प्रयोक्तमा मी जो शब्द सत्काव्यों में स्थित हों वे ही इस प्रकार प्रयोगमें लाने चाहियें। श्रायुक 'जघनकाञ्ची' श्रादि नहीं बनाने चाहियें ॥ उक्ताविति स्थानन्दादि में तिम्ल मजुष्य की उक्ति हो तो 'न्यूनपद्त्व' गुण होता है। जैसे-गढेति-यहाँ 'हार्ष चरोल्लापिनीं के पूर्व 'पीड्य' पद न्यून है। 'माम् मा पीड्य' र्सारि वाक्य हैं। क्वीचिदिति-कहीं यह न्यूनपदत्व न दोष होता है न गुण क्रि तिष्ठेदिति-उर्वशी जब स्कन्द्वन में लताक्रप हो गई थी उस समय विष व्याकुल राजा पुरुरवा की यह उक्ति है। प्रर्थ—मेरे ऊपर कीप करके हैं। द्वार्थ—मेरे ऊपर कीप करके हैं। दिव्य प्रभाव से कदाचित् वह अन्तर्धान हो गई हो। दी भीति वह बहुती तक तो किएक कर है। तक तो कुपित रहा नहीं कंरती। कदाचित् स्वर्ग को उड़ गई हो। वाधानात वह रहा विकास के स्वर्ग को उड़ गई हो। वाधानात के स्वर्ग को स्वर्ग के स्वर्ग को स्वर्ण को स्वर्ग को स्वर्ग को स्वर्ण को स्वर्ग को स्वर्ण को स्वर्ग क उस का मन तो मुक्त में पूर्ण अनुरक्त है। मेरे सामने रहते हुए गर्भ भी उसका हरण पर भी उसका हरण नहीं कर सकते और वह एक दम प्रदर्भ। गई है !! यह उसकी गई है !! यह बात क्या है !!! अत्रेति—इस पद्य में 'प्रमाविधि। CC-0. Mumukshu Bhawan Vo क्रानां न्यूनतायामप्येतद्वाक्यञ्यङ्गचस्य वितर्काख्यव्यभिचारिभावस्योत्कर्षाकरणान गुणः। दीर्घं न सेत्यादिवाक्यजन्यया च मतिपत्त्या तिष्ठेदित्यादिवाक्यमतिपत्तेर्वाधः सुरमेवावभासत इति न दोषः ।

गुणः काप्यधिकं पद्म् ॥ २७॥

यथा-- श्राचरित दुर्जनो यत्सहसा मनसोऽप्यगोचरानर्थान् । तन न जाने जाने स्पृशति मनः किं तु नैव निष्ठुरताम्॥ अत्र 'न न जाने' इत्यनेनाऽयोगव्यवच्छ्रेदः । द्वितीयेन 'जाने' इत्यनेनाऽहमेव जाने इत्यन्ययोगन्यवच्छेदादिच्छित्तिविशेषः।

स के आगे और 'मवेत्' इस के आगे 'नैतयतः' ये पद न्यून हैं, किन्तु इस वाक्य का व्यक्र्म्य वितर्क नामक सङ्चारी भाव, इस न्यूनता से उत्कृष्ट नहीं होता, अतः यह गुण नहीं है और 'दीर्घ' नसा' इत्यादि वाक्य से उत्पन्न ज्ञान के द्वारा पूर्ववाक्य के ज्ञान का वाध भी स्फुट रीति से होजाता है, अतः इसे दोक भी नहीं कह सकते। उर्वशी के खोये जाने पर राजा पुरूरवा ने अपने मन में अनेक विकल्प किये हैं। पहले यह सोचा कि शायद वह कुपित हो जाने के कारण दिव्य प्रभाव से अन्तर्हित हो गई हो' इसके अनन्तर दूसरा भाव उठा कि 'वह अधिक समय तक तो कभी कोप किया नहीं करती' इससे पहली वात कर गई-'वह कोप से अन्तर्हित नहीं हुई है, क्योंकि वह इतनी देर तक कमी कोप नहां करती'। यहाँ दूसरा वाक्य पहले का खएडन करता है परन्तु निषेध स्वक कोई शब्द नहीं है, श्रौर दूसरा वाक्य हेतु रूप से गृहीत है, पत्तु उस की हेतुता का स्वक भी कोई शब्द नहीं है। 'नैतत्' श्रौर पतः' ये पद यहां न्यून हैं। परन्तु न्यूनता से न कोई उत्कर्ष होता है और न वाक्यार्थ समक्तने में कोई त्रुटि होती है। दूसरे वाक्य से पहले वाक्य का वाघ स्पष्ट समक्त में आ जाता है, अतः यह 'न्यूनपदत्व' यहां न दोष हैन गुण्।

अप इति—अधिकपदत्व कहीं गुण होता है। उदाहरण—किसी दुर्जन की हुएताका वर्णन करके उसका उपकार करने से रोकते हुए अपने मित्र के प्रति किसी महापुरुष की उक्ति है। श्रावरतीति—'दुर्जन पुरुष सहसा उन श्रनर्थकारी कामों को भी कर बैठता है जिन्हें हम कभी सोचते भी नहीं, यह बात में नहीं वानता हूँ सो नहीं, जानता हूँ, किन्तु करूँ क्या ? मेरा मन निष्ठुरता नहीं का सकता। अत्रेति—यहां 'न न जाने' इससे अयोग का व्यवच्छेद होता है। किर दूसरी वार आये हुए 'जाने' का 'श्रहमेव जाने' (मैं ही जानता हूँ) इस अर्थ में पर्यवसान होता है, श्रतः इस से श्रन्थयोग-व्यवच्छेद होने से यहां अतिश्य चमत्कार होता है। तात्पर्य-एव शब्द तीन प्रकार का होता है। एक श्योग-व्यवच्छेदक, दूसरा अन्ययोग-व्यवच्छेदक, और तीसरा अत्यन्तायोग- व्यवच्छेदक । 'अयोगमन्ययोगं च अत्यन्तायोगमेव च । व्यवच्छिनति धर्मस्य एककार स्यवञ्चद्रपा । स्रिधा मतः'। विशेषण के आगे लगाया हुआ नियमस्चक एव शब्द वस्तुगत धर्म के अयोग का व्यवच्छेद करता है जैसे किसी ने कहा कि 'शङ्कः पारहर एन' (श्रह्म सफ़ोद ही होता है) यहां विशेषसभूत पार्टर शब्द के आगे एव शब्द पढ़ा है अतः शंखरूप वस्तु से पागडर ( शुक्क ) गुण के अयोग अर्थात् अस-म्बन्ध को दूर करता है। श्रङ्कमें श्रुक्ष गुण के सम्बन्ध का जो अभाव सम्मा वित था वह इससे दूर किया जाता है। 'शङ्ख श्वेत ही होता है' अर्थात् शृह् में रवेत गुण का सम्बन्ध होता ही है। उसमें रवेत गुणका त्रयोग नहीं होता। सर्वदा योग ही रहता है। इसी प्रकार विशेष्य वाचक पद के आगे आया हुआ एव शब्द धर्म के अन्य योग का व्यवच्छेद करता है—जैसे 'पार्थ एव बतुर्धरः' ( ऋर्जुन ही धनुर्घारी है ) यहां विशेष्य पद (पार्थ) के स्रागे नियामक एव शब्द आया है-इससे धनुर्धरत्व रूप धर्म का अन्ययोग व्यविञ्जन होता है। त्रर्थात् अर्जुन के सिवा अन्य पुरुषों में धनुर्धरत्व के योग (सम्बन्ध) को यह नियम दूर करता है। इस वाक्य का यह तात्पर्य है कि अर्जुन के सिवा और किसी में घनुर्घरत्व नहीं है। घनुर्घारी यदि कोई है तो अर्जुन ही है, अन्य नहीं। एवम् क्रिया के आगे आया हुआ एव पद अत्यन्ताणेग व्यवच्छेदक होता है। जैसे—'नीलं कमलं मवत्येव' ( नीला कमल होता ही है) इस नियम से पूर्व दो नियमों की तरह यहां नील धर्मका न तो अयोगव्यक च्छेद होता है, न अन्ययोगव्यवच्छेद, किन्तु कमल में नील धर्म का अत्यन श्रयोग दूर किया जाता है। इसका यह तात्पर्य है कि कमल में नील का धर्म का अत्यन्त असम्बन्ध नहीं है उसका भी सम्बन्ध होता है। किन्तु यह वात नहीं है कि नील के सिवा ऋौर किसी गुण ( रूप ) का कमल में सम्बन्ध होता ही नहीं।

प्रकृतवाक्य 'न न जाने' में यद्यपि सालात् एव शब्द तहीं पढ़ा है तथापि 'नज्द्वयस्य प्रकृतार्थदार्ढ्यसूचकत्वम्' इस नियम के अनुसार दो 'न' शब्द होने से प्वकार के श्रर्थ में ही पर्यवसान होता है 'न न जाने' का 'जाने एव' गरी अर्थ होता है। 'जाने' पद में 'ज्ञा' धातु का अर्थ ज्ञान (गुण) है और उसके आगे आये हुए तिङ्पत्यय की आश्रय में लच्चणा है, अतः नैयायिकों के मतानुसार यहाँ 'तदिषयकज्ञानाश्रय एवाहम्' ऐसा शाब्द बोध होता है। गर्ह विशेषण (ज्ञानाश्रय) के आगे एव शब्द आया है, अतः अयोगव्यवन्त्रेरक है, इस से यह अर्थ होता है कि 'मुक्त में इस विषय के ज्ञान का असम्बर्ध ( अयोग ) नहीं है।' अर्थात् में इस बात को नहीं जानता हूं, यह बात नहीं सन नाम के खूव जानता हूं। अया पर दूसरी वार जो 'जाने' पद आया है इस है । अहम कि कि क्या की कि जाने पद आया है इस है। 'ब्रह्मेव जाने' यह अर्थ निकलता है। इस वाक्य में 'एद' शब्द विशेष्य (ब्रह्में) के अपने नाम के के त्रागे त्राया है, त्रतः श्रन्ययोगव्यवच्छेद्क है। इस से यह तात्प्य विक लता है कि 'मैं ही जानता हूँ' मेरे सिया अन्य पुरुष में इसके झात होता सम्बन्ध ( अन्यक्तीय ) — " ै सम्बन्ध ( अन्ययोग ) नहीं है । यहां चक्ता के इन वाक्यों से प्रतीत होती है कि वह प्रकृष्ट उस्त है कि वह प्रकृत दुष्ट की दुष्टता को केवल जानता ही नहीं किन्तु, उसे CC-0. Mumukshu Bhawan Varange Care

# समाप्तपुनरात्तत्वं न दोषो न गुणः क्वित्।

व्या- 'अन्यास्ता गुणरत्न-' इत्यादि ।

अत्र प्रथमार्धेन वाक्यसमाप्ताविप द्वितीयार्धवाक्यं पुनरुपात्तम् । एवं च विशे-प्रमात्रस्य पुनरुपादाने समाप्तपुनरात्तत्वं, न वाक्यान्तरस्येति विज्ञेयम् ।

गर्भितत्वं गुणः कापि

यथा— दिङ्मातङ्गघटाविभक्तचतुराघाटा मही साध्यते, सिद्धा सापि, वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः पश्यत, । विमाय प्रतिपाद्यते, किमपरं रामाय तस्मै नमो,

यस्मात्पादुरभूत्कथाद्भुतिमदं यत्रैव चास्तं गतम्॥'

अत्र वदन्त एवेत्यादि वाक्यं वाक्यान्तरमवेशात् चमत्कारातिशयं पुष्णाति ।

पतत्प्रकर्षता तथा ॥ २८ ॥

तथेति कचित् गुणः । यथा—-'चञ्चद्भुज-'इत्यादि । अत्र चतुर्थपादे सुकुमारार्थतया शब्दाडम्बरत्यागो गुणः ।

पत्येक मर्म से अच्छी तरह परिचित है, परन्तु फिर मी दुष्ट के साथ स्वयं दुष्ता करना या उसके प्रति उपकार को छोड़ देना नहीं चाहता। इससे कि अत्यन्त उदारता, दृढता, धीरता और महापुरुषता प्रतीत होती है।

गहीं गहीं विविद्यस्ति विशेष (चमत्कारातिशय) है।

स्माप्ति — कहीं समाप्तपुनरात्तस्व न दोष होता है न गुण्। जैसे पूर्वोक्त 'श्रन्या-स्ता' हत्यादि। यहाँ पूर्वार्ध में वाक्य समाप्त होगया था, फिर भी उत्तरार्ध में उसे महण कियाहै। इससे यह समस्ता चाहिए कि यदि विशेषण्मात्र का फिर उपादान किया जाय तो समाप्तपुनरा तत्त्व दोष होता है, वाक्यान्तर के उपादान में नहीं। अतिविन्ति — गार्भेतत्व कहीं गुण् होता है जैसे — दिस्मातक्षेति — जिस की चार विमाव (श्राधाटा) चारों दिग्ग जो तक पहुँची हुई हैं वह सम्पूर्ण पृथ्वी जीती वाती है!! श्रीर वह सब जीती हुई — देखो कहते र हमारे रोमाञ्च होरहे हैं — श्राध्य को देदी जाती है!!! यह श्रद्भुत कथा जिनसे उत्पन्न हुई श्रीर जिन के साथ ही श्रक्त होगई — श्रीर क्या कहें — उन श्रद्धितीय श्रद्भुतवीर परशुराम जी को सम्कार है। अतेति — यहाँ 'वदन्तः' इत्यादि वाक्य बीच में पड़ने से चमत्कारातिशय होता है। वक्ता के रोमाञ्च से श्रद्भुत रसका परिपोष श्रीर उससे उसकी परशुराम जी को में भिक्त कात होती है। पतिदिति — कहीं 'पतत् प्रकर्षता' भी गुण होती है। वक्ता के रोमाञ्च से श्रद्भुत रसका परिपोष श्रीर उससे उसकी परशुराम जी के से भिक्त कात होती है। पतिदिति — कहीं 'पतत् प्रकर्षता' भी गुण होती है। वक्ता के रोमाञ्च से श्रद्भुत रसका परिपोष श्रीर उससे उसकी परशुराम जी के से भिक्त कात होती है। पतिदिति — कहीं 'पतत् प्रकर्षता' भी गुण होती है। वक्ता के रोसाञ्च होती है। वक्ता के रोसाक्च से श्रद्ध सका परिपोष स्त्री को सक सकी परशुराम के सक सकी परशुरा वक्ता होती है। वक्ता के रोसाञ्च से श्रद्ध सका परिपोष स्त्री को सक सकी परशुरा वक्ता होती है। वक्ता के रोसाञ्च से श्रद्ध सकी परशुरा वक्ता होती है। वक्ता के रोसाञ्च से श्रद्ध सकी परशुरा वक्ता होता है। वक्ता के रोसाञ्च सक्ता होती है। वक्ता के रासाञ सक्ता सक्ता सक्ता होता है। वक्ता के रोसाञ्य सक्ता होता है। वक्ता के रासाञ सक्ता स

काचिदुको स्वशब्देन न दोषो व्यभिचारिणः। अनुभावविभावाभ्यां रचना यत्र नोचिता॥ २६॥

यत्रानुभावविभावमुखेन प्रतिपादने विशद्मतीतिर्नास्ति, यत्र च विभावानुमान कृतपुष्टिराहित्यमेत्रानुगुणं तत्र व्यभिचारिणः स्वशब्देनोक्तौ न दोषः। यथा—

'ब्रौत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना हिया तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नाताभिमुख्यं पुनः।

दृष्ट्वाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे संगमे संरोहत्युलका हरेण हसता शिलष्टा शिवायास्तु वः॥'

अत्रौत्सुक्यस्य त्वरारूपानुभावमुखेन प्रतिपादने न भटिति प्रतीतिः। त्वराया भयादिनापि संभवात्। ह्रियोऽनुभावस्य च न्यावर्तनस्य कोपादिनापि संभवात्। ह्रियोऽनुभावस्य च न्यावर्तनस्य कोपादिनापि संभवात्। साध्वसहासयोस्तु 'विभावादिपरिपोषस्य प्रकृतरसप्रतिकूलपायलादिलेषां स्वशब्दाभिधानमेव न्याय्यम्।

कठोर वर्णों का त्याग गुण होगया है। वनचिदिति - कहीं व्यिम बारी भाव का स्वश्व से कथन करना दोषनहीं माना जाता, किन्तु यहबात वहीं होतीहै, जहां प्रसुमाव श्रौर विभाव के द्वारा रचना करना उचित नहो। यत्रेति—जहां श्रनुभावं श्रौर विभावके द्वारा प्रतिपाद्न करनेसे उस भावकी स्पष्टतया प्रतीति नहीं होसकती श्रीर जहाँ विमाव, श्रनुमाव के द्वारा की गई पुष्टि का न होना ही उचित है, वर्ष व्यभिचारी भाव को उसी के वावक शब्द से प्रतिपादन करना दोषाधायक नहीं होता। जैसे—ग्रोत्सुक्येति —प्रथम समागम में उत्कर्ठा के कारण शीघता करती हूर श्रीर स्वामाविक लजाके कारण पीछे हटती हुई. फिर कुटुम्ब की स्नियों के ब्राप सममा-वुमाकर सामने लाई गई, एवम् आगे खड़े 'वर'=विरूगत की देवका भयमीत हुई और विहसित वदन महेश्वर (वर) से आलिङ्गित रोमाञ्चित पार्वती आप सब का कल्याण करे। अत्रेति-श्रोतसुक्य का श्रतुभाव त्वा (शाव्रता) हो सकती है परन्तु उसके द्वारा यहां यदि प्रतिपादन किया जायते श्रीत्मुक्य की प्रतीति जल्दी नहीं होसकती, क्योंकि त्वरा तो भगाहिक से भी होती है। वह केवल श्रीत्मुक्य का ही कार्य नहीं है, श्रतः उससे श्रीत क्यक्प कारण का वीध कारणान्तर के अनुसन्धान करने पर ही होस्छ। है, शीव्र नहीं। इसी प्रकार व्यावर्तन ( मुँह फेरना ) क्रोधादि के कार्य हो सकता है, अतः यद्यपि वह लज्जारूप संचारी भाव का अर्डभवि । तथापि लज्जाणक तथापि लजाशब्द बिना कहे ठीक प्रताति नहीं होती। साध्वस और ही को यदि विभावादि के द्वारा पुष्ट किया जाय तो वे प्रकृत रस (श्रुहार) । प्रतिकृत होजारोंने करों प्रतिकृत होजायेंगे, क्योंकि उस दशा में वे भयानक श्रीर हास्य रस की प्र करने जागेंगे. शहर की कार्य करने तरोंने, श्रङ्गार की प्रतीति नहीं करा सकेंगे। अतः उन्हें भी स्वाम

### संचार्यादेविरुद्धस्य बाध्यत्वेन वचो ग्रणः।

यया—'क्वाकार्यं शशलदमगाः क्व च कुलं—' इत्यादि । वितर्कमितिशङ्काधृतीनामभिलाषाङ्गौत्सुक्यस्मृतिदैन्यचिन्ता-

भित्तरस्कारः पर्यन्ते चिन्तापधानमास्वादपकर्षमाविर्मावयति ।

विरोऽधिनोऽपि स्मर्णे, साम्येन वचनेऽपिवा ॥ ३०॥ भवेद्विरोधो नान्योन्यमङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तयोः।

क्रमेण यथा—'त्र्ययं स रसनोत्कर्षी—' इत्यादि । अत्रालम्बनविच्छेदे रतेररसात्मतया स्मर्यमाणानां तदङ्गानां शोकोद्दीपकतया कर्णानुकूलता ।

'सरागया सुतघनधर्मतोयया--कराहृतिध्वनितपृथूरुपीठया ।

से कहना दोष नहीं, प्रत्युत उचित है। संचार्यादेशित-विरुद्ध रस के संचारी <mark>ब्रादि मार्वो का यदि बाध्य रूप से कथन किया जाय अर्थात् कह कर फिर</mark> उन्हें प्रकृत रस के किसी भाव से द्वा दिया जाय तो वह कथन दोष नहीं, गुण होता है। जैसे काकार्यमित्यादि-पूर्वोंक पद्य में विनर्क, मित, शङ्का श्रीर घृति ये सब्यद्यपि प्रशम के श्रङ्ग हैं=श्टङ्गार के विरोधी शान्त रस के पोषक हैं, तथापि वहां उनके आगे आये हुए अभिलाव के अङ्गभूत औत्सुक्य, स्मृति, दैन्य और विन्तानामक भावों से उनका तिरस्कार (श्रिमिभव) होता है। श्रर्थात् वे इनसे दब जाते हैं, श्रीर अन्त में चिन्ता ही प्रधान रहती है, श्रतः विप्रलम्म म्हारस पुष्ट होता है। विरोधिनइति-यदि विरोधी रस या भाव स्मरण किया ग्या हो - त्रथवा समानता से कहा गया हो, यद्वा किसी प्रधान ( त्रङ्गी ) खादि में दो विरोधियों को श्रङ्ग बना दिया हो तो परस्परविरोध रोपाधायक नहीं माना जाता। क्रम से उदाहरण-श्रयमिति—यहाँ आलम्बन (नायक) का विच्छेद (मरण्) हो जाने के कारण तद्विषयक रित रसं भारती होसकती, अतः स्मर्थमाण रित के जो अङ्ग (रसनोत्कर्षणीदि) हैं उन हैं शोक ही उद्दीपित होता है, इस लिये वे करुण्रस के ही अनुकूल पड़ते हैं। वा प्रहापित होता है, इस लिये व करुण्यल के बाध उसका विरोध नहीं कि साथ उसका विरोध नहीं कि साथ उसका विरोध नहीं कि साथ उसका विरोध नहीं है। साम्य से विरोधी की विवत्ता का उदाहरण देते हैं। साम्येति-जो राग= कीय या अनुराग से उत्पन्न नेत्रादि की लाली से युक्त है और (कोध पन्न में) विसके कारण पसीना छूट रहा है या जिसके देह से पसीना निकृत रहा है। भति के आधात से पृथु ऊरु स्थल को जिसके दह स पराण गा जिसने ध्वनित किया प्रम् जिसके कार्य अथवा जिसने दांतों से ब्रॉट द्बाये हैं ऐसी रुष्(कोध)

मुहुर्मुहुर्दशनविलिक्कितोष्ठया-रुषा नृपाः पियतमयेव भेजिरे॥ संभोगशृङ्गारो वर्णानीयवीरव्यभिचारिणः क्रोधस्यानु भावसाम्येन विविद्यात: ।

ध्याननिमीलनान्मुकुलितपायं द्वितीयं पुनः पार्वत्या वदनाम्बुजस्तनभरे संभोगभावालसम्। अन्यद् दूरिवकृष्टचापमदनक्रोधानलोदीपितं शंभोभिन्तरसं समाधिसमये नेत्रत्रयं पातु वः॥' अत्र शान्तशृङ्गाररौद्ररसपरिपुष्टा भगवद्विषया रतिः। यथा वा-'जिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं गृह्धन्केशेष्त्रपास्तश्चरणनिपतितो नेचितः संश्रमेण।

से राजा लोग इस प्रकार आकान्त हुए हैं जैसे अति प्रौढ़ कामातुर प्रियतम से होते हैं। क्रोध श्रौर नायिका दोनों पद्म में उक्त विशेषण शिल ए हैं। पसीना श्राह क्रोध से भी उत्पन्न होते हैं श्रीर नायिका के देह में ये ही सात्विक विकार का होते हैं। यहाँ कोध के पच्च में तृतीयान्त ऋन्य पदार्थ मानकर बहुव्रीहि समास होताहै श्रीर नायिका के पत्त में षष्ठियन्त मानकर। 'सुतं घनं घर्मतोयं यया यस्या वा' इत्यादि विग्रह होता है। अत्रेति-यहाँ वीररस का संचारी क्रोध वर्णनीय है, परन्तु वीर क्र विरोधी शृङ्गार साम्य से विवित्तित है। राग, प्रस्वेद, ऊरुताडन, स्रोष्ठ निषीज त्रादि जो कोघ के त्रजुभाव (कार्य) हैं वे ही श्रङ्गार के भी त्रजुमाव है। त्रजुमाव की समानता से श्रङ्गार विविद्यात हुआ है, अतः दोष नहीं। एकमिति-ध्यान करते के लिये मीच लेने से एक नेत्र तो प्रायः मुकुलित (बन्दकली के सहश) और दूसरापूजन करने को आई हुई पार्वती के मुख कमल और स्तनों पर संतन (संभोग शृङ्गार के भाव से मन्द्-मन्द निपतित) एवं तीसरा नेत्र घडुंग चढ़ाये हुए कामदेव के ऊपर उत्पन्न कोधानल से उद्दीप्त इस प्रकार सापिक समय मिन्न-भिन्न रसों (शान्त, श्टङ्गार श्रौर रौद्र ) में निमम्न शङ्कर के तीर्वे नेत्र तुम्हारी रज्ञा करें। विवाह होने से पूर्व पार्वती शिवजी के पूजन के लि प्रतिदिन श्राया करती थीं, उसी समय देवराज इन्द्र की श्राह्म से कामदेवन शिवजा के ऊपर चढ़ाई की थी। यहां शान्त, श्रङ्गार श्रीर रीह तीने ह परस्पर विरुद्ध हैं, किन्तु ये सब यहां प्रधानभूत शङ्कर विषयक 'रितिमाव' । अब हैं, ज्ञान को के के कि अङ्ग हैं, अतः कोई दोष नहीं । दूसरा उदाहरण-विष इति — जिनके तेत्र कार्य श्रांसुश्रों से युक्त हैं उन त्रिपुरासुर की सुन्द्रियों ने नवीन श्र<sup>प्राध करते हैं।</sup>
कामी के समान किस्सो कामी के समान जिसको अपना हाथ छूते समय भिटक दिया और जीति पाटकर हटाने एक की ले पाटकर हटाने पर भी जो वस्त्र के छोर को पंकड़ रहा है, केशों को स्पर्ध समय जिसे हटा किए हैं समय जिसे हटा दिया है, एवम् पैरों पर पड़ा हुआ होने पर भी जिसे हमा (कोध या घवराहर ) के (कोध या घबराहर) के कारण नहीं देखा, वह शिवजी के वार्ण से अप

ब्रालिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवितिभिः सास्त्रनेत्रोत्पलाभिः कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शांभवो वः शराग्निः॥'

ग्रुत्र कविगता भगविद्विषया रितः प्रधानम् । तस्याः परिपोषकतया भगवति । प्रधानम् । तस्याः परिपोषकतया भगवति । प्रधानम् । तस्याः परिपोषकतया भगवति । प्रधानम् । तस्य च कामीविति साम्यवलादायातः शृङ्गारः । एवं चाविश्रान्तिधामतया करुण्यायङ्गतैवेति द्वयोरिप करुणशृङ्गारयोभगवदुत्साहपरिपुष्टतिद्वषयरितभावास्वाद- प्रकृषकतया यौगपद्यसद्भावादङ्गत्वेन न विरोधः ।

ननु समूहालम्बनात्मकपूर्णघनानन्दरूपस्य रसस्य तादृशेनेतररसेन कथं विरोधः संभावनीयः । एकवाक्ये निवेशमादुर्भावयौगप्द्यविरहेण परस्परोपमर्दकत्वानुपपत्तेः ।

श्रीन श्रापकी रत्ता करे। त्रिपुरदाह के समय स्त्रियों ने उक्तप्रकार से हाथ में, कपड़ों में और केशादिकों में लिपटते हुए अग्नि को हटाया। क्रोध में भरी नायिका भी इसी प्रकार नायक को क्तिटक कर हटाती है। अत्रेति—इस पद्य में कविनिष्ठ शिवविषयक भक्ति प्रधानतया व्यज्यमान है। उसका पोषक है वहां भगवान शंकर का त्रिपुरध्वंस के प्रति उत्साह । किन्तु वह ( उत्साह ) अनुमाव विभाव के द्वारा पुष्ट नहीं हुआ, अतः रस (वीर) स्वरूप को प्राप्त नहीं हो पाया, केवल भावरूप ही रहा। इसी उत्साहभाव का, पित के मरने पर अगिन की आपित्त में पड़ी हुई स्त्रियों के वर्णन से प्रकट हुआ करुणरस अक है और इस करुण का 'कामीव' इस साम्य के बल से त्राया हुत्रा श्रङ्गार अक है। यहाँ 'चिप्तोहस्तावलग्नः' इत्यादि पदों से जो कार्य दिखाये हैं वे श्रीन श्रीर कामी में समान हैं, अतः इस समानता से 'कामीव' इस उपमा के कारण प्रतीत हुआ श्रङ्कार, प्रकृत करुण का अङ्ग है। एवञ्चेति-इस प्रकार किंग भी श्रन्तिम श्रास्वाद का विषय (विश्रान्तिधाम) नहीं है। वह सी उत्साह का अक है। इस कारण करुण और श्रुकार दोनों ही उत्साहपोषित भावद्विषयक रित के उपकारक हैं, अतः इनका यहां यौगपद्य ( एक काल में श्यिति ) होने पर भी विरोध नहीं, क्योंकि ये दोनों रितभाव के अङ्ग है। निविति-प्रश्न-रस तो विभावादिसमूहविषयक ज्ञानस्वरूप ही होता है अतएव पहले इसे समुहालम्बन झान रूप सिद्ध कर आये हैं और ति पूर्णधन तथा श्रानन्द् स्वरूप मानते हैं। रस श्रविकत सान्द्रानन्द् सिंहा होता है-फिर एक रसका तत्सदृश दूसरे रस के साथ विरोध के सम्भव है १ एक वाक्य में उक्त स्वक्षों का निवेश या एक ही वाक्य में ऐते दो रसों का एक समय में उक्त स्वरूपी का । पपर के नहीं सकता— किएक को पक समय में प्रादुर्भीय (व्यञ्जन) हो नहीं सकता— किए पक, प्रकासमय में प्रादुभीव (व्यक्षन ) के समय में किए पक, दूसरे का उपमर्द, कैसे कर सकता है ! जब दोनों एक समय में किए किए के स्वाहित के लो यहाँ स्रसम्भव है। गिरियत हो तभी एक दूसरे को बाध सकता है। सो तो यहाँ असम्भव है। नाप्यङ्गाङ्गिभावः । द्वयोरिप पूर्णतया स्वातन्त्रयेण विश्रान्तेः । सत्यमुक्तम्। अत प्रधानेतरेषु रसेषु स्वातन्त्र्यविश्रमराहित्यात्पूर्णरसभावमात्राच विलक्षात्य संचारिरसनाम्ना व्यपदेशः प्राच्यानाम् । अस्मित्पतामहानुजकविपिष्डतमुख्य श्रीचएडीदासपादानां तु खएडरसनाम्ना । यदाहु:-

'ग्रङ्गं बाध्योऽथ संसर्गी यद्यङ्गी स्यादसान्तरे। तत्ततः खएडरसः स्मृत: ॥' इति नास्वाद्यते समग्रं

ननु 'त्राद्यः करुगावीभत्सरौद्रवीरभयानकैः' इत्युक्तनयेन विरोधिनोत्तीः शृङ्गारयोः कथमेकत्र

'कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुषि स्मरस्मेरस्फारोड्डमस्पुलकं वक्त्रकमलम्। मुद्दुः परयन्, श्रुएवन् रजनिचरसेनाकलकलं जटाजूटप्रन्थि द्रढयति रघूणां परिवृदः॥'

इत्यादौ समावेश: । त्रात्रोच्यते—इह खलु रसानां विरोधिताया त्राविरोधिता

नापीति-दो रसों का अङ्गाङ्गिभाव भी नहीं हो सकता। जब दोनों पूर्व है ते स्वतन्त्रतापूर्वक दोनों ही पृथक् पृथक् विश्रान्त होंगे। उत्तर-सत्यमिति—वात तो ठीक है, अतएव जो रस प्रधान नहीं होते, जिनमें स्वतन्त्रता से पूर्ण विभानि नहीं होती, और जो पूर्ण रस और पूर्ण भावों से विलद्मण ( अपूर्ण ) होते हैं उन्हें प्राचीन लोग 'संचारी रस' के नाम से व्यवहार करते हैं। असादिति -हमारे (साहित्यदर्पणकार के) पितामह के माई श्रीचएडीदासजी तो इन्हें 'बएडरस' के नाम से कहते हैं। उनकी यहकारिका है — अज्ञामिति — अङ्गी अर्थात् रसादिक यदि दूसरे रस में श्रङ्गभूत हो जाय या वाध्य होकर श्राये श्रथवा संस्थि (साथी-साम्य से विविद्यति ) हो तो वह पूर्णतया आस्वादित नहीं होती श्रतः उसे 'खएडरस' कहते हैं।

निवति-प्रश्न-'श्राद्य' इत्यादि पूर्वाचार्यों के वचनों में जब यह स्पष्ट है। श्रृङ्गार रसका करुण, बीमत्स, रौद्र, वीर श्रीर भयानकरसी के साथ विरोध फिर निम्नलिखित 'कपोले' इत्यादि पद्य में श्रृङ्गार और वीर रस का सम्बंधि किया है ? कैसे कियाहै ? क्योलेइति – हाथों के बच्चे के दांत के समान कान्तियुक्त (गीर्वा) जिसके कपोल में काम से विकसित और प्रवृद्ध (स्कारोडुमर) रोमाइव हो रहा है उस सील के के कलकल शब्द को सुनते हुए श्रीरामचन्द्रजी अपने जटाजूट की प्रिधित सम्हाल कर बांध रहे हैं। स्टांड विश्व श्रीरामचन्द्रजी अपने जटाजूट की प्रिधित सम्हाल कर बांघ रहे हैं।यहां सीता को त्रालम्बन करके श्रृहार और राहती को आलम्बन करके जीवन को आलम्बन करके वीरस्स एक ही (श्रीराम) में समाविष्ट किया है। उत्तर अत्रोच्यते—यहां रसों का विरोध या अविरोध तीन प्रकार से माना जाती।

CC-0. Mumukshu Bhawan Verence Cultural गाव त्रिधा न्यवस्था। कयोश्चिदालम्बनैक्येन, कयोश्चिदाश्रयैक्येन, कयोश्चिन्नैरन्तग्रित । तत्र वीरश्वंगारयोरालम्बनैक्येन विरोधः। तथा हास्यरौद्रवीभत्सैः संभोगस्य।
गाकरणरौद्रादिभिर्विप्रलम्भस्य । त्र्याश्चयैक्येन च कीरभयानकयोः ।
गाकरणरौद्रादिभिर्विप्रलम्भस्य । त्रिधाप्यविरोधो वीरस्याद्भुतरौद्राम्याम्।
गान्तर्यविभावैक्याम्यां शान्तशृङ्गारयोः। त्रिधाप्यविरोधो वीरस्याद्भुतरौद्राम्याम्।
गृह्गारस्याद्भुतेन । भयानकस्य वीभत्सेनेति। तेनात्र वीरश्चङ्गारयोभिन्नालम्बनत्वान्न
गिरोधः।

एवं च वीरस्य नायकिनिष्ठत्वेन भयानकस्य प्रतिनायकिनिष्ठत्वेन निबन्वे भिन्नाश्र-यतेन न विरोधः । यश्च नागानन्दे प्रशमाश्रयस्यापि जीमूतवाहनस्य मलयवत्यनु-रागो दिशितः, तत्र 'त्र्यहो गीतमहो वादित्रम्' इत्यद्भुतस्यान्तरा निवेशनान्नैरन्तर्या-भावान्न शान्तशृङ्गारयोर्विरोधः । एवमन्यदिष क्रोयम्। 'पाएडुक् । मं वदनम्—' इत्यादौ

कोई रस तो ऐसे हैं जो एक आलम्बन में विरुद्ध होते हैं, कोई एक आश्रय में विरुद्ध होते हैं और कोई एक दूसरे के बाद आगे पीछे विना व्यवधान के आने से विरुद्ध होते हैं। उन में से वीर श्रीर श्रंगार एक श्रालम्बन होने पर विरुद्ध होते हैं। जिसे देखकर श्टंगार उत्पन्न हुआ है यदि उसी को आलम्ब लेकर वीर रस पैदा हो तो विरुद्ध समक्षा जाता है। किन्तु प्रकृत पद्यमें ऐसा नहीं है। यहां तोशंगार का त्रालम्थन सीता है श्रीरवीर रस का राह्म लोग। तथेति इसी कार हास्य, रौद्र श्रौरं वीभत्सरस के साथ सम्भोग शृङ्गारका श्रालम्बन की पकता में विरोध होता है। बीर, करुण, रौद्र श्रौर भयानकादि के साथ विश्र-क्षम शृक्षार का विरोध भी इसी प्रकार जानना। वीर श्रीर भयानक रसों का क ब्राश्रय में समावेश करना विरुद्ध है। निर्भय और निःशङ्क उत्साही महा-पुरुष वीर होता है। उस में यदि भय आजाय तो फिर वीरता कहां ? यहां त्र गन्द से पूर्वोक्ष 'आलम्बनैक्य' का ग्रहण है। नैरन्तर्य श्रीर विभावों की कता से शान्त और श्रृङ्गार विरुद्ध होते हैं। वीर रस का अद्भुत और रौद्र के साथ उक्त तीनों प्रकार से विरोध नहीं है। एवं श्रुहार का अद्भुत के साथ विशा मयानक का बीमत्स के साथ भी किसी प्रकार का विरोध नहीं है। पंचित-इस कारण यदि वीररस को नायक में स्थित कहा गया हो और भगानक को प्रतिनायक में स्थित, तो इन दोनों का ब्राश्रय भिन्न हो जाने से भीर विरोध नहीं होता। यश्चेति—'नागानन्द' नाटक में प्रशम के पात्र जीमूत-विद्या का मलयवता में जो अनुराग दिखाया है वहां 'ब्रहो गीतम्' इत्यादि के भारतियोग में जो अनुराग दिखाया है वहा जर्म है। शहर श्रीर शहर की नैस्कर कि जर दिया गया है, अतः शान्त और शहर के का नैरन्तर्यक्षत विरोध नहीं है। इसीप्रकार अन्यत्र भी जानना। विरुद्धरस के क्षिप्रवादिकों की अद्योषता दिखाते हैं। प्रायह्वामम्-इत्यादि पद्य में जो पाएडुता च पाएडुतादीनामङ्गभावः करुण्विप्रलम्भेऽपीति न विरोधः।

अनुकारे च सर्वेषां दोषाणां नैव दोषता॥ ३१॥

सर्वेषां दुःश्रवत्वप्रभृतीनाम् । यथा--
(एष दुश्च्यवनं नौमीत्यादि जल्पति कश्चन ।'

अत्र दुरच्यवनशब्दोऽपयुक्तः।

अन्येषामपि दोषाणामित्यौचित्यानमनीषिभिः। अदोषता च गुणता ज्ञेया चानुभयातमता॥ ३२॥

अनुभयता अदोषगुगाता ॥

इति साहित्यदर्पये दोषनिरूपयो नाम सप्तमः परिच्छेदः।

श्रादि का वर्णन है, वह कुरुण विप्रलम्भका भी श्रङ्ग हो सकता है, श्रतः विरोध नहीं है। जहां विरोधी रस के श्रसाधारण श्रङ्गों का वर्णन हो वहीं दोष माना जाता है, उभय-साधारण श्रङ्गों के वर्णन में नहीं।

यहां सब जगह रस पद से स्थायी भाव का ग्रहण जानना चाहिए म्योकि वास्तविक रस, एक तो नायकादिकों में रहता ही नहीं, वह सामाजिकों में है रहता है—दूसरे ग्रखण्ड, चिदानन्द स्वरूप रस में विरोध की सम्भावना ही नहीं होती।

अनुकारे इति—अनुकरण यदि किया हो तो कोई भी दोष, दोष नहीं होता।
जैसे एष इति—यहां 'दुश्च्यवन' शब्द इन्द्र के लिये अप्रयुक्त है, परन्तु अनु करण के कारण दोष नहीं है। अन्येशामिति—इसी प्रकार स्रोचित्य के अनुसार अन्यदोषों के अदोषत्व, गुणत्व और अदोषगुणत्व का निर्णय अन्यत्र भी बुद्धिमान् लोग स्वयं विचार के कर सकते हैं।

इति सप्तमः परिच्छेदः ।

# साहित्यदर्पगो।

अष्टमः परिच्छेदः।

गुणानाहरसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्याद्यो यथा।

गुणाः

यथा खल्विङ्गत्वमाप्तस्यात्मन उत्कर्षहेतुत्वाच्छ्रौर्यादयो गुगाशब्दवाच्याः, तथा कान्येऽङ्गित्वमाप्तस्य रसस्य धर्माः स्वरूपिवशेषा माधुर्यादयोऽपि स्वसमर्पक-प्रसंदर्भस्य काव्यव्यपदेशस्यौपियकानुगुण्यभाज इत्यर्थः । यथा चैषां रसमात्रस्य भांतं तथा दर्शितमेव ।

> लीलालोलमलोलेन मनसा संश्रितं श्रिया। श्रिया विजितकन्दर्पं नुमस्तं दर्पहं द्विषाम्॥१॥

दोषों का निक्रपण करके अब अवसर प्राप्त गुणों का निक्रपण करते हैं। क्षिति—देह में त्रातमा के समान काव्य में त्राङ्गतव त्रयीत् प्रधानता को प्राप्त बोरस उसके धर्म (माधुर्यादिक) उसी प्रकार गुण कहाते हैं जैसे आत्मा के गौर्य श्रादि को गुरा कहा जाता है। यथा बल्वित — जैसे देह में श्राकृत्व (प्रधानता ) को प्राप्त आतमा की उत्कृष्टता के निमित्त होने से शौर्यादि को गुण कहते हैं इसी प्रकार काव्य में प्रधानभूत रस के धर्म प्रर्थात् उस के स्वक्षपविशेष माधुर्यादिक भी अपने समर्पक (व्यञ्जक ) पदसमुदाय में भागतन्यवहार (व्यपदेश) के उपयोगी आनुगुरय को सिद्ध करते हैं वाल्प्यं यह है कि जो पद्समुद्राय गुणों का व्यक्षक होता है वह काव्य क्षिता है, क्योंकि गुण रस के ही धर्म होते हैं, अतः जहां गुण हैं वहां सि भी अवश्य रहेगा और रसयुक्त वाक्य को ही काव्य कहते हैं ('वाक्यं रसात्मकं कार्य रहगा आर रसयुक्त वाक्य का हा कार्य काव्य भी अवश्य कार्यम् तिए गुण्युक्त पदसमूह सरस होने के कारण काव्य भी अवश्य बिया। इस प्रकार गुण अपने व्यञ्जक पदसमूह में 'काव्य' पद के भवहार की उपयोगिनी अनुकूलता को सिद्ध करते हैं। जैसे किसी वीर पूर्व के शरीर की रचना को देखने से ही उसकी वीरता प्रतीत होने लगती विसे ही कठोर पदसन्दर्भ को देखने से ही उसका वास्ता नता. विसे ही कठोर पदसन्दर्भ को देखने से स्रोज गुण की प्रतीति होती विसे वीरता आदि आत्मा के गुण हैं देह के नहीं इसी प्रकार ओज भारिक भी रस के ही गुरा हैं पदसमुदाय के नहीं। यथानेति—गुरा जिस किए सि के धरमें माने जाते हैं सो सब प्रथम परिच्छेद में कह चुके हैं।

# माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिघा ॥ १॥

ते गुणाः । तत्र—

#### चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते।

यत् केनचिदुक्तम्—'माधुर्यं द्रुतिकारणम्' इति, तन्न । द्रवीमावस्यासाह स्त्ररूपाह्नादाभिन्नत्वेन कार्यत्वाभावात् । द्रवीभावश्च स्वाभाविकानाविष्टत्वात्मक्षा ठिन्यमन्युक्रोधादिकृतद्वीप्तत्वित्रसमयहासाद्युपहितविचोपपरित्यागेन विद्धानन्दोद्घोधेन सद्दयचित्तार्द्रपायत्वम् ।

तच्च-

संभोगे करुषे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं ऋमात्॥२॥ संभोगादिशब्दा उपलक्त्यानि । तेन संभोगाभासादिष्वप्येतस्य स्थितिइंग।

### मृर्धिन वर्गोन्त्यवर्णेन युक्ताष्टठडढान्विना

माधुर्यामिति — वे गुण माधुर्य, स्रोज स्रोर प्रसाद इन तीन भेदों में विभक्त हैं। विवेति-उन में सेचित्त का दुतिस्वरूप श्राह्वाद — जिसमें अन्तः करण दुत हो जाय ऐस अगनन्द विशेष-माधुर्य कहाता है। यतु-यह जो किसी ने कहा है कि 'माधुर्व द्वितका कारण है' सो ठीक नहीं है, क्योंकि द्रवीभाव या द्वित श्रास्वादस रूप ब्राह्माद से अभिन्न होने के कारण कार्य नहीं है। ब्रास्वाद या आहार रस के पर्याय हैं। हुति रस का ही स्वरूप है उस से भिन्न नहीं है ग्रीर रस कार्य नहीं, अत्एव दुति भी कार्य नहीं, जब दुति कार्य ही नहीं तो उसकी कारण कैसा ?

दुति का लज्ञण करते हैं — द्रवीमावश्चीते —र सकी भावना के समय वित के चार दशायें होती हैं-काठिन्य, दीप्तत्व, विच्चेप ग्रौर द्रुति। किसी प्रकार क आवेश न होने पर अनाविष्ट चित्त की स्वभाव-सिद्ध कठिनता वीर आदि स में होती है। एवं क्रोध श्रौर मन्यु ( श्रनुताप) श्रादि के कारण विवर्ध 'दीप्तत्व' रौद्र श्रादि रसों में होता है। विस्मय श्रीर हास श्रादि उपाधि से निक्त कर रो से चित्त का विचेप अद्भुत और हास्यादि रसों में होता है। इन ती दशायों-काठिन्य, दीप्तत्व और विद्योप के न होने पर रित आदि के सा से अनुगत, त्रानन्द के उद्युद्ध होने के कारण सहदय पुरुषों के विका पियलमा जाना ( त्रार्द्रपायत्व ) द्वीभाव या 'द्रुति' कहाता है।

तचेति-माधुर्य का विषय बताते हैं। सम्मोगे इति-सम्भोग शृहार, कि विप्रलम्म श्रङ्गार श्रीर शान्त रसों में कमसे 'माधुर्य' बढ़ा हुआ रहती। शान्त रस में सब से अधिक माधुर्य होता है। यहां सम्भोगादि पद उपति त्रतःसम्मोगामासादि में भी माधुर्य होता है। यहां सम्भोगादि पद् उपहर्ति। प्रतिकार कार्यामा स्थापित कार्या मूर्मीति। द ठ इ ह से सि

#### रणी लघू च तद्व्यको वर्णाः कारणतां गताः॥३॥ अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा।

यथा-

श्चिनङ्गमङ्गलभुवस्तदपाङ्गस्य भङ्गयः। जनयन्ति मुहुर्यूनामन्तःसन्तापसन्ततिम्॥

ग्या वा मम—

ग्वताकुञ्जं गुंझन्मदवदिलपुञ्जं चपलयन्

समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन् ।

महन्मन्दं मन्दं दिलतमरिवन्दं तरलयन्

रजोवन्दं विन्दन् किरित मकरन्दं दिशि दिशि ॥'

श्रोजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ॥ ४ ॥

वीरवीभत्सरीद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु ।

अस्यौजसः । अत्रापि वीरादिशब्दा उपलक्त्यानि । तेन वीरामासादावप्य-स्यावस्थितिः ।

वर्ष, ब्रादि में, वगों के अन्तिम वर्षों (अम ङ स न ) से युक्त होने पर-प्रधात अपने पूर्व अपने वर्ग के पंचम अतर से संयुक्त होनेपर माधुर्य के ब्यक्षक होते हैं। सी प्रकार लघु 'र' श्रीर 'सं भी माधुर्य के व्यक्षक वर्ष हैं। एवम् अवृत्ति= समास-रहित अथवा अल्पवृत्ति = छोटे छोटे समासौ वाली मधुर रचना भी मापुर्य की न्यक्षक होती है। उदाहरण-अनक्षेति-कामदेव की मंगलभूमि उस गियिका के कटा चौं की तरंगें यौवनशाली पुरुषों के अन्तः करण में बार बार बन्ताप को विस्तारित करती हैं। इस श्लोक के पूर्वार्ध में ङ श्रीर ग का स्योग एवं उत्तरार्ध में न श्रीर त का संयोग माधुर्य का व्यक्षक है। प्रन्थकार अपना बनाया दूसरा उदाहरण देते हैं -- लतेति -- गुआर करते हुए मस्त भ्रमर-वंशें से युक्त, लता कुंज को चञ्चल करता हुआ, देह का आलिक्नन करके अति रीव अनक (काम) को बढ़ाता हुआ, विकसित कमल को घीरे घीरे कम्पित कता हुआ और पुष्प रजको धारण किये हुए मन्द् मन्द् चलता हुआ यह मलय-समीर प्रत्येक दिशा में पुष्प रस की ब्रिटकाता है। इस पद्य में ज ज, ज च, ङ ा प्राप्त म पुष्प रस का छिटकाता छ। रस स्लोक के अन्त्य में क्षिकित है। इस स्लोक के अन्त्य में 'विशिविशि' के सब लघु और अप्रीट वर्णों के कारण बन्ध में शिथिलता भागार है। यदि इसके स्थान पर 'प्रतिदिशम्' पाठ कर दें तो यह 'हतवृत्तता' दीष दूरहो सकता है। श्रोजइति-चित्त का विस्तारस्वरूप दीप्तत्व 'श्रोज' कहाता है। बीर, वीभत्स और रौद्र रसों में क्रमसे इसकी अधिकता होती है। यहाँ भी भीर आहि कार्या स्मान शीर आदि शब्द उपलच्च हैं, अतः वीराभास आदि में भी इसकी स्थिति जाननी वर्गस्याचतृतीयाभ्यां युक्ती वर्णी तदन्तिमी ॥ ४॥ उपर्यधो द्वयोर्वा सरेफाष्टठडढैः सह। शकारश्च षकारश्च तस्य व्युक्जकतां गताः ॥ ६॥ तथा समासो बहुलो घटनौद्धत्यशालिनी। यथा—'चञ्चद्भुज—' इत्यादि ।

चित्तं व्यामोति यः चिप्रं शुब्केन्धनमिवानतः॥ ७॥ स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।

व्याप्तोति आविष्करोति।

शब्दास्तद्वश्वका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः॥ ८॥ यथा---

'सूचीमुखेन सकृदेव कृतव्रणस्त्वं मुक्ताकलाप, लुठसि स्तनयोः पियायाः। बागौः स्मरस्य शतशो विनिकृत्तमर्मा स्वप्नेऽपि तां कथमहं न विलोकयामि ॥'

एषां शब्दगुण्तवं च गुण्यृत्त्योच्यते बुधैः।

शरीरस्य शौर्यादिगुणयोग इव इति शेषः ।

चाहिये। वर्गस्येति — वर्गों के पहले श्रदार के साथ मिला हुत्रा उसी वर्ग का दूसरा अत्तर और तीसरे के साथ मिला हुआ उसी का अगला (चौषा) अत्तर तथा ऊपर या नीचे अथवा दोनों ओर रेफ से युक्त अत्तर एवं टठह ढ्रा और ष ये सब त्रोज के व्यक्षक होते हैं। इसी प्रकार लम्बे लम्बे समास श्रीर उद्धत रचना श्रोज का व्यञ्जन करती है। उदाहरण जैसे पूर्वीक 'चश्चव्युज' इत्यादि । चित्तमिति-जैसे सूखे ईंधन में श्राग्न सट से व्याप्त होती है। इसी प्रकार जो गुण चित्त में तुरंत व्याप्त हो उसे 'प्रसाद' कहते हैं। यह गुण समस्त रसों श्रीर सम्पूर्ण रचनाश्रों में रह सकता है। शब्दा इति—सुनते ही जिनका त्रर्थं प्रतीत होजाय ऐसे सरल और सुबोध पद 'प्रसाद' के व्यक्त होते हैं। जैसे स्वी-हे मुक्ताकलाप, ( मुक्ताहार ) एक तुम हो जो केवल सुर्व नोंक से एक ही बार विद्ध होने पर सदा प्रिया के स्तनमण्डल पर लोकी रहते हो श्रीर एक मैं हूँ जो कामदेव के श्रसंख्य बाणों से सैकड़ों बार ममहित होने पर भी कभी स्वप्न तक में उसके दर्शन नहीं पाता !!! इस पद्य के सर्व पद प्रसाद के व्यक्षक हैं। एषामिति—इन माधुर्यादिकों को शब्द की गुष अथवा अर्थ का गुण लत्तणा से कहा जाता है। जिन आवार्यों ने इन्हें शब्द और अर्थ का गुण कहा है वह लत्गा से प्रयोग जानना । जैसे शौर्य आत्मा की है। धर्म है परन्त क्यी कर्ण करा है धर्म है परन्तु कभी कभी 'त्राकार एवास्यश्रदः' (इस के आकार में ही वीरभाव है) पेसा लज्ञणा से प्रयोग होता है उसी प्रकार रस के धर्म गुणों को भी कार्य है शरीरस्थानीय शहर की कि भी कार्य प्रकार रस के धर्म गुणों को भी कार्य है गरीरस्थानीय गुब्द और अर्थ में स्थित कहा जाता है। प्राचीन आवायी के रही

#### रतेषः समाधिरौदार्थे प्रसाद इति ये पुनः ॥ ६ ॥ गुणारिचरन्तनैरुक्ता स्रोजस्यन्तभवन्ति ते ।

ब्रोजिस भक्त्या त्र्योजःशब्दवाच्ये शब्दार्थधर्मविशेषे । तत्र श्लेषो बहूनामपि बहुनामेक पदवद्भासनात्मा । यथा—

<del>'उन्मजजलकुञ्जरेन्द्ररभसास्पालानुबन्धोद्धतः</del>

सर्वाः पर्वतकंदरोदरभुवः कुर्वन्मतिष्वानिनीः। उच्चैरुच्चरति ष्वनिः श्रुतिपायेन्माथी यथायं तथा प्रायमेङ्खदसंख्यशङ्खधवला वेलेयमुद्गच्छति॥'

अयं वन्धवैकट्यात्मकत्वादोज एव। समाधिरारोहावरोहक्रमः। आरोह उत्कर्षः अवरोहोऽपकर्षः, तयोः क्रमो वैरस्यतानावहो विन्यासः। यथा-्'चञ्चद्भुज-' इत्यादि। अत्र पादत्रये क्रमेण बन्धस्य गाढता। चतुर्थपादे त्वपकर्षः।तस्यापि च

गृद्ध के गुण और दस अर्थ के गुण माने हैं। उनको पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं, इस अभिप्राय से पूर्वाचार्योक्त गुणों का उक्त तीन गुणों में यथासम्भव अन्तर्भाव दिखाते हैं—श्लेषहति—श्लेष, समाधि, औदार्य और प्रसाद ये जो शब्द के गुण प्राचीनों ने माने हैं वे सब ओज के अन्तर्गत होजाते हैं। यहां 'ओज' पद लज्जा से शब्द के धर्म विशेष को कहता है। ओजःशब्द वाव्य उसी धर्म में उक्त गुणों का अन्तर्भाव जानना। क्योंकि पूर्वोक्त चिक्त विस्तार कप ओज में श्लेष आदि शब्द के गुणों का समावेश नहीं हो सकता "शब्दार्थभिविशेषे" इस मूल अन्य में—'अर्थ' पद अनावश्यक है, क्योंकि शब्द के श्लेषादि गुणों का अर्थ के धर्म में अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

वहनामिति—अनेक पदों का एक पदके समान मासित होना श्लेष कहाता है।
प्राचीन सम्मत श्लेषका उदाहरण उन्मज्जिदिति—प्रत्यकाल के समुद्र का वर्णन
है। उमरते हुए बड़े २ जलीय हाथियों के सवेग उछलने से उद्धत और सब
पहाड़ों की कन्दराओं में प्रतिध्वनि पैदा करने वाली, कानों के पदोंको फाड़ने
वाली यह घोर ध्विन उठ रही है, इस से मालूम होता है कि अधिकता से
श्मते हुए असंख्य मरे हुए शंखों से शुक्ल यह समुद्र की वेला उमड़ रही है
अर्थात समुद्र मर्थादा छोड़ कर उदीर्ण होने लगा है। इस पद्यका वन्ध (रचना)
विकट है। और वन्ध की विकटता ओज ही है, अतः श्लेष गुण ओज से
शक् नहीं। दूसरा शब्द गुण 'समाधि' माना है। आरोह, और अवरोह
उतार चढ़ाव) के कम को समाधि कहते हैं। आरोह उत्कर्ष को कहते हैं
और अपकर्ष का नाम अवरोह है। इन दोनों के विरस्तता न पैदा करने वाले
विन्यास (रचना) को कम कहते हैं। जैसे चश्रदगुज इत्यादि—इस पद्य के तीन
विश्वास (रचना) को कम कहते हैं। जैसे चश्रदगुज इत्यादि—इस पद्य के तीन
विश्वास (रचना कम से चढ़ती गई है और चौथे चरण में कुछ उतरी है, पर
वह भी तीव प्रयत्न से उद्धार्य होने के कारण अर्थात् महा प्राण प्रयक्ष के

तीव्रप्रयत्नोचार्यतया त्र्योजस्विता । उदारता विकटत्वलच्चगा । विकटत्वं पदानां वृत्यत्प्रायत्वम् ।

यथा-

'सुचरणविनिविष्टैन् पुरैर्नर्तकीनां भाषाति रिणतमासीत्तत्र चित्रं कलं च।'

अत्र च तन्मतानुसारेण रसानुसंधानमन्तरेणैव शब्दभौढोक्तिमात्रेणौजः। मसह अोजोमिश्रितशैथिल्यात्मा यथा—

'यो यः शस्त्रं बिमर्ति स्वभुजगुरुमदः पाएडवीनां चम्नाम्' इति।
माधुर्यव्यञ्जकत्वं यदसमासस्य दशितम् ॥ १०॥
पृथक्षपदत्वं माधुर्यं तैनेवाङ्गीकृतं पुनः।

यथा-'श्वासानंगुञ्चति-'इत्यादि ।

अर्थव्यक्तेः प्रसादाख्यगुणेनैव परिग्रहः॥ ११॥ अर्थव्यक्तिः पदानां हि क्रिटित्यर्थसमर्पणम्।

स्पष्टमुदाहरराम् ।

श्रवरों से युक्त श्रीर कुद्ध भीमसेन के सवेग उचारण होने के कारण श्रोज के ही श्रन्तगंत जानना। उदारता (श्रीदार्य) विकटत्व का नाम है श्रीर विकटत्व पदों की नाचती हुई सी दशा को कहते हैं। जहां पए नाचते से हों—सब के सब अममुमाते हुए हों वहां 'उदारता' गुण माना है। जैसे सुचरणेति—नाचती हुई वेश्याश्रों के रमणेय चरणों में स्थित, नूपुरों से वहां विचित्र श्रीर मनोहर अनकार का शब्द (रिण्त) हुआ। श्रत्रचेति—इस पद्य में वामन श्रादि पूर्वाचायों के मत से सी उसन्धान के विनाही शब्दों की श्रीढि (उत्कृष्टता) मात्र से श्रीजकी प्रतीति होती है।

त्रोज से मिले हुए शैथिल्य को प्रसाद माना है। जैसे 'योयःशक्षम्' इत्यादि पद्य। ये दोनों भी पूर्वोक्त स्रोज के अन्तर्गत हैं। माधुर्येति-प्राचीनों ने 'प्राधुर्य नामक एक शब्द का गुण माना है और उसका लक्षण किया है 'पृथक्षह स्वाधुर्य, पहले जो असमास (समास के अभाव) को माधुर्य गुण का ध्यक्त माधुर्य, पहले जो असमास (समास के अभाव) को माधुर्य गुण का ध्यक्त वताया है उसी से अक्षीकृत जानना। यह उस से भिन्न नहीं है, अतः उसी स्वीकार से इसका स्वीकार समकता। जैसे 'श्वासान,' इत्यादि पूर्वोक प्रध्यक्तिति-पदों का कर से अर्थ को व्यक्त करना 'अर्थव्यक्ति' नामक गुण अर्थविति-पदों का कर से अर्थ को व्यक्त करना 'अर्थव्यक्ति' नामक गुण वताया है—सो यह गुण पूर्वोक्त 'प्रसाद' गुण अर्थात् इसके व्यक्त ग्रहीं ही अन्तर्गत है, अतः इसे 'पृथक् मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

### ग्राम्यदुःश्रवतात्यागात्कान्तिरच सुकुमारता॥ १२॥

अङ्गीकृतेति सम्बन्धः । कान्तिरौज्ज्वल्यम् । तच हालिकादिपदिवन्यासवैप-शिवेन लौकिकशोभाशालित्वम् । सुकुमारता अपारुष्यम् अनयोरुदाहरगो स्पष्टे ।

क्वविद्रोषस्तु समता मार्गाभेद्स्वरूपिणी। अन्यथोक्तगुणेदबस्या अन्तःपातो यथायथम्॥ १३॥

ममुगोन विकटेन वा मार्गेगोपक्रान्तस्य संदर्भस्य तेनैव परिनिष्ठानं मार्गामेदः। स च स्वचिद्दोषः । तथाहि—

<mark>'ब्रव्यूढाङ्गमरूढपाणिजठराभोगं,</mark>च विश्रद्दपुः। पारीन्द्र: शिशुरेष पाणिपुटके संमातु किं तावता। उद्यद्दुर्धरगन्धसिन्धुरशतपोद्दामदानार्णव-

स्रोतःशोषगारोषगात्पुनरितः कल्पाग्निरल्पायते ॥'

<mark>गम्पेति-प्राम्यत्व दोष के परित्याग से प्राचीन-सम्मत'कान्ति' नामक शब्द गुण</mark> श्रीर'दुःश्रवत्व' नामक दोष के परित्याग से 'सुकुमारता' नामक शब्द-गुण का सीकारजानना । उज्ज्वलताको कान्ति कहते हैं सो इलवाहक=गँवार श्रादमियों के व्यवहृत पदों के परित्याग करने से लौकिक शोभा से युक्त होना ही कव्लता कहाती है, स्रतः स्राम्यत्व दोषके छोड़ने से ही वह गतार्थ है। पारुष्य (कठोरता) न होने को सुकुमारता कहते हैं। इन दोनों के उदाहरण स्पष्ट है। कार्तार्थं आदि कठोर पद और कटि आदि प्राम्य पदों के अप्रयोग से ये गुण उत्पन्न होते हैं।

विविद्दोषइति-मार्गाभेद रूप समता कहीं दोष हो जाती है। जहां दोष नहीं वहां प्रसाद, माधुर्य और श्रोज में उसका श्रन्तर्भाव हो जाता है। मस्येनेति-कीमत अथवा तीव रचना से प्रारम्भ किये हुए प्रकरण को उसी स्वरूप में समाप्त करना मार्गा-भेद् कहाता है। वह कहीं दोष होता है। जैसे अन्यूदाक्तमिति-का पर पेट आदि अझों के अञ्चूढ (अपुष्ट) होने पर यह नन्ना सा शेर का वहा मले ही हाथ के संपुट में समा जाय, इससे क्या होता है ? किर जवान हिएर तो सैकड़ों मदान्ध हाथियों की प्रवृद्ध मद धारा को सुबाने वाले कोष से भीषण इस क्र्से प्रलयकाल की ग्राग्ति भी ग्रहण ही जचेगी। विवाधिद्वविवान्दुर्धराणान्दुर्दमानां गन्धसिन्धुराणां मदान्धगजानां दानार्णवस्य मदसागरस्य वित्रां प्रवाहाणां शोषणां रोषणां कोघो यस्य तस्मात्—'इतोऽस्मात्' पुनर्योवनदशायामित्यर्थः । सि एक के कर्ता करः रचना ति पद्य के पूर्वार्ध की रचना कोमल है। परम्तु उत्तरार्ध में उसे बदल कर रचना कीर करने के कीर करदी है। उत्तरार्थ में उद्धत् अर्थ (क्रूर केसरी) वाच्य है, अतः सुकुमार विना का परित्यान करना गुणही है। श्रीर जहां पेसा स्थल नहीं है—जहां मार्ग भी भेद करता आवश्यक नहीं है—वहां इस समता का माधुर्याद गुणों में ही

अत्रोद्धतेऽर्थे वाच्ये सुकुमारवन्धत्यागो गुण एव । अनेत्रंविधस्थाने माधुर्थाः दावेवान्तःपातः । यथा-- 'लताकुत्रं गुञ्जत्-' इत्यादि ।

त्रोजः प्रसादो माधुर्यं सौकुमार्यमुद्रारता। तद्भावस्य दोषत्वात्स्वीकृता अर्थगा गुणाः॥ १४॥

ब्रोजः साभिमायत्वम् । प्रसादोऽर्थवैमल्यम् । माधुर्यमुक्तिवैचित्रयम् । सौहः मार्यमपारुष्यम् । उदारता अप्राम्यत्वम् । एषां पञ्चानामप्यर्थगुणानां यथाक्रमम् निराकरणेनैवाङ्गीकारः। ष्टार्थोधिकपदानवीकृतामंगलरूपारलीलग्राम्यत्वानां स्पष्टान्युदाहरगानि ।

अर्थव्यक्तिः स्वभावोक्त्यालंकारेण तथा पुनः। रसध्वनिगुणिभूतव्यङ्ग्यानां कान्तिनामकः ॥ १५॥

अन्तर्भाव होता है। सुकुमार बन्ध होने पर माधुर्य में श्रौर विकट वन्ध होने पर श्रोज में इसका श्रन्तर्भाव होता है। इस प्रकार दसो शब्द गुणीं का श्रन भीव दिखाकर श्रव प्राचीन सम्मत अर्थ गुणों का श्रन्तभीव दिखाते हैं। ग्रेन् <sup>इति-</sup>त्रोज, प्रसाद, माधुर्य, सौकुमार्य श्रौर उदारता इनके श्रभाव की दोर्पोर्य गिनती की गई है, अतः इन्हें गुणपत्में स्वीकृत समसना। इनको यद्यपि नवीनी ने पृथक् नहीं माना है, परन्तु इनके अभाव को दोष माना है। पदों का सामि प्राय होना किसी विशेषमाव का सूचक होना — स्रोज कहाता है। 'श्रपुरार्थत' नामक दोष के परित्याग से इसका ब्रह्म होता है। विना प्रयोजन के कोई पर रखने से अपुष्टार्थत्व दोष होता है। जब इस दोष का परित्याग किया जाया तो पद् । की सामिप्रायता अपने आप आजायगी, अतः 'त्रोज' नामक अर्थ गु के पृथक् मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। अर्थ की विमलता को 'प्रसार कहते हैं। अधिकपदता दोषके परित्यागसे इसका प्रहण होता है। किसीण का अधिक होना एक प्रकार का मल होता है, उसका परित्याग करने से है विमलता श्राजाती है। उक्ति की विचित्रता-कथन की श्रपूर्वता-की पार्ष माना है। यह 'श्रनवीकृतत्व' दोष के परित्याग से गृहीत होता है। उसे परित्याग करने पर उक्तिवैचित्र्य आही जाता है। कठोरता नहींने की सी मार्यं कहते हैं। यह अमंगलव्यक्षक अश्लीलत्व के परित्याग से ही गतार्थ है। अमङ्गलन्यक्षक अश्लील अर्थ में कठोरता रहती है। उसको छोड़ने से कठोता छट जाती है कीन बूर जाती है और सुकुमारता त्रा जाती है। त्राम्यत्व को उदारता मा है सो 'ग्राम्यत्व' दोष के परित्याग से गतार्थ जानना। इनके उदाहरण की या चुके हैं।

त्रर्थव्यक्तिः—प्राचीन त्राचार्यं यस्तु के स्वभाव की स्फुटता की 'ब्रार्थवर्षि'। नामक अर्थालङ्कार मानते हैं। यह 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार के ही अन्तात है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ग्रङ्गीकृत इति संबन्धः । त्र्यर्थन्यिकतर्वस्तुस्वभावस्फुटत्वम् । कान्तिदीप्तरसत्वम् ।
स्रि उदाहरणे ।

रतेषो विचित्रतामात्रमदोषः समता परम्।

रहेषः क्रमकौटिल्यानुल्यणात्वोपपत्तियोगरूपघटनात्मा । तत्र क्रमः क्रियातित्रं क्रमकौटिल्यम्, अपसिद्धवर्णनिवरहोऽनुल्वणात्वम्, उपपादकतित्रं विद्यम्चेष्टितं कौटिल्यम्, अपसिद्धवर्णनिवरहोऽनुल्वणात्वम्, उपपादकतित्रं विद्यमात्रम्। यानः संमेलनं स एव रूपं यस्या घटनायास्तद्रपः
तित्रं वैचित्र्यमात्रम्। अनन्यसाधारणरसोपकारित्वातिशयविरहादितिभावः। यथा—
त्रं वैकासनसंस्थिते पियतमे—' इत्यादि ।

अत्र दर्शनीदयः क्रियाः, उभयसमर्थन रूपं कौटिल्यम्, लोकसं व्यवहार रूपमनुल्य-शतम्, 'एकासनसंस्थिते', 'परचादुपेत्य', 'नयने पिधाय', 'ईषद्व क्रितकंधरः' शि चोपपादकानि, एषां योगः । अपनेन च वाच्योपपत्तिप्रहण्यप्रतया रसास्वादो व्यहितप्राय इत्यस्यागुणता ।

समता च प्रक्रान्तपकृतिपत्ययाविपर्यासेनार्थस्य विसंवादिताविच्छेदः स च क्रममङ्गरूपविरह एव स्पष्टगुदाहरगाम् ।

र्षं रसकी 'प्रदीसता' को 'कान्ति' माना था - वह रसध्वनि श्रीर गुणीभूत व्य-ह्यों के अन्तर्भूत है। रनेष इति—रुलेय केवल विचित्रता है। रस का विशिष्ट उप-कारक न होने से इसे गुण नहां कहसकते, श्रीर 'समता' केवल दोषामाव रूप है, मतः इस को भी पृथक् गुण मानना आवश्यक नहीं। क्रम, कौटिल्य, अनुलव्यत्व श्रीर उपपत्ति इन के सम्मेलनस्वरूप रचना को 'श्लेष' कहते हैं। इन में से कियात्रों की परम्परा को कम कहते हैं। चतुर चेष्टात्रों का नाम कौदिल्य । अप्रसिद्ध वर्णन कान रखना अनुस्वणत्व कहाता है। काम को सिद्ध तिवाली युक्तियों का नाम उपपित्त है। इन सब का मेल जिस में हो करवना श्लेष कद्दाती है। सो यह श्लेष वैचित्र्यमात्र है। रस का अवाधारण उपकारकत्व इस में नहीं है और यही एक अतिशय (असा-भाषायमं ) गुणत्व का प्रयोजक होता है। जो रसका स्रसाधारण उपकारक ति है वही गुण माना जाता है। यह वात इस श्लेष में है नहीं, श्रतः यह एक नहीं होसकता। श्लेष का उदाहरण—'हब्द्वैक' इत्यादि प्वोंक पद्य क्षित्रमें दर्शन श्रादि कियायें हैं। दोनों स्त्रियों को प्रसन्न करना कौटिल्य है। कि व्यवहार का ही कथन करना 'श्रमुख्यणत्व' है। एक श्रासन पर बैटा ित्र प्राप्त का हा कथन करना 'त्रानुख्वणत्व हा का नित्र मंदना, थोड़ा किया का ) पीछेसे त्राना, (नायक का ) नेत्र मंदना, थोड़ा भा धुमाना आदि कियायें उपपादक (साधक) हैं। इन सबका यहां योग ास शतेष के द्वारा वाच्य अर्थ के प्रह्ण में ही बुद्धि व्यप्न रहती है, रसा-भार भायः व्यवहित होजाता है, अतः इसे गुण नहीं मानते। समताचेति। भारत व्यवहित होजाता है, अतः इसे गुण नहा नागः को 'समता' किये हुए प्रकृति प्रत्यय आदि में परिवर्तन के परित्याग को 'समता'

#### न गुण्तवं समाधेश्र

समाधिश्चायोन्यन्यच्छायायोनिरूपद्विविधार्थदृष्टिरूपः । तत्रायोनिर्शे यग् 'सद्योमुरिडतमत्तहूरंगचिबुकपस्पर्धि नारङ्गकम्।'

अन्यच्छायायोनिर्यथा-

'निजनयनप्रतिबिम्बैरम्बुनि वहुशः प्रतारिता कापि । नीलोत्पलेऽपि विमृशति करमपीयतुं कुसुमलावी ॥'

अत्र नीलोत्पलनयनयोरतिप्रसिद्धं सादृश्यं विच्छितिविशेषेण निवद्भ। आत चासाधारणशोभानाधायकत्वात्र गुणत्वम् किंतु काव्यशरीरमात्रनिर्वर्तकत्वम्।

कचित् 'चन्द्रम्' इत्येकिस्मिन्पदार्थे वक्तव्ये 'अत्रेर्नयनसमुत्थं ज्योतिः' हि वाक्यवचनम् कचित् 'निदाघशीतलहिमकालोष्णसुकुमारशरीरावयवा योषित्'क्ष

माना है। यदि प्रकान्त प्रकृति, प्रत्यय आदि में विपर्यास करदिया जाय ते भिन्न शब्द के द्वारा बोधित होने के कारण वही अर्थ कुछ भिन्न सा प्रतीत होने लगता है, अतएव उसमें विसंवादिता (भिन्नता) सी आ जाती है। श्रीर यदि प्रकृति प्रत्यय श्रादि न बद् ने जायँ तो इस 'श्रविपर्यास' के काल अर्थ की विसंवादिता का विच्छेद होता है। जैसे —'उदेति सविताप्रा'। आगे यदि 'शोण प्वास्तमृच्छति' कर दिया जाय तो 'समता' जात रहेगी, जोकि यहां त्रावश्यक है। यह 'समता' 'भग्नप्रकम' नामक दोष ब अभाव ही है, अतिरिक्त कुछ नहीं। न गुणलामिति—'समाधि' भी कोई गुण नहीं होसकता। 'समाधि' दो प्रकारकी मानी है। एकतो 'त्रयोनि' प्रयोद जिस में अर्थ की विलकुल नई कल्पना की गई हो, दूसरी 'अन्यच्झायायोविं श्रयात् जिस श्रथं में दूसरे श्रथं की छाया लीगई हो। श्रयोनि का उदाहरण जैसे संबंदि-किसी ने नारक्षी को देखकर कहा कि हाल के मुंडे हुए गीर की ठोड़ी के समान लाल लाल नारक्षी हैं। अन्यच्छायायोनि अर्थ का उदाहरी निजेति-कोई मालिन पानी में श्रपने नेत्रों की छायासे बहुतवार घोता चुकी है। खिला कमल समसकर उसे तोड़ने को हाथ चलाया, पर पींहें हैं। तो कुछ नहीं, तब पता चला कि अपने नेत्र की छाया को ही कमल समस् तोइने चली थी, स्रतः स्रव वस्तुतः खिले कमल के ऊपर हाथ डालने में ठिठकती है। इस पद्य में नील कमल श्रीर नेत्र की श्रत्यंत प्रसिद्ध तुल्यता ही विशेष क्रान्यंत प्रसिद्ध तुल्यता ही ही विशेष चमत्कारक बनाया गया है। यह 'समाधि' असाधारण ग्रीमार्थ आधायक कर्म श्राघायक नहीं, श्रत एव गुण भी नहीं, किन्तु काव्य के श्र<sup>ीरभूत</sup> श्र्ण की साधक होती है। उन्हें की साधक होती है। काचिदिति—कहीं एक 'चन्द्र' पद के अर्थ की बत्ती किये 'श्रित के नेज के नेज के लिये 'त्रित्र के नेत्र से उत्पन्न ज्योति' इतना बड़ा वाक्य बोला जाता है। की कहीं 'त्रीषाकाल में जीता की की कहीं "प्रीष्मकाल में शीतल और शीत काल में उष्ण सुकुमार श्रीर वि सुन्दरी" इतना बड़ा वाक्यार्थ बोलने की जगहं केवल एक पद 'वर्षी वाक्यार्थं वक्तव्ये 'वरवर्शिनी' इति पदामिधानम्। कचिदेकस्य वाक्यार्थस्य किंचि-द्विशेषितवेशादनेकैर्वाक्यैरभिधानमित्येवं रूपो व्यासः। कचिद् बहुवाक्यमितपाद्यस्यैक-वाक्येनाभिधानमित्येवं रूपः समासश्च। इत्येवमादीनामन्यैरुक्तानां न गुण्यत्वमुचितम्, व्यित् वैचित्र्यमात्रावहत्वम् ।

तेन नार्थगुणाः पृथक् ॥ १६॥

तेनोक्तपकारेगा अर्थगुणा अगेजःममृतयः मोकाः॥

इति साहित्यदर्पेणे ग्रुणविवेचनो नामाष्टमः परिच्छेदः ।

बोल दिया जाता है। कहीं एक ही वाक्यार्थ को कुछ कुछ विशेषतायें दिला कर अनेक वाक्यों से कहा जाता है इस प्रकार का व्यास (अर्थ का फैलाना) और कहीं कहीं अनेक वाक्यों के प्रतिपाद्य अर्थ को एक ही वाक्य से कहकर जो समास (संज्ञेप) किया जाता है, ये दोनों (व्यास, समास) तथा इन के सहश और प्राचीन सम्मत विचित्रतायें गुण नहीं कहा सकतीं। ये तो केवल वैचित्रय हैं, रसके प्रधान उपकारक नहीं। तेनेति-इस लिये अर्थ के गुण भी पृथक नहीं माने जाते। उक्त प्रकार से 'स्रोज' आदि अर्थ-गुणों के पृथक मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

इति विमलायामष्टमः परिच्छेदः समाप्तः।

# साहित्यद्पेगो।

नवमः परिच्छेदः।

अयोदेशक्रमपातमलंकारनिरूपणं बहुवक्तव्यत्वेनोल्लङ्ख्य रीतिमाह-पद्संघटना रीतिरङ्गसंस्थाविंशेषवत्। उपकर्जी रसादीनां

रसादीनामर्थाच्छ्रब्दार्थशरीरस्य काव्यस्यात्मभूतानाम् ।

सा पुनः स्याच्चतुर्विधा ॥ १ ॥

वैद्भी वाथ गौडी च पाश्वाली लाटिका तथा।

सा रीतिः। तत्र-

माधुर्यव्यञ्जकैवेषे रचना खलितात्मिका ॥ २॥ अवृत्तिर लपवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते।

यथा—'त्रानङ्गमङ्गलभुवः—' इत्यादि ।

रुद्रटस्त्वाह-

कलिन्दनन्दिन्यनुकूलफुल्लद्दनावलीमञ्जुलतान्तरेषु । लवङ्गवल्लीवलिताङ्गकान्तिः समुल्लसन् पातु तरुस्तमालः॥१॥

अयेति—यद्यपि 'उंत्कर्षहेतवस्ते स्युर्गुणालङ्काररीतयः' इस उद्देशकम् के अनुसार गुणों का निरूपण करने के अनन्तर अलङ्कारों का निरूपण प्रसक्त है, परन्तु आ क्कारों में वक्रव्य बहुत है, ग्रतः उसे छोड़कर 'सूचीकटाह' न्याय से पहले रीति। का निरूपण करते हैं। पदसंघटनेति पदों के मेल या संगठन को रीति कहते हैं। ब स्रक्ससंस्थान की तरह मानी जाती है। जैसे पुरुषों के देह का संगठन होता है। जैसे पुरुषों के देह का संगठन होता है। उसी प्रकार काव्यों के देहरूप शब्दों और अर्थों का भी संगठन होता है। ही संगठन को रीति कहते हैं।यह काव्य के आत्म भूत रस, भाव आदि की उपकार होती है। जिस प्रकार पुरुष या स्त्री की शरीररचना देखने से सुकुमारता, महुले अथवाकरूट करिया अथवाक्रता कठिनता त्रादि उसके गुणों का ज्ञान होता है और उससे उसी थारी की विशेषता का वोध होता है, इसी प्रकार काव्य में भी रचना है। आदि गणों के कार्य में भी रचना है। आदि गुणों के व्यञ्जन के द्वारा रसों का उपकार (उत्कर्ष) होता है। सापुनिति वी रीति चार प्रकार की दोती है। वैद भी, गौडी, पाञ्चाली और लाही। उनमें हैं। माधुरेंति-माधर्यकार की दोती है। वैद भी, गौडी, पाञ्चाली और लाही। समासों से युक्त मनोहर रचना को वैदर्भी रीति कहते हैं। उदाहरण जैसे पूर्वी

श्चिसमस्तैकसमस्ता युक्ता दश्मिगु ग्रैश्च वैद्र्मी। वर्गद्वितीयबहुला स्वल्पपाणाच्चरा च सुविधेया॥

अत्र दशगुणास्तन्मतोक्ताः श्लेषादयः।

स्रोजः प्रकाशकैर्वर्णेर्बन्ध स्राडम्बरः पुनः ॥ ३ ॥ समासबहुता गौडी

यथा-- 'चञ्चद्भुज'-इत्यादि।

पुरुषोत्तमस्त्वाह-

'बहुतरसमासयुक्ता सुमहाप्राग्णाज्ञरा च गौडीया। रीतिरनुपासमहिमपरतन्त्रा स्तोकवाक्या च॥'

वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः।

समस्तपञ्चषपदो बन्धः पाञ्चालिका मता॥ ४॥

इयोर्वेदर्भीगौड्योः ।

यथा—

'मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया।

मन्तियादि'। रुद्रट ने वैद् भी रीति का यह लक्षण किया है-मासमसेति-समासतित अथवा छोटे र समासों से युक्त, श्लेषादि दस गुणों से युक्त एवं चवगं से
मिकतया युक्त, अल्पपाण अदारों से ज्याप्त सुन्द्र वृत्ति 'वैद भी' कहाती है।
माता, श्रवंव्यक्ति, रदारत्व, मोजः, कान्ति, समाधयः। इति वैदर्ममार्गस्य प्रणा दरा ग्रणाः
मातां से युक्त उप्तरंव, मोजः, कान्ति, समाधयः। इति वैदर्ममार्गस्य प्रणा दरा ग्रणाः
मातां से युक्त उप्तरं वन्ध को 'गौड़ी' रीति कहते हैं। उदाहरण जैसे 'वञ्चद् माता, वहे र महाप्राण प्रयत्न वाले अदारों से युक्त, अनुप्रास, यमक आदि
माता को रक्तण में व्यत्र अर्थात् अधिकतर अनुप्रासादि से युक्त और थोड़े
मिता को वर्ण न माधुर्य के व्यक्त के हैं। वर्णः-उक्त दोनों रीतियों के जो शेषवर्ण हैं
मिता को वर्ण न माधुर्य के व्यक्त हैं। वर्णः-उक्त दोनों रीतियों के जो शेषवर्ण हैं
मिता को वर्ण न माधुर्य के व्यक्त हैं। वर्णः-उक्त दोनों रीतियों के जो शेषवर्ण हैं
मिता के दिन से समास हो वह रीति 'पाञ्चाली' कहाती है। उदामिता विदे माधुर्य व्यक्तक और अोजोव्यक्त जो वर्ण कहे हैं, इस प्रधानित से माधुर्य व्यक्तक और अोजोव्यक्त जो वर्ण कहे हैं, इस प्रधानित से सम है। अर्थ व्यक्त और अोजोव्यक्त जो वर्ण कहे हैं, इस प्रधानित से माधुर्य व्यक्तक और अोजोव्यक्त जो वर्ण कहे हैं, इस प्रधानित से सम है। अर्थ व्यक्त और अोजोव्यक्त जो वर्ण कहे हैं, इस प्रधानित से समास हो वह रीति 'पाञ्चाली' कहाती है। उदा- मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मद्ध्वनिमृता निभृताच्चरमुज्जगे॥

भोजस्त्वाह-

'समस्तपञ्चषपदामोजःकान्तिसमन्विताम् । मधुरां सुकुमारां च पाञ्चालीं कवयो विदुः॥'

बाटी तु रीतिवेद भीपाश्चाच्योरन्तरे स्थिता।

यथा-

'श्रयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीना-मुदयगिरिवनालीबालमन्दारपुष्पम् । विरह्विधुरकोकद्रन्द्रबन्धुर्विभिन्दन्-कुपितकपिकपोलक्रोडताम्रस्तमांसि॥'

कश्चिदाह-

'मृदुपदसमाससुभगा युक्तैर्वर्गौर्न चातिभूयिष्टा। उचितविशेषगापूरितवस्तुन्यासा भनेल्लाटी॥'

माधवी ( वासन्तीलता ) की मधु समृद्धि (पुष्परसकी वृद्धि) से त्रर्थात् मार्थी के पुष्परस का पान करने से बढ़ गई है बुद्धि अथवा मस्ती जिसकी उस मल ध्वनि वाली, मधुर स्वर युक्त भ्रमरीने वार २ द्वे हुए अत्रों में गाना प्राप्त किया। इस प्रकार गाना प्रारम्भ किया जिस में अत्रर प्रतीत नहीं होते के गुनगुनाहर ही सुनाई देती है। भोज ने पाश्चाली का यह लच्या किया है समसोति-जिसमें पाँच छुद्द पदों का समास हो, स्रोज स्रोर कान्ति नामक गुणि जो युक्त हो और मधुर एवं सुकुमार हो उस रीति को कि लोग पाञ्चाली करे हैं। बारी-वैदर्भी और 'पाञ्चाली' इन दोनों के मध्य की अर्थात् दोनों के तहलें कुछ २ युक्त रीति को 'लाटी' कहते हैं। जैसे —अयम्-इस पद्य के पहते बार्ष कोमतापद रचना तथा 'इज-न्द्र-न्द् म्रादि माधुर्यव्यक्षक वर्ष वेदर्भी की पोषक हैं और द्वितीयादि चर्ण के समास तथा द्र-क्र-म-मादि वर्ण के समास तथा द्र-क्र-मादि वर्ण के समास तथा द्र-क्र-म-मादि वर्ण के समास तथा द्र-क्र-म-मादि वर्ण के समास तथा द्र-क्र-म-मादि वर्ण के समास तथा द्र-क्र-मादि वर्ण के समास तथा द्र-क्र-माद के समास तथा द्र-क्र-मादि वर्ण के समास तथा वर्ण के स व्यंजकतथा पाञ्चाली रीति के पोषक हैं। दोनों के लच्च मिलने से यह बारी कि काउटाहरमा है। हार्ड राज्ये के लच्च पिलने से यह बारी कि का उदाहरण है। अर्थ-(सूर्योदय का वर्णन है) पद्मिनियों की मौन मुद्राकों की वाला अर्थान कमकि के के मन्दार (देववृत्त) का नया पूर्ल (उसके सहश) और विरह से व्यक्ति की की विरह से व्यक्ति की के जोड़ों का मित्र व्यक्ति की विरह से व्यक्ति की की विरह से व्यक्ति की व के जोड़ों का मित्र अर्थात् रात्रि में वियुक्त चक्रवाक और विरह से व्यक्तियों की पति मिलाने वाला, क्रोध में अने — मिलाने वाला, कोघ में भरे बन्दर के गाल के समान लाल यह सूर्य की को फाइता हुआ जरूर होता को फाड़ता हुआ उद्य होता है। किसी ने लाटी रीति का लहा की प्रीर्धि मृदुपरेति—जो कोमल एको की मृद्वपदेति जो कोमल पदों श्रीर सुकुमार समासों से सुन्दर हो श्रीर व संयुक्त आवार्ते से युक्त बहा विश्व प्रविद्या है । अप जिला से स्वार्थ कि साथ जिला के साथ के साथ जिला क अन्ये लाहः

'गौडी डम्बरबद्धा स्याद्वैदर्भी ललितक्रमा। पाञ्चाली मिश्रभावेन लाटी तु मृदुभिः पदैः॥'

## क्वचित्तु वक्त्रायौचित्याद्न्यथा रचनाद्यः॥ ५॥

वन्त्रादीत्यादिशब्दाद्वाच्यपवन्धौ । रचनादीत्यादिशब्दाद्वृत्तिवर्गौ । तत्र वक्त्रौचित्याद्यथा—

'मन्यायस्तार्णवाम्भः प्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः

कोगाघातेषु गर्जत्पलयघनघटान्योन्यसंघद्वचण्डः।

कृष्णाक्रोधाप्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः

केनास्मिह्नाद्मित्रिस्तिस्खो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम्॥

वर्षित हो उसे लाटी रीति कहते हैं। श्रीर लोगों ने रीतियों के यह लच्छा किये हैं-गौडीति - आडम्बरयुक्त रीति को गौडी कहते हैं श्रौर सुललित विन्यास युक्र रीति का नाम वैदर्भी है। इन दोनों के मिश्रण से पांचाली रीति होती है श्रीर कोमल पदों से लाटी रीति बनती है। कवितु-कहीं कहीं वक्ता आदि के श्रीचित्य से रचना त्रादि बदली जाती है—'वक्त्रादीति'-इस कारिका में प्रथम श्रादि' एद से वाच्य और प्रबन्ध का प्रहण होता है एवं द्वितीय 'आदि' एद से समास और वर्णों का प्रहण होता है। उनमें से वक्ता के श्रौचित्य के कारण ब्द्बी हुई रचना का उदाहर्ग-मन्थायस्तेति-द्रौपदी से बातें करते समय भीमसेन के कान में रग-दुन्दुभि की ध्वनि पड़ी। उसे सुन कर उन्होंने यह पद्य कहा है। भियन के समय अथवा मन्यन दंड=मन्द्राचल के द्वारा चारों श्रोर उछलते हुए समुद्र के जल से व्याप्त होगई हैं कन्द्रायें (कुहर) जिसकी उस मन्द्राचल के कि (घोरंघर्राटे) के समान धीर (समुद्रमन्थन के समय मन्द्राचल ही भगत दंड=रई बनाया गया था ) श्रीर 'कोण'=बजाने का डंडा (नकारा) के भागति होने पर, प्रलय काल में गरजते हुए बाद्लों की टक्कर के समान प्रचंड (बय नकारें की चोट पड़ती है तब ऐसा घोर शब्द होता है मानो घोर कि करते हुए प्रत्य काल के बाद् आपस में टकरागये हों) द्रौपदी किय की स्वना देने वाला (दूत) कौरवों के कुलत्त्य का सूचक उत्पात कप किति वासुवना देने वाला (दूत) कौरवों के कुल एथ पा पूर्व किसने बजायां! किति वासु हमारे सिंहनाद के समान(भयानक) यह रसादुन्दुभि किसने बजायां! विक्रविति वेलवान् मारुतो मारुताइतः । पतत्यधः स निर्घातो जायते वायुसंमवः ॥" आकाश भित्वान् वायु से टकरा कर दूसरा वायु जब नीचे गिरता है तो उसे विवात' कहते हैं। इस प्रकार के श्रश्चम उत्पात राजा का चय स्चित मा कहते हैं। इस प्रकार के श्रश्नम उत्पात राजा के श्रियात स्वाद से अवस्था मेरीशतशतानि च । एकदा युत्र ता कुने को साधातः स

अत्र वान्यस्य क्रोधाद्यव्यञ्जकत्वेऽपि भीमसेनवक्तृत्वेनोद्धता रचनादयः। वाष्ट्री चित्याद्ययोदाहृते 'मूर्धव्याधूयमान—'इत्यादौ । प्रबन्धौचित्याद्यथा नाटकादौरौद्रेऽप्र मिनयप्रतिकूलत्वेन न दीर्घसमासादयः । एवमाख्यायिकायां शृङ्गारेऽपि न मसृण्वर्णादयः । क्रथायां रौद्रेऽपि नात्यन्तमुद्धताः । एवमन्यदपि ज्ञेयम् ॥

इति साहित्यदर्पेणे रीतिविवेचनो नाम नवमः परिच्छेदः।

उच्यते ॥" सैकड़ों ढका श्रौर भेरी जब एक दम वजने लगते हैं तो उसे कोणागत कहते हैं। स्रतः इस पद्य में 'कोणाघात' शब्द का यह दूसरा अर्थ मीहे सकता है। अत्रेति-यद्यपि यहां वाच्य (रण दुन्दुभि का ताइन) क्रोध क व्यक्षक नहीं, प्रत्युत हर्ष का कारण है, क्योंकि भीमसेन तो पहले से ही गुर के लिये रिस्सयां तुड़ा रहे थे, केवल युधिष्ठिर ही बोच में बाधक थे, तथारि इस पद्य के बोलने वाले प्रसिद्ध कोधी भीमसेन हैं, ग्रतः इस की रचना उद्ध की गई है। वाच्य के श्रौचित्य से रचना का भेद जैसे पूर्वोक्ष 'मूर्धन्यास्य इत्यादि पद्य। इस में अर्थ उद्धत होने के कारण रचना में उद्धतता आहे। प्रवन्धौचित्य से रचना का भेद जैसे नाटकादिकों में रीद्र रस में भी हरी समास नहीं किये जाते, क्योंकि वे अभिनय के प्रतिकृत पड़ते हैं। अभिन करते समय ऐसे ही शब्द बोलने उचित हैं जिन का अर्थ लोग तुरन्त सम लें। लम्बे समासों का अर्थ समभने में विलम्ब होता है, अतः वे अभिन्य अनुकृत नहीं होते। इसी प्रकार आख्यायिका में शृङ्गार रस में भी की रचना कम होती है, क्योंकि चहां चक्ता किव होता है, रागी नहीं। में भी मधुर कोमल रचना अनुरागी के मुख से ही अरुड़ी लगती है। में रौद्र रस में भी अत्यन्त उद्धत रचनादिक नहीं होते, क्योंकि वहीं स्वयं क्रोधाविष्ट नहीं होता। इसी प्रकार श्रौर भी जानना।

<sup>\*</sup> इति विमलायां नवमः परिच्छेदः \*

# साहित्यदर्पगो।

दशमः परिच्छेदः ।

अथावसरप्राप्तानलंकारानाह—

3

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽश्वंकारास्तेऽङ्गदादिवत्॥१॥

कुँग्डलमण्डितगण्डतटी, वरपीटपटी, कुनटीतिलकञ्च।

ग्रञ्जितकुञ्चितमेचककेश, गवेशनिदेशवशीमवनं च ॥

गोकुलहृत्तरलीकरणीमुरली, खुरलीजितकामकलं च।

यस्य न सत्त्वमहत्त्वमलं धवितुं तमहं समहं महयामि॥ १॥

<mark>श्रव रीति निरूपण के अनन्तर अवसर प्राप्त अलङ्कारों का निरूपण करते हैं।</mark> पहले अलङ्कारों का खामान्य लज्ञण कहते हैं —शब्दार्थयोरिति-शोभा को अति गर्यत करनेवाले, रस भाव त्रादि के उपकारक, जो शब्द श्रीर अर्थ के श्रस्थिर भार वे अंगद (बाजूबन्द) आदि की तरह अलंकार कहाते हैं। जैसे मनुष्यों के अंगद आदि अलङ्कार होते हैं उसी तरह उपमा आदि काव्य के अलङ्कार होते हैं। प्रांक रीति भी काव्य की शोभाधायक है। उसमें इस लज्ज की अति-बाप्ति न हो इस लिये 'अतिशायी' पद दिया है। रोति शोमा को पैदा करती उसे बढ़ाती नहीं और अलङ्कार उत्पन्न शोभा को अतिशयित (प्रवृद्ध) करते हैं, अतः अलङ्कार रीति से भिन्न हैं। नीरस वाक्य में पड़े हुए उपमा श्रीदिक, श्रलङ्कार नहीं कहा सकते, क्योंकि यहां 'श्रलङ्कार' शब्द करण-प्रधान है। अलक्षियते अनेनेत्यलङ्कारः अर्थात् जो किसी को सुशोमित करने का साधन हो वह अलङ्कार कहाता है। अलङ्कार रसादिकों को सुशोमित करता है। जहां खादि नहीं हैं वहां वह किसी की शोमा का साधन नहीं, अतः वहां उसे विकार मी नहीं माना जाता, केवल विचित्रता मात्र मानते हैं। सरस वाक्य में ही उपमा श्रादिक श्रलङ्कार कहाते हैं, श्रतः 'रसादी तुपकुर्वन्तः'यह विशेषण शिर्वे। नीरस वाक्य में 'उपमा' श्रादि शब्दों का प्रयोग गौ ख वृत्ति से जानना। राष्ट्र और अर्थ दोनों ही काव्य के शरीर माने जाते हैं और इन दोनों के अलं-भार भार भार का दाना ही काव्यके शरार मान जात व कार्य अर्थ) का प्रहर्ण विकास के पृथक् होते हैं, अतः यहां कारिका में दोनों (शब्द अर्थ) का प्रहर्ण िया गया है। गुण भी रसादि के उपकारक होते हैं और शोभा को अतिशयित भी करते हैं एवं परम्परा सम्बन्ध (स्वाध्रय-व्यक्षकत्व) से वे शब्द और अर्थे हिते क्षेत्र व भे रहते भी हैं। उनमें श्रतिक्याप्ति न हो इसलिए 'श्रस्थिराः' यह विशेषण विया

यथा अङ्गदादयः शरीरशोभातिशायिनः शरीरिरामुपकुर्वन्ति, तथानुमासोपमाद्यः शब्दार्थशोभातिशायिनो रसादेरुपकारकाः। त्र्यलंकारा त्रस्थिरा इति नैषां गुणका वश्यकी स्थितिः।

शब्दार्थयोः प्रथमं शब्दस्य बुद्धिविषयत्वाच्छब्दालङ्कारेषु वक्तब्येषु शब्दार्थः लंकारस्यापि पुनरुक्तवदाभासस्य चिर्तनैः शब्दालंकारमध्ये लंचितत्वात्मथमं तमेवाह-

त्रापाततो यदर्थस्य पौनरुक्तचेन भासनम्। पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्द्गः॥२॥

उदाहरणम्-

' भुजङ्गकुएडली व्यक्तशशिशुभांशुशीतगुः। जगन्त्यपि सदापायादव्याच्चेतोहरः शिवः॥'

अत्र भुजङ्गकुण्डल्यादिशब्दानामापातमात्रेण सर्पाद्यर्थतया पौनरुक्यमितमा

है। गुण स्थिर होते हैं। अलंकार अस्थिर होने के कारण उनसे भिन्न हैं। गंधी-जैसे अङ्गद आदि अलंकार शरीर की शोभा को बढ़ाते हैं और शरीरधारी के उपकारक होते हैं अर्थात् शरीर की शोभा को बढ़ाते हुए शरीरधारी की उक ष्टताका बोधन करते हैं - उसके बड़प्पन को प्रकट करते हैं - इसी प्रकार ऋ प्रास, उपमा त्रादि काव्यालंकार भी काव्य के शरीरस्वरूप शब्द-त्रश्यं की शोग को बढ़ाते हैं और काव्य के आत्मभूत रसके उपकारक अर्थात् उसकी उत्कृष्ता के बोधक होते हैं। उक्रकारिका में अलंकारों को अस्थिर बतलाने से यह मी तात्पर्य है कि गुणों की मांति इन की नियत रूप से काव्य में स्थिति आवश्यक नहीं है।

शब्दार्थयोतिति-शब्द श्रौर श्रर्थ इनमें से पहले शब्द ही बुद्धि में उपस्थित होता है, अतः शब्दालङ्कार ही पहले कहने चाहिये थे, परन्तु प्राचीनों ने एक शब्दार्थालङ्कार—'पुनस्क्रवदाभास'-को भी शब्दालङ्कारों में गिना दिया है अतः सबसे पहले उसे ही कहते हैं। आपातत इति-'आपाततः'=ऊपर उपर है (सरसरी नज़र से) देखने पर जहां अर्थ की पुन्ठिक प्रतीत होती हो वहाँ मि स्वरूपवाले समानार्थक शब्दों में 'पुनक्क्रवदाभास' नामक अनंकार होता है। उदाहरण-भुजङ्गीत=सर्पों के कुएडल धारण किये हुए, सुन्यक शरा (कर्वा वाले और श्वेत किरण्युक्त ('शीतगु') चन्द्रमा से युक्त, चित्तको हरण्कते वाले शिवजी सदा अपाय (विद्या या विनाश) से जगत् की रहा करी यहाँ आपाततः देखने में 'भुजङ्ग' श्रोर 'कुएडली' दोनी सर्पधायक प्रतिर होते हैं श्रीर कर्ष की होते हैं श्रीर श्रर्थ की पुनहिक्त भासित होती है, परन्तु विचारते से कुरही शब्द का 'कग्रस नाम करा है। शब्द का 'कुएडल वाला' यह अर्थ ज्ञात होता है और पुनरुक्ति होता है। अतः पुनरुक्ति होता है। जाता है, श्रतः यहाँ 'पुनरुक्तवदामास' श्रलङ्कार है। इसी प्रकार 'श्रीरा' ग्रुप्रीय और शित्रा कर की स्थान का स्थान का स्थान की स्थान श्रीर'शीत्रगु' इन तीनो शब्दों के चन्द्रवाचक होने से श्रर्थकी पुनर्शक प्रतीत की है, परन्तु 'शशी' का अर्थ 'लाङ्कृत युक्त' और 'शुभ्रांशु' का अर्थ स्व<sup>त्</sup>र्व सनम् । पर्यवसाने तु भुजङ्गरूपं कुएडलं विद्यते यस्येत्याद्यन्यार्थत्वम् । 'पायाद्व्यात्' स्वम् । क्ष्यागतोऽयमलङ्कारः, 'पायात्' इत्यस्य 'श्रपायात्' इत्यत्र पर्यवसानात् । 'मुनंगकुएडली' इति शब्दयोः प्रथमस्यैव परिवृत्तिसहत्वम् । 'हरः शिवः' कि द्वितीयस्यैव । 'शशिशुभ्रांशु' इति द्वयोरपि । 'भाति सदानत्यागः' इति द्वयोरपि इति शब्दपरिवृत्तिसहत्वासहत्वाभ्यामस्योभयालङ्कारत्वम् ।

वातां द्वात होने पर यह दोष नहीं रहता। प्रवम्-'पायात्' श्रव्यात्' ग्रौर 'हरः, 'शिवः' इनमें भी ग्रापाततः पुनरुक्ति प्रतीत होती है, परन्तु 'सदा ग्रपायात्' वेसा पदच्छेद ज्ञात होने पर, ग्रौर 'हर' का संबन्ध 'चेतो' के साथ निश्चित होने पर चित्त को हरण करनेवाले (मनोहर) ऐसा ग्रर्थ निश्चित होने से वह दूर हो जाती है। अवेति—यहाँ 'भुजन्न' 'कुएडली' ग्रादि शब्दों का 'ग्रापात-मात्र' से पौनरुक्त्य भासित होता है, परन्तु पर्यवसान (ग्रन्त) में 'भुजंग क्ष कुएडल हैं विद्यमान जिसके' इत्यादि ग्रन्य ग्रथों का निश्चय होता है। 'पायात्' इन शब्दों में यह-श्रलंकार क्रियागत है। 'पायात्' का 'ग्रपा-गात्' में पर्यवसान होता है।

स्त श्रलंकार का शब्दार्थालंकारत्व सिद्ध करते हैं-'ग्रुजङ्गकुण्डली' इन शब्दों में से पहला ( भुगक् ) ही परिवृत्ति को सहन कर सकता है। यदि 'भुजक्न' पदको बदल कर उस के स्थान पर भुजङ्ग का कोई पर्यायवाचक दूसरा गन्द रखदें तो भी यह अलंकार बना रहेगा, अतः 'भुजङ्ग' शब्द परिवर्तन का सिंहक्यु है, परन्तु 'कुएडली' शब्द नहीं बदला जा सकता। 'कुएडली' के स्थान पर 'श्रवतंसी' या 'कुएडलयुक्त' श्रादि शब्दों को रखदें तो फिर वह अलंकार नहीं रहेगा, क्योंकि उस दशा में अर्थ की पुनवक्ति भासित ही व होगी, श्रतः 'कुएडली' पद परिवृत्ति को सहन नहीं करता। इसी प्रकार शिशिवः' यहां दूसरा (शिवः) ही बदला जा सकता है, पहला नहीं। भी अवार्ष इनमें दोनों परिवृत्तिसह हैं। 'श्रपि' शब्द से तीसरे 'शीतगु' गृद् का भी परिवृत्ति सहत्व जानना । 'भाति सदानत्यागः' इस पद्यांश में दोनों में से कोई नहीं बद्ला जा सक्ता। त्रित्वधदेहशरीरः सहसारियसूत विष्यादातः। माति सदानत्यागः स्थिरतायामननितलातिलकः। अरीयां वर्ध ददातीति ताहरी है। वेवां ते च ते शरियाः शरवन्तस्तानीरयति चिपतीत्यरिवश्रदेहशरीरः । सहसा शीश्रं रिश्रिसः कि ज्वास्तुरगाः पादाताश्च यस्य सः । स्थिरतायां स्थिरत्वे स्रगः पर्वततुल्यः-स्वनितत्ततित्वको श्वितः सतामानत्या, यद्वा सदा अनत्या शत्रुषु अनमनेन माति शोमते । यहां 'देह शरीर', भारिथ स्त', 'दान त्याग', इन शब्दों में यह अलङ्कार है । परन्तु शब्द पितृत्तिसह नहीं हैं अर्थात् उन के पर्यायवाचक रखने पर यह अलङ्कार की रहता। भाषा में इसका उदाहरण 'पुनि फिरि राम निकट सो आई' लिए हो सकते हैं। इस प्रकार कहीं शब्दपरिवृत्ति को सहन करने और भी ने करने के कारण यह "पुनकक्तवदाभास" उभयालेकार माना जाता

#### श्रतुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्॥

स्वरमात्रसादृश्यं तु वैचित्रयाभात्राच गिर्णितम् । रसाद्यनुगतत्वेन मन्त्रीष न्यासोऽनुपासः ।

छेको व्यञ्जनसंघस्य सकृतसास्यमनेकथा॥ ३॥

छ्रेकरछ्रेकानुभासः । अनेकथेति स्वरूपतः अमतरच । रसः सर इत्यादेः क्रम भेदेन सादृश्यं, नास्यालंकारस्य विषयः । उदाहरणं मम तातपादानाम्— 'त्रादाय बकुलगन्धानन्धीकुर्रन्पदे पदे भ्रमरान् ॥ अयमेति मन्दमन्दं कावेरीवारिपावनः पवनः ॥' अत्र गन्धानन्धीति संयुक्तयोः, कावेरीवारीत्यसंयुक्तयोः, पावनः पवन इति

है। शब्दालंकार वही होता है जो उस शब्द के बदलने पर न रहे। पुनक्क वदाभास कहीं तो शब्द बदलने पर भी बना रहता है श्रीर कहीं नहीं रहता **श्रतः यह शब्दार्थालंकार या उभयालंकार है।** अनुप्रास इति—स्वर की विषमता रहने पर भी शब्द अर्थात् पद, पदांश के साम्य ( सादश्य ) को 'अनुप्रास' कहते हैं। स्वरों की समानता हो, चाहे न हो, परन्तु अनेक व्यक्षन जहां एक से मिल जायँ वहां अनुपास अलङ्कार होता है। स्वम्मात्रेति - केवल स्वरों की समानता में विचित्रता नहीं होती। व्यंजनों की समता के समान चमकार उसमें नहीं होता, स्रतः उसे यहां नहीं गिना। व्यंजनों की समता के समत स्वरों की समता में अनुपासालङ्कार नहीं माना है। अनुपास शब्द का अन रार्थ वताते हैं-रसेति-रस. भावादि के अनुगत प्रकृष्ट न्यास की अनुपास करें है। यहां 'त्रानु' का अर्थ 'त्रानुगत' और 'प्र' का प्रकृष्ट एवम् 'त्रास' का अर् न्यास है। रस की अनुगामिनी प्रकृष्ट रचना का नाम अनुपास है। इससे ग भी सिद्ध हुआ कि रस के प्रतिकूल वर्णों की समता को अलङ्कार नहीं मार्ग जाता। यह अनुपासों का सामान्य लत्त् ए है। अब अनुपासों के विशेष हता कहते हैं — क्रेक्इति—क्यञ्जनों के समुद्य की एक ही बार अनेक प्रकार की सा नता होने को 'छेक' अर्थात् छेकानुपास कहते हैं। यहां अनेक प्रकार की सा नता से यह अभिपाय है कि स्वरूप से भी स्मानता होनी चाहिए और कारी मी। एक ही स्वरूप के व्यंजन उसी क्रम से यदि दूसरी बार आयं तो है कि होगी होगा। 'रसः सरः' यहां यद्यपि एक ही स्वरूप के व्यंजन 'र' श्रीर 'सं दूसीवां श्राप हैं, पर न्य कर्म आए हैं, परन्तु उसी कम से नहीं आए। 'रसः' में 'र' पहले आया है और हो। में 'स'। इस लिये ने के क्यां में 'स'। इस लिये ऐसे उदाहरण इस अनुप्रास के नहीं हो सकते। हेक का अव हरण-आदायेति-बकुल (मौलसिरी)कें गन्धको लेकर,पद पद में भ्रमरीको महा करता हुआ, कावेरी के जल कर्णों से युक्त होने के कारण पवित्र करतेवाली पवन धीरे २ चला आ उन्हों के को देश पवन घीरे २ चला आ रहा है। अति — इस पद्य में 'गन्धानन्धी' यहां वर स्प

व्यक्षनानां बहूनां सकृदावृत्तिः । छेको विदग्धस्तत्मयोज्यत्वादेष छेकानुमासः । अनेकस्यैकघासाम्यमसकृत् वाप्यनेकघा। एकस्य सक्तद्रप्येष वृत्त्यनुपास उच्यते॥ ४॥ एकधा स्वरूपत एव, न तु क्रमतोऽपि । अनेकधा स्वरूपतः क्रमतश्च ।

सकृदपीत्यपिशब्दादसकृदपि । उदाहरणम्-

**'उन्मीलन्मधुगन्धलुव्धमधुपव्याधूतचूताङ्क्र**—

्रक्रीडत्कोकिलकाकलीकलकलैरुद्रीर्णकर्णज्वराः।

नीयन्ते पथिकैः कथं कथमपि ध्यानावधानच्या-

पातपाणसमासमागमरसो**ल्लासैरमी वासराः ॥** 

अत्र 'रसोल्लासैरमी।' इति रसयोरेकधैव साम्यम्, न तु तेनैव क्रमेंगापि। द्वितीये पादे कलयोरसकृतेनैव क्रमेगा । प्रथमे, एकस्य मकारस्य सकृत्, धकारस्य

'न' और 'ध' की उसी कमसे एक ही वार त्रावृत्ति हुई है, त्रतः यह हेकानुप्रासः का उदाहरण है। इसी प्रकार कावेरीवारि' यहां असंयुक्त 'व' ग्रोर 'र' की तथा 'पावनः पवनः' यहां वहुत व्यञ्जनों (प-व-न) की एकही बार श्रावृत्ति हुई है। ब्रेकका अर्थ है 'चतुर पुरुष'। उनके प्रयोग के योग्य होने के कारण इसे वैकानुप्रास कहते हैं।

भनेकस्पेति अनेक व्यंजनों की एकही प्रकार से (केवल स्वरूप से ही, क्रमसे नहीं) समानता होनेपर, अथवा अनेक व्यक्षनों की अनेक वार् आवृत्ति होने पर्यद्वा अनेक प्रकार से (स्वरूप श्रीर क्रम दोनों से) अनेकवार अनेक वर्षों की आवृत्ति होनेपर, किंवा एकही वर्ष की एकही वार समानता श्रावृत्ति द्वारा ) होने पर, या एकही वर्ण की अनेक वार आवृत्ति होनेपर 'वृत्यज्ञपास' नामक शब्दालङ्कार होता है। सकृद्पि' यहां 'त्रपि' शब्द ते असकत्' (अनेकवार) का भी बोध होता है, इससे पूर्वोक्त अन्तिम अर्थ निकतता है। उदाहरण-उन्मीलन्मधु उदित होते हुए मधुके गन्ध में लुन्ध भ्रमरों वेकिस्पत आमों की नवीन मंजरी पर कीडा करते हुए कोकिलों के मधुर मधुर इति किल्क् जितों से जिनके कानों में व्यथा उत्पन्न होरही है वे विरही पथिक तिवसन्त ऋरुके दिनों को, ध्यान में चित्त के अवधान ( एकाप्रता ) के समय भा (सरण द्वारा) प्राणिया के समागम सुख से जैसे तैसे (कथं कथमपि) किताते हैं। अतेति —यहां 'रसोल्लासैरमी' इन शब्दों में र' श्रीर 'स' की एकही कार से समानता है। केवल स्वरूप ही मिलता है क्रम नहीं। दूसरे चरण में क्तों में पहिले 'क' श्राया है, पीछे 'ल,' इसलिए यह स्वरूप श्रीर कम दोनों से वाम (अनेक्षा साम्य) हुआ। प्रथम चरण में 'उन्मीलन्मधु'यहां एक व्यक्षन भिति की एकही वार और धकार की अनेकबार आवृत्ति हुई है, इसलिये यह चासकृत्। रसविषयन्यापारवती वर्णारचना वृत्तिः, तदनुगतत्वेन प्रकर्षेण न्यसनाद् वृत्त्यनुप्रासः ।

उचार्यत्वाचदेकत्र स्थाने तालुरदादिके। सादृश्यं व्यञ्जनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते ॥ ५॥

उदाहरणम्-'दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः। विरूपाचस्य जयिनीस्ताः स्तुमो वामलोचनाः॥'

अप्र 'जीवयन्ति' इति, 'याः' इति, 'जयिनीः' इति अप्र जकार्यकार-योरेकत्र स्थाने तालावुचार्यत्वात्सादश्यम् । एवं दन्त्यकण्ठचानामप्युदाहार्यम् ए च सहृदयानामतीव श्रुतिसुखावहत्वाच्छ्रुत्यनुपासः ।

व्यञ्जनं चेयथावस्थं सहायेन स्वरेण तु। त्रावर्त्यतेऽन्त्ययोज्यत्वाद्न्त्यानुप्रास एव तत्॥६॥

यथावस्यमिति यथासंभवमनुस्वारविसर्गस्वरयुक्ताच् रिविशिष्टम्। एष च पायेष पादस्य पदस्य चान्ते प्रयोज्यः । पादान्तगो यथा मम-

'एकस्य सकृद्पि' काउद्दाहरण है। रस विषयक अनुकूल व्यापार से युक्ररचन को 'वृत्ति' कहते हैं त्रर्थात् जो रचना रस के व्यक्त करने में त्रतुकृत हो इसे वृत्ति कहते हैं ग्रीर उस से श्रनुगत प्रकृष्ट विन्यास को 'वृत्यनुप्रास' करते है। यह इस पद का अज्ञरार्थ है।

उचार्यलादिति-तालु कएठ, मूर्घा, दन्त आदि किसी एक स्थान में उचित होने वाले व्यवज्ञनों की (स्वरों की नहीं) समता को श्रुत्यतुत्रास कहते हैं। जैसे-इरोति-दृष्टि से जले हुए कामदेव को जो दृष्टि से ही जीवित करती अर्थात् भगवान् भूतनाथ के भालानल से भस्म हुए कामदेव को जो अले कटाचितचेपमात्र से पुनरुजीवित करती हैं, ऐसी विरूपाद (विरूपतेत्र वर्ष शिव) की जीतनेवाली सुलोचनात्रों की हम स्तुति करते हैं। अत्रीत-या 'जीवयन्ति'-'याः'-'जयिनोः' इन पदों में जकार स्रोर यकार एक ही (तह) स्थान से उच्चरित होते हैं, अतः यह-श्रुत्यनुप्रास का उदाहरण है। इसीप्रकार दन्तस्यानीय श्रीर कएटस्थानीय श्रादि वर्णों के उदाहरण भी जानता व अनुपास सहदय पुरुषों के कानोंको बङ्गही सुखप्रद होता है, अतः इसकाता अत्यनपास है। कार्ने श्रुत्यनुप्रास है। व्यव्जनमिति-पहले स्वर् के साथ ही यदि यथावस्य व्यक्षती आवृति हो तो क्रम कर्णां की स्वर् के साथ ही यदि यथावस्य व्यक्षती आवृत्ति हो तो वह अन्त्यानुप्रास कहाता है। इस का प्रयोग पर अध्वी श्रादि के श्रन्त में ही होता है, श्रतः इसे श्रन्त्यानुपास कहते हैं। व्यक्ति हो। वस्त्री ह बस्य' कहने से यह तात्पर्य है कि यहाँ यथासम्भव अनुस्वार विस्ती है। या आदि पूर्ववत् ही रहने चाहिये। त्रतएव 'अन्तेऽवसाने भवोऽन्त्यः, विगादिलाणां चासावज्ञपासः' यह कार्यः चासावजुपासः' यह अत्रार्थ अनुगत होता है.। तर्कवागीशजीने 'अन्त प्रवास

क्षेशः काशस्तवकविकासः, कायः प्रकटितकरभविलासः, । चत्तुर्दग्धवराटककल्पं, त्यजित न चेतः काममनल्पम् ॥' पदान्तगो यथा—

'मन्दं हसन्तः पुलकं वहन्तः' इत्यादि ।

शब्दार्थयोः पौनरुक्तयं भेदे तात्पर्यमात्रतः। बाटानुप्रास इत्युक्तो

उदाहरणम्-

'स्मेरराजीवनयने, नयने किं निमीलिते। पश्य निर्जितकन्दर्भं कन्दर्पवशगं प्रियम्॥'

ग्युत्पत्ति लिखी है, यह व्याकरण से विरुद्ध है। स्वार्थ में यत् प्रत्यय यहाँ नहीं होसकता। पादान्तगत का उदाहरण-केशहति केश, कासके फूलके समान श्वेत हो चुके और देह ऐसा होगया जैसा दोपैरों से खड़े हुए ऊँट के बच्चे का होता है। श्राँखें जली कौड़ी के सहश होगई, परन्तु अब भी बढ़े हुए काम (विषय-तृष्णा) को चित्त नहीं छोड़ता। यहां प्रथम द्वितीय चरणों के अन्त्य में 'विकास' और 'विलास' इन पदों में 'आस' की आवृत्ति हुई है एवं तृतीय तथा चतुर्थ चरणों के अन्त्य में 'अल्पम्' की आवृत्ति हुई है। पदान्तगत अन्त्यानुप्रास का उदाहरण-मद्ग-यहाँ 'हसन्तः'त्रोर 'वहन्तः'इन पद्ों के अन्त्य में अन्तः'की आवृत्ति हुई है। रान्दार्थयोरिति - केवल तात्पर्य भिन्न होने पर शब्द ग्रीर अर्थ दोनों की अःवृत्ति होने से लाटा नुप्रास होता है। उदाहरण —स्मेरेति — हे विकसित कमल के तुल्य नेत्रवाली सखी तूने नेत्र क्यों मूँद लिए ? अपनी शोभा से काम को जीतनेवाले कामातुर प्रियतम की ओर देख। यहां 'नयने-नयने' श्रीर 'कन्दर्प-कन्दर्प' इन, पदों में शब्द तथा अर्थ दोनों की आवृत्ति हुई है। शब्दों के अर्थ में भेद नहीं, परन्तु तात्पर्यविषयीभूतसम्बन्ध भिन्न है। पहला नयन पद सम्बोधनान्वयी अथवा उद्देश्यान्वयी है और दूसरा नयन पद क्रियान्वयी या विधेयान्वयी है। सिं प्रकार दो वार् आए हुए 'कन्दर्पं' पदके स्वरूप और अर्थ में कोई मेद नहीं। राष्ट्र भी वहां है और अर्थ भी वही, परन्तु पहले 'निर्जितः कन्दर्पः (शोमया) येन स तम्' सि प्रकार का अर्थ है — उस में कन्द्र पद उपमान में पर्यवसित होता है शीर 'निर्जित' का कर्म होकर आया है। दूसरी वार 'कर्त्यस्य वशगम्' ऐसा अर्थ है। यहाँ 'कर्न्य यहाँ 'कन्दर्प' पद सम्बन्धी होकर अन्वित हुआ है। यही तात्पर्यभेद है। वास्य में कर्तृत्व कर्मत्वादि क्रय से सम्बन्ध को यहाँ तात्पर्य कहते हैं।
उसका के रेसका मेद होना चाहिये। प्रश्न-उक्त उदाहरण में 'नयन' तथा 'कन्द्पे' शब्द ही दो नार आप हैं। निभक्तियाँ उन की एक नहीं हैं। वे बदली हुई हैं। फिर शे अर्थ का पौन रक्त्य कहाँ हुआ ? विभक्त्यर्थ की तो आवृत्ति हुई ही नहीं ? अत्र विभक्त्यर्थस्यापौनरुक्त्येऽपि मुख्यतरस्य पातिपदिकांशद्योत्यधर्मिरूप्त्याः भिन्नार्थत्वाङ्गाटानुपासत्वमेत्र ।

'नयने तस्यैव नयने च।'

अत्र द्वितीयनयनशब्दो भाग्यवत्त्वादिगुण्विशिष्टत्वरूपतात्पर्यमात्रेण मिन्नार्थः।

उत्तर-अत्रेति-यहाँ त्रिभक्तवर्ध का पौनरुक्त्य ( आवृत्ति ) न होने पर भी जो प्रातिपद्दिक ( नयन और कन्दर्प ) रूप अंश ( पदके ) हैं उनके वोष धर्मी रूप मुख्यतर अर्थ ( नेत्र और काम ) तो अभिन्न ही हैं। अतः प्रधान की अभिन्नता होने के कारण 'प्रधानेन हि व्यपदेशाः' इस न्याय के अनुसार

यहाँ लाटानुप्रास ही है।

उक्क उदाहरण में विभक्ति भिन्न थी, अब ऐसा उदाहरण देते हैं जिस में प्रकृति, प्रत्यय सब की पुनरुक्ति है। नयने इति —उसीके नेत्र, नेत्र हैं।(जो इस कामिनो को देखे ) 'धन्यः सएव तरुणो नयन तस्यैव नयने च । युवजनमोहनाविषा मवितेयं यस्य संमुखे सुमुखी ।' यह पद्य पहले आचुका है । यहाँ पहला नयन पह उद्देश्य है श्रोर दूसरा विधेय । परन्तु जो उद्देश्य है वही विधेय नहीं हो सकता। विधेय में कुछ अपूर्वता अवश्य होनी चाहिये। 'अपूर्वभेष्यतम् विष-त्वम्' यह नियम है, अतः दूसरी वार आया हुआ 'नयन' पद अनिवत और पुनवक्क होने के कारण माग्यवत्ता आदि गुणों की विशेषता को नेत्रों में वताता है। 'उसी के नेत्र, नेत्र हैं'—अर्थात् उसी के नेत्र भाग्यशाली नेत्र हैं। अनेति—यहाँ पहला 'नयन' पद नेत्रत्वजात्यविञ्जन को बोधित करता है श्रीर दूसरा लक्षणा से भाग्यवस्वादि गुण्विशिष्ट नेत्रों को बोधित करता है पर्व भाग्य का श्रतिशय यहाँ व्यङ्ग्य है। इसी अपूर्वता का बोध दूसरी वार श्राये हुए, विधेयान्वयी 'नयने' पद से होता है । यहाँ 'श्रर्थान्तरसङ्क्रीमत वाच्य' ध्वनि है, क्योंकि दूसरा नयन पद अपने विशेष अर्थान्तर ( भाष-शाली नयन ) में सङ्क्रमित हुआ है। (यह विषय चतुर्थ परिच्छेद में स्पष्ट हो इस है)। यहां एक 'नयने' उद्देश्य है, दूसरा विधेय। पहला सामान्यवीधक है परन्तु दूसरा भाग्यवत्ता त्रादि गुणों की विशिष्टतारूप तारपर्य से ही केंगी भिन्न हैं। मतलब यह है कि दोनों 'नयन' पद कहते तो नेत्रों को ही हैं। परन्तु एक सामान्यतः बोधन कर्ता है श्रौर दूमरा भाग्यशासिता श्राहि गुर्ण के साथ नेत्रों का बोधन करता है। एक उद्देश्य है; दूसरा विधेय। यहाँ गर्व भीवही है श्रीर श्रर्थ भी वही है। केवल तात्पर्य का भेद है, श्रतः यह लाटाउपार का उदाहरण है। इस उदाहरण में सम्पूर्ण पदार्थ का पौनहत्त्व है।

भा उपाहरण ह । इस उदाहरण में सम्पूर्ण पदार्थ का पानर्य के शिव शिवर्ष के शिवर

ब्राप को यह म्रम क्यों हुन्ना, सो भी सुन लीजिये। सप्तम परिच्छेद में क्षितपदत्व' दोष की श्रदोषता के जो स्थल बताये हैं उन में लाटानुमास श्रोर क्षितपदत्व' दोष की श्रदोषता के जो स्थल बताये हैं उन में लाटानुमास श्रोर क्ष्यांन्तरसंक्रमितवाच्य ध्विन इन दोनों को गिनाया है। वस, इसी से श्रापने वह सिद्धान्त निकाला है कि ये दोनों कभी एक हो ही नहीं सकते श्रोर मूल में 'श्रत्र द्वितीय नयन शब्दो...तात्पर्यमात्रेण मिनार्थः' यह पंक्ति, जो 'मेदे तात्पर्यमात्रतः' सि लाटानुमास के लक्षण का स्पष्ट समन्वय समसा रही है, उसे श्राप योजना के तीत्य से मरोड़ते हैं, परन्तु फिर भी बनता कुळु नहीं।

श्रव श्राप की बात को श्राप ही के श्रीमुख से सुनिये। "नन्वर्धन्तरसंक्रितिन्य ज्ञाप की बात को श्राप ही के श्रीमुख से सुनिये। "नन्वर्धन्तरसंक्रितिन्य ज्ञाप विच्या प्रोनक्त्रयावमासने प्रियंवसाने वक्तृतात्पर्यविषयित्रेषणान्तरम्त्रीत्य मिन्नार्थत्वावमासने नायमनुप्रास इत्यमिप्रायेणाइ—नयने इति"—श्रर्थात्—ग्रर्थान्तरसंक्रितवाच्य व्वनि में यद्यपि श्रापाततः श्रव्द श्रीर श्रर्थ का पौनक्क्र्य मासित होता है, परन्तु विचार करने पर पर्यवसान में वक्का का तात्पर्य किसी विशेषबात्तर में प्रतीत होता है, श्रतः मिन्नार्थता होने के कारण वहां ( उक्क व्वनिमें )
बह श्रनुप्रास नहीं होता, इस श्रमिप्राय से प्रत्युदाहरण देते हैं—'नयने तस्यव नयने' इति। (श्रीतर्कवागीशन्त्री की इस पक्ति में 'ननु' पद श्रसंगत है, क्योंकि श्रापने यह कोई पूर्वपच्च नहीं किया है, प्रत्युत श्रपने मतानुसार सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। )

परन्तु आप के इस मत में मूल अन्थ की अगली पंक्ति संगत नहीं होती, अतः उसे आप विपरीत योजना करके लगाते हैं—''द्वितीयेति—माग्यवत्त्वादिग्रणरूपं पर विशेषणं तन्मात्रेण वक्तृतात्पर्यमात्रेण मिन्नार्थ इति योजनावैपरीत्येनाऽन्वयः— अवप्त 'दैन्येथ लाटान्तप्रासेऽनुकम्पायां प्रसादने । अर्थान्तरसंक्रमितवःच्ये हर्षेऽत्रधारणे'—इत्यर्थान्तरसंक्रवित्वाच्यथ्वनेः पृथग्रुपादानं संगच्छते । मात्रपदेन नयनत्वस्य व्यवच्छेदः" ।

रस अर्थ में मूलप्रन्थ की पंक्ति में 'मात्र' शब्द को 'तात्पर्थ' शब्द के आगे से हराकर 'विशिष्टत्व' के आगे रखना पड़ता है और 'विशिष्टत्व' के आगे त्वे हुए 'कए' शब्द को वहाँ से हरा के 'गुण' के आगे लगाना पड़ता है एवं 'विशिष्टत्व' को विशेषण्परक मानना पड़ता है। यही यहाँ 'योजनावैपरीत्य' है। वस्तुतः यह योजनावैपरीत्य अप्रामाणिक असंगत और अशुद्ध है, क्यों कि व्याकरण् के अनुसार समास के अन्तर्गत उक्त पदों का दूसरे पदों के साथ उक्त प्रकार से अन्वय हो ही नहीं सकता और इस प्रकार संगति लगाने में कोई प्रमाण भी नहीं है।

श्रीतर्कवागीशजी 'विशिष्टत्व' के आगे चिपकाये हुए 'मात्र' शब्द से नयगतिका व्यवच्छेद करना चाहते हैं। आपके मत से द्वितीय 'नयने' पद् केवल
भाष्यक्त रूप गुणका बोधक है, नयनत्व का वाचक नहीं। वास्तव में यह

भतं भी अज्ञानम् लक है। इसे हम आगे स्पष्ट करेंगे।
अर्थान्तर संक्रमितवाच्य ध्वनि में दूसरा पद स्वविशेषरूप आर्थान्तर में
स्क्रिमित होता है, अतः 'नयने तस्यैव नयने' में दूसरा 'नयने' पद नयन
विशेष अर्थात् भाग्यवस्वविशिष्ट नयनों का बोधक है। केवल भाग्यवस्व का
नेति के तर्कवागीशजी मानते हैं नहीं हो सकता। क्योंकि भाग्य-

वत्व, नयनत्व का व्याप्य धर्म नहीं है। वह हस्त, पाद आदिक में भी हो सकता है। अतः नयनत्वका विशेष भाग्यवत्व नहीं, अपितु भाग्यवत्वितिष्ट नयनत्व ही हो सकता है, इस कारण यहां पहला 'नयन' पद सामान्यश्वक (नयनत्व विशेष माग्यवत्व विशेष सामान्यश्वक (नयनत्वा विशेषवाक ) और दूसरा लवणा के द्वारा विशेषवाक (भाग्यवत्त्व विशिष्ट नयनत्वा विशेषवाक ) है। सामान्य और विशेष का अमेद सम्बन्ध ही हुआ करता है—जैसे 'आम्रोबृक्तः'—'राजा देश्तां हत्यादिक में। पवञ्च अर्थान्त रसंक्रमित वाच्य ध्वनि में प्रधान अर्थ की अभिन्नता ही रहा करती है। इस कारण तर्क वागीशजी का यह कथन कि 'पर्यवसाने भिन्नार्थत्वावमासने नायमनुप्रासः' असंगत है। वस्तुतः यहां भिन्नार्थत्व है ही नहीं। विशेषणकृत मिन्नता इस स्थान पर नहीं मानी जानी। 'प्रधाने हि व्यपदेशाः' इस न्याय का आश्रयण होता है। यही वात 'स्मेरराजीवनकों इस पूर्वोदाहरण की व्याख्या करते समय खुन्नित की है। इन प्रकार एक में उक्त योजना वैपरीत्य की (जो शास्त्र विरुद्ध है) कोई आवश्यकतानहीं है।

त्रव रही कथितपदत्व के श्रदोषस्थल में उक्क ध्वित के पृथक निद्रंग की बात। उस का उत्तर यह है कि लाटा नुपास उक्क ध्वित से अन्यत्र भी होता है—जैसे 'स्मेरराजीव' इत्यादि में उक्क ध्वित के न होने पर भी लाटा नुपास है, श्रतः उक्त स्थल में उसका नाम-निद्रंग करना श्रावश्यक है। यह ठीक है कि उक्त ध्वित लाटा नुपास के श्रन्तर्गत हो सकता है, परन्तु श्रलं कारण को ध्वित की प्रतिष्ठा सबसे श्रिधिक है। 'शब्दा नुपास' एक बहुत छोटी वस्तु है श्रतः ब्राह्मण-विश्वष्ठ नि भी श्रा गये।' यहां यद्यपि विश्वष्ठ नी ब्रह्मणों के है श्रा गये श्री विश्वष्ठ नी भी श्रा गये।' यहां यद्यपि विश्वष्ठ नी ब्रह्मणों के है श्रा गये श्री विश्वप्र निद्रंग किया जाता है। इसी प्रकार उक्त स्थल में उक्त ध्वित का पृथक् निद्रंग किया जाता है। इसी प्रकार उक्त स्थल में उक्त ध्वित का पृथक् निद्रंग किया गया है। इस पृथक् निर्देग के भरोसे तर्क ना ग्रा की हस हुल प्रत्य को इस प्रकार स्रष्ट कर डालना स्थममूलक श्रीर प्रामादिक है।

यदि प्रत्यकार 'नयने' को उदाहरण नहीं, प्रत्युत प्रत्युदाहरण सममते होते तो अवश्य स्पष्ट शब्दों में अपना अभिप्राय प्रकाशित कर देते। लाटा उपार उदाहरणों में चुपके से उस का प्रत्युदाहरण रख के लोगों को चक्कर हैं हैं डालते। और न उसकी व्याख्या करते समय ऐसी ऊटपटांग पंक्ति लिखते हिं तर्कवागीश जी 'योजनावैपरीत्य' करके लगायें और उससे प्रत्यकार की अध्या कता स्चित हो। वस्तुतः पंक्ति सीधी सादी है। उसका अर्थ हम पहले कर कुर्व के करित के कर के कर के करित हैं।

इस के अतिरिक्त पूर्वोक्त वर्णन के अनुसार जब तक इसे उदाहरण न मा लिया जाय तब तक लाटानुपास के उदाहरण पूरे हो ही नहीं सकते। निर्धा तस्यैव नयने के अतिरिक्त, सम्पूर्ण पद (प्रकृति और प्रत्यय) की आदिका कोई उदाहरण है ही नहीं। 'स्मेरराजीव' पदांश की आदित का उदाहरण और 'यस्य न सविधे' अनेक पदों की आदित का उदाहरण है। एक पर की आदित का उदाहरण 'नयने' यही है। ्यस्य न सिवधे दियता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य। यस्य च सिवधे दियता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य॥'

अत्रानिकपदानां पौनरुक्त्यम् । एष च पायेणं लाटजनियत्वाञ्चाटानुपासः।

ऽनुप्रासः पश्चधा ततः॥ ७॥

in the way to be well a first of the second of the second

स्पष्टम् ।

सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः। व्याप्तियम् स्वर्वे स्वरं स

तर्भवागीशजी ने 'मात्र' पद में नययत्व का व्यव्वकृद किया है। तात्पर्य गृह है कि यदि दूसरे नयन शब्द को भी नयनत्व का वाचक मान लेंगे तो उद्देश्यताव्यक्षेद्रक (नयनत्व) श्रीर विधेयताव्यक्षेद्रक दोनों के एक हो जाने से 'घटोघटः' की तरह यहाँ भी शाब्द बोध न हो सकेगा, श्रतः द्वितीय नयन गृद्ध नयनत्व का वोधक नहीं, केवल भाग्यवत्ता श्रादि गुणों का बोधक है। यह कथन भा श्रमंगत है—क्या कि श्रथान्तरसंक्रमितवाच्य घ्विन में पुन-क्क पद श्रपने त्रिशेष का वोधन करता है, श्रन्य का नहीं। नयन का विशेष भाग्यवत् नयन ही हो सकता है, हस्त पाद श्रादि नहीं, श्रतः नयनत्व का बोधन श्रत्यन्त श्रावश्यक है। लक्षणा से भाग्यवत् नयन का ही मान होता है, गुण मात्र का नहीं। पवम् यहाँ 'घटोनीलघटः' की तरह नयनत्वाविषक्षित्रेश्यताक भाग्यवत्विशिष्टनयनत्वावाच्छनविधेयताक शाब्द बोध होता है।

अनेक पदों की पुनहिक्त का उदाइरण-यस्येति-जिस के समीप प्रिया नहीं, उसके लिये चन्द्रमा भी दावानल है और जिसके पास वह विद्यमान है उसके लिये चन्द्रमा भी दावानल है और जिसके पास वह विद्यमान है उसके लिये दावानल भी चन्द्रमा है। अनेति-यहां अनेक पदों का पौनहत्त्य है। यहां पद' शब्द अर्थ का भी उपलंज्य है, अतः पद और अर्थ दोनों की पुनहिक्त जीतना। इस पद्य के पूर्वाई में 'तुहिनदीधिति' उद्देश्य और 'द्वद्हनत्व' विधेय है और उत्तरार्ध में 'द्वद्हन' उद्देश्य और 'तुहिनदीधितित्व' विधेय है और उत्तरार्ध में 'द्वद्हन' उद्देश्य और 'तुहिनदीधितित्व' विधेय है अतः यहां उद्देश्यता-विधेयता-क्ष्य सम्बन्ध का भेद है। यह अनुपास मायः लाट देश के विकास करते हैं।

भाषः लाट देश के निवासियों को प्रिय होता है, अतः इसे 'लाटानुपास' कहते हैं।
अव्यासेति-इस कारण अनुप्रास पाँच प्रकार का होता है छेकानुपास,

वृत्यतुमास, श्रुत्यतुप्रास, श्रन्त्यासुप्रास श्रौर लाटातुप्रास ।

यमक का लक्षण करते हैं—सत्यथें इति-यदि अर्थवान हो, तो मिन्न अर्थ

वाले, स्वर-व्यक्षन समुदाय की उसी क्रम से श्रावृत्ति को यमक कहते हैं । जिस

समुदाय की श्रावृत्ति हो उस का एक श्रंश या सर्वाश यदि अन्थंक हो तो कोई

अपित नहीं, किन्तु उस के किसी एक श्रंश या सर्वाश के सार्थंक होने पर श्रावृत्त

समुदाय की मिन्नार्थंकता श्रावृश्यक है। समानार्थंक शब्दों की श्रावृत्ति को यमक

अत्र द्वयोरिप पदयोः क्वचित्सार्थकत्वं क्वचित्रिरर्थकत्वम् । क्वचिद्क्रित सार्थकत्वमपरस्य निरर्थकत्वम्, अत उक्तम्—'सत्यर्थे' इति । 'तेनैव क्रमेग्रीते' दमो मोद इत्यादेविविक्तविषयत्वं सूचितम् । एतच पादपदार्घरलोकावृत्तिलेन पादा • बावृत्तरचानेकविधतया प्रभूततमभेदम् । दिक्सात्रमुदाहियते—

> 'नवपलाश-पलाशवनं पुरः स्फुटपराग-परागत-पंकजम्। मृदुल-तान्त-लतान्तमलोकयत्स सुरिं सुरिं सुमनोमरै:॥

अत्र पदावृत्तिः । 'पलाशपलाश' इति 'सुर्भि सुर्भि' इत्यत्र च द्वयोः सार्थ कत्वम् । 'लतान्तलतान्त' इत्यत्र प्रथमस्य निर्थकत्वम् । 'परागपराग' इत्यत्र हि . तीयस्य । एवमन्यदप्युदाहार्यम् ।

'यमकादौ भवेदैक्यं डलोर्बवोर्लरोस्तथा।' इत्युक्तनयात् 'भुजलतां जडतामबलाजनः' इत्यत्र न यमकत्वहानिः।

नहीं मानते। अत्रेति—यमक के उदाहरणों में कहीं दोनों पद सार्थक होते हैं, की दोनों निरर्थक। एवं कहीं एक सार्थक होता है श्रौर एक निरर्थक, इस कार 'सत्यर्थे' (यदि अर्थ हो तो ) यह अंश लत्त् ए में रक्खा है। तंनैवेति—'उसी क्रम से' यह कहना 'दमोमोदः' इत्यादिकों को यमक के उदाहरणों से पृथक् करता है। एतचिति-इस यमकालङ्कार के पादावृत्ति, पदावृत्ति, अर्घावृति, श्जोकावृत्ति आदि भेदों के कारण और पादावृत्ति आदिक भेदों के भी अते प्रकार होने के कारण बहुत अधिक भेद होते हैं। दिङ्मात्रिमिति-कुछ थोड़े उदार रण देते हैं-नवेति—जिसमें पलाशों (ढाकों) का वन नवीन पलाशों (पती) से युक्त हो गया है और कमल बढे हुए पराग (पुष्परज) से 'परागर्व' (युक्त) हो गये हैं—पवं 'लतान्त' (लतात्रों के प्रान्त) जिस में मुझ (कोमल) त्रीर 'तान्त' (विस्तृत या कुके हुए) हो गये हैं, पुर्वों की क्रि कता से सुरिम (सुगन्धित) उस सुरिम (वसन्त ऋतु) को श्रीकृष्ण ने रि तक पर्वत पर देखा। अत्रति-इस पद्य में पदावृत्ति यमक है। 'पताश पतार श्रीर 'सुर्सि सुर्सि' इस में दोनों पद सार्थक हैं। 'लतान्त लतान्त' में परि निरर्थंक है, क्योंकि इस (लतान्त ) में 'ल' मृदुल शब्द से मिला है। 'पराग' में क्यान (लतान्त ) में 'ल' मृदुल शब्द से मिला है। 'पराग' में पराग' में दूसरा 'पराग' निरर्थक है, क्योंकि इस में अगले 'गत' शब्द का पिलाया गया है। कर्य मिलाया गया है। इसी प्रकार और भी पादावृत्ति यमक आदि के उद्गति। जानना। यमकेति-''यमक, श्रेष श्रोर चित्रों में डंकार सकार श्रोर बकार करें क्यार स्थार कार स्थार करें कार सकार श्रोर बकार करें करें कार सकार श्रोर बकार स्थार स्था स्थार स्था स्थार स् पर्नं लकार रकार आपस में अभिन्न समसे जाते हैं, इस नियम के बड़ी 'सुजलनाम' इत्यादि कर र 'सुजलनाम्' इत्यादि पद्य में यमकत्व की चृति नहीं होती। इस में जलती हैं। ताम्' कायमक प्राप्त ताम्' कायमक श्रज्ञत रहता है-क्योंकि ड श्रीर ल परस्पर श्रिक्त सम्बे

भ्रत्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा योजयेद्यदि। अन्यः श्लेषेण काका वा सा वकोक्तिस्ततो द्विथा॥ १॥

हिधेति रलेषवक्रोिकः काकुवक्रोिकश्च । क्रमेणोदाहरणम्— क्ते यूयं, स्थल एव संपति वयं, पश्चो विशेषाश्रयः, ।

किं बूते विहगः, स वा फिएपतिर्यत्रास्ति सुप्तो हरिः। वामा यूयमहो विडम्बरसिकः कीटक्स्मरो वर्तते। येनास्मासु त्रिवेकशून्यमनसः पुंस्वेव योषिद्भमः॥

अत्र विशेषपदस्य ' विः पत्ती' 'शेषो नागः ' इत्यर्थद्वययोगात्सभङ्गरलेषः।

यन्यत्र त्वभङ्गः ।

बन्यस्पेति - जहां किसी के अन्यार्थक वाक्य को कोई दूसरा पुरुष श्लेष से या काकु से अन्य अर्थ में लगा दे वहां दो प्रकार की वकीक्ति होती है। एक 'खेषवकाकि' और दूसरी 'काकुवकोकि'। इनका कमसे उदाहरण देते हैं -है युर्गमित-'के' पद कि शब्द से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में भी बन सकता है श्रांर जलवाचक 'क' शब्द से सप्तमी के एक वचन में भी बन सकता है। प्रम करनेवाल ने पूछा कि 'के यूयम्' अर्थात् आप कीन हैं ? इस वाक्य में किं शब्द का प्रथमान्त रूप है, परन्तु उत्तर देने वाले ने उस शब्द ( 'के') के दूसरे शिलष्ट अर्थ (जल) को लक्ष्य करके उत्तर दिया कि—स्थले इति—हम वो सस समय स्थल में ही हैं (जल में नहीं)। प्रष्टा फिर कहता है कि— क्षो विशेषित —मेरा प्रश्न विशेषपरक है अर्थात् मैं आप की विशेषता —नाम, शाम, जाति श्रादि जानना चाहता हूँ। उत्तरदाता ने श्रव भी प्रष्टा के विशेष' शब्द का दुसरा अर्थ ('वि'=पद्मी श्रीर 'शेष'=शेषनाग) करके ही उत्तर दिया है। कि बूते इति—अर्थात् यदि आप का प्रश्न 'विशेष' ( पर्चा और नाराज ) से है तो बताइये तो सही कि त्रिहग और वह फिएपित — जिनके क्षर विष्णु मगवान् सोते हैं—क्या कहते हैं ? इस वाक् इल से तंग आकर भा ने कहा कि —नामा यूयम् — तुम कुटिल हो । उत्तरदाता ने इस पर फिर भी 'वामा' पद का दूसरा अर्थ (स्त्री) करके बेचारे प्रश्न करनेवाले को फट-भारता शुरू कर दिया कि षही इति—देखो कैसा धूर्त है, इसे कैसा काम ने स्वार्क्षा है जो इसे हमारे जैसे पुरुषों में भी स्त्री का भ्रम हो रहा है। भेति इस पद्य में 'विशेष' पद में 'वि' (पत्ती) और 'शेष' (नाग) ये दो भं निकलते हैं, अतः यहां समङ्ग श्लेष है, क्योंकि यहां पद के अंशों को तोड़ भाकरतेष हैं, क्योंकि वहां कोई पद तोड़ना नहीं पड़ता। यह 'श्लेषवक्रोक्ति' का

काले कोकिलवाचाले सहकारमनोहरे। कृतागसः परित्यागात्तस्यारचेतो न दूयते॥'

अत्र क्याचित्सख्या, निषेधार्थे नियुक्तो नज्, अन्यथा काका, द्या एवेति विध्यर्थे घटितः ।

शब्दैरेकविधैरेव भाषासु विविधास्वपि। वाक्यं यत्र भवेत्सोऽयं भाषासम इतीष्यते॥ १०॥

यथा मम-

' मञ्जुलमिणमञ्जीर कलगम्भीर विहारसरसीतीर। विरसासि केलिकीरे किमालि धीरे च गन्धसारसमीरे ॥' एष श्लोकः संस्कृतमाकृतसौरसेनीपाच्यावन्तीनागरापभ्रंशेष्वेकविध एव। 'सरसं कइए। कन्वं '

उदाहरण है। काकुवकोिक का उदाहरण देते हैं। काले इति—कोिक जिसमें कुहक रही है और बोरे हुए नवीन पल्लव युक्त आमों से जो मनोहर है उस (वसन्त) समय में कृतापराध पति के परित्याग से उस नायिका का चित्तं खिन्न नहीं होता। अनेति 'न दूयते' का 'न' निषेध के सूचन करने को कहा गया था, उसे किसी सखी ने काकु (गले की विकि से उद्यारण करके 'दूयते एन' (अवश्याखन होता है) इस प्रकार से विकि के स्वरूप में 'अन्यथा' परिणत कर दिया।

्शब्दैरिति—जहां एक ही प्रकार के शब्दों से अनेक भाषाओं में वही वाल रहे उसे 'भाषासम' अलङ्कार कहते हैं। जब अनेक भाषाओं में वे ही पह प तब यह अलङ्कार होता है और यदि पद भिन्न होजायँ तो 'भाषाश्लेष' होती है। जैसे वश्यमाण 'महदेसु' इत्यादि में शब्दों को तोड़ने और अर्थ के भि होने से भाषाश्लेष होता है।

 ्रत्यादौ तु 'सरसं' इत्यत्र संस्कृतपाकृतयोः साम्येऽपि वाक्यगतत्वाभावे वैचित्र्याभावान्नायमलंकारः।

रिल छै। पदैरनेकार्थाभिषाने रलेष इष्यते। वर्णप्रत्ययालिङ्गानां प्रकृत्योः पद्योरिप ॥११॥ रलेषाद्वि अक्तियचन भाषाणामष्ट्रधा च सः।

क्रमेणोदाहरणम्—

प्रतिकूलतामुपगते हि विधी विफलत्वमेति बहुसाधनता।
अवलम्बनाय दिनमर्तुरभूत्र पतिष्यतः करसहस्रमि॥।
अत्र 'विधी' इति विधु-विधि-शब्दयोरुकारेकारयोरीकाररूपत्वाच्छ्लेषः।

'किरणा हरिणाङ्कस्य दिचणश्च समीरणः। कान्तोत्सङ्गजुषां नृनं सर्व एव सुधाकिरः॥'

संस्कृत, प्राकृत में समान है, परन्तु वा स्यगत समानता नहीं है, अतः वैचित्र्य न होने से, यहां यह अलङ्कार नहीं है। श्लिष्टेरिति-श्लिष्ट पदों से अनेक अधी का श्रमिधान होने पर श्लेषा बङ्कार होता है। वर्ण प्रत्यय, बिङ्क, प्रकृति, पद, विमक्ति, वचन और भाषा इन के शिलष्ट होने के कारण वर्णश्लेष प्रत्यय क्षेष आदि भेदों से यह अलंकार आठ प्रकार का होता है। क्रमसे उदाहरण देते हैं — प्रतिकृति – विधि (दैव) अथवां विधु (चन्द्रमा) के प्रतिकृत होने पड सव साधन विफल होजाते हैं। गिरने ( अस्त होने ) के समय सूर्य के हजार कर (किरण अथवा हाथ) भी सहारा देने को पर्याप्त न हो सके (क्योंकि विधु मितिकूल दिशा में स्थित था)। पूर्णिमा के दिन सूर्यास्त के समय सूर्य की विपरीत (पूर्व) दिशा में चन्द्रमानिकला करता है। जब सहस्र कर वाले सूर्य भी विधु की प्रतिकूलता के समय गिरने से न बच सके तो विधि की प्रतिकूलता में श्रीरों की तो बात ही क्या है। अत्रेति-यहां 'विघी' इस पद में विधि और 'विघु गन्दोंके अन्तिम वर्ण (इकार और उकार) श्रोकार के रूप में श्राग्ये हैं, श्रतः उक्त दोनों वर्णों का यहां श्लेष है। 'विधी' पद से दोनों अर्थ प्रतीत होते हैं। इस श्रीकार में केवल कि प्रत्यय का 'श्री' नहीं है, किन्तु प्रकृति के श्रत् श्रादेश को मिला कर भी वृद्धि हुई है, अतः इसे 'प्रत्ययश्लेष' नहीं कह सकते। 'वर्णश्लेष' ही कहं सकते हैं। प्रत्ययश्लेष का उदाहरण देते हैं। किरणा इति-यहां 'सुधां किरति' सि विष्रह में 'कृविचेपे' धातु से यदि क्विप् प्रत्यय करें तो हलन्त (रेफान्तः) भाकिर-शब्द बनता है और यदि उसी विग्रह में उसी घात से 'इग्रपवज्ञा भीका कि स्वास स्व श्रीर प्रथमा के एक वचन में 'सुधाकिरः' बन जाता है। इस प्रकार 'क्विप्' श्रीर 'क' नियत्ययों तथा एकवचन ग्रीर बहुवचन इन दीनों वचनों में यह पद शिलष्ट है। ाक्षी प्रकार 'एव' शब्द परे होते पर 'सर्वे' इस बहुवचनान्त का और 'सर्वः' इस

अत्र 'सुधाकिरः' इति किप्-क-मत्यययोः । किं चात्र बहुवचनैकवचन्योः रैकरूप्याद्वचनश्लेषोऽपि।

> 'विकसन्नेत्रनीलाब्जे तथा तन्व्याः स्तनद्वयी। तव दत्तां सदामोदं लसत्तरलहारिणा ॥' नपुंसकस्रीलिङ्गयोः श्लेषो वचनश्लेषोऽपि । 'अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदि ज्ञेषु च वद्यति। सामर्थ्यकृदमित्राणां मित्राणां च चृपात्मजः॥

एकवचनान्तका, सन्धि होने से, 'सर्व' यही रूप रहता है। अर्थ-चन्द्रमा के किरण और दिच्या दिशा से आने वाला मलयानिल यह सब अथवारे सब प्रियतम अथवा प्रियतमा के संग रहने वालों को सुधावर्षी हैं। यहां एक वचन तथा बहुवचन के भेद से दोनों अर्थ होते हैं। अत्रेति—'सुधाकिरः' में 'क्विप्' स्रीर 'क' प्रत्यय का श्लेष है। एवं बहुवचन तथा एकवचन के एक रूप होने के कारण यहां वचनश्लेष भी है। लिंगश्लेष का उदाहरण देते हैं-विकसन्निति - नपुंसक लिंग में 'लसत्तरलहारिन्' शब्द से प्रथमा के दिववन में 'लसत्तरतहारिणी' पद सिद्ध होता है और स्त्रीलिंग में लसत्तरतहारिणी शब्द से प्रथमा के एकवचन में वही पद सिद्ध होता है। इसी प्रकार आत्मनेपद्री 'दा' घातु से लोट् लकार लाने पर प्रथमपुरुष के पकवचन में 'दत्ताम्' वनता है और परसीपद में उसी घातु से उसी लकार के उसी पुरुष के द्विवनन भी यही रूप बनता है, अतः इन दोनों पदों का नपुंसकिता द्विवचनात 'विकसन्नेत्रलीलाब्जे' के साथ भी सम्बन्ध होता है श्रीर स्त्रीलिंग एक वचनान 'स्तनद्वयी' के साथ भी। इसलिए यह अर्थ होता है कि उस तन्ती है विलासयुक्त, चञ्चल और मनोहारी दोनों खिले हुए नेत्ररूप नीलकमल, तुम्हे सदा आनन्द दें तथा छशोभित, तरल (बीच की मिण्) से युक्त मुक्ताहार वाली उसकी स्तनद्वयी तुम्हें सद्। श्रानन्द दे। यहां 'लसत्तरलहारिणी' श्रोर 'दत्तण दोनों त्रोर लगते हैं। अत्रेति यहां नपुंसकित श्रीर स्त्रीलिंग का एवं द्विवत श्रीर एक वचन का श्लेष है।

प्रकृतिश्लेष का उदाहरण देते हैं —श्रयमिति—'वह् प्रापणे' श्रीर 'वव् परिशे' पणे' दोनों धातुओं से ॡर् लकार में 'वश्यित' रूप बनता है और 'डुइंज् कर्ले तथा'कती लेक्के - - रे तथा 'कृती छेदने' इन दोनों घातुओं से क्विप् प्रत्यय करने से 'कृत्' शब्द बनाहि । अतः इस पद्य का यह अर्थ होता है कि वह राजकुमार हृद्य में सब्धाओं । (वस्पति वह भार ) का (वस्यति वह धातु ) धारण करेगा और विद्वानों के बीच में उन्हीं (सब शाहा) है। (वस्यति वच धान । —) (कत् = दुक्तञ्) है तथा अभित्रों के सामर्थ्य को उत्पन्न परिवास (कर्व = क्री

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अत्र 'बद्यित' इति वहि-त्रच्योः, 'सामर्थ्यकृत्' इति कृन्तित-करोत्योः

पृष्ठ्योः । 
पृथुकार्तस्वरपात्रं '—इत्यादि । अत्र पदमङ्गे विमक्तिसमासयोरिप वैलक्ष्या-

सद्रलेषः, न तु प्रकृतिरलेषः । एवं च-

'नीतानामाकुलीमात्रं लुब्धेर्मूरिशिलीमुखै:।
सदृशे वनवृद्धानां कमलानां तदीच्यो ॥'

अत्र लुब्धशिलीमुखादिशब्दानां रिलष्टत्वेऽपि विभक्तेरमेदात्मकृतिरलेषः।
अत्यथा सर्वत्र पदश्लेषपसङ्गः।

'सर्वस्वं हर सर्वस्य त्वं भवच्छेदतत्परः। नयोपकारसांमुख्यमायासि तनुवर्तनम्॥'

बेदने) है। अनेति-यहां 'वक्ष्यति' में वह श्रीर वच् एवं 'सामर्थ्यकृत्' में कुञ्ज श्रीर हती इन प्रकृतियोंका श्लेष है। 'पृथुकेति'-इस पूर्वोक्त पद्यमें पद भंग करनेपर विमक्ति श्रीर समास भी भिन्न होजाते हैं, ऋतः यहां पद श्लेष है. प्रकृतिश्लेष नहीं। इसी मकार नीतानामिति-लुड्घों ( व्याघों ) से भूरि=बहुत शिलीमुखों=वाणों के द्वारा आकृतीमाव=त्रास को प्राप्त वन में पले हुए कमलीं=हरिणों के तुल्य ('मृगमेदेऽपि कमत्तः'—इति मेदिनीः ) अथवा लुब्ध (गन्ध के लोभी ) बहुत शिली-युषों = प्रमरों से त्राकुलीभाव = संकुलत्व को प्राप्त वन = जल में ( जीवनम् युवनं नम्' इत्यमरः ) बढ़े हुए कमलों=पद्मों के तुल्य उस के नेत्र हैं। घत्रेति — वहां यद्यपि 'लुब्ध' 'शिलीमुख' 'कमल' 'वन' ऋदि शब्द शिलष्ट हैं, तथापि यह पद्रलेष नहीं, क्योंकि यहां विभक्तियों का भेद नहीं है। पद रलेष वहीं माना जाता हैं जहां विमक्ति, समास छादि का भेद होता हो। जैसे 'पृथुकार्तस्वर' इत्यादि पद्य मै।यदि विमक्तयादि के अभेद में भी पद्श्लेष मानें तो सब जगह पद्श्लेष ही हो बाय, मक्कतिश्लेष कहीं रहे ही नहीं, क्योंकि केवल प्रकृति का, विना प्रत्यय के तो कहां प्रयोग होता हो नहीं। 'नापि केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नापि केवलः प्रत्ययः' यह महा-भाषका नियम है, अतः प्रत्यय के अमेद् में प्रकृतिश्लेष और प्रत्ययादि के भेद में प्रकृतिष माना जाता है। विभक्तिश्लेष का उदाहरण देते हैं। सर्वस्विमाति — किसी पकड़े गये डाक् ने शिव मन्दिर के पास खड़े हुए अपने पुत्र को देख कर पह पंच पढ़ा है। इस से शिव जी की स्तुति भी निकतनी है और पुत्र को उप-रिमी निकलता है। शिवके पत्त में इस प्रकार अर्थ होता है - हे हर, (शिव) तुम स्वके सर्वस्व हो। श्रावके पज्ञ मे इस प्रकार अय हाता ए स्व ( संस्व हो। श्रायांत् सभी पुरुष तुम्हें श्रापना सर्वस्व समभते हैं श्रीर तुम भव (संसार) के छेदन करने में तत्पर हो अर्थात् अपने मक्तों को संसार के भिनों से छुड़ाते ही एवं नय (न्याय) तथा उपकार का साम्मुख्य (साधन)

अत्र 'हर' इति पन्ने शिवसंबोधनमिति सुप्। पन्ने हधातोस्ति विमहा एवं 'भव ' इत्यादौ । अस्य च भेदस्य पत्ययश्लेषेणापि गतार्थत्वे पत्ययान्तराहाः ध्यसुबन्ततिङन्तगतत्वेन विच्छित्तिविशेषाश्रयसात्पृथगुक्तिः।

> 'महदे सुरसंधं मे तमव समासङ्गभागमाहरखें। हर बहुसरगां तं चित्तमोहमवसर उमे सहसा॥'

त्र्यत्र संस्कृतमहाराष्ट्रचोः ।

पुनिस्त्रिया सभङ्गोऽधाभङ्गस्तदु भयात्मकः ॥ १२॥

करने वाली शरीरवृत्ति (तजुवर्त्तन) को प्राप्त हो। अर्थात् आप के सब व्यवहार वेसे हैं जिन से परोपकार और न्याय होता है। दूसरे पत्त में यह अर्थ है कि पुत्र, 'त्वं सर्वस्य सर्वस्वं इर' अर्थात् त् सब का सर्वस्व लूट ले। त्वं बेदतलां मा तू सब के छेदन में तत्पर हो। उपकारमाम्म्एयं नयं ( अपनय ) किसी का उपकार मत कर एत्रम् 'श्रायासि वर्तनं ततु' अर्थात् दूसरी के पीड़ा देनेवाते ज्यवहार को विस्तार कर। अनेति-यहां 'हर' पद एक एक में शिवजी ब सम्बोधन होने के कारण सुबन्त है, और दूसरे पक्त में किया होने के काल तिङन्त हैं।इसीवकार भव' पद एक पत्त में सम्बोधन सुबन्त है और दूसरे पत में तिङन्त, अतः इन दोनों पद्ने में सुप्तिङ् रूप विभक्तियों का श्लेष है। यद्यी सुप्तिङ्ख्प विमक्तिभी प्रत्यय ही होती हैं, अतः विभक्तिश्लेष, प्रत्ययश्लेष ही अन्तर्गत हो सकता है, तथापि दूसरे प्रत्ययों से साध्य न होने तथा विशेष चमत्कारक होने के कारण विभक्तिश्लेष का पृथक् कथन किया है। भाषा लेप का उदाहरण देते हैं -महदे इत्यादि-यह पद्य संस्कृत तथा महाराष्ट्र-प्राकृत दोनों में पढ़ा जासकता है। संस्कृत का अर्थ-हे 'महदे ' मह । अर्थात् उत्स को देनेवाली उमा=पार्वतु (देवी 'आगम' शास्त्र के आहरण' (उपार्जन=अव्यक्त में 'सुरसन्ध' देवताओं के भी प्रार्थनीय 'समासङ ' न प्रेम प्रार्थ .श्रासिक को 'श्रव' रत्ता करो श्रार श्रवंसर पड़ने पर श्रवेक प्रकार से के ्वाले चित्तके व्यामोह को सहसा=शीघ्र 'हर' = हर्ग करो। यह किसी विद्यार्थी के भगवती से प्रार्थना है। प्राकृत पत्त में अर्थ-'मह्'=मुफे, 'देसु'=देशो, 'ती प्रेम, 'धरमें '=घरमें में —श्रर्थात् मुक्ते धर्म विषयक प्रेम प्रदान करो । जाति त्रमोगुण:प्रधान, 'श्रासं'=श्राशाको, 'गमागमा'=संसारसे 'हर'=हरण करो। विक हमारी तमोगुण प्रधान श्राशाको संसारसे हटाश्रो। हे हर बहु हर व्यू वर्ष 'तं'=तुम, 'सर्गं'=शर्ण हो 'में'=मेरा, 'चित्तमोहं'=चित्त का मोह, 'ग्रवसर्गं दूर हो, 'सहस्य'=शर्ण हो 'में'=मेरा, 'चित्तमोहं'=चित्त का मोह, 'ग्रवसर्गं ्द्र हो, 'सहसा'=शीघ्र ही । मेरा चित्त का मोह शीघ्र ही दूर हो । इस प्रक पद्य की संस्कृत यह है—मम देहि रसं धर्मे, तमोवशामाशां संसाराद्धर नः। हान्युक्त निचमोहो अपससरतु में सहसा । पुनाझिश्रेति—इस श्लेष के फिर तीन भेद होते

# एतद्भेदत्रयं चोक्तभेदाष्टके यथासंभवं ज्ञेयम्।

्येन ध्वस्तमनीभवेन वर्लिजित्कायः पुरास्रीकृतो यश्चोद्वृत्तभुजंगहारवलयोगङ्गां च योऽधारयत्। यस्याद्धः शशिमिन्त्रिरो हर इति स्तुत्यं च नामामराः पायात्स स्वयमन्धकत्त्रयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः ॥

समङ्ग्लेष, दूसरा अभङ्गश्लेष और तीसरा उभयात्मक अर्थात् समङ्गमङ्गश्लेष। वेतीनों मेद् यथासम्भव पूर्वोक्त आठ भेदों के ही अन्तभू तहो जाते हैं, अतः उक्त उदाहरणों में ही इनके भी उदाहरण जानना। अथवा दूसरा उदाहरण देखो-येने-ताहै -इस पद्य में-'सर्वदोमाधवः' इस स्थान में 'सर्वदः माधवः' श्रीर 'सर्वदा साधवः' ये दोनों पदच्छेद हो सकते हैं, अतः माधव (विष्णु) और उमाधव (शिव) दोनों ही यहां वाच्य हैं। सभी विशेषण दोनों की स्रोर लग जाते हैं। विष्णु पद्म में 'येन अमवेन अनः धास्तम्' जिन अजन्मा (जन्मरहित अथवा जन्ममर्ग मादि संसार के दुः खों से रहित कृष्ण ) ने 'त्रनस्'=शकट का घ्वंस किया म्योत् शंकटासुर का नाश किया। श्रीर पुरा विविजितकायः सीकृतः' पूर्वकाल में (अमृतमथन के समय) बिल को जीतनेवाले अपने देह को स्त्रीं बना दिया-पर्यात् असुरी को छलने के लिये मोहनी कर घारण किया। 'पश्र ब्रामुनहरा उद्वृत्त अर्थात् चरित्र से उद्गत=दुश्चरित्र (निर्मर्थाद्) भुनक्त'=अघासुर या कालिय नाग का जिन्होंने इनन (मार्ण या दमन) क्या ग्रौर 'रव' श्रर्थात् निरपेत्न-रव=वेदवाक्यों (निरपेत्रो तः श्रुतिः) का जिन्में लय होता है। जो सब वेद और उपनिषदों के बोध्य हैं। अगंगा व श्विषायत् अग्रान्गोवर्धन पर्वत स्रोर गौ= रृथिवी को जिन्होंने धारण किया है। कण्या से गोवर्द्धतं पर्वतं श्रीर कुर्मरूप से पृथिवी को जिन्होंने घारणं किया है। पत्य व शशिमंच्छिरोहर इति स्तुत्यं नाम अमरा बाहुः' देवतात्र्यों ने 'शशिमच्छिरोहर' यह खुवियोग्य नाम जिनका वताया है। शशि का मथन करनेवाले (शशिमथ्) राह के सिर्का हरण करनेवाले। श्रीर जिन्होंने श्रन्धक श्रर्थात् याद्वींका चय (स्थान शानाश) स्त्रयं किया है। कृष्णने द्वारकाको याद्वोंका स्थान बनाया श्रीर श्रन्त्य में याद्वी का नाश भी स्वयं कराया। वह सब कुछ देनेवाले ('सर्वद') माधव-लक्ष्मींपति श्रोकृष्ण तुम्हारी रत्ता करें। शिव पत्त में इस पद्य की योजना येन ध्वस्तमनोमवेन पुरावितिन्कायः अझीकृतः — मनोमव का ध्वस करनेवाले ति शिवजीने पूर्वकाल में ( त्रिपुग्दाह के समय ) 'वलिजित्'=विष्णु के भीर को शक्ष (बाण) बनाया श्रीर जिन्होंने 'उद्वृत्त'=लपेटे हुए 'सुजङ्ग'= भिक्री के स्था कि को है। हार आर कङ्कण ( न्नत्य ) बना रक्खा है एवं गङ्का को जिन्होंने किए के स्वार कङ्कण ( न्नत्य ) बना रक्खा है एवं गङ्का को जिन्होंने भारप किया है। जिनके शिर को देवता लोग 'शशिमत्' (चन्द्रयुक्त ) कहते के सह अध्यक्त स्थान के नि शिर को देवता लोग शासन्य र भीर हर यह स्तुत्य नाम जिनका बतलाते हैं, वह श्रन्धकासुर का नाश अत्र 'येन'—इत्यादौसभङ्गश्लेषः । 'अन्धक—' इत्यादावमङ्गः । अन्योधक संभवात्सभङ्गाभङ्गात्मको प्रन्थगौरवभयात् पृथङ् नोदाहृतः ।

अत्र केचिदाइ:-'समङ्गरलेष एव शब्दरलेषविषय:।यत्रोदात्तादिस्वरमेदाद्विभूषः होचार्यत्वेन भिन्नयोः शब्दयोर्जतुकाष्ट्रन्यायेन रलेषः। अभङ्गस्त्वर्थरलेष एव। क्ष स्वराभेदादभिन्नप्रयत्नोचार्यतया शब्दाभेदादर्थयोरेक वृन्तगतफलद्वयन्यायेन रलेषः। यो हि यदाश्रितः स तदलंकार एव । अलंकार्यालंकरणभावस्य लोकवदाश्रवः श्रियमावेनोपपत्तः' इति ।

करनेवाले उमाधव (पार्वतीवल्लभ) 'सर्वदा'=सदा रक्ता करें। श्रोति-इसप्त में 'व्यस्तमनोभव' इत्यादि पदों में समङ्गरलेष है, क्योंकि यहां दूसरे पत्त में उसी स्वरूप में पदों का सम्बन्ध नहीं होता, वे तोड़ने पड़ते हैं। और अन्धर इत्यादि पदों में अमङ्गरलेष है, क्योंकि ये पद दोनों पत्तों में एक ही स्वरूप से सम्बद्ध हो जाते हैं। ये दोनों सभङ्ग और अमङ्गरलेष एक ही जगह मिल सकते हैं, अतः अन्धगौरव के भय से पृथक् पृथक् उदाहरण नहीं दिये।

अत्र केचिदिति-यहां कोई कहते हैं कि समङ्गरलेष ही शब्दरलेष है, अम्ब नहीं, ग्रतः सभक्षश्लेष ही शब्दालङ्कारों में परिगणनीय है, क्योंकि स (समङ्गरतेष) में ही भिन्न स्वर (उदात्तादि) वाले और भिन्न 'प्रयत्नों हे उचारणीय दो भिन्न शब्दों का 'जतुकाष्ठ' के समान श्लेष होता है। जैसे जु (लाख) लक़ड़ी से भिन्न होती हुई भी उसपर चिपकी रहती है, इसी प्रकार समङ्गर्लेष में दूसरा शब्द अत्यन्त भिन्न होने पर भी एक शब्द पर चिपका स रहता है। जैसे 'येन' इत्यादि पद्य में ध्वस्त-मनो-भत्र श्रौर 'ध्वस्तम्-श्रत-अभव' ये पद परस्पर भिन्न होने पर भी संश्लिष्ट हुए हैं। अमङ्ग्रतेष की अर्थश्नेष ही मानना चाहिए, क्योंकि यहां दोनों पत्तों में शब्दों का स्व भी अभिन्न रहता है और उचारण में भी प्रयत्नभेद नहीं होता. अतः गा शब्दमेद भी नहीं होता। शब्द दोनों पत्तों में एक ही होता है, किन्तु की दो होते हैं। जैसे एक गुच्छे में दो फल लगे हों, इसी प्रकार एक शब्द में ही अर्थ शिलप्ट दीखते हैं। जैसे 'अन्धक' पद उक्त पद्य में एक ही है। केंबा अर्थ का भेद हुआ है. अतः इस अमङ्गरलेष को अर्थश्लेष ही मानना चारि क्योंकि यहां दो अर्थों का ही श्लेष (मेल ) है, दो शब्दों का नहीं। येही जो जिसके श्राधित है, वह उसी का श्रलङ्कार माना जाता है, क्योंकि शहर और त्रलङ्कारों में त्राश्रयाश्रयिमाव की उपपत्ति लोक के ही समान होती है। जैसे लोक में सिर पर रहनेवाला मुकुट सिर का अलङ्कार माना जाता है और बाहु में रहनेवाला श्रङ्गद बाहु का ही भूषण माना जाता है, इसी की काव्य में भी जो अलङ्कार शब्द के आश्रित है वह शब्दालङ्कार और बे अर्थ के आश्रित है वह अर्थालङ्कार माना जाता है। इस कार्य अमहिन अर्थालङ्कार ही है।

तद्त्ये न ज्मन्ते । तथाहि — अत्र ध्वनिगुणी स्तब्यङ्ग चदोषगुणालं काराणां शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थितेरन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन नियम इति । न च म्बन्धकत्त्य—' इत्यादौ शब्दामेदः, 'अर्थमेदेन शब्दमेदः' इति दर्शनात् ।

कि चात्र शब्दस्यैव मुख्यतया वैचित्र्यवोधोपायत्वेन कविपतिभयोद्रङ्कनाच्छ्रब्दा-हंकारत्वमेव । विसदशशब्दद्वयस्य बन्धे चैशंविधत्रैचित्र्याभावाद्, वैचित्र्यस्यैव वालंकारत्वात् । ऋर्यमुखमेचितया चार्यालंकारत्वेऽनुमासादीनामपि रसादिपरत्वे-नार्यपुखपे चितयार्थी लंकारत्वमसङ्गः । शब्दस्यामित्रपयतो चार्यत्वेनार्थीलंकारत्वे प्रतिकूलतामुपगते हि त्रिधौ' इत्यादौ शब्दमेदेऽप्यर्थालंकारत्वं तवापि प्रसञ्ज्यती-

इस मत का खएडन करते हैं। तदन्ये इति—इस मत का और लोग सहन नहीं करते -तथा हि - युक्ति दिखाते हैं - अत्रेति -यहाँ ध्वनि, गुणीभूतव्यक्त्य, दोष, गुण और अलङ्कारों में से कौन शब्दगत है और कौन अर्थगत, इस व्यवस्था का नियम अन्वय-वयितिरेक से ही किया जाता है। जो ध्वनि, प्रतंकार त्रादि किसी शब्द की स्थिति में रहे और उसके हटाने पर न रहे वह शब्दगत और जो उस शब्द के पर्यायों के रखने पर भी बना रहे वह ध्वनि, म्रबङ्कार त्रादि अर्थगत माना जाता है। प्रकृत में यदि 'अन्धक' पद के स्थान पर उसका पर्याय वाचक 'यादव' या उस ब्रामुर का बोधक कोई पद रख दें तो यह श्लोष नहीं रहेगा, श्रतः यह शब्दालंकार ही है। न नेति— शोर यह जो कहा है कि 'अन्धक त्य' इत्यादि में शब्द का अमेद है, सो मी ठीक नहीं, क्योंकि 'अर्थमेदेन शब्दमेदः' यह नियम है। 'प्रत्यर्थ शब्दनिवेशः' यह सिद्धान्त है। 'जहाँ अर्थ का भेद होता है वहाँ शब्द का भी भेद होता है'-पत्येक अर्थ के लिए एक शब्द चाहिये' अतः जहाँ दो अर्थ प्रतीत होते हैं वहाँ दो शब्द भी अवश्य चाहियें। यदि एक से आकार के दोनों शब्द हैं तो उनकी दो बार आवृत्ति हो जायगी।

किनेति इस के अतिरिक्त यहाँ शब्द ही प्रधानतया चमत्कारका कारण है। वे बहुक्त (अनुसंधान या निवेश ) हुआ है, अतः यह असङ्गर्तेष शब्दा-हिता ही है। यदि दूसरे प्रकार के दो शब्द यहाँ निबद्ध किये जायँ तो यह वित्य न रहेगा और वैचित्रय ही अलङ्कार है। यदि कही कि यह अलङ्कार अपंके अनुसन्धान की अपेदा करता है, अतः यह अर्थालङ्कार है, तो अनु-भाषादिक मी तो रसादि परक होने के कारण अर्थानुसन्धान-सापेत होते हैं। भुगासादिक भी अर्थ का अनुसंधान चाहते ही हैं। तुम्हारे इस कथन के श्वितार तो वे भी अर्थालङ्कार हो जायँगे। श्रोर उन्हें तुम भी शब्दालङ्कार ही भारते हो। यदि कहो कि जहां शब्द अभिन्न (एक ही) प्रयत्न से उचारण क्या बाद कहा कि जहां शब्द अभिन्न (एक का नहीं, क्योंकि— क्षित्र काता है वहां अर्थालङ्कार होता है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि— भीकृषतामुप्राते हि विधी यहाँ 'विधि' 'विधु' शब्दों का भेद होने पर भी 'विधी' CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri त्युभयत्रापि शब्दालंकारत्वमेव । यत्र तु शब्दपरिवर्तनेऽपि न रलेषत्वखण्डना, तत्र 'स्तोकेनोन्नतिमायाति, स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।

ब्रहो सुंसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटे: खलस्य च ॥'

इत्यादावर्थरलेषः । ...

अस्य चालंकारान्तरविविक्तविषयताया असंभवादिद्यमानेष्वलंकारान्तरेष्वप्रवाद त्वेन तद्बाधकतया तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुत्विमिति केचित्।

का उचारण अभिन्न प्रयत्न से हो होता है, अतः तुम्हारे मत में यह भी अवी लङ्कार हो जायगा, परन्तु तुम इसे शब्दालङ्कार ही मानते हो, इसिले 'अन्धके'त्यादि स्थल में तथा 'विधां' में ( दोनों जगह ) शृद्धालङ्कार मात्रा ही ठीक है। यदि यह कही कि अभङ्ग की शब्द श्लेष मानने से अर्थश्लेष का कही अवसर ही न रहेगा, सो भी ठींक नहीं, क्योंकि जहाँ एक शब्द का परिवर्तन करके, उसका पर्याय रखने पर भी श्लेष बना रहेगा, वहाँ अर्थश्लेष होगा। जैसे सोकेत्यादि - थोड़े में ही उठ जाता है और थोड़े में ही नोचे गिर जाता है। अहो ! तराजू की डंडी और खल की कैसी संमान वृत्ति है। दोनों ही ज़ा में उठ जाते हैं श्रीर जरासे में ही नीचे गिर जाते हैं। यहाँ स्तोक श्रादि पर् को हटाकर यदि उनके पर्याय 'स्वरूप' आदि रक्खे जाय तो भी श्लेष वन

रहता है; श्रतः यह श्रर्थश्लेष होगा ।

उद्भर तथा राजानक रुय्यक ( अलङ्कारसर्वस्वकार ) त्रादि प्राचीत श्राचार्यों ने श्लेष को श्रन्य श्रलङ्कारों का श्रपवाद माना है। उनके मतातुसार जिन उद्ाहरणों में श्लेष का परिपोष होता है उनमें अन्य अलङ्कार रहते ते अवश्य है, किन्तु श्लेष के कारण उनकी 'प्रतिमा'=छाया ( श्रामासमात्र) ही उत्पन्न होती है और अन्त में श्लेष उन्हें वाध लेता है। काव्यप्रकाशकार के इस मत का विस्तार के साथ निराकरण किया है। उसी के श्रवुसार खण्ड करने के लिये प्राचीन मत का उपक्रम करते हैं — श्रस्य चेति —यह श्रसम्भवी कि श्लेष का विषय अन्य अलङ्कारों से विविक्त (पृथांभूत ) मिल सके। जा श्लेषालङ्कार होगा वहाँ कोई न कोई अन्य अलङ्कार अवश्य रहेगा, अतः अर वाद होने के कारण अर्थात् अलंकारान्त्रों से विविक्त उदाहरण न गांसकी के कारण श्लेषालङ्कार अपने साथ विद्यमान अन्य अलङ्कारों का वाधक होती है और वाधक होकर हो अन्य अलङ्कारों को प्रतीति कराता है। तार्विष्यि जो सब से अन्त्य में प्रतीत हो वहीं प्रधान और उपस्कार्य माना जाती हैं जैसे ध्वति एक कर्मा जैसे ध्वनि, परन्तु श्लेष के विषयः में यह नियम शिथिल करना पहेगा, कार्षि इसका उदाहरण ऐसा कोई मिल हो नहीं सकता कि जहां दूसरा अल्डार हो। श्रीर यदि सब जगह श्रन्य श्रलङ्कारों के नाम से ही व्यवहार किया गरी है। श्रलक का कहीं नाम करने लें रलेष का कहीं नाम न रहेगा। इसलिये रलेष को बाधक मानना चाहिये और अहाँ कहीं रलेष के सानना चाहिये और जहाँ कहीं रलेष के अनुस्तर श्रीका अलुक्सार अनिहेत हो वहाँ प्रथम प्रति

इत्यमत्र विचार्यते—समासोक्तचमस्तुतमशंसादौ द्वितीयार्थस्यानभिधेयतया नास्य ान्धोऽपि । 'विद्रन्मानस इंस'—इत्यादौ रत्नेवगर्भे रूपकेऽपि मानसशब्दस्य चित्त-सरोह्मपोभयार्थत्वेऽपि रूपकेण रलेषो बाध्यते । सरोह्मपस्यैवार्थस्य विश्रान्तिधाम-त्या प्राधान्यात् । रलेषे हार्थद्रयस्यापि समकत्त्वम् । 'संनिहितबालान्धकारा भास्त्र-मूर्तिरच' इत्यादौ विरोधाभासेऽपि विरुद्धार्थस्य प्रतिभातमात्रस्य परोहाभा-वान रलेषः । एवं पुनरुक्तवदामासेऽपि ।

तेत 'येन ध्वस्त-' इत्यादौ पाकरिएकयोः, 'नीतानाम्-' इत्यादावपाकरिए-

हुए ख़्बालङ्कार के नाम से ही व्यवहार करना चाहिए। पीछे प्रतीत हुए उपमा श्रादि अलङ्कारों की प्रधानता नहीं देनी चाहिये।" यह किन्हीं श्राचायौँ का मत है। स्थिमिति — वे लोग यहां इस प्रकार विचार करते हैं — समासोक्ति और अप्र-सुतपशंसा आदि अलङ्कारों में तो दूसरा अर्थ अभिधेय होता नहीं, व्यंग्य होता है, अतः उनके साथ श्लेषालङ्कार का गन्ध (लेश) भी नहीं हो सकता, क्योंकि इसके लिये दोनों अर्थ अभिधेय होने चाहियें। 'विद्वन्मानसहंसं' रियादिक श्लेषगर्भक्रपक में यद्यि 'मानस' शब्द के 'चित्त' और 'सरोवर' वे दोनों अर्थ वाच्य हैं तथापि वहाँ रूपक श्लेष का बाधक होता है, क्योंकि वहाँ सरीवर रूप अर्थ ही अन्तिम प्रतीति का विषय होने के कारण प्रधान है श्रीर मनोद्भप्र अर्थ अप्रधान है, अतः वहाँ श्लेष नहीं हो सकता, क्यों कि श्लेष में दोनों अथौं की समानता होनी चाहिये। प्रधान और अप्रधान अथौं में शलेष वहाँ हुआ करता। संनिहितेत्यादि में भी यद्यपि यह अर्थ प्रतीत होता है कि अमोह अन्धकार जिसके पास रहता है ऐसी सूर्य (आस्वत्) की मृति। पति यह विरुद्ध अर्थ तो. च्या भर के लिये बिजलों की मांति चमक दिखा जाता है। प्रतिभात मात्र होता है, स्थिर नहीं रहता। श्रन्त्य में तो यही अर्थ स्थिर रहता है कि 'बाल' (केश) रूप अन्धकार जिसके सिन्नहित है पेसी विश्वमान मुर्ति। अतः यहां भी दोनों अर्थों की समकतता न होने के कारण किंग नहीं हो संकता। विरोधाभास ही रहता है। इसी प्रकार पुनरक्र नदा-भार में भी दूसरा अर्थ प्रतिभात मात्र होता है, उसका प्ररोह (स्यरता) विश्विता, अतः वहाँ भी श्लेष नहीं हो सकता। इस प्रकार इन प्रविक अविद्वारों में श्लेष का प्रवेश नहीं हो सकता, अतः 'येन ध्वस्त' इत्यादि पद्य में बहाँ पार्थनीय होने के कारण दोनों शिव और विष्णुरूप अर्थ प्राकरिएक (पहत ) हैं, वहाँ दोनों अर्थों के एक धर्म ( अन्धक त्यक रत्व आदि ) से युक्त कि कारण यद्यपि तुल्ययोगिता अजङ्कार प्राप्त है (प्रदार्थाना प्रस्तुतानासन्येषां CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

क्यारेकधर्माभिसंबन्धातुल्ययोगितायाम् ,

'स्त्रेच्छ्रोपजातिवषयोऽपि न याति वक्तुं
देहीति मार्गणशतैरच ददाति दुःखम् ।

मोहात्समुित्चिपति जीवनमप्यकाण्डे
कष्टं प्रसूनिविशिखः प्रभुरल्पबुद्धिः ॥'

इत्यादौ च प्राकरिणकापाकरिणकयोरेकधर्माभिसंबन्धादीपके,

'सकलकलं पुरमेतज्जातं संपति सुधां गुविम्बिमव ।'

इत्यादौ चोपमायां विद्यमानायामपि रलेषस्यैतद्विषयपरिहारेगासंभवाद् एषां च रलेषविषयपरिहारेगापि स्थितेरेतद्विषये रलेषस्य प्राधान्येन चमत्कारित्वपतीतेरच रलेषेग्रीव व्यपदेशो भवितुं युक्तः । अपन्यथा तद्यपदेशस्य सर्वथाभावपसंगाचेति।

वा यदा मवेत् । एकधर्मामिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ।) स्त्रीर 'नीतानाम्' इत्यादि पूर्वीक्र पद्य में अप्राकरिएक (कमल अौर हरिए) दोनों अर्थों के एक धर्म ( वनवृद्धत्वादि ) से युक्त होने के कारण "अप्रस्तुतप्रस्तुतयोदींपकं तु निगवते" स लत्त्रण के अनुसार, यद्यपि दीपक अलङ्कार प्राप्त है, तथापि यहाँ श्लेपही मानना चाहिए। इसी प्रकार स्वेच्छेति-सूर्ख राजा के किसी सेवक की उक्ति है-अल्पबुद्धि प्रभु और प्रस्नविशिख ( पुष्पशर=कामदेव ) एक समान कष्टत्यक हैं। कामदेव अपनी इच्छा के अनुसार विषयों ( लक्ष्यों ) को प्राप्त करता है। (स्वेच्छया उपजाताः प्राप्ताः विषयाः लद्त्याणि येन सः ) और सैकड़ों बाणों से दुः बरेत है, परंतु 'देही' (देहधारी) नहीं कहाता, अनङ्ग ही रहता है एवं मुन्हीं (गोर) आदि के द्वारा अचानक प्राण भी हरण कर लेता है। इसी प्रकार मुर्ब स्वामी यथेच्छ विषयों=देशों को प्राप्त करके भी याचकों के द्वारा 'देहि' ( दीजिये) हि प्रकार के याचना वचन को प्राप्त नहीं होता, तथापि दुःख देता है। विनामी है दुःख देता है और कभी मोह (अपराध के भ्रमसे) प्राण् भी ले लेताहै, इसिंहर पूर्व स्वामी और कामदेव एक समान कष्टदायक अथवा कष्टतेव्य है।यहां मीक्ष ( अल्पवुद्धि प्रभु ) श्रौर अप्रकृत (कामदेव ) का एक धर्म से सम्बन्ध होंदे कारण यद्यपि दीपक अलङ्कार प्राप्त है एवम् सक्तेति-स-कलकत (कल कल्पार से युक्त ) यह नगर इस समय सकल-कल (सम्पूर्ण कलाओं से युक्त) बन्ना समान है। इस उदाहरण में भी यद्यपि उपमा अनुङ्कार विद्यमान है। इस उदाहरण में भी यद्यपि उपमा अनुङ्कार विद्यमान है। श्लेषालङ्कार तो इनके विना कहीं रह ही नहीं सकता और ये सब श्लेष के मी रह सकते हैं, इसके अतिरिक्त उक्त उदाहरणों में प्रधानतया हते हैं। हो चमत्कार प्रकोद को उ ही चमत्कार प्रतीत होता है, अतः इन सब पूर्वोक्ष द्विष्य हिंदि । उदाहरणों को श्लेष ही का प्रधान लक्ष्य समझना चाहिए, अन्यर्थ होता वाहर होता है कि वाहर होता वाहर है कि वाहर होता है कि वाहर है न्यवहारका सर्वथा श्रमाव हो जायगा, कहीं उसका उदाहरण ही नहीं हैं। क्या कि वह इनसे विक्रिक म्योंकि वह रनसे विविक्त होता ही नहीं । CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection: Digitized by eGangotri

अत्रोच्यते—न तात्रत्परमार्थतः रलेषस्यालंकारान्तरात्रितिकत्तिषयता 'येन क्रित्तं ' इत्यादिना त्रितिकतिषयत्वात् । न चात्र तुल्ययोगिता, तस्यारच योग्पर्ययोगिच्यत्विनयमाभातात् । अत्र च माधनोमाधनयोरेकस्य वाच्यत्विनयमे प्रस्य व्यङ्गचत्वं स्यात् ।

किं च तुल्ययोगितायामेकस्यैव धर्मस्यानेकधर्मिसंबन्धितया प्रतीतिः । इह त्रिकेषां धर्मिणां पृथकपृथग्धर्मसंबन्धतया । 'सकलकलम्—' इत्यादौ च नोपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः रलेषः।पूर्णोपमाया निर्विषत्यवापत्तेः। 'कमलिमव मुखं मनोज्ञमेतत्'
इत्याद्यस्ति पूर्णोपमाविषय इति चेत्, न । यदि 'सकल—' इत्यादौ शब्दरलेषतया नोपमा, तिकमपराद्धं 'मनोज्ञम्' इत्यादावर्थरलेषेण ।

इस मत का खएडन करते हैं। न ताबदिति — बस्तुतः यह बात नहीं है कि श्लेषालङ्कार अन्य अलङ्कारों से विविक्त होता ही नहीं। 'येन ध्वस्त' इत्यादिक श्लेष के ही विविक्क उदाहरण हैं। पूर्वपत्ती ने जो यहाँ तुल्ययोगिता अलङ्कार बताया है सो ठीक नहीं, क्योंकि उस में दोनों अर्थों के वाच्य होने का नियम नहीं है। येनेत्यादि में यदि माधव और उमाधव में से किसी एक को ही बाच्य मानोगे तो दूसरा व्यंग्य हो जायगा। फिर उस दशा में दोनों के वाच्य न रहने से श्लेष का गन्ध भी न रह सकेगा।

किवेति—इस के अतिरिक्त तुल्ययोगिता में एक ही धर्म अनेक धर्मियों (सम्बन्धियों) में अनुगत प्रतीत होता है, परन्तु प्रकृत येनेत्यादि में तो अनेक धर्मियों में पृथक पृथक् धर्मों का सम्बन्ध प्रतीत होता है। शिव के पत्त में मनोभव का ध्वंस आदि प्रतीत होता है और विष्णु के पत्त में शकटा-हुर का वध आदि । एक ही धर्म अनेक धर्मियों में अनुगत नहीं है, भतः यहां 'तुल्ययोगिता' अलङ्कार हो ही नहीं सकता। सक्लकतम् इति — पक्तेत्यादि में भी श्लेष, उपमा की 'प्रतिमा' ( श्रामासमात्र ) का उत्पादक वहीं है। महोद्भट आदि प्राचीन आचार्यों के मतानुसार इस उदाहरण में सिष के कारण उपमा का आभासमात्र प्रतीत होता है, परन्तु वह परिपुष्ट वहीं हो पाती, क्योंकि श्लेष उसे बाध लेता है, अतः यहाँ श्लेष ही प्रधान अतिकार है, उपमा नहीं। इसका खराडन करते हैं—पूर्णोपमा या इति— वि ऐसे स्थलों में श्लेबालङ्कार को उपमा का बायक मानोगे तो फिर पूर्णी-मा का कोई विषय ( उदाहरण ) ही न रहेगा। यदि कही कि 'कमलिव विषे मनोक्षमेतत् इत्यादिक पूर्णीयमा के उदाहरण रहेंगे, यह ठीक नहीं। विष्य के प्राप्त के प्राप्त के कारण उपमा नहीं मानते तो 'मनोश्वम्' सि पद के अर्थश्लेष ने क्या अपराध किया है, जो उसे उपमा का बाधक नहीं भातते ? जब इतेषमात्र को उपमा का बाधक मानते हो तो जैसा ही शब्द-निष्य के अर्थश्लेष । दोनों ही उपमा के बाधक होंगे, अतः पूर्णोपमा निर्देषय हो जायगी।

क्षुटमर्थालंकारावेतावुपमासमुचयौ, कि तु। आश्रित्य शब्दमात्रं सोमान्यमिहापि संभवतः॥

इति रुद्रटोक्तदिशा गुण्कियासाम्यवच्छ्रब्दसाम्यस्याप्युपमापयोजकलात्। ननु गुणिकियासाम्यस्यैवोपमापयोजकता युक्ता, तत्र साधम्यस्य वास्तवत्वात्।शब्दसायः स्य तु न तथा, तत्र साधम्प्रस्यात्रास्त्रत्वात् । ततरच पूर्णोपमाया अन्ययातुपाला गुगा कियासाम्यस्यैवार्थरलेषविषयतया परित्यागे पूर्णोपमाविषयतायुक्ता, न्तु 'स्कल-'इत्यादौ शब्दसाम्यस्यापीति चेत्, न । 'साधर्म्यमुपमा'इत्येवाविशिष्टस्योप मालज्यास्य शब्दसाम्याद्व चावत्तरभावात्। यदि च शब्दसाम्ये साधम्यमवास्तवलात्रो

केवल शब्द की समानता में उपमा न होती हो, सो वात भी नहीं है जैसा कि रुद्र ने कहा है-स्फुटमिति-- 'उपमा श्रीर समुचय स्पष्ट ही श्रम लङ्कार हैं, किन्तु केवल शब्द की समानता के कारण शब्द में भी होते हैं। रुद्रशचार्य के इस कथन के अनुसार गुणिक्रयासाम्य की तरह शृब्दसाय ्भी उपमा का प्रयोजक होता है। जैसे गुण श्रौर किया की समानता में उपम त्रलङ्कार होता है उसी प्रकार केवल शब्द की समानता में भी होता है।

प्रशन गुंग और क्रिया की समानता को ही उपमा का प्रयोजक मानना ठीक है, क्योंकि जहां उपमान और उपमेय के गुण-क्रियारूप धर्मों की सम नता हो, वहीं वास्तविक साधर्म्य होता है, और साधर्म्य ही उपमान प्रयोजक है। केवल शब्द की समानता को तो उस प्रकार उपमा का प्रयोजक नहीं मानना चाहिये, क्योंकि ऐसे स्थलों पर उपमानोपमेय के किसी अर्थात धर्म की समानता न रहने के कारण साधर्म्य अवास्तविक होता है। केवत शब्द ही समान होते हैं, अर्थ का साहश्य वहां नहीं होता। ततश्रविनिकेवत शब्दसाम्य तो उपमाका प्रयोजक होता ही नहीं। 'ग्रन्यथा'—ग्रथीत् गीर शब्द इलेष और अर्थ इलेष इन दोनों में उपमा न मानी जाय तो पूर्णीपन की कहाँ उपपत्ति चहीं हो सकती, उसका कोई उदाहरण ही नहीं रहेगा अतः गुण और किया के साम्य को ही अर्थश्लेष की विषयता से हराकी अर्थात् जहां गुण्कत अथवा कियाकृत समानता हो वहां श्लेष का उदाहरी न मान कर वह स्थल, पूर्णीयमा को विषय प्रानना चाहिये। उसी स्थल पूर्णीपमा मानना ठीक है। 'सकलकल इत्यादि में, जहाँ केवल शब्दसार है, वहां भी उपमा मानना ठीक नहीं।

उत्तर देते हैं इतिचेत् न—'साधम्यं मुपमा' यही उपमा का तहण है। अविशिष्ट है। यहां साधम्य में किसी प्रकार की विशेषता नहीं दिस्तान है, अतः शब्दकृत साधम्यं की व्यावृत्ति नहीं की जा सकती। साधारणना राष्ट्रकृत साधम्यं की व्यावृत्ति नहीं की जा सकती। साधारणना शब्दकत साधम्यं भीर अर्थकत माधम्यं दोनों ही उपमा के प्रयोजक मा जाते हैं। यदिवाति— ग्रीर यदिः शब्दमात्र का साधम्यं होते पर 'ग्रवाहतीं होने के कारण सम्मर्क होने के कारण साधर्म्य उपमा का प्रयोजक नहीं होता ती 'विद्यमानस ही

क्षाप्रयोजकम्, तदा कथं 'त्रिद्धनमानस-' इत्यादावाधारमूते चित्तादौ सरोवराद्या-रोगो राजादेईसाबारोपपयोजकः।

किंच यदि वास्तवसाम्य एवोपमाङ्गोकार्या, कथं त्वयापि 'सकलकल-' इत्यादी बाध्यमूतोपमांगीकियते । कि चात्र रलेषस्यैव साम्यनिर्वाहकता, न तु साम्यस्य रत्नेषनिर्वाहकता । रत्नेषबन्धतः प्रथमं साम्यस्यासंभवात् इत्युपमाया (बांगित्वेन व्यपदेशो ज्यायान् । 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति' न्यायात् ।

त्यादि स्थल में आधारभूत चित्तादि में सरोवरत्व आदि का आरोप, राजादि में हंसादि के आरोप का प्रयोजक कैसे होता है ? तात्पर्य्य यह है कि उपमा और रूपक दोनों ही सादश्यमूलक अलङ्कार है। भेद केवल इतना कि उपमा में भेद घटित साहश्य रहता है और रूपक में भेद तिरोहित रहता है ( उपमैव तिरोभूतमेदा रूपंकिमण्यते ) इस लिये यदि शब्दसाम्य को साहश्यम् लक अलङ्कारों का प्रयोजक नहीं मानोगे तो जैसे शब्दसाम्य में उपमा नहीं होती वैसे ही उस में रूपक भी नहीं होगा । फिर 'विद्रन्मानस हंस' इत्यादि में 'विदुषां मानसं=मन एव मानसं=सरः' (विद्वानों का चित्त ही मान-सरोवर है) यहं रूपक भी नहीं हो स केगा, क्योंकि शब्द साम्य के अतिरिक्ष वित्त श्रोर सरोवर का कोई श्रर्थसाम्य यहाँ निवद्ध नहीं है। 'मानस' शब्द से दोनों की उपस्थिति होने के कारण हो समानता मानी जाती है, अतः ववित्त में सरोवरत्व का आरोप ही नहीं, तो फिर राजा में हंस का श्रारोप भी नहीं हो सकता । यहाँ शिलष्टपरमपरित रूपक है और पहला राक (मानसत्वारोप) दूसरे रूपक ( हंसत्वारोप) का कारण है। विद्वानी के चित्त को मानसरोवर बताके राजा को उस में विद्वार करने वाला हंस वताया गया है। जब आधारस्वरूप चिन्त, मानसरोवर ही न बन सका (क्योंकि तुम शब्दमात्र के साम्य को सादृश्यमुलक अलङ्कारों का प्रयोजक नहीं मानते ) तो फिर राजा को हंस बना कर कहाँ विठात्रोंगे ? किसी के वित्र में तो हंस घुसा नहीं करते, अतः यह तुम्हारा उदाहरण ही तुम्हारे विषरीत पड़ेगा।

किनेति यदि वास्तविक साम्य में ही उपमा मानोगे तो 'सकलकल' लादि में तुम बाध्यभूत उपमा कैसे मान सकोगे ? इघर यह भी कहते हो कि 'सकलकल' में उपमा बाध्यक्रप से रहती है, श्रर्थात् उपमा का श्रामास होता है परन्तु श्लेष उसे बाध लेता है—श्रीर उधर यह भी बोतते हो कि केवल गिर्द के साम्य में उपमा नहीं होती । जब शब्द-साम्य में उपमा होती ही भी तो सकलेत्यादि शब्दसाम्य में वह, बाध्य होंकर भी, कैसे रहेगी ? भिति इस के अतिरिक्त यहाँ साम्य का निर्वाहक श्लेष ही है। श्लेष का भारत श्रांतिरिक्त यहाँ साम्य का निवाहक उत्तर प्रकार का साम्य (साहक ) (बाहरूय) पुर और चन्द्रमा में सम्भव नहीं है। इस कारण उपमा ही भूती। अर्थात् प्रधान है, वही पीछे प्रतीत होती है। प्रथम प्रतीत होने वाला

ननु शब्दालंकारविषयेऽङ्गाङ्गिभावसंकरो नाङ्गीक्रियते तत्कश्रमत्र रतेषोपमयो रङ्गाङ्गिभावः संकर इति चेत् न । अर्थानुसंधानिवरिहिएयनुपासादावेव तथानङ्गी कारात्। एवं दीपकादाविप ज्ञेयम्।

'सत्प्रचा मधुरगिरः प्रसाधिताशाः मदोद्भतारम्भाः। धार्तराष्ट्राः कालवशान्मेदिनीपृष्ठे ॥' निपतन्ति

अत्र शरद्वर्णनया प्रकरणेन धार्तराष्ट्रादिशब्दानां हंसाद्यर्थाभिधाने नियमनाह्-दुर्योधनादिरूपोऽर्थः शब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिः । इह च पकृतप्रबन्धामिनेयस द्वितीयार्थस्य सूच्यतयैव विविक्ततत्वादुपमानोपमेयभावो न विविक्ति इति नोपमा ध्वनिर्न वा रलेष इति सर्वमवदातम् ।

## पद्माचाकारहेतुत्वे वर्णानां चित्रमुच्यते।

श्लेष तो उस का साधन होने से अपधान है, अतः यहां प्रधानभूत उपा के नाम से ही व्यपदेश होना ठीक है, क्योंकि 'प्रधान से ही व्यवहार हुआ करता है' यह नियम है।

प्रश्न-'शृब्दालङ्कारों में श्रङ्गांगिभावरूप संकर नहीं माना जाता, यह नियम है, फिर इन दोनों (श्लेष और उपमा) शब्दालङ्कारों का अङ्गाङ्गमाव संकर कैसे होगा ? यदि 'सकलकलम्' में शब्दश्लेष को शब्दसाम्यमुलक उपमाक साधक मानागे तब तो यहां इन दो शब्दालङ्कारों में ऋङ्गांगिमाव मानन पदेगा। उत्तर — उक्क नियम उन्हीं शब्द।लङ्कारों में माना जाता है जिनमें अर्थ के अनुसन्धान की आवश्यकता न पड़े। जैसे--अनुपासादिक। यहां वर नियम लागु नहीं है। इसी प्रकार शब्द की समानता होने पर दीपकादि त्रबङ्कारों में भी उन्हीं का प्राधान्य जानना, श्लेष का नहीं।

सत्पनाइति—ग्राच्छे पत्त (पङ्क या साथी) वाले, मधुरभाषी, जिन्हीने दिशा को मसाधित ( भूषित या वशीकृत ) किया है, वे धार्तराष्ट्र ( हंस या वृत् राष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादिक) काल (शरत् समय या मृत्यु) के वश् के पृथ्वी पर गिरते हैं। अतेति — इस 'वेणीसंहार' नाटक के पद्य में शरहर्षि प्रकृत होने के कारण 'धार्तराष्ट्र' त्रांदि शब्दों की शक्ति हंसादि में तियिति। है, अतः दुर्योधनादि रूप दूसरा अर्थ शब्द शिक्त मूलक वस्तु ध्वित जातना दुर्योधनाटि के नाम दुर्योधनादि के मर्गादि रूप दूसरे अर्थ जो इस प्रबन्ध ( प्रन्थ ) के प्रतिगा हैं उनकी यहाँ सूचनामात्र विविद्यति है। उस की श्रोर केवल इशारा कर्ता ही श्रमीए है। ही अमीष्ट है। प्रधानतया उसका बोधन अमीष्ट नहीं, अतः यहाँ नहीं विकास व्यक्तयं त्रधौं का उपमानोपमेयमाव व्यंग्य है स्रोर न श्लेष है। केवल शब्द म मुलक वस्तुष्वित है। इति सर्वम्-इस प्रकार सब विषय स्वच्छ हो गया।
प्रोत-चित्र सम्ब पंचीत-जिस काव्य (पद्य) के वर्ण कमल श्रादि के स्वरूप में परिणत हो जावें धीत् उन श्रवनों को किया । अर्थात् उन अन्तरों को विशेष रूप में लिखने से कमल आदि के आकार अर्थात

ता उसे 'चित्र' कहते हैं। इस चित्र काव्य के लत्त्य में 'पाठ्याका विक्रमां कि CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ब्रादिशब्दात्खन्न-मुरज-चक्र-गोमूत्रिकाद्यः।

अस्य च तथाविधलिपिसंनिवेशविशेषवशोन चमत्कारविधायिनामपि वर्णानां त्याविधश्रोत्राकाशसमत्रायविशेषत्रशेन चमत्कारित्रधायिभिर्वर्शौरमेदेनोपचाराच्छ्रव्दा-हंकारत्वम् । तत्र पश्चबन्धो यथामम-

> भारमासुषमा चारुरुचा मारवधूत्तमा। मात्तधूर्ततमावासा सा वामा मेऽस्तु मा रमा॥

एषोऽष्टदलपद्मबन्धो दिग्दलेपु निर्गमपवेशाभ्यां रिलष्टवर्णः, किंतु विदिग्दले-

मुनले'-इतना और निवेश करना चाहिये। पढ़ने के अवरों की अपेवा लिखने के ब्रवर कम होने चाहियें। अर्थात् सव या कुछ अत्तर एक वार लिख कर अनेक बार पढ़े जाने चाहियें। तभी चित्र माना जाता है। अन्यथा सभी पद्य किसी न किसी आकार में अवश्य लिखे जासकते हैं; अतःसभी चित्र होजावेंगे । बादिशब्देति-'प्रादि' पद में आदि शब्द से खड़, मुरज, चक्र, गोमूत्रिका आदि चित्रों का प्रहण् जानना ।

परन-चित्र को शब्दालङ्कार मानना ठीक नहीं। शब्द में जो रहे उसे शब्दा-लकार कहना चाहिये। उक्त चित्र केवल लेख में देखने से वैचिज्य पैदा करता है श्रीर जो लिखे जाते हैं वे केवल संकेत हैं, वर्ण या शब्द नहीं। शब्द तो आकाश का गुण है, आकाश में ही रहता है श्रीर कान से सुनाई देता है, किन्तु उक्त श्राकार वो आँख से ही दीखते हैं, कान से नहीं सुनाई देते और पत्रादि में रहते हैं, श्राकाश में नहीं, श्रतः वे शब्द नहीं हो सकते, श्रतएव उक्त चित्र शब्दालंकार हों हो सकता। उत्तर—अस्यचेति-यद्यपि इस (चित्र) के वर्ण उन २ आकारों में वेबद्वारा निविष्ट कर देने के कारण ही चमत्कारक होते हैं, तथापि जो वर्ण श्रोत्रा-भाश के साथ सम्बन्ध होने के कारण अर्थात् सुनाई देने पर चमत्कारक होते हैं ज आकाशनिष्ठ वर्णों के साथ उक्क आकारनिष्ठ वर्णा का श्रीपचारिक (ताच-किक) अमेद मान लेने से इसे शब्दालंकार कहते हैं। तात्पर्ययह है कि लिखित अवरों को वास्तिविक शब्द तो नहीं कह सकते, किन्तु शब्दों के ही संकेत होने के कारण तत्त्वापक राष्ट्र ता नहा कह समाजामा अस्त का प्रयोग करके चित्र कोशन्दालंकार माना जाता है। पद्मवन्ध का अपना ही बनाया उदाहरण देते हैं। भागेत्यादि-मार = कामदेव की मा = शोभा के समान सुषमा = सौन्दर्य्यशाली और भाषीय कान्ति के कारण मारबधू = रित से भी उत्तम एवंम् धूर्त्ततमां से जिस का स्थान आकान्त नहीं है वह रमणी मुक्ते मिल जाय, रमा (लक्ष्मी) चाहे न कि। यह अप्रदत्त कमलबन्ध है। इसमें दिशाओं के दलों में निर्गम और प्रवेश होते होते हैं। वहाँ के वर्ण दो बार पढ़े जाते हैं, किन्तु विदिशा (कोण) के दलों कि कि कि कि वर्ण दो बार पढ़े जाते हैं, किन्तु विदिशा (कोण) के दलों भे स्थित वर्ष एक ही बार पढ़े जाते हैं। कर्णिका का अत्रर तो सब के साथ पढ़ा ष्त्रन्यंथा कर्णिकाचरं तु रिलष्टमेव । एवं खङ्गबन्धादिकमप्यूह्मम् । काव्यान्तर्भहुः भूततया तु नेह प्रपञ्च्यते।

## रसस्य परिपान्धित्वान्नालंकारः प्रहेलिका॥१३॥ उ।क्तेवैचित्र्यमात्रं सा च्युतदत्ताच्रादिका।

च्युताव्तरा-दत्ताव्तरा-च्युतदत्ताव्तरा च । उदाहरणम्-

जाता है। आठ पत्तों का कमल इस प्रकार बनाना चाहिये जिससे उसके बार द्त (पत्ते ) तो पूर्व, दिवाण त्रादि चार दिशाओं में रहें और चार आग्नेय, नैर्क त्य त्रादि विदिशात्रों में रहें। इन सब के बीच में एक छोटा सा गोल केन्द्र वनाना चाहिये। इसे कर्णिका कहते हैं। यह उस बराटक के स्थान पर होती है जिस है कमल की सब पंखड़ियां लगी रहती हैं। इस कर्णिका में इस पद्य का पहला श्रवर 'मा' लिखना चाहिये-फिर दिवाण श्रादि के क्रम से प्रत्येक पत्ते में दोश अत्तर लिखने चाहिये पहले पत्ते में 'र' कर्णिका की ओर और 'मा' वारा की श्रोर लिखना चाहिये। दूसरे में 'सु' वाहर की श्रौर 'ष' कर्णिका की श्रोर लिखना चाहिये एवम् तीसरे में चा' कर्णिका की ग्रोर ग्रोर 'रु' बाहर की ग्रोर लिखना चाहिये। इसी प्रकार आगे भी जानना । पढ़ने में पहले कर्शिका से प्रारम करके द्त्रिण दिशा के दल से बाहर निकलना चाहिये। श्रीर दूसरे ( नैर्मूत कोण के) दल के अच्छों को क्रम से पढ़ते हुए भीतर (कर्णिका की श्रोर) घुसन चाहिए। यह कोण का दल है अतः इसमें निर्गम नहीं होता - केवल प्रवेश होता है। फिर पश्चिम दिशा के पत्र में से बाहर निकल कर उसी पत्र में भीतर की श्रोर लीटना चाहिये और वायव्य से निकल कर उत्तर में निर्गम प्रवेश करने बाहिं। एवं ईशान से प्रवेशमात्र और पूर्व से निर्गम प्रवेश करके अग्निकीण से निर्गम औ फिर दिल्य से प्रवेश करके किथिका में जाकर पद्य पूरा करना चाहिये। स प्रकार यहां सत्रह अत्तर लिख कर वत्तीस पढ़े जाते हैं। अन्य बन्धों के उदी हरण हम प्रथिवस्तार के भय से नहीं देते। चित्र-प्रकरणों में इनका प्रधानत्य वर्णन है। इनके प्रेमी इन्हें वहीं खूब देख सकते हैं। एवमिति-इसी प्रकार बहार वंधके उदाहरणों की भी ऊहा कर लेना। यहां उसका प्रपञ्च इसिलये नहीं कि गया कि वह काव्य के भीतर गडुभूत होता है। किसी २ का गला फूलकर तरवृज्ञ की तरह लटकने लगता है। उसे गडु कहते हैं। जैसे वह शरीर कार्य कारक न होक्य को क्या कार्य कारक न होकर बोमा मात्र होता है, उसी प्रकार ये चित्रकाव्य रस के ती की उपकारक मोने नार करें उपकारक होते नहीं, क्योंकि शीघ्रता से इनके अर्थ का पता ही नहीं लगती, प्रति रसात्मक काव्य के भारभूत (अर्थके विद्यातक) ही होते हैं। सस्येति स बाधक होने के कारण, प्रहेलिका (पहेली) को अलंकार नहीं मानवे के इक्ति की विचित्रका परकार के इक्ति की विचित्रता मात्र होती है। च्युतात्तरा, दत्तात्तरा, च्युतद्त्तात्ता

'कूजन्ति कोकिलाः साले यौवने फुल्लमम्बुजम्। किं करोतु कुरङ्गाची वदनेन निपीडिता॥

अत्र 'रसाले' इति वक्तव्ये 'साले' इति 'र' च्युतः । 'वने' इत्यत्र 'यौवने' इति ध्यौ' दत्तः । 'वदनेन' इत्यत्र 'मदनेन' इति 'म' च्युतः 'व' दत्तः । आदि-शब्दात्क्रियाकारकगुप्त्यादयः । तत्र क्रियागुप्तिर्यथा—

'पाएडवानां समामध्ये दुर्योधन उपागतः। तस्मै गां च सुवर्णं च सर्वाएयाभरणानि च॥'

अत्र 'दुर्योधनः' इत्यत्र 'अदुर्योऽधनः' इति । 'अदुः' इति क्रियागुतिः। एवमन्यत्रापि ।

अथावसरमाप्तेष्त्रथीलंकारेषु माधान्यात्सादृश्यमूलेषु लिचत्वयेषु तेषामप्युपजी-व्यत्वेन प्रथममुपमामाह—

साम्यं बाच्यसबैधमर्थं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः॥ १४॥ रूपकादिषु साम्यस्य व्यङ्गचत्वम्, व्यतिरेके च वैधर्म्यस्याप्युक्तिः, उपमेयो-

उसके भेद होते हैं। उदाहरण=कूजन्तीति—साल पर कोकिलाएं कूक रही हैं श्रीर यौवन में कमल खिले हैं। वदन से निपीडित यह मृगनयनी क्या करे ? यहां 'रसाले' कहना चाहिए था सो 'र' छोड़ कर 'साले' हा कह दिया है, श्रतः यह च्युतात्तरा का उदाहरण है श्रीर वने=(जल में) कहना था सो वहाँ 'यो' देकर 'यौवने' कर दिया है, श्रतः यह दत्तात्तरा का उदाहरण हुआ। एवम् 'मद्नेन' में 'म' निकालकर उसकी जगह 'व' रख दिया है, मतः यह च्युतद्त्तात्तरा का उदाहरणं है। यहां म्रादि शब्द से क्रियागुप्ति, कारकगुप्ति आदिक जानना। उनमें से क्रियागुप्तिका उदाहरण —पाय्डवानामिति— यहां दुर्योधन यह एक पद मालूम होता है, परन्तु 'श्रदुः' क्रिया है श्रीर पा अधनः' ये दो पृथक् पद हैं, अतः यह अर्थ है कि 'पाएडवाँ की समा में जो निर्धन गया उसे उन्होंने गौ, भूमि, सुवर्ण और अनेक प्रकार के रत दिये। शीघ प्रतीत न होने के कारण यहाँ 'श्रदुः' किया की गुप्ति है।

अभेति-शब्दालङ्कारों का निरूपण करने के अनन्तर अर्थालंकारों का निरूपण अवसर-प्राप्त है और उनमें भी प्रधान होने के कारण साहश्यमूलक अलङ्कारों का पहले निरूपण उचित है, अतः सब से पहले साहश्यम्लक अलङ्कारों के भाषभूत उपजीव्य उपमालङ्कार का निरूपण करते हैं। साम्यामिति एक वाक्य है रो पदार्थों के, वैधर्म्य रहित, वाच्य सादृश्य को उपमा कहते हैं। भाविष्यति कप्क, दीपक, तुल्ययोगिता ग्रादि में सादृश्य व्यङ्गय होता विचय नहीं और व्यतिरेकालङ्कार में वैधर्म्य का भी कथन होता है, एवम् रिएमेयोपमा में दो वाक्य होते हैं और अनन्वयालङ्कार में एक ही पदार्थ का शाहर्य निरूपित रहता है, अतः इन सब अलंकारों से पृथक् करने के लिए के विशेषण उपमा के लव्या में दिये गये हैं। रूपक का उदाहरण है 'मुखं पमायां वाक्यद्वयम्, अनन्वये त्वेकस्यैव साम्योक्तिरित्यस्या भेदः। सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च। उपमेयं चोपमानं भवेद्वाच्यम्

सा उपमा। साधारगाधर्मो द्वयोः सादृश्यहेतू गुणिकिये मनोज्ञत्वादि । औष्-म्यवाचकमिवादि । उपमेयं मुखादि । उपमानं चन्द्रादि ॥

इयं प्रनः ॥ १५॥

श्रीती यथेववाराव्दा इवार्थी वा वतियदि। आर्थी तुल्यसमानाचास्तुल्यार्थी यत्र वा वतिः॥१६॥

कमलम् '। यहां मुख में कमलत्व का ज्ञान आहार्य (किएत) है, क्योंकि ऐसे स्थलों में कमलत्व और कमलत्वाभाव का ज्ञान एक ही साथ रहता है। धाधकालिक इच्छाजन्य ज्ञान को आहार्य कहते हैं। रूपक के उदाहरणों में साहर्य में पर्यवसान ही इस प्रकार के आरोप का फल हुआ करता है क्योंकि क्रपक में आरोप होने के कारण सारोपा प्रयोजनवर्ता लच्छा रहा करती है और उसका व्यंग्यप्रयोजन साहश्य हो होता है, अतः रूपक में साहश्य ब्यंग्य होता है। उपमा की भांति बाच्य नहीं होता । इसीप्रकार तुल्ययोगि तादि में भी जानना । 'निष्कलाङ्क पुलं तस्या न कलङ्की विधुर्यथा' यह व्यतिरेक क उदाहरण है। यहां कलंक का योग और वियोग दिखाकर वैधर्म का मी कथन किया गया है 'कमलेव मतिर्मतिरिव कमला' यह उपमेयोपमा है। यहां हो वाक्य हैं । 'गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः' यहां अनन्वयालंकार है। इस में उपमान और उपमेय एक ही है। अतः ये सब अतंकार उपमा से मिन है। उपमा के मेद दिखाते हैं सेति —सामान्यधर्म, श्रीपम्यवाची (उपमानाचक) उपमेय और उपमान ये चारों यदि चाच्य हो अर्थात् किसी शब्द से प्रति पादित हों, व्यंग्य या श्राचेष्य न हों, तो उसे पूर्णीपमा कहते हैं। दो पदार्थों की तुल्यता के कारणीभूत गुण, किया श्रादि को सामान्यधर्म या साधारणवर्ष कहते हैं। जैसे मनोक्षत्व, रमणीयत्व आदि साधार्य धर्म होते हैं। यथा, तुल्य, सहश्र, संम, वत् श्रादि शब्दों का श्रीपम्य (साहर्य) ह वाचक कहते हैं। ये सब उपमान (साहश्य) के वाचक होते हैं। प्रकार वर्णनीय मुखादिक उपमेय माने जाते हैं ग्रार उनकी सुन्दरता प्रादि निरूपक चन्द्रादिक उपमान कहाते हैं। जैसे किसी ने कहा कि जिल्ला मनोबमेतन्' यहां चन्द्र उपमान, 'वत्' उपमावाचक, मुख उपमेय और मनोबल साधारण धर्म है जन्म साधारण धर्म है, त्रतः यह पूर्णीपमा का उदाहरण है। इयमिति—यह पूर्णीपमा का उदाहरण है। इयमिति—यह पूर्णीपमा का उदाहरण है। दो प्रकार की होती है। एक श्रौती दूसरी आर्थी। जहां यथा, इव या वा यथेवबादयः शब्दा उपमानानन्तरप्रयुक्ततुल्यादिपदसाधारणा श्रिपि श्रुतिमा-व्रेणीपमानोपमेयगतसाद्दरयलच्चणसंबन्धं बोधयन्तीति तत्सद्भावे श्रौत्यपमा। एवं क्षित्र तस्येव' इत्यनेनेवार्थे विहितस्यं वतेरुपादाने। तुल्यादयस्तु 'कमलेन तुल्यं मुख्म' इत्यादाबुपमेय एव, 'कमलं मुखस्य तुल्यम्' इत्यादाबुपमान एव,

हो अथवा-तत्र तस्येव ४।१।११६ इस सूत्रसे इव शब्द के अर्थ में षष्ट्रधन्त या सप्त-मन्त से विति प्रत्यय किया गया हो, वहां श्रोती उपमा जानना । दीर्घ वा शब्द कीतरह हस्य व शब्द भी उपमा का वाचक देखा गया है-जैसे- दुर्गोषनो वा शिखीं (मृब्बुकटिक) और 'शानवं व पपुर्यशः' (रघुवंशः) अतः यहां ना शब्द को 'च' मादिका मी उपज्ञान ना । अत्यव 'व वा यथेवैव साम्ये' यह अमरकोश में ब्रोट 'वं प्रचेतासे जानीयादिवार्थे च तदन्ययम्' यह मेदिनीकोश मे लिखा है। एवं तुल्य समान ग्रादि शब्द अथवा तुल्यार्थक विति प्रत्यय होनेसे ग्रार्थी उपमा मानी जाती है। श्रीती श्रीर आर्थी उपमा में क्या भेद है, यह दिखाते हैं-पथे बेति-यद्यपि 'यथा'-'वं, ब्रादि शब्द, उन तुल्यादि पदी के समान ही होते हैं, जो उपमान वाचक गुन्द के अनन्तर प्रयुक्त होते हैं। जैसे 'कमलिन मुखम्'—इस वाक्य में 'इव' शुन्द काल की उपमानता का बोधन करता है, उसी प्रकार 'कमलतुल्यं मुखम्' इस बाक्य में तुल्य शब्द भी उसी की उपमानता का बोधन करता है, तथापि लिदिक शब्द श्रवणमात्र सेही उपमान श्रीर उपमेय में रहनेवाले साहश्य नामक सम्बन्ध का वोधन करते हैं, इसलिये इवादि पदों के होने पर श्रौती उपमा मानी बाता है। और इसी प्रकार 'तत्र तस्येव' इस सूत्र से किये हुए वित प्रत्यय के योग में भी श्रीती उपमा होती है। ताल्पर्य-समान धर्म के सम्बन्ध का नाम उपमा है। जो शब्द उस सम्बन्ध के वाचक हैं उनके रहनेपर श्रौती उपमा होती है न्योंकि वहाँ उपमा अर्थात् साधारण धर्म का सम्बन्ध 'श्रुति'-अर्थात् शब्द से गायवणमात्र से ही प्रतीत होता है। 'इवा'दि शब्द-ग्रिभिधाशक्ति सेही उसका वीषन करते हैं। यद्यपि इत्रादि शब्दों का प्रयोग उपमान के ही साथ रहता है, यतः वे उपमान के ही विशेषण होते हैं, इसलिये ये उपमानगत विशेषता के ही वीषक होने चाहियें, तथापि शब्दं शक्ति स्वमाव से पष्टी विभक्ति की तरह उप-गान और उपमेय इन दोनों के सम्बन्ध का ये बोधन करते हैं। जैसे 'राज्ञःपुरुषः' वहां पष्टी विभक्ति केवल राजपद के साथ प्रयुक्त होने पर भी राजप्रतियोगिक उत्पातुयोगिक स्वस्वामिमाव सम्बन्ध बोधन करती है, इसी प्रकार 'कमलमिव भ मनोहमेतत् इत्यादि स्थलों में इवादि पद भी उपमान-प्रतियोगिक, उपमे-शेंचुरोगिक साहश्य सम्बन्ध का बोधन करते हैं और कमलनिरूपित साहश्य श्रीवक्रमनोज्ञतवद्मिन्नं मुखम्' इत्यादि शाब्द्बोध होता है। ऐसे स्थलों पर एक शान्य अलङ्कारशास्त्र में सिद्धान्तित है। यहां शब्द से ही साधम्य नामक भित्र का बोधन होता है, अतः यह श्रीती उपमा कहाती है। शाहर का वाधन होता है, श्रतः यह श्राप्त वाचक पदों के साथ होता है कि सम्बन्ध केवल उपमानवाचक पदों के साथ केता है, परन्तु, तुल्य, सहश्र, सम इत्यादि पद 'कमलेन तुल्यं मुखप्' इत्यादि 'क्समलं मुखं च तुल्यम्' इत्यादावुभयत्रापि विश्राम्यन्तीत्यर्थानुसंधानादेव साथ 'कमल मुख प अर प्रार्थ । एवं 'तेन तुल्यं—' इत्यादिना तुल्यार्थे विहितस वतेरुपादाने ।

# द्वे तद्धिते समासेऽथ वाक्ये

द्वे श्रौती श्रार्थों च । उदाहरराम्-

वाक्यों में उपमेय (मुखादि) के साथ सम्बद्ध देखे जाते हैं, तथा 'कमलं पुरत तुल्यम्' इत्यादि वाक्यों में वे उपमान (कमलादि) के साथ अन्वित रहते हैं वर्ष 'कमलं मुखं च तुल्यम्' इत्यादि वाक्यों में उनका सम्बन्ध उपमान और उपमे इन दोनों के साथ रहता है, अतः ये साम्य अर्थात् उक्त सम्बन्ध का अर्थातुर न्धान के अनन्तर ही बोधन करते हैं। इसी लिए इन शब्दों के होने पर आर्थी उपन होती है। इसीप्रकार 'तेनतुल्यं कियाचेद्रतिः ४।१।११५ इस सूत्र से किये हुये तल्यायं वित प्रत्यय के होने पर भी आर्थी उपमा जानना। तालर्थ—इवादि पद साध्य (साधारण धर्म के संबंध) के वाचक होते हैं, किंतु तुल्यादि पद साधार धर्मोंसे युक्त धर्मी के वाचक होते हैं। धर्म या संबंधके साज्ञात् वाचक नहीं होते। 'मुख कमल के तुल्य है' इसका यही अर्थ है कि मुख में कमल के अनेक गुल विद्यमान हैं। वह उन गुणों से युक्त है। कोई भी वस्तु तब तक तुल्य नहीं। सकती जब तक उसमें दूसरी वस्तु के धर्म विद्यमान न हों। तुल्य वे ही वस् कहाती हैं जो त्रापस में मिलती-जुलता हों त्रर्थात् जिनके गुण या धर्म एक है हों, जिनमें समान धर्मों का सम्बन्ध विद्यमान हो। इससे यह बात प्रयंतः विद होतीहै कि विना साधारण धर्मों के साथ सम्बन्ध हुए कोई वस्तु तुल्य नहीं काल सकती। अतः जिसे किसी के तुल्य कहा है उसमें उसके धर्मों का सम्बन अवश्य होना चाहिए। 'मुख कमल के तुल्य हैं' इत्यादि वाक्यों में कमल की तुल्यता वाच्य है। वह विना साधारण धर्म के सम्बन्ध (साधर्म्य) के बनर्ता सकती, अतः यहां अर्थ के बल से साधम्यं का आतेप होता है। इसीलिए साधमे के अर्थाविस होने के कारण ऐसे स्थलों पर आर्थी उपमा मानी जाती है। सार्थी यह है कि साधर्म्य का नाम ही उपमा है। जहां वह (साधर्म) शब्द से। वाच्य रहता है वहां श्रौतीया शाब्दी उपमा कहाती है श्रौर जहां उसका वर्ष कोई शब्द नहीं होता, किंतु अर्थ के बल से उसका आचिप करना पड़ता है बी त्रार्थी उपमा होती है। इवादि पद उपमान के साथ ही अन्वित रहते हैं और साधर्म्य के वाचक होते हैं, अतः उनके योग में श्रीती उपमा होती है। वा कभी दोनों के साथ एवं वे साधर्म्य के वाचक तो नहीं होते किन्तु साम्मी विना उनका प्रार्थ कराय एवं वे साधर्म्य के वाचक तो नहीं होते किन्तु साम्मी बिना उनका अर्थ उपपन्न नहीं होता, अतः उनके योग में अर्थाित सार्थित के कारण आर्थी उपपन्न नहीं होता, अतः उनके योग में अर्थी कि के कारण श्रार्थी उपमा होती है। इसी पूर्णीपमा के भेद दिखते हैं। पूर्णीक श्रीती श्रीत कराई के प्राप्त के भेद दिखते हैं। पूर्वोक्त श्रीती श्रीर शार्थी ये दोनों उपमाय तिस्ति, समास श्रीर वार्षा तिनों में होती है जार के तीनों में होती हैं अतः पूर्णोपमा के छः भेद होते हैं। उद्भारत

'सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य, कुम्भाविव स्तनौ पीनौ। हृदयं मदयति वदनं तव शरिदन्दुर्यथा बाले ॥' अत्र क्रमेगा त्रिविधा श्रौती।

भधुरः सुधावदधरः पञ्चवतुल्योऽतिपेलवः पाणिः। चिकतमृगलोचनाम्यां सदशी चपले च लोचने तस्याः॥'

अत्र क्रमेण त्रिविधा आर्थी।

पूर्णा षडेव तत्।

स्पष्टम् ।

बीतमिति-हे बाले, 'तत्र मुखस्य सौरममन्मीरुह्वत्' अर्थात् तुम्हारे मुख का सौरम कमल-का सा है । इस वाक्य में तिहतगत श्रोती पूर्णोपमा है। यहां 'बमोरुह्सेव' इस विग्रह में 'तत्र तस्येव' इस स्त्र से वित प्रत्यय हुआ है। यह प्रत्यय ति इत के अधिकार में है और साधम्य का वाचक है, अतः यह ति इतगत श्रोती उपमा है। एवम् उपमान, ( श्रम्भोरुह) उपमेय, (मुख) साधारण धर्म, (सौरम) तथा उपमावाचक (विति प्रत्यय) इन बारों के होने से यह पूर्णीपमा है। 'तन सनौ कुम्माविव पीनौ' तुम्हारे स्तन कुम्म जैसे पान हैं। 'कुम्माविव' इस पद् में 'इवेन सह समासोविमक्त्यलोपश्र'-इस चार्तिक से समास और विमक्ति का ब्रुक् होता है। एवम् यहां 'कुम्भ' उपमान, 'स्तन' उपमेय, 'इव' उपमावाचक श्रीर पीनत्व साधारण धर्म है, अतः यह समासगत श्रीती पूर्णीपमा का इदा-द्रण है। 'शर्दिन्दुर्भथा ते वदनं हद यं मदयति' शरद् ऋतु का चन्द्रमा जैसा तुम्हारा हुन हृदय को प्रमत्त करता है। यह वास्यगत श्रीती पूर्णीपमा है। यहां शर-दिन्तु उपमान, वदन —उपमेय, 'यथा'-उपमावाचक और मस्त करना साधा-ए धर्म है। यह तीन प्रकार की श्रीती हुई। अब आर्थी उपमा के उदाहरण देते हैं। मधुर इति-'तस्या अधरः सुधावनमधुरोऽस्ति' उसका अधरोष्ठ असृत के तुल्य मधुर है। यह ति इतगत आर्थी पूर्णोपमा है। यहां 'तेनतुल्यं क्रियाचे इतिः' इस द्व से तुल्य अर्थ में तृतीयान्त सुधा शब्द से वित ति दित प्रत्यय हुआ है और विभा उपमान, श्रघर-उपमेय, वित उपमावाचक तथा मधुरत्व-साधारण धर्म है। विक्वागीश्वजी ने 'सुधाव देति प्रथमान्तात्तल्यार्थे वति:'-- लिखा है। यह व्याकरण से विरुद्ध है। प्रथमान्त से तुल्य अर्थ में वितिष्रत्यय नहीं होता। पश्चवेति उसके हाथ मिन'=नये पत्ते के तुल्य अय भ वात अत्य प्रार्थ पत्ते के तुल्य अतिकोमल हैं। यहां 'तुल्यार्थे तुलेपमाम्यां तृतीयान्यतरस्याम्' सि सूत्र से पहाच शब्द के आगे षष्टी विमक्ति होती है और 'षष्टी'राराद सूत्र से क्षात होता है। यहां पह्नव:उपमान, पाणि-उपमेय, पेलवत्व साघारण धर्म और विस् शब्द उपमावाचक है। यह समासगत आर्थी पूर्णीपमा है। विकेति-उसके भोवन, चिकत मुगों के लोचनों के समान चपल हैं। यहां समास और तद्धित वहीने से वाक्यगत उपमा है। नायिका के लोचन उपमेय हैं, मृगलोचन उपमान विष्तित्व साधारण धर्म है श्रोर 'सहश' शब्द उपमावाचक है। यह वाक्यगत मार्गिप्णोपमा का उदाहरण है। प्रेंति;—इस प्रकार प्रांपमा छः प्रकार की

## नुसा सामान्यधर्मादेरेकस्य यदि वा द्वयोः॥१७॥ त्रयाणां वानुपादाने श्रीत्याधीं सापि पूर्ववत्।

सा लुसा । तद्भेदमाह-

पूर्णावद्धमेलोपे सा विना श्रोतीं तु तादिते॥ १८॥

सा लुप्तोपमा धर्मस्य साधारणगुणिकयारूपस्य लोघे पूर्णावदिति पूर्वोक्तरीया षट्पकारा, कि त्वत्र तद्धिते श्रौत्या त्र्यसंभवात्पञ्चपकारा । उदाहरगाम्-

'मुखमिन्दुर्यथा, पाणिः पल्लवेन समः पिये । वाचः सुधा इवोष्ठस्ते बिम्बतुल्यो, मनोऽरमवंत्॥

होती है। बुतिन उपमान, उपमेय, उपमावाचक श्रीर साधारण धर्म इन वारो के होने पर पूर्णोपमा होती है, यह कह चुके हैं। उनमें से सामान्य धर्म श्राह किसी एक के अथवा दो तीन के न होने पर लुप्तोपमा होती है। इसमें कही तो प्रत्यय आदि का लोप अत्रों से होता है और कहीं वाचक शब्द के न रहने से ही लोप समका जाता है । इसे पेचित्रक लोप और पहले को शासक लोप कहते हैं। इस लुप्तोपमा के भी श्रांती श्रांर श्रार्थी ये दो भेद पूर्ववर्धी जानना । अन्य भेद् बताते हैं । पूर्णां बदिति —गुणुक्रप अथवा कियाक्रप साध रण धर्म क अभाव में लुतोपमा भी पूर्णोपमा की तरह वाक्यगत, समासगत श्रीर तिद्धतगत होती है। किन्तु साधारणधर्मवाचक पद के न होने के काल 'तत्र तस्येव' इस स्त्रसे यहां 'वति' प्रत्यय नहीं हो सकता, क्योंकि वह पृष्टवत और सप्तम्यन्त से ही होता है और षष्ठी, सप्तमी विमक्ति धर्मवाचक वर के विना, सम्बन्ध सूचित न होने के कारण हो नहीं सकती, ग्रतः धर्म जा के उदाहरणों में तद्धितगत श्रौती नहीं हुआ करती। इसलिये धर्म लुप्ता पांच ही प्रकार की होती है। उदाहरण देते हैं-मुखमिति —हे प्रिये तुम्हारा मुख चत्रा जैसा है। यहाँ मुख उपमेय, 'इन्दु' उपमान, 'यथा' शब्द उपमावाचक है।साध रण धर्म का वाचक कोई शब्द नहीं है और समास या तिहत भी नहीं है, क्र यह वाक्यगत श्रौती धर्म जुता है। पाणिरिति —तुम्हारा हाथ पह्नव के तुला यह वाक्यगत आर्थी धर्मलुप्ता का उदाहरण है, क्योंकि यहां तुल्यार्थक सा शब्द का प्रहण किया है। वाच इति—तुम्हारी बातें स्रमृतसी हैं। यहाँ प्रधारी इस पद में पूर्ववत् समास और विभक्ति का अनुतसा है। यह समासगत भीति धर्मनुप्ता है। शोष्ट्र की प्रमास और विभक्ति का अनुक् है। यह समासगत भीति। धर्मलुप्ता है। श्रोष्ठ इति—तुम्हारा श्रोष्ठ विम्बफल के तुल्य है। यह समावा श्राधी धर्मलूप का कार्य आर्थी धर्म जुप्ता का उदाहरण है। मन इति — तुम्हारा मन पत्थर के सहरा है। यो काठिन्य के साधारण के काठिन्यरूप साधारण धर्म का कथन नहीं किया है श्रीर 'श्रम्ना उत्यें इस् विश्व में तृतीयान्त से नक्षणंक्र क में तृतीयान्त से तुल्यार्थक वित प्रत्यय हुआ है, स्रतः यह ति द्वितगत स्राधीकी जुप्ता का उदाहरूमा है। लुप्ता का उदाहरण है। पूर्वोक्त सब उदाहरणों में साधारण धर्मों का लोगी। इनके क्या क्या स्थापन इनके क्या क्या साधारण धर्म जुस हुए हैं, यह स्पष्ट ही है और पहले पूर्ण CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

## आधारकर्मविहिते द्विविधे च क्यांचे क्यांङ। कर्मकर्त्रोण्मुलि च स्यादेवं पञ्चधा पुन ।॥ १६॥

(धर्मलोपे लुप्ता' इत्यनुषज्यते । क्यच्-क्यङ्-णमुलः कलापमते यिन्नायिणमः ।

क्रमेणोदाहरणम्-

श्चन्तः पुरीयसि रगोषु, सुतीयसि त्वं पौरं जनं, तव सदा रमणीयते श्री:। दृष्टः पियाभिरमृतद्युतिदर्शमिन्द्र-

मं वन्हें कहमी चुके हैं। धर्मलुप्ता के और उदाहरण दिखाते हैं। बाधारेति-उपमा-नादाचारे ३। १। १० इस सूत्र से उपमानभूत कर्म से क्यच् प्रत्यय करने पर एक धर्मलुप्ता तथा इसी सूत्र के ऊपर कहे हुए 'ब्रधिकरणाच्च' इस वार्तिक से इपमानभूत आधार से क्यच् प्रत्यय करने पर दूसरी धर्में ब्रुप्ता होती है। एवम् उपमानभूत कर्ता से कर्तुः क्यङ् सलोपश्च रे।१११ इस सूत्र से क्यक प्रत्यय करने पर तीसरी श्रीर 'उपमाने कर्मणि च ३।४।४४ इस सुत्र से उपमानभूत कर्म तथा कर्ना उपपद होने पर किसी धातु से णमुल् प्रत्यय करने से चौथी और पाँचवीं धर्मलुप्ता होती है। इस सूत्र में 'च' शब्द के बत से 'कर्तृ' पद की अनुवृत्ति पूर्वसूत्र (कर्त्रोजीवपुरुषयोर्नशिवहोः ३।४।४३ ) से होती है और ग्रर्थवश से उसके वचन का व्यत्यय करके एक वचनान्त 'कर्तरि'-का सम्बन्ध इस स्त्र में पठित 'उपमाने' के साथ होता है।

क्यच्क्यङिति —कलाप व्याकरण में क्यच्, क्यङ् श्रीर णमुल् के स्थान में यिन्, श्रायि श्रीर एम् प्रत्यय होते हैं, कलाप के मत में 'ईय्' प्रत्यय की 'यिन्' संज्ञा है। क्रम से उदाहरण देते हैं। अन्तःपुरीयसीति-हे चितीश, आप रणों में अन्तःपुर के समान आचरण करते हैं। अर्थात् जिस प्रकार रनवास में सुख पूर्वक विहार करते हो इसी प्रकार रखों में भी निर्भय और निरशङ्क होकर विहार सा ही करते हो। यहाँ सुख पूर्वक विहार का आस्पद (स्थान) होना अन्तःपुर शीर रण का साधारण धर्म है। उसका किसी शब्द से कथन नहीं किया, अतः अनुपादान कप लोप समभा जाता है। इस उदाहरण में 'अधिकरणाच' सि वार्तिक से 'अन्तः पुरे इव आचरिस' इस विग्रह में क्यच् प्रत्यय हुआ है। दूसरा उदाहरण — 'लं पौरजनं मुतायिस' तुम अपने पुरवासी (प्रजा) जनों को पुत्र के समान समस्रते हो। यहाँ 'उपमानादाचारे' इस स्त्र से द्वितीयान्त (कर्म) हत शब्द से 'सतिमिनाचरित' इस विग्रह में क्यच हुआ है। यहां प्रेमपात्रत्व, भेजा और पुत्र का साधारण धर्म है। उसका अप्रहण रूप लोप है। तीसरा र्वाहरण-तेविति—हे राजन्, लक्ष्मी सदा रमणी की तरह आपकी सेवा करती है। जिस प्रकार-पतिवता पत्नी श्रपने पति की देवता की तरह श्रविरुद्ध भाव है सेवा करता है इसी प्रकार लक्ष्मी अवञ्चला होकर आपकी सेवा करती है। यहाँ 'अनन्य भाव से सुख साधन होना' लक्ष्मी और रमणी का साधारण को हो। चौथा और पाँचवां उदाहरण दृष्ट रित-प्रियाओं से चन्द्रमा के

#### संचारमत्र भुवि संचरिस चितीश॥

अत्र 'अन्तःपुरीयसि' इत्यन्न सुखिवहारास्पदत्वस्य, 'सुतीयसि' स्नेहनिर्भरत्वस्य च साधारण्धर्मस्य लोपः । एवमन्यत्र।

इह च यथादितुल्यादिविरहाच्छ्रौत्यादिविशेषचिन्ता नास्ति । इदं च केचित्री

समान देखेगये तुम इस पृथ्वी पर इन्द्र के समान विचरते हो। यहाँ 'अस्तब्रित' उपपद होनेपर 'दृश' धातु से 'उपमाने कर्मणि च' इससे एमुल् प्रत्यय हुआ श्रीर 'क्वादिषु यथाविध्यतुप्रयोगः ३ । ४। ४६ इस सूत्र से उसी घातु (हश्) का अनुप्रयोग हुआ है। अमृतवुतिरिव दष्ट इति अमृतवुतिदर्श इष्टः' ऐसा विग्रह होता है। इस उदाहरण में चन्द्रमा श्रीर राजा का साधारण धर्म (श्राह्वादकत्व) लुप्त है। इसी प्रकार 'इन्द्र इव चरासि' इस विग्रह में उपमानभूत कर्ता (इन्द्र) उपपद होने पर 'सम्' पूर्वक 'चर्' घातु से णमुल् हुआ है। श्रीर पूर्वत अनुप्रयोग हुआ है। यहाँ 'परमैश्वर्ययुक्तत्व' साधारेण धर्म का लोग है। यही बात कहते हैं - अत्रेति। इह चेति-यहाँ इन उपमात्रों का श्रौती और आर्थ कपसे विशेष विचार नहीं किया जासकता। क्योंकि न तो यहाँ 'यथा' 'इव' आहि श्रीती के निर्णायक पद होते हैं और न आर्थी के निर्णायक तुल्यादि पद होते हैं।

कोई मानते हैं कि क्यच्, क्यक् ग्रादि प्रत्यय उपमान वाचक शब्द है आचार अर्थ में होते हैं और 'रमणीयते' इत्यादि पदों में 'रमणी आदि 'प्रकृति शब्द' लज्ञणा से अपने सदश का बोधन करते हैं, इस प्रकार रमणी के सहर श्राचरण करने वाले का वोध होता है।

किन्हीं का मत है कि समुदाय से ही विशिष्ट ग्रंथ (रमणीसदशाचारकीत) की

उपस्थिति होती है। अवयवार्थ यहाँ कुछ नहीं होता।

पवम् कोई कहते हैं कि क्यंच् आदि केवल आचारार्थक नहीं होते वे साहर विशिष्ट त्राचार के बोधक होते हैं। ये सब मत शास्त्रों में सिद्धान्तित है। त समी में साहश्य का ज्ञान तो माना है, परन्तु वह तुल्यादि पदी के समान अर्थानुसन्धान के पीछे होता है या इवादि के समान सातात बीधित होता हैं, इसका कोई विनिगमक नहीं है, अतः इस स्थान में श्रीती, आर्थी आदि क निर्णय करना कठिन है, यह प्रन्थकार का आशय है।

श्रीतर्कवागीराजी ने इन पाँचों उपमात्रों को त्रार्थी सिद्ध किया है स्रोर युक्ति दी है कि क्यम् आदि प्रत्यय 'तुल्य'पद के अर्थ में होते हैं और तुल्यादिक आर्थी के प्रयोजक हैं, अतः क्यजादि प्रत्यय भी आर्थी के प्रयोजक हैं। कि यह कथन असंगत है, क्योंकि क्यजादि के विधायक उक्त सूत्रों में कही है तुल्य पट के कार्क ने

इदं चेति-कोई 'अन्तःपुरीयसि' इत्यादि को वाचकलुप्ता का उदाहरण माले । उनका तात्पर्य गर के तुल्य पद के अर्थ में प्रत्यय का विधान नहीं है। हैं। उनका तात्पर्य यह है कि यहाँ औपस्य (साधर्म्य) के प्रतिपाद की शब्दों सा राष्ट्रीं का अभाव है, श्रतः यह वाचकलुप्ता है। इस मत का खाइन करीं CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

क्यातिपादकस्येवादेर्लीप उदाहरन्ति । तदयुक्तम् । क्यङादेरिप तदर्थविहितत्वेतौप्प्यप्रतिपादकत्वात्। ननु क्यङादिषु सम्यगौपम्यप्रतीतिर्नास्ति, प्रत्ययत्वेनास्त्रतन्त्रबाद् इवादिष्योगाभावाच्च इति न वाच्यम् । कल्पबादाविप तथापसङ्गात् ।
त च कल्पबादीनामित्रादितुल्यतयौपम्यस्य वाचकत्वम्, क्यङादीनां तु द्योतकत्वम् ।
इवादीनामिप वाचकत्वे निश्चयाभावात् । वाचकत्वे वा 'समुदितं पदं वाचकम्'
प्रकृतिप्रत्ययौ स्वस्वार्थबोधकौ' इति च मतद्वयेऽिप वत्यादिक्यङाद्योः साम्यमेवेति ।
व्व केचिदाद्वः— 'वत्यादय इवाद्यर्थेऽनुशिष्यन्ते, क्यङादयस्त्वाचाराद्यर्थे इति,
तदि न । न खलु क्यङादय त्र्याचारमात्रार्थाः, त्र्यि तु सादरयाचारार्था इति ।
तदेवं धर्मलोपे दशमकारा लुप्ता ।

त्रुक्तमिति-यह मत ठीक नहीं, क्योंकि क्यङ् आदि प्रत्यय भी तो उसी अर्थ (श्रोपम्य ) में होते हैं, अतः वे ही साधम्यै के प्रतिपादक हैं।

विति-यदि कही कि क्यल् आदि प्रत्ययों से ठीक र साधम्य की प्रतिति वहीं होती, क्यों कि ये प्रत्यय हैं — और प्रत्यय स्वतन्त्रता से अपने अर्थ के प्रतिपादक नहीं हुआ करते। वे सदा प्रकृति के अर्थ की अपेदा करते हैं, अतः क्यलादिक तो यहाँ स्वतन्त्रता पूर्वक साहश्य का बोध कराते नहीं और इचादि प्रांका अभाव है, इस लिये यह वाचक जुप्ता ही है। यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि साहश्य वाचक प्रत्यय के अस्वतन्त्र होने के कारण वाचक जुप्ता मानोगे तो जहाँ 'कल्पप्' आदि प्रत्यय होते हैं वहाँ भी वाचक जुप्ता माननी पहेंगी।

न्वेति कल्पप् त्रादि तो इवादि के समान होने के कारण साधम्य के वाचक होते हैं और क्याङ् आदि साहश्य के द्योतक होते हैं, वाचक नहीं होते, यह कहना मीठीक नहीं, क्योंकि इवादि को की वाचकता का भी निश्चय नहीं है। इव आदि पर साधम्यं के वाचक ही होते हैं, यह बात सब मार्चार्य नहीं मानते। कोई रिरंमी योतक ही मानते हैं। उनका अनुमान है कि 'इवादयः, घोतकाः, निपातलात्, व्यसांवत्। वाचकत्वे इति —यदि यह मान भी लिया जाय कि इवादिक वाचक होते हैतो भी 'सम्पूर्ण पद वाचक होता है' इस मंत में तथा 'प्रकृति और प्रत्यय अपने अपने अपों का पृथक् पृथक् बोधन करते हैं इस मत में 'वित' आदिक श्रीत क्या का पृथक् पृथक् बाधन करत है । दोनों ही समान हैं। क्षेत्री यह जो कोई कहते हैं कि 'वति' आदि प्रत्ययों का इवादि शब्दों भे अर्थ में विधान होता है और स्थङ् आदि आचारादि अर्थ में होते हैं, वह भी वीक नहीं, क्योंकि क्यङ् आदि क केवल आचार अर्थ में होते हों सो बात नहीं है। वे साहश्यविशिष्ट आचार अर्थ में होते हैं। इसिलये जैसी साहश्य की प्रतीति वित कल्पप् आदि प्रत्ययों से होती है वैसे ही क्याङ् आदि कों से भी होती है। इनमें भी मिन्नता नहीं है। अतः 'वति' श्रीर 'कल्पप' की तरह क्यङादि में भी वाचक-का नहीं हो सकती, धर्म लुप्ताही होती है। इस प्रकार धर्मके लोप (अप्रहण) में दस

## उपमानानुपादाने द्विधा वाक्यसमासयोः।

उदाहरणम्-

'तस्या मुखेन सदृशं रम्यं नास्ते न वा नयनतु स्यम्। अत्र मुखनयनप्रतिनिधिवस्त्वन्तरयोर्गम्यमानत्वादुपमानलोपः। अत्रैव च पुषे सदृशं' इत्यत्र 'मुखं यथेदं' 'नयनतुल्यं' इत्यत्र 'दृगिव' इति पाठे श्रौत्यिष संमवतीत्र

प्रकार की लुता उपमा होती है। उपमानेति - उपमान के अनुपादान=अप्रहण अर्थात् लोप में दो प्रकार की उपमानलुसा होती है। एक वाक्यगत, दूसरी समासगत। उदाहरण-तस्या इति--उसके मुख और नेत्रों के समान रमणीय वस्तु कोई नहीं है।

अत्रोति-यहाँ मुख श्रौर नेत्र की प्रतिनिधि (सदश) दूसरी वस्तुएँ प्रतीव तो होती हैं, परन्तु उनका कथन नहीं किया है, अतः यहाँ उपमान का लोग जानना । 'मुखेन सहशं रम्यं नास्ते,' यह वाक्यगत उदाहरण है श्रौर 'नयन तल्यं' इत्यादि समासगत है।

प्रश्न-जब उक्क पद्य में 'सदशं नास्ते' ( सदश है ही नहीं ) यह साफ कहा है, तो फिर सहश वस्तु की प्रतीति कैसे होती है ? यदि सत्ता का लिख करने पर भी उस वस्तु की प्रतीति होने लगे तब तो 'शश्रुक्कं नासि ( खरगोश के सींग नहीं ) यह कहने पर भी उसके सींगों की प्रतीति हों लगेगी ?। उत्तर-वस्तुतः उपमानलुप्ता के उदाहरण वे ही हो सकते हैं जा उपमान के ज्ञान का निषेध हो। जहाँ उसकी सत्ता का निषेध हो वे स उदाहरण नहीं होते, अत एव लच्या में 'उपमानातुपादाने' यह कहा 'उपमानासत्तायां' यह नहीं कहा। इस लिये उक्क उदाहरण को यो बनान चाहिये। 'तस्या प्रखेन सदशं रम्यं नाडलोकि नापि नयनामम्' अर्थात् अवतक न तो उस के मुझ के सदश रम्णीय कोई वस्तु दीखी है और न उसके नयनों के समा मनोइर कुछ दीखा है। इससे यह प्रतीत होता है कि हमने उतना सार्ण कुछ नहीं देखा है। यह सम्मव है कि कहीं छिपी हुई श्रत्यन्त उत्ह्रश्युष् कोई वस्तु उसके सहग्र निकल आये। सारा संसार तो हमने देख ही ती डाला है। इस कथन में सहश वस्त्वन्तर का प्रतीति है, परन्तु यदि नासे कहकर सहश की सत्ता का ही निषेध कर देंगे तो फिर उपमान के प्रतीति होना कठिन है। सदश की सत्ता का श्रभाव श्रनन्वयासङ्कार का होता है जान होता है, उपमा का नहीं। यहा मूलोक उदाहरण में ही 'झायमानम्' पर्वा अध्याहार करके इसे उपमानलुप्ताका उदाहरण बना लेना। 'तस्या मुलेत हारे रम्यं ब्रायमानम नाटने' रम्यं ज्ञायमानम् नास्ते' इत्यादि । अर्थात् उसके मुखके सदश कोई रमणीय वर्ष शायमान नहीं है, अशायमान शायद हो। अत्रेव चेति इसी उक्त उदाहरी यदि 'मुखेन सहशं' के स्थान पर 'मुखं यथेदं' ऐसा पाठ कर दिया जाय की जियान कर किया जाय की 'नयनतुल्यम्' की जगह 'हगिव' रख दिया जाय तो ये ही उदाहरण श्रौती हैं

विभेदयोः प्रत्येकं श्रौत्यार्थात्वभेदेन चतुर्विधत्वसंभवेऽपि पाचीनानां रीत्या ह्रिपकारत्वमेवोक्तम् ।

ब्रीपम्यवाचिनो लोपे समासे क्विप च द्विषा॥ २०॥

क्रमेणोदाहरणम्-

'वदनं मृगशावाच्या सुधाकरमनोहरम्।' 'गर्दभति श्रुतिपरुषं व्यक्तं निनदन्महात्मनां पुरतः'

अत्र 'गर्दमति' इत्यत्रौपम्यवाचिनः क्विपो लोपः। न चेहोपमेयस्यापि लोपः। क्तिनदन्' इत्यनेनैव निर्देशात् ।

हो सकते हैं। यद्यपि श्रोती, त्रार्थी भेद से उक्त दोनों (वाक्यगत उपमान-बुता और समासगत उपमानलुक्ता ) उपमाओं के चार भेद हो सकते हैं, सन्तु प्राचीनों की रीति के अनुसार दोही भेद यहाँ कहे हैं।

श्रीपम्येति-श्रीपम्यवाचक के लोप में उपमा के दो भेद होते हैं एक समा-सगत दूसरा किए प्रत्ययगत । समास का उदाहरण देते हैं-वदनमिति-सृगशावक (हिरत के बच्चे) के सदश नेत्रवाली उस कामिनी का मुख चन्द्रमा के लगान मनोहर है। यहां 'स्थाकरमनोहरम्' यह समासगत वाचकलुप्ता का उदा-रए है। 'सुधाकर इव मनोहरम्' इस विश्रह में उपमानानि सामान्यवचनैः इस सूत्र से पगास होता है। इसमें उपमावाचक 'इव' शब्द का लोप है। यद्यपि 'इव' गद का लोप यहाँ किसी सूत्र से नहीं होता, वैयाकरणों के मत में समास वी शकि से और नैयायिकों के मत में ल त्रणा से सांदश्य का बोधन होता ै लेकिक विग्रह में समास की शक्ति या लत्त् णा का सूचन करने के लिये इव गद वोला जाता है, अलौकिक विश्रह में उसे नहीं रखते, सुधाकर-सु-मनोहर-सु-षा हो रखते हैं, तथापि सादृश्यवाचक शब्द के न होने से ही यहाँ वाचक-हुता मानी जाती है।

नैयायिक लाग समास में अपूर्व शक्ति नहीं मानते । वे यहाँ पूर्वपद (ह्याकर) को लच्छा से स्वसदश का बोधक मानते हैं, परन्तु वैयाकरण गि ग्रिक्त मानते हैं। इन दोनों मतों में यहाँ वाचक नुप्ता हो सकती है, क्योंकि भीपम्यवाचक किसी शब्द का प्रयोग नहीं है। मृगशावाच्याः-यह उदाहरण कित उपमा का नहीं है। यह वश्यमाण त्रिलुप्ता का उदाहरण है।

विकास पुरुष महात्मांश्री के सामने कर्णकटु नाद करता हुआ गधे की विष् श्रीवर्ग करता है। 'गर्दम इव श्रावरित' इस विग्रह में गर्दम शब्द से श्राचार भिंभें भर्वावरण करता है। 'गर्दम इव ब्राचरित' इस विग्रह म गद् न राष्ट्र । उसका लोप भारतिकरेगातिपदिकेम्यः किव्वा वक्तव्यः 'इस वार्तिकसे किए प्रत्यय होताहै। उसका लोप क्षिते होता है, अतः यह शास्त्रकृत लोप है, ऐचिक्रक नहीं। इस में गर्दभ उप-प्रमित्र है, अतः यह शास्त्र कृत लोप है, ऐच्छिक नहा । रूपा प्रमिय है और कटुनाद साधारणधर्म है। औपस्यवाचक क्विप् CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

## द्विधा समासे वाक्ये च लोपे धर्मीपमानयोः। 'तस्या मुखेन' इत्यादौ 'रम्यम्' इति स्थाने 'लोके' इति पाठेऽनयोहदाहरण्य। किप्समासगता द्वेधा धर्मेबादिविलोपने ॥ २१॥

उदाहरणम्-

'विधवति मुखाब्जमस्याः'

श्चत्र 'त्रिधवति' इति मनोहरत्व-किप्पत्यययोर्लोपः । केचित्त्वत्राऽऽय पत्ययकोषः माहुः । 'मुखाब्जम्' इति च समासगा ।

# उपमेयस्य लोपे तु स्यादेका प्रत्यये क्यचि।

यथा—

्भ्यरातिविक्रमालोकविकस्वरविलोचनः । ः

प्रत्यय का यहां लोप है। न चेति -यहां उपमेय का भी लोप है, यह नहीं कर सकते, क्याकि 'निनद्न्' पद् से उपमेय (कर्ता) का स्पष्ट निर्देश कियाहै। द्विविति—साधारण धर्म और उपमान इन दोनों के लोप में दो भेद होते हैं। एक समासगत धर्मोपमानलुप्ता श्रोर दूसरी वाक्यगत धर्मोपमानलुता। पूर्वोक्त 'तस्या पुबेन तुल्यम्' इस उपमानलुप्ता के उदाहरणमें से यदि साधार धर्मके वाचक 'रम्यम्' पदको निकाल दें और उस स्थानकी पूर्ति के लि (श्लोक बनाने के लिये) 'लोके' पद रख दे' तो वे दोनों उदाहरण इली धर्मीपमान बुप्ता के होजायँगे। विवश्तमाति —साधारण धर्म श्रीर उपमावावर इचादिकों के लोपमें किप्प्रत्ययगत और समासगत दो उपमार्थे होती है। विभवतीति—यहां विधुरिवाऽचरित इस विप्रह में पूर्वोक्त वार्तिक से भावाप र्थंक किए प्रत्यय होकर उसका शास्त्रकृत लोप हुआ है श्रीर मनोहरत ही साधारणधर्म का अनुपादानकप ऐच्छिक लोप है। केचितु-कोई यहां भाष प्रत्यय का लोप करते हैं (किप् का नहीं)। कलाप आदि व्याकरणों में लि इस विग्रह में 'उपितं व्यात्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इस स्त्रत्र से समास हुत्रा है। ग्रां साहश्य का समास से जोगा की कार्यां कार्यां के स्वास हुत्रा है। ग्रां साहश्य का समास से बोध होता है, अतः पूर्वोक्ष रीति से वावक का जानना और रमगियात्रका जानना और रमणीयत्वादि साधारण धर्मका यहां अनुपादान हुए होती। उपमेयस्येति—उपमेयं के लोप में एक ही उपमा, क्यू प्रत्येय में होती है। उदाहरणं त्रसतीति-शंतुत्रों के पराक्रम के देखने से जिसके तेत्र प्रभावी होगये हैं श्रीर तलवार के न होगये हैं और तलवार के प्रहण करनेसे जिसका मुजदंड उद्य (उत्हर्ध गार्मा) हो रहा है वह राजा स्वरूप करनेसे जिसका मुजदंड उद्य (उत्हर्ध गार्मा) हो रहा है वह राजा सहसायुध (इन्द्र) के सहश दीखता है। यहाँ भा CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कृपाणोदप्रदोर्दण्डः स सहस्रायुधीयति ॥

अत्र 'सहस्रायुधमिवात्मानमाचरति' इति वाक्ये उपमेयस्यात्मनो लोपः । न वेहीपम्यवाचकलोपः, उक्तादेव न्यायात्। अत्र केचिदाहुः सहस्रायुधेन सह वर्तत इति स्तहस्रायुधः स इवाचरतीतित्राक्यात्ससहस्रायुधीयतीति पदसिद्धौ विशेष्यस्य शब्दान्-वात्वादिहोपमेयलोपः 'इति, तन्न विचारसहम्। कर्तरि क्यचोऽनुशासनविरुद्धत्वात्।

#### धर्मीपमेयलोपेऽन्या

यथा-

'यशसि पसरति भवतः ज्ञीरोदीयन्ति सागराः सर्वे ।' अत्र जीरोदमित्रात्मानमाचरन्तीत्युपमेय त्र्यात्मा साधारणधर्मः शुक्लता च लुप्तौ ।

<u> जुषमिबाऽऽत्मानचरति' इस विग्रह में उपमानवाचक द्वितीयान्त सहस्रायुध</u>् शब्द से 'उपमानादाचारे' इस सूत्र से क्यच् प्रत्यय होता है। इसमें सहस्रायुध उपमान है, श्रात्मा उपमेय श्रौर चिकस्वरविलोचनत्व तथा उद्प्रदोर्द्गडत्व साघारण धर्म एवम् क्यच् प्रत्यय उपमावाचक है। यहां उपमेय 'श्रातमा' का अनुपादान रूप लोप है। 'विन्णूयति द्विजम्' की तरह 'सहस्रायुधीयत्यात्मानम्' पेसा प्रयोग भी हो सकता है। न नेति. -यहां उपमावाचक का लोप न समसना, क्योंकि क्यच् श्रादिकों का उपमावाचकत्व (सादृश्यविशिष्टाचारार्थकत्व) पहले कहा जांचुका है। मूल में 'न्याय' शब्द से इसी उक्क व्यवस्थाका पूरा-मर्ग किया है। अत्रकेचित्-यहाँ कोई कहते हैं कि 'सहस्रायुधेन सह वर्त्तते' इस विप्रह में 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इस सूत्र से समास और 'बोपनर्जनस्य' इस सूत्र से 'सह' को 'स' श्रादेश करने पर 'सबहस्रायुघ' शब्द बनता है। उससे फिर 'स-सहस्रायुघ इवाचरति' इस विग्रह में क्यच् प्रत्यय करने पर 'ससहस्रायुघीयति' वह पद सिद्ध होता है। इस प्रकार उपमेय के शब्द से अनुपात्त होने के कारण अर्थात् उपमेयवाचक कोई शब्द न होने से यहां उपमेयका लोग होता है। अभिपाय यह है कि यहां 'सः' पद पृथक् नहीं है। वह 'तत् शब्द का क्ष नहीं, किन्तु सह के स्थान में 'स' आदेश है, अतः यहां उपमेय का अतु-पादानक्षप लोप है। उक्त मतका खएडन करते हैं तनति-यह मत निचार करने पर वहीं दिक सकता, क्योंकि क्यच् प्रत्यय का कर्ता में होना 'श्रवुशासन'=शब्दा-उशासन अर्थात् व्याकरण के विरुद्ध है। धर्मोपमेथेति-धर्म और उपमेय का लोप होते पर क्यच् प्रत्यय में एक उपमा होती है। उदाहरण—यशासीति-हे राजन्! आप के यश के विस्तृत होने पर सभी समुद्र हीरसागर के सहश होरहे हैं। अर्थात् अति शक्क आपके यश ने सब समुद्रों को श्वेत करदिया, अतः सभी दुग्ध-भागर मालूम होते हैं। अत्रेति-यहां 'चिरादिमिनात्मनमाचरिना' इस विग्रह में उक्करीति

# त्रिलोपे च समासगा॥ २२॥

यथा-

'राजते मृगलोचना ।'

अत्र मृगस्य लोचने इव चञ्चले लोचने यस्या इति समासे उपमापितपादक साधारणधर्मोपमानानां लोपः ।

## तेनोपमाया भेदाः स्युः सप्तविंशतिसंख्यकाः।

पूर्णा षड्विधा, लुप्ता चैकविंशतिविधेति मिलित्वा सप्तविंशतिमकारोपमा। ए चोपमामेदेषु मध्येऽलुप्तसाधारणधर्मेषु मेदेषु विशेषः प्रतिपाद्यते—

एकस्त : कचित्कापि भिन्नः खाधारणो गुणः ॥ २३॥ भिन्ने विम्वानुविम्बत्वं शब्द्भात्रेण वा भिदा।

से क्यच्-प्रत्यय होता है, अतः उपमेय (आत्मा) और साधारण धा ( शुक्लता ) का लोप अर्थात् अप्रहण है।

इस प्रकार एकलुप्ता श्रौर द्विलुप्ता का उदाहरण देकर श्रब त्रिलुप्ता का निरूप करते हैं। त्रिलोपे चेति-तीन के लोप में एक ही समासगत उपमा होती है। उदाहरण राजत इति-अत्रेति-( मृगके लोचनों के तुल्य चञ्चल लोचन हैं जिसके) इस विग्रह में यहाँ बहुवीहि समास होता है, अतः उपमानभूत 'लोचन' का और अपमा वाचक 'इव' पदका, एवम् साधारण धर्म के वाचक 'चश्रल' पदका लोप हुआ है। यह लोप किसी सूत्रसे नहीं होता, अग्रहण रूप है। समास की शक्ति सेही सव का बोध हो जाता है। यहाँ ज्ञापकसिद्ध व्यधिकर ग्रबहुवीहि समास है। उपसंहार करते हैं—तेनेति–इस कारण उपमा के सत्ताईस भेद होते हैं। इ प्रकार की पूर्णोपमा श्रोर इकीस प्रकार की लुप्तोपमा (दस प्रकार की धर्मलुप्ता) दो प्रकार की उपमानलुप्ता, दो प्रकार की वाचकलुप्ता, दो प्रकार की धर्म पमानलुता, दो प्रकार की धर्मवाचकलुता और एक एक प्रकार की उपमेर्या एवम् धर्मोपमेयलुप्ता श्रीर त्रिलुप्ता होती हैं। ये सव मिलकर इक्कीस होती हैं। एपुनित-इन उपमाओं के जिन भेदों में साधारण धर्मका लोप नहीं होताउनमें इर् श्रीर विशेष (भेद ) दिखाते हैं-एकरूपइति-उपमाश्री में उपमान श्रीर उपमेग हैं साधारण गुण कहीं एक स्वरूप अथवा एक जातीय होता है और कहीं मिन्न होता है। जहां भिन्न होता है वहां या तो बिम्बप्रतिबिम्बभाव रहता है या गर्व साम से पेट को को कि मात्र से भेद् होता है। अर्थ में कुड़ भिन्नता नहीं होती है। गुणों के विषय में ही मत हैं। कोई को कार्य में कुड़ भिन्नता नहीं होती है। गुणों के विषय में ही मत हैं। कोई तो कहते हैं गुण एकहीं हैं। गुक्ल श्रादि रूप श्रीर मधुर श्राहिर्स सम्पूर्ण शक्तवर्ण करा सम्पूर्ण शुक्लवर्णयुक्त तथा मधुररसयुक्त द्रव्यों में एक ही होता है। जी गुक्त गुण दूध में है वही शंख श्रीर बरफ़ में भी है। गुण तो एक ही है, परन्तु वर्ष

एकरूपे यथा उदाहृतम्—'मधुरः सुधावदंधरः'-इत्यादि । बिम्बमतिबि-म्बले यथा-

> भिल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः रमश्रुलैर्महीम्। सरघाव्याप्तैः स चौद्रपटलैरिव ॥'

अत्र 'रमश्रुलै:' इत्यस्य 'सरघाञ्यातै:' इति दृष्टान्तवत्मतिबिम्बनम् । शब्द-मात्रेण भिनात्वे यथा--

सफेरी में जो भेद प्रतीत होता है वह श्रीपाधिक है, वास्तविक नहीं। जैसे तेल तलवार और शीशे में यदि मुँह देखा जाय तो परस्पर भिन्नता प्रतीत होगी। वमकती हुई तलवार में जैसा मुख का प्रतिबिम्ब दीखा है, द्र्णण में उससे कुछ विलक्ष दिखेगा। मुख वही है, परन्तु तेल, तलवार और दर्पण रूप उपाधि के भिन्न होनेसे भिन्न सा प्रतीत होता है। इसी प्रकार शुक्त श्रादिक गुण भी, श्रभिन्न होनेपर भी, आश्रय भेद से भिन्न प्रतीत होते हैं। दूसरा मत है कि प्रत्येक द्रव्य के गुण भिन्न हैं। मुनके की मधुरता गुड़ और शहद की मधुरता से भिन्त है। हम चाहें शब्द से उसे न कह सकें, परन्तु अनुभव से यह बात सिद्ध है कि दूध का मिठास गनने के मिठास से भिन्न है। यह बात 'भामती' में सर्वतन्त्रस्वतंत्र श्रीवाचरपति मिश्र ने भी कही है । 'द्राज्ञामाज्ञिक जीरेजुप्रसृतिषु स्फुटमजुभूयमाना अपि मधुरिममेदाः न शक्याः सरस्वत्यापि शब्दैराश्यातुम्' इन्हीं दोनों मतौं के अनुसार प्रकृत कारिका में 'एक रूप' पद के 'एक स्वरूप' श्रीर 'एक जातीय' ये दोनों श्रर्थ होते हैं। प्करें येथेति-एक रूपका उदाहरण जैसे'मधुरः'इत्यादि पूर्वोक्र पद्य। विम्बप्रति-विस्वमाव का उदाहरण जैसे-महोति-मधुमित्तकात्रों से व्याप्त मौहाल के छुत्तों के समान, मल्ल नामक बाणों से कटे हुए, उन यवनों के, दिवल सिरोंसे रघुने पृथ्वी को पाट दिया। रघुने युद्ध में लम्बी चौड़ी डाढ़ियों से युक्त यवनों के बड़े बड़े सिर काट गिराये। वे ऐसे मालूम होते थे जैसे मिक्खयों से भरे मौहाल के छत्ते पहें हों। यहाँ सिर उपमेय, चौंद्र पटल उपमान श्रीर इव शब्द उपमावाचक है। वहाँ साधारण धर्म भिन्त है, एक नहीं। चौद्र पटलों में 'सरबाब्याप्तत्व' है श्रीर विषा में 'श्मश्रुलत्व' है। मुँह पर मिक्खयाँ नहीं श्रीर छत्तों पर डाढ़ी नहीं। यद्याप रिक्षान और उपमेयका धर्म एक नहीं है, तथापि श्यामत्व आदि साधर्म्य से पर्धा और श्मश्रु श्रापस में बिम्ब प्रतिबिम्बभाव से प्रतीत होते हैं। अत्रीत-वहां हे हिन्दा लंकार की तरह उपमानोपमेय का साहश्य प्रतिबिम्बित होता है। विस्व अर्थात् सादृश्य के 'त्रनुविम्बत्व' त्रर्थात् प्रणिधानगम्यत्व को विम्बानुबिम्बत्व कहते हैं। जहां साहश्य प्रशिधान से गम्य हो अर्थात् ध्यान देने पेमतीत होता हो, स्पष्ट शब्दों से न कहा गया हो (जैसे सरघाव्याप्त और शम्भुत

क्सोरं विधाय नयनं विकसितमिव नीलमुत्पलं मिय सा। कथयामास कृशाङ्गी मनागतं निखिलमाकूतम्॥ अत्रैके एव स्मेरत्वविकसितत्वे पतिवस्तूपमावच्छ्रब्देन निर्दिष्टे। एकदेशविवर्तिन्युपमा बाच्यत्वगम्यत्वे ॥ २४॥ भ्वेतां यत्र साम्यस्य

यथा-

'नेत्रैरिवोत्पलै: पग्नैर्मुखैरिव सर:श्रिय: I पटे पटे विभान्ति स्म चक्रवाकैः स्तनैरिव ॥' अत्रोत्पलादीनां नेत्रादीनां सादृश्यं वाच्यं, सरःश्रीणां चाङ्गनासाम्यं गम्यम्।

कथिता रशनोपमा।

यथोध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता ॥ २४ ॥ यथा-

> 'चन्द्रायते शुक्लरुचापि हंसो, हंसायते चारुगतेन कान्ता। कान्तायते स्पर्शसुखेन वारि; वारीयते स्वच्छतया विहायः॥

में हैं ) वहां 'बिम्वाजुबिम्बत्व' होता है। शब्दमात्र से भेद का उदाहरण देते हैं। स्मेरामिति-खिले हुए नीले कमल के समान प्रकुल नेत्र से मेरी श्रोर देखकर उस हर तजुकामिनी ने अपने मनका सभी भाव प्रकाशित करिद्या। अनैके इति-यहां स्मेरत्व श्रौर विकसित्व एक ही है, भिन्न धर्म नहीं। प्रतिवस्त्पमालंकार क तरह यहां उसका दो शब्दों से निर्देश किया गया है।वस्तुतः संख्यावाचक प्रक शब्द से द्विवचन नहीं हुआ करता, अतः यहां मूल का पाठ अशुद्ध है। यहि 'एकमेव स्मेरत्वम्' विकसितत्व अपेसा पाठ होता तो ठीक होता। एकदेशेति-जिस वाक्य में किसी का साधारण धर्म वाच्य हो और किसी का गम्य अर्थात् प्रतीयमानं हो वह एकदेशविवर्तिनी उपमा होती है। जैसे-नेत्रैरिवेति-नेत्रों के तुल्य नील कमली मुल के सदश रक्त कमलों और स्तनों के समान चक्रवाकों (चक्रवों) से सरोवरों की लक्ष्मी शरव् ऋतु में पद पद पर सुशोभित होरही थीं। अतेति-यहां उत्पन्त, तिल कमल) श्रादिकों का नेत्रादिकों के साथ साधर्म्य 'इव'शब्द से वाच्यहै श्रीर सरीवर लिहमयों का सुन्द्रियों के साथ साधम्य मय है। मुख, नेत्र श्रीर स्तर्नोकी उपन देने से सरोवरश्री का नायिकात्व प्रतीत होता है। मुख, नत्र श्रार रहण जहाँ उत्तरीता वाक्यों में उत्तरात के जानायिकात्व प्रतीत होता है। काथितेति उपमेय जहाँ उत्तरीता वाक्यों में उपमान हो जावे वहां रशनोपमा कहाती है। जैसे —चन्द्रायत इति-शर्ष में शुक्त कान्ति से युक्त हुंस चन्द्रमा जैसा मालूम होता है श्रीर रमणीय गमारे युक्त काण्नि चेन्न के जिल्ला चन्द्रमा जैसा मालूम होता है श्रीर रमणीय गमारे युक्त कामिनी हंस जैसी प्रतीत होती है एवम् स्पर्श में सुखकर होने के कारण कामिनी के सहस्र करना करता होती है एवम् स्पर्श में सुखकर होने के कारण कामिनी के सहस्र कामिनी के सहश मालूम होता है श्रीर स्वच्छता के कार्य श्राकाश जलके सह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

# मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते।

यथा-

'वारिजेनेव सरसी शशिनेव निशीथिनी। यौवनेनेव वनिता नयेन श्रीर्मनोहरा॥'

क्षित्रदुपमानोपमेययोर्द्रयोरिष पक्ततःतं दृश्यते—

'हंसश्चन्द्र इवाभाति जलं व्योमतलं यथा।

विमलाः कुमुदानीव तारकाः शरदागमे॥'

'अस्य राज्ञो गृहे भान्ति भूपानां ता विभूतयः।

पुरन्दरस्य भवने कल्पवृद्धभवा इव॥'

अत्रोपमेयस्तिविस्तिभिः 'कल्पवृत्त्वभवा इव' इत्युपमानमूता विमूत्य आित्-षत्त इत्याचेपोपमा । अत्रैव 'गृहे' इत्यस्य 'भवने' इत्यनेन प्रतिनिर्देशात्पतिनिर्दे-शोपमा इत्यादयरच न लिचताः । एवंविधवैचित्र्यस्य सहस्रधा दर्शनात् ।

उपमानोपभेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः॥ २६॥

अर्थादेकवाक्ये ।

रीषता है। मालेति-जहाँ एक उपमेय के अनेक उपमान हों वहाँ मालोपमा होती है। उदाहरण - वारिजेनेति-जैसे कमलों से सरसी (सरोवर) मनोहर होती है, वन्द्रमा से निशा मनोहर होती है और यौवनोद्गम से कामिनी मनोहर होती है सिंगकार नय अर्थात् सुनीति से राज्यश्री मनोहर होती है। यहां एक राज्यश्री के तीन उपमान हैं। कचिदिति-कहीं उपमान और उपमेय दोनों ही प्रकृत दीखते है। जैसे-इंस इति-शरद्ऋतु के आगमन में हंस चन्द्रमा के समान सुशोभित रोता है और जल गगन के तुल्य मनोहर दीखता है एवम् निर्मल तारागण अस्तों के सहश दीखते हैं। यहाँ उपमान तथा उपमेय दोनों ही प्रस्तुत हैं। क्षित-इस राजाके घर में भेंट या कर रूपसे ग्राई हुई ग्रन्य राजाश्रों की क्ष्मितियां इस प्रकार सुशोभित होती हैं जैसे इन्द्रके घरमें कल्पवृत्त से उत्पन्न हीं (सम्पत्तियां ) हों। अत्रोति-यहां उपमेय 'विभूति' है, अतः 'कल्पवृत्तभवा विष्क्ष उपमान में भी विभूतियों का श्राद्येष होता है। विभूति का उपमान विम्ति हो होसकती है, अतः 'करपवृत्तभव' पद से भी विभूति ही लीजाती है। इस प्रकार श्राचिप होने से इसे श्राचिपोपमा कह संकते हैं। श्रीर इसी पद्य भे भूरे का उत्तर वाक्य में 'भवने' पद से प्रतिनिर्देश किया गया है, स्रतः इसे भितित्रंशोपमा भी कह सकते हैं, परन्तु हमने इनके लहां ए नहीं लिखे, क्यों कि षिपकार की विचित्रतायें तो हज़ारों तरह से होसकती हैं कहांतक गिनायेंगे। भारिका विचित्रतायें तो हज़ारों तरह से हासकता ह गया भारति एक वाक्य में एकही वस्तु को उपमान और उपमेय बनाने से अनन्वय भारता है। दो वाक्यों में एकही वस्तु को उपमान आर उपमय जार उपमेयता के पि एर रशनोपमा और उपमेयोपमा कही वस्तुकी उपमानता आक्षान्यगतत्व CC-0. Mumukshi Bhawan कही है आतः अत्तत्वय में एकवान्यगतत्व यथा-

'राजीविमव राजीवं, जलं जलिमवाजिन । चन्द्रश्चन्द्रं इवातन्द्रः शरत्समुदयोद्यमे ॥'

अत्र राजीवादीनामनन्यसदशत्वपितपादनार्थमुपमानोपमेयभावो वैविषकः। 'राजीविमव पाथोजम्' इति चास्य लाटानुपासाद्विविको विषयः। किंत्वत्रोचितवा देकशब्दप्रयोग एव श्रेयान्। तदुक्तम्—

अर्थतः सिद्ध है। उदाहरग्-राजीविमिति -शरद् ऋतु के मले प्रकार उदा होने पर कमल, कमल ही की तरह रमणीय होगया और जल जल ही जैसा सुन्दर वन गया एवं चन्द्रमाभी चन्द्रमा ही के तुल्य अतन्द्र=तन्द्रारहित अर्थात कान्तियुक्क होगया। यहां प्रत्येक चस्तु अपनी ही तरह बताई गई है, अतः यह अनन्वयालङ्कार है। अनेति-यद्यपि चिना दो वस्तु हुए उपमानोपमेयमा नहीं वन सकता । उपमा सादश्य में होती है और सादश्य दो भिष वस्तुत्रों के समानधर्म होने पर होता है, अतः वही वस्तु अपने ही सदश हो, यह ठीक नहीं, तथापि यहां ( अनन्वयालङ्कार में ) किसी वस्तु को अनन्यसदश (अनुपम) बतलाने के लिये काल्पनिक उपमानीप मेयभाव मान लिया जाता है। राजीव के सदृश और कोई वस्तु है। नहीं, यह सूचन करने के लिये, काल्पनिक भेद् मानकर 'राजीविमव राजी वम्' कहा जाता है। 'कमल, कमल के ही तुल्य है' अर्थात् और कोई उसके तुल्य नहीं। यदि यहां एक ही अर्थ का, दो पर्यायवाचक पदों से कथन करें एक ही शब्द न बोलें, जैसे —'राजीविमव पाथो जम्' तो भी अनन्वयालक्षा रहेगा, क्योंकि पद दो होने पर भी, एक ही अर्थ की उपमानीपमेणा। जो प्रकृत अलङ्कार का अयोजक है, बराबर वनी रहती है। यही इसी त्रर्थालङ्कार का प्रमाण है। उक्त परिवर्त्तन में लाटानुप्रास नहीं हो सकता क्योंकि उसे एक से ही शब्द चाहियें। यही लाटानुप्रास श्रीर अनन्वय की विषय-विवेचना है। किन्तु श्रौचित्य के कारण श्रनन्वय में एक ही शब्द ब बोलना अञ्जा समभा जाता है। तात्पर्य यह है कि हम यदि एक ही वस्तु हो दो शब्दों से कहते हैं तो उसमें कुछ भिन्नता सी प्रतीत होने लगती है, क्री जहां त्रिमित्रता सूचन करनी होती है वहां उसी शब्द का प्रयोग करते हैं। 'कपल पद्म के सहश है' इस कथन में उस प्रकार का अभेद नहीं प्रतीव होता जैसर '---होता जैसा 'कमल कमल के ही सहश है' इस कथन से होता है, बर्ग विस्तित हैं, बर्ग विस्तित यहां उचित यही है कि उसी शब्द का प्रयोग किया जाय, किन्तु प्रतिवर्ध किये यह एक शब्द प्रयोग किया जाय, किन्तु प्रतिवर्ध किये यह एक शब्द प्रयोग किया जाय, किन्तु भी हैं। तिये यह एकशब्द-प्रयोग आवश्यक नहीं है, क्योंकि, इसके विनामी ह उक्त प्रकार से होसकता है, परन्तु लाटानुप्रास के लिये यह बात नहीं, इसे लिये प्रकार के लिये यह बात नहीं है। लिये एकशब्द प्रयोग ही आवश्यक है। इस प्रकार इन दोनों अल्डात विषय विभिन्न है अपन्त प्रयोग ही आवश्यक है। इस प्रकार इन दोनों अल्डात है विषय विभिन्न है, अतएव इनमें बाध्यबाधकभाव (जो समान विषय में इस्

· अनन्वये च शब्दैक्यमौचित्यादानुषङ्गिकम् । अस्मिस्तु लाटानुपासे साचादेव प्रयोजकम्॥ इति। पर्वायेण द्वयोरेतदुपमेयोपमा मता।

एतदुपमानोपमेयत्वम् । अर्थोद्राक्यद्वये ।

यथा-

क्तमलेव मतिर्मितिरिव कमला, तनुरिव विभा, विभेव तनुः। धरणीव घृतिर्धृतिरिव घरणी सततं विभाति बत यस्य ॥' ब्रत्रास्य राज्ञः श्रीबुद्धचादिसदृशं नान्यदस्तीत्यभिमायः । सदशानुभवाद्वस्युस्मृतिः स्मरणमुच्यते ॥ २७॥

यथा--

'अर्विन्दमिदं वीद्य खेलत्खञ्जनमञ्जुलम्। रमरामि वदनं तस्यारचारु चन्नवलोचनम्॥

करता है) भी नहीं। इस लिये उक्त उदाहरण में लाटानुप्रास और अनन्वय दोनों ही रह सकते हैं। इसका कोई विरोध नहीं। एक शब्द में रहेगा, दुसरा अर्थ में । उक्क कथन में प्रमाण देते हैं। तदुक्तम्। प्रनन्वये इति - अनन्वयं में गृद का एकता श्रौचित्य के कारण श्रानुषङ्गिक शर्यात् प्रासङ्गिक या गौण है किन्तु इस लाटा नुपास में तो वही साचात् प्रयोजक है। उसके विना यह होही नहीं सकता।

प्यंविषाति दो पदार्थों की जहां उपमानोपमेयता पर्याय (क्रम्) से हो गर्यात् एक वाक्य में जो उपमान है वह अगले में उपमेय हो जाय और पहले मं जो उपमेय था वह दूसरे में उपमान बनजाय तो वहां उपमेयोपमा नामक अलङ्कार होता है। इसमें वाक्यद्वय होना अर्थतः सिद्ध है। जैसे-कमलेति उस विका की राज्यश्री उतनी ही सुशोभित होती है जितनी उसकी बुद्धि और उदि भी उतनी ही विभासित होती है जितनी उसकी राज्यश्री। इसी प्रकार जिसकी देह, कान्ति की तरह और कान्ति, देह की तरह, एवम् पृथिवी, धृति (श्रेष) की तरह और उसकी धृति, पृथ्वी की तरह विभासित होती हैं। वित्र श्रार उसका धात, पृथ्वा का तर्व श्री श्रीर बुद्धि के कि इस राजा की श्री श्रीर बुद्धि के भाग और कुछ नहीं है। अनन्वय में दूसरी वस्तु का व्यवच्छेद फलित होता श्रीर उपमेयोपमा में तीसरी सदृश वस्तु का व्यवच्छेद फलित होता है। की हत दोनों का परस्पर भेद है।

किसी-किसी सहश वस्तु के स्मरण का वर्णन करने से स्मरणालङ्कार हित्र है। जैसे-अरिन्द्रिमिति-खेलते हुए खझनों से रमणीय इस कमल को देख-भिष्यमें वश्चल लोचनों से युक्त उसके सुन्दर मुख का स्मरण होता है। यहां भिक्षित्व लोचनों से युक्त उसके सुन्दर मुख का रन पर है। 'मिय सं-

'मयि सक्तपटं—' इत्यादौ च स्मृतेःसादृश्यानुभत्रं विनोत्थापितत्वात्रायमलंकाः। राधवानन्दमहापात्रास्तु वैसादृश्यात्समृतिमि स्मर्गालंकार्मिच्छन्ति । तत्रोद्वहरा तेषामेव यथा-

शिरीषमृद्वी गिरिषु प्रपेदे यदा यदा दुःखशतानि सीता। तदा तदास्याः सदनेषु सौख्यलचाणि दध्यौ गलद् सु रामः॥

रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे।

·रूपित—' इति परिग्णामाद् व्यवच्छेदः । एतच तत्पस्तावे विवेचिषणाः। 'निरपह्ववे' इत्यपहुतिन्यवच्छेदार्थम् ।

तत्परम्परितं साङ्गं निरङ्गमिति च त्रिधा ॥ २८॥

तद्रूपकम्।

तत्र

यत्र कस्यचिदारोपः परारोपणकारणम् । तत्परमपरितं शिलष्टाशिलष्टशब्द्नियनभनम् ॥ २६॥

कपटम्' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में यह त्रालङ्कार नहीं है, क्योंकि वहां सस वस्तु के अनुभव से समृति नहीं हुई। राघवेति-राघवानंद महापात्र तो विस वस्तु के त्रानुभव से उत्पन्न हुए स्मरण को भी स्मरणालंकार मानते है। इसका उदाहरण भी उन्हा का बनाया हुआ है जैसे-शिरीवेति-सिरस के फ़्र के समान कोमलाङ्गी सीता पहाड़ों में अब २ सेंकड़ों दुः ख पाती थी तब त श्रीरामचंद्रजी आँख् वहाते हुए, राजमहलों में होनेवाले उसके लाखों सुबी ह श्रवुच्यान (समरण्) करते थे कि यह सुकुमारी जो राजमहलों में इसप्रकार सुलपाती थी वह यहां अब ऐसे कष्ट मोग रही है। यहां दुः स्रों को देवत सुलों की याद आई है, अतः विरुद्ध के अनुभव से विरुद्ध का स्मरण इसा रूपकामिति-निरपह्नव त्र्रार्थात् निषेधरहित विषय ( उपमेय ) में क्षि (अपहतमेद उपमान) के आरोप को रूपक अलंकार कहते हैं। इस भैदरहित उपमानका उपमेय में आरोप हो, परंतु उपमेय के स्वहणकाति धक कोई शब्द न हो वहां रूपक होता है। 'रूपित' यह पद परिसाम से मेरि करने के लिये कहा है। इस बात का परिणाम के प्रकरण में विवेचन करि। 'निरपहृते' यह अपहृति से भेद करने के लिये कहा गया है। अपहृति उपमेय का निषेधक कोई शब्द अवश्य रहता है जैसे—'नेदं नभोमएडवार्ष राशिः'—गर्ना (-) राशिः'—यहां 'न' पद है। रूपक के भेद दिखाते हैं-तिति पह कार्य प्रकार का होता है। एक परम्परित, दूसरा सांग और तीसरा कि जनमें से न्यत्रीत न्या है। उन्में से—यत्रेति—जहां किसी का आरोप दूसरो के आरोप का कार्य है।
परम्परित रूपक होता है। परम्परित कपक होता है। वह दो प्रकार का है। एक विवास जो अनेकार्थक हाता है। वह दो प्रकार का है। एक हिल्ह्या है। वह दो प्रकार का है। एक हिल्ह्या है। उस हिल्ह्या है। उस हिल्ह्या हो, दूसरा अहिल्ह्या है। उस हिल्ह्या हो। उस हो। उस हिल्ह्या हो। उस हो। उस हिल्ह्या हो। उस हो। उस हिल्ह्या हो। उस हिल्ह्या हो। उस हो। उस

## प्रत्येकं केवलं मालारूपं चेति चतुर्विधम्।

तत्र रिलष्टशब्दिनिबन्धनं केवलपरम्परितं यथा-'ब्राहवे जगदुइएडराजमएडलराहवे। श्रीनृसिंहमहीपाल, स्वस्त्यस्तु तव बाहवे॥

अत्र राजमएडलं नृपसमूह एव चन्द्रविम्बमित्यारोपो राजबाहो राहुत्वारोपे निमित्तम्। मालारूपं यथा-

'पद्मोदयदिनाधीशः सदागतिसमीरणः। भूमृदावितदम्भोलिरेक एव भवान्मुवि॥'

अत्र पद्माया उदय एव पद्मानामुदयः, सतामागतिरेव सदागमनम्, मूमृतो

बो एकार्थक शब्दों से ही उत्पन्न हुआ हो। उक्त दोनों प्रकार का परम्परित हरक, 'केवल रूपक' भी होता है और 'माला-रूपक' मी। जहां एक हा बारोप दूसरे आरोप का कारण हो वह 'केवलपरम्परित' कहाता है एवम् बहां अनेक आरोप अनेक अन्य आरोपों के कारण हो वहां 'मालापरम्परित' होता है। श्लिष्टशब्द मूल क केवलपरम्परित का उदाहरण दिखाते हैं। मलं इति-हे नुसिंह महीपते, रण में जगत् के उद्दरड राजमएडल ( चन्द्रमएडल-रप नुपमएडल ) के लिये राहु रूप तुम्हारे बाहु का कल्याण हो। अत्रेति-यहाँ पाज पद चन्द्रमा श्रीर नरेश दोनों का वाचक होने से शिलष्ट है। उसी के कारण नरपतियों के मग्डल में चन्द्रमग्डलत्व का आरोप किया गया है। गही आरोप बाहु में राहु के आरोप का कारण है। राजाओं को जब चन्द्रमा गान लिया गया तभी तो बाहु को राहु मानने से उसका दमनकारित्व सिद्ध रोता है अन्यथा बाहु को राहु कहना व्यर्थ ही है। जब राजा लोग चन्द्रमा तमी उनके दमन करनेवाले को राहु कहना ठीक होता है। यहां एक राजाओं में चंद्रत्व का ) आरोप, दूसरे (बाहु में राहुत्व के ) आरोप का कारण है, अतः यह शिलष्टशब्द मूलक 'केवलपरम्परित' रूपक है। शिलष्ट-कर मुलक 'मालापरम्परित' रूपक का उदाहरण-पद्मोदयेति-हे राजन पद्मा (बह्मी) के उदयहर प्रशेदय (कमलोदय) के लिए स्यंहर और सज्जनी के आगमन कप सदागति (सदा चलने) के लिये वायु स्वक्षप पत्रम् राज-किए पर्वत पंक्रिके लिये वज्ररूप श्राप पृथ्वी में एक ही हैं। यहां पद्मीद्य पद लिए हैं। इस में से पद्म और पद्मा दोनों निकलते हैं। इसी श्लेष के कारण क्षि के उद्य को कमलोद्य का रूपक दिया गया है और यह रूपक राजा स्पति के आरोप का कारण है, अतः यह शिलप्रशब्द निबन्धन परम्परित भिक्ष हुआ। यहां 'उद्य' शब्द भी शिलष्ट है। कमलों के पत्त में 'उद्य' का कि विकास' और लक्ष्मी के पत्त में इसका अर्थ है 'वृद्धि'। इसी प्रकार भिष्णिति पदसे 'सतामागितः' और 'सद्गमनम्' ये दोनी अर्थ निकलते हैं। भेषप्त पहले अर्थ पर दूसरे का आरोप और उसके कारण राजा पर वायु- राजान एव पर्वता इत्याद्यारोपो राज्ञः सूर्यत्वाद्यारोपे निमित्तम्। अरिलप्टशब्दनिबन्धनं केवलं यथा-

'पान्तु वो जलदश्यामाः शार्क्ज्याघातकर्कशाः। त्रैलोक्यमएडपस्तम्भारचत्वारो हरिबाहवः ॥'

अत्र त्रैलोक्यस्य मएडपत्वारोपो हरिबाहूनां स्तम्भत्वारोपे निमित्तम्। मालारू गं यथा-

भनोजराजस्य सितातपत्त्रं श्रीखएडचित्रं हरिदङ्गनायाः। विराजते व्योमसरः सरोजं कर्पूरपूरमभिनदु विम्बम्॥

अत्र मनोजादे राजत्वाद्यारापश्चनद्विम्बस्य सितातपत्रत्वाद्यारोपे निमित्ता 'तत्र च राजमुजादीनां राहुत्वाद्यारोपो राजमण्डलादीनां चन्द्रमण्डलत्वाद्यारोपे निमि त्तम्' इति केचित्।

अङ्गिनो यदि साङ्गस्य रूपणं साङ्गमेव तत्॥ ३०॥

त्वारोप सिद्ध होता है। एवम् 'भूभृत् शब्द राजा श्रीर पर्वत दोनों ब वाचक है, इस से राजाओं पर पर्वतत्व का आरोप करके प्रकृत राजाण उनका शातक हाने के कारण वज्रत्व का अधिप होता है। यहां अनेक अ रोगों के कारण हैं, अतः यह माला रूपक है। अश्लिष्ट शब्द मूलक केवा सपक का उदाहरण-पान्तु-इति-मेत्र के सदश श्याम, शार्क धतुव की प्रत्यश्र के त्रावात से ककंश और त्रैलोक्यरूप मगडप के स्तम्भस्वरूप विष्णु चारों मुतर्एड आपकी रता करें। अत्रेति-यहां त्रेतोक्य में मएडएतक त्रारोप, हरिवाहुत्रों में स्तम्मत्व के श्रारोप का कारण है। श्रश्लिष्टगर मुलक मालारूपक जैसे मनोजेति-कामदेवरूप राजा का श्वेतच्छ्रत्रस्वरूप ग्री प्रशिशाहण कानिनी का चन्द्रनातलकहण प्रवम् आकाशहण सरीवर ब सरोजहर यह कपूर के महापिएड के समान चन्द्रमएडल सुशोभित होता है। यहां कामदेवादिकों में राजत्वादि का आरोप चन्द्रमा में सित्व्या आदि आरोपों का कारण है। तत्र चेति-'आहवे' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में ता भुत्त में राहुत्व का आरोप नृपमग्डल के चन्द्रमग्डलत्वारोप का कार्य पेता कोई कहते हैं। यहां 'के चित्' शब्द से इस मत में अपनी अवि स्व का है। उसका कारण यह है कि किसी प्रसिद्ध धर्म को लेकर ही श्रारीप होंगे है। जैसे प्रसिद्ध कर्म को लेकर ही श्रारीप होंगे है। जैसे प्रसिद्ध साहश्य के कारण मुख में कमलत्व या चन्द्रव का आते। होता है इस प्रकार बाहु आर राहु का कोई साधारणधर्म प्रसिद्ध ती। सतः जवत कराजाओं को श्राह्माद् कत्व साधि प्रसिद्ध साध्यम्य के बल से बत्री न पान लिया जाग तक कार्याद्वाद कत्व श्राद्धि प्रसिद्ध साध्यम्य के बल से बत्री न मान लिया जाय तब तक बाहु में राहुत्वारोप हो ही नहीं सकती। का विकास के का चन्द्रत्वारोप ही राहुत्वारोप का कारण है, राहुत्वारोप चन्द्रत्वारोप चन्द्रत्वारोप का कारण है, राहुत्वारोप चन्द्रत्वारोप का कारण है, राहुत्वारोप चन्द्रत्वारोप का कारण है, राहुत्वारोप चन्द्रत्वारोप चन्द्रत्वारोप का कारण है, राहुत्वारोप चन्द्रत्वारोप चन्द्रत्वारचारोप चन्द्रत्वारोप चन्द्रत्वारोप चन्द्रत्वारोप चन् नहीं हो सकता। श्रिक्त इति—यदि श्रक्ती के सब श्रंगों का कपण किया के CC-0. Mumukshu Bhawan Varangoi Cally

## समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च।

तत्र-

ब्रारोप्याणामशेषाणां शाब्दत्वे प्रथमं मतम् ॥ ३१ ॥

प्रथमं समस्तवस्तुविषयम् । यथा-

'रात्रणावप्रहक्लान्तमितित्रागमृतेन सः। अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेघस्तिरोद्धे॥'

अत्र कृष्णस्य मेघत्वारोपे वागादीनाममृतत्वादिकमारोपितम्।

यत्र कस्यचिदार्थत्व मेकदेशविवर्ति तत्।

कस्यचिदारोप्यमागास्य । यथा--

'लावएयमधुभिः पूर्णमास्यमस्या विकस्वरम् । लोकलोचनरोलम्बकदम्बैः कैर्न पीयते॥'

श्रत्र लावएयादौ मधुत्वारोपः शाब्दः, मुखस्य पद्मत्वाद्यारोप त्रार्थः। न वेयमेकदेशविवर्तिन्युपमा। विकस्वरत्वधर्मस्यारोप्यमार्गे पद्मे मुख्यतया वर्तमानत्वान्मुखे चोपचरितत्वात्।

वो साङ्गरूपक होता है। यह साङ्गरूपक भी दो प्रकार का होता है। एक <mark>समस्तवस्तुविषय, दूसरा एकदेशविवर्ती । बारोप्येति-जहाँ सब ब्रारोप्य</mark> गृद् से बोधित हों वहां 'समस्तवस्तुविषय' रूपक होता है । जैसे-रावणेति-तवण कर अवप्रह ( अवर्षण) से क्लान्त देवताकर सस्य (खेती) को स प्रकार वाणी रूप अमृत (जल) से सींच कर वह कृष्ण (विष्णु) रूप में अन्तर्हित हो गय।। जैसे — अवर्षण से सुखती हुई खेती पर कोई काला गदत यथेष्ट वर्षा करके तिरोहित हो जाय इसी प्रकार रावण से पीड़ित वेवताओं को अपने राम रूप में अवतार लेने की बात सुनाकर भगवान विष्णु अन्तर्धान हो गये। यहां विष्णु को मेघत्व रूप से वर्णन करना ही वाणी आदि में अमृतत्व आदि के आरोप का कारण है। एकदेशविवर्ती साङ्गरूपक का वहत्य करते हैं। यत्रेति-जदां आरोप्यमाणों में से कोई अर्थवल से लभ्य हो, सर का शब्द से कथन न हो, वहां एकदेशदिवर्ति रूपक होता है। जैसे-कार्यित लावत्य रूप मधु (पुष्परस) से पूर्ण इसका बिला हुआ मुख लोगों के किन नेत्र रूप भ्रमरों से नहीं पिया जाता श्रयांत् सभी के नयन रूप भ्रमर कि विते कमत के मधु का पान करते हैं। अनेति-यहां लावएयादिकों में मधुत्व शादिका आरोप तो शब्दों से ही कह दिया है, परन्तु मुख में कमलत्व का भारोप अर्थवल से लक्ष्य है। उसे शब्द से नहीं कहा है। नवेति-यह कहना कि नहीं कि यहां एक देशविवर्तिनी उपमा है, क्योंकि विकस्वरत्व (खिलना) पिने सुख्य का से रहता है और मुख में गीग कर से । यदि मुख का भिषात है। तभी विकस्बरत्व मुख्यक्रप से सम्बद्ध हो सकता है। CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

## निरङ्गं केवलस्यैव रूपणं तद्पि द्विधा ॥ ३२॥ मालाकेवलरूपत्वात्

तत्र मालारूपं निरङ्गं यथा—

'निर्माणकौशलं धातुश्चन्द्रिका लोकचचुषाम्।

क्रीडागृहमनङ्गस्य सेयमिन्दीवरेच्चणा।।'

केवलं यथा-

वासे कृतागिस भवेदुचितः प्रभूणां पादमहार इति सुन्दरि नास्मि दूये। उद्यत्कठोरपुलकाङ्करकण्टकाग्रै-र्यत्विद्यते मृदु पदं ननु सा व्यथा मे॥' तेनाष्ट्री रूपके भिदाः।

'चिरंतनैरुक्ताः' इति शेषः । कचित्परम्परितमप्येकदेशविवर्ति

यथा-

खद्गः दमासौविदल्लः समिति विजयते मालवाखण्डलस्य ॥' अत्राऽऽर्थः दमायां महिषीत्वारोपः खद्गे सौविदल्लत्वारोपे निमित्तम् । अस् भेदस्य पूर्ववन्मालारोपत्वेऽप्युदाहरणां मृग्यम् ।

निरङ्गमिति – जहां किसी का साङ्गोपाङ्ग वर्णन न हो, केवल श्रंगीका ही हण हो, वहां निरंगक्रपक होता है। मालाक्रपक और केवलक्रपक इन भेदों से गर भी दोप्रकार का होता है। निरंग मालारूपक का उदाहरण—निर्माणेति-ब्रह्माकी निर्माणशिक्त की कौशल-स्वरूप, लोगों के नेत्रों की चिन्द्रकारूप श्रीर कामरेव की कीडागृहस्वरूप यह वही नीलकमलनयनी है। केवल रूपक का उदाहर दावेशत-दास यदि कोई अपराध करे तो प्रभु लोगों का लात मारना उचित्री है, इस लिए हे सुन्दरि तुमने जो लात मारी है, इस बात का तो मुमे इन दुल नहीं, किन्तु तुम्हारे पादस्पर्श से मेरे देहमें उदित हुए रोमांचक्प की कांटोंसे जो तुम्हारा कोमल चरण खिन्न हो रहा है, इसका मुमे दुःब है। बा पुलकाङ्कर में कएटकत्वका आरोप हैं। तेनेति-इसिलए प्राचीनोंके मताउसा उक्ररीति से कपक के आठमेद होते हैं। चारप्रकार का परम्परित कपक के प्रकार का साङ्गरूपक और दो प्रकार का निरंग रूपक। रूपक के और में भी दिखाते हैं-कविदिति-कहीं पर्मपरित-रूपक भी एकदेशविवर्ती होता है। जैसे-खड्गइति-पृथ्वो का कंचुकी रूप मालवेश्वरका खड़ युद्ध में विजय पाता । अमेरि-इसमें स्वर को वं मनेति-इसमें खड़ को कंचुकी कहा है, अतः पृथ्वीका रानी स्वरूप होता मार्थिक है। वही ग्रंपिक के सिद्ध है। वही पृथ्वी में राज्ञीत्व का आरोप खड़ के कब्बुकीत्वारी के कारण है। अस्मेति का कारण है। अस्मेति का कारण है। अस्मेति का कारण है। अस्मेति कारण है। अस्मे कारण है। अस्येति—-यह भेद पूर्ववत् केवल श्रीर् मालाकप में भी हो सकी है। केवल का तो यही एक चरण उदाहरण है और यह सम्पूर्ण पर्व प्रकर्ण विवर्ति' परम्परित मालाकपक्र का उत्हाहर या है। यथा-CC-0. Mumbkeht Balward and some less या है। यथा-

हरयन्ते कचिदारोप्याः रिलष्टाः साङ्गेऽपि रूपके ॥ ३३॥

तत्रैकदेशविवर्ति रिलष्टं यथा मम-

क्तरमुद्यमहीधरस्तनाम्रे गलिततमःपटलांशुके निवेश्य।

विकसितकुमुदेत्त्रणं विचुम्वत्ययममरेशदिशो मुखं सुधांशुः॥'

समस्तवस्तुविषयं यथा-अत्रैव 'विचुम्बति' इत्यादौ 'चुचुम्बे हरि दवला-मुल्मिन्दुनायकेन' इति पाठे। न चात्र रिलष्टपरम्परितम्। तत्र हि 'मूमृदा-विवदम्मोलिः इत्यादौ राजादौ पर्वतत्वाबारोपं विना वर्णनीयस्य राजादेर्दम्भो

'पर्यङ्की राजलक्ष्म्या हरितमणिमयः, पौरुषाब्धेस्तरङ्गो भग्नप्रत्यर्थिवंशोल्वण्विजयकरिस्त्यानदानाम्बुपट्टः।

संग्रामत्रासताम्यन्मुरलपतियशोहंसनीलाम्बुवाहः—

खंडु: क्ष्मा-सौविद् ह्नः समिति विजयते मालवाखएडलस्य । रश्यन्तेइति — कहीं कहीं साङ्गरूपक में भी आरोप्य (उपमान) शिलष्ट शब्द से कहे जाते हैं। एकदेशविवर्तिशिलाष्ट्रसाङ्गरूपक का अपना बनाया उदाहरण. हेते हैं -काभिति-जिस पर से अन्धकारपटल रूप वस्र गिर गया है उस उदया-चलक्ष स्तन के अप्रभाग में किरणुक्षप अपना हाथ रखकर, खिले हुए कुमुद्दप नेत्रों से युक्त इन्द्र दिशा ( पूर्व दिशा ) के मुख को यह चन्द्रमा चूमता है । यहां 'कर' शब्द किरण और हाथ दोनों का वाचक होने से श्लिष्ट है। किरण में इस्तत्व आरोप्य है। करः किरण एव करो इस्तः तम् इत्यर्थः-इस में उदयाचल का स्तनत्व, अन्धकार का वस्त्रत्व स्रीर खिले हुए कुमुद्दों का नेत्रत्व शब्द से कहा है पुर्व पूर्व दिशा का स्त्रीत्व (नायिकात्व) तथा चन्द्रमा का नायकत्व प्रतीयमान है, वह शब्द से नहीं कहा, अतः यह एकदेशविवर्ति रूपक है। साङ्गोपाङ वर्णन होते से यह साङ्ग है। समस्तेति-इसी उदाहरणं में यदि 'चुचुम्बे' इत्यादिक मुलोक्त पाठ कर दें तो यह समस्त वस्तुविषयक रूपक होजायगा, क्योंकि वैसा करने से दिशा का नायिकात्व और चन्द्रमा का नायकत्व भी शब्दोपात्त होजायगा।

भरत-नचेति-यह शिलष्टपरम्परित रूपक होना चाहिए, क्योंकि महीधर को लान मानने के कारण ही यहां अंधकार को वस्त्र मानना पड़ा है और 'कर' राष्ट्र शिलपृ है। उत्तर-यह मत ठीक नहीं। परम्परित रूपक वहीं होता है जहां कारणभूत त्रारोप के विना कार्यभूत त्रारोप त्रसंगतसा मालूम पड़ता हो त्रर्थात् मिस साहश्य न होने के कारण आरोप का तत्व ठीक २ समक्त में न आता हो। वैति-'मृश्वित्यादि' पद्य में जब तक शत्रु पत्त के राजाओं को पर्वत न माना जाय तब वक प्रकृत (वर्णनीय) राजा को वज्र बताना कुछ ठीक नहीं जँचता। वज्र के साथ राजा का साहश्य प्रसिद्ध न होने के कारण प्रथम आरोप के विना वह सर्वेशा असंगत है, परन्तु प्रकृत पद्य में तो महीधर के साथ स्तन का साहश्य और 'तम' के साथ वस्त्र का साहश्य अति प्रसिद्ध है। एक आरोप दूसरे भारोप की अपेदा के विना ही सुसंगत हैं। अतः यहां 'श्लिप्टपरम्परित' नहीं। CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लितादिरूपणं सर्तेथैव सादृश्यामात्रादसंगतम् । तर्हि कथं 'पग्नोद्यदिनाधीशः' इत्यादौ परम्यरितम्, राजादेः सूर्यादिना सादृश्यस्य तेजस्वितादि हेतुकस्य संमगत् इति न वाच्यम्। तथा हि—राजादेस्तेजस्वितादि हेतुकं सुन्यकं सादृश्यं, न तु पक्ते विविद्यतम् । पग्नोद्यादेरेव द्वयोः साधारणधर्मतया विविद्यत्तत्वात् । इह तु महीधादेः स्तनादिना सादृश्यं पीनोतुङ्गत्वादिना सुन्यक्तमेव इति न श्चिष्टपरम्परितम्। दृश्यते कचित्समासामावेऽपि रूपकं ।

'मुखं तव कुरङ्गाचि सरोजिमिति नान्यथा।'

कचिद्रैयधिकरण्येऽपि यथा—
 'विदधे मधुपश्रेणीिमह भ्रूलतया विधिः'।

क्वचिद्वैधर्म्येपि यथा-

. सौजन्याम्ब्रमहस्थली सुचरितालेख्यंबुभितिर्गुण-ज्योत्स्नाकृष्णचतुर्दशी सरलतायोगश्वपुच्छुच्छुटा ।

तहींते —यदि अवसिद्ध साइश्य में ही परम्परित रूपक माना जाय तो 'पबोदन दिनाधाराः' यहां परम्परित रूपक कैसे माना है ? तेजस्वी होने के कारण स्पं .के साथ राजा का सादश्य तो अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसका उत्तर देते हैं--नेति-तथाहि-यह कथन ठीक नहीं। यद्यपि राजादिक के साथ तेजस्वितादिनिमि त्तक सूर्य का सादश्य प्रसिद्ध है, परन्तु यहां वह विवित्तित नहीं है। यहां उस साहश्य को बताना अभिलिषत नहीं है। यहां तो पद्मोद्य को ही दोनों का साधारण धर्म बताना त्राभीष्ट है। वह कहीं प्रसिद्ध नहीं है, त्रानः यह परम्परित रूपक का ही उदाहरण है। प्रकृत पद्य में पीनत्व और उन्नत्व श्रादि धर्मों से महीधरादि के साथ स्तनादि का सादृश्य श्रति प्रसिद्ध है इसलिये यहां शिलष्टपरम्परित नहीं है। कहीं समास के विना भी रूपक होता है। जैसे - मुखमिति। कहीं उपमानोपमयों में भिन्न विभोक्तयाँ होने पर मी रूपक होता है जैसे विद्ये इति "भूलतया" इस पद् में 'धान्येन धनवान' की तरह 'प्रकृत्यादेम्य उपसंख्यानम्' इस वार्तिक से अभेद में तृतीया है। कहीं विरुद्ध धर्मों के होने पर भी रूपक होता है। जैसे-सौजन्यित - जिन्होंने किलगुग ही इस दुष्ट श्राशयवाली राजावली (राजसमूह) की सेवा करली है उनके लिये भक्तिमात्र से सुलम भगवान शंकर की सेवा करतेना क्या किति है। भगवान् शंकर केवल भक्ति से ही सन्तुष्ठ होजाते हैं, परन्तु यह राजावली सज्जनता रूप जल के लिये मरुस्थन स्वरूप है। इसमें सज्जनता उतनी ही जितना मा वाइ में पानी। श्रार सच्चरित्र रूप श्रालेख्य के लिये यह श्राकार मित्ति स्वरूप है। इसमें सञ्चिरित्र उतने ही हो सकते हैं जितनी श्राकार्य में

वैरेषापि दुराशया कलियुगे राजावली सेविता तेषां शूलिनि भिक्तमात्रसुलभे सेवा कियत्कौशलम् ॥ अत्र केषांचिद्र्पकाणां शब्दक्षेषम् लत्वेऽपि रूपकविशेषत्वादर्थालंकारमध्येगणनम्। विविद्यमाणालंकारेष्वपि बोध्यम् ।

अधिकारू दवेशिष्ट यं रूपकं यत्, तदेव तत्।

तद्वाधिकारूढवैशिष्ट्यसंज्ञकम् । यथा मम—

'इदं वक्त्रं साचाद्विरिहतकलङ्गः शशधरः

सुधाधाराधारश्चिरपरिणतं विम्बमधरः ।

इमे नेत्रे रात्रिदिवमधिकशोभे कुवलये

तनुर्लावण्यानां जलधिरवगाहे सुखतरः ॥'

श्रत्र कलङ्कराहित्यादिनाऽधिकं वैशिष्टचम् ।

विषयात्मतयारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि॥ ३४॥

वसवीरें बनाई जा सकती हैं। गुणक्रप चिन्द्रका के लिये यह कृष्ण चतुर्दशी है। इसमें उतने ही गुण हैं जितनी ऋँथेरी चोदस में चिन्द्रका। एवम् सरलता के सम्बन्ध के लिये यह कुत्ते की पूँ छ है। इसमें सीधापन उतना ही होता है। जतना कुत्ते की पूँछ में। फिर जिन्होंने इसकी भी सेवा करली उन्हें शिव की आराधना में कितना कीशल अपेक्तित है। यहां महस्थलीत्वादिक विरुद्ध धर्म आरोप्य हैं। अनेति —यद्यपि कई रूपक शब्द श्लेषमूलक भी होते हैं, परन्तु रूपक विशेष होने के कारण उनका अर्थालङ्कारों में ही परिगणन किया विमी हैं तो रूपक ही श्रीर सामान्यतः रूपक श्रयीलङ्कार है, अतः उन्हें भी यहीं कह दिया है। इसी प्रकार अगले अलङ्कारों में भी जानना। अधिकेति— विस क्रिक में वैशिष्ट्य (विशेषण्) अधिक आकृत हो अर्थात् आगेप्यमाण् की श्रोता मी श्रारोप विषय में कुछ विशेषता श्रिधिक दिखाई जाय वहां उसी नाम की (अधिका कढवैशिष्ट्य नामक) कपक होना है। जैसे-इदमिति-यह मुख वितात् कलङ्करहित चन्द्रमा है। यहां मुख में चन्द्रत्व आरोप्यमाण है। भि-अमृतधारा का आधारभूत यह अधरोष्ठ भी खूब पकाहुआ विम्बफल रे। विम्ब अमृतधारा का आधारभूत यह अधराष्ट्र मा जून । विम्ब अमृतधारा का आधार नहीं होता। अधर में यही वैशिष्ट्य है। मि हिन्से नेत्र रात दिन सुशोभित होनेवाले नील कमल हैं। कमल रात्र में विश्व हो। त्या का साम हो स्वाप्त का जात का का सामर है, प्राप्त के सामर है। त्यापित के सामर के सामर है। त्यापित के सामर के सामर है। परितु अतः नेत्र उनसे विशिष्ठ है। तहासत पर स्वाप्तरत्व वैशिष्ठ्य है। वहां भी सुस्रतरत्व वैशिष्ठ्य है। विष्येति जहां श्रारोप्य पदार्थ, विषय (उपमेय) के स्वरूप से ही
CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

### परिणामो भवेत्त्रल्यातुल्याधिकरणो द्विधा।

आरोप्यमाणस्यारोपविषयात्मतया परिणमनात्परिणामः

, यथा-'रिमतेनोपायनं दूरादागतस्य कृतं मम। स्तनोपपीडमारलेषः कृतो चूते परास्तया॥

अन्यत्रोपायनपण्गौ वसनाभरणादिभावेनोपयुज्येते। अत्र तु नायकसंभावनवृत्योः हिमताश्लेषरूपतया। प्रथमार्धे वैयधिकरएयेन प्रयोगः, द्वितीये सामानाधिकरएयेन। रूपके 'मुखचन्द्रं पश्यामि' इत्यादावारोप्यमा ग्राचन्द्रादेरुपरञ्जकतामात्रम्, न तु मक्को दर्शनादावुपयोगः । इह तूपायनादेविषयेण तादात्म्यं प्रकृते च नायकसंमावनादाः पयोगः । अत एव रूपके आरोप्यस्यावच्छ्रेदकत्वमात्रेणान्वयः । अत्र तु तादात्येन ।

प्रस्तुत कार्य में उपयोगी हो, वहाँ परिणामालङ्कार होता है। वह दो प्रकार का होता है। एक तुल्याधिकरणक दूसरा अतुल्याधिकरणक अर्थात् विरुद्धाधिकः णका बारोपोति-ब्रारोप्य वस्तुके-ब्रारोप विषय के रूप में-परिणत होने सेयह परि खाम कहाता है। उदाहरण-स्मितेनेति-दूर से आने पर उसने स्मितक्रप मेंट मुमेदी श्रीर द्युत में स्तनोपपीडनपूर्वक — श्रालिङ्गन रूप पण ( बाज़ी) किया। बन्वमेक्ष-श्रीर जगह मेंट तथा पण, वस्त्रभूषणादि के रूप में उपयुक्त होते हैं, परन्तु गर्म नायक की सम्भावना ( आदर ) और द्वत में स्मित तथा आलिंगन के कारे ही उनका उपयोग है। पूर्वीर्द्ध में स्मित और उपायन में विभक्तियां भिन्न है। श्रतः वहां श्रनुल्याधिक रण्क परिणाम का उदाहरण जानना। 'स्मितेन यहां अभेद में तृतीया है । उत्तरार्घ में आश्लेष और पण का सामानाधिकरएय है निर्देश है, अतः वहां तुल्याधिकरणक परिणामालंकार है।

रूपके इति-मुखचन्द्रं पश्यामि-इत्यादि रूपक के उदाहरणों में आरोखमा। चन्द्र आदिक केवल उपरञ्जक हैं। शोभातिशय आदि विशेषताओं के चोतक है। मुखचन्द्र कहने से मुख में आल्हाद्कत्व अथवा शोभा का उत्कर्ष प्रतीव होता है, किन्तु प्रस्तुत कार्य दर्शन (पश्यामि) में चन्द्रमा का कोई उपयोग नहीं। दर्शन का विषय मुख ही है, चन्द्रमा नहीं। इहतु-किन्तु परिसाम पेसा नहीं होता । प्रकृत उदाहरण 'स्मितेन' इत्यादि में उपायनादिकों का स्मित आदि विषय के साथ तादात्म्य (एककपता) प्रतीत होता है। ग्री नायक के संभावन आदि प्रकृत कार्य में उसका उपयोग भी होता है । ही कारण रूपक में आरोप्य (चन्द्रत्वादि ) अवच्छेदक रूप से अन्वित होते। श्रीर परिणाम में वे तादातम्य सम्बन्ध से श्रान्वत होते हैं। रूपक में पूर्व कमलम्' का अर्थ होता है 'कमलत्वाविञ्जन्नं मुखम्' श्रौर 'परिणाम' में स्का अर्थ होता है 'कमलत्वाविञ्जनं मुखम्' श्रौर 'परिणाम' अर्थ होता है 'कमलाभिन्नं मुखम्'-यह विश्वनाथजी का तात्पर्य है।

वस्तुतः परिणामालंकार में उपमान का श्रमेद उपमेय में भासित होता । र कपक में उपमेश का क्रमेद उपमेय में भासित होता । और रूपक में उपमेय का अभेद उपमान का अभेद उपमेय में साल होता है। वहीं वि

दोनों का परस्पर भेद है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

द्वाते कृतागिस-' इत्यादौ रूपकमेत्र, न तु परिगामः। आरोप्यमागाकण्टकस्य पादमेद-कार्यस्याप्रस्तुतत्वात् । न खलु तत्कस्यचिदिप प्रस्तुतकार्यस्य घटनार्थमनुसंधीयते । भ्रयमपि रूपकवदधिकारू ढवैशिष्टची दृश्यते । यथा-

भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतपदीपाः॥'

ग्रत्र प्रदीपानामौषध्यात्मतया प्रकृते सुरतोपयोगिन्यन्धकारनाशे उपयोगोऽतैल-ग्रुलेनाधिकारूढवैशिष्टचम् ।

भ्रावं-श्रावं वचः सुधाम्' यह परिणाम का उदाहरण है। श्रवण किया में क्रमं होकर वचन ही अन्वित हो सकता है, सुधा नहीं, अतः यहां उपमान

(सुधा) का उपमेय ( वचन ) के रूप से ही प्रकृत किया में उपयोग है। यहां सुधानिष्ठाडमेदप्रतियोगिकं वचनम्-ऐसा बोध होता है। 'पायं-पायं चचःसुधाम्' यह रूपक का उदाहरण है। पान किया में वचन के स्वरूप का उपयोग नहीं हो सकता. अतः यहां रूपक है और वचननिष्ठाऽमेदप्रतियोगिनीं मुधाम ऐसा शाब्द-बोघ होता है । इस प्रकार परिगाम ग्रीर रूपक के सम्बन्धों में परस्पर वैपरीत्य होता है। यही इनका भेद है। 'विषयिणः प्रकृतोपयोगिताया अवच्छेदकीभूतं विषयाष्ट्रपं परिखामः । विषयी यत्र विषयात्मतयैव प्रकृतोपयोगी, न स्वातन्त्र्येण सपरिखामः । शत च विषयाडमेदो विषयिएयुपयुज्यते, रूपके तु नैविमिति रूपकादस्य मेदः' ( रसगङ्गाधर ) 'दासे' इत्यादि पद्य में रूपक दी है, परिशाम नहीं, क्योंकि रोमाञ्च में आरोप्यमाण जो कएटक का स्वरूप है उसका कार्य पैर का छेदना आदि मस्तुत नहीं। यहां कराटक का कोई कार्य प्रकृत नहीं है। मानिनी के मान-मंग करने की ही बात चल रही है। यद्यपि रोमाञ्चरूप कएटकों से पैर का बिन्न होना कहा गया है, तथापि वह किसी प्रस्तुत कार्य की सिद्धि के लिये उपात्त नहीं है। मानिनी का मान भंग करने के लिये उसके पैरों में कांटे वुमोना 'विधिविहित' नहीं है। केवल यही सूचित करना है कि देखो तुम्हारे वात्त्वस्पर्शं से भी मेरे शरीर में रोमाश्च होता है। मैं तुम्हारे प्रेम में इतना मग्न कि बात मारने पर भी पुलकित होता हूँ। परन्तु तुम्हारी यह दशा है कि इस प्रकार के अनन्य प्रेमी के ऊपर भी अकारण कृपित होती हो इत्यादि। श्यमणीति—यह परिणाम भी रूपक की तरह श्रधिकार दवेशिष्ट्य होता है विषा को निवाति—दरी (गुफा) रूप गृह के मध्य में जिनकी किरणें फैली रहती हैं विदिव्य श्रीषियाँ, जिस हिमालय में, प्रिया के साथ रमण करने वाले वन-क्तं (मिल्लादिकां) को बिना तेल डाले ही सुरत-प्रदीप का काम देती विवास के प्रतिकृति के प्रतिकृति के त्या के उपयोगी अन्धकि. के स्वास्तिक के स्वासिक के स्वास्तिक के स्वासिक कारनाश कप कार्य में श्रोषधिकप से ही उपयुक्त होता है, श्रतः यह परिणाम है। 'अतैलपूर' शब्द से दीपकों की अपेदा औषधियों में अधिकता प्रतीत कि है। दीवों में तेल डालना पड़ता है, परन्तु ये विना ही तेल के दीवे हैं। भीर अन्धकार को दूर करने में विषय (श्रीषधि) के रूप से ही उपयुक्त हैं।

संदेहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रति भोत्थितः॥ ३५॥ शुद्धो निश्चयग भोंऽसौ निरचयान्त इति त्रिधा।

यत्र संशय एव पर्यवसानं स शुद्धः । यथा-

"कि तारुएयतरोरियं रसभरोद्धिना नवा वल्लरी,

वेलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावएयवारांनिषे:। उद्गाढोत्कलिकावतां स्वसमयोपन्यासविश्रम्भिणः

कि साचादुपदेशयष्टिरथवा देवस्य शृङ्गारिणः॥" यत्रादावन्ते च संशय एव, मध्ये निरचयः, स निरचयमध्यः । यथा-

"ग्रयं मार्तएडः किं, स खलु तुरगैः सप्तभिरितः-

कृशानुः किं, सर्वाः पसरति दिशो नैष नियतम्। कृतान्तः किं, साचानमहिषवहनोऽसाविति पुनः

समालोक्याजौ त्वां विद्धति विकल्पान् प्रतिभटाः॥"

सन्देहालङ्कार का निरूपण करते हैं-संदेह इति—प्रकृत अर्थात् उपमेगा अन्य अर्थात् उपमान के संशय को संदेहालङ्कार कहते हैं। परन्तु उस संगर को किन की प्रतिमा से उत्थित होना चाहिए। चमत्कारक संशय ही अलङ्कार कहाता है, अन्य लौकिक संशय नहीं। यह संदेहालङ्कार तीन प्रकार का होताहै। शुद्ध, निश्चयगर्भ श्रौर निश्चयान्त । यत्रेति-जद्दां संशय में ही वर्णन की समाप्ति हो जाय वहां ग्रुद्ध सन्देह कहाता है। यथा—किमिति— किसी सुन्दरी का वर्षन है। रस की अधिकता के कारण खिली हुई यौवनकप वृत्त की क्या य नतीन सञ्जरी है ? अथवा वेला (समुद्रतट) तक उछलते हुए लावरायसागर की यह लहर है ? या बढ़ी हुई उमंगींवाले (प्रगाढोत्कि एठत) पुरुषों के 'स्वसमय' = ग्रपने सिद्धान्तों (कामशास्त्र के व्यवहारों) की शिहा देने ने तत्पर श्रुङ्गार के अधिष्ठातृदेव (कामदेव) की यह उपदेशयष्टि है । तरहर छात्रों का शासन करनेवाली गुरुजी की छुड़ी का नाम 'उपदेशयष्टि' है। गर्म किसी कामिनी का वर्णन संशय में ही समाप्त हुआ है, अतः यह गुद्ध सर्वे। का उदाहरण है।

यत्राद्गविति जहां त्रादि तथा अन्त्य में संशय हो श्रीर मध्य में निश्ववा उसे निश्चयगर्भसन्देहालंकार कहते हैं। यथा—अयमिति—"क्या यह सामारें स्यं है ? स्यं तो सात घोड़ों (सात घोड़ों के रथ) से युक्त रहता है । हा क्या यह अग्नि है ? अग्नि सब दिशाओं में नियम से नहीं फैलता। वह केंबी जव्दर्या उत्तरमान के श्रीनि सब दिशाओं में नियम से नहीं फैलता। वह केंबी अव्ध्वं ज्वलनशील होता है। फिर क्या यह यम है ? यम तो मैंसे पर स्वार्ध रहते हैं" हे राज्य रहते हैं" हे राजन, आपकी रण में देखकर प्रतिपत्ती वीर इस प्रकारि सन्देह किया करने हैं। सन्देह किया करते हैं। यहां सन्देह के अनन्तर कहे हुए वाक्यों है वि विकल्प का निराकरण हो जाता है। 'सूर्य सात घोड़ों से युक्त होता है। किया से यह निराम के किया है। 'सूर्य सात घोड़ों से युक्त होता है। कथन से यह निश्चय होता है कि यह सूर्य नहीं है, क्योंकि यह एक होता CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अत्र मध्ये मार्तएडाद्यभावनिश्चयो, राजनिश्चये द्वितीयसंशयोत्थानासंभवात्। यत्राऽऽदौ संशयोऽन्ते च निरचयः स निरचयान्तः। यथा—

"कि तावत् सरिस सरोजमेतदारा— . दाहोस्विन्मुखमवभासते तरुएयाः।

संशय्य च् गामिति निश्चिकाय कश्चिद विव्वोकैर्वकसहवासिनां परोत्तै:॥"

अपितमोत्थापिते तु 'स्थासुर्वा पुरुषो वा' इत्यादिसंशये नाऽयमलंकारः। 'मध्यं तव सरोजाचि, पयोधरभरार्दितम् ।

अस्ति नास्तीति संदेहः कस्य चित्ते न भामते'। अत्रातिशयोक्तिरेव, उपमेये उपमानसंशयस्यैवैतदलंकारविषयत्वात् ।

माम्यादतसिमस्तद्बुद्धिर्आन्तिमान् प्रतिभोत्थितः ॥ २६॥ यथा---

'मुग्धा दुग्धिया गवां विद्धते कुम्मानधो बल्लवाः

एर सवार है। इसी प्रकार अन्य वाक्यों में भी जानना । अतेति—यहां मध्य में स्पीदि के अभाव का निश्चय होता है। यह निश्चय तो होता है कि यह एयं नहीं है. किन्तु यह पता नहीं चलता कि यह है कीन ? राजनिश्चये इति— <sup>यदि प्रकृत राजा का निश्चय हो जाय तब तो अगले अग्नि, यम आदि के</sup> विकल्पों का उत्थान ही न हो।

यत्रेति जहां आदि में संशय और अन्त्य में निश्चय हो वहां निश्चयान्त 'सन्देह' जानना। यथा - किंतावदिति -- सरोवर (तालाव) में क्या यह कमल है । अथवा किसी तरुणी का मुख शोभायमान है ? चणभर इस प्रकार सन्देह करके किसीने कटाचादि विलासों (विज्वोक) को देखकर—जोकि वकसह-वासी=कमलों में नहीं हुआ करते—निश्वय कर लिया। यह निश्चयान्त सन्देह है क्योंकि यहां अन्त्य में तरुणी का निश्चय हो गया। अप्रितेमेति -जो संगय किव की प्रतिभा से उत्थापित नहीं है वहां यह अलंकार नहीं होता। वैसे 'स्थायुर्वी पुरुषो वा' इत्यादि । रास्ते में किसी को खड़ा देखकर यदि किसी मन में यह सन्देह हुआ कि 'यह आदमी है या खंभा' तो यह सन्देह, मलंकार नहीं कहायेगा। मध्यमिति —हे सरोजनयित, पयोधरों के मार से निपीडित तुम्हारी कमर है या नहीं, यह सन्देह किसके हृद्य में नहीं रहता ? इस पद्य में अतिश्योक्ति ही है, सन्देहालंकार नहीं, क्योंकि उपमेय में उपमान का संशय होने से हा यह अलंकार माना जाता है।

मान्यादिति—साद्दश्य के कारण श्रम्य वस्तु में श्रम्य वस्तु के निश्चयात्मक का साहश्य के कारण श्रन्य वस्तु म अस्ति भ्रान्तिमान् श्रलंकार भार वह कार्व की प्रातमा स उद्देशका के सके वित्त में भूम भी कि उदाहरण—गुःधा इति—देखी, सान्द्रवन्द्रिका किसके वित्त में भूम विष्यु करती । विमुग्ध ग्वाले दूध बहुता जान, गौश्रों के नीचे घड़े लगा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कर्णे कैरवशङ्कया कुवलयं कुर्वन्ति कान्ता अपि। कर्कन्ध्रफलमुचिनोति शबरी मुक्ताफलाशङ्कया सान्द्रा चन्द्रमसो न कस्य कुरुते चित्तभ्रमं चन्द्रिका' अस्वरसोत्थापिता भ्रान्तिर्नायमलंकारः ।—यथा 'शुक्तिकायां रजतम्' इति।

न चाऽसाद्दरयमूला । यथा-

'संगमविरहविकल्पे वरिमह विरहो न संगमस्तस्याः सङ्गे सैव तथैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे'।

कचिद भेदाद ग्रहीतृणां विषयाणां तथा कचित्। एकस्यानेकघोल्लेखो यः, स उल्लेख उच्यते॥ ३०॥

क्रमेगोदाहरगम्-

'प्रिय इति गोपवधूभिः, शिशुरिति वृद्धैरधीश इति देवै:। नारायण इति भक्तैर्ब्रह्मेत्यप्रांहियोगिभिर्देव: ॥

अत्रैकस्यापि भगवतस्तत्तद्गुगायोगादनेकधोल्लेखे गोपवधूपमृतीनां रूचात्यो

रहे हैं। गौत्रों के थनों के नीचे सघन चांदनी की किरणों को छिटका देख गोपालों को यह भ्रम हुआ कि हमारी गौओं के थनों में से दूध की घारायें वही जा रही हैं और उन्होंने उनके नीचे घड़े लगा दिये। शुक्लामिसारिका कामिनी कुमुद् (स्वेत कमल=फफूले) के घोखे कान में कुवलय (नील कमल) पहिन रही हैं। श्रीर भी लिन (भील की स्त्री) मोती समभकर भरवेरी के वेर वटोर रही है। अस्तरसेति—चमत्कारशून्य भ्रान्ति अलंकार नहीं कहाती। जैसे सीप में किसी को चांदी का भ्रम हो जाय तो उसे भ्रान्तिमान् श्रलंकार नहीं कहेंगे। भ्रान्ति के साहश्यमूलक न होने पर भी यह अलंकार नहीं होता। जैसे — संगमिति — समागम श्रौर वियोग के विकल्प में उसका वियोग ही श्रेष्ठ हैं-समागम नहीं। क्योंकि समागम में तो वह अकेली ही रहती और वियोग न समस्त संसार ही तन्मय दीखता है। यहां भ्रान्ति के सादृश्यम् लक्ष न होते के कारण उक्त त्रलंकार नहीं है।

उल्लेखालंकार का निरूपण करते हैं —किचिदिति — प्रहीता अर्थात् इतार्श्र के भेद से या विषय अर्थात् हेतु और अवच्छेदक आदि के भेद से एक वर्ष का अनेक प्रकार से उल्लेख (वर्णन या ज्ञान) करना उल्लेखालंकार कहाती है। यथा-प्रिय इति—मगवान् कृष्णचन्द्र को देखकर गोपियों ते उत्ते प्रियतम समभा। नन्द श्रादि वृद्ध गोपों ने शिशु, देवताश्रों ते श्री श्वर, भक्तों ने नारायण श्रौर योगियों ने उन्हें साद्वात् ब्रह्म समक्षा । ब्रावीटियां स्ट्रांस्वात् व्रह्म समक्षा । यहां मगवान् एक ही थे और उनमें प्रियत्व, शिशुत्व, अघीशत्व, तारायण्य तथा व्यानसम्बद्धाः तथा ब्रह्मत्वरूप अवच्छेदक धर्म भा विद्यमान थे, परन्तु गोपियों हे हैं प्रियतम ही सम्प्रमुख्य प्रियतम ही समक्ता शिशु अथवा ब्रह्म आदि नहीं। इसी प्रकार वृद्ध आदिकार भी कुछ और होने के भी कुछ त्रीर और ही समका। इन सबका कारण उनकी

य्यायोगं प्रयोजकाः । यदाहुः—

'यथारुचि, यथार्थित्वं, यथान्युत्पत्ति भिद्यते । त्र्याभासोऽप्यर्थे एकस्मित्रनुसंधानसाधितः॥'

अत्र भगवतः पियत्वादीनां वास्तवत्वाद् प्रहीतृभेदाच न मालारूपक्रम् । न च भ्रान्तिमान् । न चाऽयमभेदे भेद इत्येवं रूपातिशयोक्तिः । तथाहि—'अन्यदेवाङ्ग- लावएयम्' इत्यादौ लावएयादेर्विषयस्य पृथक्त्वेनाऽध्यवसानम् । न चेह भगवति गोणवधूपभृतिभिः पियत्वाद्यध्यवसीयते । पियत्वादेर्भगवति तत्काले तात्त्विकत्वात् ।

प्राप्ती रुचि त्राद्किथी। जिसकी जैसी रुचिया कामनाथी त्रौर जिसकी जैसी भावनाथी उसने उन्हें उसी प्रकार देखा। 'जिनकी रही मावना जैसी। प्रभु प्राप्ति देखी तिन तैसी'।

रुव्यादि के भेद से ज्ञान के भेद में प्रमाण (उपष्टम्भक वास्य) देते हैं—
गण्यविति—इस पद्य में 'श्रिप' शब्द भिन्नक्रम है। इसका श्रन्वय इस प्रकार
है—एकिस्मिन्नपर्ये अनुसंधानसाधित श्रामासः (ज्ञानम्) यथाविन, यथार्थितम्, यथाव्युत्पत्ति च
भिवते। अर्थ-एक ही वस्तु होने पर भी श्रनुसंधान श्रर्थात् विशेषणों के वल
से इत्पन्न हुआ ज्ञान रुचि, श्रिथित्व श्रीर व्युत्पत्ति के श्रनुसार मिन्न हो, जाता
है। जिसकी जैसी रुचि होती है, जिसका जैसा मतलव (श्रिथित्व) होता है
और जिसकी जैसी मावना (व्युत्पत्ति) होती है उसे वह वस्तु वैसी ही
दीसती है। जैसे उक्र पद्य में भगवान् कृष्ण के श्रनेकविध दर्शन।

श्रेति—उक्त पद्य ( प्रिय इति गोपेत्यादि ) में माला रूपक नहीं है—क्योंिक मगवान में प्रियत्वादिक धर्म वास्तविक हैं—ग्रारोपित नहीं ग्रीर रूपक श्रारोप में ही होता है। प्रहीतृमेदाचेति—इसके ग्रातिरक्त यहां ग्रहीता (ज्ञाता) ग्रा का भी मेद है। गोपी, वृद्ध, देवता ग्रादि ग्रानेक ज्ञाता हैं। माला रूपक में एक हा ज्ञाता रहता है। प्रियत्वादि के वास्तविक होने के कारण ही यहां ग्रान्तिमान अलंकार भी नहीं है। भगवान में गोपियों को साहश्यम्लक भ्रम से प्रियत्वाल नहीं हुआ है। वस्तुतः वे उन्हें ग्रापना प्रिय ही समक्तती हैं।

न नेति—इसे 'अमेद में भेद' रूप अतिशयोक्ति भी नहीं कह सकते। उक्त अतिशयोक्ति का उदाहरण है 'अन्यदेवाक्तलाव एयम्' इत्यादि। इसमें लाव एय आदिक प्रकृत विषय (उपमेय) का अन्य रूप से अध्यवसान किया है। अत्यव यहां अतिशयोक्ति है। जहां अमेद होने पर भी किसी वस्तु को अन्य में माने वहां उक्त अतिशयोक्ति होती है। परन्तु गोपियों को जो भगवान् मियत्वज्ञान है वह तात्विक (वास्तविक) है। अन्य में अन्य रूप से अध्यवस्ति नहीं है।

केचिदाहु: — अयमलंकारो नियमेनाऽलंकारान्तरविच्छित्तमूलः उक्तोदाहर्गे व शिशुत्वादीनां नियमनाभिपायात्प्रियत्वादीनां भिन्नत्वाध्यवसाय इत्यतिशयोक्तिरिल्तं। तत्सद्भावेऽपि प्रत्येतृमेदेन नानात्वप्रतीतिरूपो विच्छित्तिविशेष उल्लेखास्यभिन्नातं कार्ययोजकः। श्रीकएठजनपदवर्गाने — 'वज्रपञ्जरमितिशरगागतैः, अम्बरिवरिमितिः वातिकैः' — इत्यादिश्चातिशयोक्तेर्विविक्तोविषयः। इह च रूपकाऽलंकारयोगः। वस्तुतस्तु — 'अम्बरिववरम्' — इत्यादौ आन्तिमत्त्वमेवेच्छिन्त न रूपकम्, भेदप्रतीतिः पुरःसरस्यैवाऽऽरोपस्य गौगां मूलरूपकादिपयोजकत्वात्। यदाहुः — शारीरक्रमीमं साभाष्यव्याख्याने श्रीवाचस्पतिमिश्राः —

केचिदिति—कोई यह कहते हैं कि यह अलंकार नियम से अलंकारान्तर वििञ्जित्तम्लक है अर्थात् जहां यह अलंकार होता है वहां दूसरे अलंकार बी विचित्रति (चमत्कार) मुल में श्रवश्य रहती है। विना किसी दूसरे श्रलंकार के यह अकेला कभी नहीं रहता। 'प्रिय' इत्यादि उक्क उदाहरण में दूसरा अति-शयोक्ति अतंकार है, क्योंकि वहां शिशुत्वादिक नियम के अभिपाय से बोले गये हैं। 'वृद्धः शिशुरेवेत्यप्राहि' इत्या दे वाक्यार्थ होता है। यद्यपि भगवान् में प्रियत्वादिक धर्म भी थे, परन्तु बुद्धों ने उन्हें शिशु ही समक्षा श्रौर कुछ नहीं। इस नियम से प्रियत्वादि क धर्मों का भेद अध्यवसित होता है। प्रियत्वादिक धर्म होने पर भी चुद्धों ने उनमें शिग्रुत्व ही देखा प्रियत्वादिक नहीं इसमे 'ग्रमेद में मेद' रूप अतिशयोक्ति सिद्ध हुई। तत्सद्राव इति—इस ग्रतिशयोकिके होने परभी यहां उल्लेख नामक दूसरा त्रालंकार माना जाता है, क्योंकि 'ज्ञाताओं के भेद से एक वस्तु में अनेक प्रकार का ज्ञान होना' यह एक चा त्कारविशेष यहां विद्यमान है। यही इस अलंकार का प्रयोजक है। यह तर् कह सकते कि सब जगह अतिशयोक्ति ही इस अलंकार के साथ रहती है। बाणकृत हर्षचरित में श्रीकग्ठ नामक जनपद के वर्णन में लिखा है नि यहां उल्लेख ग्रलंकार का विषय ग्रतिशयोक्ति से विविक्त (पृथक्) है। गर् रूपक अलंकार साथ है।

वस्तृतः इति—वास्तव में तो यहां रूपक नहीं है। भ्रान्तिमान् ही है। ही कादि श्रलंकार गौणीलच्चणा के श्राधार पर ही बनते हैं श्रीर गौणीलच्चणा की होती है जहां भेद ज्ञानपूर्वक श्रारोप किया जाय — ग्रर्थात् भिन्न हुए में जाते हुई तो वस्तुश्रों का काल्पनिक श्रभेद कहा जाय। जैसे 'सिंहो माणवकः' ह्यारि में सिंह श्रीर वालक दोनों का पृथक् ज्ञान होने पर, वीरता श्रादि साह्यक में सिंह श्रीर वालक में सिंहत्व का श्रारोप किया है। यदाहुरिति—यही का शारीरक माज्य की व्याख्या करते हुए 'भामती' में श्रीवावस्पति भागारीरक माज्य की व्याख्या करते हुए 'भामती' में श्रीवावस्पति भागारीरक माज्य की व्याख्या करते हुए 'भामती' में श्रीवावस्पति भागारीरक माज्य की व्याख्या करते हुए 'भामती' में श्रीवावस्पति भागारीरक माज्य की व्याख्या करते हुए 'भामती' में श्रीवावस्पति भागारीरक माज्य की व्याख्या करते हुए 'भामती' में श्रीवावस्पति भागारीरक माज्य की व्याख्या करते हुए 'भामती' में श्रीवावस्पति भागारीरक माज्य की व्याख्या करते हुए 'भामती' में श्रीवावस्पति भागारीरक माज्य की व्याख्या करते हुए 'भामती' में श्रीवावस्पति भागारीरक माज्य की व्याख्या करते हुए 'भामती' में श्रीवावस्पति भागारीरक माज्य की व्याख्या करते हुए 'भामती' में श्रीवावस्पति भागारीरक माज्य की व्याख्या करते हुए 'भामती' में श्रीवावस्पति भागारीरक माज्य की व्याख्या करते हुए 'भामती' में श्रीवावस्पति भागारीरक स्वाख्या करते हुए 'भामती' में श्रीवावस्पति भागारीरक साज्य के स्वाख्या करते हुए 'भामती' में श्रीवावस्पति भागारीरक साज्य के स्वाख्या करते हुए 'भामती' में श्रीवावस्पति स्वाख्या करते हुए 'भामती' से श्रीवावस्पति स्वाख्या करते हुए 'भामति स्वाख्या करते हुए 'भामति स्वख्या करते हुए स्वख्या करते हुण सुण स्वख्या करते हुण स्वख्या करते हुण स्वख्या करते हुण सुण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अपि च परशब्दः परत्र लद्यमाणगुणयोगेन वर्तते इति यत्र प्रयोक्तपत्रोः मंप्रतिपत्तिः स गौगाः। स च भेदपत्ययपुरःसरः'इति। इह तु वातिकानां श्रीकएठ-वनपद्वर्गाने भ्रान्तिकृत एवाऽम्बरविवराद्यारोप इति। श्रत्रैव च 'तपोवनमिति मुनिभिः, कामायतनमितिवेश्याभिः' इत्यादौ परिणामालंकारयोगः।

'गाम्भीर्येण समुद्रोऽसि गौरवेणासि पर्वतः'।

इत्यादौ चानेकधोल्लेखे गाम्भीर्यादिविषयभेदः प्रयोजकः । अत्र च रूपकयोगः । गुरुर्वचिस, पृथुरुरसि, अर्जुनो यशिस' इत्यादिषु चाऽस्यरूपकाद् विविक्तो विषय इति। अत्र हि रलेषमूलातिशयोक्तियोगः ।

### प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपद्भनुतिः।

प्रिष चेति—लक्ष्यमाण गुणों के सम्बन्ध से अन्य शब्द (सिंहादि) अन्य विषय (माण्यकादि) में प्रयुक्त होता है। जहां प्रयोक्ता (कहनवाले) और प्रतिपत्ता (सुननेवाले) की प्रतिपत्ति (ज्ञान) समान होती है, वह गौण शब्द कहाता है। वह मेदज्ञानपूर्वक ही होता है। इससे यह स्पष्ट है कि गौग शब्द का प्रयोग भेद ज्ञानपूर्व क ही होता है—परन्तु – इह तु इति 'श्रम्बरे'त्यादि पूर्वोक्त उदाहरण में तो वातिकों ने जो नगर में अम्बरिववरत्व का आरोप किया है वह म्रान्तिजन्य ही है। सादश्यातिशय के कारण भ्रम से उन्होंने उसे श्रम्बर-<sup>विवर</sup> समभ िलया है, अतः यहां भ्रान्तिमान् अलंकार ही हो सकता है, कपक नहीं। अत्रैवेति—इसी नगर के वर्णन में 'तपोवनम्' इत्यादि उदाहरणों में उच्लेख के साथ परिखामालंकार का योग है। मुनियों के समाधिभावन आदि कार्यों में जनपद रूप से ही आरोप्य (तपोवनत्व) उपयोगी है, अंतः यहां परिणाम है।

विषय भेद से उत्पन्न उल्लेख का उदाहरण देते हैं —गाम्मार्थेणेति — 'कामबत्वाच बोकानामिस त्वं कल्पपादपः' यह इस पद्य का उत्तराई है। इत्यादाविति—इन उदा-रेखों में अनेक प्रकार से उल्लेख करने में गाम्भीय आदि विषयों का भेद प्रयो-कि है। गाम्भीर्य के कारण समुद्रत्व और गौरव के कारण पर्वतत्व आरोपित है। यहां उत्तेख के साथ रूपकालंकार का सम्बन्ध है। 'गुरुर्वचिस' इत्यादि विहरणों में रूपक के विना भी उल्लेख दीख पड़ता है। यह इसका रूपक से विविक्ष विषय है। यहां श्लेषमूलक अतिशयोक्ति है। 'गुरु' शब्द भारी को भी हिता है और वृहस्पति को भी। एवं पृथु शब्द महाराज पृथु का भी बोधक श्रीर मोटे का भी। ग्रतः यहां श्लेष है श्रीर इन दोनों भिन्न श्रथों के एक कि से बोधित होने के कारण यहां अभेदाध्यवसात हुआ है, अतः यह क्षिगतुमाणित श्रतिशयोक्ति है।

अपह ति का वर्णन करते हैं—प्रकृतिमिति—प्रकृत (उपमेय) का प्रतिषेध करके भिय (उपमान ) का स्थापन अर्थात् आरोप करना अपहति कहाता है।

इयं द्विधा । कचिदपह्नवपूर्वक आरोपः, कचिदारोपपूर्वकोऽपह्नव इति । क्रमेणे दाहरणम्-

'नेदं नभीमएडलमम्बुराशिनैंतारच तारा, नवफेनभङ्गाः। नाऽयं शशी, कुएडलितः फर्गान्द्रो, नाऽसौ कलङ्कः, शयितो मुरारिः। 'एतद् विभाति चरमाचलचूलचुम्बि हिएडीरपिएडरुचि शीतमरीचिबिम्बम्। उज्ज्वालितस्य रजनीं मदनाऽनलस्य दधत्प्रकटलाञ्छनकैतवेन'। धूमं

इदं मम ।

एवम् 'विराजति व्योमवपु: पयोधिस्तारामयास्तत्र च फेनभङ्गाः' इत्याकारेण च प्रकृतिनिषेधो बोध्यः।

गोपनीयं कमप्यर्थं चोत्रित्वा कथंचन ॥ ३६॥ यदि रलेषेणाऽन्यथा वान्यथयेत्साऽप्यपहुतिः।

रलेषेगा यथा-

'काले वारिधरागामपतितया नैव शक्यते स्थातुम्

इयमिति-यह दो प्रकार की होती है। एक वह जहां अपह्नव करके अर्थात् पहने प्रकृत का निषेध करके पीछे आरोप किया जाय और दूसरी वह जहां आरोप करके अपह्नव किया जाय। ऋम से उदाहरण - नेदमिति-आकाश का वर्षनहै। यह त्राकाशमण्डल नहीं है, समुद्र है। श्रौर न ये तारे हैं, बल्कि नवीन फेर्ने के खएड हैं। न यह चन्द्रमा है, यह तो कुएडल मारके वैठे हुए शेषनाग है श्रीर यह कालाकाला जो दीखता है यह कलङ्क नहीं है, किन्तु शेषनागपर मगवार विष्णु सो रहे हैं। यहां पहले आकाशादि के स्वरूप का निषेध द्वारा अपहर किया है और फिर उसमें समुद्रत्व आदि धर्मों का आरोप किया गयाहै। दूसरी अपहृति का उदाहरण — एतिदिति — अस्ताचल के शिखर पर फेनिएडि के समान यह धुँधला चन्द्रविम्ब, कलङ्क के बहाने, रातभर जलाये हुए मर नाग्नि के धूम को धारण कर रहा है। यहां पहले धूमत्व का ब्रारीप है और पीछे 'कैतव' शब्द से लाञ्जन के स्वरूप का अपहुव किया गया है। एवीकी इसी प्रकार 'विराजित' इत्यादि पद्यमें 'वपु' शब्द से प्रकृत का निषेध जाननी गोपनीयमिति-किसी गोपनीय बात को किसी प्रकार स्वित करके कि श्लेष से या किसी अन्य प्रकार से यदि उसे छिपाया जाय तो भी अपहीं अलंकार होता है। अलंकार होता है। यह अपहति का दूसरा लच्च है। श्लेषमूलक अलंका उदाहरण—काले की नि का उदाहरण—काले इति-इस पद्य में 'श्रपतितया' पद दो प्रकार से बना है और उसके हो नर्भ को के है और उसके दो अर्थ होते हैं। एक तो 'न पितर्यस्याः सा अपितः तस्या मानतियां। अपितत्यां। पित क्रिक्ता अपिततया'। पति रहित का नाम 'श्रपति' उसकी दशा का नाम 'श्रपितती।

उत्किएठतासि तरले, निह निह सिख, पिच्छिलः पन्थाः'

अत्र 'अपिततया' इत्यत्र पति विनेत्युक्त्वा पश्चात्पतनाभावेनान्यथाकृतम्। अरलेषेण यथा-

'इह पुरोऽनिलकम्पितविप्रहा— मिलति का न वनस्पतिना लता। स्मरसि किं सखि, कान्तरतोत्सर्व-नहि घनागमरीतिरुदाहता'

वक्रोक्तौ परोक्तरन्यथाकारः, इह तु स्वोक्तरेवेति भेदः । गोपनकृता गोपनीय-स्यापि प्रथममिहितत्वाच व्याजोह्ने:।

रुसरे 'न पतिता अपतिता तया' ! 'पतिता' का अर्थ है गिरी हुई या फिसली हुई। हो न गिरे सो 'अपितता'। बादलों को देखकर किसी विरिहिणी ने कहा कि वर्षाकाल में 'अपितता' से रहना हो नहीं सकता। सखी उसका मतलव समभ गई। उसने पूछा कि 'उत्कापेठतासि तरते ?' क्यों क्या पति में प्रचएड उत्कएठा पैदा हो गई है ? अर्थात् क्या तेरा यह मतलब है कि वर्षाकाल में पित के विना ( श्रपतितया ) रहा नहीं जा सकता ? यहां 'तरले' सम्बोधन ते इब फरकार भी स्चित होती है। नायिका सखी की इस उक्ति से मन में बिजित हो गई और उसने कर बात बदलकर कहा कि 'नीई नीई सिक्कें, भिष्यतः पन्थाः' नहीं सद्धी—तूमेरा मतलव नहीं समक्ती। अरी, रास्तेमें किसलन बहुत है। मैं तो यह कह रही हूँ कि वर्षा के समय रास्ते में इतनी फिसलन है कि विना पतित हुए अर्थात् विना फिस से या गिरे (अपितता) कीर रह नहीं सकती। अश्लेषेणेति—श्लेष के विना उदाहरण —इहेति –नायिका की उक्ति है। यहां पुरवाई से कम्पित शरीरवाली कौनसी लता वनस्पति के वाय नहीं मिलती ? सखी की उक्ति —स्मरसोति --हे सखि, क्या प्रियतम के वित्सव का स्मर्ण करती है ? अर्थात् किम्पतलता को वनस्पति के साथ बिएटती देखकर क्या तू किएतगात्री नायिका के (अपने) आलिङ्गन का भाग कर रही है ? नायिका की उक्ति -नहीं नहीं नहीं नवर्षकाल का समाव ही कहा है। मेरा विशेष कुछ मतलब नहीं। यहां विना श्लेष के ही भारत्य से अभिप्रायस्चन करके फिर उसका निराकरण किया गया है। क्षेत्राविति-वक्षोक्ति में दूसरे की उक्ति का दूसरा अर्थ किया जाता है और का अपनी उक्ति को ही। यही इन दोनों का भेद है। छिपानेवाला गोपनीय का की भी पहले यहां कह देता है, श्रतः यह श्रतं कार व्याजोक्ति से भी मित्र है। उसमें गोपनीय कां कथन नहीं होता।

अन्यन्निषिध्य प्रकृतस्थापनं निरचयः पुनः ॥३६॥

निरचयाख्योऽयमलंकारः । अन्यदित्यारोप्यमागाम् । यथा मम— 'बदनिमदं, न सरोजं, नयने, नेन्दीवरे एते। इह सिवधे मुग्धदशो भ्रमर, मुधा कि परिभ्रमित'॥

यथा वा-

'हृदि विसलताहारो, नाऽयं भुजङ्गमनायकः कुवलयदलश्रेणी कपठे, न सा गरलबुति:। मलयजरजो, नेदं भरम, पियारहिते मिय प्रहर न हरस्रान्त्याऽनङ्ग कुधा किमु धावसि'॥

नह्ययं निश्चयान्तः सन्देहः । तत्र संशयनिश्चययोरेकाश्रयत्वेनाऽवस्थानात्। अत्रतु अमरादेः संशयो नायकादेनिश्चयः। किञ्च न भ्रमरादेरिप संशयः। एकको अ निधिके ज्ञाने तथा समीपगमनाऽसंभवात् । तर्हि भ्रान्तिमानस्तुं। अस्तु ना भ्रमरादेर्भान्तिः । न चेहतस्यारचमत्कारित्रधायित्वम् । अपि तु तयाविक

निश्चयालंकार का निरूपण करते हैं -- अन्यदिति -- उपमान का निषेध करते उपमेय के स्थापन करते को 'निश्चय' अतं कार कहते हैं — जैसे —बदनमिति— हे भ्रमर, यह मुख है, कमल नहीं। श्रीर ये दोनों नेत्र हैं, नील कमल नहीं। तुम इस सुन्दरी के संमीप क्यों व्यर्थ ही चक्कर काउते हो। दूसरा उदाहरण-ह्याते हे कामदेव, तुम शङ्कर के घोले मेरे ऊपर क्यों दौड़ते हो शुक्रे मारो । मैं तो विरही हूँ, शङ्कर नहीं । मेरे हृद्य में विरहानि शान्त करने के लिये यह कमलनाल का हार है, सर्पराज वासुकि नहीं है। कएठ में नीले कम के पत्ते हैं, विष की काली छवि नहीं। प्रिया के विरह से युक्त मेरे देह यह चन्दन का चूर्ण लिपटा है, भस्म नहीं है। इस अलंकार का अन श्रलंकारों से भेद सिद्ध करते हैं -नबयमिति -इसे निश्चयान्त सन्देशांकार नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें संशय और निश्चय एक ही में रहा करते। श्रीर यहां संशय तो भ्रमर को है, उसीने मुख को कमल समभा है, श्री निश्चय नायक को है, जो यह कह रहा है कि 'न सरोजम्'। इसके सिंग म्रमर को भी सन्देह नहीं है। सन्देह जिस विषय में होता है उसमें प्रकृति नहीं होती। जबतक विरुद्ध झानों की दोनों कोटि बराबर रहती है। एक कोटि अधिक नहीं होती—तबतक प्रवृत्ति नहीं हुआ करती, अतः वी भ्रमर को पूरा सन्देह होता तो मुख के पास न जाता। उसके समीपगमत हो। भतीत होता है कि उने प्रतीत होता है कि उसे कमलत्व का निश्चय है, संशय नहीं। तहीं विकास समायान का निश्चय है, संशय नहीं। तहीं विकास समायान फिर यहाँ मान्तिमान् अलंकार सही, क्योंकि मुख में कमल की भानित हो। दसका खण्डन करने हैं स्तका खरडन करते हैं—श्रसु नाम—यहां भ्रमर को भले ही भ्रान्ति रहे, तर्ज

त्रायकाशुक्तरेवेति सहृदयसंवेद्यम् । किञ्चाविवितिपि भ्रमरादेः पतनादौ भ्रान्तौ वा त्रायकाचाट्वादिक्तरेणैव संभवति तथाविधोक्तिः । न च रूपकध्वनिरयम्, मुखस्य क्रमलत्वेनाऽनिर्धारणात् । न चापह्नुतिः, प्रस्तुतस्यानिषेधात् इति पृथगेवाऽयम-हंकारिचरन्तनोक्तालंकारेभ्यः । शुक्तिकायां रजतिधया पतित पुरुषे 'शुक्तिकेयं न जत' मिति कस्यचिदुक्तिनीयमलंकारो वैचित्रयामावात् ।

भवेत्सं भावनोत्येचा प्रकृतस्य परात्मना। बाच्या प्रतीयमाना सा प्रथमं द्विविधा मता॥ ४०॥ बाच्येवादिषयोगे स्याद्पयोगे परा पुनः।

वह तो चमत्कारक नहीं है। उस प्रकार की नायकोक्ति ही चमत्कारक है। इसके अतिरिक्ष चाहे भ्रमर को भ्रान्ति न हो और वह मुख के पासन भी आये तो भी नायिका को प्रसन्न करने के लिये उस प्रकार का कथन संभव है। से क्ष्यकथ्विन भी नहीं कह सकते, क्योंकि यहां मुख का कमलत्व क्ष्प से निर्धारण नहीं किया है। यह अपहृति भी नहीं है। अपहृति में प्रकृत का निषेध किया जाता है, परन्तु यहां मुख के स्वक्ष्य का निषेध नहीं किया गया है। इस लिये यह निश्चयालंकार प्राचीन आचायों के कहे हुए अलंकारों से पृथक ही है। यदि कोई आद्मी सीप को चांदी समक्ष कर उठाने लगे और दूसरा उससे कहे कि अरे, यह तो सीप है, चांदी नहीं, तो वहां यह अलंकार नहीं माना जायगा, क्योंकि वहां कोई चमत्कार नहीं। कविप्रतिभोत्थितनिश्चय ही चमत्कारक होता है।

उत्प्रेचा उलंकार का निरूपण करते हैं—मनेदिति—किसी प्रस्तृत वस्तु की अपस्तृत के रूप में संभावना करने को उत्प्रेचा कहते हैं। जिसमें एक कोटि जिल्ह रहे उस संशयकान को सम्भावना कहते हैं। संशय में दो या खिसे अधिक कोटियाँ रहा करती हैं, परन्तु रहतीं सब समान हैं। जैसे कुछ कुष अधेरे में खम्मे को देख कर किसी को संदेह हुआ कि यह खम्मा है या आदमी। यहां एक वस्तु में स्थाणुत्व और पुरुषत्व दो धमों का विकल्प हैं। खमें दोनों बानों की कोटि समान है, कोई अधिक नहीं है। जब इनमें से कि बान की कोटि प्रवत्त हो तो उसे संभावना कहते हैं। परन्तु इस प्रकार का बान जब कि की प्रतिभा से उत्पन्न हो अर्थात् चमत्कारक हो तब उसे उत्पेचितंकार कहते हैं, अन्यथा संभावना ही कहाती है। सन्देह में झान की अनेक कोटियाँ समवल होती हैं, आन्ति में विपरीत कोटि में निश्चय होता है और संभावना में एक कोटि प्रवत्त होती है, किन्तु निश्चय पर्यन्त, नहीं पहुँचती, यही इनका परस्पर भेद है। उत्पेचालंकार में उपमान की ही कोटि मनत रहती है। और उपमेय भी ज्ञात रहता है। संशय इसमें किएत होता

जातिर्गुणः किया द्रव्यं यदुत्प्रेच्पं द्रयोरि ॥ ४१॥ तद्ष्रघाऽपि प्रत्येकं भावा भावाभिमानतः। गुणिकया स्वरूपत्वान्निमित्तस्य पुनरच ताः॥ ४२॥ द्वात्रिंशद्विधतां यान्ति—

तत्र वाच्योत्मेचायामुदाहरणं दिङ्मात्रं यथा---

'ऊहः कुरङ्गकदशर्चञ्चलचेलाञ्चलो भाति। सपताकः कनकमयो विजयस्तम्भः स्मरस्येव'

है, वास्तिविक नहीं। धर्मी की उत्प्रेचा जहां होती है वहां तादातम्य सम्बन्ध हुआ करता है और धर्म की उत्प्रेचा में अन्य सम्बन्ध रहा करते हैं एवं धर्मी को उत्प्रेका में साधारण धर्म (उपमान ख्रौर उपमेय का) उत्प्रेक्ष का निमित्त हुआ करता है और धर्मोत्मेत्ता में समानाधिकरण धर्म 'निमित्त होता है।

श्रीतर्कवागीराजीने — तिखा है कि 'परात्मना' यहां 'त्रात्म' पद तादात्म सम्बन्ध का बोधन करने के लिये है, अतः उपमानप्रकारक, उपमेयविशेषक, तादात्म्यसंसर्गक, उत्कटैककोटिक संशय को उत्प्रेचा कहते हैं। यह लच्चण असंगत है, क्योंकि सब उत्प्रेचाओं में तादातम्य संसर्ग नहीं हुआ करता, केवल धर्मुं त्प्रेचा में ही होता है, अन्यत्र अन्य संसर्ग हुआ करते हैं, अतः उल्लेच के सामान्य लक्तण में 'तादातम्य' का निवेश करना अनुचित है। इसके अतिरिक्त उत्प्रेचालंकार में संशय आहार्य होता है, वास्तविक नहीं। कि को या कविकल्पित वक्ता को प्रस्तुत वस्तु का यथार्थज्ञान अवश्य रहताहै। वक्ता मुख को मुख समसता हुआ ही उसका चन्द्रत्वेन सम्भावन करताहै कि 'मुखभेणीहशोमाति पूर्णचन्द्र इवापरः'। अतः इस लच्च्या में केवल 'संशय' पद है देना पर्याप्त नहीं है। स्राहार्य संशय कहना चाहिये। वाच्येति—प्रथम उत्प्रेता दो मेद होते हैं। एक बाच्योत्प्रेता, दूसरी प्रतीयमानोत्प्रेता । जहां वि श्रादिक उत्प्रेचावाचक शब्दों का प्रयोग होता है वहां वाच्योत्प्रेचा होती। श्रीर जहां नहीं होता वहां प्रतीयमाना होती है। इन दोनों में कहीं जारि जन्मेक्ट करती है ... उत्प्रेक्ष्य रहती है कहीं गुण । एवं कहीं किया उत्प्रेक्ष्य रहती है, कहीं दूर्ण श्रतः उक्र दोनों के ये चार चार भेद होते हैं। इन श्राठों में कहीं भाव उत्रेष रहता है, कहीं अभाव, श्रतः फिर दो भेद होने से सोलह भेद हुए । ह सोलहों में उत्प्रेचा का निमित्त कहीं गुण होता है—श्रीर कहां किया, श्रता सब मिल क्रर बत्तीस प्रकार की हुई।

तत्रेति—वाच्योत्प्रेत्ता के कुछ उदाहरण देते हैं । कर्राति—चश्चल वस्त्राह्म रमणीय, सारमञ्जी का कुछ उदाहरण देते हैं । कर्राति—चश्चल वस्त्राह्म से रमणीय, मृगनयनी का ऊठ ऐसा मालूम होता है मानो कामदेव की, पतार अत्र विजयस्तम्भस्य बहुवाचकत्वाज्जात्युत्पेचा । 'ज्ञाने मौनं, च्रमा शक्तौ, त्यागे रलाधाविपर्ययः। गुणानुवन्धित्वात्तस्य सपसवा इव॥'

हे युक्त, स्वर्णमय विजयस्तम्म हो। अत्रेति—यहां ऊठ में विजयस्तम्म का स्वक्ष उत्प्रेचित है। इसमें तादातम्य सम्बन्ध है और स्वक्षपीत्प्रेचा है। स्तम्मं शब्द जातिवाचक है, श्रतः यह जात्युत्प्रेत्ता है। गौरत्वादि साधारण धर्म उत्प्रेचा के निमित्त हैं।

रघुवंश में राजा दिलीप का वर्णन है—ज्ञान इति—महाराज दिलीप में ज्ञान के साथ मौन भी रहता था। सब बातों का पूर्ण ज्ञान होने पर भी वह थीड़ा बोलते थे। उनमें शक्ति होने पर भी समा रहती थी - और दान में आतम-श्लाघा का स्रभाव रहता था। गुणाजुवन्धी होने के कारण उनके गुण समस्व से थे। यत्रेति—यहां गुणों में सप्रसवत्व रूप गुण उत्प्रेक्तित है। यद्यपि प्रसव शन्द में सूधातु से भाव में अप् प्रत्यय हुआ है, इस कारण यह क्रियावाचक शब्द है, गुणवाचक नहां है। इसका अर्थ है प्रजनन अर्थात् सन्तान उत्पन्न करना, तथापि जैसे संयोग, विभाग, ज्ञान, इच्छा, त्रादि शब्द भावप्रत्ययान्त होने पर भी गुण्याचक माने जाते हैं उसी प्रकार इसे मानकर यह उदाहरण दिया है।

यद्यपि वैशेषिक में परिगणित रूप, रस आदि गुणों में कहीं 'प्रसव' का' साजात् पाठ नहीं है तथापि इसे विभाग के अन्तर्गत समक्र कर गुणोत्प्रेचा का उदाहरण बताया है। गर्माशय से गर्मस्थित बचे के विभाग को अदां 'प्रसव' कहा है।

वस्तुतः प्रन्थकार का यह उदाहरण आर उक्त अर्थ दोनों असंगत है। जिस प्रकार बन्दरियों की गोद में एक एक बचा चिपटा रहता है उसी मकार राजा दिलीप के गुण भी बचेदार थे, यह कविकुलगुरु श्रीकालिदास का तात्पर्य नहीं है। यदि उनका यह तात्पर्य होता कि एक गुण के पेट में से दूसरा गुरा निकल पड़ा तो 'ज्ञाने मौनं' के स्थान पर 'ज्ञानान्मौनम्' इत्यादि पाठ बनाते। इसके अतिरिक्त प्रसव स्त्रियों का ही होता है। पुरुष और नपुंसकी को नहीं होता। कालिद्रास जैसे कविकुलगुरु, पुरुषों श्रीर नपुंसकों को वह जनने का काम दें, यह कैसे हो सकता है ? 'गुणाः' पुल्लिक है और हान नपंसक है। 'त्याग' भी पुल्लिङ्ग है। ये वेचारे कैसे प्रसव करेंगे, यह वात विश्वनाथजी ने नहीं सोची।

यहां श्रीतर्कवागीशाजीने भी इस प्रसव कार्य में विश्वनाथजी की प्री मदद भीहै। आप लिखते हैं 'कुन्निगर्भयोर्विमागः प्रसन्नः ज्ञानादानां मोनायुत्पादने प्रसनसम्मावना ।' वस्तुतः कालिदास ने दिलीप की अन्नौकिक महापुरुषता सूचित करने के किए उनमें विरोधी गुणों का समावेश दिखाया है। ज्ञान रहते पर भी मौन CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अत्र सप्रसवत्वं गुणः । शङ्काम्भसि सुरत्राणः, तत्र निःशाननिःस्वनः । स्नातीवारिवधूवर्गगर्भपातनपातकी ॥'

अत्र स्नातीति क्रिया-

होना साधारण बात नहीं और शक्ति होने पर भी ज्ञमा करना सब का काम नहीं पवं पुष्कल दान देने पर भी आत्मश्लाबा न होना बहुत कम देखा जाता है। परन्तु महाराज दिलीप में ये सब गुण थे। ज्ञान और मीन ज्ञमा और शिक्त आदिक परस्परिवरोधी गुण भी उनमें थे और इस प्रकार मिले-जुले थे कि मानो वे माई माई हों। 'सप्रसव' का यहां 'प्रस्नेन सह वर्तमाना' यह अर्थ नहीं है अपि तु 'सह प्रस्वो येषां ते सप्रसवाः' यह अर्थ है। सह शब्द के साथ प्रसव शब्द का बहुब्रीहि समास हुआ है और 'वोपसर्जस्य' ह। ३। ६२ से 'सह' के स्थान में 'स' आदेश हुआ है। इस पद्य का व्याख्या में यही अर्थ श्रीमित्तनाथजी ने भी लिलाहै।

'गुणाजुबन्धी' में अनुबन्धी का अर्थ है अनुकूल रहनेवाला=आहाकारी या वशवर्ती। जैसे प्रचएड पराक्रमी और क्रोधी भीमसेन, सहोद्र होने के कारण, युधिष्ठिर के साथ मिल जुलकर रहते थे। भीम के क्रोध को युधिष्ठिर की शान्ति के आगे दबना पड़ताथा। इसी प्रकार दिलीप की शक्ति को उनकी जमा

के आगे सिर मुकाना पड़ता था इत्यादि तात्पर्य जानना।

इस प्रकार यह उदाहरण गुणोत्प्रेचा का नहीं हो सकता। म्रात्स्वरूप की ही यहां उत्प्रेचा है, स्रतः इसे जात्युत्प्रेचा ही कह सकते हैं, गुणोत्प्रेचा नहीं। गुण-स्वरूपोत्प्रेचा का यह उदाहरण हो सकता है।

'अन्मोजिनीबान्धवनन्दनायां कूजन् बकानां समजो विरेजे । रूपान्तराकान्तगृहः समन्तात्पुक्षीमवन् शुक्क इवाश्रयार्थी॥'

यहां वगलों के समूह में शुक्ल गुण का स्वरूप उत्प्रेक्ष्य है। पण्डितेल जगन्नाथ ने यह अपना वनाया पद्य रसगङ्गाधर में गुणोत्प्रेक्षा के उदाहरण में दिया है। इसमें 'समज' शब्द चिन्त्य है, क्यों कि 'सप्रदोरजः पग्रुपु' इस पाणित सूत्र से सम् पूर्वक अज धातु से पश्चसमुदाय के वाच्य होने पर अप प्रत्य होता है। परन्तु बगले पश्च नहीं होते, पन्नी होते हैं, अतः बगलों के समूह की समज कहना विशेष सुन्दर नहीं है।

कियोत्प्रेत्ता का उदाहरण । गङ्गेति—हे सुरत्राण (देवताओं के रहक)
शत्रुओं के वधूवर्ग के गर्म गिराने का पातक लगने के कारण तुम्हारी विजयाला के बाजे (निःशान) का शब्द गंगाजल में मानो स्नान कर रहा है।

किसी राजा ने विजय यात्रा की । उस समय जो बाजे बजे उनका शृब्द गांगी जल में भी प्रतिच्वित हुआं। उसे देखकर किव ने उत्प्रेचा की कि 'इस श्रव को सुनकर शत्रुनारियों के गर्भ गिरे हैं। उसका पातक इसके सिर प्रवि है। उसे दूर करने के लिए माना यह गंगाजल में स्नान कर रहा है। श्री स्नान किया उत्प्रेक्ष्य है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'मुखमगाीदशो भाति पूर्णचन्द्रइवाऽपरः ' अत्र 'चन्द्र' इत्येकद्रव्यवाचकत्वाद् द्रव्यंशब्दः । एते भावाभिमाने । अभावाभिमाने यथा-

> कपोलफलकावस्याः कष्टं भूत्वा तथाविधौ। अपरयन्ताविवान्योन्यमीद्वां चामतां गतौ॥

अत्रापश्यन्ताविति क्रियाया अमावः । एवमन्यत् । निमित्तस्य गुणिक्रयारूपत्वे ण्या—'गङ्गाम्भसि—' इत्यादौ स्नातीवेत्युत्मेचानिमित्तं पातिकत्वं गुणः। 'अपरयन्तौ' ह्यादौ ज्ञामतागमनरूपं निमित्तं क्रिया। एवमन्यत् । प्रतीयमानोत्प्रेज्ञा यथा—

द्रव्य-स्वरूपोत्त्रेचा का उदाहरण देते हैं — मुखमिति — मृगनयनी का मुख पेसा शोमायमान है मानो दूसरा पूर्णचन्द्र हो। अतेति—चन्द्रमा एकही है, अतः चन्द्रत्व जाति नहीं हो सकती, इस कारण यहां द्रव्योत्प्रेता है, जात्युत्प्रेता नहीं। को इति—ये पूर्वोक्क चारी श्लोक भावाभिमान के उदाहरण हैं। इन सब में भाव-हर पदार्थ उत्प्रेक्ष्य है।

अब अभावोत्प्रेचा का उदाहरण दिखाते हैं — क्योलेति — कितने कष्ट की बात है कि इस सुन्दरी के कमनीय कपोल, जो किसी दिन बड़े सुन्दर श्रीर सुडील थे, वे आज इतने चाम ( कृश ) हो गये हैं कि मानो एक दूसरे को देखते ही वहीं। कुश हो जाने के कारण मानो एक दूसरे के दर्शन से विश्वत या संकुचित हैं। षत्रेति - यहां - 'अपश्यन्ताविव' इस शब्द से दर्शन क्रिया का श्रभाव उत्प्रेक्ष्य है। श्रीर ज्ञामता-गमन उसका कारण है।

<sup>श्रीतकृवाभाशजी ने</sup> लिखा है कि यहां दर्शनाभाव के कारण उत्पन्न छ्यात्व की संभावना में तात्पर्य है। ''विरहर्जिनतक्तरात्वे परस्परदर्शनामावजन्यक्रशत्वसंमावनाया वल्यांत्"। यह अत्यन्त असंगत और अज्ञानपूर्ण कथन है। मूल प्रन्थ में तो र्णष्ट लिखा है कि यहां दर्शनाभाव उत्प्रेक्ष्य है श्रीर ज्ञामतागमन उसका निमित्त है। परन्तु आप लिखते हैं कि परस्पर दर्शनामाव निमित्त है। श्रीर क्रशत्व (जामता) की संभावना अर्थात् उत्प्रेचा है !! यदि यह ठीक हो तो इसे अभावो-विता कही नहीं सकते, क्योंकि क्षामता भावरूप है। दर्शनाभाव को तो आप रियह मानते नहीं। उसे तो उत्प्रेचा का निमित्त मानते हैं। फिर प्रन्थकार ने वि अभावोत्प्रेचा के उदाहरण में क्यों रक्खा ? ग्रीर ग्रापने इसे इसका ठीक उदाहरण क्यों माना ?

निमित्रियति - 'गंगाम्भसि' इत्यादि पद्य में 'स्नातीव' इस क्रियोत्प्रेचा का निमित्त पातिकत्व है। वह गुणस्वरूप है। 'अपश्यन्ती' इत्यादि में उत्प्रेचा कानिमित्त ज्ञामतागमन रूप किया है। पातकित्व का अर्थ है पातक-- और शतिक अन्तः करण या आतमा में रहनेवाला अहष्टनामक गुण है, जो निषिद्ध भी के आचरण से उत्पन्न होता है और दुःस को उत्पन्न करता है। गङ्गास्ता-

गिदि से उसका चय होता है।

'तन्त्रङ्गचाः स्तनयुग्मेन मुखं न पकटीकृतम्। हाराय गुणिने स्थानं न दत्तमिति लज्जया॥'

त्रत्र लज्जयेवेतीवाद्यभावात्मतीयमानोत्मेत्ता । एवमन्यत् । ननु ध्वनिनिरूपण-प्रस्तावेऽलंकाराणां सर्वेषामपि व्यङ्गचत्वं भवतीत्युक्तम् । संप्रति पुनर्विशिष्य कथ-मुत्येत्तायाः प्रतीयमानत्वम् । उच्यते—व्यङ्गचोत्पेत्तायां 'महिलासहस्स–' इत्य-

वस्तुतः शब्द जड़ पदार्थ है, वह ज्ञानपूर्वक कुछ आचरण नहीं करता, आतप्व न तो उसे पाप-पुण्य लग सकता है और न उसमें उनका फल मोगते की योग्यता है, परन्तु यहां किन ने शब्द को एक चेतन पुरुष का स्वक्ष्ण दिया है और गङ्गाजल में उसके प्रवेश को स्नान करना बतलाया है। गङ्गास्नान करने का कुछ निमित्त अवश्य होना चाहिये, अतः उसमें पातकक्षण हेतु की भी उत्प्रेक्षा की है। परन्तु प्रधान न होने के कारण हेत्रप्रेत्ता यहां नहीं कहेलाती। कियोरप्रेत्ता प्रधान है। उसी के नाम से व्यवहार होता है।

यद्यपि शब्द गुण है और गुणों में गुण अथना किया की स्थित नहीं हुआ करती 'गुणादिनिर्गुणिकयः' —यह नैयायिकों का सिद्धान्त है, अतः शब्द में पातक भी नहीं रह सकता, परन्तु यहां तो शब्द में चेतन पुरुष के स्वरूप का संभावन किया गया है। यदि शब्द को द्रव्य मान लें तो भी विना चैतन्य और रागद्वेष के उसमें पातक नहीं रह सकेगा। इस लिये तर्कनागीशजी का यह कथन कि 'पातिकतं पापजननयोग्यतं गुणिकियातिरिक्तोधर्मः —यथाश्रुतस्य शब्दे असे सर्वथा असमञ्जस है। मूल प्रनथकार तो 'पातिकत्व' को गुण वतलायं और गुण निमत्तक उत्प्रेता के उदाहरण में उसे रक्खें और आप टीका करते हुए उसी (पातिकत्व) को गुणिकिया से अतिरिक्त धर्म कह डालें!!! और इसके लिये युक्ति भी क्या? 'यथाश्रुतस्यशब्दे इसम्भवः'। क्या अतिरिक्त धर्म मानने पर आप मूलप्रनथ की संगति लगा सकेंगे? फिर अतिरिक्त होने पर भी तो आपका 'असम्भवं दूर नहीं होता? 'मिलतेगि लशुने न शान्तो व्याधिः'!!

प्रतीयमानोत्प्रेचा का उदाहरण्—तन्वक्षया इति—गुणी (सूत्रयुक्त) हार के लिये स्थान नहीं दिया, इस लजा से तन्वक्षी के स्तनद्वन्द्व ने मुख प्रकट नहीं किया। संहतस्तनी अनुद्धित्रचूचुका तरुणी को देखकर यह उत्प्रेक्षा की है, क्योंकि स्तनों में न तो वास्तविक लजा हो सकती है, न मुख होता है। अवित्य यहां लजा कप हेतु उत्प्रेक्ष्य है। इवादि पदों के न होने से यह प्रतीयमानोत्प्रेची है। इसी प्रकार करें

है। इसी प्रकार और उदाहरण भी जानना।

निविति—ध्विन के प्रकरण में सभी अलंकारों को व्यक्ष्य कहा है। किर ग्रं

उत्प्रेत्ता को विशेषक्रप से प्रतीयमान (व्यक्ष्य) क्यों कहते हो १ उता पर्वि जो व्यक्ष्योत्प्रेत्ता का उदाहरण दिया है उस (महिनेत्यादि) में विध उत्प्रेत्ता न करें तो भी वाक्यार्थ की विश्रान्ति हो जाती है, परन्तु वहां के स्तनों में लज्जा का होना असम्भव है, अतः जबतक 'लड्जया इव' इस र्षुत्रेत्गां विनापि वाक्यविश्रान्तिः । इह तु स्तन्योर्लजाया असंभवाल्लज्यवेत्युत्मे-इवैवेति व्यङ्गचप्रतीयमानोत्पेच्तयोर्भेदः । अत्र वाच्योत्पेच्तायाः षोडशसु भेदेषु मध्ये विशेषमाहः—

तत्र वाच्याभिदा पुनः। विना द्रव्यं त्रिधा सर्वाः स्वरूपफलहेतुगाः॥ ४३॥

तत्रोक्तेषु वाच्यपतीयमानोत्भेत्त्योर्भेदेषु मध्ये ये वाच्योत्मेत्तायाः षोडश मेदात्रोष्ठ्र च जात्यादीनां त्रयाणां ये द्वादश मेदास्तेषां प्रत्येकं स्वरूपफलहेतुगम्यत्वेन
द्वादशमेदतया षट्त्रिंशद्भेदाः । द्रव्यस्य स्वरूपोत्मेत्त्रणमेव संमवतीति चत्वार
दिति मिलित्वा चत्वारिंशद्भेदाः । अत्र स्वरूपोत्मेत्ता यथा पूर्वोदाहरणोषु 'स्मरस्य
विजयस्तम्भः--' इति । 'समसवा इव--' इत्यादयो जातिगुणस्वरूपगाः ।
फ्लोत्मेत्ता यथा---

'रावणस्यापि रामास्तो भित्त्वा हृदयमाशुगः। विवेश भुवमाख्यातुमुरगेम्य इव पियम्॥' अत्राख्यातुमिति भूपवेशस्य फलं क्रियारूपमुत्येचितम्। हेतूत्येचा यथा— 'सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्। अदृश्यत, त्वचरणारविन्दविश्लेषदुःखादिवे बद्धमौनम्॥'

में उत्प्रेचान करें तबतक वाक्यार्थ पूरा ही नहीं होता। यही व्यक्नथोत्प्रेच्ना और मित्रां में कुछ मीर विशेष दिखाते हैं। वनेति—पूर्वोक्त वाक्य और प्रतीयमान उत्प्रेचाओं के मेदों में से वाक्योत्प्रेच्ना के जो सोलह भेद हैं उन में द्रव्य को छोड़ कर जाति गुण और कियोत्प्रेच्ना को को सोलह भेद हैं उन में द्रव्य को छोड़ कर जाति गुण और कियोत्प्रेच्ना ओं के बारह भेदों में प्रत्येक के तीन भेद होते हैं। एक सक्योत्प्रेच्ना-दीसरी फलोत्प्रेच्ना। इस प्रकार उक्त बारह भेदों के छचीस भेद होते हैं। द्रव्य में केवल स्वरूप की ही उत्प्रेच्ना हो सकती है, जतः उसके चार ही (पूर्वोक्त) भेद होते हैं। इसिलये ये सब मिलकर चालीस भेद होते हैं। उक्त उदाहरणों में 'स्मरस्येत्यादि' जातिस्वरूपोत्प्रच्ना का उदाहरण है और 'सप्रसवाः' इत्यादि अथवा 'अम्मोजिनी' इत्यादि गुण्सव-क्षोत्प्रचा का उदाहरण है। फलोत्प्रचा का उदाहरण देते हैं। रावणस्येति—श्रीराम-क्षित्रों का फंका हुआ बाण रावण के हृदय को भेदन करके पार निकला और स्था में समाचार कहने जा रहा है। अनेति—यहां बाण के पृथ्वीप्रवेश का किया का फला (आख्यातुमिव) उत्प्रेच्नित है।

अत्र दुःखरूपो गुणो हेतुत्वेनोत्पेचितः । एवमन्यत् । उक्तयनुक्तयोर्निमित्तस्य द्विया तत्र स्वरूपगाः।

तेषु चत्वारिंशत्संख्याकेषु भेदेषु मध्ये ये स्वरूपगायाः षोडश भेदास्ते उत्येचानिमितः स्योपादानानुपादानाभ्यां द्वात्रिशद्भेदा इति मिलित्वा पट्पश्चाशद्भेदा वाच्योत्मेद्वायाः। तत्र निमित्तस्योपादानं यथा पूर्वोदाहृते 'स्नातीय-' इत्युत्पेचाया निमित्तं पातिकत्मु-पात्तम्। अनुपादाने यथा-- 'चन्द्र इवापरः' इत्यत्र तथाविधसौन्दर्याद्यतिशयो नोपातः। हेतुफलयोस्तु नियमेन निमित्तस्योपादानमेव । तथाहि-'विश्लेषदुःखादिव' इत्यत्र यित्रिमित्तं वद्धमौनत्वम् 'त्र्याख्यातुमित्र' इत्यत्र च भूमत्रेशस्तयोरतुपादानेऽसंगतमेव वाक्यं स्यात् । पतीयमानायाः षोडशसु भेदेषु विशेषमाह—

हुए मैंने तुम्हारे पैर में से पृथ्वी पर गिरा हुआ एक नूपुर देखा था। उस समय वह निःशन्द था —मानों तुम्हारे चरणारविन्द के वियोग-दुःख से मौत धारण किये हां। अत्रेति -यहां दुःखकप गुण, हेतु रूप से उत्प्रेतित है, क्योंकि जड़ नूपुर में वास्तविक दुःख नहीं हो सकता। श्रीर भेद दिखाते हैं। उत्तयतुक्त्योति उक्त इन चालीस भेदों में से स्वक्ष पोत्प्रेचा के जो सोलह भेद हैं उनमें कहीं उत्प्रेचा का निमित्त (पूर्वोक्त गुण किया रूप) शब्द से ही उक्न होता है श्रीर कहीं श्राचेप से लभ्य होता है, श्रतः इन सोलह के वत्तीस भेद होते हैं।

पहले चालीस भेद थे—उनमें सोलह और मिल गये तो सब मिलका वार्चयोत्प्रेंचा के छुप्पन भेद हुए।

तत्रोते—उनमें निमित्त के उपादान का उदाहरण 'स्नातीव' इत्यादि पूर्वीक पद्य। इंसमें स्नान का निमित्त पातिकत्व शब्द से ही उक्त है। निमित्त के श्रतुपादान का उदाहरण 'चन्द्रइवाऽपरः' । यहां श्रतौकिक सौन्दर्य का श्रतिशय, जो मुख में चन्द्रत्व सम्भावना का निमित्त था, वह श्राह से गृहीत नहीं है।

हेतुफलयोतिति—हेत्त्प्रेचा श्रौर फलोत्प्रेचा में तो निमित्त का प्रहण श्रवश करना पड़ता है। इसी को स्पष्ट करते हैं। तथाहीति — 'विश्लेषदु:खादिव' यहां तूर्ष में हेतुरूप से दुःख उत्प्रेक्ष्य है। श्रीर उस उत्प्रेता का निमित्त है 'बद्धमीनत्व'। नृपुर को चुपचाप पड़ा देख कर ही यह सम्भावना की गई है कि यह माले वियोग दश्क के सारे कर है। वियोग दुः ख के मारे चुप है। इसी प्रकार 'श्राख्यातुमिव' इस फलोटप्रेदा में भूप्री निमित्त है। लाग को कार्र हैं। निमित्त है। बाण को पृथ्वी में घुसता देख कर ही यह सम्भावना का गरि कि मानो पाताल लोक में शुभ समाचार देने जा रहा है। इन उदाहरणी से 'बदमीनम' श्रीम 'विकेश कर ही श्री हैं। इन उदाहरणी से 'बद्धमौनम्' श्रौर 'विवेशभुवम्' इन पद्ं को यदि निकाल दें तो वाक्य ही श्रत गत हो जायगा। इस कारण हेत्रप्रेचा श्रीर फलोत्प्रेचा में निमित्र का श्री

### प्रतीयमाना भेदाश्च प्रत्येकं फलहेतुगाः॥ ४४॥

यथोदाहृते 'तन्वङ्गचाः स्तनयुग्मेन-' इत्यत्र लज्जयेवेति हेतुरुत्मेचितः। अस्यामपि विभित्तस्यानुपादानं न संभवति । इवाचनुपादाने निमित्तस्य चाऽकीर्तने उत्येच्यास्य मातुर्निरचेतुमशक्यत्वात्। स्वरूपोत्मेक्ताप्यत्र न भवति। धर्म्यन्तरतादात्म्यनिबन्धना गमस्यामित्राद्यप्रयोगे विशेषसायोगे सत्यतिशयोक्तरम्युपगमात्। यथा—'श्रयं राजा शः पाकशासनः इति । तदेवं द्वात्रिशत्पकारा पतीयमानोत्पेचा ।

उक्तयनुक्तयोः प्रस्तुनस्य प्रत्येकं ता अपि द्विघा।

करता ही पड़ता है। मृलग्रन्थ में 'यिन्निमित्तं' इसके त्रागे 'संमावनायाः' इस वह का अध्याहार करके अन्वय करना चाहिये। 'संभावनायाः यिक्तिमित्तं' ऐसा अन्वय है।

ग्रव प्रतीयमानोत्प्रेचा के सोलह भेदों में भी कुछ विशेष दिखाते हैं। भीयगानेति — प्रतीयमानोत्प्रेचा में कहीं फल उत्प्रेचित होता है और कहीं हेतु। वैसे पूर्वोक्त 'तन्त्रक्षचाः' इस पद्य में लजारूप हेतु उत्प्रेचित है। यहां भी विमित्त का श्रनुपादान नहीं हो सकता—क्योंकि जब न तो इवादि पद रहेंगे प्रतीयमाना होने के कार्ण) स्त्रीर न उत्प्रेक्षा का निमित्त ही रहेगा तब माता (श्रोता) को उत्प्रेचा का निश्चय करना ही श्रशक्य हो जायगा। उक्त विनक्षाः' इत्यादि वाक्य में से यदि 'मुखं न प्रकटीकृतम्' इस ग्रंश को निकाल दें तो वक्य असंगत हो जायगा श्रीर शेष वाक्य को सुनकर कोई यह नड़ीं समुक्त किंगा कि यहां उत्प्रेता की जा रही है। स्वरूपेति—इसमें स्वरूप का उत्प्रेत्तण गी नहीं हुआ करता। धर्म्यन्तरेति --क्योंकि दूसरे धर्मी के साथ तादातम्य-समावन में ही स्वरूपोत्प्रेचा होती है। सो इसमें यदि इवादि शब्दों का श्योग न रहे और संभाव्यमान वस्तु का वाचक पद, प्रकृत पदार्थ का विशेषण विदिया जाय तो उत्प्रेचा की प्रतीति नहीं हो सकती, किन्तु श्रतिशयोक्ति की मतीति होगी। जैसे -- अयमित्यादि-यहां राजा के साथ 'पाकशासन' (इन्द्र) विशेषण दिया है श्रीर इवादि नहीं है। यहां श्रतिशयोक्ति का ही श्रनुमव वित है, उत्मेचा का नहीं। राजा में पाकशासनत्व का अध्यवसान प्रतीत विष्य उन्हां का नहा। राजा म पाकराज्यात के है, तथापि अतिशास्त्री। यद्यपि 'अयं राजा' इस रूप से विषय उक्र है, तथापि अतिश विषय के अधःकरण होने से ही अध्यवसान होजाता है। विषय रेणात हो या अनुपात्त । यह बात अतिशयोक्ति के प्रकरण में स्पष्ट करेंगे। ति पकार पूर्वोक्त सोलह भेदों के फलगामी श्रीर हेतुगामी होने से प्रतीय-भागेती के बत्तीस ही भेद होते हैं। उक्त बत्त वोतिन-पूर्वोक्त खुप्पन वाच्यो-की और बत्तीस ही भेद होते हैं। उक्तबनुक्तवासाव क्रिया है। इन सबमें भी भरतीयमानोत्प्रेला मिलकर श्रठासा मद बेर्स श्रतः फिर पदार्थ (विषय) शब्दोक्त होता है कहीं गम्यमान, श्रतः फिर CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ता उत्प्रेत्ताः। उक्तौ यथा—'ऊरुः कुरङ्गकदृशः—' इति । अनुक्तौ यथा ममप्रमादः त्याम् — प्रसुद्धः — इह हि संप्रति दिगन्तरमाच्छादयता तिमिरपटलेन — घटितिमवाञ्चनपुञ्जैः पूरितिमव मृगमद् तोदैः । ततिमव तमालतरुभिर्वृतिमिव नीलांशुकैर्भुवनम् ॥' अत्राञ्जनेन घटितत्वादेरुत्पेत्त्रणीयस्य विषयो व्याप्तत्वं नोपात्तम् ॥ यथा वा—

'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभ:।'

अत्रतमसो लेपनस्य व्यापनरूपो विषयो नोपात्तः । अञ्जनवर्षणस्य तमः संपातः। अन्योरुत्मेचानिमित्तं च तमसोऽतिबहुलत्वं धारारूपेणाधः संयोगश्च यथासंस्यम्। केचित्तु—'अलेपनकर्तृभूतमपि तमो लेपनकर्तृत्वेनोत्मेचितं व्यापनं च निमित्तम्, एवं नमोऽपि वर्षणिकयाकर्तृत्वेन' इत्याहुः ।

प्रत्येक के दो भेद होने से सब मिलकर उत्प्रेचाओं के एक सौ ब्रिहत्तर (१७६) भेद होते हैं। यह साहित्यदर्पणकार का मत है। अन्य आचार्यों के मत् में इससे अधिक भी होते हैं।

प्रस्तुत के शब्दोपात्त होने का उदाहरण—'ऊरुः' इत्यादि उक्क पद्य। यहां विषय ऊरु शब्द से उक्क है। अनुक्कविषया का उदाहरण—घटितामिति—दिगत को अच्छादित करनेवाले इस अन्धकार ने संसार को मानों अञ्चन के पुष से संघटित कर दिया है, कस्तूरी के चूर्ण से भर सा दिया है, आवनूस के वृष्णे से मानों ज्याप्त कर दिया है और नीले कपड़ों से ढक सा दिया है। अनेति—यहां अन्धकार की व्याप्ति विषय है। उसमें अञ्चनघटित्व आदि उत्प्रेक्ष है। परन्तु व्याप्तत्वरूप विषय यहां शब्दोक्ष नहीं है।

उक्क उदाहरण में 'दिगन्तरमाच्छादयता तिमिरपटलेन यहां 'श्राच्छादन' से व्याप्ति का मान होता है, इस श्रव्यचि के कारण दूसरा उदाहरण देते हैं'—ि लिम्पतांवेति— श्रम्थकार श्रङ्कों को लिपे देता है श्रीर श्रासमान काजल सा बरसा रहा है। श्रमेति—यहां भी श्रम्थकार के व्यापनरूप विषय में लेपन श्रीर वर्षण की उत्रेही है, किन्तु वह (विषय) शब्द से उपात्त नहीं है। यहाँ पहली उत्येद्धा (लेपन) का निमित्त है श्रम्थकार की श्रत्यन्त सान्द्रता श्रीर दूसरी (वर्षण) का निमित्त हैं। श्रम्थकार का धारारूप से नीचे गिरना। ये दोनों यहां शब्द से श्रमुपात हैं।

वैयांकरण लोग व्यापारप्रधान शाब्द बोध मानते हैं और आलङ्कारिकों का भी प्रायः यही मत है। उनके मत से उक्त वर्णन करके अब प्रथमान्त प्रधान शाब्दवीध माननेवाले नैयायिकों के मत से इस पद्य मंउत्प्रेचा का वर्णन करते हैं—केवितृहीं यद्यपिन तो अन्धकार लेपन करता है और न आकाश काजल की वर्षा करती हैं लेपन और वर्षणक्रप कियाओं के ये दोनों कर्ता नहीं हैं, तथापि इन अकर्त की कर्ता कहें कर्ता कहें कर्ता कहें कर इनमें उक्त कियाओं का कर्तृत्व उत्प्रेचित है। इनमें कर्ता का

# ब्रतंकारान्तरोत्था सा वैचित्र्यमधिकं भजेत् ॥ ४५॥

तत्र सापह्वोत्पेचा यथा मम-

 श्चिश्रुच्छलेन सुदशो हुतपात्रकथूमकलुषाद्याः । अप्राप्य मानमङ्गे विगलति लावएयवारिपूर इव॥'

रलेषहेतुगा यथा-

भुक्तोत्करः संकटशुक्तिमध्याद्विनिर्गतः सारसलोचनायाः। जानीमहेऽस्याः कमनीयकम्बुप्रीवाधिवासाद् गुुणवत्त्वमाप ॥'

अत्र गुगावत्वे रलेषः कम्बुप्रीवाधिवासादिवेति हेतूत्पेचाया हेतुः। अत्र 'जानीमहे' इत्युत्पेचावाचकम् । एवम् —

मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमाद्यः।

कचिदुपमोपक्रमोत्पेचा यथा-

सक्ष उत्प्रेक्ष्य है। अन्धकार का व्यापन उसका निमित्त है। तम और नम के गुन्दोपात्त होने के कारण इस मत में यह उक्कविषया अनुक्रनिमित्ता उत्पेदा है। ग्रन्थान्तरों में विशेष विचार सहित इस मत का खएडन है। ग्रन्थविस्तार के भय से हम उसे यहां नहीं लिखते।

अलङ्कोति--यह उत्प्रेत्ता यदि किसी दूसरे अलङ्कार से उत्थापित हो अर्थात् उसके मुल में यदि कोई दूसरा त्रांलङ्कार हो तो वह त्रधिक चमत्कारक होती है-तनेति--अपहतिम्लक उत्प्रेचा का अपना बनाया उदाहरण देते हैं-वमुच्बलेनेति—वैवाहिक हवन के धूम से आकुलनयनी इस कामिनी के नेत्रों से बांसुत्रों के बहाने, देह में न समाये हुए लावएयरूप जल का प्रवाह निकल रहा ै। यहां छल शब्द से अशु के स्वरूप का अपह्नव करके उसमें लावएयवारि-ए की संभावना की गई हैं। यद्यपि यहां अपहति अलङ्कार का पूरा स्वरूप वहीं है, तथापि अपह्नव होने से ही इसे सायहवोत्प्रेता कहते हैं।

श्लेषम्ला उत्प्रेचा का उदाहरण-मुक्तेति-संकटमय ग्रुक्ति (सीपया संसार) वे निकला हुआ मुक्तोत्कर (मोतियों या मुक्त पुरुषों का समृद्द ) इस सार-क्षांचना (कमलनयनी) की शंखतुल्य ग्रीवा के श्रधिवास (निवास या वासना) से मानों गुणवान् (सूत्रयुक्त या सत्त्वादिगुणमय अन्तःकरण से युक्त) विषया है। पद्गेरहं तामरसं सारसं सरसी रहम् इत्यमरः। अत्रेति—यहां 'गुणवत्त्व' का किए, 'क्ष्युप्रीविधवासादिव' इस उत्प्रेचा का हेतु है। 'ज्ञानीमहे' यह पद उत्प्रेचा-गचक है।

सी प्रकार—गन्ये इति—मन्ये, शङ्के, ध्रुवम्, प्रायः, नूनम्, जाने, स्रवैमि, ऊहे, कियामि, इव इत्यादि पद उत्प्रदा के वाचक होते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'पारेजलं नीरनिधेरपश्यन्मुरारिरानीलपलाशराशी: । वनावलीरुत्कलिकासहस्पतिच् गोत्कूलितशैवलामाः॥

इत्यत्राभाशब्दस्योपमात्राचकत्वादुपक्रमे उपमा । पर्यवसाने तु जलिधतीरे शैवा-लस्थितेः संभवातुपपत्तेः संभावनोत्थानमित्युत्पेका । एवं विरह्वर्णने — क्षेयूरायितः मङ्गदै:-' इत्यत्र 'विकासिनीलोत्पलित स्म कर्णे मृगायताच्याः कुटिलः कटालः' इत्यादौ च क्रेयम्। भ्रान्तिमदलंकारे 'मुग्धा दुग्धिधया-' इत्यादौ भ्रान्तानां वल्लवादीनां विषयस्य चिन्द्रकादेर्ज्ञानमेव नास्ति। तदुपनिवन्धनस्य कविनैव कृतलात्। इह तु संभावनाकर्तुर्विषयस्यापि ज्ञानमिति द्रयोर्भेदः। संदेहे तु समकलतया कोहि-द्वयस्य प्रतीतिः । इह तूत्कटा संभाव्यभूतैका कोटिः । अतिशयोक्तौ विषयिगः प्रतीतस्य पर्यवसानेऽसत्यता प्रतीयते । इह तु प्रतीतिकाल एवेति भेदः। 'रिश्चता नु विविधास्तरुशैला नामितं नु गगनं स्थगितं नु। पूरिता नु विषमेषु धरित्रो संह्रता नु ककुभस्तिमिरेण॥'

कचिदिति—कहीं उपमोपकमोत्प्रेचा होती है-जैसे-पारेजलिमति-द्वारका से निकल कर श्रीकृष्ण को समुद्र के पार हरे हरे पत्तों से युक्त वनपंक्ति ऐसी दीबी मानों लहरों से फेंकी हुई सिवाल किनारे पर पहुँची हो। यहाँ 'स्रामा' शब्द उपमावाचक है, श्रतः प्रारम्म में उपमा प्रतीत होती है, परन्तु समुद्र के किनारे सिवाल का होना सम्भव नहीं, श्रतः श्रन्त्य में शैवल की सम्भावना प्रतीत होती है, इस कारण उत्प्रेचा में पर्यवसान होता है। एवमिति—इसीप्रकार 'के पूरायितम्' इत्यादि पूर्वोक्त विरह वर्णन के पद्य में क्यङ् प्रत्यय के उपमा वाचक होने के कारण पहले तो उपमा प्रतीत होती है, परन्ते कङ्कण का सुज्ये श्रीर कटाच का कर्ण में रहना सम्भव नहीं, श्रतः पर्यवसान में उत्प्रेचा प्रतीत होती है। इस क्रारण यह भी 'उपमोपकमोत्भेचा' का उदाहरण जानना।

श्रीर श्रलङ्कारों से उत्प्रेचा का भेद दिखाते हैं — श्रान्तीति—'मुग्धाः' इत्यादिक भ्रान्तिमान् श्रलङ्कार के उदाहरण में भ्रान्त गोपों को विषयभूत चित्रका का श्वान ही नहीं है। वे उसे दूध ही समभते हैं। चिन्द्रिका का कथन कि नहीं किया है, परन्तु उत्पेदा में जो सम्भावना करता है उसे विषय के ब्रस्ती स्वद्भपकाभी ज्ञान रहता है, यही इन दोनों का परस्पर भेद है। सन्देहाल्ड्रा में दोनों कोटियाँ (ज्ञान की) समकत्त प्रतीत होती हैं, परन्तु यहाँ सम्भाष कोटि उत्कृष्ट रहती है। श्रितशयोक्ति में विषयी (उपमेय) पहते झात हो लेता है। अन्त में फिर उसकी असत्यता प्रतीत होती है, किन्तु यहाँ झानकार में ही असत्यता ज्ञात रहती है।

रिक्षता इति — श्रन्धकार ने, विविध तरु, पर्वतों को रंग दिया है ! प्रार्थी काश को नीने अस्म कि के किया कि एक मिल्लिस के स्वार्थ आकाश को नीचे अका दिया है ? या स्थिति कर दिया है ? पृथ्वी के नीचे उसे CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इत्यत्र यत्तर्वादौ तिमिराक्रान्तता रजनादिरूपेण संदिद्यत इति संदेहालंकार इति क्षेचिदाहुः, तन-एकविषये समानबलतयानेककोटिस्फुरणस्यैव संदेहत्वात्। इह तु त्वीदिन्याप्तेः प्रतिसंबन्धिमेदो न्यापनादेनिगरणेन रञ्जनादेः संपुरणं च। अन्ये तु— ख्रतेकत्वनिर्घारणरूपविच्छित्याश्रयत्वेनैककोट्यधिकोऽपि भिन्नोऽयं संदेहमकारः' हित बदन्ति स्म, तदप्ययुक्तम् । निगीर्णस्वरूपस्यान्यतादात्म्यमतीतिर्हि संमावना । तस्यारचात्र स्फुटतया सद्भावान्नुशब्देन चेवशब्दवत्तस्या बोतनादुत्मेत्तैवेयं मवितं युक्ता । अलमदृष्टसंदेहपकारकल्पनया ।

'यदेतचन्द्रान्तर्जलदलवलीलां वितनुते तदाच छे लोकः शशक इति नो मां प्रति तथा। अहं त्विन्दुं मन्ये त्वदरिविरहाक्रान्ततरुणी-कटाचोल्कापातत्रणिकणकाङ्काङ्किततनुम्

भागों को मर दिया है ? या दिशाश्रों को इकट्ठा कर दिया है ? इत्यत्रेति—'यहाँ वृत्तादिकों का अन्धकारपूर्णता में रँगने आदि का सन्देह किया गया है, अतः यह सन्देहालंकार है'—यह कोई लीग कहते हैं —सो ठीक नहीं, क्योंकि यदि किसी एक वस्तु में अनेक प्रकार के समकोटिक ज्ञान हों तमी सन्देह माना बाता है। यहाँ तो तह, शैल, आकाशादिकप प्रत्येक सम्बन्धी के साथ तम को व्याप्तिका रञ्जन, नामन, स्थगन आदि के रूप में भेद है और तमोव्याप्तिका निगरण करके रञ्जन आदि की उसमें सम्मावना की गई है।

कोई यह कहते हैं कि यद्यपि यहाँ ज्ञान की एक कोटि अधिक है, -दोनों समान् बल नहीं —तथापि रञ्जन, नामन, स्थगन ऋदि अनेक वस्तुओं का ज्ञान हुआ है, अतः यह भी एक सन्देह का ही प्रकार है। यह मत भी ठीक नहीं--किसी पदार्थ का स्वरूप निगीर्ण करके उसकी अन्य पदार्थ के साथ तादात्म्य (एकता) की प्रतीति को ही सम्मावना कहते हैं — सो यहाँ स्पष्ट ही है— अन्वकार्की व्याप्ति के स्वरूप का निगरण करके उसमें रञ्जन आदि सम्मावित क्षहैं। श्रीर जैसे 'इव' शब्द से उत्प्रेता चोतित होती है वैसे ही यहाँ 'तु' शब्द से षोतित हुई है, अतः यह उत्प्रेचा ही है। यहाँ के लिए एक अपूर्व (एककोट्यधिक) सन्दे का स्वद्धप कल्पन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वस्तु के असली सिंहिए को द्बा देने का नाम निगर्ण या अधः करण है। इसके लिये यह आवश्यक विकि उसकानाम न लिया जाय। जहाँ संभाव्यमान हपही प्रधानता से भासित कि विषय का निर्देश होते पर भी उत्प्रेता भनी जाती है --जैसे 'ऊरुः' इत्यादि । इसी प्रकार अतिशयोक्ति में भी जानना।
भिन्नी के श्वेतिविति चन्द्रमा में यह जो काला काला वाद्ल का सा दुकड़ा दीसता िति को प्राप्त किया है जो काला काला वावल का सामिता। हेराजन, के किया है उनकी विवास सम्भता हुँ कि तुमने जिन वैरी राजाश्रों को मार दिया है उनकी

इत्यत्र मन्येशब्दपयोगेऽप्युक्तरूपायाः संभावनाया त्र्यपतीतेर्वितर्कमात्रं नासाः पह्नवोत्मेचा ।

सिद्धत्वे ऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगयते ॥ ४६ ॥

विषयनिगरऐनाभेदपतिपत्तिर्विषयिगोऽध्यवसायः । अस्य चोत्पेन्तायां विषयि गोऽनिश्चितत्वेन निर्देशात्साध्यत्वम् । इह तु निश्चितत्वेनैव प्रतीतिरिति सिद् त्वम् । त्रिषयनिगरणं चोत्मेद्यायां त्रिषयस्याधः करणमात्रेण । इहापि मुखं द्वितीय-रचन्द्र इत्यादौ । यदाहु:---

'विषयस्यानुपादानेऽप्युपादानेऽपि सूरयः। अधःकरगामात्रेण निगीर्णात्वं प्रचत्तते ॥' इति । भेदेऽप्यभेदः संबन्धेऽसंबन्धस्तद्विपर्ययौ। पौर्वापर्यात्वयः कार्यहेत्वोः सा पश्रधा ततः॥ ४०॥

· तद्विपर्ययौ अभेदे भेदः, असंबन्धे संबन्धः । साऽतिशयोक्तिः । अत्र भेदेऽभेदो

यथा मम-

विरिह्णी स्त्रियों के क्रोध भरे तीव कटाचों से उत्पन्न अग्नि से मुनत जाने के कारण यह चन्द्रमा उन 'व्याकिणों' ( ज़खमों के दाग्रों) से चिहित है। इत्यत्रेति—यहां 'मन्ये' शब्द का प्रयोग होने पर भी उक्त सम्भावना ( निर्गाण र स्वक्षप की अन्य तादातम्य प्रतीति ) न होने के कारण यह वितर्कमात्र है उत्प्रेचालंकार नहीं।

्सिद्धते इति — अध्यवसाय के सिद्ध होने पर अति शयोक्ति अलंकार होता है। विषय (उपमेय) का निगरण करके विषयी (उपमान) के साथ उसके अभेद्शान को अध्यवसाय कहते हैं। उत्येचा में उपमेय का अतिश्वित हा है कथन रहता है, अतः वहां अध्यवसाय साध्य रहता है। श्रीर यहां उसकी निश्चितकप से प्रतीति होती है, अतः यहां अध्यवसाय सिद्ध होता है।

उत्प्रेता में श्रौर 'मुख द्वितीयश्च दः इत्यादि अतिशयोक्ति में विषय है अधःकरणमात्र से अर्थात् उसके असली स्वरूप को द्वा देने ही से निगरी माना जाता है। अतिशयोक्ति के अन्य उदाहरणों में विषय के अतुपादात है भी निगरण होता है। इसमें प्रमाण देते हैं—विषयस्पेति —प्रस्तुत विषय का गर् से कथन हो या न हो—केवल उसके स्वरूप के छिप जाने अर्थात् वमत्कार के प्रति अपयोजक होने ही से निगीर्णत्व माना जाता है।

अतिश्योक्ति के भेद दिखाते हैं— मेदे इति—१ वास्तविक भेद होते वर्ष कीर्तन करने, इसी प्रकार इन दोनों का विपर्यय प्रधीत ३ स्त्रीहर श्रीर ४ श्रसम्बन्ध में सम्बन्ध का कथन करने एवम् ४ कार्य श्रीर कार्य है। पौर्वापर्य नियम का करने एवम् ४ कार्य होतीहै। पौर्वापर्य नियम का व्यत्यय करने से पांच प्रकार की स्रतिश्योक्ति होती है।

'कथमुपरि कलापिनः कलापो विलसति तस्य तलेऽष्टमीन्दुखएडम् । कुवलययुगलं ततो विलोलं

तिलकुसुमं तद्धः प्रवालमस्मात्॥'

अत्र कान्ताकेशपाशादेर्मयूरकलापादिभिरभेदेनाध्यवसायः । यथा वा — 'विश्लेष-दुःखादिव बद्धमौनम्' । अत्र चेतनगतमौनित्वमन्यदचेतनगतं चान्यदिति द्वयोर्भेदेऽ-वर्भेदः । एवम् —

'सहाधरदलेनास्या यौवने रागभाक्मियः।' अत्राधरस्य रागो लौहित्यम्, पियस्य रागः प्रेम, द्वयोरभेदः। अभेदे भेदो यथा—

मेद में श्रमेद का उदाहरण — कथिमिति — किसी कामिनी को देखकर किसी की उक्ति है। देखों कैसा श्रांश्चर्य है। सबसे ऊपर मयूर का कलाप (पूंछ), है उसके नीचे श्रष्टमी का चन्द्रमा विराजमान है। उसके नीचे दो चपल नीले कमल हैं। उनके नीचे तिल का फूल श्रीर उसके नीचे सुन्दर विद्रुम (मूंगे) का खएड सुशोभित है।

ं अत्रेति - यहां कामिनी के केशपाश का मयूरपिच्छ के रूप में, उसके तलाट का अष्टमी के चन्द्रमा के स्वरूप में, नेत्रों का नील कमलों के स्वरूप में, नासिका का तिलपुष्प के स्वरूप में और अधरोष्ठ का विद्वम के स्वरूप में अध्यवसान इत्रा है। त्रथवा — पूर्वोक्त 'विश्लेष' इत्यादि पद्य में 'बद्धमौनम्' इस पद्र में अतिशयोक्ति है। मौन का अर्थ जड़ वस्तुओं में तो निःशब्दत्व (शब्दू न करना) होता है और चेतन के मौन का अर्थ होता है वार्चयमत्व अर्थात् वाणी को रोकना। जड़ पदार्थ के वाणी होती ही नहां, अतः उसमें मौन का ग्र अर्थ नहीं हो सकता। दुः स्न से जो 'मौन' होता है वह चेतनगत ही होता है परन्तु यहां अचेतनगत मौन का पहले चेतनगत मौन के साथ अभेदाध्य-वसान किया है तभी दुःख की हेतुक्प से सम्मावना की है। अन्यथा अचेतन-गत मीन का हेतु दुःख होही नहीं सकता। नूपुर, भांम, ढोलक त्रादि जड़ प्रायों के चुप रहने का कारण दुःख नहीं हुआ करता। मनुष्यादिक प्राणियों के दुप रहने का ही वह निमित्त होता है, अतः दो भिन्न मौनों में अमेदा-धानसान करने से यहां भी त्रतिशयोक्ति है। तन्मूलक ही उत्प्रेचा होती है। श्रम्य उदाहरण सहिति—सस्त्री की उक्ति है। इस सुन्दरी के यौवनकाल में तिका अधरोष्ठ और प्रियतम दोनों साथ ही साथ शागयुक्त हुए हैं। यहां अधर का राग' तो रंग है और प्रियतम का 'राग' अनुराग (प्रेमं ) है। दोनों का विवक्त पद (राग) एक ही है, अतः दोनों अर्थों के भेद में भी अभेदाध्यवसान किया है।

'अन्यदेवाङ्गलावएयमन्याः सौरभसंपदः । तस्याः पद्मपलाशाद्याः सरसत्वमलौकिकम् ॥'

संबन्धेऽसंबन्धो यंथा—

'अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूचन्द्रो नु कान्तिपदः,

शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो, मासो नु पुष्पाकरः।

वेदाभ्यासजडः ऋयं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो

निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥' अत्र पुराणपजापतिनिर्माणसंबन्धेऽप्यसंवन्धः ।

असंबन्धे संबन्धो यथा-

'यदि स्यान्मण्डले सक्तमिन्दोरिन्दीवरद्वयम्। तदोपमीयते तस्या वदनं चारुलोचनम्॥'

. अत्र यद्यर्थवलादाहृतेन संबन्धेन संभावनया संवन्धः । कार्यकारणयोः पौर्वार्षः विपर्ययश्च द्विधा भवति । कारणात्प्रथमं कार्यस्य भावे, द्वयोः समकालले च। क्रमेण यथा-

अभेद में भेद का उदाहरण-अन्यदिति उस कमलनयनी के अङ्गों का लावए कुछ त्रीर ही है। उसका मुखसीरभ कुछ दूसरा ही है त्रीर उसकी सरसता कुछ विल्त्य (अलोकिक) ही है। यहां लौकिक वस्तुओं का ही अलौकिक अर्थात्मिष ्रिप से अध्यवसान किया है। अभिन्न वस्तुओं को भी भिन्नता का स्वरूप दियाहै।

सम्बन्ध में असम्बन्ध का उदाहरण - श्रह्या इति - उर्वशी को देखकर राज पुरूदवा की उक्ति है। इसके बनाने के समय ब्रह्मा का कार्य क्या कान्तिदायक चन्द्रमा ने किया था ? या श्टङ्गाररस के अतन्य देवता (कामदेव) ने स्वयम् इसे रवा है ! श्रयवा कुषुमाकर वसन्त मास (चैत्र) इसका विघाता है! दिन रात वेद पाठ करने से जड़ी भूत पुराने मुनि ब्रह्माजी ऐसा मनोहर हर कैसे बना सकते हैं ? उनका तो कौतूहल (उत्कएठा या प्रेम ) विषयों से पकदम हर गया है। वह इस श्रद्धुत श्रंगारमूर्ति की रचना कैसे कर सकते हैं। उनी कुशप्रहण से खुरखुरे हाथों से इन हावभावपूर्ण स्निग्ध मधुर विलासों की और इन चमत्कारपूर्ण कटाज्ञ छात्रां की रचना कैसे हो सकती है ? यहां रचना है ब्रह्माजी का सम्बन्ध होने पर भी उनका असम्बन्ध बताया गया है।

असम्बन्ध में सम्बन्ध का उदाहरण —यदीति —यदि चन्द्रमण्डल में दी तीत कमल लग जायें तो रमणीय नेत्रों से युक्त उसके मुख की उपमा दी जासके। यह 'यदि' पद के अर्थवल से चन्द्रमा में कमलों के किएत सम्बन्ध की समाविती की है, अनः चन्द्रमा में कमलों के किएत सम्बन्ध की समाविती की है, अतः चन्द्रमा में कर्मलों के असम्बन्ध में भी सम्बन्ध बताया ग्याहै।

कार्येति - कार्य कारण के पौर्वापर्य-नियम का विपर्यय दो प्रकार से ही सकता है—एक तो कारण के पहले ही कार्य को कह देने से श्रीर दूसरा दोता का साथ कहने से श्रीर दूसरा दोता का साथ कहने से । नियम यह है कि पहले कार्या होता है उसके पीछे कार्या CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'प्रागेत्र हरियाचीयां चित्तमुत्किलकाकुलम्। परचादुद्भिन्नवकुलरसालमुकुलिश्रयः॥' 'सममेत्र समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना। तेन सिंहासनं पित्रयं मण्डलं च महीचिताम्॥'

इह केचिदाहु:—'केशपाशादिगतो लौकिकोऽतिशयोऽलौकिकत्वेनाध्यवसोयते। केशपाशादीनां कलापादिभिरध्यवसाये 'श्रन्यदेवाङ्गलावएयं—'इत्यादिमकारेष्वव्याप्तिर्ल-

तो कारण से पहले कार्य हो सकता है और न उसके साथ ही उत्पन्न हो सकता है। इस लिये कारण से पूर्व कार्य का कथन या दोनों का साथ कथन विपर्य समक्ता जाता है। कम से उदाहरण — प्रागेनित — मृगनयनियों का चित्त वहले ही उमंगों से भर गया। खिले हुए बकुल (मौलिसरी) और आमों की मृत्तियों की शोमा पीछे पैदा हुई। यहां वसन्तशोमा कारण है उसे पीछे कहा है और चित्त का आनिद्त होना कार्य है, क्यों कि वसन्तशोमा को देख कर चित्त आनिद्त होता है — सो उसे कारण से पहले कहा है, अतः यह पीर्वापर्यंव्यत्यय कप अतिश्यों कि का उदाहरण है।

दूसरे प्रकार का उदाहरण — सममेवेति—गजगामी महाराज रघु, पिता के विहासन और अखिल राजमएडल पर, पक साथ ही, आकृ हुए। पैतृक विहासन पाने के पीछे राजाओं का वशीकरण होता है। सिहासनारोहण कारण है और शत्रुवशीकरण आदि उसके कार्य हैं। इन दोनों को एक साथ ही कहा है। आकृमण का अर्थ आरोहण और विजय या वशीकरण दोनों ही हैं। एक ही 'आकृमण का अर्थ आरोहण और विजय या वशीकरण दोनों ही हैं। एक ही 'आकृम्ल पद से दोनों का बोधन किया है। उक्क दोनों उदाहरणों में कार्य की अत्यन्त शीव उत्पत्ति वयक्षन करना विपर्यय का प्रयोजन है।

श्रुलंकार सर्वस्वकार राजानक रुय्यक के मत का खर्डन करने के लिये उपक्रम करते हैं—इडकेचिदिति—यहां कोई कहते हैं कि 'क्यप्रपरि॰' इत्यादि पद्य में केशपाशादिकों का लौकिक अतिशय (सौन्दर्य रूप धर्म) अलौकिक सौन्दर्य रूप धर्म के साथ अभिन्न रूप से अध्यवसित हुआ है। यदि केशपाशादि रूप धर्मों का मयूर कलाप आदि धर्मों के साथ अध्यवसाय मानोगे तो 'अन्यदेवाक के

विवर्ग यह है कि 'कयमुपिर॰' और 'अन्यदेशक्र॰' ये दोनों पद्य अतिशयोक्ति के उदाहरण हैं। और अतिशयोक्ति तब होती है जब अध्यवसाय सिद्ध हो। अदिलेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिः' यह उसका सामान्य लत्तण है। 'अन्यदेशक्रं' सिवलेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिः' यह उसका सामान्य लत्तण है। 'अन्यदेशक्रं' सिपद्य में किवकिएपत लोकोत्तर सौन्दर्य के साथ अर्थात् धर्मविशेष के साथ अध्यवसाय हुआ है। धर्मों के साथ यहां अध्यवसाय नहीं हो सकता। यदि क्ष्मिप्रिपरिं में केशपाश का कलाप के साथ अध्यवसाय मानोगे अर्थात् किसी मौं का दूसरे धर्मों के साथ अध्यवसाय होने पर ही अतिशयोक्ति माना करोगे ते अध्यदेव' इत्यादिक उदाहरणों में तुम्हारा अतिशयोक्ति का लद्मण नहीं बाणा, क्योंकि वहां एक धर्म का दूसरे धर्म के साथ अध्यवसाय हुआ है। CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

च्चणस्य' इति तन्न । तत्रापि ह्यान्यदङ्गलात्रएयमन्यत्वेनाध्यवसीयते । तथाहि 'अन्यदेव' इति स्थाने 'अन्यदित्र' इति पाठेऽध्यत्रसायस्य साध्यत्त्रमेत्रेत्युत्मेत्ताङ्गीक्रियते। भागेन हरिणाचीणां-' इत्यत्रं व कुलादिश्रीणां प्रथमभावितापि पश्चाद्वावित्वेनाध्यविता। त्रांत एवात्रापीवशब्दपयोगे उत्पेता । एवमन्यत्र ।

धर्मी का किसी धर्मी के साथ अभेदाध्यवसाय नहीं हुआ है, अतः वहां लज्य की अध्याप्ति होगी। इसलिये दो धर्मों के अमेदाध्यवसाय में ही अतिश्योक्ति माननी चाहिये और 'कथमुपिट' इत्यादिकों में भी लौकिक सौन्दर्यक्षप भी ( 'त्रितिशय' ) का त्रातीकिक सौन्दर्य रूप धर्म के साथ अध्यवसाय करके उसके फज़स्बक्त में केशपाशादि को कलाप आदि मानना चाहिये। जब धमा का अमेद होगया तो धर्मी का अमेद फलित होही जायगा। इस प्रकार पकसा धर्माच्यवसाय मानने से सब उदाहरणों में लव्चण समञ्जस होजाता है। कहीं धर्म का श्रीर कहीं धर्मी का श्रमेदाध्यवसाय मानने में गौरव होगा श्रीर यदि सर्वत्र धर्मी का अमेदाध्यवसाय माने तो 'अन्यदेवाङ्ग०' के सहश उदाहरणों में अध्याप्ति होगी। यह श्रीराजानकरूयकाचार्य का तात्पर्य है।

उक्त मत का खएडन करते हैं - तनेति - 'श्रन्यदेवाङ्ग' इत्यादिक उदाहरखें में भी तो अन्य अङ्गलावएय अन्य के रूप में अध्यवसित होता है। तार्य्य यह है कि अतिश्योक्ति का लव्य तो इतना ही है कि 'भिन्न वस्तुओं का सिद्ध अमेदाध्यवसाय'। भिन्न वस्तुएँ चाहें धर्मकृप हों चाहें धर्मिकृप। इनकी कोर्र विशेषता लत्त्या में निविष्ट नहीं है। 'कथमुपरि०' धर्मी के अमेदाध्यवसाय का . उदाहरण है और 'अन्यदेव' धर्मके अभेदाध्यवसाय का। अन्यत्व अर्थात् भेद दोनों जगह समान है। यहां लव्या के बीच में यह अड़का लगाना कि धर्म का ही अध्यवसाय होना चाहिये' न केवल अनावश्यक ही है, अनुचित मी है। यदि धर्म के अध्यवसाय में ही अतिशयोक्ति मानोगे तो 'कथमुपरि॰' इत्यादि में अनुभवसिद्ध धर्मी के अध्यवसाय का अपलाप करना पड़ेगा।

तथाहीति—श्रौर 'श्रन्यदेव' के स्थान में यदि 'श्रन्यदिव' पढ़दें तो श्रध्यवसाय के साध्य होजाने से इसी पद्य में उत्प्रेचा मानी जाती है। फिर 'इव' की जगह 'एव' पढ़ने से जब अध्यवसाय सिद्ध होगया तो अतिशयोक्ति क्यों न मानी जाय ? अध्यवसाय यदि साध्य हो तो उत्प्रेचा और सिद्ध हो तो अतिश्योकि मानी जाती है। 'प्रागेव' इत्यादि पद्य में बकुलादि लक्ष्मी का पहले होना भी पीछे होने के रूप में अध्यवसित हुआ है। अतएव यहां भी 'एव' के स्थान में 'इव' शब्द का प्रयोग करने से उत्प्रेचा होती है।

श्रीतकैवागीराजी ने उक्त पंक्ति की ज्याख्या करते हुए लिखा है कि "ब्रव्याप्तिरिति अन्यदेवेत्यत्रलावण्यान्तरमेदसत्त्वेनाध्यवसायरूपत्वामावादितिमावः 'यह एक प्रकार का प्रमर्तः प्रकार है। प्रकार का प्रमर्तः प्रलाप है। मूल प्रन्थ में तो 'अन्यदेव ॰' को अतिशयोक्ति के मुख्य उदाहरणों में लिखा है और आप करने के है और आप कहते हैं कि 'अध्यवसाय रूपत्वाभावात्' अर्थात् यहां अध्यवसाय है। नहीं। यदि अध्यवसाय है। नहीं। नहीं हीनहीं।यदि अध्यवसाय कपत्वामावात्' अथोत् यहा अध्यवसाय कपत्वामावात्' अथोत् यहा अध्यवसाय नहीं है तो फिर यहां अतिशयोक्ति हो कैसे गर्भ और इसकी टीका करते हुए आपने भी इसे अतिशयोक्ति का उदाहरण के से मानी

इसके अतिरिक्त मूल की पंक्ति तो यह कह रही है कि 'कथमुपरिं' में यदि क्रिपाशादिकों का कतापादि के साथ अध्यवसाय मानोगे तो 'अन्यदेवाक्न' में लक्तण अव्यास होगा। परन्तु आपकी व्याख्या से तो उक्त दोनों पद्यों में कोई सम्बन्ध सिद्ध हो नहीं होता। अध्यवसाय का अभाव बता के तो आपने अतिशयोक्ति की बहु ही काट डाली। यदि अध्यवसाय ही नहीं तब तो फिर किसी प्रकार अतिशयोक्ति हो ही नहीं सकती। 'कथमुपरिं' की चर्चाही व्यर्थ है।

श्रीर सुनिये, अध्यवसाय न होने का हेतु आप देते हैं 'लावण्यान्तरमेदसत्त्वेन' अर्थात् अलीकिक लावण्य के भिन्न होने के कारण लौकिक लावण्य का उसके लाय अमेद्ध्यवसाय नहीं है। वास्तव में अमेद्ध्यवसाय भिन्न वस्तुओं में ही हुआ करता है। जब चन्द्रमा और मुख भिन्न हैं तभी मुख को 'चन्द्रः' कहने से अतिश्योक्ति होती है। यदि कलाप आदिक केशादिकों से भिन्न न होतव 'कथमुपिर' में अध्यवसाय क्या होगा ?। वास्तविक मेद् होने पर ही किएत अमेद हो खकता है। यदि वास्तविक अमेद हो तो किएत अमेद क्या खाक होगा !! जो अध्यवसाय का कारण है उसे आप अध्यवसाय आ का कारण बताते हैं!!!

इसे देखकर कोई कह सकता है कि तर्कवागीशजी ने यह पंक्ति भांग खाकर लिखी है। परन्तु हमारी सम्प्रित में विश्वनाथजी ने जो मूल प्रन्थ में इस स्थान पर पंक्तियां लिखी हैं वेही अत्यन्त संकीर्ण और अस्पष्ट हैं। उन्हें देख कर ठीक तात्पर्य समस्तना अत्यन्त कठिन है। जिसने अलङ्कार सर्वस्व के इस स्थल का अच्छे प्रकार मनन नहीं किया उसके लिये इन पंक्तियों से ठीक तात्पर्य समस्त लेगा असंभव है। सब से बड़ी कठिनता तो यह है कि मूल प्रन्थ में किस आवार्य के किस प्रन्थ का खरडन कर रहे हैं इसका कुछ पता नहीं चलता। किनेदाहु: से कोई क्या समसे ? और कहां ढूंढे ? सम्भव है तर्कवागीशजी की मूल का भी यही कारण हो, तथापि यदि किसी प्रन्थ का कोई अंश समस में न आये तो उस पर अराड-बराड बोलने की अपेदा कुछ न बोलना अच्छा है। श्रीतकवागीशजी यदि उक्त पंक्ति न लिखते तो कुछ हर्ज नहीं था।

वस्तुतस्तु विश्वनाथजी ने ही यहां बड़ी गड़बड़ की है। 'केचिदाहुः' के आगे जिस मत का निरूपण करके आपने उसका खएडन किया है वह अलंकार-संक्कार श्रीराजानक उप्यक्त का मत ही नहीं है, प्रत्युत लेखकों के प्रमाद से आया हुआ, मूलप्रन्थ से विरुद्ध, एक असंगत अंग्र है। उस स्थान का स्लगाउ देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। टीकाकार ने भी वहीं इसे असंगत और अपपाठ बताया है। यह सब कुछ होने पर भी विश्वनाथजी ने से यहां असमञ्जसक्त से उद्धृत करके न जाने क्यों, विद्यार्थियों और अध्याकों के लिये एक उल्लामन पैदा कर दी है। हम यहां बुद्धिमान् विवेचकों के लिये एक उल्लामन पैदा कर दी है। हम यहां बुद्धिमान् विवेचकों के अतिश्योक्ति के लिया में सबसे पहले 'मेरेडप्यमेदः' का उद्धिरण देते ए सुलप्रन्थ में लिया है।

तत्र सेदेडमेदो यथा—

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

### पदार्थीनां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्। एकधर्माभिसंबन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता॥४८॥

'कमलमनम्मास कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम्। सा च सुकुमारसुमगेत्युत्पातपरम्परा केयम् ।'

अत्र पुखादीनां कमलाद्येभेंदेऽप्यभेदः'

यह उदाहरण विश्वनाथजी के 'कथमुपरि कलापिनः कलापः' से विल्क्ष मिलता-जुलता है और इसके विवरण में ग्रन्थकार ने स्वयं ही मुलादिक धर्मियों का कमलादिक धर्मियों के लाय अमेदाध्यवसान वताया है। इस दशा में यह कहना कि राजानकरुयक धर्मियों के अध्यवसान में अतिश्योक्ति नहीं मानते, नितान्त मिश्या प्रलाप है।

यहां पर टीकाकार ने धर्मी के अध्यवसान का दिग्दर्शन कराते हुए अगते ग्रन्य को स्पष्टक्ष से असंगत और लेखकों के प्रभाद से आया हुआ वताया है। देखिये-

'पुखादीनामिति—न तु वास्तवस्य सौन्दर्यस्य i कमलाचैरिति—न तु कविसमर्पितेन सौन्दर्वेण । ऋतएव च-अत्रातिशयाख्यमित्यादिः-तद्मिप्रायेथेवाध्यवसितप्राधान्यसित्यनुष उत्तरकालिको प्रन्थः स्वमातिजाङ्गाल्तेखकैरन्यथा लिखित इति निश्चितुमः । अयं हि प्रत्यकाः पुश्चात् कैश्चिद्धिपश्चिद्धः पत्रिकामिर्लिखित इत्यवगीता प्रासिद्धः । ततश्च तैरनवधानेन प्रत्याताः प्रसङ्गलादनुपयुक्तत्वाद् वा पत्रिकान्तरादयमसमज्ञसप्रायो प्रन्थखएडो लिखित इति । न पुनोक्त्रै तदैव मुखादीनां कमलाधैर्मेदेन्यमेद इत्युक्तवापि—न तु वदनादीनां कमलादिमिरमेदान्यवसारी योजनीय इल्यादि वचनं पूर्वायरपराहतम् ऋस्य वैदुष्यशालिनो ग्रन्थकारस्य संमान्यम् ।

विश्वनायजी ने 'केचिदाहुः' के आगे जिस मत का अत्यन्त अस्पष्ट उल्लेख किया है उसका मूलपाठ इस प्रकार है—

पूषु पश्चमु मेदेयु मेदेऽमेदादिवचनं लोकात्तिकान्तगोचरम् । अत्र चाऽतिशयाख्यं यत्त्रलं प्रवेदि कत्त्राविभित्तं तत्राऽपेदाध्यत्रसायः । तथा हि—कमलमनम्भसित्यादौ वदनादीनां कमलाविभेदिषे वास्तवं सौन्दर्यं कविसमर्पितेन सौन्दर्येण अमेदेनाध्यवसितं मेदेऽभेदवचनस्य निमित्तव्। तव व सिद्धोऽन्यत्रसाय इत्यन्यत्रसितप्राधान्यम् । न तु वदनादीनां कमलादिमिरमेदान्यवसायो योजनीयः। अमेदे मेद इत्यादिषु प्रकारेष्वव्यासेः'।

यही वह असंगत प्रन्थ है जिसका उल्लेख विश्वनायजी ने किया है। इसकी टीका करते हुए टीकाकार ने इसका खएडन भी किया है और इसे असाह भी बताया है। 'पावता हि श्रध्यवसितप्राधान्यमस्या लच्चणम् । तच धर्मिणामस्तु धर्माणं के को विशेषो ग्रेस्ट्रिक्स को विशेषो येनाऽज्याप्तिः स्यात् ''क्'' इत्यत्तमसङ्गत अन्यार्थोदीरयोन'

'तुल्ययोगिता' अलङ्कार का लच्चण करते हैं -- पदार्थेति -- केवल प्रकृति । केवल अप्रकृत पदार्थों में एक धर्म के सम्बन्ध का नाम 'तुल्ययोगिता'। यह धर्म कहीं गण्डण के लिंग के सम्बन्ध का नाम 'तुल्ययोगिता'। यह धर्म कहीं गुणकप होता है कहीं कियाकप। CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotr

अन्येषामप्रस्तुतानाम् । धर्मो गुणिक्रियारूपः । उदाहरणम्— 'अंनुलेपनानि कुसुमान्यबलाः

कृतमन्यवः पतिषु, दीपदशाः।

समयेन तेन सुचिरं शयित-

प्रतिबोधितस्मर्मबोधिषत॥'

अत्र संध्यावर्शानस्य प्रस्तुतत्वात्पस्तुतानामनु लेपनादीनामेकबोधनक्रियामिसंबन्धः। 'तदङ्गमार्दवं द्रष्टुः कस्य चित्ते न मासते। मालतीशशमृल्लेखाकदलीनां कठोरता ॥'

इत्यत्र मालत्यादीनामपस्तुतानां कठोरतारूपैकगुणसंबन्धः।

उदाहरण — अनुलेपनेति — 'तेन समयेन कर्त्रा सुचिरं शियतप्रतिबोधितस्मरं यथा स्यात्तथा ब्रुतेपनानि, कुद्धमानि, पतिषु कृतमन्यवः अवलाः, दीपदशाश्च अवोधिषत' इत्यन्वयः । उसः सन्ध्या समय ने बहुत देर तक (दिन भर) सोया हुआ कामदेव जिससे जग रदेइस प्रकार अनुलेपन अर्थात् चन्दन कस्तूरी आदि के लेपों, पुष्पों, पतियों पर क्रद्ध अवलाओं और दीवों की बित्तयों को प्रतिबोधित किया। अत्रेति— समें सन्ध्या का वर्णन प्रस्तुत है। श्रतः श्रनुलेपन श्रादिक भी सब प्रकृत है। ज सबके साथ बोधनिकया रूप एक धर्म का यहां सम्बन्ध है। यद्यपि यहां बोधनिकया एक नहीं है। प्रत्येक सम्बन्धी के साथ भिन्न रूप है। त्रजुलेपनों बाबोधन किया अर्थात् सन्ध्यां समय ने क्रामुक और कामिनियों को कस्तूरी, हेसर चन्दन आदि के लेपन का स्मरण दिलाया। पुच्चों (रात्रि में विलनेवालों ) का बोधन किया अर्थात् उन्हें खिलाया। अवलाओं को बोधन किया अर्थात् कठ कर बैठी हुई कामिनियों को मान छोड़कर शृङ्गार करने का पाठ पढ़ाया श्रीर दीवे की बत्तियों का बोधन किया श्रर्थात् उन्हें प्रज्वित बराया। वोधन का अर्थ जलाना भी है। और यह सब काम इतनी सुन्दरता वैकिया कि जिससे चिरकाल का सोया हुआ कामदेव जग उठे। इस प्रकार विने से बोधन किया का प्रत्येक सम्बन्धी के साथ भिन्न होना स्पष्ट है. तथापि कही घातु से सब अथौं के बोधित होने के कारण इन सब कियाओं में कत्व बुद्धि करके यह उदाहरण दिया है। दूसरा उदाहरण—

'न्यव्यति वयासि प्रथमे समुद्रविति किव तरुणिमनि सुदृशः। उल्लसति कापि शोमा बचसां च दशाश्र विभ्रमाणाश्र ।

वहां प्रस्तुत वाणी, नयन और विज्ञासों में अलीकिक शोभा रूप एक धर्म श सम्बन्ध कहा गया है।

भगस्तुत पदार्थों में एक धर्म के सम्बन्ध का उदाहरण देते हैं—तदहेति—उस भिर्ती के श्रङ्गों की कोमलता को देखनेत्राले किस मनुष्य के हृद्य में मालती के भि, वन्द्रमा की कला और कदली के कोमल दल भी कठोर नहीं जचते। उसके भिष्तिम कलेवर को देखकर ये सब कठोर प्रतीत होते हैं। अत्रेति—यहां मालती भारि अपस्तुत पदार्थों में कठोरतारूप एक गुण का सम्बन्ध बताया गया है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एवम्-

'दानं वित्तादतं वाचः कीर्त्तिधर्मी तथायुषः। प्रीपकरणं कायादसारात्सारमाहरेत्॥'

अत्र दानादीनां कर्मभूतानां सारतारूपैकगुणसंबन्ध एकाहरणिकयासंबन्धः।

अपस्तुतप्रस्तुतयोदीपकं तु निगचते। अथ कार कमें कं स्यादने कासु कियासु चेत्॥ ४१॥

क्रमेणोदाहरणम्-'बलावलेपादधुनापि पूर्ववत्-प्रबाध्यते तेन जगजिगीपुणा। सती च योषित्मकृतिरच निरचला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि॥

. अत्र प्रस्तुताया निश्चलायाः प्रकृतेः अप्रस्तुतायारच सत्या योषित एकानुगमन

क्रियासंबन्धः ।

त्वयि जीवनाथे 'दूरं समागतवति भिना मनोभवशरेण तपस्विनी सा। स्वपिति वासगृहं त्वदीय-उत्तिष्ठति मायाति याति इसति श्वसिति च्योन ॥'

इसी प्रकार-रानिति संसार की ग्रसार वस्तु श्रों में से सार का ग्रहण करे। श्रसार धन से दानक्षप सार का ग्रहण करे, श्रसार वाणी से सारक्ष सत्यका ग्रमार त्रायु से कीर्ति ग्रौर धर्म रूप सार का, ग्रसार शरीर से परोपकारक सार का प्रहण करे। अनेति —यहां कर्मभूत दानादिकों में सारत्व रूप एक गुण श्रीर श्राहरण ( प्रहण ) रूप एक क्रिया का सम्बन्ध है।

दीपक - अपस्तुनेति - जहां अप्रस्तुत और प्रस्तुत पदार्थों में एक धर्मका सम्बन्ध हो अयवा अनेक कियाओं का एक ही कारक हो वहां दीपक अतङ्कार होताहै।

क्रम से उदाइरण्—वलेति —नारद्जी की श्रीकृष्ण्जी के प्रति उक्ति है। वा विजयेच्छुक शिशुपाल आज भी पहले की भाँति संसार की सता रहा है। पतिवता पत्नी और निश्चल प्रकृति जन्मान्तर में भी मनुष्य के साध जाती है। अनेति—यहां प्रस्तुत निश्चल प्रकृति और अपस्तुत सती स्नी का एक त्र्युगमनद्भप किया के साथ सम्बन्धं वर्शित है।

अनेक कियाओं में एक कारक का उदाहरण — दूरामिति — दूर्ती का व्यत नायक — तम समके प्राप्ता करें से — तुम उसके प्राणनाथ हो, तुम्हारे दूर चले आने पर वह बेचारी कामहें। बाणों से बिधी कर कर्मा का प्राप्त के विश्वास हो। बाणों से बिधी हुई, कभी उठती है, फिर लेट जाती है। तुम्हारे तिवासस्थान की ओर आती है जोन के लोग की की श्रोर श्राती है श्रोर फिर कट लौट पड़ती है। कभी हँसती है श्रीर की लम्बी सांसे लेकी है। -- ि लम्बी सांसे लेती है। यह विश्वनाथजी का ही बनाया पद्य है। इसी नायिका का कर्तकार के प्राप्त कि विश्वनाथजी का ही बनाया पद्य है। इसी नायिका का कर्त् रूप से उठना आदि अनेक क्रियाओं के साथ सम्बन्ध दिसाया।

द्दं मम । अत्रैकस्या नायिकाया उत्थानाद्यनेकिकियासंवन्धः । अत्र च गुणिकिययोरादि-मध्यावसानसङ्गावेन त्रैविध्यं न लिक्तिम्।तथाविधवैचित्र्यस्य सर्वत्रापि सहस्रधा संभवात्। प्रतिवस्तूपमा सा स्याद्वाक्ययोगेम्यसाम्ययोः ।

प्रातवस्तू पमा सा स्याद्वाक्ययागम्यसाम्ययाः।
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ॥ ५०॥

'धन्यासि वैदिभ गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि । इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥'

अत्र समाकर्षणमुत्तरलीकरणं च क्रियैकैव पौनरुक्तचनिरासाय भिन्नवाचकतया

निर्दिष्टा । इयं मालयापि दृश्यते । यथा--

'विमल एव रविविशदः शशी

पकृतिशोभन एव हि दर्पणः।

शिवगिरिः शिवहाससहोदरः

सहजसुन्दर एत्र हि सज्जनः॥'

अत्र विमलविशदादिरर्थत एक एव । वैधर्म्येग यथा—

'चकोर्य एव चतुराश्चिन्द्रकाचामकर्मीण । विवाद-वीर्च विकास सम्बद्धी स्वर्मीण ॥

विनावन्तीर्न निपुणाः सुदृशो रतनर्मणि ॥'

श्वति यहां यद्यपि गुण श्रीर किया है प्रभावि स्था तथा श्वत्य के हादि, मध्य, तथा श्वत्य के होते के कारण तीन भेद हो सकते हैं, तथापि उन्हें तहीं दिखाया, क्योंकि सि प्रकार की विचित्रतायें तो सहस्रों प्रकार से हो सकती हैं।

प्रतिवस्तूपमालङ्कार—प्रतीति—जिन दो वाक्यार्थों में साहश्य प्रतीयमान होता हो (वाच्य न हो ) उनमें यदि एक ही साधारण धर्म को पृथक पृथक गृष्दों से कहा जाय तो 'प्रतिवस्तूपमा' श्रजङ्कार होता है। जैसे —धन्यति—हंस की उक्ति है —हे दमयन्ति, तुम धन्य हो, जिसने श्रपने उदार गुणों से महाराज नल को भी श्रपनी श्रोर खींच लिया। चन्द्रिका की इससे श्रधिक श्रोर क्या ग्रंसा हो सकती है कि वह समुद्र को भी चश्रल कर देती है। श्रेति—यहां श्राक्षण श्रोर उत्तरलीकरण एक ही पदार्थ (क्रिया) है, परन्तु पुनरुक्ति दोष है करने के लिये उसे दो श्रव्दों से कह दिया है।

श्विमिति यह प्रतिवस्तूपमा माला के रूप में भी मिलती है — जैसे — विमल इति — पूर्व निर्मल है — चन्द्रमा भी विशव है और दर्पण (आईना) भी स्वभाव से ही उत्तर है। कैलास शिवजी के अष्टहास के समान शुभ्र है और सज्जन भी समाव से ही सुनद्र होते हैं। अनेति — यहां तात्रपर्थि यदि देखा जाय तो

विमल और विशदादि पदों का एक ही है।

वैधम्यं से उदाहरण — चकोर्य इति — चिन्द्रिका के पान करने में चकोरी ही चतुर होती हैं। अवन्ती के विना और कहीं की सुन्द्रियां सुरतनमें में निपुण नहीं

## ्राः ह्ष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्।

संधर्मस्येति प्रतिवस्तूपमान्यवच्छेदः। अयमपि साधर्म्यवैधर्म्याम्यां द्विधा।क्रमेगोः

ढाहरणम्-

हुआ करतीं। यहां चतुरत्व और निपुणत्वरूप धर्म एक ही है। उत्तरार्धन हुआ करता । विश्व के स्वतः यहां वैधम्यं है । यद्यपि वैधम्यं के उदाहरण में दोनों वाक्यार्थों का साम्य नहीं हो सकता । जैसे 'पचित न पचिति' इन दोनों वाक्यों में पाकिकयानिकपित सादृश्य का होना सम्भव नहीं, इसी प्रकार 'विनावन्तीनंनिपुणाः' इस वाक्य में जब निपुण्टव का स्पष्ट निषेध कर दिया है तो फिर पूर्व वाक्यार्थ के 'चतुरत्व' के साथ उसका साम्य सम्भव नहीं, तथापि इस व्यतिरेक से श्राचित्र वैपरीत्य के साथ ही साम्य फलित होता है। 'विनावन्तीर्नेनियुणाः' से यह प्रतीत होता है कि अवन्ती की ही स्त्रियां रतना में निपुण होती हैं। इसी निपुणता से पूर्वार्ध की चतुरता का ऐक्य है। ऐसाही भ्रान्यत्र भी जानना। जिन भ्रानेक वाक्यार्थों में लाधम्यं, वस्तुप्रतिवस्तुभावको प्राप्त हो उनके आर्थ औपस्य को प्रतिवस्तूपमा कहते हैं। इसमें वस्तुप्रतिवस्त भाव अवश्य रहता है। एक ही धर्म को दो शब्दों से पृथक् निर्देश करना वस्तु-प्रतिवस्तुभाव कहाता है। 'प्रतिवस्तु=प्रतिवाक्यार्थपुप्मा=साहश्यं यस्यां सा प्रतिवस्तूप्मा'।

दृष्टान्त इति -दो वाक्यों में धर्मसहित, 'अस्तु' श्रर्थात् उपमानोपमेय हे प्रतिविम्बन की दृष्टान्ता अलङ्कार कहते हैं। सादृश्य के अवधानग्रंय होने को 'प्रतिविम्बन' कहते हैं । पृथक् निर्दिष्ट, धर्मसहित धर्मी का साहश्य जहां ध्यान देने से प्रतीत होता हो, शब्द से निर्दिष्ट न हो वहां द्रष्टान्तालकार जानना। सर्वभस्येति—प्रतिवस्तूपमा में साधारण धर्म का विम्बप्रतिविम्बमाव नहीं रहता, केवल उपमान तथा उपमेय रूप धर्मियों का बिम्बप्रतिविम्बभाव होता है, स्रतः उसमें लज्ञण न चला जाय इसलिये 'सधर्मस्य' कहा है। हण्य में धर्म सहित धर्मी का प्रतिबिम्बन होना चाहिये, केवल धर्मी का नहीं।

श्रीतर्कवागीशजी ने इस कारिका का अर्थ लिखा है कि ''सधर्मस्य सदशस्य, वस्तुव सामान्यधर्मस्य, प्रतिविन्त्रनम् प्रणिधानगम्यसाम्यत्वम्"। यह अशुद्ध भी है और असंगत भी है। 'सधर्मस्य' का अर्थ यदि 'सदशस्य' करें तो 'समानः धर्मो यस्य' ऐसा विग्रह करके वहुवीहि समास करना पड़ेगा। यदि 'समानस्य ब्झन्दरयमूर्धप्रस्तुरः केंगुं इस सूत्र में योगविभाग मानें तो 'समान' को 'स' त्रादेश हो जाया। अन्यशा समान वाचक 'सह' शब्द के साथ समास करके 'वोपसर्जनस्य' इस स्त्र से 'स' त्रादेश हो सकता है। परन्तु चाहे जो कुछ करें वहुनीह समास में 'धर्मादिनच् केवलात्' इसं सूत्र से 'श्रिनच्' समासान्त श्रिनचार्य है, इत

त्रापने 'वस्तुनः' का अर्थ किया है 'सामान्यधर्मस्य' यह असंगत है। 'वसी व् पदार्थ मात्र का लेक किया है 'सामान्यधर्मस्य' यह असंगत है। 'वसी 'संघर्मणः' यही होगा, 'संघर्मस्य' श्रशुद्ध है। शब्द पदार्थ मात्र का बोधक है। उससे सामान्यधर्मस्य यह ग्रसगत व स्वाप्त है। उससे सामान्यधर्म का विशेष हैं। उससे सामान्यधर्म का विशेष हैं। नहीं हो सकता। जिस प्रकार 'देवद्त्त को वुलाश्रो' इस वाक्य के स्थाती की विशेष कर के स्थाती भाषी को वुलाश्चों या 'पदार्थ को बुलाश्चों यह कहन श्रसंगत है उती प्रकार सामान्यधर्म के लिये 'वस्तु' शब्द का प्रयोग करना भी असंगत है। वस्तुतः ग्रन्थकार का यह तात्पर्य है ही नहीं।

इसके पूर्व 'प्रतिवस्त्पमा' अलंकार का वर्णन कर चुके हैं। उसमें भी हो वाक्यायों का साहश्य गम्य होता है और हष्टान्त में भी। परन्तु इन दोनों मंनेद यह है कि प्रतिवस्त्पमा में केवल उपमान और उपमेय में साहश्य गम्यमान होता है, किन्तु इन दोनों का धर्म एक ही होता है। शब्द पुन्विक बचाने के लिये केवल शब्द भेद से उसका निद्रा रहता है। वहां विम्बन्धिक बचाने के लिये केवल शब्द भेद से उसका निद्रा रहता है। वहां विम्बन्धिक बचाने के लिये केवल शब्द भेद से उसका निद्रा रहता है। वहां विम्बन्धिक बचाने के लिये केवल शब्द भेद से उपमान, उपमेय तथा उनके धर्मों में मी-विम्बनित विम्बनाव रहता है। इसीलिये काव्यप्रकाशकार ने लिखा है—'द्रष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिविम्बनम्'—'पुतेषां साधारणधर्मादीनाम्'। हष्टान्त में साधारणधर्मा का भी प्रतिविम्बन होता है जो कि 'प्रतिवस्त्पमा' में नहीं होता। यही बात 'अलङ्कारसर्वस्व' में भी लिखी है।

'तस्यापि विम्त्रप्रतित्रिम्त्रमावतयाः निर्देशे दृष्टान्तः' तस्यापीति न केवलमुपमानोपमेययोः ।'
तन्त्रव्देन सामान्यधर्मः प्रत्यवमृष्टः ।

'रसगङ्गाधर' ने इन सब बातों को और भी स्पष्ट करके 'दृष्टान्त' अलङ्कार का वर्णन इस प्रकार किया है—'प्रकृतवाक्यार्थघरकानाम् उपमानादीनां साधारमध्येमस्य च विम्बप्रतिविन्त्रमाने दृष्टान्तः'। प्रतिवस्तूपमा का दृष्टान्तं के साथ भेद दिखाते दुप इसकी व्याख्या में लिखा है 'अस्य चालङ्कारस्य प्रतिवस्तूपमया भेदकमेतने यत्तस्यां धर्मों ग प्रतिविन्वतः, किन्तु शुद्धसामान्यात्मनैव स्थितः, इहतु प्रतिविन्वतः।'

सारांश यह है कि दिष्टान्त अलङ्कार में धर्मिक्य वस्तुओं (उपमान, उप-मेगों) के समान उनके धर्म भी परस्पर प्रतिविभिन्नत होते हैं। उपमान के साथ उपमेय का और उपमानधर्म के साथ उपमेयधर्म का विभ्वप्रतिविभ्वभाव रहता है। 'अविदित्यणापि' इत्यादिक उदाहरण में स्कि के साथ माला का और गुण के साथ परिमल का विभ्वप्रतिविभ्वमाव है।

तर्कवागीशजी ने जो अर्थ किया है उसके अनुसार केवल सामान्यधर्म का शितिबम्बन प्रतात होता है, धर्मी का नहीं,अतः उनका कथन अज्ञानम्लक है। यदि उनका कथन माना जाय तो मूलोक 'सधर्मस्य' पद व्यर्थ भी हो लायाा, क्योंकि सहश वस्तुओं के धर्म में ही समानता होती है। विसहश वस्तुओं के धर्म को 'सामान्यधर्म' नहीं कहा जा सकता, अतः 'सामान्य-धर्मस्य प्रतिबम्बनम्' इतने से ही काम चल सकता था।

अदन्त 'सधर्म' शब्द 'सद्रोणा खारी' के समान निष्पन्न होता है। 'प्रन्थान्ताविके के हैं। है। ७६ इस सूत्र से 'सह' के स्थान में 'स' आदेश होता है। आधिक्य अर्थ में यहां 'सह' शब्द का प्रयोग है। 'प्रतिवस्तूपमा' में केवल वस्तु (धर्मा) का प्रतिबिम्बन होता है और 'हष्टान्त' में उसकी श्रोता धर्म अधिक रहता है। यहां यह भी प्रतिबिम्बन होता है। वस्तुनः' चर्मण अधिकस्य – धर्मसहितस्येति यावत् – 'वस्तुनः' = धर्मणः प्रतिबिम्बनं क्षान्तः।

'अविदितगुणापि सत्कविभिणितिः कर्णेषु वमित मधुधाराम्। अनिधगतपरिमलापि हि हरित दशं मालतीमाला॥'

'त्विय दृष्टे कुरङ्गाद्याः स्नंसते मदनव्यथा। दृष्टानुदयभाजीन्दौ ग्लानिः कुमुदसंहतेः॥'

'वसन्तलेखैकनिबद्धभावं परासु कान्तासु मनः कुतो नः।
प्रमुद्धमङ्गीमधुलम्पटः कि मधुत्रतः काङ्चिति विद्विमन्याम्॥'

इदं पद्यं मम । अत्र 'मनः कुतो नः' इत्यस्य 'काङ्क्ति विष्नमन्याम्' इत्यस्य चैकरूपतयैव पर्यवसानात्मितिबस्तूपमैव । इह तुकार्णे मधुधारावमनस्य नेत्रहरणस्य च साम्यमेव, न त्वैकरूप्यम् । अत्र समध्यसमर्थकवाक्ययोः सामान्यविशेषभावोऽर्थान्तर-न्यासः । प्रतिवस्तूपमादृष्टान्तयोस्तु न तथेति भेदः ।

श्यमपीति—यह दशन्ता अलङ्कार भी साधर्म श्रीर वैधर्म से दो प्रकार का होता है। क्रम से उदाहरण —श्रिवितित—श्रे छे कि की उक्कि के गुण चाहे न मालूम हुए ही तो भी वह केवल सुनने से हो कानों में मधुरस बरसाती है। यह देखा गया है कि दूर होने श्रादि के कारण मालती की माला का गन्ध चाहे प्रतीत न होता हो ता भी वह दिष्ट को श्रपनी श्रोर खींच ही लेती है। यहां यद्यि इवादि शब्द नहीं हैं तथापि मालती माला के साथ कि की स्कि का श्रीर सुगन्ध के साथ किवता के गुणों का साहश्य प्रतीत होता है।

वैधम्यं का उदाहरण — त्वयीति — तुम्हारे देखने पर मृगलोचनी की मदन-व्यथा दूर होती है। चन्द्रमा के उदय न होने पर ही कुमुदावली की ग्लानि देखी गई है। यहां ध्यान देने से कामिनी और कुमुदावली, नायक और चन्द्रमा एवं मदनव्यथा और ग्लानि की समता प्रतीत होती है।

दूसरे अलंकारों से इसका भेद दिखाते हैं—वसन्तेति—वसन्ततेखा में लगा इस्रा हमारा मन और रमिण्यों में कैसे जा सकता है ? खिली हुई चमेली के मधु रस में अटका हुआ अमर क्या दूसरों बेल को चाहता है ? अत्रेति—वर्ष भाग का अन्यत्र नहीं जाना' और 'अन्य को नहीं चाहना' ये दोनों वातें पकरी हैं। केतल पुनरुक्ति के भय से भिन्न शब्दों से निदेश किया गया है, अतः यही मितवस्तूपमा ही है। इहतु—हृष्टान्तालंकार के प्रस्त उदाहरण 'अविदित प्रणापि' इत्यादि में तो 'मधुरस बरसाना' और 'हृष्टि को खींचना' इन दोने धर्मों को समानता ही हैं एक रूपता नहीं। अत्रेति—समर्थ्य और समर्थ धर्मों को समानता ही हैं एक रूपता नहीं। अत्रेति—समर्थ्य और समर्थ वाक्यों में से यदि एक सामान्य हो और दूसरा विशेष तो 'अर्थोन्तरम्यासं वाक्यों में से यदि एक सामान्य हो और दूसरा विशेष तो 'अर्थोन्तरम्यासं होता है, परन्तु प्रतिवस्तूपमा और हृष्टान्त में सामान्यविशेषभाव नहीं होती। यही इनका भेद है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

#### संभवन्वस्तुसंबन्धोऽसंभवन्वापि क्रत्रचित्॥ ४१॥ यत्र बिम्बानुविम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना।

तत्र संभवद्रस्तुसंबन्धनिदर्शना यथा—

कोऽत्र भूमिवलये जनान्मुष्म तापयनसुचिरमेति संपदम् । वेदयनिति दिनेन भानुमानाससाद चरमाचलं ततः॥

अत्र रवेरीदृशार्थवेदनिक्रयायां वक्तृत्वेनान्वयः संभवत्येव। ईदृशार्थज्ञापनसमर्थचर-माचलप्राप्तिरूपकर्मवत्त्वात् । स च रवेरस्ताचलगमनस्य परितापिनां विपत्पाप्तेशच विम्बप्रतिबिम्बभावं बोधयति । असंभवद्वस्तुनिद्रश्नात्वेकवाक्यानेकवाक्यगतत्वेन द्विविधा । तत्रैकवाक्यगा यथा—

'कलयति कुवलयमालाललितं कुटिलः क्रटाच्विचेपः। अधरः किसलयलीलामाननमस्याः कलानिधिविलासम्॥'

अत्रान्यस्य धर्मं कथमन्यो बहत्विति कटाचि विदेपादीनां कुवलयमालादिगतलिं-तादीनां कलनमसंभवत्तक्षलितादिसदृशं लिलतादिकमवगमयत्कटांच्विचेपादेः कुव-लयमालादेरच विम्बपतिविम्बभावं वोधयति । यथा वा—

अय निद्रश्ना—सम्मविति —जहां वस्तुत्रों का परस्पर सम्बन्ध सम्भव (त्रवा-िषत) अथवा असम्भव ( बाधित ) होकर उनके बिम्बप्रतिबिम्बमाव का वोधन करेवहां निद्शना ऋलंकार होता है। सम्भवका उदाहरण-कोनेति-इस भूमि पर लोगों को व्यर्थ सन्ताप देता हुआ कौन अधिक समय तक सञ्पत्ति का उपमोग कर सकता है। सन्तापदायक ग्रीष्म दिन के द्वारा यह स्वना देता हुआ सूर्य अस्ताचल की श्रोर चल दिया। अतेति—यहां इस प्रकार की बोधन किया में सूर्य का वक्रा के रूप से सम्बन्ध हो सकता है, क्योंकि अस्ताचल का गमन उसमें विद्यमान है। उसीसे उक्त स्वना होती है। सचेति—वक्तारूप से इस सम्बन्ध के द्वारा सूर्य के अस्त होने और सन्तापदायक लोगों के विपत्ति मैं पड़ने इन दोनों कियाओं में विस्वप्रतिविस्वभाव (साहश्य) प्रतीत होता है। असम्भव की निद्शीना दो प्रकार की होती है। एक तो वह जो एक ही वाक्य में हो और दूसरी अनेक वाक्यों में होनेवाली। पहली का उदाहरण क्ष्यतीति—इसके कुटिल कटाच का विच्ए नील कमलों की माला के विलास की घार्य करता है श्रीर अधरोष्ठ पहार की शोमा को एवं मुख चन्द्रमा के विलास को धारण करता है। अत्रेति — अन्य के धर्म का अन्य में जाना असम्भव हैं अतः कुवलयमाला आदिकों के विज्ञासादिक कैटाज्ञादिकों में नहीं रह पक्ते उपलयमाला त्रादिका का विज्ञालाए प्राप्त पर्यवसान हीता है।
कार्य सिंग यहां वाक्यार्थ का साहश्य में पर्यवसान हीता है। भेटानिविषेप की शामा नीलकमन्माला की शोमा के समान है इत्यादिक झान रोता है। इससे कटाच और नीलकमलमाला का बिम्बप्रतिबिम्बभाव प्रतीत CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri 'प्रयाणे तव राजेन्द्र मुक्ता वैरिमृगीदशान्। राजहंसगतिः पद्भचामाननेन शशिद्युतिः॥'

अत्र पादांम्यामसंबद्धराजहंसगतेस्त्यागोऽनुपपन्न इति तयोस्तत्संबन्धः क्रक्यते, स चासंभवन्राजहंसगतिमित्र गति बोधयति । अनेकवाक्यगा यथा—

'इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपः चमं साधयितुं य इच्छिति। धुवं स नीलोत्पलपत्रधारया समिल्लतां छेतुमृषिव्यवस्यति॥'

अत्र यत्तच्छ्रव्दिविष्टवाक्यार्थयोरभेदेनान्वयोऽनुपपद्यमानस्तादृशवपुषस्तपः ज्ञम् त्वसाधनेच्छा नीलोत्पलपत्रधारया समिल्लताछेदनेच्छ्रेवेतिविम्वमतिविम्बमावे पर्यवस्यति। यथा वा—

'जन्मेदं वन्ध्यतां नीतं भवसोगोपिलप्सया। काचमूलेन विक्रीतो हन्त चिन्तामिणिर्मया॥'

श्चित्र भवभोगलोभेन जन्मनो व्यर्थतानयनं काचमूल्येन चिन्तामिणिविक्रय इवेति पर्यवसानम् । एवम्---

होता है। वूसरा उदाहर श्र—प्रयाणे इति—हेरा जन्, तुम्हारी विजय यात्रा के समय शतुनारियों के पैरों ने राजहंसों की चाल छोड़ दी और उनके मुख ने चन्द्रमा की शोभा छोड़ दी। अत्रेति—छोड़ी वही वस्तु जा सकती है जो कभी गृहीत हो, इसिलये राजहंस की गित का पैरों के साथ सम्बन्ध मानना पड़ेगा। क्योंकि विना सम्बन्ध के हुए पैर उसे छोड़ नहीं सकते। परन्तु राजहंस की चाल उसी के साथ समवाय सम्बन्ध से रहती है। वह अन्यत्र जा नहीं सकती। अतः वाक्यार्थ असम्भव होने के कारण 'राजहंस गिति' का अर्थ है—राजहंस की गित के सहश गित।

अतेक वाक्यों की निद्रश्ना का उदाहरण—इदमिति—शकुन्तला को देखका राजा दुष्यन्त की उक्ति है। जो ऋषि स्वमाव से सुन्दर इस कोमल देह की तपस्या के योग्य बनाना चाहते हैं वे निश्चय ही नीले कमल के कोमल पत्ते की किनार से शमीवृत्त (जंट) को काटना चाहते हैं। अति—यहां 'यत्तर शब्दों से जिन दो वाक्यों का पूर्वार्घ और उत्तरार्घ में निदेश किया है वे आपस में अमेदकप से अन्वित नहीं हो सकते, अतः यहां इस विम्वमिति आपस में अमेदकप से अन्वित नहीं हो सकते, अतः यहां इस विम्वमिति विम्वमाव में वाक्यार्थ का पर्यवसान होता है कि 'इस कोमलाङ्गी से तपस्य कराने की इच्छा, कमल के पत्ते से शमीवृत्त काटने की इच्छा के समान है। कराने की इच्छाओं में विम्वमिति विम्वमाव है।

श्रीर उदाहरण — जन्मेति — संसार के सुख भोगों के लाल व में फँसकर में यह अपना जन्म व्यर्थ को दिया। हाय, मैंने चिन्तामणि को कार्व के मोर्म में बैंच दिया। यहां इन दोनों वाक्यों का इस प्रकार विम्बपति विम्बपति पर्यवतान होता है कि 'विषयों के लोभ से जन्म गँवाना वैसाही है देश चिन्तामणि को जन्म ने नार्व नार्व नार्व ने नार्व नार्व

चिन्तामिण को काच के दामों में बेच देना'। CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri 'क सूर्यप्रभवो वंशः क चाल्पविषया मतिः। तितीषुदुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥'

अत्र मन्मत्या सूर्यवंशवर्णनमुडुपेन सागरतरणिमवेति पर्यवसानम् । इयं च कचि-हुपमेयवृत्तस्योपमानेऽसंभवेऽपि भवति । यथा——

> 'योऽनुमूतः कुरङ्गाच्यास्तस्या मधुरिमाधरे। समास्त्रादि स मृद्वीकारसे रसविशारदैः॥'

अत्र प्रकृतस्याधरस्य मधुरिमधर्मस्य द्राज्ञारसेऽसंभवात्पूर्ववत्साम्ये पर्यवसानम् । गालारूपापि । यथा मम——

'चिपसि शुकं वृषदंशकवदने मृगमर्पयसि मृगादनरदने। वितरसि तुरगं महिषविषाणे निद्धचेतोभोगविताने॥'

इहे बिम्बमितिबिम्बता होपं विना वाक्यार्थापर्यवसानम् । दृष्टान्ते तु पर्यवसितेन बाक्यार्थेन सामर्थ्याद् बिम्बमितिबिम्बतामत्यायनम् । नापीयमर्थापत्तिः । तत्र 'हारोऽयं हरिणाक्तीणां –' इत्यादौ सादृश्यपर्यवसानाभावात् ।

केति—कहां सूर्य से उत्पन्न वंश ! श्रीर कहां मेरी श्रहपन्न बुद्धि ! में श्रज्ञान-वश उडुप (तम्हेड़-या डोंगी) के द्वारा दुस्तर समुद्र को पार करना चाहता हूं। श्रवेति—यहां 'मेरी मित से सूर्यवंश का वर्णन वैसाही है जैसा उडुप से समुद्रतरण' इस प्रकार वाक्यार्थ का पर्यवसान होता है।

र्यवेति—जहां कहीं उपमेय का धर्म उपमान में श्रसम्भव हो वहां भी धह (निद्रशंना) होती है। जैसे—योद्य॰—उस मृगनयनी के श्रधर में जो मधुरता पाई थी उसका रसकों ने मृद्धीका (श्रंगूर) के रस में श्रास्वाद पाया। श्रवेति— श्रधर की मधुरता द्राज्ञारस में नहीं हो सकती, श्रतः यहां भी पूर्ववत् साहश्य में पर्यवसान होता है।

निदर्शना, मालारूप भी होती है—जैसे—हिपसीति—तुम जो चित्त को भोगों में
निगार है हो—सो याद रक्खो, तोते को बिलाव के मुह में माँक रहे हो, दिरन
को बधेर के दांतों में दे रहे हो श्रीर घोड़े को मैंसे के सींगों पर रख रहे हो।
विषयों में चित्त का लगाना, तोते को बिलाव के मुख में फेंकने श्रादि के तुल्य
कि कप से यहां साहश्य में वाक्य की विश्वानित होती है। इहेति—निदर्शना
किवतक बिम्बमितिबम्बमाव का श्राहोप न किया जाय तबतक वाक्यार्थ की
विश्वानित नहीं होती, किन्तु हृष्टान्त में वाक्यार्थ पर्यवसित होने के पीछे
सामर्थवश से साहश्य की प्रतीति होती है। इसे श्रर्थापत्ति भी नहीं कह सकते,
श्रोंकि 'हारोयम्' इत्यादिक श्रर्थापत्ति के उदाहरणों में वाक्यार्थ का साहश्य
में प्रवेसान नहीं होता।

त्राधिकयमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताथवा ॥ ५२॥ व्यतिरेकः

स च

एक उक्ते, इन्हें हेती पुनिस्त्रिधा।
चतुर्विधोऽपि साम्यस्य बोधनाच्छुन्द्तोऽर्थतः॥ ५३॥
आत्तेपाच द्वादशधा रतेषेऽपीति चिरष्टधा।
प्रत्येकं स्यान्मितित्वाष्टचत्वारिंशद्विधः पुनः॥ ५४॥

उपमेयस्योपमानादाधिक्ये हेतुरुपमेयगतमुत्कर्षकारणमुपमानगतं निकर्षकारणं च।
तयोर्द्वयोरप्युक्तावेकः, प्रत्येकं समुदायेन वानुक्तौ त्रिविध इति चतुर्विधेऽप्यस्मिन्नुपमानोपमेयभावस्य निवेदनं शब्देनार्थेनाचेपेण चेति द्वादशपकारोऽपि रक्षेषे, 'अषि'
शब्दादरक्षेऽपिचेतिचतुर्विशतिपकारः । उपमानान्न्यूनतायामप्यनयैव मङ्गा
चतुर्विशतिपकारतेति मिलित्वाष्टचत्वारिंशत्पकारो व्यतिरेकः।

उदाहरणम्-

'अकलङ्कं मुखं तस्या न कलङ्की विधुर्यथा।' अत्रोपमेयगतमकलङ्कत्वमुपमानगतं च कलङ्कित्वं हेतुद्वयमप्युक्तम् । यथाग्रब्द-

अथ व्यतिरेकः — आधिक्यमिति — उपमान से उपमय का आधिक्य अथवा उपमान से उपमेय की न्यूनता के वर्णन करने में व्यतिरेकालङ्कार होता है। उपमेयस्वि उपमेय का जहां उपमान से आधिक्य वर्णित हो वहां (१) उपमेय की उत्छ्वता श्रीर उपमान की अपकृष्टता (हीनता) का कारण (दोनों का हेते। यदि शब्द से कह दिया हो तो एक प्रकार का व्यतिरेक होता है। और इनमें से (२) उत्कृष्टता का कारण न कहा हो अपकृष्टता का ही कहा हो ग्रंथवा (१) अपकृष्टता का न कहा हो उत्कृष्टता का ही कहा हो अथवा (१) दोनों न कहे हों तो इस प्रकार हेतु की अनुक्ति में तीन प्रकार का व्यतिरेक होता है। इन चारों में उपमानोपमेयमाव का कथन कहीं शब्द से होता है। कहीं अर्थवत से लम्य होता है और कहीं आच्चेप से गम्य होता है, अतः कहीं अर्थवत से लम्य होता है और कहीं आच्चेप से गम्य होता है, अतः प्रत्येक के तीन मेद होने के कारण, वारह मेद हुए। ये सब श्लेप में भी होते प्रत्येक के तीन मेद होने के कारण, वारह मेद हुए। ये सब श्लेप में भी होते अर्थेक के तीन मेद होने के कारण, वारह मेद हुए। ये सब श्लेप में भी होते उससे अश्लेप का मी ग्रहण होता है। एवंच उक्त बारह के चौबीस मेद हुए। उससे अश्लेप का मी अहण होता है। एवंच उक्त बारह के चौबीस मेद हुए। इसी प्रकार उपमान से उपमेय की हीनता में भी चौबीस भेद होते हैं। सब इसी प्रकार उपमान से उपमेय की हीनता में भी चौबीस भेद होते हैं। सब इसी प्रकार उपतिरेक के अहतालीस भेद होते हैं।

उदाहरण्—श्रवज्ञामिति—उसका निष्कलङ्क मुख कलङ्की चन्द्रमा जैसा नहीं है। श्रवेति॰—यहां उपमेय (मुख) की उत्क्षप्रता का कारण् निष्कल्ङ्का हो। उपमान (चन्द्र) की हीनता का कारण् कलङ्कित्व ये दोनों हेतु श्रव्ह सही प्रतिपादनाच शाब्दमौपम्यम् । अत्रैव 'न कलङ्कि विधूपमम् ' इति पाठे आर्थम् । अत्रैव 'न कलङ्कि विधूपमम् ' इति पाठे आर्थम् । अत्रैवा-कलङ्किपदत्यागे उपमेयगतोत्कर्षकारणानुक्तिः । कलङ्किपदत्यागे चोपमानगत्निकर्ष-कार्णानुक्तिः । द्वयोरनुक्तौ द्वयोरनुक्तिः । रलेषे यथा—

'त्र्यतिगाढगुणायारच नाब्जवद्गङ्गुरा गुणाः॥'

अत्रेवार्थे वितिरिति शाब्दमौपम्यम् । उत्कर्षनिकर्षकारणयोर्द्वयोरप्युक्तिः । गुणशब्दः शिलष्टः । अन्ये भेदाः पूर्ववदूद्धाः । एतानि चोपमेयस्योपमानादाधिक्य वदाहरणानि । न्यूनत्वे दिङ्मात्रं यथा—

'ची एः ची गोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम् । विरम पसीद सुन्दरि यौवनमनिवर्ति यातं तु ॥' अत्रोपमेयभूतयौवनास्थैर्यस्याधिक्यम्। तेनात्र 'उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये

उक्त हैं और 'यथा' शब्द का प्रयोग है, अतः उपमानोपमेयभाव शाब्द है।

प्रवेति—इसी उदाहरण में यदि 'विधूपमम्' पाठ करदें तो आर्थ औपम्य हो
जायगा और यदि 'जयतीन्द्रम्' ऐसा पाठ करदें तो इव और तुल्यादि पदों
केन रहने के कारण औपम्य आसोप से सभ्य होगा।

इसी उदाहरण में यदि 'श्रकतक्षम' पद को निकाल दें तो उपमेय के उत्कर्षक हेतु की श्रमुक्ति हो जायगी श्रौर यदि 'कलक्ष' पद को छोड़ दें तो अपमानगत श्रपकर्ष के कारण की श्रमुक्ति हो जायगी एवं यदि दोनों पदों को छोड़ें तो दोनों हेतुश्रों की श्रमुक्ति होगी।

रलेष का उदाहरण — श्रतिगादिति — श्रेति — यहां 'तत्र तस्येव' इस स्त्र से इव' के श्रयं में वित प्रत्यय हुआ है, श्रतः श्रीपम्य शाब्द है। उत्कर्ष श्रीर अपकर्ष के कारण उक्त हैं। 'गुण' शब्द शिलाष्ट है। यह द्या, दाविषय श्रादि गुणों को भी कहता है श्रीर तन्तुश्रों को भी। नायिका के पत्त में पहले गुण हैं श्रीर कमल के पत्त में तन्तु। श्रीर भेद पूर्ववत् जानना। ये सब श्राधिक्य के उदाहरण हैं।

न्यूनता के उदाहरण — हीण इति—हे सुन्द्रि, यह ठीक है कि चन्द्रमा वात्वार जीण होकर भी फिर बढ़ जाता है, परन्तु गया हुआ यौवन फिर वहाँ लौटता । देखो, मान मत करो । प्रसन्न हो जाओ । यहां चन्द्रमा की अपेता यौवन (उपमेय) में अस्थिरता वर्ताई है, अतः उपमान से उपमेय की व्युनता है । हेतु दोनों उक्त हैं । औपम्य प्रतीयमान हैं । अनेति—यहां कि (काव्य प्रकाशकार) कहते हैं कि उपमेयभूत यौवन में उपमानभूत कि अपेता अस्थिरता का आधिक्य है। चन्द्रमा में अस्थिरता नहीं, पिन्तु यौवन में है, इस लिये यह भी आधिक्य का ही उदाहरण हो सकता का अत्यव व्यितरेक का जो यह ल्लाण किसी ने (अलंकार सर्वस्वकार ने)

वा व्यतिरेकः ' इति केषांचिल्लच्यो 'विपर्ययेवेतिपदमनर्थकम्' इति यत्केचिदाहुः,तन्न विचारसहम् । तथाहि — अत्राधिकन्यूनत्वे सत्वासत्त्वे एव विवित्ते । अत्र च चन्द्रा-. पेत्तया यौवनस्यासत्त्वं स्फुटमेव । त्र्यस्तु वात्रोदाहरणे यथाकथंचिद्गतिः । 'हन्मदाबैर्यशसा मया पुनर्दिषां हसैर्दूतपथः सितीकृतः।'

इत्यादिषु का गतिरिति सुष्ठूक्तं 'न्यूनताथवा' इति ।

सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्पाद्वाचकं द्वयोः। सा सहोकिर्मूलभूतातिशयोकिर्यदा भवेत्॥ ५५॥

अतिशयोक्तिरप्यत्राभेदाध्यवसायमूला कार्यकार गपौर्वापर्यविपर्ययह्रपा च। अभेदाध्यवसायमूलापि रलेषभित्तिकान्यथा च । क्रंमेणोदाहरणम्-'सहाधरदलेनास्या यौवने रागभाक्मियः।'

अत्र रागपदे श्लेषः।

किया है कि 'उपमेय के आधिक्य में और विपर्यय ( हीनता ) में व्यतिके होता है' इस में 'विपर्यय' कहना व्यर्थ है, क्यों कि उक्र उदाहरण के ही लिये यह कहा गया था सो उक्त रीति से आधिक्य का ही उदाहरण हो सकता है। इसका खएडन करते हैं -ति नेति -यह ठीक नहीं -क्योंकि यहां न्यूनत्व से ग्रसत्व अधिकत्व से वस्तु का सत्त्व (उत्कृष्टता) और , ( श्रपक्ष) विविद्यति है। प्रकृत उदाहरण में चन्द्रमा की श्रपेका यौक्त का अपकर्ष स्पष्ट ही है । अतः उक्त लव्हण में 'विपर्यये वा' यह श्रंश होता ष्ट्री चाहिये । बस्तु, वेति--अथवा इस उदाहरण में जैसे तैसे संगित कर भी लो परनतु 'हनूमदायैः' इत्यादिक पद्यों में क्या करोगे ? हनूमदिति— राजा नल को उक्ति है—हनूमान् आदिकों ने दूतमार्ग (दूतकृत्य) को यश से शुम्र किया था, परन्तु मैंने उसे शत्रुश्रों की हँसी से शुम्र किया। जो दूतकार्य मुक्ते दिया गया या मैं उसमें कृतकार्य न हो सका। शतु हो देखकर अवश्य हँसेंगे । जो मार्ग पहले यशोधवल था आज वही विवहास से धवल होगा। यहां उपमेय (नल) का अपकर्ष स्पष्ट है, अतः लक्ष्य 'न्यूनता' कहना ठीक ही है।

्र अथ सहोक्ति—सहित — सह शब्दार्थ के बत से जहां एक शब्द दो अथा का वाचक हो वहां 'सहोक्ति' श्रलंकार होता है—परन्तु इसके मूल में श्रतिश योक्ति अवश्य रहनी चाहिये। यहाँ अतिशयोक्ति या तो अमेदाध्यवसाय मूलक होती है यर नार्ट होती है या कार्य कारण के पौर्वापर्य-विपर्यय के कारण होती है। अमेदाय वसाय में भी कहीं श्लेष मृज्ञक होती है, कहीं अश्लेष मृजक। क्रम से उदाहरण साथ रागयुक्त हुए हैं। यहां 'राग' पद में श्लेष है। अधर के पत्त में रागकी अर्थ है लाल रंग और नायक के पत्त में अनुराग । इन दोनों का अमेराय

'सह कुमुदकदम्बैः काममुङ्गासयन्तः सह घनितिमरौष्ठैर्धेर्यमुत्सारयन्तः। सह सरिसजपण्डैः स्वान्तमामीलयन्तः प्रतिदिशममृतांशोरंशवः संचरन्ति॥' इदं मम। अत्रोङ्गासादीनां संबन्धिभेदादेव भेदः, न तु रिलष्टतया। सममेव नराधिपेन सा गुरुसंमोहिवलुप्तचेतना।

त्रगमत्सह तैलिबन्दुना ननु दीपाचिरिव चितेस्तलम् ॥' इयं च मालयापि संभवति । यथोदाहृते 'सह कुमुदकदम्बै:-' इत्यादौ ।

वसाय होने के कारण यहां मूल में अतिशयोक्ति है और सह शब्द होने के कारण सहोक्ति अलंकार है।

वस्तुतः यह शुद्ध उदाहरण नहीं है, क्योंकि अधर का राग प्रिय के रागं का कारण है, उसे कार्य के साथ कहा है, अतः यहां कार्य कारण के पोर्वापर्य का विपर्यय भी है। शुद्ध उदाहरण यह हो सकता है।

"मान्थर्यमाप गमनं सह शेशवेन, रक्तं सहैव मनसाऽधरविम्बमासीत्। किष्वामवन्मृगिकशोरदृशो नितम्बः, सर्वाधिको ग्रहरयं सह मन्मयेन ॥"

यहां दूसरे श्रांर चौथे चरणों में श्लेष हैं। सङ्क्रप्रति—कुनुद समूद के साथ काम को भी उल्लासित करतो हुई, धनितिमर के साथ धैर्य को भी दूर करती हुई, कमल समूहों के साथ हृदय को भी निमीलित करती हुई ये चन्द्रमा की किरण चारो श्रोर फैल रही हैं। अनेति —यहां उल्लासादिपद शिलष्ट तो नहीं किन्तु सम्बन्धी के भेद से श्रोचित्य के कारण उनके श्रयों में भेद होना है। कुमुदों के पच्च में उल्लास का श्रथ है खिलाना (विकसित करना) श्रीर काम के पच्च में है बढ़ाना। तिमिर के साथ उत्सारण का श्रथ है हदाना श्रीर काम के पच्च में है बढ़ाना। तिमिर के साथ उत्सारण का श्रथ है हदाना श्रीर क्षेप के साथ है नाश करना। पत्रं कमलों का श्रामीलन है संकोच श्रीर हदय का श्रामीलन है श्रीर सब विषयों को छोड़ कर एक कामरस में निमग्न होना। ये सब भिन्न श्रथ सम्बन्धिमेद के कारण होते हैं। इनमें दो दो का अमेदाध्यवसाय होता है।

पौर्वापर्यविपयंय का उदाहरण—समिति—छाती पर नारदजी की माला गिरने के अनन्तर अत्यन्त संमोह के कारण जिसका चैतन्य नष्ट हो गया है ऐसी वह इन्दुमता राजा अज के साथही इस प्रकार पृथ्वी पर गिरी जैसे तेलिबन्दु के साथ दीपक की ली (प्रकाश) नीचे गिरती है। यहां इन्दुमती है गिरने के कारण ही राजा अज गिरे थे। उसे मरी हुई जान करही वे थाऊल होकर गिरे थे। इन्दुमती का गिरना कारण है और अज का गिरना कार्य है। इन दोनों के साथ कहने से कार्य कारण के पौर्वापर्य का विपर्य आहे। सह शब्द का पर्याय 'समम्' होने से यह सहोक्ति है। इयं नेति— मालाक्ष्य भी होती है—जैसे पूर्वोक 'सहकुमुद' इत्यादि पद्य में।

'लद्मगोन समं रामः काननं गहनं ययौ।'

इत्यादौ चातिशयोक्तिमूलामात्रान्यमलंकारः।

विनोक्तिपद्विनान्येन नासाध्वन्यद्साधु वा।

नासाधु अशोमनं न भवति । एवं च यद्यपि शोमनत्व एव पर्यवसानं तथाय-शोमनत्वामावमुखेन शोमनवचनस्यायमभिपायो यत्कस्यचिद्वर्शानीयस्याशोमनितं तत्परसंनिधेरेव दोषः । तस्य पुनः स्वभावतः शोमनत्वमेवेति ।

यथा--

'विना जलदकालेन चन्द्रो निस्तन्द्रतां गतः। विना ग्रीष्मोष्मणा मञ्जूर्वनराजिरजायत॥'

असाध्वशोभनं यथा-

'श्रनुयान्त्या जनातीतं कान्तं साधु त्वया कृतम् ।
कादिनश्रीर्विनार्केण का निशा शशिना विना ॥'
'निरर्थकं जन्म गतं निलन्या यया न दृष्टं तुहिनांशुविम्बम् ।
उत्पत्तिरिन्दोरिप निष्फलैव दृष्टा विनिद्रा निलनी न येन ॥'
अत्र परस्परविनोक्तिभङ्गद्या चमत्कारातिशयः। विनाशब्दमयोगाभावेऽपि विनार्थः

बस्मणेति—यहां श्रितशयोक्ति मूल में नहीं है, श्रतः सहोक्ति भी नहीं है।
श्रथ विनोक्ति—विनेति—जहां एक के विना दूसरा श्रशोभन (बुरा) नहीं
होता श्रथवा होजाता है वहां विनोक्ति होती है। एवं वेति—यद्यि 'श्रशोभन
नहीं होतां इसका भी तात्पर्य यही है कि 'शोभन होता हैं', परन्तु श्रभाव के
हारा कहने का यह श्रभिपाय है कि किसी वर्णनीय में जो श्रशोभनता श्राती
है वह दूसरे के साथ रहने से ही उत्पन्न हुई है—उसके विना वह श्रशोभन
नहीं है अर्थात् स्वभाव से शोभनही है। उदाहरण—विनेति—वर्षाकाल के विना
वन्द्रमा स्वच्छ होगया श्रीर श्रीष्म की गरमी न होने से वनपंक्ति रमणीय
होगई। यहां वर्षाके विना चन्द्रमा श्रशोभन नहीं है श्रीर श्रीष्म के विना वन
पंक्ति भी बुरी नहीं है। स्वभाव से तो दोनों श्रच्छे ही हैं, किन्तु वर्षा श्रीर
गरमी के कारण विगळ जाते हैं।

अशोभन का उदाहरण—अनुयान्त्येति—लोकोत्तर पति का अनुगमन करके तुमने अञ्जा ही किया। सूर्य के विना दिनलक्ष्मी किस काम की ! और बन्द्रमा के विना रात्रि की क्या शोमा! यहां एक के विना दूसरा अशोभन है।

निर्धिकमिति—कमिलनी का जन्म व्यर्थ ही गया-जिसने शितल किर्णीवाले वन्द्रविम्ब को न देखा और चन्द्रमा की उत्पत्ति भी निष्फल ही हुई जिसने प्रफुल्लित कमिलनी के दर्शन नहीं किये। अत्रेति—यहां एक दूसरे के विना दोनों की व्यर्थता के कथन से चमत्कार विशेष हुआ है। यद्यपि यहां विना दोनों की व्यर्थता के कथन से चमत्कार विशेष हुआ है। यद्यपि यहां विना

विवद्यायां विनोक्तिरेवेयम् । एवं सहोिक्तरिप सहशब्दपयोगाभावेऽपि सहार्थविवद्यया भवतीति बोध्यम् ।

समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यालक्काविशेषणैः॥ ५६॥ व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः।

अत्र समेन कार्येण प्रस्तुतेऽपस्तुतव्यवहारसमारोपः । यथा—

'व्याधूय यद्वसनमम्बुजलोचनाया

वत्तोजयोः कनककुम्भविलासभाजोः।

त्र्यालिङ्गसि प्रसभमङ्गमशेषमस्या

धन्यस्त्वमेव मलयाचलगन्धवाह ॥'

अत्र गन्धवाहे हठकामुकन्यवहारसमारोपः।

तिङ्गसाम्येन यथा —

'श्रसमाप्तजिगीषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्त्रिनः। श्रनाक्रम्य जगत्कृत्स्नं नो संघ्यां भजते रविः॥'

गब्द नहीं है तथापि विनाशब्द के अर्थ की विवत्ता होने के कारण यह 'विनोक्ति' ही है। इसी प्रकार सहोक्ति भी सह शब्द के अर्थ की विवत्ता होने पर ('सह' शब्द का प्रयोग न होने पर भी) हो सकती है।

समाशोकिरिति — जिस वाक्य में 'सम' श्रयीत् प्रस्तुत श्रीर श्रप्रस्तुत में समान हुए से श्रम्वित हो नेवाले कार्य, लिङ्ग श्रीर विशेषणों से प्रस्तुत में श्रप्रस्तुत के व्यवहार का श्रारोप किया जाय वहां समासोक्ति श्रज्ञङ्कार होता है। 'व्यवहियते विशेषण प्रतीयतेऽनेनिति व्यवहारोऽवस्थामेदः' श्री. त. वा. । श्रवस्था मेद को यहां व्यवहार कहते हैं।

श्रीतर्कवागीराजी ने इस कारिका में लिखा है 'यत्रेत्यव्ययं य इत्येषे' यह ठीक नहीं है। क्योंकि पहले तो इस अर्थ में ऐसा अध्यय प्रसिद्ध नहीं दूसरे यहां उसकी आवश्यकता भी नहीं। 'यत्र' पद अध्याहृत 'वाक्ये' का विशेषण है।

जहां समान कार्य के द्वारा प्रस्तुत में अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप होता है उसका उदाहरण देते हैं—व्याधूरेशि —हे मलयानिल, इस कमलनयनी के सुवर्ण-किल्य जुल्य कुवों के वस्त्र को सिटक के हटपूर्वक जो तुम इसका सर्वाङ्गीण मिलिकन करते हो, अतः तुम धन्य हो। यहां हठकामुक और वायु का कार्य समान है, अतः प्रस्तुत वायु में अप्रस्तुत —हठकामुक—के व्यवहार (अवस्था) का आरोप है।

श्रीतिङ्ग पुंलिङ्ग की तुल्यता से व्यवहार के आरोप का उदाहरण— श्रम्माविति - जिसका विजयाभिलाष पूर्ण नहीं हुआ है उस वीर मनस्वी पुरुष को श्री (विवाह ) की चिन्ता कैसी १ सम्पूर्ण संसार को आकान्त किये विना अत्र पुंस्नीलिङ्गमात्रेण रिवसंध्ययोर्नायकनायिकान्यवहारः । त्रिशेषणसाम्यं हु रिलष्टतया, साधारण्येन, अप्रीपम्यगर्भत्वेन च त्रिधा । तत्र रिलष्टतया यथा मम्-'विकसितमुखीं रागासङ्गाद्गलितिमरावृति

दिनकरकरस्पृष्टामैन्द्रीं निरीद्दय दिशं पुरः।

जरठलवलीपायडुच्छायो भृशं कलुषान्तरः

श्रयति हरितं हन्त पाचेतसीं तुहिनबुति: ॥'

अत्र मुखरागादिशब्दानां रिलप्टता । अत्रैत्र हि 'तिमिरावृतिम्' इत्यत्र 'तिमिरां-शुकाम्' इति पाठे एकदेशस्य रूपगोऽपि समासोक्तिरेत्र, नत्वेकदेशविवर्ति रूपकम्।

सूर्य सन्ध्या का संग नहीं करता। अत्रेति -यहां सन्ध्या के स्त्रीलिङ्ग और सूर्य के

पुँ विलक्ष होने से इनमें नायक और नायिका के व्यवहार का आरोप कियागया है। विशेषणों की समानता तीन प्रकार से हो सकती है--एक तो प्रस्तुत और श्रंप्रस्तुत अर्थों में विशेषणों के शिलष्ट होने के कारण-दूसरे दोनों अर्थों में विशेषणों की साधारणता (समानरूप से अन्वय) के कारण और तीसरे औपम-गर्भता के कारण । श्लेष का उदाहरण - विकासतेति - प्रातःकाल जब चन्द्रमा अस्तोन्मुख है श्रौर सूर्य उदयोन्मुख है, उस समय का वर्णन है। 'करों'(किरणें या हाथों ) से स्पर्श होने के कारण 'राग' (प्रातःकालिक सन्ध्या की लालिमा ग अनुराग ) के त्रासङ्ग से जिसका 'मुख' ( त्राग्रमाग या मुँह ) 'विकसित' ( प्रकु ल्लित या प्रकाशित) हो रहा है और जिसकी अन्धकारकए 'आवृति' (आव-रण या वस्त्रं ) खिसक रही है, ऐसी इन्द्रसम्बन्धिनी (पूर्व) दिशा को सामने ( अपनी आंखों के आगे ) देखकर पकी हुई लवली ( हरफारेवड़ी ) के समान पीला पड़ी हुआ श्रीर 'श्रान्तर' ( मध्यभाग या हृद्य ) में श्रत्यन्त 'कलुषित (मिलन या दुःखी) होकर यह चन्द्रमा 'शाचेतस' (वरुण या यम) की 'दिशा' (पश्चिम या मृत्यु) का आश्रय लेता है। जैसे कोई अपनी पूर्वातुरक्त कामिनी को अपने सामने अन्य पुरुष में अनुरक्त देखकर मरने को तयार होता है उसी प्रकार की अवस्था के सूचक शिलष्ट शब्दों का यहाँ सिन्नवेश है। 'ऐन्द्री' कहने से परकीयात्व की प्रतीति होती है। वह पहले तो चन्द्रमा में अनुरक्त थी। परन्तु रात्रि के बीतने पर जब उसका वैभव कम हुत्रा तब उसने उसे हो। दूसरे (सूर्य) से प्रेम पैदा कर लिया। इसे देख चन्द्रमा की उक्त दशा हूरी यहाँ शिलष्ट (दो अर्थवाले ) शब्दों के सामर्थ्य से पूर्व दिशा में परकीया

नायिका (कुलटा) का ज्यवहार और चन्द्रमा में पूर्वातुरक्त पुरुष का ज्यवहार प्रते चन्द्रमा में पूर्वातुरक्त पुरुष का ज्यवहार प्रते सूर्य में अनितम अनुरागी का ज्यवहार प्रतीत होता है।

अनेति—यहाँ मुख, राग्न आदि शब्दों में श्लेष है। यहाँ 'तिमिरावृतिष' के स्थान पर्यदि 'तिमिरांगुकाम्' पाठ कर दें तो, यद्यपि एक अंश में आरोप की प्रतीति होने लगेगी, तथापि उस दशा में भी यहाँ समासोक्ति अनंकार ही रहेगा, एक देश निवर्तिकपक नहीं होगा, क्योंकि अन्धकार और वस हि

तत्र हि तिमिरांशुक्तयो रूप्यरूपकमात्रो द्वयोरावरकत्वेन स्फुटसादृश्यतया परसा-विव्यमनपेद्वयापि स्वमात्रविश्वान्त इति न समासोक्तिबुद्धि व्याहन्तुमीशः । यत्र तु हृष्यहूपक्रयोः सादृश्यमस्फुटं तत्रैकदेशान्तररूपणं विना तदसंगतं स्यादित्य-शब्दमप्येकदेशान्तररूपणमार्थमपेत्तत एवेति तत्रैकदेशविवर्तिरूपकमेव । यथा—

'जस्स रणन्तेउरए करे कुणन्तस्स मण्डलग्गलत्रम्। रससंमुहीवि सहसा परम्मुही होइ रिउसेणा॥'

अत्र रणान्तःपुरयोः सादृश्यमस्फुटमेत्र । किचिच यत्र स्फुटसादृश्यानामपि बहूनां ह्रपणं शाब्दमेकरेशस्य चार्थं तत्रैकदेशिविवर्ति रूपकमेव । रूपकमतीतेर्व्यापितया

होनों का आवरकत्व (ढाकना) रूप सादृश्य अत्यन्त स्फुट है। वह किसी दूसरे की अपेदा विना किये ही अपने आप प्रकट हो जाता है। अतः वहं साहश्य (जो रूपक का मूल है) समासोक्ति को हटा नहीं सकता । परन्तु जहां कप्य और रूपक का सादृश्य अस्फुट होता है वहाँ यदि दूसरे अंशों में द्वपण ( आरोप ) न करें तो वह ( अस्फुट सादश्य ) असंगत ही हो जाय, स कारण दूसरे अंशों का आरोप शाब्द न होने पर भी अर्थबल से आदिस हो जाता है, अतः वहाँ एकदेशिववर्ति रूपक ही माना जाता है—जैसे— <mark>बस्तेति--'यस्य रखान्तःपुरे करे कुर्वाणस्य मण्डलाप्रलताम् । रससंग्रुरूयपि सहसा पराङ्ग्रुखी मवति</mark> <sup>पितेना'।</sup> रण्रूप रनवास में करवालवल्ली (तलवार) को द्वाथ में पकड़े हुए.. जिस राजा को देखकर शत्रुत्रों की सेना रसोन्मुख होने पर भी मुँह फेर लेती है। यहाँ कहना तो यही है कि यह राजा जब तलवार पकड़ कर रख में पहुँचता है तो वीररस में मरी हुई भी शत्रुसेना पीछे हट जाती है, परेन्तु रण को अन्तःपुर का रूपक दिया है और रण तथा अन्तःपुर में कोई कुर साहश्य नहीं है, अतः 'मएडलाप्रलता' और 'सेना' शब्दों के स्वीलिक होने के कारण यद्यपि यहाँ यह प्रतीति होती है कि अन्तःपुर में जैसे किसी पक सन्दरी का हाथ पकड़े हुए नायक को आते देख दूसरी सुन्दरी शृङ्गार रसोन्मुख (प्रेमपूर्ण) होने पर भी मुँह फेर कर चल देती है वही अवस्था हाथ में तल बार पकड़े हुए इस राजा को देख रिपुसेना की होती है, तथापि मित्त में इस अप्रस्तुत व्यवहार के आरोप होने पर भी समासोक्ति नहीं गानी जाती, क्योंकि रण और अन्तःपुर का सादृश्य इतना अस्फुट है कि यदि भव्हलात्र बता में नायिकात्व का आरोप न करें और सेना में प्रतिनायिकात्व हा आरोप न करें तो पहला आरोप असंगत ही हो जाय । अतः पिछले दो लानों में शब्दोक्त न होने पर भी अर्थवल से आरोप हो जाता है, अतः यहाँ कदेशविवर्ति रूपक ही है—समासोक्ति नहीं।

भारीप शब्द सिद्ध हो और किसी एकदेश में अर्थसिद्ध हो तो वहाँ भी एक

समासोक्तिपतीतितिरोधायकत्वात् । नन्वस्ति रणान्तःपुरयोरिप सुखसंचातया स्क्राटं सादृश्यमिति चेत्, सत्यमुक्तम् । अहत्येव, किंतु वाक्यार्थपर्यालोचनसापेत्तम्, न खलु निरपेद्म । मुखचन्द्रादेर्मनोहरत्वादिवद्रणान्तःपुरयोः स्वतःसुखसंचात्वा-भावात् । साधारं एयेन यथा-

'निसर्गसौरभोद्भान्तभृङ्गसंगीतशालिनी। उदिते वासराधीशे स्मेराऽजनि सरोजिनी ॥'

अत्रनिसर्गेत्यादित्रिशेषणसाम्यात्सरोजिन्या नायिकाव्यवहारमतीतौ स्त्रीमात्रगामिनः स्मेरत्वधर्मस्य समारोपः कारणम् । तेन विना विशेषणसाम्यमात्रेण नायिकाव्यवहार-प्रतीते(संभवात् । श्रौपम्यगर्भत्वं पुनिस्त्रिधा संभवति, उपमारूपकसंकरगर्भत्वात्। तत्रोपमागर्भत्वे यथा-

देशविवर्ति रूपक ही जानना । क्योंकि ऐसे स्थलों में रूपक की प्रतीति व्यापक होती है। वह समासीकि की प्रतीति को ढांक लेती है।

निनिति -प्रश्न-एए और अन्तःपुर का भी तो साहश्य स्फुट है। सुखपूर्वक संवार के योग्य होना इन दोनों का रुपष्ट साधारण धर्म है। फिर 'जस्स' इत्यादि पद्य में भी समासोक्ति क्यों नहीं मानते ? सत्यिमिति — ठाक है, साहश्य र्फुट है, परन्तु वह वाक्यार्थ की पर्यालोचना करने के पीछे ही प्रतीत होता है, तत्सापेत है, निरपेत नहीं। जैसे मुख श्रीर चन्द्रमा में स्वतःसिद्ध मनी हरत्व है वैसे रण में स्वयंसिद्ध सुखसंचारत्व नहीं है। जब तक राजा की शिक का ज्ञान न हो तब तक रण में सुखसंचार ज्ञात नहीं हो सकता।

साधारएय का उदाहरण — निसर्गेति — स्वामाविक गन्ध से ( मुग्ध होकर) जिसके चारों श्रोर समर गूँज रहे हैं, वह पश्चिमी सूर्य के उदय होने पर मुस कुराने लगी (खिलते लगी) अनेति—यहाँ निसर्गेत्यादि विशेषण (पूर्वार्ध) साधारण है। पश्चिती स्त्रो और कमिलनी में वह समान रूप से अन्वित होता है। यहाँ कमिलनी प्रंस्तुत है। उस में अप्रस्तुत नायिका के व्यवहार का आरोप साधारण विशेषण के कारण होता है - परन्तु इस व्यवहार की प्रतीति की कारण है केवल स्त्री ही में रहनेवाले स्पेरत्व क्रप धर्म का आरोप। स्पेरत (मुसकुराना) स्त्री में हो हो सकता है, कमिलनी में नहीं, श्रतः कमिलनी के बिज़ने (विकसन रूप धर्म) में स्मेरत्व का आरोप है। यही आरोप कमिली में नायिका की अवस्था का द्योतक है। इसके विना केवल 'निसर्गेत्यादि' विशेषण से नायिका के व्यवहार की प्रतीति होना श्रसम्भव है।

श्रीपन्यगर्रत्विमाते — श्रीपम्यगर्भत्व तीन प्रकार से हो सकता है। एक तो वह जर्म उपमा मध्य में आगई हो, दूसरा वह जहां क्रपक (समासोक्ति के ) मध्य में आगया हो और तीसरा कर करां हो और तीसरा वह जहां इन दोनों का सन्देहसंकर हो। प्रथम का उदाहरण 'दन्तप्रभापुष्पचिता पाणिपञ्जवशोभिनी। केशपाशालिवृन्देन सुवेषा हरियोज्ञणा॥'

अत्र सुवेषत्ववशात्मथमं दन्तमभाः पुष्पाणि नेत्युपमागर्भत्वेन समासः । अनन्तरं व दन्तमभासदृशेः पुष्पेश्चितत्यादिसमासान्तराश्रयेण समानिवशेषणमाहात्म्याद्धरिग्रेवणायां लताव्यवहारमतीतिः । रूपकर्गर्भत्वे यथा—'लावण्यमधुभिः पर्णं—'
ग्रिवणादि । संकरगर्भत्वे यथा—'दन्तमभापुष्प—' इत्यादि । 'सुवेषा' इत्यत्र 'परीता'
ग्रित पाठे द्युपमारूपकसाधकाभावात्संकरसमाश्रयणम् । समासान्तरं पूर्ववत् । समासात्रातमिहम्ना लतापतीतिः । एषु च येषां मते उपमासंकरयोरेकदेशिवतिता नास्ति
तन्मते आद्यतृतीययोः समासोकिः । द्वितीयस्तु पकार एकदेशिवतित्रस्पकविषय एव ।

दलेति— अनेति— 'चेष' का अर्थ है 'कृतिम आकार' अर्थात् वस्न भूषण आदि की रवना से उत्पन्न शोभा। परन्तु लता में गहने, कपड़ों का होना सम्मव नहीं, अतः 'सुवेषत्त्र' के कारण पहले यहां प्रधानतया नायिका की प्रतीति होती है और 'दन्तप्रसाः पृष्पिण इत्र' इस विग्रह में 'उपिनं व्याप्तादिमिः सामान्याप्रयोगें इस सूत्र से समास होता है एत्र 'फूलों के सहश जो दांनों की कान्ति उस से युक्न' यह अर्थ होता है। इसी प्रकार 'पाणिःपहन इत्र'—'केशपाशः अलिवृन्दिमिं 'इन विग्रहों में भी इक्त सूत्र से समास होकर—'पन्नव तुल्य हाथ से सुशोभित' और—'भ्रमरों के समान केशों से रमणीय' ये अर्थ होते हैं। इस समान से उपमा प्रतीत होती है। इसके अनन्तर विशेषणों का समानता के कारण मृगनयनी नायिका '(हिरिणेक्षणा) में लता के व्यवहार की प्रतीति होती है और लता के पन्न में उक्त विशेषणों का दूसरे विग्रह में समास होता है। यथा—दन्तप्रमास्हशैः पृष्पैः विता, पाणिसहशेन पक्षवेन शोमते तन्छीला, केशपाशसहशेन श्रिवृन्देन। यहां शाकपार्थिवादि मानकर समास और उत्तर पर का लोग करना पड़ेगा।

क्षक्रममें का उदाहरण—लावग्येत्यादि पूर्वोक्त पद्य। यहां 'लावग्यमेव मधूनि तैः'
लि विश्रह में समास हुआ है। 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' इस सूत्र से अथवा 'मयूरगंभनदयश्व' इस सूत्र से रूपक समास होता है। 'दन्ते'त्यादि पद्य में 'सुनेषा'
के स्थान पर 'परीता' पाठ कर देन से यह उदाहरण संकर का हो जायगा—
भौकि उपमा का साधक सुनेषत्व ही था, सो तो अब रहा नहीं, अतः उपमा
श्रीर रूपक इन दोनों का सन्देह रूप संकर होगा। यहां दूसरा समास पूर्ववत्

जानना। उसी से लता की प्रतीति होती है।

प्रचिति—जो लोग उपमालंकार और संकरालंकार का पकतेशविवर्ती होना विभागते हैं उनके मत में आद्य (दन्तप्रभेत्यादि) आर तृतीय (द्विषा के प्रान्त में परीता पढ़ने पर) भेद में समासोक्ति अलंकार है। परन्तु दूसरा भेद विवास परिता पढ़ने पर) भेद में समासोक्ति अलंकार है। परन्तु दूसरा भेद विवास परिता पढ़ने पर) भेद में समासोक्ति अलंकार है।

वात्पर्यं यह है कि इस उदाहरण में विकस्वरत्व रूप धर्म का मुख में बाध है, अतः कमलत्व का आरोप किये विना वाक्यार्थ ही नहीं बन सकता। अतः पर्यालोचने त्वाचे प्रकारे एकदेशविवर्तिन्युपमैवाङ्गीकर्तुमुचिता । अन्यथा-(ऐन्ह्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्धानाईनखत्तामम्। प्रमोदयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवरेभ्यधिकं चकार ॥'

इत्यत्र कथं शरदि नायिकाव्यवहारपतीतिः । नायिकापयोधरेणाईनखच्ताभशक-चापधारणासंभवात्। ननु 'त्र्यार्द्रनखन्तताभम्' इत्यत्र स्थितमप्युपमानत्वं वस्तुपर्योतो चनया ऐन्द्रे धनुषि संचारणीयम् । यथा-- 'दध्ना जुहोति' इत्यादौ हवंनस्यान्यथा-सिद्धेदिष्न संचार्यते विधिः । एवं चेन्द्रचापाभमार्द्रनखत्ततं दधानेति प्रतीतिभीविष्य-

लवणा से ही कमलत्व की प्रतीति हो जायगी। समासोक्ति तो तब हो जब व्यंजनावृत्ति से व्यवहार का आरोप प्रतीत होता हो।

पर्यालोचने - यदि विचार करके देखा जाय तो प्रथम प्रकार में भी एकदेश-विवर्तिनी उपमा ही माननी चाहिये। अन्यथा 'वेन्द्रम्' इत्यादि प्दा में नायिका के व्यवद्वार की प्रतीति न हो सकेगी। ऐन्द्रमिति-पाएडुवर्ण पयोधर (बादल या स्तन) पर नवीन नखत्तत के समान इन्द्र धनुष को धारण करती हुई और कलड़ी चन्द्रमाको प्रसन्न (प्रकाशित या सुखी ) करती हुई इस शरद् ने सूर्य के ताप (गरमी या दुःख) को अधिक बढ़ा दिया। यहां समासोक्ति नहीं हो सकती। समासोक्ति वहीं होती है जहां प्रस्तुत और अपस्तुत में विशेषण समान रूप से अन्वित होते हों। परन्तु इस पद्यमें शरद्का जो विशेषण है-'ऐन्द्रं धनुःद्धाना, यह नायिका में अन्वित नहीं हो सकता। कोई भी नायिका अपने पयोधर ं (स्तन) पर इन्द्रं धतुष को धारण नहीं कर सकती। फिर यदि एकदेश-विवर्तिनी उपमा नहीं मानोगे तो यहां शरद् में नायिका के व्यवहार की प्रतीति कैसे होगी? स्रतः एक देशविवर्तिनी उपमा माननी ही पड़ेगी। उसी के उदा हर्गमें दन्तप्रमेत्यादि पद्य भी आयेगा, अतः यहां भी पर्यात्तोचन करने से पकदेशविवर्तिनी उपमा ही सिद्ध होती है।

निविति—प्रश्न्—'अदम्घदहन' न्याय से अप्राप्त वस्तु की ही विधि होतीहै। जो वस्तु या बात और किसी प्रकार प्राप्त नहीं है उसी में विधिवान्य का तात्पर्य माना जाता है, अन्यत्र नहीं। 'दम्ना जुहोति' यह विधि वाक्य है। यहा विचारना यह है कि विधान कितने आंश में है। 'जुहोति' लेट् लकार रूप है अध्व लिङ् के अर्थ में लट् लकार का वैदिक प्रयोग है। इसका अर्थ है 'दहीं सेह्ल करना चाहिये'। इस में दो श्रंश हैं—एक साधन रूप दही श्रीर दूसरा साध रूप हवन । परन्तु हवन तो सामान्यः विधि से अन्यथाप्राप्त है 'सायं प्रतिनिहीं । जहोती का कार्या ख्रोति' इस वाक्य से साधारण हवन तो सिद्धही है, ग्रतः उसकी विधिनहीं हो सकती। इस कारण केवल दही की श्रीर उसमें भी विभक्त्यर्थ (साधनता) मात्र की विधि मानी जाती है। यद्यपि 'जुहोति' पद में लकार का अर्थ विधि है। यद्यपि 'जुहोति' पद में लकार का अर्थ विधि है। श्रीर वहः 'हु' धातु से सम्बद्ध है। उससे पृथक् नहीं किया जा सकता। तथापि वस ( सम्बद्ध है। उससे पृथक् नहीं किया जा सकता। तथापि उस (लकार) के अर्थ (विधि) का सम्बन्ध दिधि के साथ ही जिस प्रकार माना जाना के न - प्रकार माना जाता है उसी प्रकार प्रकृत एवं में भी युवपि 'बार्डनखड़ताम्य' प्रवर्धे CC-0 Mumukebu Phomosity प्रकृत एवं में भी युवपि 'बार्डनखड़ताम्य' प्रवर्धे

# तीतिचेत्, नं । एवंविधानिर्वाहे कष्टमृष्टिकल्पनादेकदेशविवत्युपमाङ्गीकारस्यैव

इपमावाचक 'श्रामा' पद का संमास है, तथापि नायिका के पत्त में योग्यता के श्रुवार उसका सम्बन्ध इन्द्रधनुष के साथ किया जा सकता है—इससे यह श्रुवं होगा कि 'इन्द्र धनुष के समान नखतत को स्तन पर घारण करती हुई'। इस प्रकार यह विशेषण प्रस्तुत श्रीर श्रप्रस्तुत में लग जायगा श्रीर इस पद्य में भी समासोक्ति के द्वारा ही शरद् में नायिका के व्यवहार की प्रतीति हो जायगी। इसके लिये एक देशविवर्तिनी उपमा मानने की कोई श्रावश्यकता नहीं।

इसका खएडन करते हैं — इतिचेत्र-एवंविधेति-इस प्रकार के स्थलों में जहां निर्वोद्द नहीं होता — ऐसी कप्र कल्पनाओं की अपेत्रा एकदेशविवर्तिनी उपमा मानना ही ठीक है।

वस्तुतः 'दन्ना हुहाति' के दृष्टान्त से 'ऐन्द्रं थतुः' इत्यादि पद्य का समर्थन नहीं किया जा सकता। 'अपूर्ववोध्यत्वं विधित्वम्' इस लज्ज के अनुसार जितने अंश में अपूर्ववीध्यत्व होता है उतने की ही विधि मानी जाती है। 'लोहितो-वांश ऋतिजः प्रचरन्ति दत्यादि विधि वाक्यों में यदि वाक्यान्तर से कोई वार्त प्राप्त न हो तो लोहित, उष्णीय और प्रचरण इन तीनों की विधि मानी जाती है। विद ऋत्विक्-प्रचरण अन्यतः सिद्ध हो तो लोहित और उच्छीप इन दो की विधि मानी जाती है और यदि उच्णीय भी किसी दूसरे वाक्य से विद्वित हो तो केवल लोहित वर्ण की विधि मानी जाती है। सारांश यह कि वाक्य में जितना अंश अपूर्ववोध्य होता है—जो किसी वाक्यान्तर से प्राप्त नहीं होता—उतने की ही विधि मानी जाती है। 'दब्ना उहाति' इस वाक्य में दिख-साधनक इवन का विधान है। इसमें इवन का विधान दूसरे वाक्य से प्राप्त होने के कारण अपूर्ववोध्य नहीं है, अतपव उसकी विधि नहीं हो सकती। द्धि सिद्ध पदार्थ है, अतः उसकी भी विधि नहीं हो सकती, परन्तु द्धि में जो सायनता है वह किसी अन्य प्रकार से प्राप्त नहीं है. अतः उतने ही श्रंश की विधि मानी जाती है। इससे इतना ही सिद्ध होता है कि विधायक वाक्य का जितना अंश अपूर्व होता है उसी में विश्वि पर्यवृक्षित होती है. किंतु इससे यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि चाहें जिस समासयुक्त पद के वाह जिस अंश को समास से निकालकर चाह जिस असम्बद्ध पद के साथ बोड़ा जा सकता है। 'ऐन्द्रं बतुः' इत्यादि प्रद्यमें न तो कोई विधि है और न कीर अपूर्ववोध्यत्व का ही प्रकरण हैं। फिर यहां समास के अन्तर्गत 'आमा' शब्द को 'श्राद्रेनखर्वतामम्' में से निकालकर 'ऐन्द्रं धतुः' के साथ कैसे जोड़ा जा विकता है ? इसके अतिरिक्त 'ऐन्द्रम्' के अण् प्रत्यय को जबतक निकाल न राता जाय और इन्द्र तथा घरुष् शब्द को विमिक्तियां बदल कर उनके साथ शामा शब्द का समास न कर दिया जाय तब तक इन्द्रधतः महरा नद्रवतम् यह शर्य हो ही नहीं सकता। परन्तु इतना सब प्रपश्च न तो 'दना बुहोति' के सहश क्षा जा सकता। परन्तु इतना सब अपन्य पर कोई ऐसा नियम बनायां जा 

ज्यायस्त्वात् । अस्तु वात्र यथाकथंचित्समासोक्तिः 'नेत्रेरिवोत्पलैः पद्मैः-' इत्यादौ चान्यगत्यसंभवात् । किं चोपमायां व्यवहारमतीतेरभावात्कथं तदुपजीविकायाः समासोक्तेः प्रवेशः । यदाहुः—

'व्यवहारोऽथवा तत्त्वमौपम्ये यत्प्रतीयते । तन्त्रीपम्यं समासोक्तिरेकदेशोपमा स्फुटा॥

एवं चोपमारूपकयोरेकदेशविवर्तिताङ्गीकारे तन्मूलसंकरेऽपि समासोक्तरपत्रेशो न्यायसिद्ध एव। तेनौपम्यगर्भविशेषगाोत्थापितत्वं नास्या विषय इति । विशेषग्रसाम्ये रिलष्ट्रविशेषणोत्थापिता साधारणविशेषणोत्थापिता चेति द्विधा।कार्यलिङ्गयोस्तल्यले च द्विविधेति चतुःप्रकारा समासोिकः । सर्वत्रैवात्र व्यवहारसमारोपः कारणम्।सच कचिल्लौकिके वस्तुनि लौकिकवस्तुव्यवहारसमारोपः । शास्त्रीये वस्तुनि शास्त्रीयवस्तु-व्यवहारसमारोपः । लौकिकेवा शास्त्रीयवस्तुव्यवहारसमारोपः।शास्त्रीयेवा लौकिक-वस्तुव्यवहारसमारोप इति चतुर्धा । तत्र लौकिकवस्त्वपि रसादिभेदादनेकविषम्।

अलंकारसर्वस्वकार ने दन्ना जुहोति की पूर्वोक्ष प्रक्रिया के अनुसार ऐन्द्रं धः में उपमानु गाणित समासोक्ति मानी है श्रोर नेत्रेरिवोत्पत्तैः इत्यादि पद्य में अगत्या एकदेशिववर्तिनी उपमा पानी है। इनमें से प्रथम श्रंश में अविच दिखा कर दूसरे को अपने मत का उपष्टम्भक सिद्ध करते हैं — अस्तुवाऽत्रेति - अथवा इस पद्य में जैसे-तैसे समासोक्ति मान-भी लो—तथापि 'नेत्रेः' इत्यादि उक्त पद्य में तो विना उपमा माने काम चल ही नहीं सकता। सरसी में केवल कमल हैं और नायिका में नेत्र। दोनों दोनों में अन्वित नहीं।

िकिवेति—इसके अतिरिक्त उपमा में साहश्य की ही प्रतीति होती है-व्यवहार की नहीं - फिर व्यवहार मात्र की प्रतीति में होनेवाली समासोक्ति उपमा में कैसे हो सकेगी ? यही कहा है व्यवहार इति — उपमा में जो व्यवहार या स्वका की प्रतीति होती है उसे समासोक्षि मत समभना। वह तो स्पष्ट एक

देशोपमा अर्थात् एकदेशविवर्तिनी उपमा है।

एवंचेति—इसी प्रकार जब उपमा और रूपक इन दोनों में एकदेशिवविति सिद्ध हो गया तो तन्मूलक संकरालंकार में भी समासोक्षिका अप्रवेश उर्वित ही है। तेनेति—इससे यह सिद्ध है कि श्रीपम्यगर्भ विशेषणों से समासीकि नहीं होती। शिलप्ट और साधारण विशेषणों की समानता में दी प्रकार की श्रीर कार्य तथा लिङ्ग की समानता में दो प्रकार की समासीकि होती है। इस प्रकार चार भेद्•कहे हैं। सर्वत्रेति—इन सब भेदों में व्यवहार का ब्रारीप ही हैं। अलंकार का प्रयोजक (कारण) है। कहीं तो किसी लौकिक वर्सी है। दूसरा लौकिक वस्तु के ही व्यवहार का आरोप होता है और कहीं शासीय वस्त में शास्त्रीय वस्तु में शास्त्रीय वस्त्वन्तर के व्यवहार का आरोप होता है। एवं कहीं होकित में शास्त्रीय के जीर करें में शास्त्रीय के और कहीं शास्त्रीय में लौकिक वस्तु के व्यवहार की श्रीति। है। ये चार प्रस्ति के क्षेत्र के क्ष होता है। ये जाता कहा शास्त्रीय में लौकिक वस्तु के व्यवहार का स्विते हैं।

शासीयमपि तर्कायुर्वेदज्योतिःशास्त्रपसिद्धतयेति वहुमकारा समासोक्तिः । दिङ्मात्रं वया— 'व्याधूय यद्वसनं—'इत्यादौ लौकिके वस्तुनि लौकिकस्य हठकामुकव्यव-हारादेः समारोपः ।

'यैरेकरूपमखिलास्त्रपि वृत्तिषु त्वां पश्यद्भिरव्ययमसंख्यतया प्रवृत्तम् । लोप: कृत: किल परत्वजुषो विभक्ते-स्तैर्लच्यां तव कृतं घ्रुवमेव मन्ये ॥'

अत्रागमशास्त्रप्रसिद्धे वस्तुनि व्याकरणप्रसिद्धवस्तुव्यवहारसमारोपः । एवमन्यत्रं ।

ब्रनेक प्रकार की है। श्रीर शास्त्रीय भी तर्क, श्रायुर्वेद, ज्योतिःशास्त्रादि में प्रसिद्ध अनेक प्रकार की होती है, अतः समासोक्ति भी बहुत प्रकार की होती है। व्याध्य-इत्यादि में लौकिक वस्तु (वायु) में लौकिक इठ कामुक के व्यव-हार का आरोप है। शास्त्रीय वस्तु में शास्त्रीय व्यवहार के आरोप का उदाह-रण-वैतिति - अव्यय ब्रह्म की स्तुति है - हे भगवन्, जिन लोगों ने सम्पूर्ण 'वृत्तियों'=ग्रन्तःकरण के परिणामों यद्वा स्त्री, पुरुष, नपुंसको ग्रथवा स्त्रीलिङ्ग, पुंतिङ्ग, नपुंसक लिङ्गों में एक रूप रहनेवाले 'अव्यय' = विकाररिहत और 'त्रसंख्यता' = त्रानेकरूपता या एकत्वद्वित्वादिबोधन के राहित्य से प्रवृत्त आपको देखते हुए आपसे परे की 'विमिक्त' = कता या सु, औ, जस आदि का 'लोप' = अर्स्वाकार या अदर्शन कर दिया है उन्होंने निश्चय ही आपका 'बच्चण' = स्वरूप जान लिया है।

श्रवेति—इस पद्य में विशेषणों की समानता के कारण प्रस्तुत ईश्वर में अपस्तुत अन्यय के व्यवहार का आरोप होता है। ये दोनों शास्त्रीय हैं, अतः शास्त्रीय वस्तु में शास्त्रीय वस्तु का आरोप है। वेदान्त और योगशास्त्र में यह वात प्रसिद्ध है कि ब्रह्म या चैतन्य सब वृत्तियों में एकसा रहता है। श्रंतः करण में राग, द्रेष, काम, क्रोध ग्रादिक चाहे कोई विकार ( वृत्ति ) होता रहे, ग्रात्मा में कोई विकार नहीं आता-क्योंकि वह अपरिणामी है, अपतिसंकम है, शुद्ध है, निर्विकार है। अथवा स्त्री, पुरुष, नपुंसक चाहे किसी का शरीर हो ब्रह्म सव में एक रूप ही रहता है। ब्याकरण-प्रसिद्ध श्रव्यय भी स्त्रीलिक, पंत्लिक बीर नपुंसकलिङ्गों में एकरूप रहता है—'सहशं त्रिष्ठ लिङ्गेष्ठ'। ब्रह्म भी व्यय अर्थात् विकार से रहित है अर्थात् उसमें काई परिणाम नहीं होता । और च, वा, ह शादिक अन्ययों में भी विकार अर्थात् आदेश नहीं होता । पवम् ब्रह्म म्रसंख्य वस्तुत्रों में—संसार की सभी वस्तुत्रों में -विद्यमान है— 'रूपंरूपं भविस्यो नम्ब'—श्रोर श्रव्यय 'श्रासंख्य' श्रार्थात् एकवंचन द्विवचन श्रादि संख्या वे रहित है। वह किसी विशेष संस्था का बोधन नहीं करता—वचनेषु च सर्वेषु अवयेति तदन्ययम्'। ब्रह्म के आगे कोई विसक्ति (विभाग) नहीं अर्थात् ब्रह्म से प्रमाण काह्य के आग काह्य परागतिः' और अध्यय के आगे सी CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रूपकेऽपकृतमात्मस्वरूपसंनिवेशेन पकृतस्य रूपमवच्छादयति । इह तु स्वावस्थासमा-रोपेगानवच्छादितस्वरूपमेव तं पूर्वावस्थातो विशेषयति। अत एवात्र व्यवहारसमारोपो न तु स्वरूपसमारोप इत्याहुः । उपमाध्वनौ रलेषे च विशेष्यस्यापि साम्यम्, इह तु विशेषगामात्रस्य । अप्रस्तुतपशंसायां प्रस्तुतस्य गम्यत्वम्, इह त्वप्रस्तुतस्येति भेदः।

उक्तैविशेषणैः साभिपांयैः परिकरो मतः॥ ५७॥

यथा-'अङ्गराज सेनापते द्रोग्गोपहासिन् कर्गा, रचैनं भीमादुःशासनम्।' श्चन्द्रैः स्वभावादेकार्थैः रलेषोऽनेकार्थवाचनम्।

'स्वभावादेकार्थैः' इति शब्दरलेषाद् व्यवच्छेदः । 'वाचनम्' इति च ध्वनेः।

उदाहरणम्-

'प्रवर्तयन्त्रियाः साध्वीर्मालिन्यं हरितां हरन्। महसा भूयसा दीप्तो विराजित विभाकरः ॥'

कोई विमक्ति सु त्रादिक नहीं रहती सब का लोप हो जाता है —'सर्वास च विमितिसुं। इस प्रकार विशेषणों के द्वारा शास्त्रप्रसिद्ध ब्रह्म में शास्त्रान्तरप्रसिद्ध अव्यय के व्यवहार का आरोप होता है। इसी प्रकार और उदाहरण जानना।

दूसरे अलंकारों से समासोक्ति का भेद दिखाते हैं। रूपके इति — रूपक में अप्रकृत वस्तु अपने स्वरूप से प्रकृत के स्वरूप को आव्छादित कर लेती है ं परन्तु यहां अप्रकृत वस्तु प्रकृत वस्तु के स्वरूप का आच्छाद्न विना कियेही उसे पहली अवस्था से अधिक उत्कृष्ट बना देती है। इसी कारण 'यहां अव हार का आरोप होता है, स्वरूप का नहीं - यह पूर्वाचार्य कहते हैं। व्यक्ष्यी पमा और श्लेष में विशेष्य की भी तुल्यता रहती है, किन्तु यहां केवल विशेषण ही समान होते हैं। अपस्तुतप्रशंसा में प्रस्तुत व्यङ्गय रहता है और यहाँ अपस्तुत व्यङ्गय रहता है। यही इनका भेद है।

अथ परिकरः —उक्तेरिति —कहे हुए विशेषण यदि विशेष अभिप्राय का बोधन करते हों तो परिकरालंकार होता है। जैसे - प्रक्राजित्यादि - ग्रापने को छोड़ कर कर्ण को सेनापित बना देने से कुद्ध, अश्वत्थामा की 'वेणीसंहार' नाटक में भीमसेन से बाकान्त दुःशासन का बार्तनाद सुन कर यह उक्ति है। कर्ष से पहले द्रोणाचार्य सेनापित थे। उनके-निःशस्त्र मारे जाने का कर्ण ने उपहास किया था। इत विशेषणों से कर्ण की उन्नतपद्प्राप्ति की श्रयोग्यता श्रीर कार्य ्तमता व्यक्तित होती है। 🖂 💢 🥍 🗀

रलेषः —शब्दीरिति – स्वमाव से एकार्थक शब्दों के द्वारा अनेक अर्थों के अभि भान करने को श्लेष कहते हैं। शब्द श्लेष से हुटाने के लिये 'स्वमाव से एकार्क कहा है। प्रवेद स्वमाव से एकार्क के कहा है। श्लेषध्वित से व्यावृत्ति करने के लिये 'वाचन' पद कहा है। श्रीरं धान होता चाहिये, व्यञ्जन नहीं । उद्दाहरण —प्रवर्तयिविति — अञ्ची किया हो (अपिक करवाँ) को प्रवृत्त कराते हुए, दिशाश्ची करिमितिततं को इस्ति CC-0. Mumukshi Bhawan Varancei Call करिमितिततं को

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अत्र प्रकरणादिनियमाभावाद् द्वाविप राजसूर्यो वाच्यौ ।

किचिद्रिशेषः सामान्यात्सामान्यं वा विशेषतः॥ ५८॥ कार्यान्निमित्तं कार्यं च हेतोरथ समात्समम्। अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद्गम्यते पश्चषा ततः॥ ५६॥ अप्रस्तुत्रप्रशंसा स्याद्

क्रमेणोदाहरणम्-

'पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमिधरोहति ।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः ॥'
अत्रास्मदेपेक्तया रजोऽपि वरमिति विशेषे प्रस्तुते सामान्यमिमिहितम् ।
'स्रगियं यदि जीवितापहा द्वदये किं निहिता न हन्ति माम्।
विषमप्यमृतं कि जिद्धवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छ्रया ॥'
अत्रेश्वरेच्छ्रया कि चिद्ववितकारिखोऽपि हितकारिखं हितकारिखोऽप्यहितकारिख-

हुए, बड़े तेज से दीप्त यह विभाकर (सूर्य या विभाकर नामक राजा) सुशोभित हैं। प्रकरणादि का नियन्त्रण न होने के कारण यहां राजा और सूर्य दोनों बाच्य हैं।

अपस्तुत प्रशंसा—कचिदिति—१ अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष जहां व्यक्त्य होता हो अथवा २ अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य स्चित होता हो यहा ३ अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कार्य द्येतित होता हो किंवा ४ अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कार्य व्यक्षित होता हो या ४ अप्रस्तुत समान वस्तु से प्रस्तुत किसी समान वस्तु का व्यक्षन होता हो तो यह पांच प्रकार की अप्रस्तुत किसी समान वस्तु का व्यक्षन होता हो तो यह पांच प्रकार की अप्रस्तुत क्यांसा होती है। क्रम से उदाहरण—पादिति—श्रीकृष्ण के प्रति बलभद्र की उक्ति है—अपना अपमान होने पर भी चुप बैठे रहनेवाले मनुष्यों से तो वह धूल भी अच्छी है जो ठोकर लगने पर ठोकर मारनेवाले के सिर पर पहुँचती है। अत्रेति—शिशुपाल के अपमानों को सहन करनेवाले हम लोगों की अपेता धूल भी अच्छी है यह विशेष यहां प्रस्तुत है। परन्तु सामान्य (देही) का अभिधान किया है। उससे उक्न विशेष गम्य है।

खिगिति—इन्दुमती के प्राग्णान्त होने पर अज का विलाप है। यदि यह माला प्राग्णहारिणी है तो हृद्य पर रक्खी हुई मेरे प्राणों को क्यों नहीं हरती है रिवर की इच्छा से कहीं विष भी अमृत हो जाता है और कहीं अमृत भी विष हो जाता है। अनेति—'ईश्वर की इच्छा से कहीं अहित करनेवाले भी हितकारी हो जाते हैं और कहीं हितकारी भी अहित करने लगते हैं' यह सामान्य यहां मस्तुत है—परन्तु विशेष (जिष और अमृत) का अभिधान किया है। उससे

मिति सामान्ये प्रस्तुते विशेषोऽभिहितः। एवं चाऽत्रापस्तुतपशंसामूलोऽर्थान्तरन्यासः। दृष्टान्ते प्रख्यातमेत्र वस्तु प्रतिविम्वत्वेनोपादीयते । इह तु विषामृतयोरमृतविषीमाव-स्यापसिद्धेर्न तस्य सद्भावः।

'इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन जडिता दृष्टिमु'गीसामिव प्रम्लानारुगिमेव विद्रुमदलं श्यामेव हेमप्रभा। कार्करयं कलया च कोकिलवधूकएठेष्विव पस्तुतं सीतायाः पुरतरच हन्त शिखिनां वहीः सगही इव॥'

अत्र संभाव्यमानेभ्य इन्द्रादिगताञ्जनलिप्तत्वादिभ्यः कार्यभ्यो वदनादिगतसौन्दर्य-विशेषरूपं पस्तुतं कारणं प्रतीयते ।

'गच्छामीति मयोक्तया मृगदशा निश्वासमुद्रेकिएां त्यक्त्वा तिर्यगवेदय वाष्पकलुषेशोकेन मां चच्छा। प्रेम मदर्पितं प्रियसखीवृन्दे त्वया बध्यता-मित्थं स्नेहिवविधितो मृगशिशुः सोत्पासमाभाषितः॥ अत्र कस्यचिदगमनरूपे कार्ये कारणमिहितम् । तुल्ये पस्तुते तुल्याभिधाने च

सामान्य व्यक्तच है। एवंचेति -इस प्रकार यहां अप्रस्तुतप्रशंसाम् लक अर्थान्तर-' न्यास है। दृष्टान्तालंकार में प्रसिद्ध वस्तु ही प्रतिबिम्ब रूप से गृहीत होती है। किन्तु विष का अमृत और अमृत का विष होना प्रसिद्ध नहीं, ग्रतः यहां द्यान्तालंकार नहीं है।

इन्दुरिति — सीता के आगे चन्द्रमा काजल से पोता हुआ सा प्रतीत होता है श्रीर हिरनियों के नेत्र जड़ीभूत से जचते हैं। मूंगे की लालिमा मिलन सी लगती है और सोने की कान्ति काली सी दीखती है। को किलों के गले में कर्क शता प्रतीत होती है और मयूरों के पिच्छ भी निकम्मे से मालूम होते हैं। अनेति—यहां चन्द्रमा आदिकों में अक्षनलेपादि की सम्भावना की गई है। उस श्रुजनतेपादिक श्रमस्तुत कार्य से सीता के मुख, नेत्र, श्रोष्ठ, श्ररीर, कार्य श्रीर केशपाश की श्रतिशयित शोभारूप प्रस्तुत कारण प्रतीत होता है।

गच्छामीति—'मैं जाता हूँ' यह कहने पर, उस मृगनयनी ने 'उद्रेकी' प्रशीत् लम्बा निश्वास छोड़कर और भ्रांसूमरे तिरछे नेत्र से मुक्ते देखकर प्रेम से पाते हुए मृगड़ीने से कुछ मुसकुराते हुए यह कहा कि तूने जो प्रेम मुभसे कर रक्षा है उसे अब मेरी प्रियं सिखयों में अर्पण कर। अत्रिति—िकसी ने अपने मित्र से पूर्व कि तुम तो जानेवाले थे, गर्थ नहीं ? तब उसने उक्त इलोक कहा। नाथिका की मरणस्चक उक्ति नायक के न जाने का कारण है। उसके श्रिधान से प्रस्तुत कार्य (न जाना ) व्यंग्य है।

द्वरथे इति—तुल्य के प्रस्तुत होने पर तुल्य के श्रिमधान में दो प्रकार होते हैं-CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

द्विधा, रलेषमूला सादरयमात्रमूला च। रलेषमूलापि समासोक्तिवद्विशेषणमात्ररलेषे, रलेषवद्विशेष्यस्यापि रलेषे भवतीति द्विधा। क्रमेण यथा —

'सहकारः सदामोदो वसन्तश्रीसमन्त्रितः। समुङ्ज्वलरुचिः श्रीमान्पमूतोत्कलिकाकुलः॥'

अत्र विशेषग्रमात्रश्लेषवशादमस्तुतात्सहकारात्कस्यचित्मस्तुतस्य नायकस्य प्रतीतिः।

'पुंस्त्वादिप प्रविचलेबदि यद्यधोऽपि यायाबदि प्रग्रायने न महानिप स्यात्। श्रम्युद्धरेत्तदिप विश्वमितीदृशीयं केनापि दिक् प्कटिता पुरुषोत्तमेन॥'

अत्र पुरुषोत्तमपदेन विशेष्येणापि रिलष्टेन पचुरप्रसिद्धचा प्रथमं विष्णुरेव वोध्यते। तेन वर्णनीयः करिचत्पुरुषः प्रतीयते ।

साद्द्रयमात्रमूला यथा--

'एकः कपोतपोतः शतशः रयेनाः चुधाभिधावन्ति ।

पक श्लेषम् लक दूसरा साहश्यमात्रम् लक । श्लेषम् लक भी समासोक्ति की मांति केवल विशेषणों के श्लिष्ट होने पर भी होता है और श्लेष की तरह विशेषण तथा विशेष्य सबके शिलप्ट होने पर भी होता है। जैसे—सहकार इति—सदा आमोद (सुगन्ध) से युक्त अथवा सदा मोद (आनन्द) से युक्त, वसन्त की श्री (शोमा या वेष) से भूषित, उड्डवल कान्तिवाला या श्टक्नार में विच रखनेविला, बहुत उत्कलिकाओं (किलयों या उत्कर्णओं) से पूर्ण सुशोमित आम का पेड़ होता है। यहां केवल विशेषणों के श्लेष से अपस्तुत आम के द्वारा मस्तुत अनुरागी नायक की प्रतीति होती है।

पुंस्लादिति—चाहे पुरुषत्व (वीरता या पुरुष का स्वरूप) छोड़ना पड़े, और चाहे नीचे (पाताल में या नीचे स्थान पर) जाना पड़े और चाहे प्रणयन (आकार या प्रतिष्ठा) में बड़ाई न भी मिले तो भी संसार का उद्धार करना चाहिये। यह मार्ग किसी (अलौकिक) पुरुषोत्तम (मोहिनी रूप, वाराह रूप और वामन रूप विष्णु अथवा पुरुषोत्तम नामक किसी राजा) ने प्रकट कर दिया है। यहां विशेष्य 'पुरुषोत्तम' भी शिलष्ट है। परन्तु अधिक असिद्धि के कारण पहले विष्णु का ही बोध होता है। अनन्तर प्रस्तुत (राजा) की प्रतीति अक्षना से होती है।

साहश्यमात्रमुलक् अपस्तुत्व प्रशंस्य का उत्तहर्या—'एक इति'—अकेला कवृतर

अम्बरमावृतिशून्यं हरहर शरणं विधेः करुणा ॥१ अत्र कपोतादमस्तुताःकश्चित्मस्तुतः प्रतीयते । इयं च कचिद्रैधर्म्येणापि भवति।

'धन्याः खलु वने वाताः कह्णारस्पर्शशीतलाः । राममिन्दीवरश्यामं ये स्पृशन्त्यनिवारिताः ॥'

अत्र वाता धन्या अहमधन्य इति वैधर्म्येण पस्तुतः पतीयते । वाच्यस्य संभवा-संभवोभयरूपतया त्रिपकारेयम् । तत्र संभवे उक्तोदाहरणान्येव ।

श्रमंभवे यथा-

'कोकिलोऽइं भवान्काकः समानः कालिमात्रयोः । अन्तरं कथयिष्यन्ति काकलीकोविदाः पुनः॥'

अत्र काककोकिलयोर्वाकोवाक्यं प्रस्तुताध्यारोपणं विनाऽसंभवि। उभयरूपत्वे यथा-

'अन्तरिस्त्रद्राणि भूयांसि कण्टका बह्वो बहिः। कथं कमलनालस्य माभूवन्भङ्गरा गुणाः॥'

अत्र प्रस्तुतस्य कस्यचिद्ध्यारोपणं विना कमलनालान्तरिस्तृदाणां गुणमङ्ग्री-

का बचा है ! श्रीर सैकड़ों भूखे वाज़ उसके ऊपर दूर रहे हैं !! श्राकाश में कहीं छिपने का स्थान ( श्रावृति ) नहीं !!! शिव, शिव, ईश्वर की कृपा का ही भरोसा है । अनेति—यहां श्रप्रस्तुत कबूतर से कोई विपत्तिग्रस्त प्रस्तुत पुरुष प्रतीत होता है ।

अतात काता है। इस्ति है। जैसे—अन्या इति—कमलों के स्पर्श हे स्विति विद्या है। जैसे—अन्या इति—कमलों के स्पर्श से शीतल वन के वायु धन्य हैं जो विना रोक टोक के नील कमल सम स्थाम श्रीरीमचन्द्र का स्पश करने पाते हैं। यह अरत की उक्ति है। अत्रेति—यहां 'वायु धन्य है, परन्तु में अधन्य हूं, 'इस प्रकार वैधम्य से प्रस्तुत की प्रतीति होती है।

वाच्यस्येति—इसमें वाच्यार्थं कहीं सम्भवी होता है कहीं असम्भवी और कहीं दोनों प्रकार का-इस लिये यह तीन प्रकार की होती हैं। उनमें सम्भव के उदाहरण तो उक्त ही हैं। असम्भव का जैसे—के किल इति—में को किल हं—तुम की आ हो—कालापन दोनों में समान है, परन्तु मुभमें और तुममें भेद क्या है—यह बात वे ही बतलायेंगे जो प्रधुर स्वर के परी सक हैं। इसमें जब तक किन्हीं प्रस्तुत पुरुषों के स्वरूप की प्रतीति न हो तब तक केवल को किल और की वे के प्रश्नोत्तर रूप में इस पद्य का ज्ञान होना सम्भव नहीं। को किल और की वे इस प्रकार श्लोकों में प्रश्नोत्तर नहीं कर सकते।

कारित आर कार्य इस प्रकार श्लोको में प्रश्नोत्तर नहीं कर सकत । उभयक्षप का छदाहरण—अन्तिति—भीतर तो छेद भरे हैं और अपर कार्य की बाद खड़ी है। फिर कमृत्तनात्त के गुण भंगुर क्यों न हों ? अत्रेति—यहां जब की बाद खड़ी है। फिर कमृत्तनात्त के गुण भंगुर क्यों न हों ? अत्रेति—यहां जब की किसी प्रस्तुत पुरुप के स्वरूप का ज्ञान न हो तय तक कमलद एड के भीतरी तक किसी प्रस्तुत पुरुप के स्वरूप का ज्ञान न हो तय तक कमलद एड के भीतरी छेदों का उसके गुणों (तन्तुओं) के तोड़ने में कारण होना सम्भव नहीं। छेदों का उसके गुणों (तन्तुओं) के तोड़ने में कारण वान सकती है, अतः अन्येषातिति—तन्तुओं के तोड़ने में कांटों की कारणता बन सकती है, अतः यह एभयक्ष वाच्यार्थ की यहां एक वाच्या असरमञ्जा हो दस्ता सम्भवी भीतिति—तन्तुओं के तोड़ने में कांटों की कारणता बन सकती है।

कारों हेतुत्वमसंभवि । अन्येषां तु संभवीत्युभयरूपत्वम् । अस्यारच समासोक्तिवद् व्यवहारसमारोपप्रागात्वाच्छव्दशिक्तमूलाद्वस्तुव्यनेर्भेदः । उपमाध्वनावपस्तुतस्य व्यक्तवस् । एवं समासोक्तौ । रलेषे द्वयोरिप वाच्यत्वम् ।

उक्ता व्याजस्तुतिः पुनः। निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्द्योः॥ ६०॥ निन्दया स्तुतेर्गम्यत्वे व्याजेन स्तुतिरिति व्युत्पत्त्या व्याजस्तुतिः। स्तुत्या निन्दाया गम्यत्वे व्याजरूपा स्तुतिः। क्रमेण यथा—

> 'स्तनयुगमुक्ताभरणाः कएटककलिताङ्गयष्टयो देव । त्वयि कुपितेऽपि मागिव विश्वस्ता द्विट्स्नियो जाताः॥'

इदं मम ।

'व्याजस्तुतिस्तव पयोद मयोदितेयं यज्जीवनाय जगतस्तव जीवनानि ।

उदाहरण है। पुरुष के पत्त में छिद्र का अर्थ दोष है, कराटक का क्षुद्र पुरुष और गुण का अर्थ द्या, दािक्रियादि है। अस्यार्विति—समासोक्ति की तरह यहां व्यवहार का आरोप आवश्यक है, अतप्य शब्दशक्तिम्लकवस्तुष्विति से इसका भेद है। उसमें आरोप नहीं होता। उपमाध्वित में अपस्तुत व्यक्त्य रहता है, परन्तु यहां वाच्य रहता है। इसी प्रकार समासोक्ति में भी अपस्तुत व्यक्तय रहता है। अतः इनसे अपस्तुतप्रशंसा भिन्न है। श्लेष में दोनी (प्रस्तुताप्रस्तुत) वाच्य रहते हैं, यहां नहीं।

अथ ब्याजस्तृति — उक्केति — वाच्य निन्दा से स्तृति के व्यङ्गय होने पर और वाच्य स्तृति से निन्दा के व्यङ्गय होने पर व्याजस्तृति अलंकार होता है। निन्दोति — व्याजस्तृति पद के दो अर्थ हैं पक 'व्याजन स्तृति' निन्दा के बहाने स्तृति — व्याजस्तृति पद के दो अर्थ हैं पक 'व्याजन स्तृति' निन्दा के बहाने स्तृति करना और दूसरा 'व्याजस्पा स्तृति' स्तृति का बहानामात्र। जहां निन्दा से स्तृति व्यङ्गय होती है वहां पहला अर्थ जानना और जहां स्तृति से निन्दा व्यङ्गय होती है वहां दूसरा अर्थ समक्षना। कम से उदाहरण—स्तृति — हे राजन, जुम्हारे कुपित होने पर भी शत्रुओं की क्षियां पहले ही की मांति विश्वस्त हैं। उनके स्तन्युग पहले मुक्कामरण (मोतियों के आमरणों से युक्त) थे और अब भी 'मुक्कामरण' (आमरणमुक्क=भूषणरिहत) हैं। पहले उनके अङ्ग 'क्राटककिलत' (रित से रोमाअयुक्क) थे और अब भी 'क्राटककिलत' (विश्ववा='विश्वस्त (विश्ववा समे इत्यमरः') हैं। यहां पहले वो शत्रुओं का कुछ न बिगाड़ सकने के कारण निन्दा प्रतीत होती है, परन्तु वो शत्रुओं का कुछ न बिगाड़ सकने के कारण निन्दा प्रतीत होती है, परन्तु वो शत्रुओं का कुछ न बिगाड़ सकने के कारण निन्दा प्रतीत होती है, परन्तु अस्त्य में शत्रुजाशकता से स्तृति व्यक्क होती है। यह श्लेषमुक्क उदाहरण है। अन्त्य में शत्रुजाशकता से स्तृति व्यक्क होती है। यह श्लेषमुक्क उदाहरण है। अन्त्य में शत्रुजाशकता से स्तृति व्यक्क होती है। यह श्लेषमुक्क उदाहरण है।

स्तोत्रं तु ते महदिदं घन, धर्मराज-साहाय्यमर्जयसि यत् पथिकानिहत्य॥'

पर्यायोक्तं यदा अङ्गया गम्यमेवाभिधीयते।

उदाहरग्गम्-

'स्पृष्टास्ता नन्दने शच्याः केशसंभोगलालिताः। सावज्ञं पारिजातस्य मञ्जर्यो यस्य सैनिकै: ॥'

अत्र हयप्रीवेशा स्वर्गो विजित इति पस्तुतमेव गम्यं कारणं वैचित्र्यविशेषपति-पत्तये सैन्यस्य पारिजातमञ्जरीसावज्ञस्पर्शनरूपकार्यद्वारे साभिहितम् । न चेदं कार्या-त्कारगपतीतिरूपापस्तुतपशंसा। तत्र कार्यस्यापस्तुतत्वात्। इह तुवर्णनीयस्य प्रभावा-तिशयबोधकत्वेन कार्यमपि कारणवत्मस्तुतम् । एवं च---

> 'अनेन पर्यासयताश्रुबिन्दून्मुक्ताफलस्थूलतमान्स्तनेषु । प्रत्यर्पिताः शत्रुविलासिनीनामाच्येपसूत्रेण विनैव हाराः॥'

अत्र वर्णनीयस्य राज्ञो गम्यभूतशत्रुमारगारूपकारगावत्कार्यभूतं तथाविधशत्रुकी-क्रन्दनजलमपि प्रमावातिशयबोधकत्वेन वर्णनार्हिमिति पर्यायोक्तमेव ।

तो मैंने तुम्हारी व्याजस्तुति की है। हे घन, (कटोर) तुम्हारी वास्तिविक श्रीर सबसे बड़ी स्तुति तो यह है कि तुम पथिकों को मारकर धर्मराज (यमराज) की सहायता करते हो। यहां स्तुति के बहाने निन्दा की है।

पर्यायेति - यदि दूसरे रूप में, व्यङ्गय बात को ही अभिधा से कह दिया जाय तो पर्यायोक्त अलंकार होता है। जैसे—स्पृष्टा इति—नन्दन वन में इन्द्राणी के केशों को अलंकत करने के लिये सुरिचत वे पारिजात की मक्षरियां जिस (हयप्रीवासुर) के सिपाहियों ने अनाद्रपूर्वक खसोटीं । यत्रेति—यहां हय-प्रीव का स्वर्ग-विजयरूप प्रस्तुत कारण व्यक्तय है। विचित्रता के लिये, सेना के द्वारा अवज्ञापूर्वक पारिजात की मखरियों के स्पर्शक्षप कार्य के द्वारा उसी का यहां कथन किया है। विजय होने पर ही किसी के बाग की मझरियों की शत्रु के सैनिक तोड़ सकते हैं, श्रतः जब मञ्जरी-मोटन का वर्णन है तो उसका कारण विजय भी व्यक्त हो ही जाता है। वही यहां प्रकृत है।

प्रश्न-इस पर्यायोक्त में कार्य से कारण प्रतीत होता है और अपस्तुत प्रशंसा के एक मेद् में भी कार्य से कारण की प्रतीति हुआ करती है—िकर इसे उसी के अन्तर्गत क्यों न माना जाय ? उत्तर—नवेदमिति—यह कार्य से कारण प्रतीति कप् अपस्तुत प्रशंसा नहीं है। उसमें कार्य प्रस्तुत नहीं हुआ करता—िकन्तु यहां (पर्यायोक्त में ) वर्णनीय (हयप्रीव) का प्रभावातिशय बोधन करने के कारण विजय रूप कारण की भांति मझरीस्पर्शरूप कार्य भी प्रस्तुत है। इसी प्रकार — अनेनेति — मोतियों के समान मोटे मोटे रिषुनारियों के आंसुओं को उनके स्तनों पर बरसानेवाले इस राजा ने उनको सूत्र के विना ही मुक्ताहार दिये हैं अत्रेति—यहां प्रकृत राजा के शत्रुमारणुक्ष कार्य CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'राजनराजसुता न पाठंयति मां देन्योऽपि तूण्णीं स्थिताः— कुन्जे भोजय मां, कुमार, सचिवैर्नाद्यापि किं भुज्यते । इत्थं राजशुकस्तवारिभवने मुक्तोऽध्वगैः पञ्जरा-चित्रस्थानवलोक्य शून्यवलभावेकैकमाभाषते ॥'

अत्र प्रस्थानोद्यतं भवन्तं श्रुत्वा सहसैवारयः पतायिता इति कारणं पस्तुतम् । कार्यमिष वर्णानार्हत्वेन प्रस्तुतम् । कार्यमिष

ब्रन्ये तु—'राजशुकवृत्तान्तेन कोऽपि पस्तुतप्रभावो बोध्यत इत्यप्रस्तुतप्रशंसैव' इत्याहुः।

खाझान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि ॥६१॥ कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते। खाधर्र्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्ट्रधा ततः॥६२॥

की तरह उसका कार्य — शत्रुनारियों का रोदनजल—( श्रांस्) मी प्रभावातिशय का बोधक होने के कारण वर्णनीय है, श्रतः यहां भी पर्यायोक्त ही है।

दूसरा उदाइरण —िक सी राजाने अपने शतुपर चढ़ाई की। इसे सुनकर शत्र राजा श्रपना घर बार छोड़कर भाग गया। परन्तु जल्दी श्रौर घबराहर के कारण अपने तोते का पिजरा वहीं भूल गया। इधर स्ने मकान में तोता-रामजी को पढ़ते देखकर पथिकों को उनकी दशा पर दया आई और उन्होंने उन्हें पिंजड़े से निकाल 'यथेच्छं गच्छ' कहकर छोड़ दिया। परन्तु पालतू तोता-राम अधिक न उड़ सके। दो चार क़दम फ़ुदक के वहीं वैठ गये और उसी चित्रसारी श्रटारी में लगी हुई राजा, रानी, राजकुमार श्रादि की तसवीरों से बातें करने लगे। येही बातें अपने विजयी राजा की प्रसन्न करने के जिये राजकिव ने निम्न-लिखित पद्य में उसे सुनाई हैं—राजिति —हे राजन् ! तुम्हारे शतु के भवन में पथिकों के द्वारा द्यावश पितड़े से निकाला हुआ राजशुक रान्य वलमी ( अटारी ) में अपने राजा आदि की तसवीरों को देख देखकर रस प्रकार कहता है—'हे राजन् मुक्ते राज-कन्या पढ़ाती नहीं। श्रीर ये महा-रानियां भी चुप बैठी हैं। श्ररी कुब्जा, मुफ्ते खिला तो सही । हे राजकुमार, तुम मन्त्रियों के साथ, इस समय तक, भोजन क्यों नहीं करते ? अत्रेति— तुम्हारी विजय यात्रा की तयारी को सुन शत्रु लोग एकदम भाग गये' यह कारण यहां प्रस्तुत है श्रीर कार्य (तोते की वह उक्ति) भी वर्णनीय होने के कारण प्रस्तुत है, अतः यहां भी पर्यायोक्त अलंकार ही है-यह कोई मानते है। अन्यतिति—श्रीर लोग तो यह कहते हैं कि अप्रस्तुत राजशुक के वृत्तान्त से कोई पस्तुत-प्रभाव राजा बोधित होता है, अतः यहां अपस्तुत प्रशंसा ही है।

अर्थान्तरन्यास—सामान्यमिति—जहां १ विशेष से सामान्य या २ सामान्य से विशेष अथवा ३ कारण से कार्य या ४ कार्य से कारण साधम्य के द्वीरा किंवा वैधम्य के द्वारा समर्थित होता हो उसे अर्थान्तरन्यास कहते हैं। यह उक्त रीति से बार साधम्य और चार वैधम्य के मेद होने से आठ प्रकार का होता है।

क्रमेगोदाहरणम्-

'बृहत्सहायः कार्यान्तं चोदीयानपि गच्छिति। संभूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा॥

अत्र द्वितीयार्घगतेन विशेषरूपेणार्थेन प्रथमार्घगतः सामान्योऽर्थः सोपपत्तिकः

क्रियते।

'यावदर्थपदां वाचमेवमादाय माधवः । विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः॥ 'पृथ्वि स्थिरा मव भुजङ्गम धारयैनां त्वं कूर्मराज तदिदं द्वितयं दधीथाः। दिकु अराः कुरुत तित्रतये दिधी षी देवः करोति हरकामुकमाततज्यम् ॥'

अत्र कारणभूतं हरकार्मुकाततज्यीकरणं पृथिवीस्थैर्यादेः कार्यस्य समर्थकम्। सहसा विद्धीत न क्रियां-- 'इत्यादौ संपत्करणं कार्यं सहसा विधानाभावस्य

विमृश्यकारित्वरूपस्य कारणस्य समर्थकम् । एतानि साधर्म्य उदाहरणानि। वैधर्म्य यथा-

'इत्थमाराध्यमानोऽपि क्लिश्नाति भुवनत्रयम् । शाम्येत्प्रत्यपकारेगा नोपकारेगा दुर्जनः॥'

विशेष से सामान्य के समर्थन का उदाइरण- बृहदिति—बहें की सहायता पाकर छोटा आदमी भी कार्य पूरा कर लेता है। बड़ी नदी के साथ मिलकर छोटी पहां इं नदी भी समुद्र तक पहुँच जाती है। अत्रेति-यहां पूर्वार्ध का अर्थ सामान्य है। उसका समर्थन उत्तरार्ध की विशेष घटना के द्वारा साधर्म्य से किया गया है। याविदिति - जिलमें शब्द और अर्थ तुले हुए हैं ऐसी वाणी को बोलकर श्री

कृष्णजी चुप हो गये। वड़े लोग स्वभाव से ही मितभाषी (परिमित भाषण करनेवाले ) होते हैं । यहां प्रथम वाक्य विशेष है । उसका समर्थन दूसरे सामान्य वाक्य से किया गया है। दूसरा वाक्य पहले को उपपन्न करता है।

पृथीति लक्ष्मण की उक्ति है। हे पृथ्वि, सम्हल जाश्रो ! स्थिर हो जाश्रो। हे शेषनाग, तुम पृथ्वी को रोके रहना ! हे कूर्मराज, तुम इन दोनों को साधे रहना । देखो कहीं गिर न जायें । हे दिगाजो, उक्त तीनों तुम्हारे सिपुर्द हैं। इन तीनों को सम्हाले रहना । इस समय श्रीरामचन्द्रजी शिवजी के घतुष को चढ़ा रहे हैं। त्रत्रेति—यहां शिवधनुष का चढ़ाना पृथ्वी आदि के स्थैर्यादि कार्यों का समर्थक है।

'सहसा' इत्यादि पद्य में सम्पत्ति की प्राप्ति कार्य है और जल्दी न करता विचारपूर्वक काम करना—उसका कारण है। यहां कार्य, कारण का समर्थक है ये सब साधर्म्य के उदाहरण हैं। वैधर्म्य के उदाहरण इत्मिनिति है अत्र सामान्यं विशेषस्य समर्थकम् । 'सहसा विदधीत—' इत्यत्र सहसा विधाना-भावस्यापत्प्रदत्वं विरुद्धं कार्यं समर्थकम् । एवमन्यत् ।

हेतोवाक्यपदार्थत्वे काव्यतिङ्गं निगयते।

तत्र, बाक्यार्थता यथा-

'यत्त्वन्ने त्रसमानकान्ति सिलले मग्नं तदिन्दीवरं मेधैरन्तरितः पिये तव मुखच्छायानुकारी शशी। येऽपि त्वद्गमनानुसारिगतयस्ते राजहंसा गता-स्त्वत्सादृश्यविनोद्दमात्रमपि मे दैवेन न चम्यते॥'

अत्र चतुर्थपादे पादत्रयवाक्यानि हेतवः । पदार्थता यथा मम—

'त्वद्वाजिराजिनिधूत्वधूलीपटलपङ्किलाम् ।

न धत्ते शिरसा गङ्गां भूरिभारिभया हरः ॥'

अत्र द्वितीयार्धे प्रथमार्धमेकपदं हेतुः । अनेकपदं यथा मम—

'पश्यन्त्यसंख्यपथगां त्वदानजलवाहिनीम् । देव त्रिपथगात्मानं गोपयत्युप्रमूर्धनि ॥'

ब्रह्माजी, इस प्रकार आराधना करने पर भी वह दुष्ट (तारकासुर) त्रैलोक्य को क्लेश देता है। दुर्जन प्रत्यपकार से शान्त होता है, उपकार से नहीं। यहां उत्तरार्घ का सामान्य अर्थ पूर्वार्घ के विशेष वाक्यार्थ का समर्थक है। 'सहसा' स्त्यादि पद्य में विना विचारे काम करने को आपत्तियों का पद (आस्पद) वताया गया है। यह आपत्प्रद्त्वरूप विरुद्ध कार्य (द्वितीय चरणोक्क ) प्रथम चरणोक्त सहसा विधानामाव का समर्थक है। इसी प्रकार श्रीर उदाहरण जानना। अय काव्यलिङ्ग — याक्यार्थ अथवा पदार्थ जहां किसी का हेतु हो वहां काष्यिलिङ्ग अलंकार होता है। वाक्यार्थगत हेतु का उदाहरण्—यदिति— है सीते, तुम्हारे नेत्र के समान कान्तिवाले नील कमल पानी में इब गये। है पिये, तुम्हारे मुख की छाया का अनुकरण करनेवाला चन्द्रमा बादलों ने दोंक लिया और जो तुम्हारी गति के समान गतिवाले राजहंस थे वे सब मी (वर्षा के कारण) चले गये। देखो, दैव कितना प्रतिकृत है। तुम्हारे साहश्य के साथ भी मेरे विनोद को नहीं सहन करता। जिन जिन वस्तुश्रों को तुम्हारे सहश्र समक्ष कर मैं उनसे जी बहलाता था उन सबको दूर कर दिया। अतेति—यहां पहले तीन चरणों के वाक्यार्थ चौथे चरण के वाक्यार्थ के हेतु हैं। पदार्थगत हेतुता का उदाहरण—लादिति—हे राजन, रण में तुम्हारे घोड़ों से उड़ाई हुई धूलि से पंकिल (कीचड़्युक्त) गंगा को बहुत बोक्त के डर के मारे शिवजी सिर पर नहीं रखते। यहां पूर्वार्ध में समस्त एक पद है। वर उत्तरार्ध की हेतु है। अनेकपद्गत हेतुता का उदाहरस्—पश्यनीति—हे राजन, तुम्हारे दान के जल से उत्पन्न नदी को असंख्य मार्गों से चलती देखकर केवल तीन मार्गों इह केचिद् वाक्यार्थगतेन कान्यिलङ्गेनैव गतार्थतया कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासं नाद्रियन्ते, तद्युक्तम्। तथाद्यत्र हेतुस्त्रिधा भवति—ज्ञापको निष्पादकः समर्थकरचेति। तत्र ज्ञापकोऽनुमानस्य विषयः, निष्पादकः कान्यलिङ्गस्य, समर्थकोऽर्थान्तरन्यासस्य इति पृथगेव कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासः कान्यलिङ्गात् । तथाहि—'यत्त्वने नृ-' इत्यादौ चतुर्थपादवाक्यम् । अन्यथा साकांच्यतयासमञ्जसमेव स्यात् इति पादत्रयगतवाक्यं निष्पादकत्वेनापेच्यते ।

'सहसा विदधीत'-इत्यादौ तु

'परापकारनिरतैर्दुर्जनैः सह संगतिः । वदामि भवतस्तत्त्वं न विधेया कदाचन॥'

इत्यादिवदुपदेशमात्रेणापि निराकांच्यतया स्वतोऽपि गतार्थं सहसा विधानाभावं संपद्वरणं सोपपित्तकमेव करोतीति पृथगेव कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासः काव्यलिङ्गात्।

'न धते शिरसा गङ्गां भूरिभारिभया हरः। त्वद्वाजिराजिनिधूतभूलिभिः पङ्किला हि सा॥'

इत्यत्र हिशब्दोपादानेन पङ्किलत्वादितिवद्धेतुत्वस्य स्फुटतया नायमलंकारः। वैचित्र्यस्यैवालंकारत्वात्।

से चलतेवाला त्रिपथगा=गङ्गा अपने को शिव जी की जटाओं में छिपा रही है।

यहां पूर्वार्धगत अनेक पदों के अर्थ उत्तरार्ध के हेतु हैं।

इहेति—कोई लोग कार्यकारणभाव में अर्थान्तरन्यास नहीं मानते। वाक्यार्थ-गत काव्यलिङ्ग से ही उसे गतार्थ समभते हैं। सो ठीक नहीं। तथाहीति— हेतु तीन प्रकार का होता है। एक ज्ञापक दूसरा निष्पादक तीसरा समर्थक। इनमें से जहां ज्ञापक हेतु हो उसे अनुमानालंकार का विषय जानना श्रीर निष्पादक हेतु को काञ्यलिङ्ग का एवं समर्थक हेतु को अर्थान्तरन्यास का विषय समक्षना। इस प्रकार कार्यकारणभाव का अर्थान्तरन्यास काव्यित से भिन्न ही होता है—जैसे, 'यत्त्वन्नेत्र' इत्यादि का चौथा चरण । यह वाक्य साकांच है, अतः अपने निष्पादक पहले तीन चरणों की अपेचा करता है। उनके विना वह श्रसमंजस ही है। परन्तु 'सहसा' इत्यादि पद्य में -पोति-'दूसरे का श्रपकार करने में तत्पर दुर्जनों के साथ कभी संगित न करनी चाहिये, यह मैं तुम्हें तत्त्व बताता हूँ'-इत्यादि चाक्यों की भांति केवल उपदेशक्य से भी वाक्यार्थ निष्पन्न हो सकता है। वाक्य निराकांच् है, ब्रतः सम्पत्ति का वरण सहसाविधानाभाव को युक्तियुक्त ही करता है। जल्दी काम न करने या विचारपूर्वक करने का सम्पत्तिवरण से समर्थन ही होता है, श्रतः कार्यकारणमाव में श्रर्थान्तरन्यास काव्यलिङ्ग से भिन्न ही है। न की इति—यहां हि शब्द के उपादान से 'पङ्किलत्वात्' इस शब्द की तरह हेतुता स्पष्ट हो जाती है, कुछ विचित्रता नहीं रहती, श्रतः यह श्रलंकार भी इस दशा में नहीं रहता। विचित्रता ही अलंकीर कहाती है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

#### ब्रनुमानं तु विच्छित्त्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात्॥ ६३॥ यथा-

जानीमहेऽस्या हृदि सारसाच्या त्रिराजतेऽन्तः पियंत्रकत्रचन्दः । उत्कान्तिजालैः प्रसृतैस्तदङ्गेष्ट्रापाग्डुता, कुड्मलताचिपद्मे॥'

श्चत्र रूपकवशादि च्छित्तिः।

यथा वा-

·यत्र पतत्यवलानां दृष्टिर्निशिताः पतन्ति तत्र शराः। तचापरोपितशरो धावत्यासां पुरः स्मरो मन्ये॥'

अत्र कविभौडोिक वशाद्धि च्छितिः । उत्मेक्तायामनिश्चिततया प्रतीतिः, इह तु निश्चिततयेत्युभयोर्भेदः।

### असेदेनाभिधा हेतुईतोईतुमता सह।

यथा मम--- 'तारु एयस्य विलासः-' इत्यत्र वशीकर गाहेतुर्नायिका वशीकर गा-लेनोक्ता । विलासहासयोस्त्वध्यवसायमूलोऽयमलंकारः ।

अनुकूलं प्रातिकूल्यमनुकूलानुबन्धि चेत्॥ ६४॥ यथा-

'कुपितासि यदा तन्त्रि निधाय करजन्नतम् ।

भरुमानमिति — हेतु के द्वारा साध्य के चमत्कारपूर्ण ज्ञान को अनुमानालंकार कहते हैं। जैसे — जानीमहे इति — हम समभते हैं कि इस 'सारसाची' (कमल-न्यनी ) के हदय में प्रियतम का मुखचन्द्र विराजमान है। उसी की चारी श्रोर फैलनेवाली शुभकान्ति से इसके श्रङ्ग पारहुर (श्वेत) हो गये हैं श्रीर नयनकमल मुकुलित होने (मिचने) लगे हैं। 'सारसं सरसीरुहम्' इत्यमरः। यहां विक्रचन्द्र' श्रीर 'श्रिच्चिपद्म' के रूपकों के कारण चमत्कार हुश्रा है।

रूसरा उदाहरण — यत्रेति — जहां कामिनियों की दृष्टि पड़ती है वहीं कामदेव के पैने बाण बरसने लगते हैं। इससे मालूम होता है कि इनके आगे आगे धतुष पर बाण चढ़ाये कामदेव दौड़ता रहता है—जो इनकी नज़र का इशारा पाते ही बाणों से बेधने लगता है। यत्रेति – यहां किव की प्रौढोंकि के कारण वमत्कार होता है। काम श्रोर उसके बाण वस्तुसिद्ध नहीं, केवल कवि की भौढोंकि से ही सिद्ध हैं। उत्प्रेचा में अनिश्चितरूप से प्रतीति होती है, किन्तु यंदाँ निश्चतरूप से हीती है।

अमेदेनेति—हेतु और हेतुमान् का अभेद से कथन करने में हेतु अलंकार होता है। जैसे पूर्वोक्त 'तारु एयस्य' इत्यादि । यहां नायिका वशीकरण का हेतु है उसे वशीकरण ही कह दिया है। विलास और हास में अभेदाध्यवसायमूलक हैत्वलंकार है। हास और विलास के साथ नायिका का अभेदाच्यवसान है। भवक्षिति—यदि अतिकृतता ही अनुकृत कार्य का सम्पादन करे तो अनुकृता लेकार होता है। जैसे-कुपितेति-हे तिन्ते, यदि तू कुपित हुई है तो इसके (नायकके) CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बधान भुजपाशाभ्यां कएठमस्य दृढं तदा ॥

अस्य च विच्छित्तिविशेषस्य सर्वालंकारविलच्यात्वेन स्फुरणात्पृथगलंकारत्वमेव न्याय्यम् ।

वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये। निषेधाभास अधिपो वस्यमाणोक्तगो द्विधा ॥ ६५ ॥ "

तत्र बद्यमागाविषये कचित्सर्वस्यापि सामान्यतः सूचितस्य निषेधः, कचिदंशोक्ता-वंशान्तरे निषेध इति द्वौ भेदौ। उक्तविषये च कचिद्रस्तुस्वरूपस्य निषेधः, कचिद्रस्तु-कथनस्येति द्रौ । इत्याचेपस्य चत्वारो भेदाः ।

क्रमेगा यथा-

'स्मरशरशतविधुराया भणामि सख्याः कृते किमपि। च्रामिह विश्रम्य सखे, निर्दयहृदयस्य किं वदाम्यथवा॥' अत्र सख्या विरहस्य सामान्यतः सूचितस्य वद्यमाणविशेषे निषेधः। 'तव विरहे हरिगान्ती निरीन्य नवमालिकां दलिताम्। हन्त नितान्तमिदानीमाः किं हतजिल्पतैरथवा ॥

अत्र मरिष्यतीत्यंशो नोकः।

'वालय गाहं दूती तुत्र पित्रोसि ति ग मह वावारो । सा मरइ तुज्क अअसी एअं धम्मक्खरं भेगिमो॥

देह में तुल्तत करके इसके कएठ को बाहुपाश से मज़बूत बाँध दे। यहाँ सब अतंकारों से विलवण चमत्कार है, अतः इसे अलग ही मानना चाहिये। व्रतुन इति—विविद्यत वस्तु की कुञ्ज विशेषता प्रतिपादन करने के लिये निषेधसा करना त्राचेपालङ्कार कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है-एक तो वक्ष्यमाण वस्तु का निषेय करने पर और दूसरा उक्र वस्तु का निषेध करने पर। तत्रेति — उनमें से वस्यमाण के विषय में कहीं तो सामान्य रूप से स्चित की हुई सम्पूर्ण वस्तु का निषेध होता है और कहीं एक अंश कहका दूसरे अंश का निषेध होता है। ये दो भेद हैं। उक्क विषय में कहीं वस्तु के स्वरूप का निषेध होता है और कहीं उसके कथन का। ये भी दो भेद हैं। इस प्रकार आतेप के चार भेद होते हैं।

कम से उदाहरण —स्मोति—हे सखे, ज्ञण भर यहाँ विश्राम करके मैं कामदेव के सैकड़ों बाणों से खिन्न श्रपनी सखी के विषय में कुछ कहूँगी। श्रयवा तुम जैसे निर्देय हद्यं के आगे क्या कहूँ !! अत्रोति—यहाँ सामान्यहर से स्वित सखी के विरंह का वक्ष्यमाण विशेषक्षण के विषय में निषेध हैं। तेवित विकास विरद्द में वह मृगनयनी इस समय नवमित्तका को खिली हुई देखकर निःसन्देह....। अथवा इन हत वचनों से क्या लाभ १ यहाँ 'मर जायगी' गर साक्यांश नहीं कहा। बालश—'बालक, नाहं कूती, तस्याः प्रियोऽसीति न मे न्यापारः। साविषते

अत्र दूतीत्वस्य वस्तुनो निषेधः।

ंविरहे तव तन्वङ्गी कथं चपयतु चपाम्। दारुगाव्यवसायस्य पुरस्ते भगितेन किम्॥'

अत्र कथनस्योक्तस्यैव निषेधः । प्रथमोदाहरणे सख्या अवश्यंभावि मरणमिति विशेषः प्रतीयते । द्वितीयेऽशक्यवक्तव्यत्वादि । तृतीये दूतीत्वे यथार्थवादित्वम् । चतुर्थे दुःखस्यातिशयः । न चायं विहितनिषेधः । अत्र निषेधस्याभासत्वात् ।

अनिष्ठस्य तथार्थस्य विष्ट्याभासः परो मतः।

तथिति पूर्वविद्वशेषमितपत्तये । यथा-

'गच्छ गच्छिसि चेत्कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः। ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान्॥'

अत्रानिष्टत्वाद् गमनस्य त्रिधिः मस्खलद्रृपो निषेधे पर्यवस्यति । विशेषश्च गमनस्यात्यन्तपरिहार्यत्वरूपः प्रतीयते ।

#### विभावना विना हेतुं कार्यीत्पत्तिर्यदुच्यते ॥ ६६ ॥

विश्वरा एतद्वर्मावरं भणामः'। बचा, में दूती नहीं हूँ। तुम उसके प्रिय हो, इसिलिये भी में नहां आयी हूँ। वह मरेगी और तुम्हें अपयश लगेगा, में केवल ये धर्माचर कहती हूँ। यहाँ दूती ने अपने स्वरूप (वस्तु) का निषेध किया है। विरह में वह कृशतनु सुकुमारी कैसे निशा ब्यतीत करें? अथवा तुम्हारे जैसे दारुणाचार के आगे कहने से ही क्या फल ?। यहाँ कहीं हुई बात का ही निषेध है। पहले उदाहरण में 'सखी का मरण अवश्यम्मावी है'—यह विशेषता प्रतीत होती है। दूसरे में बात कहने की अशक्यता प्रतीत होती है। तीसरे में दूती की सत्यवादिता और चौथे में दुःख का आधिक्य मतीत होता है। इसे विहित का निषेध नहीं कह सकते, क्योंकि यहाँ निषेध केवल आमासित होता है, वास्तिवक निषेध नहीं है।

श्रीष्टरियेति—श्रिविष्ट वस्तु का विधान जहाँ श्रामासित होता हो वह दूसरा श्रामेपालक्कार होता है। जैसे—गच्छेति—हे कान्त, जाते हो तो जाश्रो, तुम्हारे मार्ग मङ्गलकारी हों। श्रीर मेरा जन्म भी, ईश्वर करे, वहीं हो जहाँ श्राप जा रहे हो। श्रवेति—यहाँ नायिका को नायक का गमन इष्ट नहीं, श्रतः गमन की विधि प्रस्कालित होकर निवेध में विश्रान्त होती है। उत्तरार्ध के श्रात्माशीर्वाद ते नायक के विरह में उसका भरण निश्चितक्ष से प्रतीत होता है। फिर अपने श्रनिष्टकर प्रियगमन का कोई विधान करे, यह श्रत्यन्त श्रसम्भव है, अतः विधि श्रनुपपन्न होकर निवेध के रूप में परिण्यत होती है। विधि का श्रापाततः माससमात्र है। यहाँ गमन का श्रत्यन्त परिहार प्रतीत होता है। यही विश्रव है। इस क्रवंण में भी विश्रव है। इसी की प्रतिपत्ति के लिये विध्याभास है। इस क्रवंण में भी विश्रवानिक होता है। इसी की प्रतिपत्ति के लिये विध्याभास है। इस क्रवंण में भी विश्रवानिक होता है। इसी की प्रतिपत्ति के लिये विध्याभास है। इस क्रवंण में भी विश्रवानिक होता है। इसी की प्रतिपत्ति के लिये विध्याभास है। इस क्रवंण में भी विश्रवानिक होता है। इसी की प्रतिपत्ति के लिये विध्याभास है। इस क्रवंण में भी विश्रवानिक होता है। इसी की प्रतिपत्ति के लिये विध्याभास है। इस क्रवंण में भी

विशावनीति पद का सम्बन्ध होता है।
विशावनीति—हेतु के विना यदि कार्य की डत्पत्ति का वर्षन हो तो सिमावना

#### उक्तानुक्तनिमित्तत्वाद् द्विधां सा परिकीर्तिता।

विनाकारणमुपनिबध्यमानोऽपि कार्योदयः किश्चिदन्यत्कारणमपेद्यैव भवितुं युक्तः। तच कारणान्तरं कचिदुक्तं कचिदनुक्तमिति द्विधा । यथा—

'त्र्यनायासकृशं मध्यमशङ्कतरले दशौ । त्र्यभूषगामनोहारि वपुर्वयसि सुभुवः ॥'

अत्र वयोरूपनिमित्तमुक्तम् । अत्रैव 'वपुर्भाति मृगीदशः' इति पाठेऽनुक्तम् । सिति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा ॥ ६७॥

तथेत्युक्तानुक्तनिमित्तत्वात् । तत्रोक्तनिमित्ता यथा—'धनिनोऽपि निरुन्मादा युवानोऽपि न चश्चलाः ।
प्रभवोऽप्यप्रमत्तास्ते महामहिमशालिनः ॥'

श्रुत्र महामिह मशालित्वं निमित्त मुक्तम् । श्रुत्रैत चतुर्थपादे 'कियन्तः सन्ति भूतले' इति पाठे त्वनुक्तम् । श्रुचिन्त्यनिमित्तत्वं चानुक्तनिमित्तस्यैत्र भेद इति पृथब् नोक्तम् । यथा—

'स एकस्त्रीणि जयित जगन्ति कुसुमायुधः । हरतापि तनुं यस्य शर्म्भुना न इतं वलम् ॥'

अलङ्कार होता है। इसके दो भेद होते हैं-एक वह जिसमें निमित्त उक्त हो और दूसरा वह जहाँ निमित्त अनुक्त हो। विना कारण के जो कार्य की उत्पत्ति वर्णित होती है वहाँ कुछ न कुछ दूसरा कारण अवश्य रहता है। वह कहीं उक्त होता है, कहीं अनुक्त। उदाहरण—अनायासेति—यौवनकाल में सुन्दर भृष्ठिते वाली इस नायिका की कमर विना अम के ही दुबली हो रही है और नेत्र विना ही शङ्का के चञ्चल हैं एवं शरीर विना ही भूषणों के रमणीय है। यहां इन सबका निमित्त 'यौवन' उक्त है। इसी पद्य में यदि 'वप्रभीति मृगीहराः' ऐसा

पाठ कर दें तो अनुक्तनिमित्ता विभावना हो जायगी।

सित इति—हेतु के रहते हुए भी फल के नहोंने पर विशेषोक्ति अलङ्कार होता है। यह भी पूर्ववत् उक्त और अनुक्त निमित्त होने से दो प्रकार का होता है। उक्त निमित्त काउदाहरण्—धिन इति—वे महामहिमशाली पुरुष धनी होने पर भी उन्माद से रहित हैं, जवान होने पर भी चञ्चल नहीं हैं, प्रभु होने पर भी प्रमाद से शून्य हैं। यहां धन, यौवन और प्रभुतारूप हेतुओं के होने पर भी उनके कार्य उन्माद, चञ्चलता और प्रमाद नहीं हुए। इनका निमित्त, 'महामहिम-शालित्व' उक्त है। अत्रवेति, इसी पद्य के चतुर्थ चरण में 'कियन्तः सन्ति भूतवें बना दें तो अनुक्तनिमित्तव का हो भेद है, अतः उसे पृथक् नहीं कहा। जैसे—स इति—वह अकेला पुरुष का ही भेद है, अतः उसे पृथक् नहीं कहा। जैसे—स इति—वह अकेला पुरुष वाप (काम) तीनों लोकों का विजय करता है, जिसके देह का हरण करते हुए भी,

अत्र तन्हरणेऽपि बलाहरणे निमित्तमचिन्त्यम् । इह च कार्याभावः कार्यविरुद्ध-सद्भावमुखेनापि निबद्धचते । विभावनायामपि कारणाभावः कारणविरुद्धसद्भावमुखेन । एवं च 'यः कौमारहरः-' इत्यादेरुत्कणठाकारणविरुद्धस्य निबन्धनाद्विभावना । 'यः कौमार-' इत्यादेः कारणस्य च कार्यविरुद्धाया उत्कणठाया निबन्धनाद्विशेषोिकः । एवं चात्र विभावनाविशेषोक्तचोः संकरः । शुद्धोदाहरणं तु मृग्यम् ।

जातिरचतुर्भिर्जात्याचैर्पुणो गुणादिभिस्त्रिभिः। क्रिया क्रियाद्रव्याभ्यां यद् द्रव्यं द्रव्येण वा मिथः॥ ६८॥ विरुद्धसेव भासेत विरोधोऽसौ दशाकृतिः।

क्रमेगा यथा---

'तव विरहे मलयमरुद्दवानलः, शशिरुचीऽपि सोष्माणः। इदयमलिरुतमपि भिन्ते, नलिनीदलमपि निदाघरविरस्याः॥'

शक्कर ने उसका बल नहीं हरण किया। अत्रेति—यहां देह का हरण करने पर भी बल के हरण न करने में निमित्त अचिन्त्य है। इह नेति—यहां कार्य-विरोधी वस्तु की सत्ता के द्वारा भी कार्याभाव वर्णित होता है। विभावना में भी कारण-विरोधी वस्तु की सत्ता के द्वारा कारणामाव वर्णित होता है। इस प्रकार 'यः कीमार' इत्यादि पद्य में उत्कर्णा के कारण के विरोधी का वर्णन करने से विभावना है। वस्तु की नवीनता उत्कर्णा का कारण होती है—उसकी विरोधी सब वस्तुओं की अनवीनता और अनुभूतता का इस पद्य में 'स एव' इत्यादि से वर्णन किया है। एवम् इसी पद्य में विशेषोक्ति भी हो सकती है, क्योंकि उत्कर्णा अमा के कारणों की सत्ता में उनके विरुद्ध उत्कर्ण की उत्पत्ति दिखाई गई है। इस प्रकार यहां विभावना और विशेषोक्ति का संकर है। इसका शुद्ध उदाहरण ढूंढ लेना।

श्रथ विरोध: — जातिरिति — जाति जहां जाति, गुण किया श्रौर द्रव्यों के साथ विरुद्ध मासित हो, गुण, गुणादिक तीन के साथ, किया, किया श्रीर द्रव्य के साथ एवं द्रव्य, द्रव्य के साथ विरुद्ध मासित हो वहां विरोधालङ्कार होता है।

यह दस प्रकार का होता है।

कम से उदाहरण — तुम्हारे वियोग में उस कामिनी को मलयानिल दावानल हो रहा है, चन्द्रमा की किरणें भी गरम लगती हैं, भ्रमरों की गुंआर भी हृदय को बेधती है और कमल का पत्ता भी ग्रीष्म का सूर्य हो रहा है। यहां शीतल मलय समीर और वन की श्राग्न दोनों ही विरुद्ध हैं। ये दोनों शब्द जातिवाचक हैं, श्रतः जाति का जाति के साथ श्रापाततः विरोध भासित होता है। श्रन्य में विरहजन्य होने से समाधान होता है। किरणशब्द जातिवाचक है और जष्मा गुण (स्पर्शविशेष) है। यहां क्रिया और गुण का विरोध है। श्रलिगु जित से मेदन क्रिया का विरोध है। 'निलनीदल' जातिवाचक है उसका निदाधरित (इन्य) के साथ विरोध है। उग्रहा कमलपत्र सूर्य के समान गरम नहीं हो सकता। विरहहेतुक होने से समाधान होता है।

'संततमुसलासङ्गाद् बहुतरगृहकर्मघटनया नृपते । द्विजपत्नीनां कठिनाः सित भवति कराः सरोजसुकुमाराः ॥' 'अजस्य गृह्वतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः । स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्य वेद कस्तव ॥' 'बल्लमोत्सङ्गसङ्गेन विना हरिणचच्चुषः । राकाविभावरीजानिर्विषज्वालाकुलोऽभवत् ॥' 'नयनयुगासेचनकं मानसन्नत्यापि दुंष्प्रापम् । रूपमिदं मदिराच्या मदयति हृदयं दुनोति च मे ॥' त्वद्वाजि—' इत्यादि ।

'वल्लभोत्सङ्ग—' इत्यादिश्लोके चतुर्थपादे 'मध्यंदिनदिनाधिप' इति पाठे द्रव्ययोर्विरोधः। अत्र 'तत्र विरह—' इत्यादौ पत्रनादीनां वहुव्यक्तिवाचकत्वाज्ञाति-शब्दानां दत्रानलोष्महृद्यभेदनसूर्येजीतिगुणिक्रियाद्रव्यरूपैरन्योन्यं विरोधो मुखत आभासते । विरहहेतुकत्वात्समाधानम् । अत्र 'अजस्य—' इत्यादावजत्वादि-गुणस्य जनमग्रहणादिक्रियया विरोधः। भगवतः प्रभावस्यातिशयित्वात्तु समाधानम् ।

गुणका, गुणके साथ विरोध दिखाते हैं—सन्ततेति—हे राजन्, दिन रात घर का काम करने और बराबर मूसल उठाने (धान कूटने) के कारण ब्राह्मणों की क्षियों के कठिन हाथ आज आपके होने से कमल के समान कोमल हो रहे हैं। अर्थात् आपने इतना धन दिया है कि अब उन्हें हाथ से काम नहीं करना पड़ता। यहां कठिनता और कोमलता कप गुणों का विरोध भासित होता है। कालभेद से समाधान है। अअस्थेति—हे भगवन्, (विष्णों) आप अज होकर भी जन्म ब्रह्मण करते हैं—निरीह होकर भी शत्रुओं को मारते हैं। सोते हुए भी जागक रहते हैं। आपका यथार्थ स्वक्ष्प कीन जान सकता है ?। यहां अजत्व गुण का जन्मब्रह्मण कप किया के साथ विरोध है। यहां क्ष्य किया से विरोध है। किया से विरोध है।

गुण का द्रव्य के साथ विरोध दिखाते हैं—वह्ममिति—प्रियतमके श्रङ्कका सम्बन्ध न होने के कारण उस मृगनयनी को पूर्णिमा का चन्द्रमा विष की ज्वालाओं से पूर्ण हो गया। यहां उक्ण गुण (ज्वालाकुलत्व) के साथ द्रव्य (चन्द्रमा) का विरोध है। किया के साथ किया के विरोध का उदाहरण—नयनेति—यह पद्य पहले श्राचुका है। यहां श्रानन्दित करना श्रोर दुःखी करना ये दोनों कियायें परस्पर विरुद्ध हैं। किया का द्रव्य के साथ विरोध—त्वहाजीति—यहां शिवका श्रोर श्रमाव—प्रतियोगिनी धारण किया का विरोध है। 'वल्लभ' इत्यादि पद्य के चतुर्थ चरण में यदि 'मध्यन्दिनदिनाधिपः' ऐसा पाठ कर दें तो सूर्य श्रीर चन्द्रमा इन दो द्रव्यों का विरोध होगा।

श्रत तवेति—इस पद्य में पषनादिक बहुव्यिक्षवाचक होने से जातिशब्द हैं उनका दावानलादि के साथ विरोध है। विरहहेतुक होने से समाधान होता है। श्रवस्थेत्यादि में गुण श्रीर क्रिया का विरोध है। भगवान् विष्णु के श्रवित्य प्रमाव होने से समाधान होता है। यहां जाति श्रीर क्रिया से भिन्न विशेषणी की

्बद्धाजि—' इत्यादौ 'हरोऽपि शिरसा गङ्कां न धत्ते' इति विरोधः । कवि-प्रौढोक्त्या तु समाधानम् । स्पष्टमन्यत् । विभावनायां कारणामावेनोपनिवध्यमान-त्वात्कार्यमेव वाध्यत्वेन प्रतीयते । विशेषोक्तौ च कार्यामावेन कारणमेव । इह त्वन्योन्यं द्वयोरपि वाध्यत्वमिति भेदः ।

## कार्यकारणयोभिन्नदेशतायामसंगतिः॥ ६६॥

यथा-

'सा वाला, वयमपगल्भमनसः, सा स्नी, वयं कातराः सा पीनोन्नितमत्पयोधरयुगं धत्ते, सखेदावयम् । साक्रान्ता जघनस्थलेन गुरुणा, गन्तुं न शक्ता वयं दोषैरन्यजनाश्रयैरपटवो जाताः स्म इत्यद्भुतम् ॥' अस्यारचापवादकत्वादेकदेशस्थयोविरोधे विरोधालंकारः ।

गुणी किये वा चेत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः। यद्वारव्यस्य वैफल्यमनर्थस्य च संभवः॥ ७०॥ विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतम्।

क्रमेण यथा---

'सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा । तमालनीला शरदिन्दुपाएडु यशिक्षलोकाभरणं प्रसूते ॥'

गुण समसकर 'श्रजत्व' (जनमाभाव) श्रादि को भी गुण माना है। लड़ाजि॰ यहां हर भी गंगा को नहीं धारण करते यह किया के साथ द्रव्य का विरोध है। यह कवि-प्रौढोक्ति हैं, वस्तु वृत्त नहीं, इससे समाधान होता है। विभावना में कारण नहींने से कार्य ही बाध्य प्रतीत होता है श्रीर विशेषोक्ति में कार्य न होने से कारण ही बाध्य प्रतीत होता है, किन्तु यहां प्रस्पर दोनों की बाध्यता प्रतीत होती है।

'असंगित'—कार्येति—कार्य और कारण यदि मिन्न मिन्न देशों में हों तो असंगित अलंकार होता है। जैसे—सिति—अवस्था उस कामिनी की थोड़ी है, परन्तु मन हमारा अप्रगत्म है। पीनपयोधरों को धारण वह करती है और जिल्ला हम हैं। गुरुतर जधनस्थल उसका है और चला हमसे नहीं जाता। देखों कैसी अद्भुत बात है! दूसरे के दोषों से हम अपदु हो रहे हैं। यह विरोधालंकार का अपवाद है, अतः विरोधालंकार वहीं माना जाता है जहां एक देश में ही स्थित वस्तुओं का विरोध हो। मिन्न देश के विरोध में असंगित ही मानी जाती है। अन्यथा इसका कहीं उदाहरण ही न रहेगा।

विषमालं कार — गुणाविति — यदि कार्य और कारण के गुण्या कियायें परस्पर विरुद्ध हों अथवा आरम्भ किया हुआ कार्य तो पूरा न हो, प्रत्युत कुछ अनर्थ आ पड़े यद्वा दो विरूप पदार्थों का मेल हो तो वहां विषम अलंकार होता है।

कम से उदाहरण—सब इति—देखों कैसे आश्चर्य की बात है, प्रत्येक रण में रित राजा के हाथ का स्पर्श पाके तमाल के तुच्य काली इसकी तलवार शरचन्द्र अत्र कारणरूपासिलतायाः 'कारणगुणा हि कार्यगुणमारभन्ते' इति स्थिते विरुद्धा शुक्लयशस उत्पत्तिः।

'श्रानन्दर्ममन्दिममं कुत्रलयदललोचने ददासि त्वम् । विरहस्त्वयैव जनितस्तापयतितरां शरीरं मे ॥ श्रीत्रानन्दजनकस्त्रीरूपकारगात्तापजनकविरहोत्पत्तिः । 'श्रयं रत्नाकरोऽम्भोधिरित्यसेवि धनाशया।

धनं दूरेऽस्तु बदनमपूरि चारवारिभिः॥'

अत्र न केवलं कांचितधनलामो नाभूत्, प्रत्युत चारवारिभिर्वदनपूरणम् । 'क वनं तरुवल्कभूषणं नृपलद्मीः क महेन्द्रवन्दिता । नियतं प्रतिकूलवर्तिनो बत धातुरचरितं सुदुःसहम् ॥'

अत्र वनराज्यश्रियोर्विरूपयोः संघटना । इदं मम।

यथा वा--

'विपुलेन सागरशयस्य कुव्तिणा भुवनानि यस्य पिपरे युगव्तये। मदविश्रमासकलया पपे पुनः स पुरिश्वयैकतमयैकया दृशा॥'

के समान गौर यश को उत्पन्न करती है। अत्रेति — 'कारण के गुण कार्य के गुणों को उत्पन्न करते हैं'-यह नियम है, परन्तु यहाँ काली तलवार से शुक्र यश की विरुद्ध उत्पत्ति हुई है। यहाँ कार्य श्रीर कारण के गुण विरुद्ध हैं।

कार्य कारण की कियाओं के विरोध का उदाहरण — आनन्दिमिति — हे कमले लोंचिन, तुम तो अमन्द आनन्द देती हो, किन्तु तुम्हारा ही पैदा किया हुआ विरह मेरे शरीर को अत्यन्त सन्ताप देता है। यहाँ आनन्द देनेवाले कारण से सन्तापदायक कार्य (विरह) की उत्पत्ति हुई है। अयिमिति — यह समुद्र रहों का आकर है, यह समसकर धन की आशा से हमने इसकी सेवा की थी, सो धन तो दूर रहा, यहाँ उलटा खारी पानी से मुँह भर गया। यहाँ केवल धनाशा का ही नाश नहीं हुआ, प्रत्युत मुख में खारी पानी भरने से कुछ अनर्थ भी हुआ। केति – कहाँ वह वन जिसमें पेड़ों के वक्कलही शरीर के आभूषण होते हैं और कहाँ वह राज्यलक्ष्मी जिसकी इन्द्रादिक भी वन्दना करते हैं। निःसन्देह प्रतिकृत्वगामी देव का चित्र अति दुःसह होता है। यहाँ वन और राज्य-लक्ष्मी इन्द्राति की योजना हुई है।

दूसरा उदाहरण—विपुलेनेति—जिन सागरशायी भगवान् की कुन्नि प्रत्य काल में समस्त भुवनों को पी जाती है आज उन्हीं (श्रीकृष्णजी) को महाराज युधिष्ठिर की नगरनिवासिनी एक एक रमणी की मद्विलास से श्रसम्पूर्ण (तिरस्त्री) एक ही कटान् की कोर ने पी लिया। जिसकी कुन्नि समस्त ब्रह्माण्ड

# समं स्यादानुरूप्येण रलाघा योग्यस्य वस्तुनः॥ ७१॥

यथा-

'शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेधमुक्तं जलनिधिमनुरूपं जहुकन्यावतीर्णा। इति समगुणयोगमीतयस्तत्र पौराः श्रवणकटु चृपाणामेकवाक्यं विवत्रः॥'

विचित्रं तद्विरुद्धस्य कृतिरिष्टफलायं चेत्।

यथा-

'प्रणमत्युन्नतिहेतोर्जीवितहेतोर्विमुञ्जति प्राणान्। दःखीयति सुखहेतोः को मूढः सेवकादन्यः॥' त्राश्रयाश्रयिणोरेकस्याधिकयेऽधिकमुच्यते ॥ ७२॥

आश्रयाधिक्ये यथा-

'किमधिकमस्य ब्रूमो महिमानं वारिधेर्हरिर्यत्र। अज्ञात एव शेते कुत्तौ निविष्य भुवनानि॥

आश्रिताधिक्ये यथा-

'युगान्तकालप्रतिसंहतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकासमासत ।

को पी जाती है वही आज अकेली स्त्री की अपूर्ण दृष्टि से पी लिया गया। यहाँ दो विरूपों का मेल है।

समालंकार - समिमित - योग्य वस्तुओं की अनुरूपता के कारण प्रशंसा को समालंकार कहते हैं। जैसे -शिशनीमिति-यह चन्द्रिका मेघमुक्त (शरद्श्रातुके) चन्द्रमा को प्राप्त हो गई। अपने अनुहर समुद्र में यह गंगा अवंतीर्ण हो गई। इस प्रकार अज और इन्दुमती के जोड़े की प्रशंसा करते हुए, समान गुणों के संयोग से प्रसन्न नगरनिवासी लोग अन्य राजाओं के कानों में खटकनेवाले उक्त वाक्यों को एक स्वर से कहने लगे। यहाँ दोनों योग्यों के मेल की श्लाघा होने से समालंकार है।

विचित्रमिति -यदि अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिये उसके विरुद्ध ही अनुष्ठान किया जाय तो 'विचित्र' अलंकार होता है। जैसे — प्रणमतीति — सेवक से अधिक मुढ़ कौन है जो उन्नति के लिये प्रणाम करता है, जीने के लिये पाण छोड़ता

है और सुख के लिये दुःख चाहता है!!

श्राभ्रयेति—आधार और आधेय में से एक के अधिक होने पर अधिकालंकार होता है। आधार की अधिकता का उदाहरण-किमिति—इस.समुद्र की अधिक महिमा हम क्या कहें, जिसके किसी एक कोने में अज्ञातकप से भगवान विष्णु सम्पूर्ण संसार को अपनी कुक्ति में समेट कर (प्रत्य में) सोया करते हैं। यहाँ समुद्र का आधिक्य है। आधिय की अधिकता का उदाहरण-गुगेति-जिन भगवान् कृष्ण के देह में प्रलय के समय समस्त ब्रह्माएड के लोक फैलफूट 0

तनौ ममुस्तत्र न कैटमद्विषस्तपोधनाम्यागमसंभवा मुदः ॥'

ऋन्योन्यमुभयोरेकिकियायाः करणं मिथः ।

'त्वया सा शोभते तन्वी तया त्वमिष शोभसे ।

रजन्या शोभते चन्द्रश्चन्द्रेणापि निशीथिनी ॥'

यदाधेयमनाधारमेकं चानेकगोःचरस् ॥ ७३ ॥

किश्चित्पञ्चवेतः कार्यमशक्यस्येतरस्य वा ।

कार्यस्य करणं दैवाद्विशेषस्त्रिविधस्ततः ॥ ७४ ॥

क्रमेण यथा-

'दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणा येषाम् । रमयन्ति जगन्ति गिरः, कथमिव कवयो न ते वन्द्याः ॥' 'कानने सरिदुद्देशे गिरीणामिप कंदरे । पश्यन्त्यन्तकसंकाशं त्वामेकं रिपवः पुरः ॥' 'गृहिणी सचिवः सखी मिथः वियशिष्या ललिते कलाविधौ । करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हतम् ॥' व्याघातः स तु केनापि वस्तु येन यथाकृतम् ।

कर समा जाते हैं, उन्हीं के देह में नारद मुनि के आने से उत्पन्न हुन्ना त्रानन्द न समा सका।

बन्योन्यभिति—दोनों जब एक ही क्रिया को परस्पर करें तब अन्योन्यालंकार होता है। यथा—त्वयेति—तुम से वह रमणी शोभित होती है और उससे तुम शोभित होते हो। रात्रि से चन्द्रमा की शोमा होती है और चन्द्रमा से रात्रि की। यदाध्यमिति—जहाँ विना आधार के ही आध्य रहे यहा एक चस्तु अने को में रहे अथवा कुछ काम करते हुए, दैववश किसी अशक्य कार्य की सिद्धि होजाय तो यह तीन प्रकार का विशेषालंकार होता है। क्रम से उदाहरण —िद्वामिति—स्वर्ग चले जाने पर भी जिनकी अधिक गुण्युक्त वाणी लोगों को कल्प पर्यन्त आनिद्वत करती रहती है वे किवलोग चन्द्वनीय क्यों नहीं? यहां किवल आधार के विना आध्य (वाणी) का निरूपण है। कानने इति—चन में, नदी पर और पर्वतों की कन्दरामों में सभी जगह शत्रु लोग यमराज के तुल्य तुम्हें देखते हैं। यहाँ एक राजा की अनेक स्थानों पर स्थिति बतलाई है। गृहिणीति—हे इन्द्र मित, निर्द्य मृत्यु ने तुम्हें हरण करते हुए मेरा क्या नहीं छीन लिया। तुम मेरी गृहिणी थीं, सचिव थीं, सखी थीं और लितत कलाओं में प्रिय शिच्या भी थीं। यहाँ एक के हरण से इन सब अशक्य वस्तुओं का हरण हुआ है। व्यापत इति—जो वस्तु किसी एक ने एक प्रकार से सिद्ध की है, दूसरा अदि

तेनैव चेदुपायेन कुरुतेऽन्यस्तद्व्यथा॥ ७५॥ वथा—'दशा दग्धं मनसिजं—'इत्यादि। सौकर्षेण च कार्यस्य विरुद्धं क्रियते यदि। व्याघात इत्येव।

'इहैत त्वं तिष्ठ द्रुतमहमहोभिः कितपयैः समागन्ता कान्ते मृदुरिस न चायाससहना। मृदुत्वं मे हेतुः सुभग भवता गन्तुमिधकं न मृद्री सोढा यद्विरहकृतमायासमसमम्॥'

अत्र नायकेन नायिकाया मृदुत्वं सहगमनाभावहेतुत्वेनोक्तम्। नायिकया च प्रत्युत सहगमने ततोऽपि सौकर्येण हेतुतयोपन्यस्तम्।

परं परं प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता ॥ ७६ ॥ तदा कारणमाला स्यात्

यथा---

''श्रुतं कृतिधयां सङ्गाजायते विनयः श्रुतात्। लोकानुरागो विनयान्न किं लोकानुरागतः॥'

तन्मालादीपकं युनः।

धर्मिणामेकधर्मेण संबन्धो यद्यथोत्तरम् ॥ ७७ ॥ यथा—

उसी उपाय से उसी वस्तु को पहले से विपरीत कर दे तो व्याघात अलंकार होता है। जैसे—हशेत्यादि, पूर्वोक्त पद्य। शिवजी ने कामदेव को दृष्टि से जलाया और स्त्रियों ने उसे दृष्टि से ही जिलाया, अतः यहां व्याघात अलंकार है। सौक्येंचेति—यदि कोई सुगमता से किसी कार्य को उत्तर दे तो भी व्याघात अलंकार होता है। जैसे—हहेंविति—हें कान्ते. तुम यहीं ठहरों, मैं थोड़े ही दिनों में लौट आऊँगा। तुम सुकुमार हो, मार्ग का खेद नहीं सह सकोगी। उत्तर—हें कान्त, मेरी सुकुमारता तो आपके साथ जाने की ही साधक है। जब में सुकुमार हूं तो विरद्ध के विषम खेद को कैसे सह सकूँगी? घत्रेति—यहाँ नायक ने नायिका की सुकुमारता को साथ न जाने का हेतु बतलाया था, परन्तु नायिका ने उसी को अति सुगमता से साथ जाने का ही हेतु बना दिया।

प्रामिति—अगले अगले के प्रति जहां पहली प्रती वस्तु हेतु होती जाय पहां कारणमाला अलंकार होता है। जैसे —अतिमिति —विद्वानों के संग से शास्त्र प्राप्त होता है और शास्त्र से विनय प्राप्त होता है। विनय से लोग अनुराग करते

विश्वीर लोगों के श्रनुराग करने पर फिर क्या नहीं होता ? विदिति—यदि श्रनेक धर्मियों का उत्तरोत्तर एक धर्म से सम्बन्ध होता जाय

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'त्विय संगरसंपाप्ते धनुषासादिताः शराः। शरैरृरिशिरस्तेन भूस्तया त्वं त्वया यशः॥'

अत्रासादनिक्रयां धर्मः।

पूर्व पूर्व प्रति विशेषणत्वेन परं परम्। स्थाप्यतेऽपोद्यते वा चेत्स्यात्तदैकावती द्विधा ॥ ७८ ॥

क्रमेगोदाहरगम्-

'सरो विकसिताम्भोजमम्भोजं भृङ्गसंगतम्। मृङ्गा यत्र ससंगीताः संगीतं सस्मरोदयम् ॥'

'न तज्जलं यन सुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तद्यदलीनषट्पदम् ।

न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः॥ कचिद्विशेष्यमपि यथोत्तरं विशेषगातया स्थापितमपोहितं च दृश्यते। यथा—

> 'वाप्यो भवन्ति विमलाः स्फुटन्ति कमलानि वापीषु । कमलेषु पतन्त्यलयः करोति संगीतमलिषु पदम्॥"

एवमपोहनेऽपि ।

उत्तरोत्तरमुत्कर्षो वस्तुनः सार उच्यते।

्रतो मालादीपक होता है। जैसे - लग्नीति - हे राजन्, रण में पहुँचने पर तुम्हारे धनुष ने शर प्राप्त किये, शरों ने शत्रुओं के शिर प्राप्त किये और शत्रुओं के शिरों ने पृथ्वी प्राप्त की (गिरकर) पृथ्वी ने आपको प्राप्त किया और आपने यश

प्राप्त किया। यहां प्राप्त करना धर्म है। वह सवमें है।

. पूर्विमिति-पूर्व पूर्व के प्रति अगले अगले को विशेषण के रूप में स्थापित करें या उसे हटावें तो यह दो प्रकार से एकावली अलंकार होता है। तालाव में कमल खिले हैं और कमलों में भ्रमर वैठे हैं। भ्रमरों में संगीत (गुआर) है श्रीर संगीत में कामकलाश्रों के विकास करने का सामर्थ्य है। यहां उत्तरोत्तर में एक एक विशेषता स्थापित की है। नेति—विश्वामित्रजी के साथ जाते हुए श्रीरामचन्द्रजी के मार्ग में ऐसा कोई जल (जलाशय=सरीवर) नहीं था जिस में रमणीय कमल न हों और ऐसा कोई कमल नहीं था जिसमें भ्रमर न बैठे हों पवम् ऐसा कोई भ्रमर नहीं था जो मनोहर गुिक्षत न कर रहा हो भीर ऐसा. कोई गुक्षित भी नहीं था जो जी को न लुमाता हो। यहां उत्तरोत्तर में अपोह है।

कविदिति कहीं विशेष्य भी उत्तरोत्तर विशेषण के रूप से स्थापित होता है श्रथवा अपोहित होता है - जैसे - वाप्य इति - वापियाँ (बाउड़ी) निर्मल होती हैं और कमल वापियों में खिलते हैं। कमलों पर भ्रमर आते हैं और भ्रमरों में

संगीत अपना पैर जमाये रहता है। इसी प्रकार अपोहन में भी जानना। उत्तरोत्तरिमिति—वस्तु का उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णन करने से सार अलंकार होता है। राज्ये इति—राज्य में सारभूत पृथ्वी है श्लीर पृथ्वी में सारभूत नगर है। एवं नगर CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'राज्ये सारं वसुधा वसुधायामि पुरं पुरे सौधम् । सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनानङ्गसर्वस्वम् ॥'

यथासंख्यमन्देश उदिष्टानां क्रमेण यत्॥ ७६॥

'उन्मीलन्ति, नखैर्जुनीहि, वहति, चौमाञ्चलेनावृग्गु-क्रीडाकाननमाविशन्ति, वलयकाग्गैः समुत्रासय। इत्थं वञ्जुलदित्तगानिलकुहूकग्रठेषु सांकेतिक-व्याहाराः सुभग, त्वदीयविरहे तस्याः सखीनां मिथः॥

कि चिदेकमनेकस्मिन्ननेकं चैकगं क्रमात्। भवति क्रियते वा चेत्तदा पर्याय इष्यते॥ ८०॥

क्रमेण यथा---

यथा.

'स्थिताः च्रणं पदमसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः । वलीषु तस्याः स्खलिताः पपेदिरे क्रमेण नामि प्रथमोदिवन्दवः॥'

मैं अटारी और अटारी में पलंग और पलंग पर काम सर्वस्व कामिनी सारभूत है।

यशासंख्यमिति—उद्दिश्च अर्थात् कहे हुए पदार्थों का यदि फिर उसी कम से
कथन हो तो यथा संख्य अलंकार होता है। जैसे—उन्मीलन्तीति—हे सुभग,
तुम्हारे वियोग में उसकी सिखयां परस्पर संकेत से इस प्रकार व्यवहार करती
है। जब एक कहती है, 'उन्मीलन्ति'=खिलते हैं तो दूसरी कहती है ने कों से नोच
डाल। जब कोई कहती है 'चल रहा है' तो दूसरी कहती है 'रेशमी दुपटे से
रोक दे' इधर जब कोई वोलती है कि 'कीडावन में घुस रही हैं' तो उधर से
आवाज आती है कि कं कण के शब्द से डराके भगा दे। सिखयां वेत्र, दिल्लानिल और को किलों के विषय में इसी प्रकार संकेत से व्यवहार करती हैं, विरह
की उद्दीपक इन वस्तुओं का नाम नहीं लेतीं। यह नहीं कहतीं कि बेंत खिलते
हैं। दिल्लानिल चलता है और कीडावन में कोयले घुस रही हैं। यहां
विज्ञुल, दिल्लानिल और कुद्दू कएठ का 'उन्मीलन्ति' 'वहति' और 'आविशन्ति'
दन तीन पूर्वोक्ष कियाओं के साथ यथ।संख्य से कर्तृत्व सम्बन्ध होता है।
विज्ञुल, दिल्लानिल की कियाओं के साथ यथ।संख्य से कर्तृत्व सम्बन्ध होता है।
विज्ञुल, किसी कम से निर्दिष्ट पदार्थों के साथ उसी कम से समन्वय को
पेयासंख्य' अलंकार कहते हैं।

किविदिति—एक वस्तु अनेकों में या अनेक वस्तु एक में क्रम से हो या की जाय तो 'पर्याय' अलंकार होता है। क्रम से उदाहरण —िरंगता इति—तपस्या करती हुई पार्वती के ऊपर गिरीहुई पहली वर्षा की बूंदें चणभर पलकों पर क्रमीं, फिर वहां से अधरोष्ठ परे गिरीं, और इसके अनन्तर उन्नत' पर्योधरीं पर गिरकर चूर्णित हुई, फिर त्रिवली में स्बलित हुई और बहुत देर में नामि तक पहुँचीं। यहां एकही वस्तु (बिन्दु) अनेकों में स्थित हुई है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'विचरन्ति विलासिन्यो यत्र श्रोणिमरालसाः ।
वृक्तकाकशिवास्तत्र धावन्त्यिरपुरे तव ॥'
'विसृष्टरागादधरानिवर्तितः
स्तनाङ्गरागादरुणाच कन्दुकात् ।
कुशाङ्करादानपरिज्ञताङ्गुलिः
कृतोऽज्ञसूत्रप्रणयी तया करः ॥'
'ययोरारोपितस्तारो हारस्तेऽरिवधूजनैः ।
निधीयन्ते तयोः स्थूलाः स्तनयोरश्रुविन्दवः ॥'

एषु च कविदाधारः संहतरूपोऽसंहतरूपश्च।कविदाधेयमि। यथा—-'स्थिताः च्राणं—' इत्यत्रोदबिन्दवः पदमादावसंहतरूप त्र्याधारे क्रमेणाभवन् । 'विचरन्ति-' इत्यत्राधेयभूता वृकादयः संहतरूपारिपुरे क्रमेणाभवन् । एवमन्यत् । त्र्यत्र चैकस्याने-कत्र क्रमेणैव वृत्तेर्विशेषालंकाराद् भेदः । विनिमयाभावात्परिवृत्तेः ।

## परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकै भवेत्।

विचरन्तीति – तुम्हारे रिपुनगर में जहाँ पहले सघन जघनवाली विलासिनी मन्द मन्द गति से चला करती थीं वहीं श्रव भेड़िये, कीए श्रीर गीद् इ कवड़ी लगाते हैं। यहाँ श्रनेक वस्तु एक ही नगर में हुई हैं।

विस्टेति—जिस पर लाक्षाराग लगाना बन्द कर दिया है उस अधरोष्ठ से श्रीर श्रर्कराग से तथा स्तन के श्रङ्गराग और लाल कन्दुक से हटाकर कुश उखाइने के कारण जिसकी उँगिलयें चत हो गई हैं ऐसा अपना हाथ पार्वती ने केवल रुद्राच की माला का प्रण्यी कर दिया। उस समय न अधरोष्ठ के राग में हाय लगता था, न कन्दुक की कीड़ा में, न और किसी श्रुकार में। केवल रुद्राच की माला के प्रहण में ही निमन्त था। यहाँ एक ही हाथ की कम से अनेक कार्यों में प्रवृत्त किया है। तपस्या से पहले सिगार और कीड़ा में हाथ लगता था और तपस्या के समय रुद्राच और कुशप्रहण में लगा। ययोरिति—हे राजन्, तुम्हारी रिपुनारियों ने जिनमें पहले विशुद्ध मोतियों का हार आरोपित किया या उन्हों स्तनों में अब मोटे मोटे अश्रुविन्दुओं को अ।रोपित करती हैं। यहाँ एक स्थान में अने क वस्तु हैं। एषु चेति—इन में आधार कहीं संहत (मिलित) रूप होता है कहीं असंहत। 'स्थिता' इत्यादि में जल विन्दु कम से अमिलित आधार (पलकआदि) में स्थित हुए हैं। 'विचरित' इसमें मिलित आधार (नगर) में आधेयभूत वृक्तादिक कम से दिखाये हैं। अत्र चेति—यहाँ एक वस्तु अनेकों में क्रम से जाती है, एक ही समय में नहीं। श्रतः विशेषालङ्कार से इसका भेद है। बदला न होने से परिवृत्ति से भेद है। परिवृत्तिति—समान, न्यून अथवा अधिक के साथ विनिमय (बद्बा)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

क्रमेणोदाहरणम्-

'दत्त्वा कटात्तमेगात्ती जग्राह हृदयं मम।
मया तु हृदयं दत्त्वा गृहीतो मदनज्वरः॥'
अत्र प्रथमेऽर्घे समेन, द्वितीयेऽर्घे न्यूनेन।
'तस्य च प्रवयसो जटायुषः
स्वर्गिगाः किमित्र शोच्यतेऽधुना।
येन जर्जरकलेवरव्ययास्क्रीतिमिन्दुकिरगाोऽज्वलं यशः॥'

अत्राधिकेन ।

प्रश्नाद्मश्नतो वापि कथिताद्वस्तुनो भवेत् ॥ ८१ ॥ ताद्दगन्यव्यपोहश्चेच्छाव्द आर्थोऽथवा तदा । परिस्रंख्या

क्रमेगोदाहरणम्-

'िक भूषणं सुदृढमत्र यशो न रहां कि कार्यमार्यचिरतं सुकृतं न दोषः। कि चतुरमितहतं धिषणा न नेत्रं जानाति कस्त्वदपरः सदसिद्ववेकम्॥'

अत्र व्यवच्छेदं रतादि शाब्दम् ।

'किमाराध्यं सदा पुण्यं करच सेव्यः सदागमः । को ध्येयो भगवान्विष्णुः किं काम्यं परमं पदम्॥'

करने से परिवृत्ति अलङ्कार होता है। कम से उदाहरण—दलेति—उस मृगन्यनी ने कटाल देकर मेरा हृद्य ले लिया और मैंने हृद्य देकर कामज्वर खरीदा। यहाँ पूर्वार्ध में समान के साथ और उत्तरार्ध में न्यून के साथ वितिम्य है। तस्येति—स्वर्गगामी उस वृद्ध जटायु के विषय में अब क्या सोच करते हो जिसने जीर्ण शरीर देकर चन्द्रमा की किरणों के समान उज्ज्वल यश मोल ले लिया। यहाँ अधिक गुणवाली वस्तुं (यश) के साथ विनिमय हुआ है। प्रश्नादिति—प्रश्नपूर्वक या विनाही प्रश्न के जहाँ कही हुई वस्तु से अन्य की शब्द के द्वारा ज्यावृत्ति होती हो अयवा अर्थसिद्ध ज्यावृत्ति (ज्यवज्लेद) होती हो बहाँ परिसंख्यालङ्कार होता है। कम से उदाहरण—संसार में सुदृद भूषण क्या है? यश है, रत्न नहीं। कर्तव्य क्या है? सत्युक्षों से आचरित पुर्य, दोष नहीं। अप्रतिहत चलु क्या है? बुद्धि है, नेत्र नहीं। वुम्हारे सिवा दूसरा कौन सत् और असत् का विवेक कर सकता है। बनेति—यहाँ पहले परन किया है। फिर यश को मूषण बताया और उससे अन्य रत्नादि की शब्द से ही ज्यावृत्ति कर दी। 'न रतन' कहकर उसकी दृढभूषण्वता का व्यवज्लेद किया है। इसी प्रकार अगले अर्थ में भी जानना। किमिति—आराध्य क्या है शिया है। इसी प्रकार अगले अर्थ में भी जानना। किमिति—आराध्य क्या है शिया है। इसी प्रकार अगले अर्थ में भी जानना। किमिति—आराध्य क्या है शिया है। इसी प्रकार अगले अर्थ में भी जानना। किमिति—आराध्य क्या है शिया है। इसी प्रकार अगले अर्थ में भी जानना। किमिति—आराध्य क्या है शिया है। इसी प्रकार अगले अर्थ में भी जानना। किमिति—आराध्य क्या है शिया है। इसी प्रकार अगले अर्थ में भी जानना। किमिति—आराध्य क्या है शिया है।

श्चन्न व्यवच्छेदं पापाद्यार्थम् । श्चनयोः परनपूर्वकत्वम् । श्चपरनपूर्वकत्वे यथा-'भिक्तर्भवे न विभन्ने व्यसनं शास्त्रे न युवितकामास्त्रे । चिन्ता, यशिस न वपुषि प्रायः परिदृश्यते महताम् ॥' 'बलमार्तभयोपशान्तये विदुषां संमतये बहु श्रुतम् । वसु तस्य न केवलं विभोर्गु गुवत्तापि परमृयोजना ॥'

रलेषमूलत्वे चास्य वैचित्र्यविशेषो यथा—

यस्मिश्च राजिन जितजगित पालयित महीं चित्रकर्मसु वर्णसंकराश्चापेषु गुगाच्छ्रेदाः—' इत्यादि !

## उत्तरं प्रश्नस्योत्तरादुवयो यदि ॥ ८२॥ यचासकृदसंभाव्यं सत्यपि प्रश्न उत्तरम् ।

यथा मम-

'वीचितुं न चमा रवश्रूः स्वामी दूरतरं गतः। अहमेकािकनी बाला तबेह वसितः कुतः॥'

पुर्य। सेवनीय क्या है ? सच्छास्त्र। ध्यान करने योग्य कौन है ? मगवान् विष्णु। इच्छा करने योग्य क्या है ? मुक्ति। यहां पुरायादि शब्दों का व्यवच्छेच पापादिक अर्थ सिद्ध है। शब्द से उसका कथन नहीं है। इसमें भी प्रश्नपूर्वक ्रवाक्य है। अप्रश्न का उदाहर्ण-मिक्तिरिति - बड़े लोगों की भक्ति भव (शिव) में होती है, विभव (धन) में नहीं। व्यसन शास्त्रों में होता है, युवितयों के कामास्त्र में नहीं। चिन्ता यश की होती है, देह की नहीं। यहां प्रश्नं तो नहीं है, परन्तु 'न विमवे' इत्यादि व्यवच्छेच शब्दोक्त है। बलमिति उस राजा का बल आर्त पुरुषों का मय दूर करने के लिये था, बढ़ा हुआ शास्त्रज्ञान विद्वानों का सम्मान करने के लिये था। केवल धन ही नई उसके गुण भी दूसरों के उपकार के ही लिये थे। यहां प्रश्त नहीं है और अन्य का व्यवच्छेर आर्थ है। यदि यह अलङ्कार श्लेषमुलक हो तो विचित्रता अधिक होती है-जैसे —यिरमिनिति — जगत् को जीतकर पृथ्वी का पालन करते हुए जिस राजा के समय में तसवीरों में ही वणों का खाङ्कर्य होता था श्रीर धनुषों में ही गुणों का विच्छेद होता था। यहां वर्ण शब्द का अर्थ ब्राह्मणादिक भी है और शुक्लादिक मी है। राजा श्रद्भक के राज्य में वणों का साङ्कर्य यदि कहीं था तो केवल तसवीरों में —प्रजा में वर्णसङ्करता का गन्ध भी नहीं था। यहां प्रश्न नहीं है। अन्यव्यवच्छेद आर्थ है। श्लेष होने से चमत्कार विशेष है। इसी प्रकार गुण शब्द भी दया, दाचिएयादि श्रीर प्रत्यञ्चा का वावक है। उत्तरमिति — उत्तर से यदि प्रश्न की ऊदा हो जाय अयवा प्रश्न होने पर अनेक बार असम्भाव्य उत्तर दिया जाय तो उत्तराबङ्कार होता है। जैसे —बीचितुमिति—'सास की दीखता नहीं, स्त्रामी ऋति दूर देश में गये हैं। मैं बाला अकेली हूं, तुके यहां ब्रुनेन पथिकस्य वसितयाचनं प्रतीयते । 'का विसमा देव्वगई, किं लद्भव्वं जगाो गुगागाही । किं सोक्खं सुकलत्तं, किं दुग्गेज्मं खलो लोख्यो ॥'

अत्रान्यव्यपोहे तात्पर्याभावात्परिसंख्यातो भेदः। न चेदैमनुमानम्। साध्य-साधनयोर्द्वयोर्निर्देश एव तस्याङ्गीकारात्। न च काव्यतिङ्गम्। उत्तरस्य प्रश्नं प्रत्यजनकत्वात्।

द्गडापूपिक्रयान्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते ॥ ८३ ॥

मूषकेण दण्डो भिच्नित इत्यनेन तत्सहचरितापूपभच्चणमर्थादायातं भवतीति नियतसमानन्यायादर्थान्तरमापततीत्येष न्यायो दण्डापूपिका। अत्र च कचित्पाकर-णिकादर्थादपाकरिणकस्यार्थस्यापतनं कचिदपाकरिणकार्थात्पाकरिणकार्यस्योतिह्रौ भेदौ । क्रमेणोदाहरणम्—

'हारोऽयं हरिणाचीणां लुठित स्तनमण्डले । मुक्तानामप्यवस्थेयं के वयं स्मर्किकराः ॥'

रहने का स्थान कैसे मिल सकता है ?। इस उत्तर से यह प्रतीत होता है कि कोई बटोही (पथिक) ठहरना चाहता है। उसके प्रश्न की प्रतीति इसी से होती है। का इति—'का विषमा दैवगतिः कि लब्बच्यं जनो ग्रुषप्राहां। कि सौख्यं एकलतं कि इर्मांबं खलो लोकः' विषम वस्तु क्या है ? दैवगति। प्राप्तव्य क्या है ? गुणप्राहा जन। सौख्य क्या है ? सुशील स्त्री। दुराराध्य क्या है ? दुष्ट पुरुष। यहां अन्य व्यवच्छेद में तात्पर्य नहीं रहता। यहां यह अभिप्राय नहीं है कि दैवगित के अतिरिक्त और कुछ विषम नहीं है। यही इसका 'परिसंख्या' से भेद है। इसे अनुमान भी नहीं कह सकते, क्योंकि अनुमान वहीं माना जाता है जहां साध्य और साधन दोनों ही का निर्देश हो। यह काव्यलिङ्ग भी नहीं—क्योंकि यहां उत्तर, प्रश्न का उत्पादक हेतु नहीं है।

अर्थापत्ति-दण्डेति-'दण्डापूपिका'न्यायसे दूसरे अर्थका ज्ञान होनेपर'अर्थापत्ति' अबङ्कार होता है। मूक्केणेति—िकसी ने कहा कि 'डण्डा चूहे ने खा लिया' तो इससे यह बात भी आ गई कि उस डण्डे में बँधे हुए अपूप (मालपुप) भी उसने खा लिये। जिसने डण्डे जैसी कठोर वस्तु नहीं छोड़ी वह मुलायम और मीठे अपूपों को कब छोड़नेवाला है। इसी तुल्यन्याय से जहां अर्थान्तर की अर्थवल से सिद्धि होती हो वहां 'दण्डापूपिका' न्याय कहाता है। जहां किसी दुष्कर कार्य की सिद्धि के द्वारा सुकर कार्य की सुगम सिद्धि इसी प्रकार भतीत होती हो वही इस न्याय का विषय होता है। अत्र लेति—इसमें कहीं भक्त अर्थ से अप्रकृत अर्थ की प्रतीति होती है और कहीं अप्रकृत से प्रकृत की। कम से उदाहरण—हार इति—यह हार मृगनयनियों के स्तनमण्डलों पर लोट रहा है। जब मुक्तों (या मुक्ताओं) की भी यह दशा है तो हमारे जैसे कामिक करों की तो बात ही क्या। यहां 'मुक्तानाम' पद शिलष्ट है। विल्लापेति—

'विललाप स वाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम् । अतितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिणाम् ॥'

अत्र च समानन्यायस्य रलेषमूलत्वे वैचित्र्यविशेषो यथोदाहृते 'हारोऽयं-' इत्यादौ । न चेदमनुमानम् । समानन्यायस्य संबन्धरूपत्वाभावात् ।

विकल्पस्तुल्यबलयोर्विरोधरचातुरीयुतः ।

यथा—'नमयन्तु शिरांसि धनूंषि वा कर्णपूरीकियन्तामाज्ञा मौन्यों वा।' अत्र शिरसां धनुषां च नमनयोः संधिविष्रद्दोपलक्षात्वात् संधिविष्रद्दयोश्चैकदाकर्तुमश-क्यत्वाद्विरोधः । सं चैकपन्नाश्रयणपर्यवसानः । तुल्यवलत्वं चात्र धनुःशिरोनमनयो-द्वयोरिप स्पर्धया संभाव्यमानत्वात् । चातुर्यं चात्रौपम्यगर्भत्वेन । एवं 'कर्णपूरीकिय-न्ताम्' इत्यत्रापि । एवं 'युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः' । अत्र श्लेषावष्टम्भेन चारुत्वम् ।

महाराज अज स्वाभाविक धैर्य को भी छोड़ कर आंस् बहा वहा कर रोने लगे। अत्यंत संतप्त होने पर लोहा भी मृदु हो जाता है प्राणियों की तो बात ही क्या। इन उदाहरणों में मुक्तों के वशीभूत होने और लोहे के तपने पर मृदु होने से औरों का सुगमतया वशोभूत होना तथा मृदु होना अर्थापक है। यहां इलेष होने पर चमतंकार विशेष होता है जैसे 'हार' इत्यादि। यह अनुमान नहीं है, क्योंकि तुल्यन्याय, हेतुक्षप या व्याप्तिक्षप नहीं होता। औचित्य से ही अर्थान्तर की प्रतीति होती है।

विकल्प इति—समान बलवाली वस्तुओं का चतुरतापूर्वक दिखाया हुआ विरोध विकल्पालङ्कार कहाता है। जैसे—निषयन्तु इति—सिर भुकाओ या धतुष भुकाओ। हमारी आज्ञा को कान पर चढ़ाओ या प्रत्यञ्चा को चढ़ाओ। अविति यहां सिर भुकाना सिन्ध करने का उपलवण है और धतुष भुकाना विष्रह का। ये दोनों (सिन्ध और विष्रह) एक समय में हो नहीं सकते, अतः विरोध है। उसका पर्यवसान एक पत्त के आश्रय करने में होता है। दोनों तो हो ही नहीं सकते, अतः चाहे सिन्ध कर लो, चाहे विष्रह कर लो-यह तात्पर्य है। स्पर्धा के कारण वक्ता को प्रतिपत्ती के शिरोनमन और धतुर्नमन इन दोनों की सम्मावना है, अतः इनका तुल्यबलत्व है। इस अलंकार में साहश्यगर्मित निर्देश करने में ही चातुर्य होता है। नमन कप साधारण धर्म का अन्वय धतुष में भी होता है और सिर में भी, अतपव यहां साहश्य अन्तर्हित होने के, कारण प्रकृत उदाहरण में औपम्यगर्भत्व है। इसी प्रकार 'कर्ण' इत्यादि में भी जानना। निम्न लिखित पद्य में श्लेष के कारण चाहता है।

'मिक्तप्रद्वाविलोकनप्रयायिनी नीलोत्पलस्पर्धिनी ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैनीते हितप्रासये । लावपयस्य महानिधी रसिकतां लच्चमीहशोस्तन्वती युष्माकं कुरुतां सवार्तिशमनं नेत्रे तत्रुवां हरेः ॥'

'दीयतामर्जितं वित्तं देवाय ब्राह्मणाय वा।' इत्यत्र चातुर्याभावान्नायमलंकारः।

> समुचयोऽयमेकस्मिनसित कार्यस्य साधके ॥ ८४॥ खले कपोतिकान्यायात्तत्करः स्यात्परोऽपि चेत्। गुणौ किये वा युगपतस्यातां यद्वा गुणकिये॥ ८४॥

यथा मम---

'हंहो धीरसमीर हन्त जननं ते चन्दनद्गामृतो दान्तिएयं जगदुत्तरं परिचयो गोदावरीवारिभिः। प्रत्यङ्गं दहसीति मे त्वमि चेदुद्दामदावाग्निव-न्मत्तोऽयं मिलनात्मको वनचरः कि वद्दयते कोकिलः॥' अत्र दाहे एकस्मिरचन्दनदमामृजन्मरूपे कारणे सत्यिप दान्तिएयादीनां हेत्वन्त-

इस पद्य में लिझ-श्लेष भी है और ववन-श्लेष भी है। उसी के कारण 'नीलोत्पलस्पर्धित्व' आदि साधारण धर्मों का अन्वय नेत्रों के साथ भी होता है और तजु के साथ भी। इसी से यहां श्लेषमृतक औपम्यगर्भत्व है। यही वाहता का हेतु है। प्रश्न—तुल्पवल वस्तुओं के विरोध में ही विकल्प अलंकार होता है, परन्तु प्रकृत उदाहरण में कोई विरोध नहीं है। हिर के नेत्र और उनकी तजु में परस्पर विरोध क्या हो सकता है? उत्तर—तजु के भीतर नेत्र भी आही जाते हैं, फिर नेत्रों का पृथक् प्रहण क्यों किया? इस पृथक् निद्रेश से हो स्पर्धा प्रतीत होती है और यह स्पर्धा ही विरोध का बीज है।

दीयतामिति—इस पद्य में चारुता नहीं, अतः यहां यह अलंकार भी नहीं है।

सप्चय इति—जहां कार्य के साधक किसी एक के होने पर भी 'खलक्षोत' न्याय
से दूसरी भी उसी कार्य का साधक हो तो समुचयालङ्कार होता है। एवं दो
गुणों अथवा दो कियाओं या गुण और कियाओं के एक साथ होने पर भी
समुचयालङ्कार होता है। इंहो—हे घीर सभीर, तुम्हारी उत्पत्ति चन्दनवनों
से युक्त मलयाचल से हुई है, दाचिएय तुम्हारा लोकोत्तर है, और मित्रता
तुम्हारी पिवत्र गोदावरी के स्वच्छ जल के साथ है, तथापि प्रचएह अग्नि के
समान तुम मेरे प्रत्येक अङ्ग को दग्ध करते हो तो किर वह मदान्य, जङ्गली
काली कोयल क्या करेगी ? जब तुम सत् होकर इतना दुःख देते हो तो उस
मतवाले वनचर से कैसे बनेगी ? अनेति—यहां चन्दनाचल से जन्म होना एक
कारण था ही-तिसपर भी दाचिएयादि और हेतुओं का उपादान किया है।
उत्तम छल प्रसूत होने के कारण ही जलाना अनुचित था किर दाचिएयादि के
होने पर तो अविनय अत्यन्त अनुचित है। एवं मदान्य होना ही दुःख देने का
कारण है उस पर किर काला आर वनचर होना 'करेले और नीम चढ़े' की

राणामुपादानम् । अत्र सर्वेषामपि हेतूनां शोभनत्वात्सद्योगः । अत्रैव चतुर्थपादे मत्तादीनामशोभनानां योगादसद्योगः ।

सदसद्योगो यथा—

'शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी सरो विगतवारिजं मुखमनचरं स्वाकृतेः। प्रमुर्धनपरायग्राः सततदुर्गतः सज्जनो

• नृपाङ्गनगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥'

इह केचिदाहुः—'शशिपमृतीनां शोभनत्वं खलस्याशोभनत्विमिति सदसद्योगः' इति । अन्ये तु 'शशिपमृतीनां स्वतःशोभनत्वं धूसरत्वादीनां त्वशोभनत्विमिति सदसद्योगः ।' अत्र हि शशिप्रमृतिषु धूसरत्वादेरत्यन्तमनुचितत्विमिति विच्छिति-विशेषस्यैव चमत्कारविधायित्वम् । मनसि सप्तशब्यानीतिसप्तानामपि शब्यत्वेनोपसं-हारस्च।'नृपाङ्गनगतःखल' इति पत्युतक्रमभेदादुष्टत्वमावहति । सर्वत्र विशेष्यस्यैव शो-भनत्वेन प्रक्रमादिति।इह च खले कपोतवत्सर्वेषां कारणानां साहित्येनावतारः । समा-ध्यलंकारे त्वेककार्यं पति साधके समप्रेऽप्यन्यस्य काकतालीयन्यायेनापतनिमिति भेदः ।

माँति है। अत्रेति - यहां पहले तीन चरणों में सब हेतु श्रों के शोभन होने के कारण ''सद्योग है और अन्तिम चरण में असद्योग है। सद्सद्योग का उद्।हरण— राशीति—दिन की प्रभा से मलिन चन्द्रमा, गलितयौवना कामिनी, कमल-रहित सरोवर, सुन्दर पुरुष का विद्याशून्यं मुख, लोभी स्वामी, दरिद्रता से अभिभूत सज्जन और राजद्रबार में पहुँचा हुआ दुष्ट पुरुष ये सात मेरे हृद्य में शल्य की तरह चुमते हैं। इहेति —यहां कोई कहते हैं कि शशी आदिक शोभन हैं और खल अशोभन है, अतः यहां सद्सद्योग है। अन्ये-दूसरे लोग यह मानते हैं कि शशी अदिक स्वयम् शोभन हैं, किन्तु धूसरत्वादिक अशोमन हैं। इस प्रकार यहां सदसदोग है। शशी आदिकों में धूसरत्वादिक अत्यन्त अनुचित हैं-यही वैचित्रयविशेष यहां चमत्कारक है और अन्त्य में साती को शल्य कहकर उपसंहार किया है, अतः इसी प्रकार से प्रत्येक में सत् और असत् का योग मान्ना चाहिये। अन्यथा यदि शशी आदि अच्छे हैं और केवल खल ही बुरा है तो एक ही शत्य होना चाहिये। सातो शहय तभी होंगे जब सबमें कुछ कुछ असद् वस्तु मानी जाय। 'नृपाङ्गन' इत्यादि श्रंश विशुद्ध श्रलंकारत्व का प्रयोजक नहीं, प्रत्युत 'भग्नप्रक्रम' नामक दोष का प्रयोजक है। पहले सबमें विशेष्य अञ्जा और विशेषण बुरा है, किन्तु यहां विशेष्य (खल) ही बुरा हो गया है। इह चेति - जैसे दोनों पर कबूतर एकदम गिरते हैं इसी प्रकार यहां सब कारण एक साथ कार्यचेत्र में उतरते हैं, परन्तु समाधि अलंकार में पर्याप्तकप से कार्यसाधक एक हेतु के होने पर अकस्मात् दूसरा

'श्ररुणे च तरुणि नयने तन, मिलनं च पियस्य मुखम् । मुखमानतं च सिख ते ज्विलतरचास्यान्तरे स्मरज्वलनः ॥' अत्राद्येऽर्घे गुणयोयोंगपद्यम् , द्वितीये क्रिययोः । उभयोयोंगपद्ये

यथा--

'कलुषं च तवाहितेष्वकस्मात्सितपङ्करुहसोदरिश्च चत्तुः।
पतितं च महीपतीनद्र तेषां वपुषि पर्फुटमापदां कटात्तैः॥'
'धुनोति चासि तनुते च कीर्तिम्।'

इत्यादावेकाधिकरणेऽप्येष दृश्यते । न चात्र दीपकम् । एते हि गुणिक्रियायौग-पद्ये समुचयमकारा नियमेन कार्यकारणकालनियमविपर्ययरूपातिशयोक्तिमूलाः । दीपकस्य चातिशयोक्तिमूलत्वाभावः ।

# समाधिः सुकरे कार्ये दैवाद्वस्त्वन्तरागमात्।

यथा--

'मानमस्या निराकतुं पादयोर्मे पतिष्यतः । उपकाराय दिष्ट्येदमुदीर्णं घनगर्जितम् ॥'

मा पहता है। यही इनका भेद है। महणे चेति—हे तहिण, तुम्हारे नेत्र लाल हुए और तुम्हारे नियतम का मुख मिलन पड़ गया। और इधर तुम्हारा सिर नीचा हुआ (कोपशान्ति से) कि उधर उसके हृद्य में कामानल प्रदीप्त होने लगा। यहां पूर्वार्ध में लालिमा और मिलनतारूप गुणों का यौगपध (साथ) है और उत्तरार्ध में नमन और उवलनरूप कियाओं की एककालिकता का उदाहरण—क्लुषमिति—हे राजन, शुक्ल कमल के समान सुन्दर तुम्हारे नेत्र जहां शत्रुओं के ऊपर कलंषित हुए कि उसी समय उनके ऊपर आपित्तयों के कटाइ बरसने लगे। यहां कलुषतारूप गुण और कटाइ पतन हुप किया एक काल में विणित हैं। धुनोति—इत्यादिकों में एक अधिकरण में भी समुख्य मिलता है। यहां 'दीपक'न समसना, क्योंकि उसमें अतिश्योक्ति मृलभूत नहीं होती, किन्तु यहां गुण किया के यौगप्य में कार्य-कारण का पौर्वापर्य विपर्यस्त रहता है, अतप्य समुख्य के रन भेदों में अतिश्योक्ति अवश्य रहती है।

समाधिरिति —दैववश आई हुई किसी वस्तु के कारण यदि प्रस्तुत कार्य सुकर हो जाय तो 'समाधि' अलङ्कार होता है। जैसे —मानमिति —में इस मानिनी का मान दूर करने के लिये पैरों पर गिरने को तथार ही था कि मेरे प्रारुध से यह मेधगर्जन उदित हो गया। यहां अचानक उदित हुए मेधगर्जन से मानापनो-

दन सुगम हो गया है।

## प्रत्यनीकमशक्तेन धतीकारे रिपोर्धदि ॥ ८३ ॥ तदीयस्य तिरस्कारस्तस्यैवोत्कर्षसाधकः ।

तस्यैवेति रिपोरेव । यथा मम-

'मध्येन तनुमध्या मे मध्यं जितवतीत्ययम् । इमकुम्मौ भिनत्त्यस्याः कुचकुम्भनिभौ हरिः ॥

## प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनस् ॥ ८७॥ निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपिमिति कथ्यते।

क्रमेण यथा-

'यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति सिलले मग्नं तिदिन्दीवरं—' इत्यादि । 'तद्रक्त्रं यदि, मुद्रिता शशिकथा हा हेम, सा चेद्धुति-स्तचतुर्यदि, हारितं कुवलयैस्तचेत्स्मितं, का सुधा। धिक्रन्दर्यधनु, र्भुवौ यदि च ते कि वा बहु ब्रूमहे यत्सत्यं पुनरुक्तवस्तुविमुखः सर्गक्रमो वेधसः॥' अत्र वक्त्रादिभिरेव चन्द्रादीनां शोभातिवहनात्तेषां निष्फलत्वम्।

प्रत्यनीकिभिति—प्रधान श्रमु के तिरस्कार करने में अश्रक्त होने से यदि उसके किसी सम्बन्धी का तिरस्कार किया जाय जिससे श्रमु या प्रतिपद्म का ही उत्कर्ष प्रकट होता हो, तो प्रत्यनीक अलङ्कार होता है। उदाहरण—मध्येनेति-इस तजुमध्या ने अपने मध्य (कमर) से मेरी कमर को जीत लिया है—यह समक्षकर सिंह इस कामिनी के कुचकलशों के तुल्य गजराज के मस्तक को विद्शिष करता है। यहां कमर को जीतनेवाली 'तजुमध्या' प्रधान श्रमु है, गजराज नहीं, परन्तु तिरस्कार उसी का हुआ है।

प्रतिद्धस्येति-प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बनाना या उसको निष्पल बताना प्रतीप अलङ्कार कहाता है। यदिति—यह काव्यलिङ्ग में आ चुका है। तेत्रा-दिकों का उपमान कमलादिक प्रसिद्ध है। उसे यहाँ उपमेय बनाया है। तहक्त्रमिति—यदि वह मुख है तो चन्द्रमा की वात समाप्त हुई और जब उसके अङ्ग की छवि का ध्यान आता है तो सुवर्ण कुछ नहीं जचता। यदि वे चश्च हैं तो नील कमल हार गये और उस स्मित के आगे अमृत भी क्या है। यदि उन भृकृटियों की बात है तो काम के धनुष को भी धिकार है। अधिक क्या कहें, सच पूछो तो ब्रह्मा की सृष्टि में एक के जोड़ की दूसरी वस्त हैं ही नहीं। तात्पर्य यह है कि इस नायिका के जोड़ का भी कोई उपमान नहीं। यहां उपमानक्त से प्रसिद्ध चन्द्रादि का तैयध्ये कहा है।

# उक्तवा चात्यन्तमुत्कर्षमत्युत्कृष्टस्य वस्तुनः ॥ दद ॥ क्वित्तेऽप्युपमानत्वे प्रतीपं केचिद्चिरे ।

यथा-

'श्रहमेत्र गुरुः सुदारुणाना-मिति हालाहल तात मा स्म दृप्यः । ननु सन्ति भवादृशानि सूयो भुत्रनेऽस्मिन्त्रचनानि दुर्जनानाम्॥'

अत्र प्रथमपादेनोत्कर्षातिशय उक्तः । तदनुक्तौ तु नायमलंकारः। यथा—'ब्रह्मेव ब्राह्मणो वदति' इत्यादि ।

मीलितं वस्तुनो गुप्तिः केनचित्तुल्यलक्ष्मणा ॥ ८६ ॥ अत्र समानलत्त्रणं वस्तु कचित्तहजं कचिदागन्तुकम् । क्रमेण यथा — 'लद्दमीवन्नोजकस्तूरीलद्दम वन्नःस्थले हरेः । प्रस्तं नालन्नि भारत्या भासा नीलोत्पलाभया ॥'

अत्र भगवतः श्यामा कान्तिः सहजा।

'सदैव शोगाोपलकुण्डलस्य यस्यां मयूखैररुणीकृतानि । कोपोपरक्तान्यपि कामिनीनां मुखानि शङ्कां विदधुर्न यूनाम् ॥'

उन्तेति—िकसी अत्युत्कृष्ट वस्तु का अत्यन्त उत्कर्ष वर्णन करके पीछे किसी दूसरी वस्तु को उसका उपमान बना देने पर भी कोई लोग प्रतीपालङ्कार मानते हैं। जैसे—अइमिति—हे तात हालाहल, (कालक्र्यः विष,) यह घमण्ड मत करो कि दारुण वस्तुओं में सबके गुरु हम ही हैं। तुम्हारे जैसे प्राण्यातक इस संसार में दुर्जनों के बहुतेरे वचन विद्यमान हैं। यहां प्रथम चरण्ये हालाहल का उत्कर्ष कहा फिर उसे दुर्जन वचनों का उपमान बना दिया। उत्कर्ष विना कहे 'ब्रह्मेव ब्राह्मणों वद्ति' इत्यादि स्थल में यह अलङ्कार नहीं होता।

मीलितमिति—िकसी तुल्यल तण वस्तु से किसी अन्य वस्तु के ञ्चिप जाने पर मीलिताल इता है। अनेति — तुल्य ल त्या वस्तु कहीं तो स्वामाविक होती है और कहीं बाहर से आई हुई। क्रम से उदाहरण — ल दमीति — विष्णु के वताः स्थल में लगा हुआ लक्ष्मी के कुचस्थल की कस्तूरी का चिह्न सरस्वती ने नहीं पिंचचाना, क्यों कि चह नी लक्षमल सहश भगवान की शरीरकान्ति से एक हो रहा था। अनेति — यहां भगनान की श्याम छ्वि स्वामाविक है। उससे तुल्य वर्ण (श्याम) कस्तूरी का चिह्न ञ्चिपा है। दूसरा उदाहरण — यस्यामिति—िजस नगरी में लाल रत्नों से जटित कुएडलों की किरणों, से सदा लाल रहनेवाले कामिनियों के मुख कोध से रक्त होने पर भी कामुकों को कुछ यहां नहीं पैदा करते थे। यह उनकी समक्त में ही न आता था कि ये कोध

अत्र माणिक्यकुण्डलस्यारुणिमा मुखे आगन्तुकः । सामान्यं प्रकृतस्यान्यतादात्म्यं सहशौर्णुणैः ॥

यथा-

भिर्म्भिकाचितधिमाञ्चारचारुचन्दनचिताः । अविभाज्याः सुखं यान्ति चन्द्रिकास्वभिसारिकाः॥

मीलिते उत्कृष्टगुणेन निकृष्टगुणस्य तिरोधानम् । इह तूभयोस्तुल्यगुण्तया भेदाम्रहः।

तद्गुणः स्वगुणत्यागाद्त्युत्कृष्टगुणग्रहः॥ ६०॥

यथा--

'जगाद वदनच्छ्रग्रपग्रपर्यन्तपातिनः। नयन्मधुलिहः श्वैत्यमुदग्रदशनांशुभिः॥'

मीलिते प्रकृतस्य वस्तुनो वस्त्वन्तरेगाच्छादनम् । इह तु वस्त्वन्तरगुगोनाकान्तता प्रतीयत इति भेदः ।

तद्रुगाननुहारस्तु हेती सत्यप्यतद्गुणः।

यथा—

'हन्त सान्द्रेण रागेण भृतेऽपि हृदये मम । गुणगौर निष्यणोऽपि कथं नाम न रज्यसि ॥'

से लाल हैं। वे उन्हें कुएडल की किरणों से ही रक्ष समभते थे। अत्रेति—यहां मणिकुएडलों की लालिमा मुख में आगन्तुक है।

सामान्यमिति — सहश गुणों के कारण प्रकृत वस्तु का अन्य वस्तु के साथ मेदू प्रतीत न होने से सामान्य अलङ्कार होता है। मिल्लिकेति — जिनका केशपाश मिल्लिका के शुक्ल पुष्पों से आश्वित है और अङ्ग सब शुक्ल चन्दन से सुलित हैं -वे शुक्लाभिसारिकायं चिन्द्रका में सुख से (निःशङ्क) गमन करती हैं, पहिचानी नहीं जातीं। मीलित में उत्कृष्ट गुण्वाली वस्तु में निकृष्ट गुण्वाली वस्तु के निकृष्ट गुण्वाली वस्तु के निकृष्ट गुण्वाली वस्तु के कारण उनका भेद प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः — मीलित में गोपन होता है और यहां तादातम्य होता है।

तद्गुण इति— अपने गुणों को छोड़ कर अत्यन्त उत्कृष्टके गुणों को प्रहण करने से
तद्गुणालङ्कार होता है। जैसे—जगदेनि—मुखक्कप कमल के समीप उड़नेवाले
अमरों को अपने दांतों की द्युति से शुक्ल करते हुए बलभद्रजी वोले। यहां
अमरों ने कृष्णवर्ण छोड़ कर शुक्लवर्ण प्राप्त किया है। मीलित में प्रकृत
वस्तु का दूसरी वस्तु से आच्छादन होता है, किन्तु यहां दूसरी वस्तु के
गुणों से प्रकृत वस्तु आकान्त प्रतीत होती है, वस्तु से नहीं।

तब्र्भेति, कारण होने पर भी दूसरी वस्तु के गुणों का ग्रहण न करने से अत्रव्याण अलङ्कार होता है। जैसे —हन्तेति —हे कान्त, तुम गुणों से शुप्र हो श्रीर मेरा हद्य तुम्हारे प्रगढ़ि राग से भूरा हुआ है, परन्तु उसमें रहने पर भी

यथां वा-

'गाङ्गमम्बु सितमम्बु यामुनं कज्जलाममुभयत्र मञ्जतः । राजहंस तव सैव शुभ्रता चीयते न च न चापचरियते ॥'

पूर्वत्रातिरक्तहृदयसंपर्कात्माप्तवदिप गुणगौरशब्दवाच्यस्य नायकस्य रक्तत्वं न निष्पत्रम् । उत्तरत्रापस्तुतपशंसायां विद्यमानायामिष गङ्गायमुनापेद्यया पकृतस्य हंसस्य गङ्गायमुनयोः संपर्केऽपि न तद्रूपता । अत्र च गुणाप्रहण्यूपविच्छितिविशेषा-श्रयाद्विशेषोक्तेर्भेदः । वर्णान्तरोत्पत्त्यभावाच विषमात् ।

संखित्तस्तु सूक्ष्मोऽर्थं त्राकारेणेक्कितेन वा ॥ ६१ ॥ कयापि सुच्यते भक्कया यत्र सुद्दमं तदुच्यते ।

स्दमः स्थूलमितिभिरसंलद्यः । अत्राकारेण यथा—

तुम रक्त (या अनुरक्त) क्यों नहीं होते ? शुक्त वस्तु तो रंग में पड़कर रँग जाती है। दूसरा उदाहरण--गाङ्गमिति--गङ्गाका जल श्वेत है और यमुना का ऋष्ण । हे राजहंस, इन दोनों में स्नान करने पर भी तुम्हारी शुक्लता वैसी ही है। न बढ़ती है-न घटती है। यहां श्रप्रस्तुतप्रशंसा के कारण कोई ऐसा इढ-निश्चय पुरुष व्यङ्गध है जिस पर किसी की मलाई बुराई का असर नहीं होता। गङ्गा से मतलब शुक्ल गुणांवाली सज्जनमण्डली से है और 'यमुना' से काले गुणोंवाली दुर्जनमण्डली का तात्पर्य है। एवं 'राजहंस' से कोई ऐसा प्रस्तुत महापुरुष विवित्तित हैं जो इन सबके बीच में रहकर भी इनके भले बुरे प्रभावों से प्रभावित नहीं होता, अपने स्वरूप और निश्चय में अवल रहता है। उसीकी पशंसा है। पूर्वत्रेति - यहां पहले पद्य में अतिरक्ष हृद्य के सम्बन्ध से गुणगौर-नायक का रक्त होना प्राप्त है-पर हुआ नहीं-और दूसरे में अपस्तुत प्रशंसा के होने पर भी गङ्गा यमुना की अपेका प्रस्तुत हंस का उन दोनों के साथ सम्बन्ध होने पर भी वैसा वर्ण नहीं हुआ। तात्पर्य यह है कि यद्यपि अप्रस्तुतप्रशंसा में वर्ण्यमान अर्थ प्रस्तुत नहीं होता, किसी अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत अर्थ व्यक्त्य होता है, एवंच प्रकृत पद्य में वर्णित हंस प्रस्तुत नहीं हो सकता-तथापि गङ्गा यमुना की अपेक्षा से तो उनके पास हंस मानना ही पहुंगा। यही बात यहां पद से विविद्यात है, वर्श्यमानत्व नहीं। यहां हेतु होने पर भी कार्य के न होने से विशेषोक्ति प्राप्त है, परन्तु गुणों के प्रहण न करने से यहां विशेष चमत्कार है, अतः तनमूलक ही यह अलङ्कारान्तर है। वर्णान्तर की उत्पत्ति न होने से यह विषमालङ्कार नहीं है।

स्सम'—संलिवत इति — आकार अथवा चेष्टा से पहिचाना हुआ स्हंम अर्थ जहां किसी युक्ति से स्चित किया जाय वहां स्हम अलङ्कार होता है। यह स्थूलवुद्धियों से क्षेय नहीं है, अतः स्हम कहाता है। आकार का उदाहरण— 'वक्त्रस्यन्दिस्वेदिबिन्दुमबन्धेदि द्वा भिन्नं कुंकुमं कापि कएठं।
पुंस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्ती वयस्या स्मित्वा पाणौ खङ्गलेखां लिलेख ॥
अत्र क्याचित्कुंकुमभेदेन संलिक्तितं कस्याश्चित्पुरुषायितं पाणौ पुरुषचिह्नखङ्गलेखालिखनेन सूचितम्। इङ्गितेन यथा—-

संकेतकालमनसं त्रिटं ज्ञात्वा त्रिद्ग्धया । इसन्त्रेत्रापिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥

अत्र विटस्य भ्रूविक्तेपादिना लिक्तः संकेतकालाभिपायो रजनीकालभाविना पद्मिनमीलनेन प्रकाशितः ।

व्याजोक्तिगोंपनं व्याजादुद्भित्रस्यापि वस्तुनः ॥ ६२ ॥

यथा--

'शैलेन्द्रपतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लस-द्रोमाञ्चादित्रिसंस्थुलाखिलिविधिन्यासङ्गभङ्गाकुलः । द्याः शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान्सस्मितं शैलान्तःपुरमातृमण्डलगणौद्धोऽवतादः शिवः॥'

वन्त्रेति—मुख पर बहे हुए पसीने के विन्दुत्रों से गल के कुंकुम को भिन्न हुआ देखकर किसी सखी ने उस तन्वी का पुरुषत्व सूत्रन करने के लिये मुसकुरा कर उसके हाथ पर खड़ का आकार बना दिया। यहां आकार (कुंकुम भेद) से सूक्ष्म अर्थ—विपरीतरमण—लिचत हुआ है। इक्षित का उदाहरण— संकेति—विटको संकेतकाल का जिज्ञास जानकर हँसते हुए नेत्रों से अभिप्राय बताती हुई किसी चतुर नायिका ने कीडाकमल को मृंद दिया। यहां विट के मुकुटि-मङ्गादिकप इक्षित (चेष्टा) से उसका अभिप्राय (संकेतकाल की जिज्ञासा) ज्ञात हुआ है। सन्ध्या काल में होनेवाले कमलनिमीलन से वह स्वित होता है।

व्याजेते—िकसी प्रकट हुई वस्तु का किसी बहाने से छिपाना 'व्याजोकि' कहाता है। जैसे--शेबेति—हिमाचल के कन्यादान के समय पार्वती के करस्पर्श से रोमाञ्चादि सारिक विकारों के उदय होने पर विधिमह से व्याकुल होकर बात छिपाने के लिये, 'श्रहो हिमाचल के हाथों में बड़ी ठएड हैं', यह कहते हुए श्रोर उसी समय हिमाचल के श्रन्तः पुर में स्थित मातृमण्डल से स्मितपूर्वक देखे गये शिवजी तुम्हारी रक्षा करें। विवाह के समय शिवजी ने जब पार्वती का हाथ पकड़ा तो सारिक माव (रोमाञ्च श्रोर कम्प) का श्राविं भीव हुआ। इससे उस समय की विधि (पूजन श्रादि) में कुछ गड़बड़ हुई। इससे व्याकुल होकर शिवजी ने श्रसली बात छिपाने के लिये ठएड का बहाना किया। उधर श्रन्तः पुर में वैठी हुई देवमातायें—जो यह जानती थीं कि इस रोमाञ्च और कम्प का कारण शीताधिक्य नहीं, कुछ श्रोर ही है—शिवजी के 'श्राः शैत्यम्'—इस बहाने को सुनकर इनकी श्रोर कुछ मुसकुराकर देखें लगीं। यहां प्रकट हुए सारिक मावों को शीत के बहाने से छिपाया है, अतं

नेयं प्रथमापहुतिः अपह्ववकारिणो विषयस्यानभिधानात् । द्वितीयापहुतेर्भेदश्च तत्वस्तावे दर्शितः ।

स्वभावे। किर्दुसहार्थस्वित्रय। रूपवर्धनम्।

दुरूहयोः किनात्रत्रेचयोरर्थस्य डिम्मादेः स्वयोस्तदेकाश्रययोरचेष्टास्त्ररूपयोः । यथा मम---

'लाङ्ग्लेनाभिहत्य चितितलमसङ्गद्दारयन्त्रप्रपद्भम्या-मात्मन्येवावलीय दुतमथ गगनं प्रोत्पतिन्वक्रमेण । स्मूर्जद्भंकारघोषः प्रतिदिशमिखलान्द्रावयन्त्रेव जन्त्-न्कोपाविष्टः प्रविष्टः प्रतिवनमरुणोच्छूनचत्तुस्तरत्तुः ॥' अद्भतस्य पद्मार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः ॥ ६३ ॥ यत्प्रत्यन्त्याण्यमाणत्वं तद्भाविकसुदाहृतम् ।

यथा---

'मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसंभवः । येनैकचुलुके दृष्टौ दिन्यौ तौ मत्स्यकच्छुपौ॥'

यथा वा---

'त्र्यासीदञ्जनमत्रेति परयामि तव लोचने । भाविभूषणसंभारां साचात्कुर्ते तवाकृतिम् ॥'

यह 'व्याजोक्ति' अलङ्कार है। नेति—यह प्रथम अपहाति नहीं है, क्योंकि यहां विषय (उपमेय) का कथन नहीं है। द्वितीय अपहाति से इसका मेद तो वहीं कह जुके हैं कि उसमें छिपानेशला गोच्य वस्तु का पहले स्वयं कथन कर देता है फिर छिपाता है। यहां वह बात नहीं है। स्वमावेति—इरूह्योति — दुरूह अर्थात् किवान से ज्ञातव्य जो बच्चे आदि को को चेष्टायं या स्वरूप उनके वर्णन को स्वमावोक्ति कहते हैं। जैसे — जाक् तेति — बार बार पूँछ पटककर अगले पैरों से पृथ्वी को खोदता हुआ, सङ्कुचित होकर (सिकुड़कर) जल्दी ज़ोर से ऊपर को उछ्जता हुआ, बड़े वेग से घूँ घूँ शब्द करता हुआ, समी जीवों को चारों ओर मगाता हुआ, कोध में भरा, लाल लाल उभरे हुए नेत्रोंवाला तरसु (बघेरा= चरख) वनमें घुसा। 'तरहुस्तु मृगादनः'।

अबुतस्येति—भूत या मिवध्यत् किसी अद्भृत पदार्थं को प्रत्यवचत् अनुभव करने पर भाविक अलङ्कार होता है। मुनितिति—योगिराज महात्मा कुम्भजन्मा सुनि (अगस्त्य) सबसे उत्कृष्ट हैं, जिन्होंने समुद्र का आवमन करते समय अपने एक चुल्लू में उन दोनों अद्भुत मत्स्य और कच्छुप (मत्स्यावतार और कुर्मावतार) को देखा। यहां भूतकालिक मुनि, विशेष घटना के साथ, प्रत्यचवत् भासित होते हैं। दूसरा उदाहरण—शासीदिति—तुम्हारे इन नेत्रों की वह अवस्था, जब इनमें अञ्जन लगा था, अब भी मेरी आँखों के सामने हैं। और आगे होनेवाले भूषणों से रम्गीयं तुम्हारी आकृति भी मेरे सामने खड़ी न चायं प्रसादाख्यो गुणः । भूतभाविनोः प्रत्यक्तायमाण्यत्वे तस्याहेतुत्वात् । न चाद्भुतो रसः । विस्मयं प्रत्यस्य हेतुत्वात् । न चातिशयोक्तिरलंकारः अध्यक्साया-भावात् । न च भ्रान्तिमान् । भूतभाविनोभूतभावितयैव प्रकाशनात् । न च स्वभा-बोक्तिः । तस्य लौकिकवस्तुगतसूद्मधर्मस्वभावस्यैव यथावद्वर्णानं स्वरूपम् । अस्य तु वस्तुनः प्रत्यक्तायमाण्यत्वरूपो विच्छितिविशेषोऽस्तीति । यदि पुनर्वस्तुनः क्रचित्स्व-भावोक्तावय्यस्या विच्छितेः संभवस्तदोभयोः संकरः ।

'श्रनातपञ्चोऽप्ययमत्र लद्दयते सितातपत्रैरिव सर्वतो वृतः । श्रचामरोऽप्येष सदैव वीज्यते विलासबालव्यजनेन कोऽप्ययम्॥'

श्चित्र प्रत्यज्ञायमाग्रास्यैव वर्णनान्नायमलंकारः । वर्णनावशेन प्रत्यज्ञायमाग्रात्व-स्यास्य स्वरूपत्वात् । यत्पुनरप्रत्यज्ञायमाग्रास्यापि वर्णने प्रत्यज्ञायमाग्रात्वं तत्रायम-- लंकारो भवितुं युक्तः । यथोदाहृते 'त्र्यासीदञ्जनम् –' इत्यादौ ।

लोकातिशयसंपत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते ॥ ६४ ॥ यद्वापि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेत्।

सी है। श्रीरों से इसका भेद दिखाते हैं। न चेति — इसे प्रसाद गुण के अन्त-र्गत नहीं कह सकते, न्योंकि भूत श्रीर भविष्यत् के प्रत्यत्तवत् भासित होने में प्रसाद गुण हेतु नहीं है। यह श्रद्भुत रस भी नहीं है, क्योंकि यह (भाविक) विस्मय का हेतु है श्रीर श्रद्भुत रस विस्मयस्वरूप होता है। श्रितशयोक्ति भी यह नहीं, क्योंकि यहां श्रध्यवसाय नहीं है। भूत श्रीर भविष्यत् वस्तु यों के ठीक उसी वास्तविक रूप में प्रकाशित होने के कारण यह भ्रान्तिमान् भी नहीं है। स्वभावोक्ति में वस्तु का सूक्ष्म स्वरूप वर्णित रहता है। वही उस त्रलङ्कार का स्वरूप है - किन्तु यहां वस्तु की प्रत्यचाय-माणता विशेष है। यदि कहीं स्वभावािक में भी यह चमत्कार दीखे तो इन दोनों (भाविक ग्रौर स्वभावोक्ति) त्रालङ्कारों का संकर जानना। अनातपत्रेति— छत्र के विना भी यह अनेक शुक्ल छत्रों से घिरा सा प्रतीत होता है। चामर के विना भी यह सदा चामरों से वीजित सा होता है। यह कोई महापुरुष है। यहां माविक अलङ्कार नहीं है-क्योंकि यहां साजात (चतु से ही) प्रत्यत्त होरहा है। वर्णन के कारण वस्तु का प्रत्यत्तवत् भान होने पर यह अलङ्कार होता है—जैसे — आसीदित्यादि में । लोकिति — लोकोत्तर सम्पत्ति का वर्णन 'उदात्त' अलङ्कार कहलाता है—ग्रीर यदि महापुरुष आदिकों का चरित प्रस्तुत वस्तु का श्रङ्ग हो तब भी यही अलङ्कार होता

#### क्रमेगोदाहरणम्-

'त्रधःकृताम्मोधरमण्डलानां यस्यां शशाङ्कोपलकुद्दिमानाम् । ज्योत्स्नानिपातात्त्वरतां पयोभिः केलीवनं वृद्धिमुरीकरोतिः ॥' 'नामिप्रभिन्नाम्बुरुहासनेन संस्त्यमानः पथमेन धात्रा । त्र्यमुं युगान्तोचितयोगनिदः संहत्य लोकान्पुरुषोऽधिशेते ॥' रस्म भावौ तदाभासी भावस्य प्रशमस्तथा ॥ ६५ ॥ गुणीभूतत्वमाथान्ति यदालंकृतयस्तदा । रस्मवत्षेय ऊर्जस्व समाहितमिति क्रमात् ॥ ६६ ॥

तदाभासौ रसाभासो भावाभासरच । तत्र रसयोगाद्रसत्रदलंकारो यथा—'श्रयं स रसनोत्कर्षां—' इत्यादि । श्रत्र शृङ्गारः करुणस्याङ्गम् । एवमन्यत्रापि । प्रकृष्ट-प्रियत्वात्प्रेयः यथा मम—

त्र्यामीलितालसविवर्तिततारकार्त्तां

मत्कर्यठबन्धनदरश्लथबाहुवल्लीम् ।

प्रस्वेदवारिकिशाक्तिवितगरडिबम्बां

संस्मृत्य तामिनशमेति न शान्तिमन्तः ॥'

है। जैसे—अध इति—जिस नगरी में मेधमएडलों से भी ऊंचे और चन्द्रमा की किरणों के पड़ने से टपकते हुए चन्द्रकान्त मिणमय (प्रासादस्थ) कुट्टिमों (फ़शों) के जंबसे कोडावन बढ़ता है। महलों की अटारियां मेघों से भी ऊंची हैं, अतः उनमें चन्द्रमा की किरणें सदा प्रकाशित रहती हैं—नीचा होने के कारण बादल वहां की चन्द्रिका को रोक नहीं सकता, अतः वहां से चन्द्रकान्तमिण जल टपकाया करते हैं और उससे कीडावन के वृद्ध फलते फूलते हैं। यह लोकोत्तर सम्पत्ति का वर्णन है। दूसरे का उदाहरण—गमीति—हे सीते, नाभि से निकलें कमल पर बैठे हुए ब्रह्माजी से स्त्यमान मगवान विद्यु प्रलय में सब लोकों का संहार करके इसी (समुद्र) में श्रयन करते हैं। यहां विद्यु का चिरत समुद्रवर्णन का अक्र है।

रसेति—रस और भाव. रसामास और भावाभास पर्व भाव का प्रशम ये जब किसी के अङ्ग होजाते हैं तो क्रमसे रसवत, प्रेयस, ऊर्जस्व, और समादित अलङ्कार होते हैं। रस यदि किसी का अङ्ग हो तो रसवत् अलङ्कार होता है—जैसे—यदा श्रद्धार करुण का अङ्ग है। भाव यदि किसी का अङ्ग हो तो प्रेयस कहते हैं—जैसे—वा प्रेयस अलंकार होता है। अत्यन्त प्रियहोने से इसे प्रेयस कहते हैं—जैसे—आमीलितेति—जिसके नेत्रों की तारकार्य ईषत् मीलित और शिधिलता से विवर्तित हैं, जिसकी भुजलता मेरे कएठबन्धन से कुछ शिधित हो गई है और पसीने की ब्रुँदें जिसके कंपोलतल पर सहक रही हैं उस मृगनयनी का स्मरण करके

अत्र संभोगश्रङ्गारः स्मर्गाख्यभावस्याङ्गम् । स च विषवस्भस्य । ऊर्जो वलम्, अनौचित्यपवृत्तौ तदत्रास्तीत्यूर्जस्व । यथा—

भ्वनेऽखिलकलासकाः परिहृत्य निजस्त्रियः । त्वद्वैरिवनितावृन्दे पुलिन्दाः कुर्वते रतिम् ॥'

अत्र शृङ्गारांभासो राजविषयरतिभावस्याङ्गम् । एवं भावाभासोऽपि । समाहितं परीहारः । यथा—

'अविरत्नकरवालकम्पनैर्भुकुटीतर्जनगर्जनैर्मुहः। दहशे तव वैरिणां मदः' स गतः कापि तवेद्यणेद्यणात्॥'

अत्र मदाख्यभावस्य प्रशमो राजविषयरतिभावस्याङ्गम् ।

### भावस्य चोद्ये संघौ मिश्रत्वे च तदारूपकाः।

तदाख्यका भावोदयभावसंधिभावशवलनामानोऽलंकाराः । क्रमेणोदाहरणम्— 'मधुपानप्रकृतास्ते सुद्धद्भिः सह वैरिणः ।

श्रुत्वा कुतोऽपि त्वन्नाम लेभिरे विषमां दशाम् ॥'

अत्र त्रासादयो राजविषयरतिभावस्याङ्गम् ।

चित्त शान्ति नहीं पाता। यहां स्मरशाख्य भाव विप्रलम्भ शृङ्गार का अङ्ग है। अनीचित्य से प्रवृत्ति में ऊर्जस् अर्थात् बलात्कार जहां रहे उसे 'ऊर्जस्व' कहते हैं। रसामास और भावाभास जहां दूसरे के श्रङ्ग हो वहां यह श्रलङ्कार होता है। वने इति—वनमें निखिलक लासक अपनी स्त्रियों को छोड़ कर मील लोग तुम्हारे शतुत्रों की स्त्रियों से प्रेम करते हैं। अत्रेति - यहां रित उभयनिष्ठ नहीं है। पुलिन्द (भील) लोग प्रेम रहित परनारी में प्रवृत्त हुए हैं, ग्रतः श्रनीचित्य के कारण श्रङ्गाराभास है। वह वक्ता की राजविषयक रति का-जो इस पद्य से प्रधानतया प्रतीयमान है-श्रङ्ग है। इसी प्रकार मावाभास में भी जानना। समा-हित का अर्थ है परीहार (दूर होना) जैसे - अविरलेति - हे राजन, पहले ती तलवार घुमाने, भौहें चढ़ाने, तर्जन श्रीर गर्जन करने से तुम्हारे शत्रुश्रों में बड़ा मद दीखता था, किन्तु तुम्हारे सामने आते ही वह न जाने किथर उड़ गया। यहां मद् नामक भाव का प्रशम राजविषयक रितभाव का स्रङ्ग है। भावस्येति किसी भाव (संचारी) के उदय होने, सन्धि होने और पिश्रित होने में क्रम से माबोद्य, भावसन्धि श्रीर भावशबलता नामक श्रलङ्कार होते हैं। क्रम से उदा-हरण-मधु इति-तुम्हारे शत्रु लोग पहले तो श्रपने मित्रों के साथ मद्यपान में प्रवृत्त थे, परन्तु किसी के मुँह से तुम्हारा नाम सुनकर उन वेवारी की बुरी दशा हो गई। अत्रोति—यहां त्रासाद्विक राजविषयक रति के अङ्ग है।

'जन्मान्तरीग्रारमग्रस्याङ्गसङ्गसमुत्सुका।
सलजा चान्तिके सख्याः पातु नः पार्वती सदा॥'
अत्रौत्सुक्यलज्जयोश्च संधिर्देवताविषयरितमावस्याङ्गम्।
'पश्येत्कश्चिचल चपल रे का त्वराद्यं कुमारी,
हस्तालम्बं वितर हहहा न्युत्क्रमः कासि यासि।
इत्थं पृथ्वीपरिवृद्ध, भवद्विद्विषोऽर्ग्यवृत्तेः

कन्या कंचित्पलिक्सलयान्याददानाभिधते ॥

अत्र शङ्कास्याधृतिस्मृतिश्रमदैन्यविबोधौत्सुक्यानां शबलता राजविषयरितभावस्या-क्रम्। इह केचिदाद्वः — 'वाच्यवाचकरूपालंकरणामुखेन रसाबुपकारका एवालंकाराः। रसादयस्तु वाच्यवाचकाभ्यामुपकार्या एवेति न तेषामलंकारता भवितुं युक्ता' इति। अन्ये तु—'रसाबुपकारमात्रेणेहालंकृतिव्यपदेशो भाक्तरिचरंतनप्रसिद्धवाङ्गीकार्य एव'

जन्मिति—जन्मान्तर के पति के अङ्ग का सङ्ग (स्पर्श) करने के लिये समुत्क एिठत किन्तु सखी के सामीप्य से लज्जित पार्वती सदा हमारी रच्चा करे। यहां उत्कर्ठा और लजा। की संनिध है—वह देवताविषयक रति का अक है। पर्यदिति—"कोई देखलेगा ! १, अरे चञ्चल, चल हट परे हो २, जल्दी क्या है १३, (मनमें) मैं तो कुमारी हूँ ४, (प्रकट) अरे मेरा हाथ पकड़ ले ४, हन्त! <mark>श्रत्यन्त कष्ट है ६, बड़ी गड़बड़ है ७, श्ररे कहां जाता है ?" ८, हे राजन्,</mark> अरएय में गये हुए तुम्हारे शत्रु की कन्या फल और पत्र लिये हुए, इस प्रकार किसी से कह रही है। यहां कन्या के वाक्यों में कम से शङ्का, अस्या, धृति, स्मृति, श्रम, दैन्य, विबोध श्रौर श्रौत्युक्य नामक श्राट भावों की. पतीति होती है। यहां इन सावों की शवलता (मिश्रण) है। इहेरि-यहां किन्हीं का मत है कि रसवदादिक अलङ्कार नहीं हो सकते, क्योंकि अतङ्कार वे ही होते हैं जो वाच्य, वाचक (शब्द, अर्थ) की शोमा को उत्पन्न करते हुए रसादि के उपकारक हों। तात्पर्य यह है कि जैसे कुएडलादिक अलङ्कार शरीर की शोभा को बढ़ाते हुए आत्मा की उत्कृष्टता का बोधन करते है स्सी प्रकार काव्य के शारीरभूत शब्द और अर्थ को सुभूषित करते हुए जो अनुपास रूपकादि आत्मभूत रसके उपकारक होते हैं वे ही कान्यालङ्कार माने जाते हैं। रसमावादिक तो शब्द और अर्थ के उपकार हैं, उपकारक

नहीं, श्रतः वे श्रलङ्कार नहीं हो सकते।

श्रन्ये तु—दूसरे यह मानते हैं कि रसवदादिकों को भी प्राचीन श्राचारों की

पिसिद्धि के श्रनुसार श्रलङ्कार मानना ही चाहिये। जैसे रूपकादिक रसके

उपकारक होते हैं वैसे ही श्रङ्गभूत रसादिक भी प्रधान रसादिक के उपकारक
होते ही हैं। केत्रल शृब्दादि के उपकारक नहीं होते, श्रतः यहां 'अलङ्कार'

गन्द का लाचाणिक (गीण) प्रयोग जानना ।

इति । अपरे च—'रसाबुपकारमात्रेणालंकारत्वं मुख्यतो, रूपकादौ तु वाच्याबुप-धानम् अजागलस्तनन्यायेन' इति । अभियुक्तास्तु—'स्वव्यञ्जकत्राच्यवाचकाबुप-कृतैरङ्गभूतैरसादिभिर्द्धिनो रसादेवीच्यवाचकोपस्कारद्वारेणोपकुर्वद्विरलंकृतिव्यपदेशो लभ्यते । समासोक्षौ तु नायिकादिव्यवहारमात्रस्यैवालंकृतिता, नत्वास्वादस्य, तस्यो-क्षरीतिविरहात्' इति मन्यन्ते । अत एव ध्वनिकारेणोक्षम्—

'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः । काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः॥'

यदि च रसाबुपकारमात्रेगालंकृतित्वं तदा वाचकादिष्वपि तथा पसज्येत । एवं च यच कैरिचदुक्तम्—'रसादीनामङ्गित्वे रसवदाचलंकारः, अङ्गत्वे तु द्वितीयोदा-त्तालंकारः', तदपि परास्तम् ।

अपरे चेति—अन्य लोग यह कहते हैं कि केवल रसादि का उपकार करने से ही प्रधान त्रलङ्कारत्व होता है, श्रतः रसवदादिक ही प्रधान श्रलङ्कार है। रूपकादिक तो प्रधानतया अर्थादि के उपकारक होते हैं और उसके द्वारा रसके उपकारक होते हैं, त्रतः उन्हें त्रजागलस्तनन्याय से त्रलङ्कार कहा जाता है। जैसे बकरी के गल में लटकते हुए मांसखएड थना की जगह नहीं होते और न थनों का काम (दूध देना) करते हैं, तथापि श्राकारसाम्य से उन्हें भी स्तन कहा जाता है इसी प्रकार रूपकादि में त्रलङ्कार पद का गौग प्रयोग होता है। अभियुक्ताः — प्रामाियक आचार्यों का यह कथन है कि अङ्गभूत रसादिक त्रपुने व्यञ्जक शब्द श्रीर अर्थ से उपकृत होकर प्रधान रस के व्यञ्जक शब्द श्रीर श्रथों के उपकार के द्वारा ही प्रधान रस का उपकार करते हैं। श्रतएव मुख्य वृत्ति से ही उनमें अलङ्कार पद का प्रयोग होता है। समासोिक में नायिका श्रादि के व्यवहार का आरोप ही श्रलङ्कार कहलाता है। उस आरोप से उत्पन्न आस्वाद को अलङ्कार नहीं कहते, क्योंकि वह उक्त लच्या ( वाच्य वाचकालङ्करण द्वारा रसोपकारकत्व ) के अनुसार अलङ्कार नहीं है । इसी तिये ध्वनिकार ने कहा है। प्रधाने इति – रसादिक जहां किसी अन्य वाक्यार्थ में अङ्गभूत हो वहां वे अलङ्कार होते हैं।

पहले कहे अपरे च के मत में दोष देते हैं। यदि चेति—यदि केवल रसादि के उपकार करने मात्र से अलङ्कार होना मानोगे तो शब्द और अर्थ भी अलङ्कार हो-जायेंगे। एवस—इसी प्रकार यह जो किन्हीं- ने (ध्वन्यभाववादियों ने) कहा था कि रसादिकों की प्रधानता में रसवदादि अलङ्कार होते हैं और यदि वे अप्रधान हों तो दूसरा 'उदात्त' (प्रस्तुतस्या महतां चिरतम् ) अलङ्कार होता है-वह मत भी परास्त हुआ। क्योंकि रसादिकों की प्रधानता में तो रसादि ध्वनि सिद्ध कर चुके हैं और अप्रधानता में रसवदादि अलङ्कार सिद्ध किया है, अतः यहां उदात्ता लङ्कार का विषय ही नहीं बचता।

# यचेत एवालंकाराः परस्परविमिश्रिताः॥ ६७॥ तदा पृथगलंकारौ संस्रष्टिः संकरस्तथा।

यथा लौकिकालंकाराणामिप परस्परिमश्रणे पृथक्चारुत्वेन पृथगलंकारत्वं तथोक्करूपाणां काव्यालंकाराणामिप परस्परिमश्रत्वे संसृष्टिसंकराख्यौ पृथगलंकारौ।

# मिथोऽनपेच्यतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते ॥ ६८ ॥

एतेषां शब्दार्थालंकाराणाम्। यथा-

'देवः पायादपायानःं स्मेरेन्दीवरलोचनः। संसारध्वान्तविध्वंसहंसः कंसनिषूदनः॥'

अत्र पायादपायादिति यमकम् । संसारेत्यादौ चानुमास इति शब्दालंकारयोः संसृष्टिः । द्वितीये पादे उपमा, द्वितीयार्धे च रूपकमित्यर्थालंकारयोः संसृष्टिः । एवमुभयोः स्थितत्वाच्छ्रव्दार्थालंकारसंसृष्टिः ।

श्रङ्गाङ्गित्वेऽ लंकृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ।
संदिग्धत्वे च भवति संकरस्त्रिविधः पुनः॥ ६६॥
श्रङ्गाङ्गिमावो यथा—

'आकृष्टिवेगविगलद्भुजगेन्द्रभोग-निर्मोकपट्टपरिवेष्टनयाम्बुराशेः । मन्थव्यथाव्युपशमार्थमिवाशु यस्य मन्दाकिनी चिरमवेष्टत पादमूले ॥'

यथेते—जहां ये ही सब अलङ्कार आपस में मिले हो वहां संसृष्टि और संकर नामक दो अलंकार पृथक् २ माने जाते हैं। यथेति—लौकिक अलंकारों की मांति काव्यालंकारों में भी दो के मिलने पर पृथक् चावता होती है।

मिथ इति—उक्त शब्दालंकार और अर्थालंकार यदि परस्पर निरपेत होकर हिथत हों तो संसृष्टि होती है। देन इति—यहां 'पायादपायात' में यमक है और उत्तरार्ध में वृत्यनुपास है, अतः इन दो शब्दालंकारों की संसृष्टि है। एवं 'स्मेरे-' त्यादि में उपमा है और 'संसारक्षप अध्यक्तार को दूर करने में हंस (स्र्यं) कप' इसमें कपक है, अतः दो अर्थालंकारों की संसृष्टि है। इस प्रकार शब्दा- लंकार और अर्थालंकारों की यहां संसृष्टि है।

अति अयालकारा का यहा तर्ष्टिष्ट के अनेति—संकर तीन प्रकार का होता है —एक तो जहां कई अलंकारों में अक्ति स्वान प्रकार का होता है —एक तो जहां कई अलंकारों में अनेक अलंकारों की स्थित हो-तुसरे जहां एक ही आश्रय (शब्द या अर्थ-) में अनेक अलंकारों की स्थित हो-तीसरे जहां कई अलंकारों का सन्देह होता हो। पहला उदाहरण — आकृष्टीति — मन्थन के अनन्तर आकर्षण के वेग से झूटकर गिरी हुई शेषनाग की केंचली के बहाने मानो मन्थन की व्यथा को दूर करने के लिये श्रीगंक्षा जी चरणसेवा करने को जिसं (समुद्र) के समीप उपस्थित हुई थीं।

अत्र निर्मोकपद्यापह्नवे मन्दािकन्या आरोप इत्यपहुितः । सा च मन्दािकन्या वस्तुवृत्तेन यत्पादमूलवेष्टनं तचरणमूलवेष्टनिमिति रलेषमुत्थापयतीित तस्याङ्गम् । रलेषरच पादमूलवेष्ट्रनमेत्र चरणमूलवेष्टनिमत्यितशयोक्तरङ्गम् । अतिशयोक्तिरच मन्यव्ययाव्यपश्यमार्थिमवेत्युत्मेन्ताया अङ्गम् । उत्मेन्ता चाम्बुराशिमन्दािकन्योनियकन् नायिकाव्यवहारं गमयतीति समासोक्तेरङ्गम् ।

यथा वा--

'श्रृनुरागवर्ती संध्या दिवसस्तत्पुरःसरः। श्रहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः॥' श्रुत्र समासोक्तिर्विशेषोक्तरङ्गम् । संदेहसंकरो यथा— 'इदमाभाति गगने भिन्दानं संततं तमः। श्रमन्दनयनानन्दकरं मण्डलमैन्दवम्॥'

• अत्र कि मुखस्य चन्द्रतयाध्यवसानादितशयोक्तिः, उत इदिमिति मुखं निर्दिश्य चन्द्रत्वारोपाद्र्पकम्, अथवा इदिमिति मुखस्य चन्द्रमण्डलस्य च द्वयोरिप प्रकृत-योरेकधर्मामिसंबन्धातुल्ययोगिता, आहोस्त्रिचन्द्रस्यापकृतत्वादीपकम् कि वाविशेषण्-

अनेति—यहां निर्मोक पट्ट (केंब्रली) का अपहृत करके मन्दाकिनी का आरोप
क्रिया है, अतः अपहृति है — और वह, मन्दाकिनी का वास्तविक जो पादमूल का वेष्टन (समीप स्थिति) वही चरणमूलवेष्टन (पेर दवाना) है—इस प्रकार श्लेष को उत्थापित करती है, अतः उसका अङ्ग है। और यह श्लेष 'पाद-मूलवेष्टन' ही चरणवेष्टन है, इस अमेदाध्यवसायक्षप अतिशयोक्ति का अङ्ग है। यह अतिशयोक्ति का मन्थनसेद दूर करने के लिये' इस उत्येत्ता का अङ्ग है—प्रवम् यह उत्येत्ता, समुद्र और गङ्गा में नायक, नायिका के व्यवहार को स्वित करती है, अतः समासोक्ति का अङ्ग है। इस प्रकार यहां इन अलंकारों का अङ्गाङ्गिमाव होने से सङ्करालंकार है।

दूसरा उदाहरण्—अनुरागिति —संध्या अनुरागयुक्त है और दिन उसके सामने उपस्थित है। किन्तु दैवगति विचित्र है, जो इतने पर भी समागम नहीं होता।

यहां समासोक्रि, विशेषोक्रि का अङ्ग है।

सन्देहसंकर का उदाहरण—इदमिति—ग्रन्धकार को दूर करता हुग्रा नयनानन्द्र दायो यह इन्दुमण्डल श्राकाश में सुशोभित हो रहा है। अनेति—यहां मुख को चन्द्रस्वक्र से श्रव्यवसाय करने से क्या श्रितिशयोक्ति है ? श्रथवा 'इदम्' पद से मुख का निर्देश करके चन्द्रत्व का श्रारोप करने से यहां क्रपक है ? या मुख श्रीर चन्द्र दोनों प्रकृत हैं श्रीर उनमें एक धर्म (नयनानन्द्रकर' त्वादि) का सम्बन्ध होने से तुल्ययोगिता है ? किंवा चन्द्रमा के श्रमकृत होने के कारण दीपक है ? यहा विशेषण की समता के कारण श्रप्रस्तुत मुख गम्य' साम्यादपस्तुतस्य मुखस्य गम्यत्वात्समासोिकः, यद्वाऽपस्तुतचन्द्रवर्णनया पस्तुतस्य मुखस्यावगतिरित्यपस्तुतपशंसा, यद्वा मन्मथोद्दीपनः कालः स्वकार्यभूतचन्द्रवर्णना- मुखेन वर्षित इति पर्यायोक्तिरिति वहूनामलंकाराणां संदेहात्संदेहसंकरः।

यथा वा—-'मुखचन्द्रं प्रयामि' इत्यत्र कि मुखं चन्द्र इवेत्युपमा, उत चन्द्र एवेति ह्रपक्तमिति संदेहः । साधकवाधकयोर्द्वयोरेकतरस्य सद्भावे न पुनः संदेहः । यथा— 'मुखचन्द्रं चुम्वति' इत्यत्र चुम्वनं मुखस्यानुकूलमित्युपमायाः साधकम् । चन्द्रस्य तु प्रतिकूलमिति रूपकस्य वाधकम् । 'मुखचन्द्रः प्रकाशते' इत्यत्र प्रकाशाख्यो धर्मो ह्रपकस्य साधको, मुखे उपचरितत्वेन संभवतीति नोपमाबाधकः ।

'राजनारायणं लद्दमीस्त्वामालिंगति निर्भरम्।'

अत्र योषित त्र्यालिङ्गनं नायकस्य सदृशे नोचितमिति लद्म्यालिङ्गनस्य राज-न्यसंभवादुपमावाधकम् , नारायणे संभवाद्र्पकम् । एवम्—

'वदनाम्बुजमेणाच्या भाति चञ्चललोचनम्।'

अत्र वदने लोचनस्य संभवादुपमायाः साधकता, अम्बुजे चासंभवाद्रूपकस्य

मान है, अतः समासोक्ति है ? या अप्रस्तुत चन्द्रमा से प्रस्तुत मुख का व्यक्षन होने के कारण अप्रस्तुतप्रशंसा है ? आहोस्वित् काम के उद्दीपक समय का वर्णन चन्द्रवर्णन के द्वारा किया गया है, अतः पर्यायोक्त है ? इस प्रकार यहाँ बहुत अलंकारों का सन्देह होने से सन्देहसंकर है ।

दूसरा उदाहरगा—'पुलचन्द्रं पश्यामि' क्या यहां मुख चन्द्रमा के संदश है इस मकार का अर्थ है और उपमा है ? अथवा मुख चन्द्र ही है ऐसा अर्थ है और कंपक अलंकार है ? इस प्रकार यहां भी सन्देह संकर है।

यदि किसी एक पत्त की साधक या बाधक युक्ति मिलती हो तो फिर सन्देह नहीं होता। जैसे 'ग्रुखचन्द्रं उम्बति' यहां चुम्बन मुख में ही हो सकता है, अतः उपमा का साधक है। चन्द्रमा में नहीं हो सकता, अतः रूपक का बाधक है। 'ग्रुखचन्द्रः प्रकाशते' यहां प्रकाशन रूप धर्म चन्द्रमा में प्रधानता से रहता है, अतः रूपक का साधक है, किन्तु गीण रीति से मुख में भी रह सकता है, अतः उपमा का बाधक नहीं है।

राजनारायणमिति—नायक के सहश पुरुष में पतिव्रता स्त्री का आलिगन नहीं हो सकता, श्रतः लक्ष्मी का आलिगन नारायणसहश राजा में असम्मव हैसि कारण यहां उपमा का बाध है। नारायण के स्वरूप का आरोप ही यहां है, श्रतः राजा एव नारायणः ऐसा समास जानना। यह रूपक है। वदनाम्बुजमिति—वंचल लोजन मुख में ही हो सकते हैं, श्रतः 'वदनमम्बुजमिव' यही उपमासमास पहां सिद्ध होता है। कमल में लोचन नहीं होते, अतः रूपक का बाध है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

॰ यथा वा-

बाधकता । एवं 'सुन्दरं वदनाम्बुजम्' इत्यादौ साधारणधर्मपयोगे 'उपिमतं व्याघा-दिभिः सामान्यापयोगे' इति वचनादुपमासमासो न संभवीत्युपमाया बाधकः। एवं चात्र मयूरव्यंसकार्दित्वाद्रूपकसमास एव । एकाश्रयानुप्रवेशो यथा मम---

'कटाचे गापीषत्च गामपि निरीचेत यदि सा तदानन्दः सान्द्रः स्फुरति पिहितांशेषविषयः। सरोमाञ्चोदञ्चत्कुचकलशनिर्भिन्नवसनः परीरम्भारम्भः क इव भविताम्भोरुहृदृशः॥'

अत्र कटा चौ णापी वत्व णामपीत्यत्र च्छ्रेका नुपासस्य निरी चौतेत्यत्र चकारमादाय वृत्त्यनुपासस्य चैकाश्रयेऽनुप्रवेशः। एवं चात्रैवानुपासार्थापत्त्यलंकारयोः। यथा वा— 'संसारध्वान्तविध्वंस-' इत्यत्र रूपकानुपासयोः। यथा वा--'कुरबका रवकारणतां 'ययुः' इत्यत्र रबका रवका इत्येकं बकार-वकार इत्येकिमिति यमकयोः।

> 'ऋहिएग्रमप्रमोश्रररसिएसु पहित्रसामाइएसु दिऋहेसु । रहसपसारिअगीआण णचित्रं मोरविन्दाणम् ॥'

अत्र 'पहित्रसामाइएसु' इत्येकाश्रये पथिकरयामाथितेत्युपमा । पथिकसामाजिकेन ष्विति रूपकं प्रविष्टमिति।

एवं 'सन्दरं वदनाम्बुजम्' यहां साधारण धर्म (सौन्दर्य) का कथन होने से उपमासमास नहीं हो सकता, क्योंकि 'उपमितम्' इत्यादि सूत्र से सामान्य धर्म का श्रेप्रयोग होने पर ही समास होता है। इस कारण यहां 'मणूर्व्यं-सकादयश्च' इस सूत्र से रूपक सम्रास ही होता है।

पकाश्रयानुप्रवेश का उदाइरण - कटावेषेति - यदि वह कामिनी ज़रा कटाव से भी देख देती है तो वह सान्द्र श्रानन्द होता है जिसमें सब कुछ भूल जाता हैं, फिर उसका रोमांच सहित आलिंगन कैसा होगा। अनेति —यहां पहले दो चकारों में छेकानुमास और उनके साथ तीसरे को भी मिला देने से वृत्यनु प्रास होता है। ये दोनों अनुप्रास एक आश्रय ( च ) में अनुप्रविष्ट हैं। इसी प्रकार यहां उत्तरार्ध में वृत्यनुवास और अर्थावित अर्लकारों का संकर है। संसारेत्यादि पूर्वोक्त पद्य में रूपक श्रीर श्रनुप्रास एक श्राश्रय में प्रविष्ट हैं। कुरवका इति -यहाँ दो यमक हैं -एक 'रवका रवका' और दूसरा 'वकारवकार'-ये दोनों समान अक्रों में प्रविष्ट हैं।

अहिं पुति-'अमिनवपयोधरु सितेषु पथिकश्यामायितेषु दिवसेषु । रमसप्रसारितअविष्णं चृत्यं संयुख्दन्दांनाम्।" यहां 'पहित्रसामाइएस' इस प्राकृत पद का यदि 'पशिकश्यामायितेष्ठ' यह अर्थ करें तो 'श्यामायित' में क्यङ् प्रत्यय से उपमा बोधित होती है स्रोर यदि 'पथिकसामाजिकेयु' यह द्युर्थ कहें तो पथिका एव सामाजिकाः ऐसा मानते से राक होता है—इन दोनों का संकर है। दोनों एकाश्रय में श्रद्धप्रविष्ट हैं। CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

(युग्मम्)

श्रीचन्द्रशेखरमहाकंविचन्द्रसूतु-श्रीविश्वनाथकविराजकृतं प्रबन्धम् । साहित्यदर्पणममुं सुधियो विलोक्य साहित्यतत्त्वमिखलं सुखमेव वित्त ॥ १०० ॥ याश्रत्पसन्नेन्दुनिभानना श्रीनीरायणस्याङ्कमलंकरोति । तावन्मनः संसद्यन्कवीनामेष प्रबन्धः प्रथितोऽस्तु लोके ॥१०१॥ इत्यालंकारिकचक्रवर्तिसांधिविष्रहिकमहापात्रश्रीविश्वनाथकविराजकते साहित्यदर्पणे दशमः परिच्छेदः ।

समाप्तश्चार्यं प्रबन्धः।

श्रीचन्द्रेति—श्रीचन्द्रशेखर कवि के पुत्र श्रीविश्वनाथ कवि के बनाये इस साहित्यद्रपेण को देखकर, हे बुद्धिमान् लोगो, साहित्य का सम्पूर्ण तत्त्व सुख से ही जान लो।

याविदिति—प्रसन्न चन्द्रतुल्य मुखवाली लक्ष्मी जबतक नारायण के स्रङ्क में विराजमान है तबतक कवियों के मन को स्नानन्दित करता हुआ यह प्रन्थ संसार में प्रसिद्ध हो।

इति ॥

**→**≥+==

भाषयेषा मयाऽक्तारि 'विमेला'ऽर्थप्रकाशिनी ॥ ४ ॥ CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

श्रीकाशीनाथपादानामाज्ञामाधाय मूर्घनि ।

यद्यस्ति वस्तु किमपीह तथाऽनवद्यं बोतेत तत्स्वयमुदेष्यति चानुरागः। नोचेत् कृतं कृतकवाग्भिरलंपपञ्चै-र्निदोंहधेनुमहिमा नहि किङ्किणीिमः ॥ ५ ॥ न स्पर्धाभिः कलुषमनसा नापि पाणिडत्यगर्वात् प्राचां टीकाः क्रचिंदपि मयाSSलोचिताः पुर्यभाजाम् । किन्तु व्यक्तं मतिमह निजं प्रत्यपादि प्रयत्नाद् युक्त्या युक्तं तदिह सदसन्निर्णयन्तु प्रविज्ञाः ॥ ६ ॥ वरेलीनगरस्थेन सनाढ्यकुलजन्मना । कृतेयं कौतुकाद् व्याख्या श्रीशालग्रामशर्मणा ॥ ७ ॥ जिटलेषु स्थलेष्वत्र न वक्तव्यमुपेचितम् । सरलेषु च नाकारि वृथैव प्रन्थविस्तरः ॥ = ॥ दुर्मोबो दोषसंघः च्यामपि न दढा शेमुबी मानुषीयं गम्भीराम्भोधितुल्यं दुरिधगममहो शास्त्रतत्त्वं च किश्चित्। अद्धा बद्धाञ्जलिस्तद् गुण्गगण्निकषान् पार्थये पार्थनीयान् जोषं जोषं विदोषं कलयितुमखिलं जोषमेवानतोऽहम्।। १॥

#### 

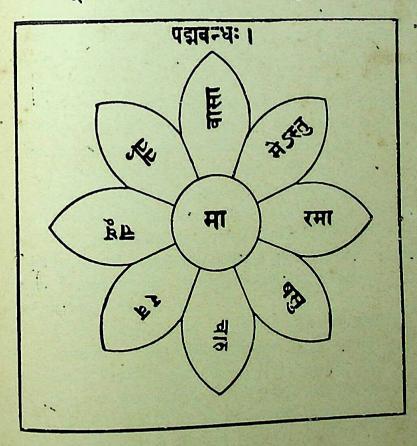
भूमिनवाङ्कशशाङ्के ११११ विक्रमवर्षे पुनस्तस्याः । श्रीमृत्युञ्जयभवने जाता लद्दमणपुरे द्विरावृत्तिः ॥ १ ॥

> इति विमलायां दशमः परिच्छेदः। समाप्तश्चाऽयं ग्रन्थः।



# साहित्यदर्परा, दशमपरिच्छेद, एष्ठ १०७ पर उदाहत पद्मबन्ध—

'मारमासुषमा चारुरुचा मारवधूत्तमा। मात्तधूर्ततमावासा सा वामा मेऽस्तु मा रमा।'



# निवेद या क्रोच

संस्कृत-साहित्य-प्रन्थों में अनेक जगह एक पद्य आया है, जिसके व्यक्त्य अर्थ के संबन्ध में बहुत से आचार्यों का मतभेद है। कोई उसका व्यक्त्य निर्वेद बताता है और कोई उसमें से क्रोध का व्यक्त होना मानता है। आज इसी के संबंध में हमें पाठकों से दो-दो बातें करनी हैं।

यह पद्य साहित्यदर्पेय में भी आया है शौर इसके प्राचीन तथा सुप्रतिष्ठित संस्कृतटीकाकार श्रीरामचरया तर्कवागीशशी ने इससे 'निवेंद' का श्रीसब्यक्त होना स्वीकार
किया है। केवल इन्हीं ने नहीं, काज्यप्रकाश के अनेक टीकाकारों ने भी इसमें निवेंद्र
को ही स्यक्त्य माना है। बहुमत इसी पत्त में है। क्रोध की न्यक्षना माननेवालों की संख्या तो शायद एक-दो से आगे न बढ़ सकेगी। इस दशा में, आजकल के 'वोटयुग़' में, श्रीतम पक्ष का दुर्बल समस्ता जाना स्वमावसिद्ध है। हमने अपनी टीका में अव्यक्ष मत का पत्त लिया है और साथ ही इस पद्य में अनेक प्राचीन आचार्यों द्वारा माने गए 'विधेयाविमर्श'-नामक दोष को भी अस्वीकार किया है। क्रोध की न्यक्षनीयता के संबन्ध में तो कुछ उपपत्ति भी दिखाई है, परंतु इस दोष को अस्वीकार करते हुए कोई कारया नहीं बताया। विद्यार्थियों को पढ़ाते समय तो उसका उपपादन किया, परन्तु टीका में किसी युद्धि या तर्क का उच्लेख नहीं किया। विद्यारयीय पद्य इस प्रकार है—

"न्यकारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राऽत्यसौ तापसः सोऽत्यत्रेव निहन्ति राचसकुलं जीवत्यहो रावणः। विग्धिक् शक्रजितं प्रवोधितवता किं कुम्मकर्योन वा स्वर्गप्रामाटिकाविलुग्ठनवृथोच्छ्नेः किमोमिर्भुजैः॥"

राम-रावण-युद्ध के समय मेघनाद चौर कुम्मकर्ण के मारे जाने के बाद जब भ्रष्टान पुरुषों में रावण ही श्रकेला रह गया था, उस समय उसने यह पद्य कहा था। इसका सीघा-सीघा श्रवरार्थ इस प्रकार है—-

''सबसे पहले तो मेरा यही तिरस्कार है कि मेरे शत्रु हैं। मेरे शत्रु हों और फिर व जीवित रहें, सबसे प्रथम तो मेरे किये यही तिरस्कार की बात है। फिर शत्रु मी कीन ? यह 'तापस' (भिल्लमंगा) राम। फिर वह भी कहीं दूर नहीं, यहीं सिर पर कीन ? यह 'तापस' (भिल्लमंगा) राम। फिर वह भी कहीं दूर नहीं, यहीं सिर पर (बंका में) मीजूद !! न केवल मौजूद है, बिल्क राचमों का बीज-नाश कर रहा है, और रावण के जीतें-जी यह सब हो रहा है !!! इंत्रजित (मेघनाद) को धिहार और रावण के जीतें-जी यह सब हो रहा है !!! इंत्रजित (मेघनाद) को धिहार है। सोते से जगाए हुए कुस्मकर्ण से भी कुछ न बना, और स्वर्गक्रपी कुन्नप्राम के लूट है। सोते से जगाए हुए कुस्मकर्ण से भी कुछ न बना, और स्वर्गक्रपी कुन्नप्राम के लूट कोने मात्र से व्यर्थ फूली हुई ये मेरी भुजाएँ मी व्यर्थ हैं।'' यह तो हुआ इस पण का लेने मात्र से व्यर्थ फूली हुई ये मेरी भुजाएँ मी व्यर्थ हैं।'' यह तो हुआ इस पण का किने मात्र से व्यर्थ फूली हुई वे मेरी भुजाएँ मी व्यर्थ हैं।'' यह तो हुआ इस पण का किने मात्र से व्यर्थ का कोध

पकट होता है या निर्देद ? साहित्य और सब शास्त्रों से कठिन है। अन्य शास्त्रों में तो शब्द और उसके बाल्य-अर्थ से काम चल जाता है। यदि आयकी किसी पक्कि का वाल्यार्थ आ गया,

तो आप उसके ज्ञाता हो गए। धन्यन्न अभिधावृत्ति का सबसे अधिक आदर है। जो बात स्पष्ट शब्दों में साफ़-साफ़ कह दी है, वह सबसे पुष्ट और सर्वाधिक प्रामा-श्चिक समसी जाती है, परंतु साहित्य में यह बात नहीं। यहाँ स्रमिधा की कोई कव नहीं। वह प्राम्य-वृत्तिं कहाती है। "देवदत्त के हृदय में इन्दिरा की देखकर अनुराग उत्पन्न हुआ और इन्दिरा देवदत्त की प्रेम-पूर्ण दृष्टि देखकर खिजत हो गई" यह इतनी-सी बात यदि इसी तरह कह दी जाय, तो साहित्य-शास्त्र में इसका कहनेवाजा गैंबार समका जायगा। यह इतिहास में जिला जाय, तो ठीक हो सकता है; परंतु काव्य में इसका म्रादर नहीं हो सकता। 'श्रनुराग' म्रीर लजा यदि काव्यों में कोई दिखाना चाहे, तो उसे इनका नाम हिंगेज़ न लेना चाहिए, विलक इन दोनों की कारण-सामग्री की श्रीर इशारा करके उसके कार्यों का वर्णन करना चाहिए, जिससे व्यक्षना-वृत्ति के द्वारा खजा और अनुराग का भाव श्रोता के हृद्य में भासित हो जाय। जिस तरह सम्य-समाज में नंगा शरीर दिखाना खमत्रता समसी जाती है, उसी प्रकार कान्य में वर्णनीय भाव को नंगीवृत्ति— ग्रिभधा—के द्वारा वोधित करना . अनुचित समका जाता है। कीने पट की छोट से छनछनकर सलकनेवाली कमनीय-काय-कान्ति के समान व्यक्षना के द्वारा चमकनेवाले मावों का ही यहाँ समाद्र है। वूसरे शास्त्रों में शब्द भौर उनका अर्थ पढ़ा जाता है, परन्तु साहित्य में उस पर कोई भ्रास्था नहीं, यहाँ तो वक्ना का हृदय पढ़ा जाता है। उत्तरे शरदों से सीधा और सीधे शब्दों से उत्तटा मतत्त्व निकाला जाता है। 'श्रहह नहि नहिं इत्यादिक से स्वी-कारोक्ति समसी जाती है, और 'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते' से बोद्ध्य का घोर भ्रप-कारी तथा अत्यन्त नीच होना समका जाता है। फिर यह नियम नहीं कि हर जगह ऐसा ही हो। बिलकुल भोलेपन की सीधी-सची, सरल और स्वासाविक बात भी कहीं-कहीं अद्भुत चमत्कार दिखाती है। इसी से तो कहते हैं कि साहित्य अन्य सब शास्त्रों से क्रिंग है। यहाँ न सीधा लिया जाय, न उत्तरा। शब्द की नहीं, बलिक उसके कहनेवाले के हृद्य की जाँच करनी पड़ती है। वक्ना के मन के अन्तस्तल में घुसकर यह देखना पड़ता है कि जो कुछ यह कह रहा है, वह इसके मनोगत कीन-से भाव का कार्य हो सकता है। उसका कार्य-कारण भाव किस प्रकार सुसंगत हो सकता है। इस प्रकरण में, इस दशा में, ऐसी अवस्था के बक्का के मुख से, इस प्रकार, इस रूप में निकली वचनावली उसके कौन-से मनोभाव की चोतक है, इस बात की पूरी परख कर सकनेवाली अप्रतिहत प्रतिभा जिसे पास नहीं, वह साहित्य-शास्त्र का अधिकारी नहीं हो सकता।

एक बचा आपके सामने घवराया हुआ आता है। अब आपको यह जानना है कि इसकी घबराहट किस कारण से उत्पन्न हुई है। धुएँ के पास बैठे रहने से भी उसकी सूरत पर घबराहट के चिह्न ादखाई दे सकते हैं। भूख, प्यास के कारण भी ऐसा हो सकती है, कुत्ता पीछे दौदा हो या किसी आदमी ने ही उसे डरा दिया हो, तब भी घबराहट पैदा हो सकती है। उसका भाई किसी मेले-तमाशे में चला गया और इसे नहीं ले गया, यह उसके पाछे दौदा, परंतु उसे पा न सका, इससे भी घवराहट हो सकती है, और भी अनेक कारणों से बालक घबरा सकता है। यदि ईश्वर ने आपको प्रतिभा दी है, तो उस बालक की दशा देखकर और कुछ आगे पीछे की बातों का अनुमान करके, विना किसी से पूछे ही, आप समक सकेंगे कि बचे का

वबराहट का कारण क्या है। अब इसी घटना को प्रकृति-परिशीलन में निष्णात कोई किया यदि शब्दमय चित्र का रूप दे दे, तो आपको उसके वर्णन को ध्यानपूर्वक देखने से यह मालूम हो जायगा कि बच्चे की घवराहट का कारण क्या है। प्रकृति की परख में प्रवीण सच्चा किव इस घवराहट का वर्णन करते हुए उन विशेषताओं का स्पष्ट उत्तीख करेगा, जिनसे उस घवराहट के कारण का — वच्चे के उस मनोमाव का, जिसने उसे विचलित किया है — साफ्र-साफ्र अभिष्यक्षन हो सके। जिसे इतनी नंजर नहीं, वह कवि कहाने योग्य ही नहीं।

म्रापने किसी की मुस्किराते देखा। मन मापको यह जानना है कि इस मुस्किराहट का कारण क्या है ? अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति में भी मुस्किराहट होती है । बचा खिलीना देखकर मुस्किराता है, श्रीर'प्रोपितपतिका नायिका प्रियागमन की बात सुनकर मुस्कि-राती है। अन्यत्र भी मुस्किराहट होती है। बीर पुरुष रखर्माम में अपने विरोधी की श्रकड देखकर सुहिकराता है श्रीर वेश्या अपने संपन्न प्रेमी की श्रीर देखकर मुहिकराती है। सनस्वी पुरुष अपने ऊपर विपत्ति-पर-विपत्ति पड़ती देखकर अपने पारब्ध पर भी मस्किराता है, परन्तु इन सब अवस्थाओं की मुस्किराहट एक-सी नहीं होती। जिन्हें इंश्वर ने प्रतिभा थीर प्रज्ञा का प्रकाश दिया है, वे ही परख सकते हैं कि कौन-सी मस्किराइट किस मनोभाव से उत्पन्न हुई है। यदि किसी सचे कवि ने कोई ऐसा ही चित्र खोंचा, तो वहाँ इसका विचार करना होता है कि उस पात्र के हृदय के कौन-से भाव जो व्यिक्तित कराने के लिए कवि ने वह प्रयत्न किया है। इसका ठीक-ठीक समस लेना साधारण काम नहीं। यह ऐसा विकट विषय है कि बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वानों की पौढा वुद्धि भी इसमें पड़कर चक्कर खाने लगती है। बेचारी किशोरी भौर [बाला की तो बिसात ही क्या, जो इसके सामने टिक सके। 'किं तत्र परमाणुवें यत्र मजाति मन्दरः' यह ऐसा विषय नहीं, जिस पर हर कोई 'ऐरा-ग़ैरा पचक्त्यानी' उठकर तीरंडाजी के हाथ दिखाने लगे।

प्रस्तुत पद्य को ही देखिए। किसी की राय में इससे निर्मेद, ग्लानि, दैन्य श्रौर श्रमी कस्य न्यित होता है, श्रौर किसी की राय में यहाँ गर्व, श्रमर्थ श्रौर क्रोध की ध्वनि निकलती है। श्राज श्रापकी हुइसी बात पर विचार करना है।

सबसे पहले आप यह समक लीजिए कि 'दैन्य', 'ग्लानि' और 'निर्वेद' कहते किसे हैं।

'दुःखदारिद्रचाऽपराधादिजनितः स्वाऽपक्षमाषणादिहेतु रिचत्तवृत्तिविशेषो दैन्यम्'

'दैन्य'—मन की उस दशा का नाम है, जो दुःख, दिद्रता या किसी मारी अपराध करने के कारण उत्पन्न होती है, और जिसके उत्पन्न होने पर मनुष्य अपनी हीनता, निकृष्टता या अकिंचित्करता का कथन आदि करने लगता है।

'दौर्गत्यादेरनोजस्यं देन्यं मालिनतादिकृत्' अपनी दुर्गति आदि के कारण जो आंजो-'दौर्गत्यादेरनोजस्यं देन्यं मालिनतादिकृत्' अपनी दुर्गति आदि के कारण मनुष्य में मिलिनता दीनता (अनौजस्य) है, उसे 'दैन्य' कहते हैं। इसके कारण मनुष्य में मिलिनता आदि उत्पन्न होती है।

'चिन्तौत्सुक्यमनस्तापाद्दौर्गत्याच विभावतः । श्रतुभावात्तु शिरसोप्यावृत्तेर्गात्रगौरवात् ॥ देहोपस्कर्णत्यागात् 'दैन्यं' सावं विसावयेत्॥'

दहापरकर्षायागाएँ पान कारण-रूप से चिंता, उत्कंडा, मान-

सिक ताप श्रीर दुर्गिति श्रादि का वर्णन करना चाहिए श्रीर उसके कार्यस्वेद्धप में शरीर के उपस्करण (वेष, भूपा, स्नान, भोजन श्रादि) का त्याग दिखाना चाहिए। जिस मनुष्य का दैन्य दिखाना हो, उसके वर्णन में पहले पूर्वोक्त कारणों में से एक या अनेक का वर्णन इस प्रकार करना चाहिए, जिससे उस (दैन्य) की स्वाभाविकता श्रोता को हृद्यंगम हो जाय। सुननेवाला उस दैन्य को चनावटी न समसे वह यह समसे कि 'दैन्य' उत्पन्न होने के पुष्कल कारण मौजूद हैं। इसके बाद उस दीनता के कार्यों का वर्णन होना चाहिए।

उदाहरण—

'हतकेन मंया वनान्तरे बनजाची सहसा विवासिता अधुना मम कुत्र सा सती पातितस्येव परा सरस्वती।'

सीता का पश्चिमा करने के बाद बु:खित-हृदय राम के यह दैन्य-पूर्ण उद्गार है। वह कहते हैं कि मेरे जैसे 'हतक' चुन्र-पातकी ने उस कमलनयनी को 'सहसा' ( विना-विचारे ही ) वनवास दे दिया। अब वह सती मुक्ते कहाँ मिल सकती है ? मुक्तसे वह उसी प्रकार दूर हो गई, जैसे पतित पुरुष से वेदिवचा दूर हो जाती है। 'सहसा' कहने से मालूम होता है कि राम इस समय सीता की निवींष समक रहे हैं और उस निरपराधिनी को विना विचारे घोरतम दगड दे डालने के कारण अपने को अप-्राधी और पातकी समक रहे हैं। कमबनयनी कहने से सीता की सुकुमारता, भोलापन श्रीर सींदर्शतिशय प्रतीत होता है। उसके ये गुण इस समय राम के हदय में रह-रहकर शत्य की तरह मर्मान्तिक वेदना पैदा कर रहे हैं। ऐसी भोली, सुन्दर सुकुमारी को विना किसी अपराध के 'वनान्तर' घोर निर्जन वन में छोड़ देना कितना कठोर दयड है। श्रीर वह भी उसी के प्रायाधार के द्वारा, जिनके लिये उसने कैसी-कैसी घोर यातनाएँ सहीं !!! इस पद्य के तीसरे चरण ( अवं वह सती मुक्ते कहाँ मिल सकती है ) से राम के हृद्य की उत्कर्ठा और साथ ही निराशा प्रतीत होती है। ये सब राम की दीनता के कारण हैं भीर भपने की पतित की उपमा देना एवं क्षुत्र पातकी बताना उस दैन्य के कार्य हैं। मन में दैन्य उत्पन्न होने पर मनुष्य अपने को दीन, हीन, नीच, पतितं समक्तने लगता है।

'रत्यायासमनस्तापन्नित्पपासादिसम्भवा । ग्लानिर्निष्प्राणता कम्पकार्यानुत्साहतादिकृत् ।' परिश्रम, दु:ख, भूख, प्यास भ्रादि के कारण उत्पन्न हुई विशेष निर्वलता का नाम ग्लानि है। इससे देह का काँपना किसी काम में उत्साह न होना श्रादि होते हैं।

'तत्त्वज्ञानाऽऽपदीष्यादिनिवेदः स्वावमाननम् । दैन्यचिन्ताश्रुनिःश्वासवैवएयोच्क्कासितादिकत् ।'

तस्वज्ञान ( श्रात्मज्ञान श्रथव। विषयों की नश्वरता के ज्ञान ) के कारण श्रथवा श्रापत्ति श्रीर ईंद्र्या श्रादि के कारण उत्पन्न हुई उस चित्तवृत्ति की 'निर्वेद' कहते हैं, जिसमें मनुष्य स्वयं = श्रपने-श्राप श्रपना श्रपमान करने लगता है। इस निर्वेद के कारण दैन्य, चिन्ता, श्राँस् बहाना, दीर्घ निश्वास श्रौर विवर्णता ( चेहरे का रंग इतर ज्ञाना ) श्रादि कार्य उत्पन्न होते हैं। जैसे—

'मृत्कुम्मबालुकारन्त्रपिधानरचनाथिना । दत्तिणावर्तशङ्कोयं इन्त चूर्णीकृतो मया ॥'

प्रापने पूर्व-जीवन को विषय-सुलों की साधना में नृष्ट हुआ देखकर किसी निर्विण्य पुरुष की यह सक्ति है। मिट्टी के घड़े के ख़िद की बंद करने के लिये मैंने अपना द्वियावित शंख चूर्य कर डाला, यह कितने दु:स की बात है। यहाँ शरीर या वैषयिक सुख को मिट्टी का बड़ा कहा गया है श्रीर जीवन को समूल्य दक्षियावर्त शंस बताया गया है। विषय-सुस के लिये जीवन नष्ट करना वैसा ही है, जैसा पुराने फूटे बड़े का हेद बंद करने के लिये श्रम्लय गजमुक्ताओं को पीस डास्ना।

अञ्चा, अव मतलव की बात पर ध्यान दीजिए। प्रौंक पद्य ('न्यकारो झयसेव') की व्याख्या करते हुए श्रीरामचरणतर्कवागीशजी ने लिखा है-'जीवत्यहो रावणः' - इत्यादिना व्यज्यमानेन स्वानीजस्यरूपदैन्येनातुमावेन संवतितं स्वावमाननं निर्वेदाख्यमावरूपोऽ-संलक्ष्यक्रमन्यङ्गवो ध्विनिः' इसका तात्पर्य यह है कि इस पद्य में रावण के हृद्य का 'निर्वेद'-नामक भाव ध्वनित होता है। 'निर्वेद' का अर्थ है 'स्वाऽवमानन'= अपने-आप अपना तिरस्कार करना । तस्वज्ञान, आपत्ति श्रीर ईव्यां श्रादि के कारण यह भाव उत्पन्न होता है। यहाँ रावण के ऊपर धापत्ति पड़ी है। उसका पुत्र (इन्द्रजित्) ग्रौर माई (कुम्मकर्ष) मारे गए हैं । इसी विपत्ति के कारण उसे निर्वेद हुआ है। निर्वेद होने पर दैन्य, चिन्ता, अश्रुनिपात आदि होते हैं, सो प्रकृत पद्य में रावण ने अपना अनौजस्य, हीनता, दीनता आदि कहकर अपना अपमान स्वयं प्रकट किया है, अतः यह दैन्य उसी निर्वेद का अनुमाव है। इस प्रकार विवित्त निर्वेद का कारण है, श्रीर दैन्य उसका कार्य है। साहित्य में जिस भाव का वर्णन करना अभीष्ट होता है उसका साचात् नाम नहीं बिया जाता, बिक उसके कारणों श्रीर कार्यों का वर्णन करके उसे व्यक्तित करना पड़ता है। प्रकृत पद्य में भी निवेंद का नाम नहीं है, वह ध्वनित होता है स्रोर उसके कारण (विपत्ति) एवं उसके कार्य (दैन्य) का वर्णन स्पष्टरूप से किया गया है। इस पद्य में 'निवेंद' माननेवाले लोगों का तर्क, दलील घौर उपपादन, जो कुछ है, बस यही है। इसी पर बाज इसे विचार करना है।

'जीवत्यहो रावण:' इसी वाक्य से तर्कवागीशजी 'दैश्य' संवित 'निवेद' का ध्वनित होना बताते हैं। यही इनका सबसे प्रधान सहारा है, परन्तु देखना यह है कि इससे दैश्य या निवेद क्योंकर व्यक्तित होता है। इसका ध्वरार्थ है कि 'आश्चर्य है कि रावण जी रहा है' प्रधांत रावण के जीते-जी एक तापस रावस-कुल का संहार कर रहा है, यह बदे आश्चर्य की बात है। ध्व सोचना यह है कि इस वाक्य से दीनता या दुःख किधर से प्रकट हुआ ? किसी बदे प्रसिद्ध योद्धा के घर में चोर घुमें, यौर माल लेकर चलने लगें, उस समय वह उपटकर कहे कि 'आरे मेरे जीते-जी ये और माल लेकर चलने लगें, उस समय वह उपटकर कहे कि 'आरे मेरे जीते-जी ये और माल लेकर चलने लगें, उस समय वह उपटकर कहे कि 'आरे मेरे जीते-जी ये यौर माल लेकर चलने लगें, उस समय वह उपटकर कहे कि 'आरे मेरे जीते-जी ये यौर माल लेकर चलने लगें, उस समय वह उपटकर कहे कि 'आरे मेरे जीते-जी ये यौर माल लेकर चलने लगें, उस समय वह उपटकर कहे कि 'आरे मेरे जीते-जी ये यौर माल लेकर चलने लगें, उस समय वह उपटकर कहे कि 'आरे मेरे जीते-जी ये योग क्या समफोंगे ? आप इससे यह ध्वित निकालोंगे कि वह योद्धा विपत्ति के कारण याप क्या समफोंगे ? आप इससे यह ध्वित निकालोंगे कि वह योद्धा विपत्ति के कारण योग क्या समफोंगे श्री प्रवाद के आरंसू बहा रहा है, या यह समफोंगे कि चोरों को आति तुष्क समफकर उनके इस दु:साहस पर आश्चर्य प्रकट करते हुए उन्हें प्रवादी तरह द्या समफार चुनुकाय (कष्ट-सहन करनेवाला) सिचुक बतासा है, और एक ऐसे पुरुष के अत्यन्त चुनुकाय (कष्ट-सहन करनेवाला) सिचुक बतासा है, और एक ऐसे पुरुष के अत्यन्त चुनुकाय (कष्ट-सहन करनेवाला) राचस-वध करने पर आश्चर्य प्रकट किया लेका में घुसकर (रावण के जीते-जी) राचस-वध करने पर आश्चर्य प्रकट किया है। इससे उसके हदय की दीनता क्योंकर व्यक्तित हुई ?

त्रिस उसके हृद्य का दानता क्याकर ज्याजा पुर जिस प्रकार मुस्किराहट और घवराहट छन्देक कारणों से हो सकती है, न हर किसी

0

मुस्किराहट से प्रसन्तता व्यक्षित होती है, न हर एक घवराहट से कुत्ते का पीछे दौड़ना ही प्रतीत होता है। कहने की घवराहट श्रीर मुस्किराहट एक ही है, परन्तु श्रवस्था-भेद से, देश, काल, भादि की परिस्थिति के भ्रनुसार हर एक मुस्किर।हट भीर घृवराहट का व्यक्त्य भिन्न-भिन्न होता है इसी प्रकार एक ही शब्द, वक्ता और वोद्धव्य की अवस्था के भेद से अनेक मानसिक भावों का व्यक्षक होता है। एक ही शब्द से काम, क्रीध, वत्सलता, आतुरता, भक्ति और आत्म-समर्पण आदि अनेक भाव व्यक्त होते हैं। रास-क्रीड़ा के समय जब गोवियों ने 'क्रुड्ण' कहकर पुकारा था, तब इस शब्द : से अनुराग प्रकट हुआ था; परन्तु कृष्ण के जंगल में अन्तर्धान हो जाने पर जब उन्होंने वबराई हुई अवस्था में 'कंप्या' कहा था, तब इससे आर्ति व्यक्तित हुई थी। संयुरा में अखाड़े के भीतर खड़े चाणूर ने जब यही शब्द कहा था ती उससे अनादर ज्यक्त हुआ था और वहीं कंस ने खलकारतें हुए जब इसी शब्द का उचारण किया था तो इससे क्रोध प्रकट हुआ था। द्रौपदी ने भरी सभा में अपनी लाज जाते समय जब यही शब्द कहा था, तो इससे त्रातुरतापूर्ण शरणागात ध्वनित हुई थी, त्रीर प्राह के फंदे में क्संसे गजराज ने जब यह कहा था, तो इससे भय तथा उद्देग भी प्रकट हुए थे। यशोदा ने जब यही कहा था, तो वत्सलता व्यिति हुई थी श्रीर नारद ने जब हसका उचारण किया था तव इसी से परम भक्ति छौर श्रात्म-समर्पण की ध्वनि निकली थी। शब्द एक ही था, परंतु कहनेवाले के ढंग से धीर उसके गले की काकु (ध्विन=Tone) की भिन्नता के कारण सुननेवालों ने फ़ौरन् समक लिया था कि 'कृष्ण' कहनेवाले के मन में कीन-सा भाव उद्य हो रहा है। पर-तु यह वहीं संभव है—जहाँ श्रसत्ती कहनेवाला सामने हो। काग़ज़ पर लिखे केवल 'कृष्य' शब्द की देखकर यह कहना संभव नहीं कि इसके वक्का के हृद्य में कीन-से भाव का आविर्भाव हुआ है - उसके जिये कुछ और परि-स्थिति के जानने की भी आवश्यकतां होगी। असली वक्ना को देखकर जो बहुत-सी बातें प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञांत हो सकती हैं, उन्हें यहाँ किसी शब्द के द्वारा जान लेने पर ही धाप धसत्ती साव समक सकेंगे। जब तक छापको यह नहीं मालूम हो कि गोपियों ने रांस-क्रीड़ा के समय यह शब्द ( 'क्रब्स' ) कहा है, या जंगल में कृष्य के अन्तर्धान होने पर, तब तक भ्राप इसके उस भ्रसली व्यङ्गय का पता न पा सकेंगे।

अव 'जीवत्यहो रावणः' को देखिए। यह वाक्य दैन्य की दशा में भी बोबा जा सकता है और कोध की दशा में भी कहा जा सकता है। और भी अनेक अवस्थाओं में कहा जा सकता है, अतः केवल इतने ही वाक्य को विखा देखकर किसी व्यक्त्य का फ्रेंसला नहीं किया जा सकता। इसके लिये कुछ और परिस्थित पर भी ध्यान देना होगा। हाँ, यदि ख़ास रावण के ही मुँह से इसके सुनने का मौक्रा मिलता, तो अव-वत्ता विना किसी दूसरी सहायता के व्यक्त्यार्थ का बोध हो सकता था। परन्तु यहाँ तो केवल कि की प्रतिभा से उत्थापित वाक्य काराज़ पर लिखा रक्खा है, अतः इधर-उधर दृष्ट दौड़ाना आवश्यक है।

यह एक साधारण नियम है कि विपत्ति के समय मनुष्य में (बिल्क प्राण्या-मान्न में) दीनता का संचार होने जगता है, परंतु इस नियम का अपवाद भी है। ऐसे जोग भी हैं (यद्यपि कम हैं) जो बड़ी-से-बड़ी विपत्ति में भी नहीं घबराते। अभी कल की बात है, जब सिक्लों के किशोर बाजक दीवार में चुन दिए जाने पूर भी अपनी

ब्रान से नहीं डिगे थे। श्रव हमें यह देखना है कि किन ने प्रकृत पद्यमें रावण की किस ह्य में चित्रित किया है। उसे विपत्ति पड़ने पर 'दैन्य' में निमान हो जानेशा ले साधारण प्राणियों के समान प्रिक्षित किया है, या वड़ी-से-बड़ी विपत्तियों की प्राँधी धौर घीर-से-घोर शत्रुओं के घन-गर्जन में पर्वत की तरह भटल रहनेवाने विकट वीर के रूप में चित्रित किया है। वालमाकीय रामायस ने जो रावस का चित्र खींचा है, वह तो समाधारण वार का ही है। जब रावण से सीता के लौटा देने और राम से संधि कर लेने की बात कही गई, तो उसने जवाब दिया-

## 'अपि द्विधा विभज्येय न नमेयं तु कस्यचित्'

उसने अपनी तुलना फ़ौबाद से की, और कहा कि मैं बीच से दी ट्रक भले ही ही जाऊँ, परन्तु किसी के सामने कुक नहीं सकता। प्रकृत पद्य में कैसा भाव है, यह आगे प्रकट होगा।

भ्रव इसी के साथ ज़रा 'दैन्य' की दशा को भी याद कर लीजिए। हम 'दैन्य' का लच्या श्रीर उदाहरण वता चुके हैं। दैन्य 'निवेंद' का श्रनुमाव है, श्रीर 'निवेंद' का अर्थ है 'स्वाऽत्रमानन' अर्थात् स्वयं अपना अनाद्र करना । इस दशा में मनुष्य अपने दोपों को देखने लगता है, भौर भ्रपने दोषों के कारण जिस-जिसको कप्ट भोगना पड़ा है, उसके ऊपर दया या परचात्ताप करके दुःश्री होने लगता है। राम ने जब सीता को विना विचारे वनवास दिया, तो उन्हें निर्वेद हुआ ; और उसमें उन्होंने अपने की चुन तथा पतित कहा, एवं सीता की सरवता, निरपराधता म्रादि का ध्यान करके उनका दुःख असीम हो गया। आप सममते हैं कि मेघनाद और कुम्मकर्ण के मरने पर यदि रावण को निर्वेद हुआ होता, तो वह क्या कहता ? वह कहता—'मैं अत्यन्त नीच भीर चुत्र हूँ। मैंने काम के वश में पड़कर पराई स्त्री चुराई, श्रीर इस नीचता के निमित्त अपने इन्द्रविजयी मेघनाद-जैसे पुत्र और त्रैलोक्य-विजयी कुम्मकर्ण-जैसे भाई से हाथ घोया । इन वेचारों को मैंने बेक़सूर कटवा दिया । इस सब अनर्थ का मूल मैं ही हूँ। मैंने बुढ़ापे में कामाविष्ट होकर अपना वंश नष्ट कराया और अपने माथे पर श्रमिट कलङ्क का टीका लगवाया' इत्यादि । यदि रावण ने ऐसा कहा होता, तो निश्चय ही उसका 'दैन्य' प्रकट होता। यह भी प्रकट होता कि उसके हृदय पर श्रापत्ति का प्रभाव पड़ा है, और यह भी मालूब होता कि उसे वास्तविक 'तरव का ज्ञान' हो गया है। उस दशा में इसे 'निवेंद' मानने में किसी की इनकार नहीं हो सकता था। परन्तु प्रकृत पद्य की परिस्थिति तो एकदम भिन्न है। आप इसे झादि से भनत तक एक-एक अन्तर करके बढ़े ध्यान से पढ़ जाइए । भापको एक भी भनर (पद की तो बार्त ही क्या ) ऐसा नहीं मिलेगा, जिससे यह सिख हो कि रावण अपने को दीन, हीन, या नीच बता रहा है। कहीं भी आपको यह प्रतीत नहीं होगा कि वह अपना अनादर कर रहा है। 'स्वावमानन' का यहाँ कहीं नाम-निशान तक नहीं है। फिर यह 'निवेंद' कैसा ? फिर जिन्होंने इसी के लिये अपने प्राण गैंबाए हैं, जो इसके औरस पुत्र और सहोदर माई थे, उनके प्रति सहातुम्ति का एक शब्द भी यह नहीं कह रहा है ? उनके लिये रोना और दुः ली होना तो दूर रहा, यह तो उन्हें कठोरतम शब्दों में साफ्र-साफ्त 'धिकार' रहा है !! 'धिग्धिक शक्रजितं' कहने-वाले के हिंदय में आप 'निवेंद' की तलीश करने चले हैं ? कुम्मकर्ण तक को निक्म्मा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

श्रीर बेकार कहनेवाले के मन में श्राप 'दोनता' टटोलने चले हैं ? जो स्वर्ग को जुब्र प्राम से श्रिषक नहीं समस्तता, श्रीर उसकी स्वच्छुन्द लूट को भी कोई महस्व नहीं देता, जो परशुराम श्रीर वालि-जैसे महावीरों को निश्रह करनेवाले दिव्याऽससंपन्न राम-जैसे अतुलवलशांकी शृत्र को भी 'जुब्र तापस' समस्र रहा है, क्या श्राप उसके हृद्य में 'दीनता' का पता पाने की श्राशा करते हैं ? जो शृत्रुश्चों की सत्ता को भी श्रपना तिरस्कार समस्तता है, उसके हृद्य में दीनता है या गर्न ? जो 'मे' कहकर श्रपने सब प्राचीन चरित्रों श्रीर सकल दिक्पाल-विजयों की याद दिला रहा है, उसका हृद्य श्रीमान से पूर्ण कहा जा सकता है, या दीनता से श्रीममूत ? जिसका श्रात्मोरकर्प यहाँ तक बढ़ा-चढ़ा है कि भाई श्रीर पुत्र के साथ श्रपने शरीर की श्रक्तमूत 'मुजाशों' को भी पृथक् पुद्रप की तरह फटकार रहा है, क्या वह दीन है ? यह संभव है कि रावण के वंश-नाश की मावना करके साहित्यदर्पण के टीकाकार श्रीरामचरणतर्कवागीशजी के मन में 'दैन्य' और 'निवेंद' का दौरा हो गया हो, परन्तु हमें यहाँ उनके हृद्य की घड़कन की परीचा नहीं करनी है। हमें तो राचसराज रावण के मनस्वी मानस की तह का पता लगाना है, श्रीर यह देखना है कि कवि ने उसे यहाँ किस रूप में श्रक्कित किया है।

दैन्य का उदाहरण, जो अभी हम दे चुके हैं, आपको याद होगा। यदि राम सीतापरित्याग पर खेद और दुःख प्रकाशित करने के बजाय यह कहते कि 'धिक्कार है उस
मूर्ज सीता को, जो मुसे छोड़कर चलती बनी, और लानत है नालायक लक्ष्मण को,
तथा सी-सी बार धिक्कार है मेरी हन व्यर्थ भुजाओं को, जो ज़रा-सी उस लंका नाम
की तुच्छ प्रामटिका के (जिसमें रावण, कुम्मकर्ण आदि थोड़े-से चरकटे और कुछ
कीड़े-मकीड़े रहते थे) विजय पर मोटर के टायर का तरह फूलकर कुप्पा हो रही हैं'
इत्यादि तो आप क्या समस्तते ? अपने हृदय पर हाथ रखकर—'ख़ुदा को हाज़िरनाज़िर जानकर'—सच-सच बताइए कि क्या आप उस दशा में इस वर्णन से 'दैन्य'
और 'निवेंद' का गान्ध भी पा सकते थे ? अब हम तर्कवागीशजी को क्या कहें, और
उनका नाम लेकर अङ्गल के पीछे लट्ट लेकर दौड़नेवालों को क्या समस्ताए ? यदि
रावण के हृदय में निवेंद का उदय हुआ होता, तो वह युद्ध करके मरता, या सब
कुछ छोड़-छाड़ के लेंगोटा लगाकर जंगल में तपस्या करता ?

भच्छा, भव लगे हाथों ज़रा 'गर्च', 'अमर्च', 'क्रोध' और 'असूया' को भी सम-

"रूपधनविद्यादिप्रयुक्तात्मोत्कर्षज्ञानाधीनपराऽवहेलनं गर्वः ।"

अपने रूप, विद्या, ऐरवर्ष, बल, बुद्धि आदि के उस्कर्ष का अति महत्त्व मानकर दूसरे को तुच्छ समस्ता 'गर्व' कहाता है। अब आप प्वीक्र पद्य को फिर ध्यानपूर्वक पिढ़िए और देखिए कि पहले ही वाक्य से—िजसमें रावण ने शत्रु-सत्ता को ही अपना तिरस्कार बताया है—िकितना गर्व टपकता है। उसे अपने बल, पौरुष, ऐश्वर्य आदि का इतना गर्व है कि 'उसे देखते हुए वह अपने शत्रुओं का नाम सुनना भी अपने लिये अपमान-जनक समस्ता है। उसका कोई शत्रु हो, और फिर वह जीता रहे, यह उसे बदौरत नहीं। अब आप ही निर्णय करें कि इससे रावण का गर्व व्यक्तित होता है या उसकी दीनता बोतित होती है। राम को तुच्छ समस्ता, स्वगंकी लूट को जुन्न समस्ता, मेंचनाद और कुम्मकर्ण की वीरता को भी नगर्य समस्ता, रवगंकी लूट को जुन्न समस्ता, मेंचनाद और कुम्मकर्ण की वीरता को भी नगर्य समस्ता, रवगंकी सूचक हैं, या दीनता के है

'परकृताऽक्झादिनानापराधजन्यो मौनवाक्पारुष्यादिकारणीभूतिश्चित्तवृत्तिविशेषोऽमर्षः।'
दूसरे के द्वारा किए गए घपमान या घपराध के कारण उरपन्न हुई मन की उस
उप्रवृत्ति की 'ध्रमर्ष' कहते हैं, जिसमें मृनुष्य या तो एकद्म चुप हो जाता है, घ्रथवा
कठीर शब्द कहने जगता है। ग्राप इस जक्षण को प्रोंक्न पद्य से ज़रा मिलाकर देखिए
तो सही।

'परोत्कर्षदर्शनादिजन्य: परनिन्दादिकारणीम्तरिचचवृत्तिविशेषोऽसूया ।'

दूसरे का उरकर्प देखकर, उसे न सह सकने के कारण, उत्पन्न हुई इस, चित्तवृत्ति का नाम 'छासूयां है, जिसके कारण मनुष्य दूसरे की निन्दा छादि करने लगता है। यह संभव नहीं कि रावण ने राम के किये वालि-वध, परशुराम का निम्नह तथा समुद्र में सेतु-वन्धन छादि की वात सुनी ही न हो। छौर-तो-छौर मेघनाद और कुम्मकर्ण के वध की बात वह कैसे मुला सकता था १ परन्तु 'छसूयां के कारण वह राम का उत्कर्ष सहन न कर सका, और 'कुद्र तापस' कहकर उनका छनादर करने लगा। 'तन्नाष्यसी तापसः' इस वाक्य से उसकी 'छसूयां' प्रकट होती है।

कोध रौत्र-रस का स्थायिभाव है। शत्रु उसका धालम्बन है, और शत्रु की चेष्टा से वह उद्दीस होता है। राम रावण के शत्रु हैं, और उनकी चेष्टा—कुम्मकर्ण-वर्ध, मेघनाद-वध और राजस-कुल-संहार—जिनका मुख्यतथा वर्णन इस पद्य में है—रावण के कोध को प्रज्वलित करनेवाली प्रचुर सामग्री यहाँ मौजूद है। उग्रता, ध्रमर्थ, ध्रस्पा आदि क्रोध के ध्रनुभाव हैं। क्रोध ध्राने पर मनुष्य ध्रपने उत्कर्ध का कथन तथा शत्रु का निरादर आदि करने लगता है। यह सब कुछ क्रोध की सामग्री प्रस्तुत होने के कारण प्रकृत पद्य से रावण का क्रोध ही प्रधानतथा ध्वनित होता है, परंतु वह इतना परिपुष्ट नहीं हो पाता कि उसे रौत्र-रस की संज्ञा दी जा सके। यदि राम सामने होते, युद्धस्थल में यह घटना घटती, राम-रावण का संग्राम हो रहा होता, ध्रौर रावण के भूमक्ष, घ्रोष्ट-दंशन, बाहुस्फोटन, भ्रावेन, रोमाञ्च भौर गर्जन-तर्जन मी इस पद्य में विणित होते, तब इससे रौत्र-रस की ध्रीमन्यिक हो सकती थी, परन्तु यह सब सोधन न होने के कारण केवल क्रोध इसका व्यक्ष्य है, रौत्र रस नहीं।

साहित्य के एक अतिप्राचीन आचार्य जिन्हें काव्य-प्रकाशकार-जैसे सरस्वती के अवतार भी अपने प्उय गुरु के सदश समकते हैं, और आज तक के सभी अलंकार-शास्त्र के आचार्य, जिनका चरण-चुम्बन करते आए हैं, उन श्रीमदिभिनवगुसपादाचार्य ने भी इस पद्य में क्रीध की ही ध्विन मानी है, परन्तु हमारा यह मतलब हिंग नहीं है कि एक प्राचीन आचार्य के अनुकृत होने के कारण आप हमारी बात मान लीजिए। साहित्य-शास्त्र ज्याकरण और वेद की तरह परतन्त्र नहीं है। न तो यहाँ व्याकरण के पाणिनि, वात्यायन, पतञ्जिल की तरह, पद पद पर किसी के नाम की दुहाई दी जाती है, और वात्यायन, पतञ्जिल की तरह, पद पद पर किसी के नाम की दुहाई दी जाती है, और विदे की तरह किसी मात्रा, बिंदु, विसर्ग का परिवर्तन करना ही पाँप समक्ता जाता न वेद की तरह किसी मात्रा, बिंदु, विसर्ग का परिवर्तन करना ही पाँप समक्ता जाता है। यह तो एक प्रकार का दर्शन है। यहाँ युक्ति, तर्क, कल्पना और प्रकृति-परिशीलन है। यह तो एक प्रकार का दर्शन है। यहाँ युक्ति, तर्क, कल्पना और प्रकृति-परिशीलन के आधार पर दिए गए प्रमाणों का प्रावल्य है। वाम-शास्त, धर्म-शास्त, अर्थ-शास्त्र और शब्द-शास्त्र सभी से यहाँ काम पहता है, परन्तु प्रकृति के विरुद्ध किसी की बात नहीं सुनी जाती। हम अपने मत को किसी आचार्य की दुहाई देकर स्वीकार कराना कदारिप नहीं चाहते। यदि आपको ईश्वर ने प्रतिमा और विदेक के नेन्न दिए कराना कदारिप नहीं चाहते। यदि आपको ईश्वर ने प्रतिमा और विदेक के नेन्न दिए

हैं, तो इमारी दी हुई युक्तियों और उपपत्तियों पर विचार की जिए। यदि हमारी बात समक्त में आए, तो मानिए, न आए, न मानिए। 'ध्वन्या जोक' के रचिता श्रीभानन्दवर्धनाचार्य ने भी इस पंद्य में कोध ही व्यक्ष्य माना है। उसी की टीका में श्रीभनवगुसपादाचार्य ने उसे स्पष्ट किया है। इन्होंने तो इस पद्य के संबन्ध में यहाँ तक कहा है कि यदि इसके तिल-तिल भर टुकड़े करके देखा आय, तो भी इसमें उत्तरोत्तर व्यक्षना का चमत्कार बढ़ता ही आयगा, परन्तु यहाँ उन सब बातों का खेड़ना शक्य नहीं। उसके लिये संस्कृत विना पढ़ काम नहीं चल सकता। यहाँ तो इमें इस संपूर्ण पद्य के व्यक्ष्य 'निवेंद' और 'क्रोध' के ऊपर ही दो-चार बातें कहनी थीं, सो कह चुके।

-यद्यपि लेख कुछ लंबा हो गया है, परन्तु 'विधेयाऽविमर्श' के विषय में भी यहीं कुछ कह देना आवश्यक है। यदि आलस्य-वश हमने इसे यों ही छोड़ दिया, तो फिर कीन इस पर बिखेगा, भ्रौर कौन कहाँ से पढ़ेगा। यह ऐसा विषय है कि स्राज तक के उपबन्ध किसी भी साहित्य-प्रनथ में इस पर प्रकाश नहीं डाला गया है। प्रच्छा, सुनिए। 'विधेयाऽविमर्श' शब्द 'विधेय' भौर 'श्रविमर्श' इन दो शब्दों के समास से बना है। 'विसर्श' का अर्थ है विचार या परामर्श । विधेय का जहाँ प्रधानरूप से परामर्श न किया जाय, वहाँ यह दोष होता है। वाक्य में दो अंश होते हैं। एक उद्देश्य और दूसरा विधेय। विधेय इनमें प्रधान होता है। वाक्य के द्वारा जो धपूर्व वोध्य होता है, उसका निर्देश इसी (विधेय) से होता है। यदि इसको अपने स्थान से इटाकर उद्देश्य के स्थान पर विठा दिया जाय, तो इसका प्राधान्य छिप जाता है, या नष्ट हो जाता है। उस दशा में 'विधेयाविमर्श' दोष होता है। राजा की शोमा सिंहासन पर बैठने में ही है। यदि उसे वहाँ से हटाके चोबदार की जगह खड़ा कर दिया जाय, तो अवश्य खटकेगा। इसीलिये यह कहा है-'अनुवासमनुक्रवैव न विधेयमुदीरयेत् । नहालब्धवास्पदं किञ्चित्कृत्रचित्प्रतितिष्ठति'। अनु-वाद्य' अर्थात् उद्देश्य का निर्देश विना किए, विधेय नहीं बोलना चाहिए, यही इस पद्य का यावार्थ है। पहले उद्देश्य कहना चाहिए, उसके बाद विधेय। उद्देश्य से पहले विधेय नहीं बोबना चाहिए। 'देत्रदत्त जाता है' इस वाक्य में 'देवदत्त' उद्देश्य है, मीर जाना विधेय है, स्रतः 'जाता है' इसके पूर्व 'देवइत्त' का बोजना स्रावश्यक है। यदि इसे उलटकर 'जाता है देवदत्त' इस प्रकार कर दिया जाय, तो 'विधेयाविमर्श' दोष होगा। प्रकृत पद्य में 'अयमेव न्यकार:' इस प्रकार कहना उचित है। 'अयमेव' से वर्तमान दशा का चरिसत्त्व सूचित करके उसमें न्यकारत्व का चारीप किया गया है, भौर वही यहाँ विधेय है, ग्रतः इस विधेय 'न्यकारः' के पूर्व 'ग्रयमेव' इस उद्देश्य की श्रवश्य श्रा जाना चाहिए। लेकिन उक्त पद्य में यह क्रम उलट गया। 'न्यकारी हायमेव' इसमें विधेय का निर्देश पहले हुआ, और उद्देश्य पीछे पड़ गया, आतः यहाँ 'विधेया; विमर्शं दोष हुआ।

यह ठीक है कि उद्देश्य को विधेय से पूर्व आना चाहिए, परन्तु यह साधारण नियम है, और जिस प्रकार अन्य स्नमस्त नियमों के अपवाद हुआ करते हैं, उसी तरह यह मी अपवाद ले ख़ाजी नहीं। राजा घर के मीतर जिस नियम से बैठा करता है, शिकार या रण-स्थल में उसका उस तरह बैठा रहना सम्भव नहीं। वह अपवाद का स्थल है, साधारण नियम का नहीं। राजा जब प्रपुष्ट मृन्त्री आदि के विवाह में, सिमिलित

होता है, तब उसे भी वर के पीछे चलना पड़ता है। वहाँ उसका साधारण नियम नहीं चलता। उद्देश्य विधेय की स्थापना के संबन्ध में भी यही बात है। अने ऐसे स्थल होते हैं, जहाँ विधेय का उद्देश्य के पूर्व रखना अनिवार्यक्ष से आवश्यक होता है। यदि वैसान किया जाय, तो वाक्य का तात्पर्य ही अप्र हो जाय। जो कुछ भाव अभिन्यक करना है, वह हो ही न सके। विधेय का प्राधान्य उसके उद्देश्यानन्तर निर्देश में ही नहीं है, बिक्क समुचित स्थान पर उसका निर्देश करने में है। जहाँ विधेय के रखने से अभीष्ट भाव अभिन्यक्ष हो सकता है, वहाँ से उसके हटाने में 'विधेयाविमर्श' होता है, केवल आगी-पीछेमात्र से नहीं। आगो-पीछे की बात एक साधारण नियम है, परन्तु विशेष स्थलों में इसका परिवर्तन अनिवार्य होता है।

## उदाहरण--

'देवदत्ती गच्छित' (देवदत्त जाता है) इस वाक्य में उद्देश विधेय के साधारण नियम की वात हम कह चुके हैं। अब विशेष स्थल पर ध्यान दीजिए। आपने देवदत्त को कहीं मेजा, परन्तु आपको संदेह बना रहा कि यह शायद जाए या न जाए। उस दशा में कोई आदमी आपका संदेह दूर करने के लिए 'गच्छिति देवदत्तः' इस प्रकार बोलेगा। यहाँ 'गच्छित'—जो विधेय है—उसके पूर्व निर्देश से उसमें निश्चिततां सूचित होती है, और 'गच्छित्येव देवदत्तः' ऐसा तारपर्य निकलता है, एवं 'मास्म सन्देह कावीं:' यह इसका व्यक्र्य है, जो कि काकु-विशेष से परिस्फुट होता है। इस वाक्य को बोलनेवाला 'गच्छिति' पर ज़ोर देगा और उसे विशेष क्यठध्विन से कहेगा। इसी का नाम 'काकु' है, और इसी से भाविवशेष के व्यक्षन में सहायता मिलती हैं। यदि आपको संदेह होने लगे कि देवदत्त मुक्ससे लिया हुआ ऋण चुकाएगा या नहीं, तब समाधान करनेवाला यही कहेगा कि 'दास्यस्यसी' इन वाक्यों में 'दास्यित' और 'गच्छित' को यदि कर्नु पद के बाद रक्ला जाय, तो तास्पर्य ही अष्ट हो जायगा। 'यहाँ विधेय का पूर्व निर्देश करने में ही उसका प्राधान्य है। वहीं रहकर वह अपने व्यक्षनीय अर्थ को व्यक्ष करने में समर्थ हो सकता है, अन्यथा नहीं।

कहरें-कहीं विधेय की अविलम्ब अनुष्ठेयता सृचित करने के लिये और उद्देश्यगत हेतुता का प्रतिपादन करने के लिये विधेय का उद्देश्य से पूर्व रखना आवश्यक होता है। जैसे—

'गृद्धतां गृद्धतां पापो बध्यतां बध्यतां शठः । याञ्चसेनीहरः चुद्रो न्यकारो नोऽस्य जीवनम् ॥'

पागडवों की अनुपिस्थिति में वन में से त्रौपदी को पकद्कर जब जयत्रथ भागा था, तब उसका पता पाकर पागडवों ने उक्त वाक्य कहे थे। यहाँ 'मृद्धतां' विधेय है, परन्तु प्रहण किया की अति शीध्र आवश्यकता स्चित करने के लिये उसे उद्देश्य से पूर्व रक्षा गया 'किया की अति शीध्र आवश्यकता स्चित करने के लिये उसे उद्देश्य से पूर्व रक्षा गया है। 'पापः' से हेतुता भी स्चित होती है 'पापस्थात् अयं खिरततरं गृद्धताम्' (यह विधा पापा है, अतः इसे अति शीध्र पकदो ) यह वक्ता का तारपर्य है। यदि इस जयत्रथ पापी है, अतः इसे अति शीध्र पकदो ) यह वक्ता का तारपर्य है। यदि इस जयत्रथ पापी है, अतः इसे अति शीध्र पकदो ) यह वक्ता का तारपर्य है। यदि इस जाय तो असकी वाक्य को बदल दिया जाय और उद्देश्य को विधेय से, पूर्व रक्ष दिया जाय तो असकी वाक्य को बदल दिया जाय। उससे यह व्यक्तय अर्थ निकल ही न सके। उत्तर वाक्य में तारपर्य ही नष्ट हो जाय। उससे यह व्यक्तय अर्थ निकल ही न सके। उत्तर वाक्य में तारपर्य ही नष्ट हो जाय। उससे यह व्यक्तय और वध-बन्धन का अतिशीष्ट्रसंपांशस्व छिपा भी शहरव में वध्य और बन्धन का हेतुस्व और वध-बन्धन का अतिशीष्ट्रसंपांशस्व छिपा भी शहरव में वध्य और बन्धन का हेतुस्व और वध-बन्धन का अतिशीष्ट्रसंपांशस्व छिपा भी शहरव में वध्य और बन्धन का हेतुस्व और वध-बन्धन का अतिशीष्ट्रसंपांशस्व छिपा भी शहरव में विदेश किया जाय। है। वह तभी प्रकट हो सकता है, जब विधेय को उद्देश्य से पूर्व निर्दिष्ट किया जाय।

कहीं-कहीं विधेयगत वैशिष्टच श्रीर श्रतिशय का सूचन करने के लिये भी उसका पूर्व निर्देश किया जाता है। जैसे इसी पद्य के चतुर्थ चरण में किया गया है। 'ना' के बहुवचन से अपनी कुलीनता, शक्तिमत्ता, तेजिश्वता, देवांशता आदि के द्वारा अपना महत्त्व सूचित किया है। 'श्रस्य' के एकवचन से जयव्रथ की जुब्ता तथा नीचता ब्यङ्य है, भीर 'याज्ञसेनी' शब्द से द्रीपदी की पवित्रता व्यङ्ग्य है, एवं इसी कारण— एक अति जुद्र नीच के द्वारा अपने-जैसे महामहिमाशालियों की यज्ञोद्भूत पत्नी के हरण का भ्रति श्रनौचित्य होने के कारण-उसका जीता रहना भी पायडवों का तिरस्कार है। उसे अवश्य मारना ही चाहिए, यह व्यङ्ग्य है। यदि यहाँ 'अस्य जीवनं नी न्यकार:' कहा जाता, तो 'जीवन' में न्यकारत्व का प्रारीप प्रतीत होता, जो कि रूपक प्रजंकार का बीज है। परन्तुं 'न्यक्कारः' का पूर्वं निर्देश करने से आरोप के बजाय अध्यवसान की प्रतीति. होने लगती है। उद्देश्य का पूर्व निर्देश होने से उसका पूर्ण स्वरूप सामने म्रा जाने के कारण विषय (उपमेय) निगीर्ण नहीं हो पाता, भौर भनिगीर्ण विषय में 'जीवन' घौर 'न्यकार' का धभेद प्रतीत होने से आरोप होता है, परन्तु 'न्यकार:' के पूर्व निर्देश से विषयी की पूर्ण प्रतीति भौर विषय का निगरण हो जाता है, भ्रतः मारीप के बनाय यहाँ मध्यवसान प्रतीत होता है, जो कि म्रातिशयोक्ति मार्जकार का बीज है। इस प्रकार का श्रातिशय जहाँ वोधित करना श्रमीए होता है, वहाँ विधेय को उद्देश्य से पूर्व रखना आवश्यक होता है। यदि आप किसी की के शील, सौन्दर्य म्रादि का वर्णन करें, तो 'इयं गेहें लक्ष्मीः' कहकर काम चला सकते हैं। इससे उस स्त्रीं में जचमीत्व का आरोप सिद्ध होता है, परन्तु याद किसी ने उसी स्त्री को चुड़ैल बताया, और अमङ्गलकारिगी कहा, तो आपका काम केवल इस लक्ष्मीख के आरोप से न चल सकेगा। वहाँ आपको कहना होगा 'लच्मी: खिल्तयं गेहे'। यहाँ 'लक्ष्मी' के पूर्व निर्देश से लक्ष्मीत्व आरोपित नहीं, बल्कि अध्यवसित होता है, और इससे निन्दा करनेवाले का मूठा होना, उस पर फटकार, घौर घापकी तवियत का जोश भी ध्वनित् होने, लगता है। यह बात पहले वाक्य से व्यक्त नहीं होती। इस प्रकार के श्रौर भी धनेक स्थल होते हैं, जहाँ विशेष कारण-वशं विधेय का पूर्व निर्देश अध्वश्यक होता है, और यदि वैसा न किया जाय, तो उसका प्राधान्य नष्ट होता है। जिन लोगों ने 'न्यकारो ह्ययमेव' इस पद्य में विधेयाविमर्श दोष बताया है, उन्होंने साधारण नियम और सामान्य अर्थं को ही ध्यान में रक्ला है। उस दशा में वह दीप मानना ही पहेगा, परन्तु यदि पूर्वोक्त विशेषताद्यों पर ध्यान दिया जाय, जो कि इस अत्युत्कृष्ट व्यङ्ग्य-प्रधान पद्य का प्राया हैं, तो फिर यह दोष यहाँ नहीं रहता, धीर 'न्यक्कारी ह्ययमेव' में अतिशयोक्ति के द्वारा न्यकार का अतिशय प्रतीत होता है, जिसकी पुष्टि 'मे', 'अरयः', 'तापसः' श्रादि श्रनेक पद करते हैं, जिनके न्यङ्ग्य का वर्णन साहित्यदर्पंण श्रादि श्रनेक प्रन्थों में मौजूद है।

'वृथोच्छूनैः किमेभिमु'जै:'इस श्रंश में भी साहित्य के श्रनेक प्रन्थकारों ने 'विधेयाविमशें' माना है। 'किमेमि:' इससे बुथात्व ही विधेय है, फिर उसकी समास के भीतर ( 'तृथोच्छूनै: ' इसमें ) डाजकर उपसर्जन क्यों किया ? यह न केवल अर्थ-पुनरुक्ति हुई, बल्क 'विधेयाविमशं' भी हो गया।

इस इस मत से सहमत नहीं । 'वृथोच्छूनै: 'के 'वृथे।' शब्द ने 'उच्छूनत्व' का वृथात

बतायां है, भीर 'किमेभिर्भुजैः' ने भुजों का वृथात्व बताया है, भ्रतः यहाँ कोई दोष नहीं। ग्रन्य के वृथात्व से किसी भ्रन्य का वृथात्व कैसे पुनरुक्त हो जायगा ? 'किमेभिः' से भुजों का वृथात्व विधेय है, उच्छूनत्व का नहीं। 'वृथोच्छूनैः' में जो वृथात्व है, उससे भुजों से कोई संबन्ध ही नहीं। उसका संबन्ध है उच्छूनत्व के वृथात्व से, फिर यहाँ 'विधेयाविमर्श' का क्या ज़िक्त ?

'न्यकारो ह्ययमेव' इत्यादिक पद्य श्वति प्राचीन है। यह किस ग्रंथ का है, इसका कुछ पता नहीं चलता। हाँ, हनुमन्नाटक में इसका उल्लेख श्रवश्य मिलता है, परन्तु 'हनुमन्नाटक' में तो 'भानमती का कुनवा' है। तमाम इधर-उधर के पद्य इस काँ निहीस में बंद हैं। इस पद्य का भी यही हाल है। जैसे काँ निहीस में पड़े पशु की दुर्गति होती है, वैसे ही वहाँ इसकी भी दुई है। सबसे पहली बात तो यह कि वहाँ इस पद्य के सिर की जगह पर श्रीर पैरों की जगह सिर जोड़ दिया गया है। प्वांध के स्थान में उत्तरार्ध श्रीर उत्तरार्ध के स्थान में प्वांध रख दिया गया है। एवांध के स्थान में उत्तरार्ध श्रीर उत्तरार्ध के स्थान में प्वांध रख दिया गया है। फिर 'स्वर्गमामटिकाविलुयठन हुयो- स्कूनै: किमेभिभुंजै:।' इसकी जगह 'स्वर्गमामटिकाविलुयठन परै: पीनै: किमेभिभुंजै:' यह पाठ कर दिया गया है। जिस 'वृथोच्छूनै:' के ऊपर तमाम साहित्य-प्रन्थ लड़काड़ रहे है, वहाँ उसका पता हा नहीं। इसी से हमारा ख़याल है कि यह पद्य हनुमन्नाटक का नहीं। ११-१२ सी वर्ष पुरानी पुस्तकों तक में इसका उल्लेख पाया जाता है। जिस किव ने यह बनाया है, उसका निर्मित प्रन्थ नि:सन्देह श्रद्भुत रहा होगा।

(2)

श्राचार्य धनकत्रय ने 'दशरूपक' में तत्त्वज्ञान, श्रापित श्रीर ईंच्यां से उत्पन्न 'निवेंद' के श्रवाग-श्रवाग उदाहरण दिये हैं। उन्होंने ईंच्यां से उत्पन्न निवेंद के उदाहरण में इसी 'पय (न्यक्षारो ह्ययमेव) का उच्छेख किया है। यही इस निवेंद-अम के प्रवाह का मूज-स्रोत प्रतीत होता है। काव्य-प्रकाश के अनेक टीकाकार तथा स्वयं श्रीतर्कवागीशजी इसी अ्ट्रान्त-परम्परा के शिकार हुए हैं। इसी की देखा-देखी अनेक आचार्य, 'विना किसी सूक्ष्म विचार के, इस पद्य में 'निवेंद' की ध्वनि बताते चले गये हैं, परन्तु इंस पद्य से निवेंद व्यक्त होना संभव नहीं है, यह हम स्पष्ट कर चुके।

'तत्त्वज्ञानापदीष्यीदेनिवेंदः स्वावमाननम् । तत्र चिन्ताऽश्रुनिश्वासवैवएयोंच्छ्वासदीनताः'॥

यह 'द्शरूपक' में 'निवेंद' का लच्चा लिखा है। इस रत्नोक के प्रथम चरण में निवेंद के कारणों का निदेश है झौर उत्तरार्ध में उसके कार्यों का उल्लेख है। तक्षण केवल द्वितीय चरण में कहा है।

'स्वाऽवमाननं निर्वेदः' यह जचण हुआ। 'स्वावमाननम्' में षष्ठी-समास है। (स्वस्य श्रवमाननम्=स्वावमाननम् ) 'स्वस्य' में षष्ठी है। यह कर्ता में भी हो सकती है और कर्म में भा। 'श्रवमाननम्' यह भावप्रस्ययान्त है, श्रतः 'स्वस्य' उसका कर्ता भी हो सकता है श्रीर कर्म भी। 'कर्नु कर्मणोः कृति' इस पाणिनिस्त्र के श्रनुसार कर्ता और कर्म इन दोनों में यहाँ षष्ठी हो सकती है। श्रतेष श्रयवा श्रावृत्ति के हारा ये दोनों श्रथं यहाँ वक्ना को विविच्ति हैं, इतः प्रकृत बच्चण का श्रथं हुणा—स्वक्त के 'स्वविषयकम् श्रवमाननम् निर्वेदः'—श्रथीत् श्रपने श्राप श्रपना तिरस्कार (श्रपनी या श्राक्तीयों का तिरस्कार नहीं ) करना 'निर्वेद' कहाता है।

केवल स्व-इत् क अथवा केवल स्व-कर्मक अवमान को निर्वेद नहीं माना जा सकता। कल्पना की जिये कि देवदत्त ने किसी की ताड्ना या भरर्मना की, तो क्या आप इस ताड़न-मर्सन को देवदत्त का 'निर्वेद' मानेंगे और क्या किसी अन्य पुरुप का तिरस्कार करनेवाला यह देवदत्त निर्विषण कहायेगा? यदि केवल 'स्व-कर्नु अवमानभ' को निर्वेद माना जाय तो यहाँ अतिज्याप्ति होगी। देवदत्तकर्नु क अवमानन को देवदत्त का निर्वेद मानना पढ़ेगा।

इसी प्रकार यदि केवल स्व-कर्मक अवमानन को निर्वेद माना गया तो देवदत्त के द्वारा तिरस्कृत अन्य पुरुष को निर्विषण मानना पड़ेगा। किसी अन्य के द्वारा किया हुआ तिरस्कार भी 'निर्वेद' कहाने लगेगा।

यह और बात है कि अन्यकर्न तिरस्कार के बाद कोई पुरुप अपनी असमर्थता का अनुभव करके स्वयं अपना अपमान करने लगे और उससे निर्वेद स्वक्ष हो, परन्तु अन्य-कर्न् तिरस्कार का नाम निर्वेद नहीं हो सकता। अन्यकर्न् तिरस्कार के वाद तिरस्कृत पुरुष के हृदय में क्रोध भी हो सकता है, अमर्थ, गर्व, असूया और मान भी हो सकता है। एवं किसी के हृदय में तिरस्कार के अनन्तर निर्वेद भी हो सकता है, परन्तु ये सब बिल्कुल भिन्न वस्तु हैं। इनकी उत्पत्ति अन्यकर्न् तिरस्कार के बाद होती है। ये स्वयं तिरस्कारस्वरूप नहीं हैं। सारांश यह कि अन्यकर्न् तिरस्कार का नाम निर्वेद नहीं हो सकता। इन दोनों अतिन्यासियों से बचने के लिये 'स्व-कर्न क स्वविषयक अवमानन' को ही 'निर्वेद' मानना आवश्यक है, अतः प्वोंक्ष लक्षण ('स्वावमाननम्') में रखेष अथवा आवृत्ति के द्वारा उक्ष दोनों अर्थों की विवक्षा मानना अनिवार्य है।

स्वयं अपना तिरस्कार करना निर्वेद का स्वरूप ( तक्ष्मण ) है धौर वह ( निर्वेद ) तस्व ज्ञान, आपत्ति तथा ईर्ष्या आदि के कारण उत्पन्न होता है, एवं इसके उत्पन्न होने पर चिन्ता, अश्रुपात, वैवर्ण्य और दीनता आदि होते हैं।

'हतकेन मया वनान्तरें' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य 'निर्वेद' का उत्कृष्ट उदाहरण है। "मेरे जैसे नीच पापी ने उस कमलनयनी को, विना विचारे, घोर वनवास दे दिया। अब दह सती मुक्ति उसी तरह सदा के लिये दूर हो गई जैसे पतित पुरुष से वेद-विद्या दूर हो जाती है।" इस पद्य में सीता का परित्याग करने के बाद राम स्वयं अपना तिरस्कार कर रहे हैं। यह निर्वेद पत्नी-वियोग या लोकाऽपवाद-रूप विपत्ति के कारण उत्पन्न हुआ है और इससे राम को चिन्ता, अश्रुनिपात, निःश्वास तथा दीनता आदि सब कुछ हो रहा है।

तस्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद के उदाहरण में 'मृत्कुम्भवालुकारन्धः' इत्यादि प्रवेकि पद्य दिया जा सकता है। ''मैंने मिट्टी के घड़े के समान नश्वर विषय-सुख के जिये अपना जीवनरूप अमृत्य दिख्यावर्त शंख चृर्ण कर डाँला'' इस पद्य में वक्षा अपने को स्वयं धिकार रहा है। मिट्टी के घड़े का छित्र बन्द करने के लिये दुर्लभ शंख की चूर्ण कर डाजना कितनी वड़ी' मूर्खता है ? आज तत्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद की दशा में वक्षा अपनी इसी मूर्खता पर पश्चात्ताप कर रहा है।

'राज्ञो विपद्, बन्धुवियोगदुःखं, देशच्युतिर्दुर्गममार्गखेदः । आस्वाद्यतेऽस्याः कट्टनिष्मलायाः क्षतं प्रयेतचिरजीवितायाः॥' इंस पैद्य में विपत्ति के कारण दुःख भोगनेवाला (धृतराष्ट्र या तादश अन्य कोई) अपनी लंबी आयु के लिये रो रहा है। न इतने दिनों तक जीते, न ये सब दुःख देखने पड़ते इत्यादि।

'लब्धाः श्रियः सकलकामदुवास्ततः किम् ? दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ?'

ह्त्यादिक पद्य मी तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद के उदाहरण में दिया जा सकता है। हुस पद्य में कर्ता ग्रीर कर्म के स्थान में ग्रस्मद् शब्द के रूपों का ग्रध्याहार करने से 'निर्वेद' का स्वरूप (स्वावमानन) स्फुट होता है।

स्रव 'न्यक्कारो हायमेव' को देखिये स्रीर यह पता लंगाइये कि इसमें रावण ने स्वपना तिरस्कार किया है या नहीं ? दूसरों को धिकारना स्रीर जिन्होंने स्वपने लिये (रावण के लिये) ही प्राण दिये हों उन्हें इस प्रकार कटु वचन कहना ('धिक्-धिक् शक्तजितम्' इत्यादि) क्या निर्वेद की दशा में संभव है ?

शायद कोई कह बैठे कि यहाँ तो आरम्म में ही तिरस्कार (न्यकार:) मौजूद है। रावण कह रहा है कि 'शत्रुओं का होना ही मेरा तिरस्कार है।' जब वह स्वयं शत्रुओं की सत्ता को अपना तिरस्कार बता रहा है, उसके शत्रु मौजूद ही हैं और साफ 'न्यकार' शब्द, तिरस्कार का वाचक, इस पद्य में विद्यमान है तो फिर इससे बढ़कर और क्या प्रमाण चाहिये? क्या इतने पर भी कोई कह सकता है कि रावण अपना तिरस्कार नहीं कर रहा है? जब यहाँ स्पष्ट शब्दों में रावण स्वयं अपना तिरस्कार कर रहा है तब कीन कह सकता है कि यहाँ निवेंद नहीं? इसमें निवेंद को छिपाना तो सूर्य पर धृत फेंकने के समान होगा इत्यादि।

हम कह चुके हैं कि साहित्य धन्य सब शाखों से कठिन है; क्योंकि यहाँ धिमधावृत्ति की कोई क्रव्र नहीं। वह यहाँ प्राम्यवृत्ति कहाती है। यहाँ वाक्य के वाच्य अर्थ को प्रधानता नहीं दी जाती, बिल्क उसका व्यक्त्य अर्थ प्रधान माना जाता है। यहाँ वक्ता के वाक्य का नहीं, अपितु उसके हृद्य का तात्पर्य देखना पड़ता है और यह समस्तना पड़ता है कि वक्ता का उक्त-वाक्य—फिर उसका वाच्य अर्थ चाहें जो कुछ भी हो—उसके कीन से मनोभाव का सूचक है। 'न्यकारो ह्ययमेव'—इस पद्य में साफ्त-साफ़ तिरस्कार वाच्य है, रावण स्पष्ट शब्दों में शत्रुसत्ता को अपना तिरस्कार बता रहा है, परन्तु हमें देखना यह है कि उसके इस वाक्य का व्यक्त्य अर्थ क्या है। इसी की यहाँ प्रधानता रहेगी।

सबसे पहली बात तो यह है कि यहाँ वास्तविक तिरस्कार नहीं है, बिक शत्रुसत्ता में तिरस्कारत्व का आरोप है। जिस प्रकार मुख में चन्द्रस्व का आरोप या अध्यवसान कर जेने पर भी वह ( मुख ) वास्तविक चन्द्रमा नहीं हो सकता उसी प्रकार आरोपित तिरस्कारत्व से भी वास्तविक तिरस्कार नहीं सिद्ध हो सकता। अब देखना यह है कि रावण शत्रुसत्ता को अपना तिरस्कार क्यों समस्तता है ? और उसके ऐसा समस्तने से उसके हृद्य का 'निर्वेद' व्यक्षित होता है, या कुछ और ?

एक बांके हेकड़ का कहना है कि 'यदि किसा ने मेरी घोर उँगली उठाई तो मैं प्रकार बांके हेकड़ का कहना है कि 'यदि किसा ने मेरी घोर उँगली उठानेवाले का हाथ काट लेना ही उचित अपना तिरस्कार समस्ता हूँ घोर उँगली उठानेवाले का हाथ काट लेना ही उचित समस्ता हूँ।' दूसरे अकड़्ख़ां कहते हैं कि 'आगर कोई मेरी तरफ आंख उठाये तो समस्ता हूँ।' दूसरे अकड़्ख़ां कहते हैं कि 'आगर कोई मेरी तरफ आंख उठाये तो समस्ता हूँ अगेर उसकी आंख निकाल लेना ही मुनासिक

सममता हूँ अब देवना यह है कि क्या इन दोनों वाक्या में वक्ता वस्तुतः अपना तिरस्कार कर रहा है अथवा अपनी अजीकिक वीरता को ध्वनित करके अपने मानसिक गर्व का परिचय दे रहा है। सममता यही है कि उक्त वक्षा के हृदय में दीनता, निवेंद या ग्लानि प्रतीत होती है अथवा इसके विरुद्ध कुछ और। किसी की और देखना या उँगजी उठाना साधारण बात है। देखने और उँगजी उठानों में ये जोग तिरस्कारस्व का आरोप क्यों कर रहे हैं ? क्या दीनता के कारण ? अथवा गर्व के कारण ?

यु० पी० में एक प्रसिद्ध नवाब साहव थे — जो श्रभी हाल में मरे हैं — जिन्हें काने-वजाने और नाचने का बड़ा शौक था। इतना ही नहीं, श्रापको शागिर्द बनाने का भी पूरा मिराक था। बड़े-बड़े उस्तादों के — जो श्रापके दरबार में किसी तरह जा फैंसे — आपने गयडां बाँध दिया। श्राप जब नाचने खड़े होते, तबं यह हुक्म रहता कि सब लोग हुज़्र के पैरों पर नज़र रक्खें। यदि किसी कम्बख़ती के मारे ने श्रापके मुँह की तरक ताक दिया तो श्राप श्रपना श्रपमान समक्तते श्रीर ताकनेवालों के कोड़े या बेंत लगवा देते। श्रव जानना यह है कि श्रपने मुँह की श्रीर देखने को जो यह नवाब साहब श्रपना तिरस्कार समक्तते थे, इस देखने में जो उन्होंने तिरस्कारत्व का श्रारोप कर जिया था — क्योंकि किसी के मुँह की श्रीर ताकना वास्तिवक तिरस्कार तो है नहीं — सो क्या दीनता या निर्वेद के कारण ? श्रथवा श्रपनी शान को बहुत ऊँचा समक्तने के कारण ?

्यत्रु, संसार में सभी के होते हैं। धजातशत्रु युधिष्ठिर धौर महामहिष विशिष्ठ के भी शत्रु थे। शत्रु धों का होना कोई तिरस्कार की बात नहीं, किर रावण इसी शत्रु-सत्ता को धपना तिरस्कार क्यों समक रहा है ? शत्रु-सत्ता में तिरस्कारत्व का आरोप वह क्यों कर रहा है ? आख़िर उसमें ऐसी कौनसी विशेषता है जिसके कारण शत्रु धों की सत्ताही उसके बिये तिरस्कारस्वरूप बन गई है ? इस प्रश्न का उत्तर आपको रावण की इसी उक्ति में पढ़े हुए 'में' पढ़ का व्यञ्जना से मिलेगा ? 'धवन्या को इसी उक्ति में पढ़े हुए 'में' पढ़ का व्यञ्जना से मिलेगा ? 'धवन्या को इसे उसना बताते हुए बिखा है—'में यद्रयः इति सुप् सम्बद्धवचनानामिक्यञ्जकत्वम्'—ध्यात् 'में' धौर 'धरयः' इन पदों में सुप् सम्बन्धवचनानामिक्यञ्जकत्वम्'—ध्यात् 'में' धौर 'धरयः' इन पदों में सुप् सम्बन्ध धौर वचन (बहुवचन) के द्वारा व्यक्त्य धर्थ प्रतीत होता है। इसे पर टीका करते हुए श्रीक्रिमनवगुसरादाऽऽचार्य बिखते हैं—'ममाऽर्य इति मम शत्रु सद्मावो नोचित इति सम्बन्धानौचित्यं क्रोधिवभावं व्यनिक्तं'—धर्थात् मेरे शत्रु हों, यह अत्यन्त अनुचित है, इससे रावण के हृद्य का क्रोध व्यक्तित होता है।

यह तो हुई पुष्टतम प्रमाण की बात । अब आप इसे उपपत्ति के द्वारा यों समिकिये। रावण कहता है कि—'मेरे शत्रु हों!! और फिर वे जीते रहें!!! यह अत्यन्त अनुचित और अंत्यन्त आश्चर्य की बात है। जानते हो, मैं कौन हूँ ? मेरे मय से इन्त्र और वहण थर-थर काँपते हैं। यमराज को मेरी और आँख उठाकर देखने की हिम्मत नहीं। कुवेर का पुष्पक-विमान मैंने छीन जिया। समस्त सुराऽसुरों का दर्प मैंने चूर्ण कर दिया। ऐसा मैं—उसके शत्रु हों!! शिव-शिव !!! और फिर वे जीते रहें!!! " ये सब बातें 'में पद के सम्बन्धानीचित्य से उपितत होती हैं। रावण ने अपने पुराने अवदान और पौरुष की याद इस 'में मद से दिखाई है, एवं उस महस्त्र की ओर इशारा करते हुए अपने साथ शत्रुश्सम्बन्ध का अनौचित्य सूचित किया है।

इतने बड़े, इतने पराक्रमी, ऐसे भयानक त्रैजोक्यरावण रावण के शत्रु हों, यह कितनी अनुचित बात है, यही यहाँ 'मे' का व्यङ्ग-य तात्पर्य है। इसी कोकोत्तर महस्त को देखते हुए वह शत्रु-सत्ता को भी अपना तिरस्कार समसता है, श्रेक उसी तरह जिस तरह पूर्वोंक्र नवाब साहब अपने सुँह की और ताकने को अपना अपरान समस्कर देखनेताले के कोड़े लगवाया करते थे।

जिस प्रकार उक्त नवाब साहब के घपने की तिरस्क्रत समझने से वास्तविक तिरस्कार का कोई सम्बन्ध नहीं, वह सिर्फ उनके मन की एक शान है, वह अपने की कोई बोकोत्तर फ़रिश्ता समक्तकर ऐसा करते हैं, उनके इस तिरस्कार समकने से उनके मन की दीनता, रहानि या निर्वेद का कहीं गन्ध तक नहीं है, बिक उनका अभिमान, शौं थ्रीर गर्व ही उक्र घटना से न्यक्र होता है, उसी प्रकार शत्रु-सत्ता को अपना अपमान समक्तेवाले रावण के प्रकृत वाक्य से भी उसका इदयगत गर्व और क्रोध ही ब्यक्र होता है, निर्वेद या दीनता हर्गिज़ नहीं।

मतलब यह कि 'निवेंद' के लिये एंक तो वास्तविक 'स्वाऽवंमानन' (स्वयं अपना तिरस्कार करने ) की आवश्यकता है ; किएत, आरोपित या अध्यवसित तिरस्कार में 'निवेंद' नहीं हुआ करता । दूसरे, वांक्य का प्रधान तात्पर्य जहां 'स्वाऽवमानन' में होता है वहीं निर्वेद हुआ करता है। तिरस्कार वाच्य होने पर भी यदि वाक्य का प्रधान तारपर्य ( व्यङ्गय ) तिरस्कार में नहीं है, तो वहां 'निवेंद' कदापि न होगा।

प्रकृत पद्य ( 'न्यकारो ह्ययमेव' ) में यद्यपि तिरस्कार वाच्य है, परन्तु प्रथम तो वह वास्तविक तिरस्कार नहीं, दूसरे वह प्रधान तात्पर्य का विषय भी नहीं। जब तक आप 'में' पद के ज्यक्त च अर्थ ( रावण के पूर्व पौरुष ) को ध्यान में न लायें, तब तक यह समक्र में ही नहीं था सकता कि शत्रु-सत्ता को तिरस्कार का रूप क्यों दिया गया है। उसके विना शत्रु-सत्ता में तिरस्कारत्व का आरोप अनुपपन्न है। और जब भें के व्यङ्गरा के द्वारा रावण का अलीकिक प्रवार्थ श्रीता के सन में सासित हो ग्या और उसने पह संसम लिया कि रावण अपने की इतनां बड़ा महामहिमशाली सममने के कारण शत्रु-सत्ता को भी अपना 'न्यकार' समक रहा है, तब उस दशां में, किसी मूर्ल के हृदय में भी यह बात नहीं बैठ सकती कि इस समय रावण दीन, दुःसी, निर्विष्ण और चिन्तितं होकर श्रांसु बहाता हुआ स्वयं अपना तिरस्कार वर रहा है। उस समय तो उसे रावण के हृदय का मूर्तिमान् गर्व और क्रोध ही सामने खड़ा दीखेगा। जिन जिन प्राचीन आचार्यों ने इस पद्य में निर्वेद की ध्वनि मानी है, उन्होंने इसके वाच्य अर्थ को देखकर —स्पष्ट शंब्दों में तिरस्कार का उस्तीस देखकर —ही ऐसा किया है। उन्होंने इस बात पर विचार नहीं किया कि यहां तिरस्कार वास्तविक नहीं, प्रत्युत आरोपित मात्र है। दूसरे यह कि इस आरोप के लिये जो 'में' पर का व्यक्त्य, प्राया-भत है, उसके सामने चाते ही, निरंद हवा ही जाता है।

निवेंद की ध्वनि माननेवालों के सर्वप्रथम नेता संस्वतः प्राचार्य धनक्षय ही है। भाष महाराज मुझ ( महाराज, भोज के चचा ) के समा-परिवत थे। इस प्रकार कम से कम एक सहस्र वर्ष से इस पद्य (न्यकारः) के व्यक्तवार्थ के सम्बन्ध में आन्त धारणा का प्रवाह चला आ रहा है । आचार्य धनअय अखंकार शास के अतिरिक्त भन्य शास्त्रों के जी-0पशिनिश्चित Bविद्वान् vaintsi स्टाएको कत्रपुता स्थापने e सत्त्रपति । सन्य आचारों को हम अत्यन्त आदर और पूजा की दाष्ट से देखते हैं एवं अपने अतिचुन्न ज्ञान-जन को इन्हीं की कृपा का फल समकते हैं; परन्तु यह सब कुछ होने पर भी हम अपनी बुद्धि और विवेचना को किसी के नाम पर बेंच देने की तयार नहीं। जो कुछ हमारा मत है उसे दृदता के साथ प्रतिपादित करना हम अपना कर्तव्य समकते हैं; और अपने पाठकों से भी यही अनुरोध करते हैं कि वे अपनी स्वतन्त्र प्रतिमा के प्राधार पर हमारी बातों के तारतस्य का विचार करें।

'सन्तो विविच्याऽन्यतरद् भजन्ते, मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः'।

हो, यदि प्रकृत पद्य के भावार्थ की निम्निलिखत रूप देकर पद्य-पद्ध किया जाय, तो अलबत्ता इससे ईंट्या-जन्य निवेंद की ध्वनि निकलने खरोगी।

यथा-

दिगीशद्पीं इतनान् सुरद्विपो—

निहन्त्यहो मानुष एष तापसः।

विकुणिठताः स्वर्गवितुष्ठनोद्घटा

भुजाश्च मे हन्त, दुरत्ययो विधिः॥

अर्थात्—दिक्पालों के दर्प का दलन करनेवाले देवविजयी राचसों को यह भिलारी नरकीट मार रहा है और स्वर्ग की अनवरत लूट करने में उद्गट ये मेरी भुजायें कुणिठत (. ज्यर्थ) हो गई ? हाय-हाय, प्रारब्ध अनिवार्य है।

अब इस दशा में यह निवेंद का उदाईरण हो जायगा।

'इन्त दुरत्ययो विधिः' ─इस म्रन्तिम वाक्य से प्रारंघ्य की निन्दा के द्वारा भ्रपनी असमर्थता, विषाद और 'स्वावमानन' प्रकट होता है 'मानुष एष तापसः' के द्वारा रावण की राम के प्रति ईंप्यों प्रतीत होती है। वह राम के लोकोत्तर पराक्रम की अवश्य जानता है, परन्तु ईंद्यों के कारण उन्हें 'तापस' ( मिखारी ) घौर 'मानुष़' ( चुर्म मनुष्य ) बता रहा है। इस प्रकार यह ईप्योजन्य निर्वेद का उदाहरण होगा। जिन्होंने इसके (रावण के ) लिये प्राण दिये हैं, उनके प्रति सहानुभूति और उसके दृश्स उनकी मृत्युं का खेद भी रावण के हृदय में प्रकृत पद्य के प्रथम चरण से आहित होता है, श्रतः इसमें ईर्ष्या श्रीर निर्वेद की सामग्री एकत्रित है, परन्तु 'न्यक्कारः' इत्यादि की रचना इससे एकदम भिन्न है। प्रकृत पद्य में रावण ने अपने लिये मरनेवालों का गुण-गान किया है और उसमें ('न्यकारी हायमेव' में ) उन्हें धिकार दिया है। इसमें • उसने प्रारबंध-निन्दा के द्वारा धपनी बे-बसी दिखाई है और उसमें धपने पराक्रम की याद दिलाकर अपना गर्व दिलाया है। इसमें अपनी मुजाओं का कुणिठत होना स्वीकार किया है. श्रीर उसमें उन्हें उनकी उदासीनता पर फटकारा है । जैसे कोई राजा अपने जपर शत्रु की चढ़ाई की देखकर अपने यहां निश्चिन्त बैठे वीरों की फटकारे कि एक चुन ग्राम को जीतकर फूले हुए यह सेनापति भी व्यर्थ हैं, जब कि मेरा शत्रु मेरे आद्मियों को मारे डालता है । इसमें सेनापित की उत्साहित श्रीर क्रोधित करने के बिये उसकी व्यर्थता कही गई है । इसी प्रकार 'न्यकार:' इंस्यादि पद्य में 'एमिमुंबैं।' पदों से मुजाबों का सामने खड़े पुरुष की तरह परस्वेन निर्देश किया गया है।

ं प्रकृत पंच में यह बात नहीं है इसमें 'मे-भुजाः' कहकर पहले शासीयस्व ( ममस्व ) सुचित कियी है अपीरण किर्विक्षित्रकाश्वा शिक्षक से विविद्या विविद्य विविद्या व प्रनीकार में प्रसमर्थ हो जाना-भूतार्थक 'क्र' प्रत्यय से सूचित किया है। एवं 'वि' उपसर्ग से उनका अत्यन्त वैयर्थ्य सूचन किया है। इन सब बातों से रावण की अस-मर्थता और दीनता प्रकट होती है । 'न्यकार:' इत्यादि पद्य में स्वर्ग की जूट से पान भजाओं का गर्वातिरेक तो सूचित किया है, परन्तु यह नहीं कहा है कि राम के पराक्रम के आनी वे न्यर्थ हो गई, इसी से वहां न तो असमर्थता है, न हीनता, न दीनता और न निर्वेद । सारांश यह कि 'न्यकारः' इत्यादि पद्य के भाव की यदि 'दिगीशदपों इलनान्' का (इप दे दिया जाय तो यह इंड्यॉजन्य निर्वेद का उदाहरण हो सकता है।

हुँद्यों को यदि कई मानसिक मावों का संगमस्थक (Junction) कहें तो अत्युक्ति न होगी। ईंध्या के बाद निर्वेद, क्रोध और मान ग्रादि अनेक भावों की भीर मार्थे वदल जाता है। यदि ईव्यों के बाद अपनी असमर्थता, चीखता, दीनता, प्रारव्ध निन्दां आदि चल पड़ी तब तो निर्वेद समित्रये; और यदि अस्या, गर्व, अमर्थ आदि की ओर प्रवृत्ति हो गई तो क्रोध का मार्ग समिक्षये । और यदि इन दोनों के स्रतिरिक्ष कुछ स्रौर ही हुस्रा तो फिर कोई तीसरा मार्ग समक्रिये। यदि हमारे इस दिग्दर्शन के अनुसार आप विचार करेंगे तो साफ्र-साफ्र समक्त में आ जायगा कि कहां निर्देद है चौर कहां क्रोध। फिर न किसी से कुछ पूछने की प्रावश्यकता रह जायगी, न कहीं बहकना पहेगा। 'न्यकारः' इत्यादिक पद्य 'हनुमन्नाटक' का नहीं है, श्रिपतु वहां कहीं घन्यत्र से लेकर उद्घृत किया है, यह बात हम पहले ही कह चुके हैं।

विचावाचस्पति, श्रीशालग्रामशास्त्री, साहित्याचार्य, विचास्षण, नैन पूज्ण, क्विराज विरचित

्रन्तः स्नन्य पुस्तकें।

त्र्यलंकारकलपद्भमः } संस्कृतनिबन्धद्वयम् महाकविर्माघः

श्रायुर्वेदमहत्त्व (हिन्दी) विवेचनात्मक निबन्ध रापायण में राजनीति (हिन्दी) आलोचनात्मक वेदों में त्रिधातुवाद ( संचिप्त )

कंकुष्ठ क्या है यज्ञोपवीत

वन्त्र वृद्ध वेद्धांग विद्याचा

ऐबटरोड, लखनऊ।

